भारत में

# अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद

खण्ड : एक

रामविलास शर्मा



राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

मूल्य : रु. ६५.००



प्रथम संस्करण : १९८२
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-११०००२
मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स द्वारा गौतम आर्ट प्रेस,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

BHARAT MEIN ANGREZI RAJ AUR MARXVAAD
*By* Dr. Ram Bilas Sharma

# भूमिक

... म आधुनिकता की शुरूआत कब हुई ? आधुनिक सभ्यता, आधुनिक संस्कृति, साहित्य मे आधुनिकता बोध की शुरूआत कब हुई ? अंग्रेज़ों के आने के बाद, भारत की धरती पर अंग्रेज़ी राज कायम होने के बाद, भारत के पराधीन होने के बाद। भारत को मध्ययुगीन अन्धकार के बाहर किसने निकाला ? औद्योगिक विकास का मार्ग प्रशस्त करके समाज की चौमुखी प्रगति की प्रेरणा किसने दी ? अंग्रेज़ों ने। भारत में अंग्रेजी राज कायम होने से लेकर उसके खात्मे तक, पलासी की लड़ाई से लेकर नाविक विद्रोह तक, इंग्लैण्ड के जिन बुद्धिजीवियो ने भारत मे अंग्रेजी राज का विरोध किया, वे प्रगतिशील थे या प्रतिक्रियावादी ? प्रतिक्रियावादी ही होंगे क्योकि वे अंग्रेजी राज मे भारत के आधुनिकीकरण का महत्व न समझ पा रहे थे, वे चिन्तन की 'वैज्ञानिक' पद्धति से जरूर अपरिचित रहे होगे जो पराधीनता से जुडी हुई सामाजिक प्रगति की विराट प्रक्रिया देख ही न पाये। माना कि जनता का आर्थिक शोषण हुआ, लाखो आदमी भूख से मर गये (पंतीस लाख अकेले बंगाल के युद्धकालीन अकाल मे मरे), पुराने उद्योग-धन्धो का नाश भी हो गया, पर पुराने के नाश के बिना नये का जन्म कब होता है ? और समाजवादी रूस, या वियतनाम, या अफगानिस्तान, यहाँ के लाखो आदमी शरणार्थी नही हुए ? बोल्शेविकों ने कत्लेआम मे, भुखमरी में, लाखों की जानें नही ली ? तब अंग्रेजी राज ने प्रगति का जो तोहफा दिया, वह सस्ता ही पडा। फिर आज़ादी मिली अंग्रेज़ों के हृदय-परिवर्तन से, शान्तिपूर्वक, भारतीय जनता के भविष्य के लिए उनकी शुभकामना सहित। विश्वमानवता के इतिहास मे ब्रिटिश साम्राज्य से अधिक युगान्तरकारी, अधिक प्रगतिशील भूमिका और किसकी है ?

ईस्ट इण्डियाकम्पनी १६०० ई. मे बनी, पलासी की लडाई १७५७ ई. मे हुई। डेढ सौ साल तक अंग्रेज़ी राज अपनी प्रगतिशील भूमिका पूरी करने से वंचित क्यों रहा ? इसी अवधि में अंग्रेज, और उनके साथी (या शत्रु) दूसरे यूरोपियन युगप्रवर्तक, अमरीका और अफरीका में क्या कर रहे थे ? रेड इण्डियन आदिवासी अपनी निवासभूमि से गायब कहाँ हो गये ? गुलामो के व्यापार से अंग्रेज़ों की

प्रगतिशील भूमिका का सम्बन्ध किस तरह का है ? अमरीका में बसनेवाले अंग्रेज मूल भूमि ब्रिटेन के अंग्रेज़ों से क्यों लड़ गये ? फिर अमरीका में बसे हुए अंग्रेज ही आपस में क्यों लड़े ? अंग्रेज, फ्रांसीसी, स्पेनी, पुर्तगाली आदि आदि आपस में क्यों लड़ते रहे ? जो अंग्रेज भारतीय माल यूरुप और इंग्लैण्ड में बेचते थे, वे अंग्रेज़ी माल भारत में बेचने लायक कैसे बन गये ?

भारत मे अंग्रेज़ी राज की भूमिका पर विचार करते समय आमतौर से ऐसे प्रश्न नही किये जाते किन्तु अंग्रेज जो विश्वबाज़ार कायम कर रहे थे, भारत उसी का एक हिस्सा था। भारत मे उन्होंने जो कुछ किया, और भारतीय जनता ने जो कुछ किया, उसका विवेचन विश्वबाज़ारवाली अंग्रेज़ों की भूमिका को एक तरफ छोडते हुए कैसे किया जा सकता है ? इस पुस्तक के पहले अध्याय में विश्वबाज़ार और इस भूमिका पर ध्यान देते हुए मैंने यथामति इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि भारतीय माल ब्रिटिश बाज़ार में बेचनेवाले अंग्रेज व्यापारी भारतीय बाज़ार में ब्रिटिश माल बेचने लायक कैसे बन गये। ऐडम स्मिथ इंग्लैण्ड में आधुनिक अर्थशास्त्र के संस्थापक थे। उनकी राय थी कि अंग्रेज़ी अमलदारी में भारतीय जनता आगे बढने के बदले पीछे की ओर लौट रही है। यह बात उन्होंने विशुद्ध अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से कही थी। वह पूंजीवाद के विरोधी नही थे किन्तु व्यापारियों की इजारेदारी के विरोधी थे। उनका दृष्टिकोण औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का था और यह वर्ग अभी राज्यसत्ता पर अधिकार न कर पाया था। किसी भी देश के आर्थिक विकास को समझने के लिए व्यापारिक पूंजीवाद, औद्योगिक पूंजीवाद और महाजनी पूंजीवाद मे भेद करना आवश्यक है। इसके बिना इंग्लैण्ड का सामाजिक विकास समझ मे न आयेगा, भारत में अंग्रेज़ों की भूमिका समझ मे न आयेगी। एडमण्ड बर्क की सहानुभूति उस अभिजात वर्ग के प्रति थी जो इंग्लैण्ड और यूरुप मे सत्तारूढ था किन्तु राज्यशक्ति, और उससे भी अधिक अर्थशक्ति, उसके हाथ से बराबर निकलती जा रही थी। वह नये अर्थपतियों को आलोचनात्मक निगाह से देखता था। ऐडम स्मिथ की तरह एडमण्ड बर्क ने भी इस बात पर बराबर ज़ोर दिया कि अंग्रेज भारत को उजाड़ रहे है, भारतीय बाज़ार का विकास करना दूर, वे उसका नाश कर रहे है। भारत के सन्दर्भ में एक जगह बर्क ने भी स्मिथ की तरह इजारेदारी के विरुद्ध स्वच्छन्द व्यापार का समर्थन किया है। विलियम डिग्बी ने समृद्ध ब्रिटिश भारत (प्रोस्पेरस ब्रिटिश इंडिया) नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ में यहाँ के बाज़ार के विनाश का, एशिया के बाजार मे भारत की भूमिका को बिगाड़ने का, किसानों के शोषण और भुखमरी का, व्यापारकेन्द्रों की तबाही और शहरों के देहातीकरण की ब्रिटिश नीति का विशद विवेचन किया। इस प्रकार अठारहवी सदी के अन्तिम चरण से लेकर बीसवी सदी के प्रथम चरण तक तीन ब्रिटिश विद्वानो ने भारत में अंग्रेज़ी राज की भूमिका का विश्लेषण करके एक से परिणाम निकाले। डिग्बी पूंजीवाद के विरोधी नही थे, उनका दृष्टिकोण पूंजीवादी उदारपन्थियों (बुर्जुआ लिबरलों) का है। बायरन, अर्नेस्ट जोन्स आदि जो ब्रिटिश बुद्धिजीवी यह प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब भारत के किसान गंगा के मैदानों में उठ खड़े होते हैं और आततायियों को समुद्र की ओर खदेड़ देते हैं, उनकी बात

ही अलग है। औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के अर्थशास्त्री, अभिजातवर्ग के समर्थक और व्यापारिक पूंजीवाद के आलोचक, पूंजीवादी उदारपन्थियों के श्रेष्ठ प्रतिनिधि, ये तीन तरह के लोग अंग्रेजी राज के बारे में एक ही तरह की बातें कह रहे थे। भारतीय इतिहासकार इनकी बातों की अनदेखी नही कर सकते। इनकी धारणाओं का संक्षिप्त परिचय इस पुस्तक के पहले अध्याय मे है।

१८५७ की लड़ाई भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम हो चाहे सामन्ती हितो की रक्षा के लिए चलाया जानेवाला प्रतिक्रियावादी संघर्ष हो, एक बात निर्विवाद है कि सावरकर और लाला हरदयाल से लेकर चन्द्रशेखर आज़ाद और भगतसिंह तक भारत में जिन लोगो ने सशस्त्र क्रान्ति का प्रयास किया, प्रायः उन सबने गदर से प्रेरणा ली। जिन्होने अपनी पार्टी का नाम ही गदर पार्टी रखा, उन्होने डके की चोट पर गदर मे अपने सम्बन्ध की घोषणा की। ये लोग जानते थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत का आर्थिक शोषण कर रहा है, इसके लिए भारत के सभी सम्प्रदायों के लोगों को सेना के साथ मिलकर अंग्रेजो से लड़ना चाहिए। क्रान्तिकारियों के प्रसंग मे गदर पार्टी की चर्चा कम ही होती है। गदर पार्टी को साम्राज्यविरोधी पार्टी माना जाय तो १८५७ के गदर को प्रतिक्रियावादियो का संघर्ष कहना ज़रा मुश्किल काम होगा। अंग्रेज़ों ने हृदयपरिवर्तन की वेला मे यहाँ जो दो राज्य बनाये, गदर मे वे हारते तो ये दो राज्य कभी बनते ही नही। जो भी गदर से अपना सम्बन्ध जोड़ेगा, वह कही न कही गदर के उस रूप से ज़रूर प्रभावित होगा जो साम्प्रदायिक सकीर्णता से मुक्त था। सावरकर की प्रसिद्ध पुस्तक मे इस तरह का प्रभाव मौजूद है। लाला हरदयाल और गदर पार्टी के नेताओं को यह पुस्तक बहुत प्रिय थी और पहले महायुद्ध के बादवाले दौर के क्रान्तिकारियों को भी उसने खूब प्रभावित किया था। मार्क्सवादी और गैरमार्क्सवादी क्रान्तिकारियों ने गदर के प्रति किस तरह का दृष्टिकोण अपनाया, यह इस पर निर्भर है कि उन्होने भारत मे अंग्रेज़ी राज की भूमिका को किस तरह समझा है। मार्क्सवादियो ने साम्राज्यविरोधी आन्दोलन किस तरह चलाया, उसमे किस तरह भाग लिया, यह साम्राज्यवाद के बारे में उनकी समझ पर निर्भर है। पूंजीवाद, अंग्रेज़ी राज, भारत का सामाजिक विकास, साम्राज्यविरोधी आन्दोलन, मार्क्सवाद, ये सब एक-दूसरे से जुड़े हुए है। दूसरे अध्याय मे सावरकर, गदर पार्टी और क्रान्तिकारी दल की चर्चा के अलावा मैंने गदर के प्रति जयप्रकाश नारायण, जवाहरलाल नेहरू,स्वाधीनताप्राप्ति से पहले तथा उसके बाद मार्क्सवादियो के दृष्टिकोण का सारांश अपनी टिप्पणियों सहित दिया है। सोवियत संघ के मार्क्सवाद लेनिनवाद संस्थान ने गदर का जो विश्लेषण मार्क्स के भारत-सम्बन्धी दस्तावेजों के प्रसंग मे किया है, ऐसा लगता है कि अनेक प्रगतिशील इतिहासकारो को वह दिखायी नही दिया। उसकी चर्चा भी दूसरे अध्याय में है।

गदर पार्टी के अनेक नेता जनआन्दोलन का महत्व समझते थे, क्रान्तिकारी दल के अधिकाश युवक क्रान्ति की सफलता के लिए जनता को, विशेषकर किसानो और मजदूरों, को संगठित करना जरूरी समझते थे। क्रान्ति चाहे राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए की जाय चाहे समाजवाद के लिए, उसमे विभिन्न वर्गों की

भूमिका पहचानना, उसके अनुसार नीति निर्धारित करना समाज के वैज्ञानिक विवेचन से ही सम्भव है। मार्क्स ने समाज के विवेचन की जो पद्धति प्रतिपादित की, वह ऐतिहासिक भौतिकवाद अथवा मार्क्सवाद के नाम से विख्यात है। गदर पार्टी के अनेक नेता, क्रान्तिकारी दल के अनेक युवक जितना ही क्रान्ति की सफलता के लिए जनसंगठनो और जनआन्दोलनों को आवश्यक समझने लगे, उतना ही वे मार्क्सवाद की ओर आकर्षित हुए। विशेष रूप से क्रान्तिकारी युवकों को मार्क्सवादी विचारधारा की ओर ले आने में राधामोहन गोकुलजी का सहयोग अत्यन्त मूल्यवान साबित हुआ।

लाला हरदयाल, जयप्रकाश नारायण और जवाहरलाल नेहरू ने मार्क्सवाद के बारे में काफी लिखा है। लाला हरदयाल ने बुद्धिवाद और वैज्ञानिक चिन्तन का समर्थन करते हुए फासिस्टों और युद्धवादियों की जो आलोचना की, वह हमारे लिए आज भी अत्यन्त प्रासंगिक है। जयप्रकाश नारायण ने मार्क्सवाद का समर्थन करते हुए कांग्रेस के दक्षिणपन्थी नेतृत्व की जो आलोचना की, जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस संचालित आन्दोलन की जो कमजोरियाँ बताईं, इतिहास और समाज के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर जो कुछ लिखा, वह कांग्रेसियों तथा गैरकांग्रेसियों दोनो के अध्ययन करने योग्य है। स्वाधीनता आन्दोलन कब कैसी राह से आगे बढा, इसका गहरा सम्बन्ध मार्क्सवाद के प्रति उसके नेताओं के दृष्टिकोण से भी है। तीसरे अध्याय में लाला हरदयाल, जयप्रकाश नारायण और जवाहरलाल नेहरू की मार्क्सवाद-सम्बन्धी धारणाओं का विवेचन है। कहना न होगा कि ये सब धारणाएँ दूसरे महायुद्ध से पहले की है।

लाला हरदयाल, जयप्रकाश नारायण और जवाहरलाल नेहरू की कृतियाँ अंग्रेजी में है। इनसे अलग समाजवादी विचारधारा से सम्बन्धित बहुत-सा साहित्य हिन्दी मे है। चौथे अध्याय मे इसका विवरण है। इस साहित्य का एक भाग वह है जो नवम्बर १९१७ की रूसी क्रान्ति से पहले लिखा गया है। इसका ऐतिहासिक महत्व किसी की निगाह से छिपा न रहेगा। समाजवादी चेतना भारतीय जनता की साम्राज्यविरोधी चेतना का ही प्रसार है, यह बात इस पहले भाग की सामग्री से स्पष्ट हो जायेगी। दूसरे भाग मे वह सामग्री है जो रूसी क्रान्ति के बाद किन्तु भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना से पहले की है। इसका ऐतिहासिक महत्व भी असन्दिग्ध है। इसे प्रस्तुत करनेवाले अधिकतर वही लोग हैं जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि से घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध हैं। भारत मे समाजवादी विचारधारा का इतिहास लिखते समय कोई भी विवेचक नवम्बर १९१७ और दिसम्बर १९२५ के बीच हिन्दी में लिखे हुए समाजवाद-सम्बन्धी विशाल साहित्य की अनदेखी नही कर सकता। इस पुस्तक मे उसका संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

साम्राज्यवाद ने अपना शोषण कार्य जारी रखने के लिए दमन और कूटनीति दोनों से काम लिया; भारतीय जनता ने इसका मुकाबला नये जनसंगठन बनाकर नये जनसंघर्षों द्वारा किया। स्वाधीनता आन्दोलन मे अनेक प्रकार के रुझान थे। अंग्रेजो के विरुद्ध आन्दोलन चलाओ किन्तु उनसे समझौता कर लेने की भी

कोशिश करते रहो। यह सुधारवादी रुझान हुआ। समझौते का रास्ता बन्द करो, आन्दोलन क्रान्तिकारी ढंग से चलाओ, मजदूरों और किसानों के अपने संगठन बनाओ, इन संगठनों के द्वारा स्वाधीनता आन्दोलन को अजेय बना दो, यह क्रान्तिकारी रुझान था। इन दोनों का आपस में टकराना अनिवार्य था। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की नीति निर्धारित करने में किसानों-मजदूरों के संगठनकर्ता किस हद तक प्रभावशाली होते हैं, इस पर स्वाधीनता आन्दोलन का भविष्य निर्भर था। इन समस्याओं का विवेचन पाँचवें अध्याय में है।

दूसरे महायुद्ध के बाद भारत में जनक्रान्ति का उभार, साम्राज्यवाद का जवाबी हमला, मुस्लिम सम्प्रदायवाद की भूमिका आदि की चर्चा छठे अध्याय में है। इसकी सामग्री ब्रिटिश दस्तावेजों के संग्रह ट्रान्सफर आफ पावर (खण्ड ६, ७, ८ और ९) से ली गयी है। भारत और पाकिस्तान की जो स्थिति इस समय है, अंग्रेजों से इन राज्यों के जिस तरह के सम्बन्ध हैं, उस सबकी बुनियाद १९४५-४७ के बीच डाली जा चुकी थी। अंग्रेजों पर भारत की क्रान्तिकारी परिस्थिति का दबाव बराबर बना हुआ था, इसे अंग्रेजों से ज्यादा अच्छी तरह और कोई न जानता था। उन्होंने इस दबाव के असह्य होने से पहले ही निश्चित योजना के अनुसार जवाबी हमला किया और इसमें उन्हें काफी सफलता मिली। स्वाधीनता-प्राप्ति के मसले पर विचार करते समय इन दोनों बातों को ध्यान में रखना जरूरी है। स्वाधीनताप्राप्ति की पूर्ववेला से उसकी उत्तरवेला का गहरा सम्बन्ध है, इस उल्लेख के साथ पुस्तक का पहला खण्ड समाप्त हुआ है।

मानी बात है कि सैद्धान्तिक विवेचन के लिए बहुत-सी समस्याएँ बच रहती हैं। मार्क्स ने भारतीय ग्रामसमाजों के बारे में जो कुछ लिखा है, वह पहले खण्ड में दिखायी नहीं देता। और मार्क्स ने कहा था, क्रान्ति होगी किसी इंग्लैण्ड जैसे उद्योग-प्रधान देश में, हुई वह पिछड़े हुए रूस में। तब मार्क्सवाद अवैज्ञानिक है कि नहीं? और युद्धकाल में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नीति? भारत में क्या उसी तरह का सामन्तवाद था जिस तरह का यूरप में था? उसे सामन्तवाद कहना कहाँ तक उचित है? मानता हूँ कि ये और इस तरह के और भी प्रश्न विवेच्य हैं और इस खण्ड में अविवेचित हैं। इसीलिए पुस्तक का दूसरा खण्ड आवश्यक हुआ। उसमें इन प्रश्नों से सम्बन्धित विवेचना रहेगी।

इस पुस्तक (दोनों खण्डों) के लिए सामग्री-संग्रह के कार्य में सर्वश्री सोहनसिंह जोश, सत्यभक्त, शिव वर्मा, उदयशंकर शास्त्री, नामवरसिंह, श्यामबिहारी राय, कृष्णबिहारी मिश्र (कलकत्ता), श्रीप्रकाश कश्यप, नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, उपेन्द्र ने मेरी जो अमूल्य सहायता की है, उसके लिए उनके प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। वेदव्यास कुचरू और रामानन्द भारद्वाज ने पा
उनकी प्रगति के लिए मेरी शुभकामना

# विषय-सूची

# भारत में अंग्रेजी राज
# और मार्क्सवाद

# विश्वबाज़ार और भारत

## १. पूंजीवाद की मंजिलें—भारत और इंग्लैन्ड

भारत और इंग्लैंड का सम्बन्ध इन दोनों देशों के इतिहास के लिए और संसार के इतिहास के लिए महत्वपूर्ण है। ईस्वी सन् १६०० में इंग्लैंड के कुछ व्यापारियों ने भारत में व्यापार करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी बनाई। १७५७ में पलासी की लड़ाई हुई और अगले सौ साल में भारत में अंग्रेज़ी राज तेजी से फैला और मजबूती से कायम होता गया। १८५७ में भारत का प्रथम और अन्तिम सशस्त्र स्वाधीनता-संग्राम हुआ। १९४६ में भारतीय जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों के फलस्वरूप १९४७ में भारत स्वाधीन हुआ। इन संघर्षों ने व्यापक क्रान्ति का रूप न लिया, इसलिए अंग्रेज़ी कूटनीति सफल हुई और भारत विभाजित हुआ, साम्प्रदायिक आधार पर एक नये राष्ट्र पाकिस्तान का निर्माण हुआ। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारतीय गणतंत्र ब्रिटिश कामनवेल्थ का सदस्य बना हुआ है। इस कामनवेल्थ का मुखिया है इंग्लैंड। उसके अन्य सदस्य हैं भूतपूर्व ब्रिटिश साम्राज्य के नव-स्वाधीन देश।

अंग्रेज जाति की निवास भूमि का नाम है इंग्लैंड। इस भूमि के साथ वेल्स और स्काटलैंड के प्रदेश हैं। यहाँ अंग्रेज़ी से भिन्न समुदाय की भाषाएँ बोलने वाले लोग रहते हैं। सैकड़ों साल तक युद्ध करने के बाद इन प्रदेशों को उस राष्ट्र में मिला लिया गया जिसके शासक अंग्रेज थे। यहाँ के लोग अंग्रेज़ीकरण के लगातार प्रयत्नों को विफल करके आज भी अपनी भाषा और राजनीतिक स्वायत्तता के लिए संघर्ष कर रहे हैं। ब्रिटेन कहने से इंग्लैंड, स्काटलैंड और वेल्स तीनों प्रदेशों का बोध होता है। क्रिकेट में हमेशा इंग्लैंड का नाम आता है, ब्रिटेन की टीम कोई नहीं कहता। इसी तरह साहित्य में इंग्लिश लिटरेचर का उल्लेख होता है, ब्रिटिश लिटरेचर का नहीं। किन्तु साम्राज्य के लिए ब्रिटिश-एम्पायर शब्द हैं, इंग्लिश एम्पायर नहीं। अंग्रेज़ों ने भारत से पहले आयर्लैंड को गुलाम बनाया था, भारत से पहले साम्प्रदायिक आधार पर उन्होंने आयर्लैंड का विभाजन किया। अन्तर

कैथलिक और प्रोटेस्टेन्ट। आयर्लैंड के जिस भाग मे कैथलिक बहुमत है, उसे स्वाधीनता प्राप्त हुई, जिस भाग मे प्रोटेस्टेन्ट बहुमत है, उस पर अंग्रेज अधिकार बनाये रहे। इंग्लैंड मे भी प्रोटेस्टेन्ट बहुमत है। आयर्लैंड में देश की एकता और स्वाधीनता के लिए संघर्ष अभी जारी है। आयर्लैंड के पराधीन उत्तरी भाग को ब्रिटेन से मिलाकर यूनाइटेड किंगडम नाम दिया गया। साम्राज्य, साहित्य या क्रिकेट की टीम के साथ यूनाइटिड किंगडम जैसा नाम नही जोड़ा जाता। हिन्दी मे अंग्रेज़ी राज का अर्थ इंग्लैंड का राज और ब्रिटिश-एम्पायर दोनो हैं।

१६वी सदी से लेकर २०वी सदी के उत्तरार्द्ध के अन्तिम चरण तक इंग्लैंड और यूरुप के सामाजिक विकास की मंजिल पूजीवाद की है। पूजीवाद कई तरह का होता है और उसकी कई मंजिलें हैं। माल तैयार करना, मुनाफे पर उसे बेचना, माल तैयार करने और बेचने के लिए पूजी एकत्रित करना, ये तीनों काम साथ-साथ होते हैं। माल तैयार करने का काम पूजीवाद से पहले भी होता था पर वह बड़े पैमाने पर मुनाफा कमाने के लिए न किया जाता था। विनिमय के लिए सोना-चादी या सिक्को से पहले भी काम लिया जाता था। पर बहुत मे लोगों का धन एक जगह बटोरकर बैंको के माध्यम से उद्योग-धन्धों और व्यापार में लगाने के लिए बडी-बड़ी रकमे उधार देने की व्यवस्था पहले न थी। उद्योग, व्यापार और महाजनी, पूजीवाद के लिए ये तीनो जरूरी है। पहले दौर मे भाप से चलने वाली मशीनो का उपयोग नही होता। उत्पादन के औज़ार पुराने होते हैं। कारीगर ज्यादातर अपने घर पर ही काम करते है, कुछ जगहो मे उन्हें कारखाने मे इकट्ठा करके उनसे काम कराया जाता है। कारीगर जो माल बनाते है, उस पर उनका अधिकार नही होता। सौदागर पेशगी धन देकर कारीगर की श्रमशक्ति पहले ही खरीद चुका होता है, वही उसके बनाये माल का मालिक होता है। सौदागर मुनाफे के लिए माल तैयार कराता है और पेशगी धन देकर कारीगर की श्रमशक्ति खरीद लेता है, इन दो विशेषताओं के कारण उत्पादन का यह तरीका पूजीवादी कहलाता है। कारीगर अभी मशीनों के बदले पुराने औज़ारो से काम लेते हैं, ये औजार हाथ से इस्तेमाल किये जाते हैं, इसलिए उक्त कोटि के पूंजीवाद को दस्तकारी पूंजीवाद कह सकते हैं। अंग्रेज़ी के 'मैनूफैक्चर' शब्द का सीधा अर्थ है दस्तकारी। जब भाप से चलनेवाली मशीनो का उपयोग होता है, तब कारखाने में काम करनेवाले मजदूर के लिए, पुराने कारीगर की तरह, हाथ से मेहनत करना जरूरी नही रह जाता। उत्पादन अब और भी बड़े पैमाने पर होता है, मुनाफे मे जबर्दस्त बढ़ती होती है। इंग्लैंड मे इस तरह का मशीनी उत्पादन १८वीं सदी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ। इसे अंग्रेज़ी में इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन (औद्योगिक क्रांति) कहते है। 'इंडस्ट्री' और उद्योग समानार्थी शब्द हैं और दोनों का व्यापक अर्थ है। एक आदमी पढ़ने-लिखने मे बडी मेहनत करता है, वह 'इंडस्ट्रियस' कहलायेगा, भले ही कारखाने से उसका कोई सम्बन्ध न हो। उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी, यहां उद्योग और उद्योगी का सम्बन्ध मशीनी उत्पादन से नही है। 'इंडस्ट्री' की तरह उद्योग या उद्योग-धन्धे से मशीनी उत्पादन का बोध होता है।

उत्पादन के तरीके में कोई बड़ा परिवर्तन हो, इसके लिए जरूरी होता है कि पूंजीवादी तरीके से जो माल तैयार किया जाये, उसकी खपत के लिए पहले से बाजार सुलभ हो। बाज़ार के निर्माण के बिना पूंजीवादी उत्पादन का विकास असम्भव है। बाज़ार के निर्माण का काम व्यापारी करते हैं। माल उन्होंने खुद तैयार कराया हो, चाहे दूसरों ने तैयार कराया हो, उसे एक जगह से दूसरी जगह ले जाने और बेचने का काम व्यापारी ही करते हैं। सबसे पहले उनकी कार्यवाही से किसी देश के बाजार का निर्माण होता है। इस तरह के बाजार के निर्माण से जातीय गठन का गहरा सम्बन्ध है। यूरुप में जिसे रिनेसेन्स (पुनर्जागरण) कहते हैं, वह जातीय गठन का युग है। इटली में इस तरह के व्यापार का सबसे पहले विकास हुआ, इस कारण यूरुप के तथाकथित पुनर्जागरण की शुरुआत भी इटली से हुई। इंग्लैंड में यह प्रक्रिया १६वीं सदी में घटित हुई। इसी समय इंग्लैंड के घरेलू बाज़ार का गठन होता है और विभिन्न जनपदों में फैले हुए लोग अंग्रेज जाति के रूप में गठित होते हैं। व्यापार बड़े पैमाने पर होता है और वह किसी एक देश तक सीमित नहीं होता। विदेश व्यापार उसका महत्वपूर्ण अंग होता है। इटली की समृद्धि का बहुत बड़ा कारण पूरब के देशों में उसका व्यापार था। जब उत्तरी और दक्षिणी अमरीका का पता चला, तब विदेश व्यापार के लिए एक नयी दुनिया मिली, उसका दायरा बहुत बढ़ गया। इस कार्रवाई में पुर्तगाल और स्पेन सबसे आगे थे। इनके बढ़ते हुए प्रभाव के कारण इटली का आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व, विश्वबाज़ार की दृष्टि से, क्षीण हो गया, किन्तु घरेलू बाजार के गठित होने के साथ-साथ उसकी सांस्कृतिक गरिमा में और भी वृद्धि हुई। इंग्लैंड में १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर १८वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक सामाजिक विकास में अग्रणी भूमिका व्यापारियों की रही। लगभग दो सौ वर्ष तक इंग्लैंड की राज्यसत्ता का सम्बन्ध व्यापारी वर्ग से रहा। इस अवधि में दस्तकारी पूंजीवाद बना रहा किन्तु दस्तकारी वाला उद्योगपति व्यापारी से पीछे है, आगे नहीं। सामाजिक विकास निर्धारित करने वाली मुख्य शक्ति उद्योगपति की नहीं है, मुख्य शक्ति व्यापारी की है। अर्थशास्त्र की पुस्तकों में इस युग को उचित ही मर्केन्टाइलिज्म (व्यापारवाद) की संज्ञा दी जाती है। 'इंडस्ट्रियल रेवोल्यूशन' के समान कुछ इतिहासकार 'कमर्शल रेवोल्यूशन' (सौदागरी क्रान्ति) की चर्चा भी करते हैं। मुख्य बात यह है कि इस अवधि में व्यापार का स्तर बदल गया है। यह नये ढंग का पूंजीवादी व्यापार है। विशेषरूप से इंग्लैंड में व्यापारियों के संघ कायम हुए जो मिलकर बड़े पैमाने पर काम करते थे। इन्हें कम्पनी नाम दिया गया। जिन कम्पनियों में प्रत्येक व्यापारी अपनी पूंजी अलग रखता था, अपना व्यापार अलग करता था, हानि-लाभ के लिए खुद जिम्मेदार होता था, उनकी व्यापार-क्षमता सीमित होती थी। जिन कम्पनियों में व्यापारी अपनी पूंजी मिला लेते थे, हानि-लाभ के लिए जिम्मेदारी सभी की होती थी, उनकी व्यापार-क्षमता भी बहुत बढ़ी। इन्हें 'ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनी' कहते थे। कोई कम्पनी किन्हीं खास वस्तुओं के व्यापार के लिए या किन्हीं खास देशों से व्यापार के लिए एकाधिकार प्राप्त कर लेती थी। वह अपने अधिकार क्षेत्र में विदेशी कम्पनी दरकिनार, अपने देश की ही किसी दूसरी

कम्पनी को घुसने न देती थी। ऐसी ही कम्पनी ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी।

यहां दो बातें ध्यान देने की हैं। पहली यह कि यूरुप के जिस युग में व्यापार का नये स्तर पर प्रसार होता है, उस युग में औद्योगिक पूंजीवाद का अभाव नहीं है, भले ही उद्योग-धन्धों में भाप से चलनेवाली मशीनों का उपयोग न होता हो। दूसरी यह कि इस युग को व्यापारिक पूंजीवाद का युग कहना उचित है, भले ही इन शब्दों से उत्पादन-प्रणाली का सीधा सम्बन्ध न हो। पूंजीवाद अपने इस प्रारम्भिक रूप में ही जबर्दस्त इजारेदारी रुझान का परिचय देता है। चाहे व्यापार हो, चाहे माल की पैदावार, पूंजीवाद की प्रवृत्ति होती है कि एक शक्तिशाली गुट दूसरे गुटों को दबाकर अपना इजारा कायम करे। व्यापारिक पूंजीवाद के युग में इजारेदार कम्पनियों का निर्माण और उनकी शक्ति का प्रसार इसी प्रवृत्ति का सूचक है। ये कम्पनियां इतनी ताकतवर हैं कि वे राज्य-सत्ता पर हावी हो जाती हैं अथवा उसे अपना समर्थन करने को मजबूर करती हैं। राज्य-सत्ता से पूंजी-पतियों का गठबन्धन पूंजीवाद की विशेषता है। यह विशेषता पूंजीवादी विकास के प्रारम्भिक दौर में ही साफ दिखाई देती है। राज्य-सत्ता जो कानून बनाती है, उनका मुख्य उद्देश्य व्यापारियों का, विशेषरूप से इजारेदार कम्पनियों का, हित करना होता है। जितना ही कानून और राज्य-सत्ता का उपयोग व्यापारी अपने हित में करते हैं, उतना ही वे इन्हें वर्गों से परे, वर्ग-स्वार्थ से मुक्त घोषित करते हैं। व्यापारिक पूंजीवाद सामन्ती व्यवस्था को कमजोर करता है पर उसे खत्म नहीं कर पाता। सामन्ती अवशेषों से गठबन्धन करके वह कारीगरों, किसानों और मजदूरों को दबाये रखता है। व्यापारियों में जिसे भी सुविधा होती है, जमीन खरीदकर भूस्वामी वर्ग में शामिल हो जाता है और अभिजात वर्ग के सदस्य के रूप में प्रतिष्ठा पाता है। व्यापारिक पूंजीवाद के अभ्युदय के पहले भी युद्ध होते थे। बड़े-बड़े सामन्त अपना राज फैलाने के लिए दूसरों के राज पर हमला करते थे। फिर भी इन युद्धों का सीधा सम्बन्ध उत्पादन या वितरण की पद्धति से न था। व्यापारिक पूंजीवाद की जन्मकुण्डली में युद्ध लिखा हुआ था। एक देश के व्यापारी दूसरे देश के व्यापारियों से युद्ध करते थे, जो देश पिछड़े हुए थे, उनके निवासियों को लूटने और गुलाम बनाने के लिए युद्ध करते थे, लूटने और गुलाम बनाने का इजारा किसके पास हो, यह तय करने के लिए युद्ध करते थे। पिछड़े हुए देश के निवासियों से युद्ध, यह एक तरह की लड़ाई हुई; व्यापार में आगे बढ़े हुए देशों से युद्ध, यह दूसरी तरह की लड़ाई हुई। दोनों तरह की लड़ाइयां पूंजीवाद के अभ्युदय काल से, व्यापारिक पूंजीवाद के युग से ही, आरम्भ हो जाती हैं। युद्ध और व्यापार में विजय पाने के लिए एक ओर व्यापारिक पूंजीवाद विज्ञान को प्रोत्साहन देता है, दूसरी ओर सामन्ती अवशेषों की रक्षा करने के लिए, देश की जनता का समर्थन पाने और आवश्यकता अनुसार उसे दबाने के लिए, धार्मिक संस्थाओं और अंध-विश्वासों को बढ़ावा देता है। विज्ञान से उसे इतनी ही दिलचस्पी है कि उससे प्राप्त कौशल का उपयोग व्यापार की उन्नति के लिए, लूट और मुनाफे में वृद्धि के लिए, कर सके। प्रकृति और मानव समाज के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास और प्रसार उसका लक्ष्य कभी नहीं होता।

व्यापारिक पूंजीवाद ने देश में जातीय बाजार कायम किया, देश-विदेश मिलाकर उसने अन्तरजातीय बाजार अथवा विश्वबाजार कायम किया। बाजार कहने से मन मे यह भाव आता है कि सबकुछ व्यवस्थित है, लोग शान्तिपूर्वक लेन-देन के काम मे लगे है। यह भाव धोखा है। शान्ति न देशी बाजार मे है, न विदेशी बाजार मे। १७वी सदी के इंग्लैंड मे भयंकर गृहयुद्ध हुआ। यहा उसकी याद दिलाना भर काफी होगा। विदेशी बाजार में और भी ज्यादा अशान्ति थी। पुर्तगाल, स्पेन, हालैंड, फ्रास, इंग्लैंड विश्वबाजार मे लगातार युद्ध करते दिखाई देते है। व्यापारिक पूजीवाद के युग मे लूट और व्यापार में ज्यादा फर्क नही है। इंग्लैंड के व्यापारी को मौके से समुद्र पर जाता हुआ स्पेन का जहाज मिल जाये, तो उसे लूट लेना उसके लिए धर्म युद्ध है। पिछड़े हुए देशों का माल लूटने में उसे और भी हिचकिचाहट नही होती। डाकू और लुटेरे माल लूटने के लिए और लूट का माल बांटने के लिए अगर कोई बाजार कायम करें, तो जो हालत उस बाजार की होगी, वही हालत व्यापारिक पूजीवाद के युग मे विश्वबाजार की थी।

यह स्वाभाविक था कि इजारेदार व्यापारी और कारखानेदार पूजीपति, इन दोनों के स्वार्थ टकरायें। जातीय और अन्तरजातीय बाजार कायम होने से कारखाने में बने माल की खपत के लिए बहुत बडा क्षेत्र तैयार हो गया था। किन्तु व्यापारिक इजारा इस माल की खपत और उसकी पैदावार की बढती मे बहुत बडी रुकावट बन गया था। इस रुकावट को दूर किया औद्योगिक पूजीवाद ने। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति १८वी सदी के उत्तरार्द्ध मे हुई। इससे पहले,इंग्लैंड का जातीय बाजार कायम हो चुका था, विश्वबाजार कायम हो चुका था। व्यापारिक पूजीवाद इतिहास मे अपनी भूमिका पूरी कर चुका था। उसने औद्योगिक पूजीवाद के लिए आवश्यक परिस्थितिया तैयार कर दी थी। अब उसे सामाजिक विकास के रास्ते से हट जाना चाहिए था। पर वह हटा नही। सौ साल तक वह राज्य-सत्ता से और चिपटा रहा। पूजीवाद के विकास के लिए ही वह निहायत प्रतिक्रिया-वादी बन गया था। इंग्लैंड के मजदूरों ने उससे राज्य-सत्ता छीनने से लिए प्रसिद्ध चार्टिस्ट आन्दोलन चलाया। चार्टिस्ट आन्दोलन संसार का पहला व्यापक और संगठित मजदूर आन्दोलन है। इस आन्दोलन ने राजनीतिक मागें उस पार्लियामेंट के सामने रखी जो दुनिया मे जनतंत्र की मां कहलाती है और जिसमें भूस्वामियों और इजारेदार व्यापारियों के प्रतिनिधियों का बहुमत था। औद्योगिक पूजीवाद के युग मे व्यापार समाप्त नही हो गया वरन् और बड़े पैमाने पर बढा। महाजनी का काम भी पहले से और बढ़ा। बैंकपति और व्यापारी की तुलना में उद्योगपति शक्तिशाली होता जाता था, आर्थिक शक्ति के सूत्र अब उसके हाथ में थे। उपनिवेश और पराधीन देश उसे अपने माल की खपत के लिए चाहिए थे। व्यापारियों का इजारा टूटा, सामन्ती अवशेष और भी कमजोर हुए, पर यह सब काम बहुत धीरे-धीरे हुआ, सिर्फ मजदूरों और किसानों की मुफलिसी बहुत तेजी से बढ़ी। उद्योगपतियों ने इजारेदार व्यापारियों और सामन्तों से समझौता किया। इंग्लैंड समेत किसी भी देश मे उद्योगपतियों ने सामन्तवाद को पूरी तरह खतम नही किया। कई मंजिलों में सुधार करने के बाद, पार्लियामेंट का सामाजिक

आधार विस्तृत करने के लिए अनेक रिफार्म-विल पास करने के बाद, इंग्लैंड के उद्योगपति राज्य-सत्ता पर हावी हो सके। पूंजीपतियों और राज्य-सत्ता का गँठ-बन्धन पहले से और मजबूत हुआ। १८५७ में जब भारत में गदर हुआ, तब यहा कम्पनी का राज था और इंग्लैंड मे उद्योगपति पूरी तरह राज्य-सत्ता पर हावी न हो पाये थे। उनके रास्ते मे इजारेदार व्यापारियों को हटाने में गदर की भूमिका महत्वपूर्ण थी।

व्यापारिक पूंजीवाद की तुलना मे औद्योगिक पूंजीवाद की प्रधानता बहुत थोडे समय तक रही। दूसरा रिफार्म-विल १८६७ मे पास हुआ। इसके पहले आर्थिक शक्ति औद्योगिक पूंजीवाद के हाथ मे आ चुकी थी और वह राज्य-सत्ता पर हावी होने लगा था पर राजनीतिक शक्ति पूरी तरह उसे १८६७ के बाद ही मिली। १८७५ मे महाजनी पूंजीवाद का युग प्रारम्भ होता है। आर्थिक शक्ति उद्योगपति के हाथ से निकलकर बैंकपति के हाथ में सिमट आती है। व्यापार ने उद्योग-धन्धों को बढावा दिया। उद्योग-धन्धों ने साहूकारी को बढावा दिया। साहूकारी पहले भी थी पर उद्योगपति के मुकाबले बैंकपति कमज़ोर था। अब बैंकपति प्रधान हो गया। उसे भी राज्य-सत्ता पर हावी होने मे कुछ समय लगा। १९१४ के विश्व महायुद्ध के समय तक इंग्लैंड का महाजनी पूंजीवाद राज्य-सत्ता पर हावी हो चुका था। विश्वबाजार मे लुटेरों की लडाई अब इतने बड़े पैमाने पर हुई, जितने बडे पैमाने पर पहले कभी न हुई थी। व्यापारिक पूंजीवाद के युग में अमरीकी उपनिवेश अपनी आजादी के लिए लडे और स्वाधीन हुए। अमरीकी स्वाधीनता सग्राम १७७५ मे १७८३ तक हुआ। भारत का स्वाधीनता संग्राम १८५७-५८ में उस समय हुआ जब व्यापारिक पूंजीवाद का आखिरी दौर था। १९०५ मे रूस मे असफल क्रान्ति हुई। रूस में यह औद्योगिक पूंजीवाद का विकासकाल था विश्व पैमाने पर यह महाजनी पूंजीवाद का विकासकाल था। १९१७ मे दूसरी बार रूस मे क्रान्ति हुई। पहले सामन्ती अवशेषों के गढ जार-शाही का विध्वस हुआ, उसके कुछ महीने बाद समाजवादी क्रान्ति हुई। ससार के देशों मे जहा भी उद्योगपति राज्य-सत्ता पर हावी हुए, कही भी इतने कम समय में गद्दी से हटाये नही गये। इसका श्रेय रूस के किसानों-मजदूरों, प्रगतिशील बुद्धि-जीवियों, इन्हें सगठित करनेवाली बोलशेविक-पार्टी और इस पार्टी के निर्माता लेनिन को है। मार्क्सवाद ने विश्वबाजार मे पूंजीवादी इजारा तोड दिया।

पूंजीवाद की चारो अवस्थाओ मे भारत का सम्बन्ध इंग्लैंड से बना रहा है। ये अवस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि इंग्लैंड से भारत का सम्बन्ध भी निरन्तर बदलता रहा। विश्वबाजार मे यदि दो पूंजीवादी शक्तिया आपस मे टकरायेंगी, तो उसका असर भारत पर पड़ेगा। किसी पूंजीवादी देश के उपनिवेश अथवा पराधीन देश अपनी स्वाधीनता के लिए लडते है, तो इसका प्रभाव भी भारत पर पडेगा। यदि किसी पूंजीवादी देश की श्रमिक जनता पूंजी-पतियों के विरुद्ध संघर्ष करती है तो इसका प्रभाव भारत पर पड़ेगा। यदि विश्व-बाजार में कही भी पूंजीवादी इजारा टूटता है, तो इसका और भी गहरा असर भारत पर पड़ेगा। इसी प्रकार भारत मे अंग्रेजी राज के विरुद्ध जो लडाइया हुई,

उनका प्रभाव पूंजीवाद की विश्वस्थिति पर पड़ा, पूंजीवादी देशों के श्रमिक-आन्दोलन पर पड़ा, पराधीन देशो के स्वाधीनता-आन्दोलन पर पड़ा। यदि भारत विश्व पूंजीवाद के प्रभाव क्षेत्र से पूरी तरह बाहर निकल आता है तो इसमें सन्देह नहीं कि संसार के शक्ति सन्तुलन मे इससे भारी परिवर्तन होगा।



## २. विश्वबाज़ार और भारत

भारत और इंग्लैंड मे आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्ध उस युग मे शुरू होते हैं जिस समय व्यापारिक पूंजीवाद की प्रधानता है। इस दौर में इंग्लैंड के उद्योग-धन्धे ऐसी अविकसित अवस्था मे है कि इंग्लैंड के उद्योगपति भारत मे अपना माल बेचने की स्थिति मे नही है। उस देश के व्यापारी भारत से जो आर्थिक सम्बन्ध कायम करना चाहते हैं, उनमे तैयार माल बेचने का काम भारत का है, उस माल को इंग्लैंड और यूरुप के बाजारों में बेचने का काम अंग्रेज़ सौदागरो का है। माल का निर्यात भारत मे होता है, इंग्लैंड मे उसका आयात होता है। भारतीय माल के बदले उपयुक्त सामग्री देने लायक इंग्लैंड के उद्योग-धन्धे नहीं है। इसलिए उस देश का सोना-चांदी तब तक भारत आता रहता है, जब तक आयात-निर्यात का यह सम्बन्ध बदल नही जाता। यह सम्बन्ध बदलता है १९वी सदी के दूसरे दशक में। उस समय तक इंग्लैंड मे औद्योगिक क्रान्ति लगभग हो चुकी है, मशीनों से उत्पादन मे विकास का क्रम जारी है, व्यापारिक पूंजीपतियों के समानान्तर उद्योगपतियो का प्रभावशाली वर्ग तैयार हो गया है, और यद्यपि वह पूरी तरह राज्य-सत्ता पर हावी नही है, फिर भी उसे अपने हित मे प्रभावित कर सकता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी ईस्वी सन् १६०० मे बनी; इसके बाद दो सौ वर्ष तक भारत और इंग्लैंड के सम्बन्ध वैसे ही बने रहे जैसे ऊपर बताये गये है अर्थात् भारत निर्यातक देश था और इंग्लैंड आयातक।

विश्वबाज़ार के निर्माण के दौर में इंग्लैंड तथा यूरुप के पूंजीपतियो ने दोनों अमरीकी महाद्वीपों तथा अफरीका से आर्थिक सम्बन्ध कायम किये। ये सम्बन्ध भारत-इंग्लैंड के आर्थिक सम्बन्धों से नितान्त भिन्न स्तर के हैं। जिस समय अमरीका के सभ्य देशों का सोना-चांदी इंग्लैंड और यूरुप के लुटेरे ढोकर ले जाते थे, उस समय इन्ही लुटेरो का दूसरा वर्ग भारत मे, यहां के माल के बदले, सोना-चांदी ढोकर ला रहा था। विश्वबाजार मे अमरीका-अफरीका की स्थिति मे भारत की स्थिति भिन्न रही है, यह तथ्य विश्वबाजार के निर्माण और उसमे पूंजीपतियो की गतिविधि के विवेचन के लिए अति महत्वपूर्ण है। यूरुप और भारत के पुराने व्यापारमार्गों पर अरबों और तुर्कों का आधिपत्य था। इस आधिपत्य को खत्म न कर पाने के कारण यूरुप के जहाजी अफरीका का चक्कर लगाकर भारत पहुंचने का समुद्री मार्ग खोज रहे थे। इस मार्ग को खोजते हुए वे जिस देश मे भी पहुंचे, वे पहले समझे कि यही 'हिन्दिया', 'इंडिया' है। इसी कारण ईस्ट इडीज़, वेस्ट इंडीज आदि द्वीप समूहों के नाम मे इंडीज शब्द बैठा हुआ है, इसी कारण अमरीकी आदिवासी इंडियन कहलाये। आगे चलकर भारतवासियों से भिन्नता दिखाने के लिए उन्हें रेड इंडियन या अमेरिकन इंडियन कहा गया। कोलम्बस ने अमरीका

का पता लगाया पर वह निकला था पता लगाने भारत का। अमरीकी महाद्वीपों का पता लगने से पुरानी दुनिया के लोगों को एक नयी दुनिया का ज्ञान हुआ। जो विश्वबाज़ार अब कायम हुआ, उसमें पुरानी दुनिया के अलावा यह नयी दुनिया शामिल थी। इस नयी दुनिया का पता लगाने मे अप्रत्यक्ष प्रेरणा भारत की थी।

किन्तु प्रत्यक्ष रूप से भी विश्ववाज़ार के निर्माण मे भारत की भूमिका महत्वपूर्ण थी। भारत का माल खरीदने के लिए यूरुप के व्यापारियों में लडाइयां हुई। इनमे फ्रान्स और इंग्लैंड की लडाई ने और सब लडाइयो को पीछे छोड़ दिया। नैपोलियन के विरुद्ध अंग्रेजों और उनके सहायकों का सग्राम विश्वयुद्ध की रिहर्सल के समान था। क्लाइव के ज़माने मे अंग्रेज़ो और फ्रांसीसियों की जो लड़ाई भारत में हुई, उसका उद्देश्य अपना माल बेचने के लिए यहा के बाजार पर अधिकार करना न था; उसका उद्देश्य यहा का माल खरीदने के लिए दूसरे खरीददारों को हटाना था। एशिया से जो माल यूरुप मे बिकने जाना था, वह वहा मुख्य रूप मे भारत की मंडियों से पहुँचता था। इस प्रकार भारत विश्ववाज़ार का महत्वपूर्ण हिस्सा था। फिर भी भारत और यूरुप के व्यापारियों मे बहुत बडा अन्तर इस बात को लेकर था कि माल ढोने के साधन यूरुप के व्यापारियों के हाथ मे थे। जितने बड़े पैमाने पर जलपोतों का उपयोग व्यापारिक पूजीवाद के इस युग में हुआ, उतने बडे पैमाने पर पहले कभी न हुआ था। भारत के व्यापारी घर बैठे खूब धन कमा रहे थे; घर के बाहर जलमार्गो पर विदेशियो का अधिकार था। जिसके हाथ में जलमार्ग थे, आवाजाही के साधनों पर अधिकार था, वह विश्वबाज़ार पर हावी होने की स्थिति मे था। व्यापारिक पूजीवाद की विशेष परिस्थितियों में जहाज़रानी की भूमिका निर्णायक हुई। भारत के कारीगर अच्छे और मजबूत जहाज बनाते थे, अंग्रेज अपने यहा जहाज़ बनाने के अलावा भारत के जहाज़ भी खरीदते थे। किन्तु भारत का व्यापारी वर्ग समुद्र यात्रा करके यूरुप के सौदागरों से टकराने का खतरा मोल लेने को तैयार न था। यदि आवाजाही के पुराने स्थल-मार्ग ही चालू रहते, तो शायद ससार मे इतना उलटफेर न होता। किन्तु स्थलमार्गों से काम न बना, तभी पुर्तगाल, स्पेन आदि ने समुद्री मार्गों की खोज शुरू की थी। शुरू में जहाज़रानी का तरीका पुराना ही रहा जैसे कपड़ा बुनने का तरीका पुराना था। बाद में भाप से चलने वाली मशीनों से कपड़ा बुना जाने लगा, भाप से जहाज़ भी चलाये जाने लगे। उद्योग-धन्धो मे मशीनो के चलन से जो क्रान्ति हुई, उसके साथ परिवाहन-व्यवस्था में भी क्रान्ति हुई। भाप से चलने वाले जहाजों द्वारा संसार के जलमार्गों पर हावी होकर इंग्लैंड संसार का सबसे शक्तिशाली देश बन गया। जिस बाज़ार से वह माल खरीदता था, उस पर हावी होकर वहां अपना माल बेचना उसके लिए बहुत मुश्किल न रह गया।

अपने माल की बिक्री के लिए भारत के बाज़ार को इस्तेमाल करने मे अंग्रेज़ों ने केवल आर्थिक साधनों से काम न लिया। आर्थिक साधन गौण थे, मुख्य साधन राजनीतिक और सैनिक थे। अंग्रेज यहां क्रमशः अपना राज्यविस्तार कर रहे थे। जब वे राजनीतिक रूप से मजबूत हो गये, तब उन्होने अपने देश मे भारतीय माल की बिक्री पर रोक लगाई और भारत मे अपने माल की बिक्री को छूट दी। राज्य-

शक्ति के बिना अपने मशीनी उत्पादन के बावजूद अंग्रेज खुली होड में भारत के बाजार पर हावी न हो सकते थे। राज्यशक्ति के सहारे उन्होंने यहां के व्यापारियों को खुली होड में बाहर कर दिया और यहां के उद्योग-धन्धों को तबाह करने में सफल हुए। विश्वबाजार में परिवर्तन हुआ; भारत इंग्लैंड को कच्चा माल भेजे और वहां का पक्का माल खरीदे, यह उलटफेर सैनिक-शक्ति के बल पर हुआ।

भारत में एक सामन्त को दूसरे से लड़ाकर अंग्रेज यहां के राजा बन गये, यह बात सभी लोग जानते हैं। भारत में फूट न होती तो अंग्रेजी राज कायम न होता, यह आम धारणा बहुत कुछ सही है। किन्तु इसके साथ इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि जितना भारत के सामन्त आपस में लड रहे थे, उससे कहीं ज्यादा यूरप के व्यापारी आपस में लड रहे थे। अनेक राष्ट्रों की आपसी लड़ाई के अलावा १७वीं सदी में इंग्लैंड ने गृह-युद्ध का सामना किया और १८वीं सदी के अन्त में उसमें भी बड़े पैमाने पर फ्रान्स में गृहयुद्ध हुआ। इसलिए भारत में लड़ाइयां हो रही थीं तो यह कोई अनोखी बात न थी। होना तो यह चाहिए था कि यूरप के व्यापारी आपसी लड़ाइयों के कारण भारत पर अधिकार ही न कर पाते। किन्तु भारत के व्यापारी और सामन्त उनकी फूट से लाभ उठाने की स्थिति में न थे; इनकी फूट से लाभ उठाने की स्थिति में यूरप के व्यापारी थे। इसका कारण यह नहीं है कि भारत के व्यापारी विलायती सौदागरों के मुकाबले में कम धन-दौलत वाले थे। धनदौलत की कमी न थी; इनके पास इतनी सम्पदा थी कि ये ईस्ट इंडिया कम्पनी जैसी कई कम्पनियों का सारा माल-मता खरीद सकते थे। कारण यह था कि केन्द्रीय राज्यसत्ता विघटित हो रही थी।

ईस्ट इंडिया कम्पनी १६०० में कायम हुई, पलासी की लड़ाई १७५७ में हुई। अंग्रेजी राज के प्रसार में १७५७ का साल महत्वपूर्ण है। डेढ़ सौ साल तक अंग्रेज राज्य-विस्तार का अभियान शुरू करने में सफल न हो सके। यदि इसी अवधि में उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के इतिहास से इस देश के इतिहास की तुलना की जाये तो यह बात साफ समझ में आ जायेगी कि यूरप के व्यापारी भारत में अपना राज कायम न कर सके, तो इसका कारण इच्छा की कमी न थी। अकबर और शाहजहां के समय में भारतीय व्यापार ने अभूतपूर्व उन्नति की थी। औरंगजेब के समय में जब केन्द्रीय सत्ता शिथिल हुई और उसके बाद अनेक नये राज्यों की स्थापना हुई, तब अंग्रेजों को अपना राज्य-विस्तार करने में सुविधा हुई। ये नये राज्य काफी शक्तिशाली थे। पंजाब के रणजीतसिंह, महाराष्ट्र के पेशवा, कर्णाटक के हैदरअली और टीपू सुल्तान अकेले ही अंग्रेजों को परास्त करने में समर्थ थे। अंग्रेजों ने इन सबसे एक साथ लड़ने की गलती न की। पहले किसको पीटना चाहिए, फिर किससे निपटना चाहिए, यह तय करने में उन्होंने बड़ी होशियारी दिखाई। जब तक रणजीतसिंह जीवित रहे, अंग्रेजों ने पंजाब की तरफ आंख न उठाई। उनके मरने के बाद उन्होंने पंजाब को धर दबाया। इस काम में उन्हें भारत के ही सिपाहियों से बड़ी मदद मिली। अमरीकी आदिवासियों से लड़ते समय तोप-बन्दूक केवल यूरप वालों के पास थी। वहां बहुत जल्दी राज्य-विस्तार करने में उन्हें सफलता मिली। भारत में ऐसी एकतरफा लड़ाई न थी। तोप के जवाब में तोप,

बन्दूक के जवाब मे बन्दूक यहां मौजूद थी। यदि अंग्रेज यहां के गरीब किसानों को फौज मे भरती करके यहा के सामन्तों मे उन्हें न लडाते, तो वे अपना राज्य-विस्तार करने में सफल न होते। यह बात याद रखनी चाहिये कि अकबर और शाहजहा के समय मे यहा जो अपार सम्पदा जमा थी, उसमे किसानों का हिस्सा न था। खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी; ऊंचे नीचे करम धरम अधरम करि पेट ही को पचत बेंचत बेटा बेटकी—यह सब तुलसीदास ने मुगल साम्राज्य के समृद्धि काल में लिखा था। उस साम्राज्य के विघटन काल मे किसानो की हालत और भी खराब हो गयी। यही कारण है कि क्लाइव के जमाने मे हिन्दी प्रदेश के भूखे किसान बंगाल जाकर अंग्रेजी फौज मे भरती होने लगे थे। अंग्रेजों के लिए पजाब को फतह करने मे इन हिन्दी सिपाहियो की भूमिका मुख्य थी। यद्यपि भारत के सामन्त अंग्रेजों से अलग-अलग लड़े पर वे लडे और उनका लडना अकारथ नही हुआ। अगर ये न लडते तो भारत की हालत भी वैसी होती जैसी अमरीका या दक्षिणी अफरीका की है। बड़े पैमाने पर जनसहार करके यहा की भूमि पर इंग्लैंड, स्पेन, पुर्तगाल, हालैंड जैसे किसी भी अन्य देश के लोग यहा अपने उपनिवेश कायम करते और यहा के लोगों को गुलाम बनाकर दूसरे देशो मे बेचते। सवाल यह नही था कि अंग्रेज यहां औद्योगिक क्रान्ति करने आ रहे हैं और पिछडे हुए सामन्त उनका विरोध कर रहे हैं; सवाल यह था कि यहां के लोग अमरीकी आदिवासियो की तरह मार डाले जायेंगे और जमीन से खदेड दिये जायेंगे या उस जमीन पर जीवित बचे रहेंगे, अफरीकी अश्वेत जनो की तरह गुलाम बनाकर बेच दिये जायेंगे या खेती-किसानी करने के काबिल बने रहेंगे। जिन अंग्रेजो ने उत्तरी अमरीका मे अपने उपनिवेश बनाये, जिन्होंने दक्षिणी अफरीका में आदिवासियो की भूमि छीनी, जिन्होंने गुलामों का व्यापार करने में यूरुप के हर देश को पछाड़ दिया, वही अंग्रेज भारत आये थे। यदि वे इस देश मे उत्तरी अमरीका या दक्षिणी अफरीका जैसा खेल न दिखा सके तो इसका कारण यहां की जनता का प्रतिरोध था। इस प्रतिरोध का नेतृत्व यहां के सामन्तो ने किया। भारत की धरती को वीरान होने से बचाकर उन्होंने एक प्रगतिशील काम किया।

हिन्दी प्रदेश के गरीब किसान अंग्रेजी फौज मे भरती हुए। अन्य प्रदेशो के किसान भी अंग्रेजी फौज मे भरती हुए। बम्बई, मद्रास और बंगाल, ये तीन बड़े प्रान्त अंग्रेजों ने यहां कायम किये। इन तीनो की एक-एक सेना थी जिसे बेंगाल-आर्मी कहा जाता था, उसमे अंग्रेज बगालियो को भरती न करते थे। उसके सारे सिपाही हिन्दी प्रदेश के थे। इन हिन्दी सिपाहियो की बदौलत उन्होने बंगाल पर दखल किया, फिर पंजाब को परास्त किया। १८५७ मे अंग्रेजों की हिन्दी फौज ने, पलासी की लड़ाई के ठीक सौ वर्ष बाद, विद्रोह कर दिया। १८५७-५८ मे जो भारतीय सामन्त अंग्रेजो मे लड़े, वे प्रगतिशील थे, जो सामन्त अंग्रेजों का साथ दे रहे थे, वे प्रतिक्रियावादी थे। किन्तु इस लड़ाई मे नेतृत्व सामन्तों के हाथ मे न था। अंग्रेजो मे अब तक जितनी लड़ाइया हुई थी, उनसे सन् ५७ की लड़ाई गुणात्मक रूप से भिन्न थी। इसका नेतृत्व सिपाही कर रहे थे। ये फौजी वर्दी

पहने हुए हिन्दी प्रदेश के किसान थे। भारतीय इतिहास में पहली बार सामन्त को मातहत बनाकर भारतीय किसान देश की आज़ादी के लिए लड़ रहा था। अब तक भी यह इस तरह की अन्तिम लडाई है।

## ३. विश्वबाज़ार और अमरीकी महाद्वीप

१८५७ की लडाई में किसानों और सामन्तो के आपसी सम्बन्धों और लड़ाई में उनकी भूमिका के बारे में फिर बात करेंगे। पहले देखना चाहिए कि अमरीका ने यूरुप के सौदागरों ने विश्वबाज़ार कैसे कायम किया अथवा विश्वबाज़ार में दो महाद्वीपों और पडोस के अनेक द्वीपों को कैसे शामिल किया, वहाँ उन्होंने अपनी प्रगतिशील भूमिका किस प्रकार निबाही। अनेक महाद्वीपों के समान अमरीकी महाद्वीपों के निवासी भी सामाजिक विकास की अनेक मंजिलों से गुजर रहे थे। उनमें कुछ गण-व्यवस्था मे जीवन बिता रहे थे, अन्य सामन्ती व्यवस्था मे प्रवेश कर चुके थे। गणव्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा दीर्घकालीन है, उसके अन्तर्गत विकास की अनेक मंजिले है। कुछ गण मातृसत्ताक थे, अन्य पितृसत्ताक। कई जगह गण-संघ स्थापित हो चुके थे और वे अपनी-अपनी गण-भाषा के अलावा एक सामान्य संघभाषा का व्यवहार भी करते थे। गण-संघों की स्थापना सामन्ती व्यवस्था के आरम्भ होने की सूचना है। अनेक आदिवासी समाजों मे श्रमविभाजन रूढ़िबद्ध हो गया था और उसके अनुरूप समाज में धनी और निर्धन का भेद मौजूद था। अमरीकी आदिवासियों की समाज व्यवस्था सर्वत्र एक-सी नही थी। एक ओर बडे-बड़े नगरों, राज-प्रासादों, देव मन्दिरों वाले समाज थे, दूसरी ओर आखेटजीवी वनवासी गण समाज थे। बीसवीं सदी के अमरीका में इन आदिवासियों का कही कोई ऐसा समाज दिखाई नही देता जो पूँजीपतियों और मज़दूरों मे विभाजित हो। जहाँ-तहाँ रेड इंडियन मज़दूरी जरूर करते हैं, कुछ अंग्रेजीभाषी बनकर मध्यवर्ग में भी शामिल हो गये है। किन्तु कही कोई ऐसा रेड इंडियन समाज नहीं है जिसके लिए कहा जा सके कि वह पूंजीवादी व्यवस्था मे है। जो रेड इंडियन अपनी भाषा और संस्कृति बचाये हुए हैं, वे बहुत कुछ दीन-हीन कबीलों की जिन्दगी बिता रहे हैं। यूरुप के पूंजीवाद ने रेड इंडियनों के सामाजिक विकास मे कितनी मदद की, इन तथ्यों से प्रकट है। यूरुप के सौदागरों ने जब अमरीकी महाद्वीपों का पता लगाया, तब विकास की दृष्टि से वहाँ के समाज ठहराव की हालत में न थे, इतिहास चलते-चलते रुक न गया था कि यूरुप का धक्का लगने से फिर तेजी से आगे बढ चलता। अमरीकी आदिवासी अपनी भूमि के लिए, अपनी स्वाधीनता के लिए लड़े। जहाँ तक मुझे मालूम है, किसी ने यह नहीं कहा कि प्रगतिशील पूंजीवाद के मुकाबले में अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ने वाले अमरीकी आदिवासी प्रतिक्रियावादी थे।

मध्य अमरीका में माया सभ्यता के अवशेष अब भी दर्शकों को चकित करते है। जो समय वैदिक सभ्यता का है, वही समय माया सभ्यता के प्रारम्भ का है। जब यूरुप के लोगों से इस सभ्यता का सम्पर्क हुआ, तब माया लोगों का इतिहास साढ़े तीन हज़ार साल पुराना हो चुका था। आदिवासी अमरीकी सभ्यता में सबसे

आगे बढ़े हुए माया लोग थे। प्राचीन मिस्र के समान यहाँ के लोग चित्र-लिपि का व्यवहार करते थे। इनमे बहुत अच्छे गणित और खगोल विद्या के जानकार थे। भारत से बाहर उन्होंने गणना मे स्वतत्र रूप से शून्य का आविष्कार किया था। ये लोग स्थापत्य, शिल्प और चित्रकलाओ मे अत्यन्त दक्ष थे। इन्हे उचित ही यूनानियो के समकक्ष बताया गया है। ज्ञान और कला मे इस तरह की उन्नति श्रमविभाजन के बिना सम्भव नही होती। स्पष्ट ही माया सभ्यता सामन्ती व्यवस्था की सभ्यता थी। यूरुप के सौदागरो ने इस सभ्यता का नाश किया।

माया लोगो की तुलना प्राचीन काल के यूनानियों से की गई है तो दक्षिण अमरीका के इन्का लोगों की तुलना प्राचीनकाल के रोमनों से की गयी है। ये लोग युद्धविद्या मे दक्ष थे। उनके पास सुसंगठित सेना थी। गण समाजों मे गण सदस्य और सेना, दो अलग-अलग चीजें नही होती। पूरा गण ही शस्त्रधारी होता है। इन्का लोगों की सेना गण से अलग थी। खेती करने वाले अपनी भूमि छोड़कर न जा सकते थे। जो पेशा बाप का होता था, वही बेटे का होता था। आम जनता निर्धन थी। ऊपर के वर्ग सुख-सुविधा का जीवन बिताते थे। कारीगर सोना, चाँदी और तांबे से बहुत सुन्दर वस्तुएँ बनाते थे। इनके बुनकर सुन्दर वस्त्र तैयार करते थे। ये लोग शल्यक्रिया से भी परिचित थे। इतिहासकारो का अनुमान है कि वे शल्यक्रिया के समय बेहोशी की दवा इस्तेमाल करते थे। इन्होने यातायात के लिए, विशेष रूप से अपनी फौजो के लिए, जैसी सडकें बनाई थी, वैसी सडकें अभी यूरुप मे न थी। स्थापत्य कला का विकास इन्होने विशेष रूप से किया था। इनके विशाल सूर्यमन्दिर के लिए कहा गया है कि वह पुरानी दुनिया के श्रेष्ठ भवनों मे टक्कर ले सकता है। इन्होंने लगभग ३००० वर्ग मील के क्षेत्र मे अपना राज्य स्थापित किया था और उसमे रहनेवाले कबीले एक ही सामान्य राजभाषा का व्यवहार करते थे। धुएं के सकेतचिन्हों से ये लोग चार घण्टे मे २००० मील की दूरी तक अपना सँदेसा भेज सकते थे। यूरुप के सौदागरो ने इस सभ्यता का नाश कर दिया।

मेक्सिको के अज़्तेक लोग अपनी वीरता और युद्ध-कौशल के लिए विख्यात थे। इनके यहां पुरोहितों और भूस्वामियों का वर्ग बन चुका था और भूमि पर बहुत कुछ इन्हीं का अधिकार था। खेती करने वाले जन, अर्ध दासों के समान, भूमि छोडकर कही जा न सकते थे। इनके यहा भूमिहीन खेतिहर मज़दूर भी थे और गुलामों की संख्या भी काफी थी। दस्तकारी की चीजों के विनिमय के लिए ये लोग स्वर्णधूलि तथा अन्य धातुओं से काम लेते थे। इन्होंने आलू, तमाखू और मक्का की खेती का विकास किया था। ये लोग चित्रलिपि का प्रयोग करते थे। ईसाई पादरियों ने इनकी हजारो पुस्तकें यह कहकर जला दी कि वे शैतान की लिखी हुई हैं। सोना-चादी-लकडी के काम मे इन्होंने अद्भुत सौन्दर्यबोध का परिचय दिया था। गणित और ज्योतिष मे विलक्षण प्रगति के फलस्वरूप इन्होने ३६५ दिनवाले वर्ष का चलन किया था; चार साल मे एक बार वे एक दिन और जोडते थे। इनकी गणना भारत की कुछ पद्धतियों के समान बीस के आधार पर चलती थी। टीन और तांबा मिलाकर वे ऐसे अस्त्र बनाते थे कि कोई भी शस्त्र

न सख्त पत्थर या धातु वे उनसे काट सकते थे। मिस्र के राजाओं के समान इन्होंने बड़े-बड़े पिरामिड बनाये थे। इतिहासकार कहते हैं कि ये मिस्र के पिरामिडो से भी बडे थे। मन्दिरों के अलावा दुर्ग बनाने मे भी ये कुशल थे। इनके प्रमुख नगर में साठ हजार घर थे। लोगों ने हिसाब लगाया है कि इस नगर की आबादी तीन से छह लाख के बीच रही होगी। १५वी सदी मे लन्दन की कुल आबादी दो लाख थी। यूरुप के सौदागरो ने इस सभ्यता का भी नाश कर दिया।

जब ये सौदागर वहा पहुंचे तो वहां के निवासियों ने इनका स्वागत बडे प्रेम से किया। १६वी सदी के मध्य तक केवल स्पेन के उपनिवेशो मे लगभग डेढ करोड आदिवासियों को मौत के घाट उतारा गया। जहां अब संयुक्त राष्ट्र अमरीका और कनाडा के राज्य हैं, वहां कोलम्बस के समय में दस लाख इंडियन थे। २०वी सदी मे ये पांच लाख रह गये थे। चार सौ साल मे बढने के बजाय वे पहले से आधे रह गये थे। जो रह गये थे, वे मुख्य भूमि से हटाकर विशेष इलाकों मे बसा दिये गये थे। आदिवासी वीरता से लड़े, उन्हें गुलाम बनाना आसान न था। यूरुप से आनेवालो को उनकी ज़मीन चाहिए थी। यह ज़मीन उन्हें तभी मिल सकती थी जब आदिवासियो को वहा से खदेड़ दिया जाये और न खदेड़े जा सकें तो उनका नाश कर दिया जाये। हारते हुए, खदेड़े जाते हुए भी अमरीकी आदिवासी निरन्तर अपनी स्वाधीनता के लिए लडते रहे। उनके पास बारूद नही थी, तोपें और बन्दूकें नही थी। अपने अस्त्रशस्त्र के बल पर यूरुप के थोड़े से लोगो ने विशाल रेड इंडियन सेनाओं को परास्त किया। यदि आदिवासी समाज आपस में न लडते होते, उनमे से कुछ यूरुप के हमलावरों का साथ न देते, तो इतने बडे पैमाने पर उनका विनाश न होता। फिर भी यूरुपवासियो की विजय का मुख्य कारण बारूद का व्यवहार था। इसके सिवा उन्होंने बहुत जगह अफरीका से लाये नीग्रो लोगों को फौज मे भरती किया और उनकी मदद से रेड इंडियनो को हराया। फिर भी वे पूरी तरह उनका नाश न कर सके। दोनो महाद्वीपों मे दूसरे महायुद्ध के दौरान अमरीकी आदिवासियों की संख्या तीन करोड से ऊपर थी।

अमरीकी आदिवासियों को पूर्ण विनाश से बचने के लिए भारी मुसीबतें सहनी पड़ी और विकट संघर्ष करना पडा। उनमे बहुतो ने अपने बच्चो को गुलाम बनने से बचाने के लिए गला घोंटकर उन्हें मार डाला। ऐसी बीमारिया फैल गयी जिनसे पहले साबिका न पड़ा था। ये बीमारिया गोरे लोग अपने साथ लाये थे। इनमें सिफ़लिस और मलेरिया की बीमारिया भी थी। जो लडाकू आदिवासी बच रहे, उनका मनोबल नष्ट करने के लिए गोरो ने उन्हे शराब पिलाना शुरू किया। इसके सिवा ईसाई धर्म का प्रचार करके उन्हें यह सिखाने का प्रयत्न किया कि उनका और हमलावरो का धर्म एक है, इसलिए विरोध करना बेकार है। वेस्ट इंडीज नाम के द्वीप समूह में लाखो आदिवासी मारे गये। स्पेन की गुलामी से बचने के लिए बहुतों ने एक दूसरे को मारा या आत्म-हत्या की। इतिहासका[रों] का अनुमान है कि इस जनसंहार में लगभग दस लाख आदिवासी मारे गये। इ[नमें] क्यूबा द्वीप के तीन लाख इंडियन शामिल है।

जहां सामन्तवाद का अधिक विकास हुआ था, वहां आक्रमणकारियों ने उ

कुछ सामन्तों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। मेक्सिको और पीरू के शासको ने स्पैनिश विजेताओ से अपनी लड़कियों का ब्याह कर दिया। कई स्थानों में आदिवासियो के मन्दिरो को हमलावरो ने लूटा। कई जगह निहत्थे आदिवासियो को धोखे से इकट्ठा करके उन्हे हुकुम सुनाया कि या तो ईसाई बनो वरना सबके सब मार डाले जाओगे। १६वी सदी के पूर्वार्द्ध में पीरू के सरदार अताहुआलपा को उसके हजारो निहत्थे आदमियों के साथ पिजारो नाम के स्पैनिश सेनापति ने एक जगह इकट्ठा किया। तब एक पादरी बाइबिल लेकर उनकी ओर बढा और बोला, अपने देवताओ पर विश्वास करना छोड़ दो, ईसाई बन जाओ और स्पेन को अपना स्वामी मान लो। इस पर अताहुआलपा ने बाइबिल उठाकर फेंक दी। इस पर पादरी ने इशारा किया, इन्हें मारो। वहाँ दस हजार आदिवासियों ने प्राण गँवाये। उत्तरी अमरीका मे फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने बड़ी निर्दयता से अपना अभियान चलाया। शेरीडन नाम के सेनापति का कहना था, मुर्दा इंडियन ही अच्छा इंडियन होता है। यहा यह भी हुआ कि भारत की तरह अंग्रेजो ने कुछ को अपनी तरफ मिलाया और कुछ को फ्रासीसियों ने अपनी तरफ लिया। आदिवासियो की जमीन छीननेके लिए अंग्रेज और फ्रांसीसी लड़ रहे थे। इस लड़ाई मे वे आदिवासियों का उपयोग कर रहे थे। दोनों ही उनकी जमीन छीनते जाते थे। ये लड़ाइया बहुत दिनों तक चलती रही। १९वी सदी के अन्त में आदिवासियों को छोटे-छोटे इलाको मे कैदियों की तरह बन्द कर दिया गया।

यूरुपवालो से सम्पर्क होने पर आदिवासी समाज मे कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन न हुआ। यूरुप हमलावर बडे पैमाने पर खेती के लिए जमीन छीन रहे थे। यह खेती वे गुलामो से कराते थे। आदिवासियों का उपयोग यही था कि वे गुलाम बनकर खेती करें। गुलाम न बने या गुलाम बनने पर खेती उनसे न बन पडी तो गोरो के सामने एक ही रास्ता था कि उनका नाश कर दिया जाये। सामाजिक विकास मे इग्लैंड, स्पेन, फ्रांस आदि उन्हें जो सबसे ऊँचा दर्जा दे सकते थे, वह गुलाम का था। जहा वे पूरी तरह गुलाम न बनाये गये, वहा उनका दर्जा अर्द्ध-दासो का था। स्पैनिश जमीदारो ने कई जगह खेती में वह प्रथा चलाई जिससे भारतवासी अच्छी तरह परिचित है। आदिवासियो को अपनी खेती के लिए थोड़ी सी घटिया जमीन दे दी जाती थी। इसके बदले उन्हे अपने मालिक की जमीन पर काम करना पड़ता था। अपनी खेती के लिए उन्हे कम समय मिलता था, मालिक की खेती के लिए अधिक समय देना पडता था। सामन्ती व्यवस्था में बँटाई पर खेती कराने की जिस प्रथा का चलन है, उसी का यह एक रूप था। कर्ज देकर किसी को अपना अर्द्ध-दास बना लेना, सामन्ती व्यवस्था मे इस प्रथा का चलन भी रहा है। स्पैनिश जमीदारो ने इस प्रथा से भी काम लिया। इन्का लोगों मे बेगार का चलन था। इन्का सामन्त खानो मे लोगो से बेगार कराते थे किन्तु उनके खाने-पहनने का घ्यान रखते थे। स्पैनिश लोगों ने आदिवासियो से खानो के अलावा खेती और कपड़ा उद्योग मे भी बेगार कराई। उनके साथ गुलामो से भी बदतर सलूक किया; हजारों आदमी भूख और थकान से मर गये। एक पादरी ने लिखा था कि मेक्सिको की खानो के आसपास सड़को और गुफाओं मे आदिवासियों

के इतने अस्थिपंजर पड़े हुए थे कि वहां हड्डियों पर पैर रखे बिना चलना असम्भव था। उल्लेखनीय है कि दक्षिणी अमरीका के अनेक राज्यों में गोरों के समाज में ही सामन्ती व्यवस्था के तगड़े अवशेष आज तक बने हुए हैं। सामन्ती व्यवस्था अनेक आदिवासी समाजों में पहले से ही विद्यमान थी। फिर सामाजिक विकास में उन्होंने किस तरह की सहायता दी ? स्पेन और पुर्तगाल वालों ने बहुत जगह आदिवासियों की सामन्ती प्रथाएँ अपनाईं। इन सभी प्रदेशों में भावी प्रगति के लिए सामन्त विरोधी क्रान्ति का कार्य पूरा होना शेष है। पूंजीवादी समाज के अंग बनकर जनसंहार से बचे हुए अमरीकी आदिवासियों के लिए समाजवाद की ओर बढ़ने का प्रश्न ही न था। और गुलामों का सबसे बड़ा गढ़ वह देश बना जो अब संयुक्त राज्य अमरीका कहलाता है। (अमरीकी आदिवासियों से सम्बन्धित अधिकांश सामग्री यहां विलियम ज़ेड. फ़ॉस्टर की पुस्तक 'आउटलाइन पोलीटिकल हिस्ट्री आव दी अमेरिकाज़', न्यूयार्क, १९५१ से ली गई है।)

## ४. विश्वबाजार और अफरीका

एक ओर यूरुप के गोरे अमरीकी आदिवासियों का नाश कर रहे थे, दूसरी ओर उनकी छीनी हुई जमीन पर खेती कराने के लिए अफरीका के काले आदमियों को पकड़कर ला रहे थे। इसका एक कारण यह था कि अमरीकी आदिवासी अपने कबीलों में संगठित थे, कई जगह वे इससे आगे बढ़कर सामन्ती व्यवस्था वाले जनपदों में संगठित थे। जहां भी वे प्राण बचाने में सफल हुए, वहां वे अपना जातीय गठन अथवा कबीलाई संगठन भी बचा सके। यही कारण है कि अमरीकी आदिवासियों की अनेक भाषाएँ अभी जीवित हैं। इसके विपरीत जो लोग अफरीका से पकड़कर लाये गए, उनकी एक भी भाषा अमरीका में जीवित नहीं है। गुलामों के व्यापारी इस बात का ध्यान रखते थे कि एक जाति या कबीले के आदमी संगठित न हो सकें। भिन्न कबीलों के गुलाम एक जगह काम करेंगे तो वे एक दूसरे की भाषा न समझेंगे और संगठित भी न हो सकेंगे। वेस्ट इंडीज, संयुक्त राज्य अमरीका आदि में काले दासों की भाषा वही है जो उनके गोरे मालिकों की है। गोरों ने इन काले दासों का उपयोग अमरीकी आदिवासियों से लड़ने में भी किया। पूंजीवादी समाज में अर्थ की प्रधानता होने से मनुष्य के वंश, कुलीनता, रंग-रूप आदि का कोई महत्व नहीं होता। अमरीकी पूंजीवाद ने वर्ग भेद के साथ नस्ल भेद भी कायम किया। पहले उत्पादन में गुलामों का प्रयोग, फिर गुलामी प्रथा के खात्मे को लेकर संयुक्त राज्य अमरीका में गृह-युद्ध, फिर दासप्रथा की समाप्ति के बाद अश्वेत जनों के मानव अधिकारों के लिए निरन्तर चलाया जाने-वाला संघर्ष, अमरीकी पूंजीवाद की ये अपनी विशेषताएँ हैं।

जान होप फ्रैन्कलिन ने अमरीकी अश्वेत जनों का इतिहास लिखा है **फ्राम स्लेवरी टु फ्रीडम**। यह १९४७ में प्रकाशित हुआ था और इसका नया संस्करण भारत में १९६७ में निकला था। इसके लेखक ने बताया है कि स्पेन और पुर्तगाल के लोग जब उत्तरी अमरीका में पैठ रहे थे, तब उनके साथ नीग्रो भी थे। जहां भी अमरीकी आदिवासियों को गुलाम बनाया गया, वहां इस गुलामी से विशेष लाभ

न हुआ। या तो लोग गुलाम बने नही या बने तो उनसे इस तरह काम लिया गया कि वे जीवित न बचे। अफ्रीका मे लोगों को पकड़कर गुलाम बनाने से पहले व्यापारियो और जमींदारो ने दूसरी तरकीब से काम लिया था। जैसे हिन्दुस्तान मे गिरमिट प्रथा का चलन हुआ, लोगों को अन्य देशों में मजदूरी करने के लिए ठेकेदार इकरारनामा लिखाकर ले जाते थे, वैसे ही यूरुप में जो लोग बेज़मीन और बेसहारा थे, उन्हें धनी लोग अमरीका मे जंगल साफ करने और खेती कराने के लिए ले जाते थे। भारतवासियों को कुली बनाकर बाहर ले जाने से पहले यूरुप वालों ने अपने ही गोरे भाइयो को कुली बनाकर अमरीका भेजा। स्वेच्छा से जाने-वालो की संख्या कम थी, इसलिए इंग्लैंड के जेलखानों से अपराधियों को छुट्टी देकर उन्होने अमरीका भेजा। इससे भी काम न चला तो उन्होने अपने देश की स्त्रियो और बच्चो का अपहरण शुरू किया।

जब गोरो के अपहरण से भी काम न चला, तब यूरुप के व्यापारियो ने अफरीका से काले आदमियो का अपहरण शुरू किया। अमरीका में उन्होने सोना-चादी लूटा था, अफरीका मे उनकी लूट का माल आदमी था। समुद्रतटवर्ती क्षेत्रो मे वे अपने अड्डे कायम करते थे। इन अड्डों में गुलामो के व्यापारी रहते थे। ये अपने देश के राजा द्वारा या सौदागरो की कम्पनी द्वारा भेजे हुए लोग होते थे। इनके साथ सैनिक होते थे जो इनके अड्डों की रक्षा करते थे। वे आदिवासी कबीले के सरदार के पास जाते थे; कपड़ो, बर्तन-भाडो, शराब आदि देकर उसके प्रदेश मे व्यापार करने की अनुमति लेते थे। अफरीकी लोग ही दूसरे अफरीकियों को बन्दी बनाकर ले आते थे और उन्हें निश्चित कीमत पाकर व्यापारियो के हवाले करते थे। एक कबीले के लोग दूसरे कबीले के आदमियों को पकड़ते थे; दोनों मे लडाई होना स्वाभाविक था; इस लडाई से गोरे व्यापारियों का लाभ उठाना भी स्वाभाविक था। पकड़े हुए आदमी आसानी से दूसरी जगह जाने को तैयार न होते थे, मौका मिलते ही वे भाग खडे होते थे; इसलिए उन्हें जंजीरो से जकड रखा जाता था। जब तक जहाज चल न दे, तब तक सैनिक उनकी निगरानी करते थे। अक्सर वे नाव या जहाज से समुद्र मे कूद पड़ते थे जिससे कि उन्हें गुलाम न बनाया जा सके। कूदने पर बचते कम थे, डूबकर मरनेवाले ज्यादा होते थे। छोटे-छोटे जहाजो मे सैकड़ों गुलाम ठसा-ठस भर दिये जाते थे। अमरीका जाते समय उनमे बहुत से किसी न किसी बीमारी से मर जाते थे। फ्रैंकलिन का मत है कि अफरीका से जितने आदमी जहाजों मे जाते थे, उनमे आधे ही अमरीका पहुंचने पर काम करने लायक रह जाते थे। १७वीं-१८वी सदियो मे गुलामों के व्यापार से भारी मुनाफा मिलता था। १७८३ से १७९३ तक इंग्लैंड के केवल एक नगर लिवरपूल के व्यापारी अफरीका से तीन लाख गुलाम पकडकर ले गये थे। गुलामों का व्यापार १६वी सदी मे शुरू हुआ था। १८वी सदी के अन्त मे यह व्यापार अपने शिखर पर था। व्यापारिक पूंजीवाद का युग काले गुलामो के व्यापार का स्वर्ण युग था।

व्यापार की अन्य शाखाओ के समान गुलामों के व्यापार में भी इजारेदारी चलती थी। शुरुआत पुर्तगाल ने की किन्तु दूसरे देशो ने उसकी इजारेदारी खत्म

को। किस देश का इजारा होगा, किसका नहीं, यह तय करने में ईसाइयों के धर्म-गुरु पोप का भी हाथ था। व्यापार के अन्य क्षेत्रों की तरह दास-व्यापार में भी इंग्लैंड ने देर से हाथ लगाया, फिर सबको हटाकर इजारा अपने हाथ में कर लिया। १६७२ में रायल अफ्रीकन कम्पनी नाम के व्यापारी-संघ को इंग्लैंड के राजा ने अधिकार-पत्र दिया। गुलामों का व्यापार करने में इस कम्पनी ने सबसे ज्यादा धन कमाया। इंग्लैंड के स्वतन्त्र व्यापारियों को इस कम्पनी से बड़ी ईर्ष्या थी। इजारा कम्पनी के हाथ में था, इसलिए स्वतन्त्र व्यापारियों ने इसका घोर विरोध किया; इससे काम न चला तो वे इजारे की चिन्ता न करके अफ्रीका में घुस गये। अन्त में कम्पनी का इजारा खत्म हो गया। शक्तिशाली जलसेना के कारण अंग्रेजों ने दूसरे देशों के व्यापारियों को खदेड़ दिया और अपने उपनिवेशों में गुलाम बेचने के अलावा वे उन्हें दूसरे देशों के उपनिवेशों में भी बेचने लगे। १७८८ तक अंग्रेज जितने गुलाम अमरीका ले गये थे, उनमें दो-तिहाई उन्होंने गैर-अंग्रेजी उपनिवेशों में बेचे। फ्रेंकलिन ने लिखा है, "यदि इंग्लैंड के उपनिवेश उसकी आर्थिक व्यवस्था की बुनियाद थे, तो १८वीं सदी में गुलामों का व्यापार उसकी नींव का महत्त्वपूर्ण पत्थर था।" (पृ. ५३)।

जैसे अमरीकी आदिवासियों का नाश करने के लिए गोरे व्यापारियों ने ईसाई धर्म का उपयोग किया था, वैसे ही दास-व्यापार के लिए भी उन्होंने धर्म का उपयोग किया। व्यापारी उन्हें अपनी ईसाई बिरादरी में शामिल करते थे और उन्हें गुलाम बनाकर उनके साथ पशुओं जैसा व्यवहार करते थे। इस सन्दर्भ में फ्रेंकलिन ने दुख से लिखा है, "अजीब धर्म था यह ईसाई धर्म जो समानता और भाईचारे की सीख देता था, पर इसके साथ ही जिसने बड़े पैमाने पर देशी लोगों को, उनके घर से जबरन हटाकर, दूर देश ले जाकर, उनके गुलाम बनने की प्रथा का चलन भी किया था। यदि देशी लोगों ने ईसाई धर्म धीरे-धीरे स्वीकार किया तो इसका यही कारण नहीं था कि उन्हें अपने कबीलाई पूजा-पाठ में मोह था वरन् यह कारण भी था कि इस नये धर्म का अन्तर्विरोधी स्वरूप सही मान लेने की अतिमानवीय क्षमता उनमें नहीं थी।" (पृष्ठ ३४)।

अफ्रीका महाद्वीप का नाम लेने से अधिकांश लोगों के मन में एक पिछड़े हुए महाद्वीप का चित्र उभरता है। किन्तु मिस्र और इथिओपिया जैसे सुसंस्कृत देशों के अलावा अफ्रीका के अन्य प्रदेशों में भी सभ्यता का यथेष्ट विकास हो चुका था। फ्रेंकलिन का मत है कि पश्चिमी अफ्रीका की सभ्यता मिस्र को छोड़कर अफ्रीकी महाद्वीप की सबसे आगे बढ़ी हुई सभ्यता थी। गुलामों के व्यापारी चाहते थे कि जवान और स्वस्थ आदमी ही गुलाम बनाये जायँ। ये व्यापारी पश्चिमी अफ्रीका की युवाशक्ति, उसका पौरुष लूट ले गये। यूरप और इंग्लैंड के व्यापारिक पूँजीवाद से सम्पर्क होने पर अफ्रीका में किस तरह की सामाजिक क्रान्ति हुई? अफ्रीकी समाज प्रगतिपथ पर आगे बढ़ा या पीछे हटा? जान होप फ्रेंकलिन ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है, "पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ में यूरप और अफ्रीका के बीच का सांस्कृतिक फासला बहुत ज्यादा नहीं था। उत्तर के ईसाई पड़ोसियों ने उस पर बहुत ही खराब प्रभाव डाला। इन कठिन परिस्थितियों में वह पीछे हटने

लगा। समय बीतने पर १९वीं सदी में जब उसे साम्राज्यवादी शिकंजे में ज[illegible] लिया गया, तब उसके पीछे हटने की रफ्तार और तेज हो गयी।" (पृष्ठ ५६) अफ्रीकी इतिहास के इस अध्याय का ज्ञान भारतीय इतिहास के विवेचन में सहाय[illegible] होगा। विश्वबाजार में शामिल किये जाने के बाद अफ्रीकी समाज आगे बढ़ने के बदले पीछे की तरफ चले।

अमरीका में काले दासों का उपयोग तमाखू, धान और नील की खेती करने के लिए हुआ। ये सब चीजें इंग्लैंड भेजी जाती थीं। इस तरह इंग्लैंड और अमरीकी उपनिवेशों ने आपस में श्रमविभाजन कर लिया था। उपनिवेश खेती करते थे; इग्लैंड कारखाने चलाता था। फिर प्रवासी अंग्रेजों ने सोचा कि मुनाफे का बड़ा हिस्सा उनकी पितृभूमि के व्यापारी खा जाते हैं; उनके उद्योग-धन्धों और व्यापार पर इग्लैंड की सरकार ने तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। उन्होंने तय किया कि ये प्रतिबन्ध तोड़कर अपना स्वाधीन राज्य बनाना चाहिए। जब लड़ाई शुरू हुई तब काले दासों ने भी लड़ने की इच्छा प्रकट की। अमरीका के प्रवासी अंग्रेज अमरीकी आदिवासियों और फ्रांसीसियों से लड़ने में काले आदमियों का उपयोग कर चुके थे। उपनिवेशों के ये प्रवासी अंग्रेज अपनी आजादी के लिए लड़ रहे थे पर वे अपने गुलामों को आजाद करने के लिए तैयार न थे। वे जानते थे कि हाथ में हथियार आ जाने पर नीग्रो लोग उनका उपयोग गोरे मालिकों के विरुद्ध भी कर सकते है। अमरीकी सेनापति जार्ज वाशिंगटन ने तय किया कि फौज में कोई नीग्रो भरती न किया जायेगा, वह चाहे गुलाम हो, चाहे आजाद हो। किन्तु इस समय इग्लैन्ड के सेनापतियों ने एलान किया कि जो नीग्रो शाही फौज में भरती होंगे, वे सब आजाद कर दिये जायेंगे। इस दबाव के कारण अमरीकी सेनापति वाशिंगटन को अपनी नीति बदलनी पड़ी। अमरीकी कांग्रेस ने इस नीति का समर्थन करते हुए कहा कि केवल आजाद नीग्रो भरती किये जायेंगे। वर्जीनिया राज्य के अमरीकियों ने अंग्रेजों की कड़ी आलोचना की कि वे उनके गुलामों को फुसला रहे हैं, और भागे हुए गुलामों से कहा कि दस दिन में काम पर लौट आओगे तो तुम्हारा कसूर माफ कर दिया जायेगा। काफी नीग्रो भागकर अंग्रेजों की तरफ आ गये। जब वहाँ आजादी न मिली तो वे वहाँ से भी भाग निकले। बहुत से दास मालिक का घर छोड़कर भागे लेकिन अंग्रेजी फौज के पास न गये। अकेले १७७८ के साल में वर्जीनिया राज्य से तीस हजार गुलाम भागे थे। इनमें से कुछ ही अंग्रेजी फौज में भरती हो सके। युद्ध के कारण जो उथल-पुथल हुई, उससे [illegible]ुलामों के मालिकों को अपनी नीति काफी बदलनी पड़ी। कुछ प्रदेशों ने नीग्रो [illegible]ीग्रो को अमरीकी फौज में भरती होने न दिया। आजादी के लिए लड़नेवाले [illegible]न लाख अमरीकी सैनिकों में, फ्रैंकलिन के अनुसार, केवल पांच हजार के लग[illegible] [illegible] नीग्रो थे। इनमें भी अधिकतर उत्तर के थे जबकि नीग्रो लोगों की सबसे [illegible]दा आबादी दक्षिण में थी। इससे अन्दाज हो जायेगा कि अमरीकी स्वाधीनता [illegible]म में हथियारबन्द नीग्रो से उसका मालिक कितना भयभीत था।

१७८९ में फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति हुई। स्वाधीनता, समानता और भाईचारा, [illegible]ान्ति का नारा था। फ्रांसीसी उपनिवेश सेंत दोमींग के गुलामों ने माग की

कि उन्हें भी आज़ाद नागरिकों के अधिकार मिलें। गोरे मालिकों ने इसका विरोध किया तो १७६१ में गुलामों ने विद्रोह किया। उन्होंने अपने मालिकों को मार डाला। फ्रांस की सरकार ने विद्रोह का दमन करने के लिए फौज भेजी। विद्रोही गुलाम दो साल तक लड़ते रहे और अन्त में फ्रांसीसी सरकार को उन्हें स्वाधीन करना पड़ा। उधर इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति हुई, किन्तु अमरीका में दास व्यापार १९वीं सदी में भी चालू रहा; "संयुक्त राज्य अमरीका में दासप्रथा और भी मजबूत हो गयी।" (पृष्ठ १५४)।

१८१२ में अमरीकी गोरों और अंग्रेज़ों में फिर लड़ाई हुई। नीग्रो लोगों ने फिर कहा कि वे देश की आज़ादी के लिए लड़ने को तैयार हैं। बहुत थोड़े नीग्रो फौज में भरती किये गये, ज़्यादातर उन्हें फौज में खिदमतगारी का काम सौंपा गया। एक बार अंग्रेज़ों ने फिर कहा कि जो नीग्रो उनकी तरफ आयेंगे, उन्हें वे आज़ाद कर देंगे। काफ़ी नीग्रो भागकर अंग्रेज़ों की तरफ गये। फ्रैंकलिन के शब्दों में दोनों पक्षों ने नीग्रो लोगों के साथ विश्वासघात किया। अंग्रेज़ों ने भागकर आने वाले गुलामों को वेस्ट इंडीज़ में जाकर बेचा, इधर अमरीकियों ने लड़ाई खत्म होने पर, कुछ अपवाद छोड़कर, उन्हें अपने मालिकों के पास भेज दिया। अमरीकियों और अंग्रेज़ों में जब संधि हुई तो उसकी एक शर्त यह थी कि जिस पक्ष ने दूसरे की सम्पत्ति छीनी हो, वह उसे वापस कर देगा। सम्पत्ति में गुलाम भी शामिल थे। अंग्रेज़ों ने जिन गुलामों को बेच दिया था, उन्हें वापस कैसे करते? अमरीकियों ने हरजाना मांगा। कई साल तक झगड़ा चलता रहा। आखिर १८२८ में अंग्रेज़ों ने मजबूर होकर हरजाने के तौर पर संयुक्त राज्य अमरीका को दस लाख डालर दिये।

पूंजीवाद व्यापक आर्थिक सम्बन्ध कायम करके जातीय क्षेत्रों को सुगठित करता है। अमरीका में इससे उल्टी बात हुई। संयुक्त राज्य अमरीका के उत्तरी भाग में औद्योगिक विकास हुआ, इसके साथ ही दक्षिणी भाग में गुलामों के मालिकों ने विद्रोह की तैयारी की। १८६१ में लिंकन के सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि राष्ट्रीय विघटन को कैसे रोकें। गुलामों के मालिक गुलामों के साथ राष्ट्र को भी अपनी जायदाद समझते थे। यह जायदाद उनके हाथ से निकलकर अब उद्योगपतियों के हाथ में जा रही थी। यह बात उन्हें पसन्द न थी; नतीजा यह कि अमरीका में गृह-युद्ध शुरू हो गया। दासप्रथा औद्योगिक विकास के लिए कितनी हानिकारक थी, यह गृह-युद्ध से साबित हो गया। दो बार अमरीकियों की लड़ाई अंग्रेज़ों से हुई थी, इस बार अमरीकियों में आपस में ही ठन गई। कहा जाता है कि यह युद्ध दासों को स्वाधीन करने के लिए हुआ था किन्तु नीग्रो लोग जब राष्ट्रीय-फौज में भरती होना चाहते थे, तो उन्हें भरती न किया जाता था। कई जगह वे भागकर राष्ट्रीय-फौज के सेनापतियों की शरण में आये। उनसे फौज के लिए खिदमतगारी कराई गयी। अन्यत्र उन्हें वापस मालिकों के पास भेज दिया गया। केंद्रीय सरकार की नीति निश्चित नहीं थी, इसलिए हर सेनानायक जो ठीक समझता था, करता था। अमरीका में जमीन की कमी न थी पर भागे हुए अश्वेतों को बसाने के लिए गोरे उन्हें जमीन देने को तैयार न थे। उत्तरी भाग के

अखबारों ने काले आदमियों के खिलाफ जहर उगलनेवाले लेख लिखे। इन लेखों में नीग्रो लोगों द्वारा गोरी स्त्रियों के साथ बलात्कार की कहानियों को विशेष स्थान दिया गया। फ्रैंकलिन के अनुसार, "युद्ध के दौरान बहुत से उत्तरी समाजों में नीग्रो जनों के प्रति शत्रु-भाव दरअसल और भी बढ़ गया।" (पृष्ठ २७८)।

वर्गभेद तो हर पूंजीवादी समाज में होता है किन्तु उसके साथ रंगभेद को उत्पीड़न का साधन बनाना अमरीकी पूंजीवाद की विशेषता है। दासप्रथा के चलन से राष्ट्रीय एकीकरण में कठिनाई हुई, वर्गों के आंतरिक गठन में भी कठिनाई हुई। गृह-युद्ध के दौरान काले आदमियों के प्रति शत्रुभाव, सबसे स्पष्ट रूप में, उत्तरी भाग के गोरे मजदूरों में देखा जाता था। उन्हें भय था कि आजाद होने वाले गुलाम उत्तरी भाग में आकर उनसे होड़ करेंगे और उनकी पगार घट जायेगी। कई जगह पगार बढ़ाने के लिए गोरे मजदूरों ने हड़ताल की। उनके मालिकों ने बिना संकोच के हड़ताल तोड़ने के लिए काले मजदूर भरती कर लिये। नतीजा यह कि कई जगह गोरे और काले मजदूरों में लड़ाई हुई, कई जगह दंगे हुए और गोरे मजदूरों ने काले मजदूरों के घर जला दिये। फ्रैंकलिन के अनुसार "नीग्रो जनों के प्रति यह शत्रुभाव युद्ध के अन्त तक बना रहा और उसी से नीग्रो जनों के प्रति भेदभाव बरतने वाली नीति पैदा हुई जिसे बीसवीं सदी में अनेक उत्तरी नगरों ने अपना लिया।" (पृष्ठ २७९)।

अफ्रीका से लाये हुए काले आदमियों के जीवन में अंग्रेजों ने जो सामाजिक क्रान्ति की, उसका यह रूप था।

## ५. व्यापार, बाजार और जनसंहार

व्यापार का प्रसार, बड़े-बड़े बाजारों का कायम होना पुराने उद्योग-धन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए आवश्यक है किन्तु इस सबके लिए अन्य देशों में जाकर नर-संहार करना, वहां के उद्योग-धन्धों को तबाह करना सामाजिक विकास की अनिवार्य शर्त नहीं है। यूरुप में प्राचीन यूनान के व्यापारियों ने जहाजरानी में भारी प्रगति की थी। उन्होंने भूमध्यसागर के द्वीपों और तटवर्ती प्रदेशों में मानव सभ्यता के विकास में बहुत बड़ा योगदान किया। उन्होंने बड़े पैमाने पर मुनाफे के लिए माल तैयार किया और उसे बेचकर समृद्ध हुए। उत्पादन में दासों से वे भी काम लेते थे किन्तु इंग्लैंड की तरह दासों का व्यापार यूनान के लिए मुनाफे का मुख्य साधन न था। इसके सिवा उनके यहां दास दस्तकारी के केंद्रों में बिकाऊ माल तैयार करने के लिए इस्तेमाल किये जाते थे किन्तु अंग्रेजों ने उनका उपयोग मुख्यतः उपनिवेशों में गन्ना, कपास आदि की खेती के लिए किया। इसी तरह रोमन लोगों ने यूरुप के देशों में व्यापार के लिए यातायात के साधनों का विकास किया, इंग्लैंड में उनकी बनाई हुई सड़कों के अवशेष डेढ़ हजार साल तक विद्यमान थे। उनके यहां भी दासप्रथा का चलन था। वे खेती के लिए भी दासों का उपयोग करते थे। यूनानी और रोमनों ने जो व्यापारिक क्रान्ति की, उसमें उन्होंने कहीं भी उस तरह नर-संहार नहीं किया जैसा कि इंग्लैंड और स्पेन के व्यापारियों ने अमरीका में किया। स्पेन और इंग्लैंड की व्यापारिक क्रान्ति

नान और रोम की व्यापारिक क्रान्ति से जितना परिमाण की दृष्टि मे बडी है, तना आंतरिक गठन की दृष्टि मे नही ।

यूनान की संस्कृति का नाश मध्य और पूर्वी यूरुप के हमलावर कबीलो ने किया । इनमे मखदूनिया के फ़िलिप और उसके बेटे सिकन्दर की भूमिका मुख्य थी । इंग्लैंड के प्रगतिशील बुद्धिजीवी प्राचीन यूनान को अपना गुरु मानते थे; इंग्लैंड के साम्राज्यवादी यूनान के शत्रु सिकन्दर को महान् की उपाधि से विभूषित करते थे । यूनान का विनाश सुसस्कृत ऐथेन्स और उसके असस्कृत शत्रुओं के आपसी युद्ध के कारण भी हुआ । फिर रोमनो ने यूरुप पर अधिकार कर लिया । मूलभूमि में ह्रास होने पर भी भूमध्यसागर के उपनिवेशों मे ग्रीक सभ्यता फूलती-फलती रही । अरबों के अभ्युदय काल तक प्राचीन हित्तियों के जिस प्रदेश मे तुर्की नाम का राष्ट्र है, उसमे यूनानियों का राज्य बना हुआ था । अरब इसका नाश करने मे असफल हुए। उसका नाश करने मे तुर्क सफल हुए । रोमन सभ्यता बहुत मौलिक नही थी; उसका विकास यूनानी सभ्यता के आधार पर हुआ था किन्तु रोमनों मे इतनी समझ तो थी कि यूनानी सभ्यता मे सीख सकें और उसका नाश न करें। रोमन सभ्यता का नाश करने मे मध्य यूरुप के बर्बर कबीलों की भूमिका प्रमुख थी। ऐसी ही भूमिका अमरीका मे गोरे व्यापारियो की थी।

यह उल्लेखनीय है कि यूनानियो और रोमनों ने अन्य देशों मे जाकर धर्म के नाम पर दूसरो को नही मारा । यह काम अरबों और तुर्कों ने किया; उनके बाद यही काम स्पेन, पुर्तगाल और इंग्लैंड ने किया । जब रोम ईसाई धर्म का गढ़ बना, तब रोमन साम्राज्य और उसके साथ यूरुप ने अंधकार युग मे प्रवेश किया । व्यापारिक क्रान्ति के साथ धर्म के नाम पर जनसंहार हो, लोगो को धर्मपरिवर्तन के लिए विवश किया जाये, सामाजिक विकास का ऐसा कोई नियम नही है । यूरुप में १४वी सदी मे जो नवजागरण आरम्भ हुआ, उसकी मुख्य प्रेरणा यूनान और रोम का पुराना साहित्य था। इंग्लैंड मे १६वी सदी से आरम्भ करके १९वी सदी मे डार्विन के ज़माने तक जितना भी ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ, उतना ही धार्मिक अंधविश्वासों से भी संघर्ष हुआ । इसके विपरीत इंग्लैंड का व्यापारी वर्ग धार्मिकता का झंडा लिये घूम रहा था।

भारत मे अशोक और समुद्रगुप्त के युगों मे और बाद को भी मध्य एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया मे व्यापार के साथ सभ्यता का प्रसार हुआ । किन्तु इ प्रसार मे कही भी उस तरह नरसंहार नही हुआ जिस तरह अमरीका मे हुआ वास्तव मे नरसंहार और व्यापार दो परस्पर विरोधी वस्तुएँ है । किसी देश उजाड़ दिया जाये तो उससे व्यापार कैसे किया जायेगा ? वहां का कच्चा म ही खरीदना हो और अपना पक्का माल बेचना हो, तो भी खरीदनेवाले होने चाहि पुर्तगाल, स्पेनऔर इंग्लैंडने १६वी और १७वी सदियों में जो उथल-पुथल की, उ 'विश्वबाज़ार कायम करने और व्यापार की प्रगति मे कितनी सहायता मिली प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये । यदि जंगल में रहने वाले कुछ गांव मे आकर लूट-पाट करें और आने-जाने के मार्ग निश्चित करें, तो यह भी को गांव से जोड़ना हुआ । कुछ ऐसा ही सम्बन्ध यूरुप वालों ने अमरीका, अ

और एशिया में कायम किया था। एशिया के अनेक प्रदेशों को वे वीरान बना रहे थे, अफरीका से लोगों को पकड़कर दूसरे देशों में बेच आते थे, अमरीका में वहां के निवासियों को हटाकर उनकी भूमि पर बस गये थे। इंग्लैंड के इजारेदार व्यापारी अपने ही उपनिवेशों के व्यापारिक विकास पर रोक लगाये हुए थे, उनके औद्योगिक विकास के वे परम शत्रु थे। खुद इंग्लैंड के भीतर वे उद्योग-धन्धों की प्रगति की राह में बहुत बड़ी बाधा बन गये थे। भारत के व्यापार का इजारा जब तक एक कम्पनी के हाथ में रहा, तब तक स्वयं इंग्लैंड के व्यापारिक विकास में रुकावट रही। जब हिन्दुस्तान के कारीगर और किसान भुखमरी से तबाह हुए, तब इंग्लैंड के तैयार माल के उतने ही खरीददार कम हुए। जिस देश में ज्यादातर लोग भूखे और नंगे हों, उसमें मैंचेस्टर और लिवरपूल का बना हुआ माल बहुत ही सीमित मात्रा में बिक सकता था। अंग्रेज व्यापारियों की इजारेदारी अपने ही देश में व्यापार और उद्योग-धन्धों के विकास में बाधा बन गई थी। विभिन्न देशों के इजारेदार अपने जन्मकाल से आपस में बराबर लड़ते रहे थे, उसमें विश्व-बाजार में जो अव्यवस्था फैली, व्यापार की प्रगति में यह अन्य बहुत बड़ी बाधा थी।

## ६. इजारेदार व्यापारी, अंग्रेजी राज और ऐडम स्मिथ

इंग्लैंड के कारखानों में जैसे-जैसे मशीनों का व्यवहार बढ़ा, वैसे-वैसे कारखानेदारों की ओर से इजारेदार व्यापारियों की आलोचना भी बढ़ी। इस आलोचना का सारतत्व यह था कि व्यापारिक इजारा खत्म होना चाहिए क्योंकि वह व्यापार की प्रगति में बाधक है, स्वच्छन्द व्यापार के बिना उद्योग-धन्धों का मुक्त विकास सम्भव नहीं है। इस आलोचना का लक्ष्य इंग्लैंड की ईस्ट इंडिया कम्पनी भी थी। यह कम्पनी इंग्लैंड के ही औद्योगिक विकास में बाधक थी, भारत के औद्योगिक विकास में वह भला क्या सहायक होती?

उक्त आलोचना को व्यवस्थित रूप देने वाले, इंग्लैंड में आधुनिक अर्थशास्त्र के जन्मदाता ऐडम स्मिथ थे। उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी और इजारेदार व्यापारियों की जो आलोचना की है, वह भारत में अंग्रेजी राज की भूमिका समझने में सहायक है। उनकी पुस्तक दि वेल्थ ऑफ नेशन्स १७७६ में प्रकाशित हुई थी। एडविन कैनन ने पुस्तक का सम्पादन करके १९०४ में उसे फिर प्रकाशित किया था। १९३० में पाचवां संस्करण निकला; उसके दूसरे खंड से उक्त आलोचना का सारांश मैं नीचे दे रहा हूँ।

अफरीका और ईस्ट इंडीज में यूरुप वालों ने काफी बस्तियां बसा लीं, किन्तु उनमें न तो वैसी घनी आबादी है जैसी अमरीकी महाद्वीप और साथ के द्वीप-समूह में है और न वैसी समृद्धि है। जिन अनेक देशों को ईस्ट इंडीज का सामान्य नाम दिया गया है, उनमें तथा अफरीका में बर्बर जातियां रहती थीं। ये जातियां वैसी अरक्षित और असहाय न थीं जैसी असहाय और निरुपाय अवस्था में अमरीकी आदिवासी थे। उनकी भूमि जितना उपजाऊ थी, उतना ही आबादी घनी थी। मेक्सिको और पीरू को छोड़कर अमरीकी आदिवासी आखेटजीवी थे। इसलिए

अफरीका और ईस्ट इंडीज में वहां के निवासियों को हटाकर उनकी भूमि पर खेती कराना यूरुप वालों के लिए ज्यादा मुश्किल था। (पृष्ठ १३३-३४) (ऐडम स्मिथ के विवेचन का महत्व यह है कि उन्होंने यह बात लक्ष्य की कि जहां विरोध प्रबल था, वहां आदिवासियों की भूमि छीनने में यूरुप वालों को कठिनाई हुई। जहां जैसा प्रतिरोध हुआ, उसी के अनुरूप वहां कम या अधिक यूरुपवालों की सत्ता कायम हुई। और उनका लक्ष्य था दूसरों की जमीन छीनना।)

अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी की तरह एक डच कम्पनी थी। इसने ईस्ट इंडीज पर अधिकार किया था। यहां के द्वीपों से गरम मसाला यूरुप भेजा जाता था। यूरुप में जितना मसाला बिकने की सम्भावना होती थी, उसके हिसाब से डच व्यापारी पौधे बने रहने देते थे; जितने पौधे उनकी निगाह में फालतू होते थे, उन्हें वे जला देते थे। उन्हें डर यह था कि देशी लोग फालतू माल बेच लेंगे और मुनाफा कमायेंगे। "उन्होंने सोचा कि अपना इजारा बनाये रखने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उपज उतनी ही होने दी जाये जितनी वह खुद बाजार में ले जा सकें, उससे अधिक नहीं। उत्पीडन के अनेक तरीकों द्वारा उन्होंने कई मलाका द्वीपों की आबादी घटाकर उतनी कर ली है जितनी उनकी अपनी छोटी-सी छावनियों के लोगों को ताजा सामान और जिन्दगी की दूसरी चीजें पहुंचाने के लिए काफी हो, और मसाले ढोने वाले उनके जहाज कभी-कभी वहां आ जाते हैं, उनके लिए भी सामान पहुँचाने को काफी हो। कहा जाता है कि पुर्तगालियों की हुकूमत में भी इन द्वीपों में खासी आबादी थी। बंगाल में अंग्रेजी कम्पनी को अभी ऐसी विनाशकारी व्यवस्था कायम करने का समय नहीं मिला किन्तु उसकी सरकार की योजना का झुकाव ठीक इसी तरह का है। मुझे विश्वस्त जानकारी है कि फैक्ट्री का सबसे ऊपर वाला क्लर्क सरदार का काम करता है। उसके लिए यह बात असाधारण नहीं है कि किसान को हुकुम दे कि पोस्ते के पौधों से लह-लहाते खेत को जोत डालो और उसमें धान या कोई और अनाज बो दो। बहाना यह था कि अन्न की कमी न हो; असली कारण यह था कि सरदार के पास बहुत सी अफीम जमा थी और वह चाहता था कि उसे ऊँचे भाव बेचे। अन्य अवसरों पर इससे उलटा हुकुम दिया गया। धान या किसी दूसरे अनाज का लहलहाता खेत जुतवा डाला गया जिससे कि उसमें पोस्ता बोया जाय। ऐसा तब होता है जब सरदार देखता है कि अफीम से भारी मुनाफा मिलेगा।" (पृष्ठ १३५)। (डच और अंग्रेज अपने इजारे की रक्षा के लिए उत्पादन बढ़ाने के बजाय उस पर रोक लगा रहे थे। २०वीं सदी में यही प्रवृत्ति बहुत बड़े पैमाने पर देखी गयी। अमरीका जैसे देशों के इजारेदार पूंजीपति उत्पादन पर रोक लगाते थे, फालतू माल नष्ट कर देते थे, उद्देश्य यह कि मुनाफे में कमी न होने पाये। इजारे की प्रवृत्ति पूंजी-वाद के अभ्युदयकाल में मौजूद थी, उसके साथ पैदावार को रोकने और उसे नष्ट करने की प्रवृत्ति भी मौजूद थी। व्यापारिक पूंजीवाद के प्रतिनिधि, अंग्रेज पुर्तगाली या डच, जिन देशों में पहुंचे, उनमें उन्होंने मूल निवासियों का विनाश करना शुरू किया। तरीके अलग-अलग थे, नतीजा मिलता-जुलता था। जहां प्रतिरोध अधिक हुआ, वहां विनाश कम हुआ, जहाँ प्रतिरोध कमजोर था, वहा

विनाश बड़े पैमाने पर हुआ। इस समय भारत के लोगों के सामने समस्या यह नहीं थी कि अंग्रेजों की सहायता से अपने यहां उत्पादन में तब्दीली कैसे करें। उनके सामने समस्या यह थी कि अंग्रेजों से प्राण-रक्षा कैसे करें, देश की आबादी के पूरी तरह मिट जाने को कैसे रोकें।)

ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार की एक विशेषता यह थी कि कम्पनी के मालिकों के अलावा उनके अंग्रेज़ नौकर इजारेदारी से फायदा उठाकर अपना निजी व्यापार अलग चलाते थे। ऐडम स्मिथ ने लिखा कि कई बार कम्पनी के नौकरों ने भारत के विदेश व्यापार की ही नहीं, उसके भीतरी व्यापार की भी सबसे महत्वपूर्ण शाखाओं पर अपना इजारा कायम करने का प्रयत्न किया था। उन्हें अपने इस काम में छूट मिल जाती तो यह असम्भव है कि जिन चीज़ों पर इनका इजारा होता, उनकी उपज पर वे रोक न लगाते। वह उतनी ही उपज होने देते जितनी वह खुद बेच पाते। एक-आध शताब्दी में अंग्रेजी कम्पनी की नीति पूरी तरह वैसे ही विनाशकारी सिद्ध होती जैसे डच कम्पनी की नीति हो चुकी थी। ये कम्पनियां जिन देशों में काम करती हैं, उन देशों की प्रभुसत्ता इनके हाथ में है। जिसके हाथ में प्रभुसत्ता होती है, उसे अपनी आमदनी जनता से प्राप्त होती है। जनता अपनी ज़मीन से और मेहनत से जितना ही ज्यादा पैदा करेगी, उतना ही सत्ताधारी की आमदनी बढ़ेगी। सत्ताधारी के हित में है कि वह सालाना पैदावार को भरसक बढ़ने दे। बंगाल के सत्ताधारी की आमदनी का मुख्य स्रोत लगान है। पैदावार के मूल्य और परिमाण के हिसाब से लगान निर्धारित होगा। बाज़ार कितना बड़ा है, इस पर लगान और पैदावार दोनों निर्भर हैं। गाहकों में माल की जितनी खपत होगी और वे जितना दाम दे सकेंगे, उसी के हिसाब से पैदावार होगी। सत्ताधारी का हित इस बात में है कि देश की उपज के लिए बड़े से बड़ा बाज़ार कायम होने दें, व्यापार करने की पूरी स्वतन्त्रता हो। इससे गाहकों की संख्या बढ़ेगी और दाम लगाने में आपसी होड़ होगी। इसलिए यह ज़रूरी है कि सभी इजारे खत्म किये जायें; घरेलू उपज को देश के एक भाग से दूसरे भाग में ले जाने पर जो पाबन्दियां हैं, वे खत्म की जायें, दूसरे देशों को घरेलू माल का निर्यात करने पर जो पाबन्दियां लगाई गई हैं, वे खत्म की जायें, घरेलू माल के विनिमय में जिस विदेशी माल का आयात हो सकता है, उस पर लगायी हुई पाबन्दियां खत्म की जायें। इस तरह उपज के परिमाण और मूल्य में बढ़ती होगी और सत्ताधारी की आमदनी भी बढ़ेगी। लेकिन सौदागरों की कम्पनी सत्ताधारी बन जाने पर भी सत्ताधारी की तरह काम नहीं करती। प्रभुसत्ता उसके लिए व्यापार का पुछल्ला है; उसके लिए प्रभुसत्ता का एक ही उपयोग है कि हिन्दुस्तान में माल सस्ता खरीदें और यूरुप में ज्यादा मुनाफे पर बेचें। जिन देशों पर ऐसी कम्पनियों का अधिकार है, वे भरसक विदेशी प्रतिद्वन्द्वियों को बाहर रखती हैं, अपनी ज़रूरत से अधिक उपज को रोकती हैं। सत्ताधारी को स्थाई रूप से जो बड़ी आमदनी हो सकती है, उसकी बलि देकर वह इजारे से प्राप्त अस्थाई मुनाफा बटोरता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी सत्ताधारी है, इसलिए उसके हित में है कि अपने राज्य में यूरुप का माल सस्ता बिकने दे; जो देशी माल खरीदा जाता है,

उसके लिए अच्छी से अच्छी कीमत दी जाये, उसे महँगे से महँगा वेचा जाये। किन्तु कम्पनी की सरकार का रुझान यह है कि वह इजारेदारों के हितों के अनुसार काम करती है और देश की पैदावार को बढने से रोकती है। जितने हाकिम-हुक्काम हैं, लगभग सभी अपना निजी व्यापार करते है। दस हज़ार मील की दूरी पर बैठे हुए क्लर्क मे इंग्लैंडवासी मालिक का कहना कि निजी व्यापार न करो, मूर्खता की बात है। क्लर्क को मामूली तनख्वाह मिलती है। दौलत बटोरकर धनी बनने के सारे साधन उसके पास है। वह दौलत बटोरे बिना कैसे रहेगा ? मालिक का हुकुम मानने के नाम पर बडा नौकर अपने मातहत छोटे नौकर को दबाता है। कोशिश यह होती है कि जो इजारा कम्पनी के पास है, वह उसके नौकर के पास हो। हुकुम देकर उसे निजी धधा करने से मना किया जायेगा तो वह छिपकर वही काम करेगा जो उस देश के लिए और भी विनाशकारी होगा। व्यापार के दौरान उसके कारिन्दों के काम में जो भी बाधा डालेगा, उसे वह हुकूमत की पूरी ताकत लगाकर तबाह कर देगा, न्याय और कानून उठाकर ताक पर रख देगा। कम्पनी का व्यापार यूरुप तक सीमित है, हिन्दुस्तान के विदेश व्यापार का थोडा ही हिस्सा उसके पास है। किन्तु कम्पनी के नौकरो का निजी व्यापार देश-विदेश-व्यापार की सभी शाखाओं को अपने भीतर समेट सकता है। स्वच्छन्द व्यापार हो तो अतिरिक्त उपज का निर्यात यूरुप को हो सकता है किन्तु कम्पनी का इजारा इस उपज की स्वाभाविक वृद्धि को रोकता है। कम्पनी के नौकरों का इजारा हर तरह की उपज की वृद्धि रोकता है, उसकी खपत चाहे देश मे हो चाहे विदेश मे, बस इजारा इन नौकरो के हाथ मे होना चाहिए। "इसका नतीजा यह होता है कि सारे देश की उपज का ह्रास होता है और उसकी आबादी घटती है। हर तरह की उपज घटती जाती है। कम्पनी के नौकर अगर समझते है कि खाने-पीने की चीजों की खरीद-फरोख्त से मुनाफा मिलेगा तो इन चीजों की उपज भी कम होगी।" (पृष्ठ १३६-३९)।

(ईस्ट इंडिया कम्पनी के इजारे का परिणाम यह था कि हर तरह की उपज की वृद्धि रोकी जा रही थी। जो चीजें मुनाफा कमाने के लिए पैदा की जाती थी, उनके अलावा केवल जीवित रहने के लिए जो खाने-पहनने की चीजें निहायत ज़रूरी थीं, उनकी पैदावार भी रोकी जा रही थी। देश की हुकूमत जहां भी कम्पनी के हाथ मे थी, उसके अंग्रेज नौकर हर तरह के व्यापार पर अपना इजारा कायम किये हुए थे। इसका नतीजा मुफलिसी, भुखमरी का बढना और आबादी का घटना था। इंग्लैंड मे माल्थस जैसे पादरी यह प्रचार कर रहे थे कि विभिन्न देशों मे लोगों की गरीबी का कारण आबादी का बढना है। भारत की औद्योगिक उन्नति दरकिनार, उसके आन्तरिक और विदेशी व्यापार की प्रगति मे अंग्रेजी राज सबसे बडी बाधा था। इसके साथ कम्पनी-राज ने भ्रष्टाचार को खूब बढावा दिया था। कम्पनी के गोरे नौकर अपना निजी व्यापार चलाकर अपने गोरे मालिकों को ठगते थे, तब उन्हें हिन्दुस्तानियों को ठगने में, उन्हे सताने और तबाह करने में क्यों संकोच होता ? अंग्रेजी राज का कानून, उसकी न्याय-व्यवस्था थोड़े से इजारेदारों का हित साधने के लिए थी। उस पर तुर्रा यह कि देशी राजाओं के

शासन को भ्रष्ट बनाकर उससे प्रजा की रक्षा करने के नाम पर अंग्रेज एक के ब
दूसरा इलाका लगातार हड़पते चले जा रहे थे।)

(अंग्रेजी राज के पहले दौर मे ही बड़े पैमाने पर दुर्भिक्ष पड़ने लगा था। एक प्रदेश मे मरनेवालो की संख्या लाखों तक पहुंचने लगी थी। इस तरह की भुखमरी सबसे पहले बंगाल मे फैली। अंग्रेजों के भारत छोड़ने से पहले भी बंगाल मे ही सबसे ज्यादा लोग भुखमरी के शिकार हुए।) ऐडम स्मिथ ने लिखा था कि जिन देशो मे लोग ज्यादातर चावल खाते है, उनमे सूखा पड़ने से, दूसरे देशों की देखते, ज्यादा नुकसान होता है। किन्तु चावल खाने वाले देशो में भी स्वच्छन्द व्यापार का चलन हो तो सूखा पड़ने से भुखमरी का फैलना अनिवार्य नही है। "कुछ साल पहले बंगाल मे जो सूखा पड़ा, उससे अन्न की भारी कमी हो सकती थी। लेकिन ईस्ट इंडिया कम्पनी के नौकरो ने चावल के व्यापार पर कुछ गलत पाबन्दियां लगाईं, कुछ गलत कायदे बनाये, उससे शायद अन्न की कमी ने भुखमरी का रूप ले लिया।" (पृष्ठ २८)। (यहां ऐडम स्मिथ ने हर रोग की औषधि के लिए स्वच्छंद व्यापार का नाम लिया है। व्यापारी और सरकार दोनों मिलकर जनता को भूखा मारते है, यह १९४३ मे जाहिर हो गया। पुस्तक के पहले खंड में ऐडम स्मिथ ने बंगाल की भुखमरी के बारे मे कुछ अधिक विस्तार से लिखा था। चीन, भारत और अमरीका के अंग्रेजी उपनिवेश, ये तीन भिन्न प्रकार के देश थे। इन तीनो की हालत अलग-अलग तरह की थी। अमरीकी उपनिवेशों में खुद अंग्रेज बसे हुए थे। उनके साथ कुछ अन्य गोरी जातियो के लोग थे पर इनमे सबसे ज्यादा संख्या अंग्रेजो की थी। चीन साम्राज्यवादी प्रभाव-क्षेत्र मे था किन्तु वहां यूरुप वालो का प्रत्यक्ष रूप से शासन नही था। भारत पर अंग्रेजों का प्रत्यक्ष शासन था। अमरीकी उपनिवेश तेजी से प्रगति कर रहे थे। चीन मे प्रगति रुकी हुई थी। भारत भुखमरी का सामना करता हुआ प्रगति पथ पर रुके रहने के बदले तेजी से पीछे को लौट रहा था। ऐडम स्मिथ ने पहले खंड मे, इस संदर्भ मे, जो कुछ कहा है, उसका सारांश आगे देते है।)

बहुत समय से चीन संसार के अत्यन्त उपजाऊ और धनी देशों में रहा है। वहां
के लोग खेती और दस्तकारी मे दक्ष थे और आबादी घनी थी। किन्तु ऐसा लगता
कि वह बहुत दिनों से ठहराव की हालत में है। यात्रियों के वृत्तान्त तरह-तरह
हैं पर उनमें एक बात सामान्य है कि मेहनत करने वालों को बहुत ही कम पैसा
या जाता है। दिन-भर जमीन खोदने के बाद शाम को मुट्ठी भर चावल खरीदने
र पैसा आदमी को मिल जाये तो वह सन्तोष कर लेता है। कारीगरों की
न और भी खराब है। काम की तलाश मे अपने औजार लिये वे सड़क पर
ो दिखाई देते है। यूरुप की सबसे गई-बीती जातियों की तुलना में निम्नवर्ग
नियों की हालत कहीं ज्यादा खराब है। खाने की इतनी कमी है कि यूरुप
के जहाज से जो भी सड़ी-गली चीजें फेंकी जायें, वे लपकने दौड़ते है। मुर्दा
, मरा हुआ कुत्ता या मरी हुई बिल्ली का मांस सड़कर गंधाने लगा हो, तो
से खा जाते है। ब्याह कम उम्र मे होना है और बड़े-बड़े शहरों मे बच्चे
र मारे-मारे फिरते मर जाते है या पिल्लों की तरह पानी में डुबाकर मार

डाले जाते हैं। उन्हें डुबाकर मारने में कुछ लोगों की जीविका तक चलती है। "यद्यपि चीन शायद ठहराव की हालत में है किन्तु ऐसा नहीं लगता कि वह पीछे को लौट रहा है। वहां के शहर लोगों के भाग जाने से वीरान नहीं हो गये। खेती की जमीन ध्यान न देने से ऊसर नहीं बन गई। हर साल जितनी मेहनत जरूरी हो, लगभग उतनी मेहनत की जाती है। मेहनतियों का पेट पालने के लिए जितनी धन-राशि दरकार है, उसमें कोई कहने-सुनने लायक कमी नहीं होती। इसलिए अन्न-वस्त्र की कमी के बावजूद सबसे निचले दर्जे के मजदूर भी किसी न किसी तरह सन्तान पैदा करते और उसे पालते जाते हैं जिससे कि उनकी संख्या में कमी नहीं होती।" (पृष्ठ ७३-७४)।

चीन से भिन्न भारत जैसे देशों को लक्ष्य करके ऐडम स्मिथ आगे कहते हैं, "किन्तु जिस देश में मेहनतियों की जीविका के लिए निश्चित की हुई धन-राशि में कहने-सुनने लायक कमी होती जाये, उसकी हालत दूसरी होगी। विभिन्न प्रकार के कामों में मेहनतियों और सेवकों की मांग साल-दर-साल कम होती जायेगी। जिन लोगों का लालन-पालन ऊंचे वर्गों में हुआ था, उन्हें अपना धन्धा न मिलने पर निचला काम करने में खुशी होगी। निचले वर्ग में उसी के मेहनती भरे होंगे; जब दूसरे वर्गों के लोगों की बाढ़ उसमें आ मिलेगी तो काम पाने के लिए ऐसी जबरदस्त होड़ होगी कि मेहनती की पगार बेहद कम हो जायेगी और उसे अन्न-वस्त्र के लाले पड़ जायेंगे। बहुतों को ऐसी कठिन शर्तों पर भी काम न मिलेगा; वे या तो भूखों मरेंगे या पेट के लिए भीख मांगेंगे या फिर शायद भारी अपराध करेंगे। मुफलिसी, भुखमरी और अकाल मृत्यु का प्रसार पहले निचले वर्ग में होगा, और वहां से ऊपर वाले वर्गों में फैलेगा; देश में जो भण्डार और आमदनी बचेगी, उससे जितने लोगों का पेट पाला जा सके, उतने ही जियेंगे; जिस अत्याचार या मुसीबत ने दूसरों का नाश कर दिया, उससे जो बच गये सो बच गये, बाकी मरेंगे और आबादी घटेगी। वर्तमान काल में बंगाल की, और ईस्ट इंडीज के कुछ अन्य अंग्रेजी राज्यों की, शायद लगभग यही हालत है। जो देश उपजाऊ हो, जहां की आबादी पहले ही काफी घट चुकी हो, इसके फलस्वरूप जहां खाने-पीने की चीजें मिलना बहुत मुश्किल न होना चाहिए, इसके बावजूद जहां एक साल में तीन-चार लाख आदमी भूख से मर जाते हों, वहां इसमें सन्देह न होना चाहिए कि गरीब मेहनतियों की जीविका के लिए निश्चित धन-राशि में तेजी से कमी होती जा रही है। ब्रिटिश-संविधान के अनुसार उत्तरी-अमरीका का शासन चलता है और संविधान उसकी रक्षा करता है। इधर सौदागरों की कम्पनी ईस्ट इंडीज को दबाये हुए है और वहां के लोगों का उत्पीड़न करती है। दोनों तरह के शासन में जो तात्त्विक अंतर है, उसे समझने का शायद इससे अच्छा और तरीका नहीं है कि दोनों देशों की हालत का फर्क देखा जाये। श्रम का उदार पुरस्कार राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि का अनिवार्य परिणाम है, उसका स्वाभाविक लक्षण भी। गरीब मेहनतियों को पेट पालने के लिए बहुत कम पैसा मिलता है, यह इस बात का स्वाभाविक लक्षण है कि स्थिति में ठहराव आ गया है। यदि गरीब मेहनती भुखमरी के शिकार हैं तो यह इस बात का स्वाभाविक लक्षण है कि देश तेजी से

पीछे को लौट रहा है।" (पृष्ठ ७४-७५)।

(ऐडम स्मिथ ने थिंग्स आर ऐट ए स्टैंड लिखा है; इसके लिए मैंने अनुवाद मे स्थिति मे ठहराव आना लिखा है। जहा गरीब मेहनती भुखमरी के शिकार हैं, वहा **दे आर गोइन्ग फास्ट बैकवर्ड्स** लिखा है। यहा सर्वनाम **दे** पूर्ववाक्यांश के **थिंग्स** के लिए आया है। परिस्थिति बदलकर पीछे को लौट रही है। भाव यह कि देश आगे बढने के बजाय पीछे को जा रहा है। ऐडम स्मिथ को अभिमान था कि ब्रिटिश सविधान के कारण अमरीकी उपनिवेशो के लोग सुखी है। इन सुखी लोगो मे वहा के आदिवासियो और काले दासों की गिनती न थी। किन्तु अंग्रेज़ और उनके साथी गोरे भी ब्रिटिश सविधान से कितना प्रसन्न है, यह बहुत जल्दी उस लड़ाई से ज़ाहिर हो गया जो वे इग्लैंड से लडे, लडे और जीते भी। किन्तु संयुक्त राज्य अमरीका के ऊपर कनाडा नामक उपनिवेश है। वहा के संविधान मे अब भी ब्रिटिश-पार्लियामेंट की आज्ञा के बिना कोई परिवर्तन नही किया जा सकता। अमरीकी उपनिवेश क्यो लडे, इग्लैंड द्वारा कायम किये हुए विश्वबाजार मे उन्हे कौन दु ख था, यह ऐडम स्मिथ के ही दिये हुए विवरण से स्पष्ट हो जाता है।)

ग्रन्थ के दूसरे खड मे ऐडम स्मिथ ने बताया है कि अपने उपनिवेशो के व्यापार के प्रति इंग्लैंड की उदारता इतनी ही है कि उनके बाजार मे उनका कच्चा माल या ऐसा माल जो आधा ही तैयार हुआ है बिक सके। (आशय यह है कि अमरीकी कारखानो मे बना हुआ माल इग्लैंड मे न बिकेगा। जिस माल की ज़रूरत इग्लैंड के कारखानो को होगी, वही माल खरीदा जायेगा, चाहे वह सीधा खेत से उठाकर भेज दिया गया हो, चाहे उसका थोडा परिष्कार हुआ हो।) जो परिष्कृत माल है, उपनिवेशो मे उसका उत्पादन ब्रिटिश व्यापारियो और कारखानेदारो ने अपने हाथ मे रखा है। उपनिवेशो में उसके उत्पादन के लिए उद्योग स्थापित न हो, इसके लिए उन्होने पार्लियामेंट से भारी चुगी लगवा दी है या फिर सीधे निषेधाज्ञा जारी करवा दी है। (पृष्ठ ८२)।

ऐडम स्मिथ ने आगे लिखा है कि ब्रिटेन लोहे के उत्पादन के लिए अमरीकियों ो प्रोत्साहन देता है किन्तु उन्हे इस्पात के कारखाने लगाने की पूरी मनाही है। पृष्ठ ८३)। (इसका मतलब यह है कि इस्पात खरीदना हो तो अमरीकी उसे लैंड से ही खरीद सकते है। ऊनी कपड़ो के घरेलू व्यापार पर जो पाबन्दी लगाई थी, वह और भी विचित्र थी।) एक अमरीकी सूबे से दूसरे सूबे तक जलमार्गों सड़कों से ऊनी सामान ले जाने पर ब्रिटेन ने पाबन्दी लगा दी थी। इसकी वजह र बिक सकने वाली चीजों के उत्पादन पर पूरी तरह रोक लगा दी गई थी। अमरीकी उपनिवेश अपने उद्योग-धन्धों से वैसी मोटी-झोटी, घरेलू चीजें ही सकते थे जैसी चीजें कोई भी बुनवा आमतौर से अपने इस्तेमाल के लिए है। (अंग्रेज़ों ने अपने ही अमरीकी भाइयों के औद्योगिक विकास पर रोक ी थी। भारी उद्योग-धन्धों का तो सवाल ही न था, वे जो ऊनी माल तैयार , उसे भी वे एक सूबे से दूसरे सूबे मे न भेज सकते थे। इस तरह उनका ज़ार भी विकसित न हो सकता था।) फ्रास के विपरीत इंग्लैंड के गन्ना- उपनिवेश कच्ची शक्कर का परिष्कार न कर सकते थे। (पृष्ठ ८७)।

(इसका अर्थ यह है कि कच्ची शक्कर के परिष्कार का इजारा भी अंग्रेज़ों ने अपने हाथ में रखा था। फ्रांस के व्यापारियों ने अपने उपनिवेशों को अधिक सुविधा दी थी। अमरीका में खेती लायक भूमि काफी थी। इंग्लैंड औद्योगिक विकास करे और अमरीकी उपनिवेश मुख्यतः खेती करें, ऐडम स्मिथ को यह बात अन्यायपूर्ण तो मालूम होती थी किन्तु अमरीका के लिए हानिकारक न जान पड़ती थी।) उपनिवेशों के व्यापार ने यूरुप के कारखानों में बने माल के लिए नया बाज़ार खोल दिया। सभी नये उपनिवेशों का उपयुक्त धन्धा खेती है। ज़मीन सस्ती है, इसलिए और धन्धों से यह धन्धा लाभकारी है। जितने काम करने वाले लोग हैं, सब खेती में लगे रहते हैं। कारखानों में बना हुआ माल दूसरे देशों से खरीदने में सस्ता पड़ता है। यह माल खरीदकर उपनिवेशों का व्यापार खेती को प्रोत्साहन देता है। (पृष्ठ १०६-११०)। (स्पष्ट ही अमरीकी लोग इस स्थिति से सन्तुष्ट न थे। वे ब्रिटिश कारखानों का माल खरीदने वाले, ब्रिटेन को कच्चा माल भेजने वाले खेतिहर देश के नागरिक बने रहने को तैयार न थे। अमरीका के उद्योगीकरण में इंग्लैंड की आर्थिक शक्ति बाधक न थी, बाधक थी राजशक्ति। अमरीकी उपनिवेशों के मालिक इंग्लैंड में रहते थे। वे राजशक्ति का उपयोग अपने उद्योग-धन्धों, अपने व्यापार के विकास के लिए कर रहे थे। जब तक अमरीकी उपनिवेश स्वाधीन न हो जायें, तब तक वे औद्योगिक प्रगति न कर सकते थे। लड़ाई के बिना अंग्रेज उन्हें आज़ादी देने को तैयार न थे। अमरीका के आर्थिक विकास के लिए स्वाधीनता प्राप्त करना अनिवार्य हो गया। स्वाधीनता के लिए अमरीकियों ने इंग्लैंड से युद्ध किया और विजयी हुए। नतीजा यह कि कुछ समय बाद आर्थिक प्रगति में अमरीका इंग्लैंड से बहुत आगे बढ़ गया। भारत में अंग्रेज़ी राज की भूमिका समझने के लिए अमरीकी इतिहास का यह अध्याय अत्यन्त शिक्षाप्रद है।)

(भारत की आबादी घट रही थी और अमरीकी उपनिवेशों की आबादी बढ़ रही थी। दोनों पर इंग्लैंड का शासन था किन्तु जहां अंग्रेज़ों ने अपनी बस्तियां बसा रखी थीं, वे 'उपनिवेश' थे। वहां के गोरे निवासियों की स्थिति भारतवासियों की स्थिति से बिलकुल भिन्न थी। भारत 'पराधीन देश' था। 'पराधीन देश' की हालत 'उपनिवेश' के मुकाबले बहुत खराब थी। स्वाधीन होने से पहले भी अमरीका तेज़ी से समृद्ध हो रहा था। अपने ग्रन्थ के पहले खंड में ऐडम स्मिथ ने लिखा है :) यद्यपि उत्तरी अमरीका उतना धनी नहीं है जितना इंग्लैंड, फिर भी वह तेज़ी से समृद्ध हो रहा है। किसी देश की समृद्धि का अचूक लक्षण उसके निवासियों की संख्या वृद्धि है। यूरुप के अधिकांश देशों में तथा ब्रिटेन में आबादी पांच सौ साल में दुगनी होती है। उत्तरी अमरीका के ब्रिटिश उपनिवेशों में वह बीस-पच्चीस साल में दुगनी हो जाती है। जो लोग बुढ़ापे तक जीते हैं, अक्सर अपने परिवार में पचास से सौ तक वंशज देखते हैं। मेहनत करने पर इतना पैसा मिलता है कि बच्चे भार-स्वरूप न होकर समृद्धि का कारण बनते हैं। किसी विधवा के चार-पांच बच्चे हों और वह अभी जवान हो, तो पुरुष उससे विवाह करने को आतुर हो जाते हैं। उत्तरी अमरीका में आमतौर से लोग कम उम्र में शादी करते हैं। इस तरह ब्याह करने से बच्चे अधिक होते हैं, फिर भी यह

शिकायत बनी रहती है कि काम करने वालों की कमी है। (पृष्ठ ७२-७३)।

(यद्यपि ऐडम स्मिथ ने माना है कि चीन ठहराव की हालत में है और अंग्रेज़ी राज कायम होने के बाद भारत ठहराव से भी बदतर हालत मे है, वह पीछे को लौट रहा है, फिर भी पुरानी व्यवस्था मे यहा की जनता सुखी थी, यह बात वह जानते थे। ग्रन्थ के दूसरे खड मे उन्होंने लिखा है :) प्राचीन मिस्र और हिन्दुस्तान, दोनो देशो की सरकार खेती की ओर विशेष ध्यान देती थी। मिस्र के राजाओं ने नील नदी के पानी के समुचित वितरण के लिए जो निर्माण-कार्य किया था, वह प्राचीन काल मे प्रसिद्ध था, यात्री उसके अवशेष देखकर अब भी प्रशंसा करते है। गगा तथा अन्य नदियों के पानी के समुचित वितरण के लिए उसी तरह का निर्माण-कार्य प्राचीन काल मे हिन्दुस्तान के राजाओं ने किया। वह उतना प्रसिद्ध नही है किन्तु लगता है कि वह भी उतना ही महान् था। इसी कारण दोनों देश अपनी उपजाऊ शक्ति के लिए प्रसिद्ध रहे हैं यद्यपि वहां जब-तब सूखा पड़ता रहा था। दोनों मे घनी आबादी थी, फिर भी साधारण समृद्धि के वर्षों मे वे अपने पड़ोसियों को भारी मात्रा मे अनाज का निर्यात करते थे। मिस्र और हिन्दुस्तान, दोनों ही देश अतिरिक्त उपज के निर्यात के लिए दूसरे देशो की जहाजरानी पर निर्भर रहे होंगे। इससे बाज़ार सकुचित रहा होगा और अतिरिक्त उपज के लिए प्रोत्साहन न मिला होगा। प्राचीन मिस्र और हिन्दुस्तान, दोनों के विदेशी बाज़ार के संकुचित होने से जो कमी हुई थी, वह बहुत कुछ घरेलू जलमार्गों से प्राप्त होने वाली यातायात की सुविधा से दूर हो गई थी। इससे इन देशों के सुदूर प्रान्तों की उपज के लिए, अत्यन्त लाभकारी ढंग से, समूचा घरेलू बाजार सुलभ था। हिन्दुस्तान के विशाल क्षेत्रफल ने भी उस देश के घरेलू बाज़ार को बहुत बड़ा बना दिया था। यह बाज़ार बहुत तरह के औद्योगिक माल की खपत के लिए काफी था। हिन्दुस्तान का बगाल प्रान्त आमतौर से चावल का निर्यात सबसे ज्यादा करता था। वह बहुत तरह के औद्योगिक माल के लिए भी विख्यात रहा है। (पृष्ठ १७९-८०)। (विश्वबाज़ार कायम करने वाले अंग्रेज़ों ने भारत का व्यापार ही नष्ट नही किया, उसका घरेलू बाज़ार भी नष्ट किया। चावल का निर्यात करने वाले लोग लाखों की संख्या में भूखों मरे, वह अलग।)

चीन, मिस्र और हिन्दुस्तान के राजाओं को मुख्यत: भूमि-कर से आमदनी होती थी। फसल के अनुसार उसका एक अंश उपज या द्रव्य के रूप में राजा को दे दिया जाता था। राजाओं की समृद्धि खेती पर निर्भर थी, अत: इस ओर ध्यान देना उनके लिए बिलकुल स्वाभाविक था। (पृष्ठ १८१)। एशिया में भूमि-कर मिलने से वहां के राजा खेती की ओर ध्यान देते थे। अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज कायम होने से पहले बगाल की मुसलमान हुकूमत को उपज का पांचवां हिस्सा भूमि-कर के रूप मे दिया जाता था। (पृष्ठ ३२२)। ईस्ट इंडिया कपनी के कुछ नौकरों ने मालगुजारी की सही दर कायम करने के नाम पर ऐसी व्यवस्था की है कि लगानवसूली मे भ्रष्टाचार फैलेगा और खेती करने को प्रोत्साहन न मिलेगा। हो सकता है कि इससे कम्पनी के नौकरो को लाभ हो किन्तु इससे उस देश का और उनके मालिको का, दोनों का नुकसान होगा।

(पृष्ठ ३२४)। इससे सिद्ध हुआ कि कम्पनी के मालिक और उसके निदेशक एक बड़े साम्राज्य का शासन करने के योग्य नही है, उसके शासन मे भाग लेने के योग्य भी नही। कोई भी शासक अपनी प्रजा के दुख-सुख के प्रति इतना उदासीन नही हो सकता जितना सौदागरों की ऐसी कम्पनी के मालिक है। राज्य उन्नति कर रहा है या तबाह हो रहा है, उनकी नेकनामी हो रही है या बदनामी हो रही है, इससे उन्हें कोई सरोकार नही। पार्लियामेंट की जाच के फलस्वरूप जो नये कायदे बने, उनसे यह उदासीनता दूर होने के बदले बढ़ने ही वाली है।(पृष्ठ २४३)। (स्पष्ट है कि कम्पनी का इजारा तोड़े बिना स्वयं इंग्लैंड का औद्योगिक विकास पूरी तरह न हो सकता था। जैसे-जैसे उद्योगपति शक्तिशाली हुए, कम्पनी का इजारा कमज़ोर हुआ। वे स्वच्छन्द व्यापार का नारा लगा रहे थे किन्तु वे यह स्वच्छंदता कम्पनी के मुकाबले अपने लिए चाहते थे; वे भारतीय व्यापार को वैसी स्वतन्त्रता देने के पक्ष में न थे।)

## ७. इजारेदार व्यापारी, अंग्रेजी राज और एडमंड बर्क

ऐडम स्मिथ इंग्लैंड के विकासमान उद्योगपतिवर्ग के प्रतिनिधि थे। इनके विपरीत प्रसिद्ध वक्ता, लेखक और राजनीतिज्ञ एडमन्ड बर्क की सहानुभूति अभिजात वर्ग के साथ थी। जितना ध्यान बर्क ने भारत की समस्याओं की ओर दिया था, उतना बहुत कम लोगों ने दिया था। जो बातें ऐडम स्मिथ ने कही थी, उनकी पुष्टि बर्क के भाषणों, लेखो आदि से होती है। इंग्लैंड में जो भी भारत की वास्तविक दशा से परिचित थे और जो अंग्रेजी राज की लूट मे शामिल नही थे, वे सब इस राज की तीखी आलोचना कर रहे थे। १७८८ मे बर्क ने कहा था: हर देश व्यापार से समृद्ध होता है किन्तु बंगाल उससे पूरी तरह तबाह हो रहा है। जब किसी इलाके पर कम्पनी का राज कायम न हुआ था, तब उसे दस्तक या अनुमति-पत्र से विशेष सुविधाएं मिली हुई थी। उसका माल चुगी दिये बिना एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाता था। कम्पनी के नौकरो ने दस्तक का उपयोग अपने निजी व्यापार के लिए किया। जब तक यह काम बहुत सीमित था, तब तक देशी हुकूमत ने उसकी अनदेखी की, लेकिन जब वह पूरी तरह निजी व्यापार बन गया, तब वह व्यापार से ज्यादा लूट जैसा हो गया। ये व्यापारी हर जगह पहुँच जाते थे, जो कीमत चाहते थे, उसके हिसाब से माल बेचते थे। जिस भाव चाहते थे, लोगों को भी अपनी चीजें बेचने पर मजबूर करते थे। ऐसा लगता था कि व्यापार के बहाने लोगो को लूटने के लिए फौज पहुँच गयी है। लोग देशी अदालतों से अपनी रक्षा करने की प्रार्थना बेकार ही करते थे। व्यापारियों की यह फौज अपने अभियान मे तुर्क विजेताओ से भी ज्यादा भारी तबाही बरपा करती थी।(बर्क्स वर्क्स; खंड १; पृष्ठ ७९-८०१)।

(किसी भी देश मे उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए ज़रूरी होता है कि कारखानों मे बना माल बेचने के लिए बाज़ार सुलभ हो। बाज़ार न होगा, माल की माग न होगी, तो कोई कारखाना लगायेगा ही क्यो? अंग्रेजों ने बाज़ार कायम करने के बदले जो बाजार यहां पहले से मौजूद था, उसे बरबाद किया।

(भारत मे अंग्रेजों को व्यापार में सफलता तभी मिली जब वे यहां अनेक प्रदेशों के राजा बन गये। अपना राज्यप्रसार करने मे उन्हें यहां के सामन्तों से भारी सहायता मिली, सामन्तों की आपसी फूट से उन्होने लाभ उठाया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वे हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद-भाव से लाभ नहीं उठा सके; उन्होंने एक वर्ग विशेष की फूट से लाभ उठाया। इस वर्ग में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। जिन्होंने अंग्रेज़ों का साथ दिया और जिन्होंने अंग्रेजो का विरोध किया, दोनों ही तरह के सामन्तो मे हिन्दू-मुसलमान मौजूद थे। जब तक केंद्रीय शासन मज़बूत था, तब तक अंग्रेज़ों को पैर फैलाने का मौका न मिला; जब हिन्दी प्रदेश मे छोटे-छोटे राज्य कायम हुए, तब अंग्रेज़ों को पहले बंगाल मे, और फिर शेष भारत मे, राज्य-विस्तार का अवसर मिला।) भारत देश सभ्यदेश था, अंग्रेज़ यहां की सभ्यता नष्ट कर रहे थे, इस बारे में बर्क ने लिखा था : ये लोग असभ्य और बर्बर नहीं हैं, दक्षिणी अमरीका की नदियों के किनारे जंगलों में घूमने वाले वन्य लोगों की तरह नहीं हैं। ये लोग युगों से सभ्य और सुसंस्कृत रहे हैं। "जब हम लोग अभी जंगलों में रहते थे, तब ये कलाकौशल में उन्नति करके सुसंस्कृत जीवन बिता रहे थे।" यहां ऐसे राजा हुए है, जिनकी गरिमा और समृद्धि महान् थी। उनके इतिहास और ज्ञान का रक्षक एक पुरोहित वर्ग था। यहां का अभिजात वर्ग प्राचीनकाल से चला आ रहा था। "यहां बहुत से शहर थे, आबादी और व्यापार की दृष्टि से जिनकी तुलना में यूरुप के श्रेष्ठ नगर बढ़कर नहीं थे। यहां ऐसे व्यापारी और साहूकार थे जिनका एक-एक घराना अपनी पूंजी के बल पर बैंक आफ इंग्लैंड से होड़ करता था। इन्होंने रुपया उधार देकर अक्सर लड़खड़ाते राज को सँभाला है, लड़ाई और तबाही के दौरान अपनी सरकार की रक्षा की है। यहां लाखों कुशल कारीगर थे और धरती जोतनेवाले वे लाखो आदमी थे जो परिश्रमी होने के साथ बुद्धिमान भी थे। (उप., खंड २; पृष्ठ १८१-८२)। (बर्क ने भारत की समृद्धि के बारे में ये बातें १७८३ में कही थी। अठारहवीं सदी के अन्त मे यह किसी से छिपा न था कि भारत मे बड़े-बड़े नगर हैं। इन नगरों में व्यापारी और साहूकार रहते है। महाजनी कारोबार बड़े पैमाने पर होता है और इंग्लैंड का बड़ा बैंक यहां के लोगों को साहूकारी सिखाने की स्थिति में नहीं है। औद्योगिक क्रान्ति के लिए जो पूंजी दरकार थी, वह यहां मौजूद थी। व्यापार-केंद्र, बड़े-बड़े नगर, संचार साधनों के द्वारा आपस में जुड़े हुए थे। अंग्रेज़ों ने औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक इस आधार को नष्ट किया। इस विनाश कार्य में उन्होंने एक अद्भुत नीति अपनाई। यह नीति किसी एक राजा के प्रदेश या उसकी जायदाद को दूसरे राजा के हाथ बेच देना था, फिर खरीदनेवाले को भी तबाह कर देना था। इसके लिए वे राजाओं से सन्धि करते थे, इकरारनामे करते थे और थोड़े ही दिन बाद उनमे लिखी हुई शर्तों को तोड़ देते थे।) बर्क ने लिखा है : हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक कोई ऐसा राजा नहीं है जिससे अंग्रेज़ों का सम्पर्क हुआ हो और फिर जिसे उन्होंने बेच न दिया हो। कम्पनी ने सबसे पहले तैमूर के वंशज मुगल बादशाह को बेचा। उन्होने बादशाह से कड़ा और इलाहाबाद का प्रदेश पाया और दो लाख साठ हज़ार पाउंड सालाना खिराज देने का वादा

इस तरह उन्होने औद्योगिक विकास के लिए जो आवश्यक आधार था, उसे ही
खत्म कर दिया। उनके राज मे देशी उद्योग-धन्धों का विकास तभी हो सकता
था, जब यहा के व्यापारी नये सिरे से देशी बाजार कायम करें, फिर नये उद्योग-
धन्धे कायम करें।) अंग्रेजी राज कायम होने से पहले भारत के बाजार और
व्यापार की जो हालत थी, उसके बारे मे बर्क ने १७८३ मे लिखा था : बंगाल का
भीतरी व्यापार काफी विकसित था; इस व्यापार से सोने और चादी क
आमद होती थी तथा व्यापार लायक बहुत तरह का माल प्राप्त होता थ
मुगल साम्राज्य के ऊपरी सूबे समृद्ध थे और उनकी आबादी घनी थी। उन
बंगाल के बीच भारी मात्रा मे आदान-प्रदान होता था। इन सूबो से होक
सभी देशो का बहुत सा व्यापार होना था जो ईरान की सीमाओं पर स्थि
इन सूबो से होकर तुर्किस्तान के सीमान्त प्रदेशो तथा पश्चिमी हिन्दुस्तान के
और भड़ौच का बहुत सा व्यापार होना था। इन सूबों से होकर बंगाल की सच
व्यवस्था ईरान की खाड़ी और लाल समुद्र से जुड़ी हुई थी, और इनके द्व
ईरानी साम्राज्य के समुद्र-तटवर्ती प्रदेशों तथा तुर्क साम्राज्य से जुड़ी हुई थ
इसके अलावा इन देशो तथा अन्य देशो के साथ अपने बन्दरगाहो के द्वारा बंगा
व्यापार-सम्बन्ध कायम किये हुए था। (उप. खंड ४, पृष्ठ ३८-३९)। (इसमें
सन्देह नहीं रह जाता कि मध्य एशिया तथा भारत मे एक बहुत बड़ा बाजार पहले
से कायम था। इस बाजार मे केवल स्थल मार्गों का नही, वरन् जल मार्गों का
उपयोग भी होता था। भारत के आर्थिक विकास के लिए इस बाजार को सुदृढ़
करना जरूरी था; नये सिरे से आवाजाही के मार्गों का पता लगाने, एक नया
बाजार कायम करने का सवाल न था।) बर्क ने आगे लिखा है : उस समय बंगाल
मुगल खजाने को कोई बहुत बड़ी धनराशि न भेजता था, न उसे नियमित रूप से
भेजता था। राज्य को जो कुछ देना होता था, वह ब्याज समेत, लाभकारी व्यापार
के माध्यम से बहुत जल्दी दे दिया जाता था। (इसका अर्थ यह है कि मुगल
शासन मे बंगाल की अधिकांश सम्पदा उसी प्रान्त मे रहती थी। केंद्रीय शासन को
ो कुछ देना होता था, वह व्यापारिक लाभ से तुरत दे दिया जाता था।) वि
लीखां की मृत्यु के बाद ईरान मे जो उथल-पुथल हुई, उससे उस देश का व्याप
ी तरह चौपट हो गया। भारतीय व्यापार की सबसे अच्छी शाखा शा
किस्तान वाली थी; उस शाखा का व्यापार बहुत कम हो गया। मुग़ल बादशाह
तन के साथ आगरा और दिल्ली के बड़े बाजारों (दि ग्रेट मार्ट्स आफ आगर
डेल्ही) का भी ह्रास हुआ। इस उलट-पलट के बाद उत्तर-पश्चिमी सूबो मे
ी अव्यवस्था फैली, और अव्यवस्था फैलने का यह काम तब तक पूरी तरह
न्न नही हुआ जब तक ब्रिटेन ने भी उसे आखिरी धक्का नही दिया। रुहेल-
और अवध के सुन्दर प्रान्तो पर, कड़ा और इलाहाबाद के प्रदेश पर, और भी
त आ गयी। अंग्रेजी प्रभाव और अंग्रेजी फौज की कार्रवाई के कारण ये
हुत जगह रेगिस्तान बन गये है या उनकी हालत इतनी खराब हो गयी है
ं व्यापार की बहुत ही कम सामग्री, व्यापार के बहुत ही कम साधन रह
(उप. पृष्ठ ३९)।

(भारत में अंग्रेजों को व्यापार में सफलता तभी मिली जब वे यहां अनेक प्रदेशों के राजा बन गये। अपना राज्यप्रसार करने मे उन्हें यहां के सामन्तों से भारी सहायता मिली, सामन्तो की आपसी फूट से उन्होने लाभ उठाया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वे हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद-भाव से लाभ नही उठा सके; उन्होंने एक वर्ग विशेष की फूट से लाभ उठाया। इस वर्ग मे हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। जिन्होने अंग्रेजों का साथ दिया और जिन्होंने अग्रेजों का विरोध किया, दोनों ही तरह के सामन्तो में हिन्दू-मुसलमान मौजूद थे। जब तक केंद्रीय शासन मजबूत था, तब तक अंग्रेजों को पैर फैलाने का मौका न मिला; जब हिन्दी प्रदेश में छोटे-छोटे राज्य कायम हुए, तब अंग्रेजों को पहले बंगाल मे, और फिर शेष भारत मे, राज्य-विस्तार का अवसर मिला।) भारत देश सभ्यदेश था, अंग्रेज यहां की सभ्यता नष्ट कर रहे थे, इस बारे मे बर्क ने लिखा था: ये लोग असभ्य और बर्बर नहीं हैं, दक्षिणी अमरीका की नदियों के किनारे जगलों में घूमने वाले वन्य लोगों की तरह नही हैं। ये लोग युगों मे सभ्य और सुसंस्कृत रहे है। "जब हम लोग अभी जंगलो में रहते थे, तब ये कलाकौशल में उन्नति करके सुसंस्कृत जीवन बिता रहे थे।" वहा ऐसे राजा हुए है, जिनकी गरिमा और समृद्धि महान् थी। उनके इतिहास और ज्ञान का रक्षक एक पुरोहित वर्ग था। वहा का अभिजात वर्ग प्राचीनकाल से चला आ रहा था। "वहा बहुत से शहर थे, आबादी और व्यापार की दृष्टि से जिनकी तुलना में यूरप के श्रेष्ठ नगर बढ़कर नही थे। वहां ऐसे व्यापारी और साहूकार थे जिनका एक-एक घराना अपनी पूजी के बल पर बैंक आफ इंग्लैंड से होड करता था। इन्होंने रुपया उधार देकर अक्सर लड़खडाते राज को सँभाला है, लड़ाई और तबाही के दौरान अपनी सरकार की रक्षा की है। वहां लाखों कुशल कारीगर थे और धरती जोतनेवाले वे लाखों आदमी थे जो परिश्रमी होने के साथ बुद्धिमान भी थे। (उप., खड २; पृष्ठ १८१-८२)। (बर्क ने भारत की समृद्धि के बारे मे ये बातें १७८३ मे कही थी। अठारहवी सदी के अन्त में यह किसी से छिपा न था कि भारत में बडे-बडे नगर हैं। इन नगरों में व्यापारी और साहूकार रहते हैं। महाजनी कारोबार बड़े पैमाने पर होता है और इंग्लैंड का बड़ा बैंक यहां के लोगों को साहूकारी सिखाने की स्थिति में नही है। औद्योगिक क्रान्ति के लिए जो पूजी दरकार थी, वह यहाँ मौजूद थी। व्यापार-केंद्र, बड़े-बड़े नगर, संचार साधनों के द्वारा आपस में जुडे हुए थे। अंग्रेजों ने औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक इस आधार को नष्ट किया। इस विनाश कार्य में उन्होने एक अद्भुत नीति अपनाई। यह नीति किसी एक राजा के प्रदेश या उसकी जायदाद को दूसरे राजा के हाथ बेच देना था, फिर खरीदनेवाले को भी तबाह कर देना था। इसके लिए वे राजाओ से सन्धि करते थे, इकरारनामे करते थे और थोड़े ही दिन बाद उनमे लिखी हुई शर्तों को तोड़ देते थे।) बर्क ने लिखा है: हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक कोई ऐसा राजा नही है जिससे अंग्रेजो का सम्पर्क हुआ हो और फिर जिसे उन्होंने बेच न लिया हो। कम्पनी ने सबसे पहले तैमूर के वंशज मुगल बादशाह को बेचा। उन्होंने बादशाह से कड़ा और इलाहाबाद का प्रदेश पाया और दो लाख साठ हज़ार पाउंड सालाना खिराज देने का वादा

किया। यह प्रदेश उन्होंने बादशाह के वजीर शुजाउद्दौला के हाथ बेच दिया। उन्होंने रुहेलखण्ड पर धावा बोला, वहां के बहादुर सरदार को मार डाला। उसका सर काटकर एक बर्बर व्यक्ति के हाथ बेचा। उसकी स्त्री और बच्चे मुट्ठी भर अन्न के लिए अंग्रेजी छावनी में भीख मांगते फिरे। बहुत थोड़े लोगों को छोड़कर जहा जो मिला, उसे मौत के घाट उतार दिया। रुहेलखंड का प्रदेश समृद्धि के लिए विख्यात था, वह अब उजड़ गया है, वीरान हो गया है। (उप., पृष्ठ १८३-८५)।

बंगाल में सिराजुद्दौला को मीर जाफर के हाथ बेचा, मीर जाफर को मीर कासिम के हाथ बेचा, मीर कासिम को फिर मीर जाफर के हाथ बेचा। मीर जाफर की गद्दी उसके बड़े बेटे के हाथ बेची, मीर जाफर के दूसरे बेटे मुबारक को उसकी सौतेली मां के हाथ बेचा। मराठा राज्य राघोबा के हाथ बेचा, राघोबा को पेशवा के हाथ बेचा। राघोबा और पेशवा दोनों को बरार के राजा के हाथ बेचने का मसौदा किया, उसी राजा के हाथ सिन्धिया को बेचना चाहा। दक्खिन का सूबा आरकट के नवाब के हाथ बेचा। उसी नवाब के हाथ उन्होंने हैदरअली और मैसूर का राज्य बेचा। आरकट के नवाब और उसके वारिस को उसके दूसरे बेटे के हाथ बेचा। जो प्रदेश भी इस तरह बेचा गया, वह उजाड़ डाला गया।

कम्पनी ने कभी कोई ऐसी सन्धि नहीं की जिसे उसने तोड़ा न हो। इस काम का गहरा सम्बन्ध इलाके और राज्य बेचने से है। कम्पनी ने मुगल बादशाह से इकरारनामा किया था कि वह उन्हें दो लाख साठ हजार पाउंड देगी। उसने यह इकरारनामा तोड़ा। उसने इकरार किया था कि बंगाल के सूबे को चार लाख पाउंड सालाना देगी। उसने बादशाह से किया हुआ यह इकरारनामा तोड़ा। कम्पनी ने निज़ाम और हैदरअली से जो सन्धियां की थी, उन्हें तोड़ा। (मशहूर है कि इसी तरह हिटलर सन्धि करता था और तोड़ता था। पूंजीवाद के अभ्युदय काल में फासिस्टों के बाप-दादा यही काम कर चुके थे।) मराठों के साथ उन्होंने इतनी परस्पर विरोधी सन्धियां की थी कि उनका एक साथ पालन हो ही न सकता था। "देखा गया कि इन सन्धियों की शर्तों पर अमल किया जाता तो दो अंग्रेजी फौजें मैदान में आमने-सामने होती और एक दूसरे का गला काटती होतीं। हिन्दुस्तान की जो लड़ाइयां उजाड़ रही हैं, वे हमारे भयानक विश्वासघात के कारण शुरू हुई हैं।" (उप., पृष्ठ १८७)। चारों तरफ शान्ति थी लेकिन कम्पनी की फौजें मराठा राज्य में घुस गयी और सालसेट के किले पर अधिकार कर लिया। कम्पनी ने सन्धि की और फिर उसे तोड़ा। जिन लोगों को अपमानित किया गया था, जिनके साथ धोखा हुआ था, उनके सामने कम्पनी की फौज को घुटने टेकने पड़े। लेकिन वे लोग हारे हुए दुश्मन के साथ इन्सानियत से पेश आये। इस इन्सानियत का कुछ भी असर कम्पनी पर न हुआ। सन्धि हुई और कम्पनी ने उसे तोड़ा। लूट का लोभ ऐसा प्रबल था कि यदि हैदरअली ने कर्णाटक में जोर का हल्ला न बोला होता, तो कम्पनी सन्धि की बात ही न सुनती। ऐसा अनेक राज्यों के एक संघ में मिल जाने से हुआ। हमारा नाश करने के लिए मानो किसी चमत्कार से परस्पर विरोधी शक्तियां मिलकर एक हो गयी थी। हम ऐसी जाति (नेशन)

थे जिसका कोई विश्वास न कर सकता था। हम मानवजाति के घोषित शत्रु थे (दि डिक्लेयर्ड एनिमीज़ आफ दि ह्यूमैन स्पीसीज़)। (उप., पृष्ठ १८७-८८)। (मानवजाति के घोषित शत्रु, ऐसे थे ये अंग्रेज।)

भारत पर पहले भी आक्रमण हुए थे। उनसे कम्पनी की लड़ाइयों की तुलना करते हुए बर्क ने लिखा: तुर्क आक्रमण दुष्टतापूर्ण था किन्तु भारत का नाश हमारा संरक्षण कर रहा है। वे तो दुश्मन थे, हम दोस्त हैं। बीस साल के बाद हमारी विजय में कोई खास तबदीली नहीं हुई। नौजवान अंग्रेज़ हुकूमत करते हैं, उन्हें देशी लोगों से कोई हमदर्दी नहीं है। दौलत बटोरने के लिए जितना सम्पर्क ज़रूरी होता है, देशी लोगों से उतना ही सम्पर्क कायम करते हैं। ज़माने की हविस और जवानी का जोश, उनकी भूख कभी शान्त नहीं होती। मुनाफे का जो एक रुपया अंग्रेज़ लेता है, वह हिन्दुस्तान के हाथ से हमेशा को निकल जाता है। दूसरे विजेता अपने पीछे कोई ऐसी यादगार छोड़ गये हैं जिससे जनता को लाभ हो या उनका गौरव बढ़े। "यदि आज हम भारत से निकाल दिये जायें तो ऐसा कुछ न छोड़ जायेंगे जिससे ज़ाहिर हो कि अपनी अमलदारी की घटिया अवधि में यहां जंगल के ओराङ्ग-उटाङ्ग या बाघ में कोई बेहतर जीव रहते थे।" (उप., पृष्ठ १९४-९५)। (बर्क ने अंग्रेजों के लिए कठोर शब्दावली का व्यवहार किया है। उन्होंने भारत को जिस तरह उजाड़ना शुरू किया था, उसे देखते उन शब्दों को अनुचित नहीं कहा जा सकता। इंग्लैंड में जिस प्रगतिशील सभ्यता का विकास हो रहा था, उससे इन लुटेरे अंग्रेज़ों का कोई सम्बन्ध न था। अंग्रेज़ों को परास्त किया जा सकता था, वे अनेक बार परास्त हुए थे। हैदरअली और मराठे जब मिल गये, तब अंग्रेज़ों को लेने के देने पड़ गये। सन्धि करना और तोड़ना कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसका विशेष सम्बन्ध औद्योगिक क्रान्ति से हो। जो लोग समझते हैं कि उद्योग-प्रधान इंग्लैंड के सामने सामन्ती भारत की पराजय अनिवार्य थी, वे इस बात पर ध्यान दें कि अंग्रेज़ों ने जिस कूटनीति और ठगविद्या से काम लिया, वह औद्योगिक पूंजीवाद की उपज नहीं है। दरअसल उसका सम्बन्ध व्यापारिक पूंजीवाद से भी नहीं है। जब तक अंग्रेज़ व्यापारी बने रहे, तब तक वे इंग्लैंड का चांदी-सोना ढोकर इस देश में लाते रहे; यहां उन्हें पैर फैलाने का मौका न मिला। किन्तु जब वे राजा बन गये, तब व्यापार का रूप बदल गया और उन्होंने पैर भी खूब फैलाये।) इस सम्बन्ध में बर्क ने लिखा है: जब तक ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ बड़े-बड़े इलाके नहीं आये, तब तक व्यापार के सामान्य सिद्धान्तों के अनुसार ही वह व्यापार करती रही। भारत के बाज़ार में जैसी चीज़ों की माग थी, वैसी चीज़ें वह लाती थी। जहां ऐसी चीज़ों से भारतीय माल का विनिमय सम्भव न था, वहां इस माल के लिए वह धन देती थी जो मुख्यत: चांदी के रूप में होता था। किसी-किसी साल इंग्लैंड से भारत को छह लाख अस्सी हज़ार पाउंड कीमत की चांदी भेजी गयी। भारत में व्यापार करने वाली दूसरी कम्पनियां भी इसी तरह व्यापार करती थीं। यूरुप से हिन्दुस्तान जानेवाली चांदी बारह-तेरह लाख पाउंड सालाना से कम की न रही होगी। यूरुप की व्यापारी जातियां आपस में होड़ करती थीं और भारत को धन दे रही थीं। इससे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन

मिला। देशी हुकूमत के दोषों और लड़ाइयों के बावजूद खेतों में प्रगति हुई। इतनी चांदी बाहर जाने से यूरुप में बेचैनी थी और कुछ लोगों को ऐसा व्यापार लाभकारी प्रतीत न होता था। लेकिन व्यापार की असली जरूरतें ऐसी जबर्दस्त थी कि अटकलबाजी वाली आपत्तियों पर किसी ने ध्यान न दिया। व्यापार की सभी शाखाओं में जान फूंकने के लिए हिन्दुस्तानी माल इतना जरूरी था कि सभी जातियां उसके लिए ललचा रही थीं और आपस में होड़ कर रही थीं। इस तरह चांदी का निर्यात करते हुए अंग्रेजी कम्पनी बरसों तक फलती-फूलती रही। अंग्रेज जाति को इससे आमदनी हुई और कम्पनी के मालिकों का लाभांश ऊँचे दर्जे का रहा। लेकिन १७६५ के आस-पास कम्पनी अपने इलाकों से मालगुजारी वसूल करने लगी। इसके बाद से ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल को या हिन्दुस्तान के किसी अन्य भाग को नियमित रूप से चांदी भेजना बन्द कर दिया। यूरुप के बाजार में हिन्दुस्तानी माल भेजने के लिए अंग्रेजी शक्ति और प्रभाव का उपयोग होने लगा। यदि इसे व्यापार कहा जा सके तो यह असम्भव था कि इस अनोखे व्यापार में हिन्दुस्तान पूरी तरह तबाह न हो जाये। कई साल से बंगाल की मालगुजारी का एक हिस्सा हिन्दुस्तानी माल खरीदने के लिए अलग कर लिया जाता है। यह माल इंग्लैंड भेजा जाता है। मालगुजारी के जिस हिस्से से वह खरीदा जाता है, उसे 'इन्वेस्टमेंट' कहते हैं। कम्पनी के नौकरों की कारगुजारी की परख इस बात से होती है कि उन्होंने मालगुजारी का कितना बड़ा हिस्सा 'इन्वेस्टमेन्ट' के लिए अलग किया है। भारत की निर्धनता के बढ़ने का यह मुख्य कारण है। यहां लोग समझते हैं कि यह उस देश की समृद्धि का प्रमाण है। पूरब के कीमती माल से लदे हुए पचासों जहाज हर साल इंग्लैंड आते हैं। उन्हें देखकर लोग समझते हैं कि वह देश बहुत खुशहाल है, व्यापार के लिए अपनी पैदावार का इतना बड़ा अतिरिक्त अंश भेज देता है। हिन्दुस्तान के इस माल के लिए यहां से विनिमय में उपयुक्त सामग्री न दी जाती थी। कम्पनी के फौजी और गैरफौजी नौकर मालामाल होकर लौट रहे थे। कम्पनी के मालिकों ने सोचा कि नौकरों के साथ उन्हें भी हिस्सा मिलना चाहिए। सरकार ने भी सोचा कि विदेश में इलाका किसी ने भी हथियाया हो, उसके मुनाफे में उसका भी हिस्सा होना चाहिये। कुछ खींचतान के बाद दोनों में समझौता हो गया। मालिकों के सालाना लाभांश में करीब दो लाख पाउंड की वृद्धि हुई। चार लाख पाउंड राज्य को दिये गये। पुराने लाभांश में इस राशि के जुड़ने से हिन्दुस्तानी व्यापार और मालगुजारी से आठ लाख पाउंड सालाना की आमदनी हुई। (उप. खंड ४, पृष्ठ ३०-३२)।

(भारतीय सामन्तों से अंग्रेजों ने अपना किस तरह का सम्बन्ध कायम किया था, उसका विवरण इस प्रकार है।) कम्पनी की नीति यह होती है कि या तो वह किसी ऐसे राजा को गद्दी पर बिठाती है जो इतना दुष्ट है कि कम्पनी की मदद के बिना गद्दी पर बैठा रह ही नहीं सकता, या अपनी कठपुतली बनाकर वह उसे वैसा ही दुष्ट बना देती है, फिर उसे गद्दी पर बिठाये रखने के लिए बड़ी उदारता से फौजी मदद देती है। मदद में कमी न हो, इसका ध्यान रखने के लिए उसके

दरबार मे एक गैर-फौजी अफसर रहता है। उसे रेजिडेन्ट कहते है। फौज को बराबर तनख्वाह मिलती रहे, इस बहाने वह मालगुजारी की वसूली का काम हथियाता जाता है। उसके बन्दोबस्त मे कर्ज बढता जाता है। कर्ज अदा करने के लिए और भी मालगुजारी की वसूली उसके हाथ मे आ जाती है। धीरे-धीरे सारी मालगुजारी और सारी राज्य-शक्ति उसके हाथ मे आ जाती है। दीवानी विभाग की कमाई देखकर फौजी विभाग के लोग सोचते हैं, हम क्यों पीछे रहे ? वे जानते है कि दीवानी विभाग की नीति के कारण प्रदेश मे विद्रोह होना आम बात है और उसे दबाने के लिए फौज की जरूरत होती है। तब अपनी सेवा का पुरस्कार उन्हें क्यों न मिले ? मनमानी करने के लिए इलाके उन्हें सौंप दिये जाते हैं। तब पता यह चलता है कि उचित यह होगा कि फौज केअफसरों को मालगुजारी वसूल करने वाला तहसीलदार बना दिया जाये। इस तरह अच्छी तनख्वाह पाने वाले दीवानी विभाग और अच्छा पुरस्कार पाने वाले फौजी विभाग, इनके बीच देशी लोगों की हालत क्या होगी, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। देश की कानूनी सरकार का अधिकार हर जगह खत्म कर दिया जाता है। हिंसा और उपद्रव फैल जाते है; उन्हें दबाने के लिए और उपद्रव होते है, और हिंसा होती है। फौज के कर्नल और मेजर लोग तहसीलदार बनकर जहा भी मालगुजारी वसूल करने जाते है, चारों तरफ तबाही फैल जाती है; बगावत उनके आगे चलती है, बगावत उनके पीछे चलती है। झुड के झुड लोग इलाके से भाग चलते है। सीमा पर फौज खडी रहती है, शत्रु को रोकने के लिए नही, वहा के निवासियों को भाग जाने से रोकने के लिए। (उप. खड २, पृष्ठ २००-०१)।

(अवध में सन् ५७ की लडाई का उत्कृष्ट रूप देखने में आया, इसका एक कारण अंग्रेज़ी राज मे अवध की स्थिति है।) कम्पनी के अधीन होने से पहले अवध का राज्य संस्कृति, व्यापार और जनसंख्या की दृष्टि से समृद्ध था। वहां के शासक और रईस शान-शौकत की जिन्दगी बिता रहे थे। कम्पनी के अधीन होते ही देश और उसके राजाओं की समृद्धि मे तेजी से कमी होने लगी। अंग्रेजी प्रभाव के पहले इस राज्य की मालगुज़ारी तीस लाख पाउंड सालाना से ऊपर थी। इतनी मालगुजारी, प्रदेश को नुकसान पहुँचाये बिना, वसूल की जाती थी। १७७९ मे वह घटकर पन्द्रह लाख पाउंड रह गई। अगले सालों मे लगान की दर बढाने और रैयत को सताने के बावजूद मालगुजारी घटती चली गई। १७७९ मे अवध के दरबार में अंग्रेज रेजिडेन्ट पर्लिंग ने नवाब से माग की कि कम्पनी को तेरह लाख साठ हजार पाउंड से ऊपर रकम दी जाए। कुल मालगुज़ारी पन्द्रह लाख पाउंड थी। कम्पनी को उतनी रकम देने के बाद एक लाख चालीस हज़ार पाउंड नवाब के पास बचते थे। इस रकम से ही नवाब को अपनी सरकार चलाना था, कर्ज अदा करना था और अपने कुटुम्ब का पालन करना था। फैजाबाद की सन्धि से कम्पनी की फौजें अवध के राज्य में रखी गई थी। इनका खर्च नवाब के जिम्मे था। इसके अलावा कम्पनी की कई पलटनें और एक अस्थायी ब्रिग्रेड नवाब की सेवा के लिए था। नवाब की अधिकांश देशी फौज अंग्रेज अफसरों की कमान मे थी। उसी साल, १७७९ मे, कम्पनी के अस्थाई ब्रिगेड का खर्च अनुमानित व्यय से

अस्सी हज़ार पाउंड से ऊपर बढ़ गया। उसी अवधि में अंग्रेज़ी कमान वाली देशी फौज का खर्च चालीस हज़ार पाउंड से ऊपर बढ़ा। इस तनखाही दाने वाले खर्च के अलावा, कम्पनी के डायरेक्टरों को बताये बिना, गुप्त रूप से एक बड़ा दीवानी विभाग कायम किया गया। इसी तरह गुप्त रूप से कई पेन्शनों और भत्तों का इन्तज़ाम किया गया। यह सब खर्च नवाब की मालगुज़ारी से वसूल किया जाता था। कम्पनी के नौकरों को यदा-कदा जो भेंट दी जाती थी, वह अलग। (उप. खंड ४, पृष्ठ ४२४-२६)।

१७७६ में रेज़िडेन्ट के माध्यम से नवाब ने यह दरख़ास्त दी कि उसके राज्य में कम्पनी की फौजों का होना उसकी परेशानी का मुख्य कारण है; सन्धि के अनुसार जितनी फौज वह रखने को बाध्य नहीं है, उतनी फौज हटा ली जाए, क्योंकि इस फौज के रहने से उसकी मालगुज़ारी में भारी कमी हुई है और देश मुफ़लिस हो गया है। (उप. खंड २, पृष्ठ १९७)। (अंग्रेज़ों ने यह बात नहीं मानी और नतीजा यह हुआ कि अवध के लोग भाग-भागकर रुहेलखंड में शरण लेने लगे।) कम्पनी राज के वीराने में एक छोटा सा इलाका बचा हुआ था जो अभी फल-फूल रहा था। रुहेलखंड के सरदारों को कम्पनी ने खत्म कर दिया था। इस इलाके के राजा फ़ैज़ुल्ला खां से अंग्रेज़ों ने सन्धि कर ली थी और वह बच गया था। उसके दुश्मन भी कहते थे कि पहले कभी जो सारे रुहेलखंड की हालत थी, वह अब फ़ैज़ुल्ला खां के इलाके की थी; वह एक हरे-भरे बाग की तरह था। उसकी अमलदारी में इलाके की आबादी और मालगुज़ारी दुगनी हो गई थी। उस पर यह दोष लगाया गया कि अवध के सताये हुए किसानों को वह अपने यहां शरण देता है। पुराने ज़माने में लोग ऐसे राजा को देवता की तरह पूजते; कम्पनी सरकार ने कहा कि वह ठग है, डाकू है, दगाबाज़ है। उसे हुकुम दिया गया कि वह तुरत पांच हज़ार घुड़सवार हाज़िर करे। टालमटोल करने पर उसे सन्धि की शर्तें तोड़नेवाला कहा जायेगा और उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जायेगी। कम्पनी ने उससे तात्कालिक मांग के रूप में डेढ़ लाख पाउंड वसूल किये। उससे इकरारनामा कराया कि अवध से अंग्रेज़ों की लगान वसूली से सताये जाकर जो किसान भागकर आयेंगे, उन्हें वह शरण न देगा। यह सारा बन्दोबस्त हो जाने के बाद कम्पनी ने उसे बगावत के आरोप से बरी कर दिया। कोई आदमी बगावत करना चाहता है, ऐसा आरोप लगाना कम्पनी की आम नीति है। जहां भी कहीं धन-दौलत जमा हो, कम्पनी तुरत उसके मालिक पर बागी होने का आरोप लगाती है। जब यह दौलत कम्पनी के हाथ में आ जाती है, तब उसका मालिक बगावत के आरोप से बरी कर दिया जाता है। एक बार दौलत हाथ में आ जाए तो सारा अभियोग, मुकद्दमा, सज़ा सब कुछ खत्म हो जाता है। आमदनी का यह ऐसा पक्का ज़रिया है कि ताज्जुब है कि डायरेक्टरों के विवरण में उसका ज़िक्र नहीं है। यकीन है कि अगले संस्करण में यह कमी दूर कर दी जायेगी। (उप. खंड २, पृष्ठ २०१-०४)।

(अंग्रेज़ों ने अपना राज्य किस तरह कायम किया, इसका विस्तृत विवेचन बर्क के ग्रन्थों में है। अभिजात वर्ग के समर्थक बर्क की आलोचना का मूल तत्व

वही है जो उद्योगपति वर्ग के समर्थक ऐडम स्मिथ की आलोचना का है। ऐडम स्मिथ स्वच्छंद व्यापार के प्रबल समर्थक थे। बर्क ने एक जगह बताया है कि कम्पनी के इजारे से परेशान होकर बंगाल के नवाब कासिम अली खां ने स्वच्छंद व्यापार की घोषणा कर दी थी। उसकी प्रजा को अपने ही देश के व्यापार से अलग रखा जा रहा था। अपने राज्य में व्यापार के तबाह होने से उसकी आमदनी खत्म हो रही थी। बार-बार विरोध करने पर भी जब कोई फल न हुआ तब उसने व्यापार से हर तरह की चुंगी उठा लेने का ऐलान किया। देशी और विदेशी दोनो तरह के लोगों के लिए समान रूप से व्यापार स्वच्छन्द हो गया।) स्वच्छद व्यापार का समर्थन करते हुए बर्क ने लिखा : "इजारेदारी का अत्याचार खत्म करने के लिए इससे जोरदार, सीधासादा या न्यायपूर्ण तरीका पहले कभी न अपनाया गया था। इसके खिलाफ कोई भी कहने सुनने लायक ऐतराज न किया जा सकता था। उससे बच निकलने की बात सोचना बेकार था। इसलिए उसका मुकाबला डटकर और खुल्लमखुल्ला अन्याय द्वारा किया गया। कलकत्ते की प्रेसीडेंसी ने राजा को यह अधिकार न दिया कि अपनी ही लगाई चुंगी से प्रजा को मुक्त करके वह उसके व्यापार की रक्षा करे।" (उप. खंड ४, पृष्ठ ५६)। (नतीजा यह कि कासिम अली खां को हटाकर अंग्रेजो ने जाफर अली खां को फिर गद्दी पर बिठा दिया।)

कम से कम भारत के संदर्भ में इजारेदारी के खिलाफ एडमंड बर्क स्वच्छंद व्यापार के वैसे ही समर्थक थे जैसे अन्य सदर्भो मे उसके समर्थक ऐडम स्मिथ थे। एक बात ध्यान देने की है कि भारत से जो अंग्रेज धन कमाकर इंग्लैंड लौटते थे, वे अपना पैसा उद्योग-धन्धो मे न लगाते थे। वे वहा जाकर जमींदारिया खरीदते थे क्योंकि इज्जतदार वही समझा जाता था जिसके पास जमीदारी होती थी। भारत से जो भी पैसा गया, उसका प्रभाव इंग्लैंड के हर वर्ग पर पड़ा। वास्तव मे वहा भ्रष्टाचार फैलाने मे भारत की लूट से प्रेरणा मिली। इस संदर्भ मे बर्क ने लिखा है : जो लोग वहा पूरे राज्य के अभिजात वर्ग का नाश कर चुके है, वे यहा आकर अच्छे से अच्छे इज्जतदार लोगों से सम्मान पाते है। जिस हाथ ने भारत में करघे से कपड़ा फाड़ लिया है या बंगाल के किसान से मुट्ठीभर चावल और नमक छीना है, वह उद्योगपति और भूस्वामी से यहा आशीर्वाद पाता है। अभिजात वर्ग को लक्ष्य करके बर्क ने लिखा : वे तुम्हारे खानदान मे शादिया करते है; वे तुम्हारी सीनेट में प्रवेश पाते है; रकमे उधार देकर तुम्हारी रियासतें हथियाते है; इस राज्य मे कोई भी ऐसा घर न होगा जो इस सबसे अछूता रहा हो। इस कारण पूरब में अपनी सरकार को सुधारने के काम से घृणा हो जाती है, ऐसे काम के लिए उत्साह नही होता। (उप. खण्ड २, पृ. १६६)

## ८. इजारेदार व्यापारी, अंग्रेजी राज और विलियम डिगबी

क्लाइव नाम का अंग्रेज १७५७ में बंगाल की पुरानी राजधानी मुर्शिदाबाद गया। शहर देखकर उसने लिखा, "यह शहर लन्दन के शहर समान घना है, घनी आबादी वाला है और बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है। फर्क यह है कि लन्दन की तुलना में यहां ऐसे

लोग है जिनके पास कही ज्यादा सम्पत्ति है।" (विलियम डिगबी लिखित प्रोसपेरस ब्रिटिश इंडिया, १९०१, मे उद्धृत, पृष्ठ १०४)। ऐसे शहरों की सम्पत्ति लूटनेवालों मे क्लाइव का नाम सबसे ऊपर है। इग्लैंड की सरकार ने उसकी लूटमार का सम्मान करने के लिए लार्ड की उपाधि देकर उसे अभिजात वर्ग मे शामिल किया। १७५७ मे पलासी का युद्ध हुआ। यह वर्ष भारत और इंग्लैंड दोनों के इतिहास के लिए महत्वपूर्ण है; १७५७ से भारतीय विकास अवरुद्ध होता है, उसका अगला इतिहास पीछे लौटने का इतिहास है। इंग्लैंड का अगला इतिहास आगे बढ़ने का इतिहास है, इंग्लैंड का औद्योगिक इतिहास १७५७ के बाद शुरू होता है। जिस अंग्रेज़ ने ह्रास और विकास के भेद पर ध्यान दिया था, उसका नाम विलियम डिगबी है। डिगबी इंग्लैंड के मज़दूर नेताओ की तरह क्रान्तिकारी नही थे। मज़दूर नेता १८५७ के भारतीय विप्लव का समर्थन कर रहे थे, डिगबी का मत था कि यह विप्लव कुछ सिपाहियो की बगावत थी और अंग्रेजों ने उनके साथ जो सलूक किया, वह उचित था। उनकी धारणा यह भी थी कि भारत में अंग्रेज़ी राज के खिलाफ जनता ने न तो विद्रोह किया है, न आगे कभी करेगी। वह भारत और इग्लैंड का सम्बन्ध बनाये रखना चाहते थे। वह उदारपंथी पूजीवादी दृष्टिकोण से अंग्रेज़ी राज की आलोचना करते थे। उन्होंने अपनी पुस्तक लिखने मे बडी मेहनत की थी, पुस्तक मे दिये हुए तथ्य और आंकडे अधिकतर सरकारी प्रकाशनों से एकत्र किये थे। इसलिए उनकी पुस्तक पूंजीवादियों के लिए भी विश्वसनीय होनी चाहिए। उनका उद्देश्य भारत के प्रति जो अन्याय हो रहा था, उसका सही विवरण पेश करके सोती हुई ब्रिटिश जनता को जगाना था।

इग्लैंड और भारत के आर्थिक विकास पर ब्रुक्स ऐडम्स नाम के विद्वान् ने एक पुस्तक लिखी थी। डिगबी ने उसमे लम्बा उद्धरण दिया है जिसमे बताया गया है, "पलासी की लडाई १७५७ मे हुई, और इसके बाद जिस तेजी से परिवर्तन हुआ, उस तेजी से परिवर्तन और जगह शायद कभी हुआ ही नही।" (पृष्ठ ३१)। पलासी की लड़ाई के बाद बंगाल की लूट का धन लन्दन पहुंचने लगा और १७६० से वह औद्योगिक विकास शुरू हुआ जिसे औद्योगिक क्रान्ति की सज्ञा दी जाती है। १७६० से पहले एक विशेषज्ञ के अनुसार लंकाशायर मे सूत कातने के लिए जो यन्त्र काम में लाये जाते थे, वे लगभग वैसे ही सादे थे जैसे भारत के। कारखानो मे काम करने का चलन औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुआ, इन कारखानो मे बडे-बडे श्रमिक समुदायो ने काम करना शुरू किया किन्तु इससे पहले औद्योगिक काम बिखरे हुए व्यक्ति करते थे और ये लोग दस्तकारी और खेती, दोनो तरह का काम करते थे। (पृष्ठ ३२)।

दस्तकारी और खेती का यह गठबंधन बहुत महत्वपूर्ण है। अंग्रेज़ी समाज मे अभी श्रम-विभाजन इस सीमा तक न हुआ था कि कारीगर और किसान के पेशे अलग-अलग होते। जो आदमी किसान था, वही कारीगर भी था। जिस देश मे वर्ष का अधिक भाग ठंढ के कारण खेती करने लायक न हो, उसमे यह स्वाभाविक है कि फालतू समय मे किसान कारीगर का काम भी करे। इसके विपरीत भारत के मैदानों मे वर्ष का अधिक भाग खेतो में काम करने लायक होता था, इसलिए

यहां खेती और कारीगरी के पेशे उत्तर वैदिक काल में अलग हो गये थे। पूंजीवाद ने भारत में खेती और कारीगरी का गठबंधन तोड़ा हो चाहे न तो[illegible] स्वयं इंग्लैंड में यह गठबंधन तभी टूटा जब पलासी की लड़ाई के बाद यहां [illegible] का धन लन्दन पहुँचने लगा।

बैंक आफ इंग्लैंड की स्थापना के साठ साल बाद तक उसका सबसे छोटा [illegible] बीस पाउंड का होता था। इसका अर्थ यह है कि इस छोटे नोट की भी धनरा[illegible] इतनी बड़ी थी कि द्रव्य का संचरण बहुत ही सीमित था। बंगाल से भारी मा[illegible] में चांदी पहुँचने पर धनराशि में ही बढ़ती न हुई वरन् उसका संचरण भी तेज़ी [illegible] बढ़ा। पलासी की लड़ाई के दो साल बाद इस बैंक ने दस और पन्द्रह पाउंड [illegible] नये नोट जारी किये और इस तरह द्रव्य के संचरण में बड़ी सुविधा हुई। औद्योगि[illegible] पूंजीवाद के युग में इंग्लैंड विश्वबाज़ार में अपना इजारा और भी मज़बूत करने [illegible] सफल हुआ। इसमें अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों से सहायता मिली। इटली के हाथ से एशियाई देशों का व्यापार निकल गया था। अपनी समृद्धि के युग में इटली यूरप के सांस्कृतिक नवजागरण का केंद्र रह चुका था। नये समुद्री मार्गों से व्यापार की सुविधा मिलने पर अन्य देश उससे आगे निकल गये थे। स्पेन का साम्राज्य अब ह्रास की दशा में था। अमरीका से बहुत सा सोना-चांदी ढो लाने के बाद भी स्पेन औद्योगिक क्रान्ति करने में सफल न हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि यहां का पुराना सामन्ती ढांचा अब भी काफी मज़बूत था। इंग्लैंड ने फ्रांस को सप्तवर्षी लड़ाई के बाद पराजित किया। जर्मनी के पास समुद्र-तटवर्ती सीमा का अभाव था, जल-मार्गों वाले व्यापार में वह प्रतिद्वन्द्वी न बन सका। हालैंड के पास खनिज पदार्थ नहीं थे। इंग्लैंड के पास लोहे और कोयले की खानें थीं। इसके अलावा अमरीकी उपनिवेशों और भारत का बाज़ार उसके पास था। इस प्रकार इंग्लैंड को अपने उद्योग-धन्धों के विकास और प्रसार की अभूतपूर्व सुविधा प्राप्त हुई।

१८०० तक भारत का माल इंग्लैंड में बिकता था, इसके बाद बहुत तेज़ी से इंग्लैंड में ऐसे माल की बिक्री में कमी हुई। उसके बदले इंग्लैंड का बना हुआ माल भारत में बिकने लगा। भारत में अंग्रेज़ी माल की बिक्री बराबर की होड़ या स्वच्छन्द व्यापार की परिस्थितियों में न हो रही थी। इंग्लैंड की सरकार भारतीय माल पर भारी चुंगी लगाती थी, पर [illegible] जो माल भारत में बिकने आता था, उस पर चुंगी बिलकुल न थी या नाममात्र को थी। इस तरह राज-सत्ता का उपयोग करके, राजनीतिक उपायों द्वारा, गैर-आर्थिक तरीकों से, अंग्रेज़ों ने भारत के उद्योग-धन्धों को नष्ट किया। भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज था और इंग्लैंड में राज-सत्ता उद्योगपतियों के हाथ में न थी। [illegible] उद्योगपति अब प्रमुख शक्ति बन गये थे। [illegible] पूंजीवाद का दूसरा दौर शुरू होता है [illegible] १८१३ से लेकर १८३३ [illegible] उद्योगपति प्रधान होते हैं। [illegible] और [illegible] के [illegible] का बना हुआ माल [illegible] खरीदे।

खरीदे।" (पृष्ठ ८६)। आगे चलकर इंग्लैंड में आने वाले भारतीय माल से भारी चुंगी हटा दी गयी किन्तु यह तब हुआ जब भारत के उद्योग-धन्धे तबाह हो चुके थे। अंग्रेज़ों की व्यापारनीति का लाजमी नतीजा यह हुआ कि व्यापार की बड़ी-बड़ी मंडियां उजड़ गयी। उद्योग-धन्धों और व्यापार के विकास के साथ शहरों की आबादी बढ़ती है, देहात के लोग शहरों में आकर बस जाते हैं, नागरिक सभ्यता का विकास होता है। अंग्रेजी राज में यहां शहरों का देहातीकरण आरम्भ हुआ। १८०० के आसपास ढाका से एक करोड़ रुपये का निर्यात-व्यापार होता था। १७८७ में यह घटकर तीस लाख का रह गया और १८१७ में वह पूरी तरह बन्द हो गया। १८०० के आस-पास ढाका की आबादी दो लाख थी, १८६० में उसकी आबादी ७९००० रह गयी थी। (पृष्ठ ६३४)। जो परिवार पहले समृद्ध थे, वे मुफ़लिस हो गये; जिन्हें अपनी जीविका के साधन शहर में उपलब्ध थे, उन्हें रोटी-रोजी की तलाश में देहात जाना पड़ा।

अपना माल भारत में बेचने के लिए अंग्रेज़ों ने अपनी जहाजरानी को प्रोत्साहन दिया, भारत की जहाजरानी उन्होंने तबाह की। भारत में बने हुए जहाज अंग्रेजी जहाज़ों के साथ-साथ इंग्लैंड तक पहुंचते थे। बम्बई के देशी जहाज़ों की लकड़ी अंग्रेजी जहाजों की लकड़ी से श्रेष्ठ मानी गयी थी। इंग्लैंड के जंगी बेड़े के हर जहाज़ का नवीकरण बारह साल में होता था। बम्बई में बने जहाज चौदह-पन्द्रह साल इस्तेमाल किये जाने के बाद भी पहले जैसे ही मजबूत समझे गये और इसलिए जंगी बेड़े में शामिल किये गये। इग्लैंड की तुलना में केरल और गुजरात के जंगलों में लकड़ी बहुत थी, खुद अंग्रेज अपनी पूंजी लगाकर यहां जहाज बनाते तो खर्च कम पड़ता। किन्तु इग्लैंड के जहाज़ बनाने वाले इसके लिए तैयार नहीं थे। इग्लैंड के उद्योगपतियों का बस चलता तो वे हिन्दुस्तानी माल ढोने के लिए इंग्लैंड की रेलों का व्यवहार करते। पर यह सम्भव न था। मजबूरी में उन्हें यहां कुछ रेलगाड़ियाँ चलानी पड़ीं। इनकी चर्चा आगे करेंगे। यहां जहाज़ों के सिलसिले में यह बात याद कर लें कि ऐडम स्मिथ ने इस बात का जिक्र किया था कि भारत के लोग समुद्र यात्रा पसन्द नहीं करते। यह बात कुछ रुढ़िवादियों पर ही लागू होती थी। अंग्रेज़ों ने जहाज़ बनाने के भारतीय धन्धों का नाश तो किया ही, उनका यह प्रयत्न भी था कि हिन्दुस्तान के मल्लाह भी जहाज़ों में काम न करें। १८०१ में इसके लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से जो कारण बताये गये थे, वे दिलचस्प है। *हिन्दुस्तानी मल्लाह इंग्लैंड आते है तो यहां लोग उनका माल-मता* छीन लेते हैं। वे सड़कों पर मुफ़लिस बने हुए घूमते है। कम्पनी उन्हें कुछ घरों में रख देती है पर वे वहां से भाग खड़े होते हैं। ठंड या भूख के कारण उनमें बहुत से मर जाते है। लौटने पर यहां के बारे में वे नफ़रत के साथ लोगों से बातें करते हैं। हमारी एशियायी प्रजा पर ऐसी बातों का प्रतिकूल प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। हमारे चरित्र के लिए उसके मन में जो आदरभाव है, उसके बल पर हम पूरब में अभी तक अपना प्रभुत्व कायम किये है। एक हद तक इस आदरभाव का कारण यह है कि भारत में जो हमारा अपेक्षाकृत छोटा समाज है, और ज्यादातर भद्रजनों का है, उसे लोग दूर से देखते है। यह आदरभाव बदल जायेगा और

पराधीन देश में दस्तकारी वाले उद्योग-धन्धे भी उद्योगपतियों की होड़ का मुकाबला करने के लिए काफी है। कारखानों में मशीनों से माल बनाने वाला उद्योगपति अपने यहां पराधीन देश से आनेवाली दस्तकारी की चीजों से होड़ करने में कठिनाई अनुभव करता है, पराधीन देश में जाकर वहां की दस्तकारी से मुकाबले की होड़ में डटे रहना उसके लिए सम्भव नहीं है। भारत के बाजार को अपने माल का गोदाम और कारखानों में बने माल की बिक्री का क्षेत्र बनाने के लिए जरूरी था कि अंग्रेज यहां के उद्योग-धन्धे बरबाद करें। यदि यहां कारखानों में मशीनें चलती होतीं तो वे उन्हें भी बरबाद करते। करघों और चरखों से काम होता था; कमजोर समझकर वे उन्हें छोड़ न सकते थे। उन्हें खेतिहर देश चाहिये, खनिज सम्पदा वाला देश चाहिए, उद्योग-धन्धों वाला देश न चाहिये। अंग्रेज यहां पुराने उद्योग-धन्धों का नाश करके, फिर नये उद्योग-धन्धे स्थापित करते, ऐसे मूर्ख वे नहीं थे। करघे और चरखे से होड़ न कर के वे मशीनों से होड़ करने दौड़ते, ऐसे वीर वे न थे। राज्य-सत्ता का उपयोग करके उन्होंने भारतीय उद्योग-धन्धों का नाश ही इसलिए किया था कि यहां उनके माल की बिक्री में कोई बाधा न हो।

डिग्बी ने लिखा है कि जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के आज्ञा-पत्र का नवीकरण होना था, तब कम्पनी की ओर से एक प्रश्न भारत से आने वाले अंग्रेजों से बराबर किया जाता था और वह यह था कि भारत के लोग इंग्लैंड में बना हुआ माल कहां तक खरीद सकते हैं। टामस मनरो से १८१३ में ऐसा ही प्रश्न किया गया था: यदि स्वच्छन्द व्यापार हो तो क्या तुम समझते हो कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजी माल की मांग में कोई खास बढ़ती होगी? मनरो ने कहा, मैं नहीं समझता कि ऐसी मांग में कोई खास बढ़ती होगी। मनरो ने इसके कारण बताये। भारत के लोगों का रहन-सहन दूसरे ढंग का है, हमारी चीजें महंगी पड़ती हैं। जलवायु, आचार-विचार से भी बढ़कर, एक कारण यह है कि "उनका खुद का माल ऊंचे दर्जे का होता है।" मद्रास तथा कुछ अन्य जगहों में कुछ ऐसे लोग हैं जो यूरोपियन ढंग से अपने कमरे सजाते हैं पर वे ऐसा यूरोपियन मेहमानों के सत्कार के लिए करते हैं। आमतौर से हिन्दू के घर में मेज नहीं होती, वह जमीन पर बैठकर खा लेता है, चटाई या दरी बिछाकर आराम कर लेता है। उसका भोजन सादा होता है और वह उसे अपने देश में मिल जाता है। "उसके कपड़े उसके अपने देश के बने होते हैं। ये हम उसे दे नहीं सकते। जब तक उसे अपने देश में वे ज्यादा अच्छे ही नहीं वरन् ज्यादा सस्ते भी मिल जाते हैं, तब तक यह असम्भव है कि हम बाजार में उससे होड़ कर सकें।" (पृष्ठ २४५)

टामस मनरो आगे चलकर मद्रास के गवर्नर नियुक्त किये गये थे। अन्य
ग्रेज अफसरों की तुलना में उन्हें भारत के सामाजिक जीवन की जानकारी ज्यादा
ी। १८१३ में भारत में बना हुआ कपड़ा ज्यादा अच्छा ही नहीं था, अंग्रेजी
लों के कपड़े से ज्यादा सस्ता भी था, यह बात खूब ध्यान देने योग्य है। इसलिए
रो ने बिलकुल स्पष्ट कर दिया था कि खुली होड़ में अंग्रेज अपना माल भारत
बेच पायेंगे। डिग्बी कहते हैं "हमने भारत को मजबूर किया कि वह हमारा
कोई भी आयात कर लगाये बिना अथवा नाममात्र को ऐसा कर लगाकर

खरीदे।" (पृष्ठ ८६)। आगे चलकर इंग्लैंड में आनेवाले भारतीय माल से भारी चुंगी हटा दी गयी किन्तु यह तब हुआ जब भारत के उद्योग-धन्धे तबाह हो चुके थे। अंग्रेज़ों की व्यापारनीति का लाजमी नतीजा यह हुआ कि व्यापार की बड़ी-बड़ी मंडियां उजड़ गयीं। उद्योग-धन्धों और व्यापार के विकास के साथ शहरों की आबादी बढ़ती है, देहात के लोग शहरों मे आकर बस जाते हैं, नागरिक सभ्यता का विकास होता है। अंग्रेजी राज मे यहां शहरों का देहातीकरण आरम्भ हुआ। १८०० के आसपास ढाका से एक करोड़ रुपये का निर्यात-व्यापार होता था। १७८७ में यह घटकर तीस लाख का रह गया और १८१७ मे वह पूरी तरह बन्द हो गया। १८०० के आस-पास ढाका की आबादी दो लाख थी, १८६० मे उसकी आबादी ७६००० रह गयी थी। (पृष्ठ ६३४)। जो परिवार पहले समृद्ध थे, वे मुफलिस हो गये; जिन्हें अपनी जीविका के साधन शहर मे उपलब्ध थे, उन्हें रोटी-रोजी की तलाश मे देहात जाना पड़ा।

अपना माल भारत मे बेचने के लिए अंग्रेज़ों ने अपनी जहाजरानी को प्रोत्साहन दिया, भारत की जहाजरानी उन्होंने तबाह की। भारत मे बने हुए जहाज अंग्रेज़ी जहाज़ों के साथ-साथ इंग्लैंड तक पहुचते थे। बम्बई के देशी जहाजों की लकड़ी अंग्रेज़ी जहाज़ों की लकड़ी से श्रेष्ठ मानी गयी थी। इंग्लैंड के जंगी बेड़े के हर जहाज का नवीकरण बारह साल मे होता था। बम्बई मे बने जहाज चौदह-पन्द्रह साल इस्तेमाल किये जाने के बाद भी पहले जैसे ही मजबूत समझे गये और इसलिए जंगी बेड़े में शामिल किये गये। इंग्लैंड की तुलना मे केरल और गुजरात के जंगलों मे लकड़ी बहुत थी, खुद अंग्रेज अपनी पूजी लगाकर यहां जहाज बनाते तो खर्च कम पड़ता। किन्तु इंग्लैंड के जहाज बनाने वाले इसके लिए तैयार नही थे। इंग्लैंड के उद्योगपतियों का बस चलता तो वे हिन्दुस्तानी माल ढोने के लिए इंग्लैंड की रेलों का व्यवहार करते। पर यह सम्भव न था। मजबूरी मे उन्हें यहां कुछ रेलगाड़ियां चलानी पड़ी। इनकी चर्चा आगे करेंगे। यहां जहाज़ों के सिलसिले मे यह बात याद कर लें कि ऐडम स्मिथ ने इस बात का जिक्र किया था कि भारत के लोग समुद्र यात्रा पसन्द नही करते। यह बात कुछ रूढ़िवादियों पर ही लागू होती थी। अंग्रेज़ों ने जहाज बनाने के भारतीय धन्धों का नाश तो किया ही, उनका यह प्रयत्न भी था कि हिन्दुस्तान के मल्लाह भी जहाज़ों मे काम न करें। १८०१ मे इसके लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से जो कारण बताये गये थे, वे दिलचस्प है। हिन्दुस्तानी मल्लाह इंग्लैंड आते है तो यहां लोग उनका माल-मता छीन लेते हैं। वे सड़कों पर मुफलिस बने हुए घूमते हैं। कम्पनी उन्हें कुछ घरों मे रख देती है पर वे वहां से भाग खड़े होते हैं। ठंड या भूख के कारण उनमें बहुत से मर जाते हैं। लौटने पर यहां के बारे में वे नफरत के साथ लोगों से बातें करते हैं। हमारी एशियायी प्रजा पर ऐसी बातों का प्रतिकूल प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। हमारे चरित्र के लिए उनके मन में जो आदरभाव है, उसके बल पर हम पूरब मे अभी तक अपना प्रभुत्व कायम किये हैं। एक हद तक इस आदरभाव का कारण यह है कि भारत में जो हमारा अपेक्षाकृत छोटा समाज है, और ज्यादातर भद्रजनों का है, उसे लोग दूर से देखते हैं। यह आदरभाव बदल जायेगा और

में है।

१८१५ में वाटरलू की प्रसिद्ध लड़ाई हुई और इसमे नैपोलियन पराजित हुआ। पलासी से वाटरलू तक भारत की लूट जारी रही और डिगबी का अनुमान है कि इस बीच एक अरब पाउंड की रकम भारत से निकलकर अंग्रेजी बैंको मे पहुँची। इससे महाजनी कारोबार मे जो अभूतपूर्व उन्नति हुई, उसकी कल्पना की जा सकती है। इंग्लैंड में उद्योग-धन्धो की उन्नति इस पर भी निर्भर थी कि भारत में लोगों के पास अंग्रेजी माल खरीदने लायक पैसा हो। पर अंग्रेज भारत को इस तरह लूट रहे थे कि लोगों के पास अन्न के लिए पैसा न था, विलायती माल खरीदना तो दूर की बात थी। १८१३ में रिकार्ड्स नाम के अंग्रेज ने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था कि भारत मे यूरोपियन चीजों के प्रति शत्रुभाव नही है पर हमारी अर्थनीति के कारण लोग इतने गरीब हो गये है कि वे उन्हें खरीद नही सकते। १८५३ मे सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने भारतीय व्यापार के सम्बन्ध में कहा था कि भारत से बहुत बड़ा व्यापार हो सकता है, शर्त यह है कि वहा के लोगों के पास हमारा माल खरीदने के लिए पर्याप्त साधन हों, भले ही वे उतना माल न खरीद सकें जितना हमारे अधिकांश उपनिवेश खरीदते है। (पृष्ठ २६५)। आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि उपनिवेश थे, वहा अंग्रेज जाकर बस गये थे। इनकी हालत भारत जैसे पराधीन देश से भिन्न थी। दोनों ही तरह के देश विश्वबाज़ार के अन्तर्गत थे। किन्तु उपनिवेशों में अंग्रेजी माल की खपत ज्यादा थी। भारत में गरीबी और भुखमरी के कारण बहुत ज्यादा विलायती माल न बिक सकता था। भारत में अंग्रेज़ी भाषा और शिक्षा के समर्थक लार्ड मैकाले ने उद्योगपतियो के दूरगामी हितों को ध्यान में रखते हुए लिखा था, "विशुद्ध स्वार्थ की दृष्टि से विचार करें तो पता चलेगा कि पराधीनता और कुशासन मे रहने के बदले भारत के लोग स्वाधीन और सुशासित हों तो यह हमारे लिए बहुत अच्छा होगा। उनके ऊपर उनके ही राजाओं का शासन हो लेकिन वे हमारे बनाये हुए कपड़े पहनें, हमारे बनाये कांटे-चम्मच इस्तेमाल करें। वे अंग्रेज कलेक्टरों और मेजिस्ट्रेटों को सलाम करते रहे लेकिन इतने मूढ हों कि अंग्रेजी माल की कद्र न जानें या इतने गरीब हों कि उसे खरीद न सकें, इस हालत से वह हालत अच्छी है। सभ्य आदमियो से व्यापार करना असभ्य लोगो पर शासन करने से कही ज्यादा लाभकारी है। यह कोई बुद्धिमानी की बात नही है कि भारत को व्यर्थ ही पराधीन बनाये रहे; वहा के दस करोड़ आदमी हमारे गाहक बन सकते है। गाहक बनाने के बदले हम उन्हें अपना गुलाम बनाये रहें, यह महँगा सौदा है।" (पृष्ठ ६२)। पता नहीं, ब्रिटिश पार्लियामेंट मे भारतीय स्वाधीनता का बिल पेश करने वाले लार्ड ऐटली को लार्ड मैकाले की सलाह याद थी या नही, पर अंग्रेजों का आचरण उसी सलाह के अनुरूप था। फर्क इतना है कि अंग्रेजी माल बेचने के अलावा महाजनी पूंजीवाद के युग में अंग्रेजों ने यहां अपनी पूंजी भी लगाई।

जिस बाज़ार मे गरीबों और मुफलिसों की भरमार हो, उसमे व्यवसायी अपना माल बेचकर बहुत बडा मुनाफा नही कमा सकते। डिगबी ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि भारत मे जो अंग्रेजी माल आता है, उसके गाहक या तो

उसकी जगह बहुत घटिया किस्म की भावना पैदा हो जायेगी यदि लोगों के मन में इस जानकारी से क्रोध पैदा हुआ कि वे अभी तक हमारी जरूरत से ज्यादा इज्जत करते आये थे या हमारा मूल्य उन्होंने बहुत बढ़ा-चढ़ाकर आंका था; इसका नतीजा बहुत ही विनाशकारी हो सकता है।" (पृष्ठ १०२-१०३)।

अंग्रेज जब भारत आते थे तब अपना असली चेहरा वहीं इंग्लैंड में रख आते थे। उन्हें इस बात की बड़ी फिक्र थी कि हिन्दुस्तान के लोग उनका असली चेहरा न देख लें। एशिया के काले-पीले लोग हर तरह से पिछड़े हुए हैं, यूरुप के गोरे उन पर हुकूमत करने के लिए पैदा हुए हैं। इन गोरों में भी सबसे ऊंची जगह अंग्रेज बहादुर की है। अपने नकली चेहरे के बल पर उन्होंने गोरी नस्ल की श्रेष्ठता की अफवाह फैला रखी थी। उनकी असलियत का पता चल जाता तो नकली चेहरे का रोब भी हवा हो जाता। फिर हुकूमत कायम रखने में उनके सामने मुश्किलें आ सकती थी। इंग्लैंड में रखा हुआ असली चेहरा अंग्रेजी पढ़े भारतीय बुद्धिजीवी देख लें तो इससे बहुत ज्यादा नुकसान होने वाला नहीं था। उन्हें विश्वास था कि ऐसे लोगों का भविष्य अंग्रेजी राज के साथ जुड़ा हुआ है और वे उसका साथ न छोड़ेंगे। उन्हें सबसे ज्यादा डर खलासियों और मल्लाहों जैसे अपढ़ लोगों से था। इनका भविष्य अंग्रेजी राज के साथ जुड़ा हुआ न था। वे देश लौटकर अंग्रेज मालिकों का कच्चा चिट्ठा अपने भाइयों को सुना सकते थे। अंग्रेजों को सबसे ज्यादा डर आम जनता से था, इसीलिए ईस्ट इंडिया कम्पनी के मालिक यह न चाहते थे कि हिन्दुस्तानी मल्लाह उनके देश पहुँचे।

जिस समय भारत का माल लादे हुए भारत के बने जहाज लन्दन पहुंचे समय का वर्णन इतिहासकार टेलर ने इस प्रकार किया है, "लन्दन के बंदरग भारत के बने जहाज पहुँचे। उन पर भारत का माल लदा हुआ था। यदि नदी में दुश्मन का बेड़ा पहुँच जाता, तो उससे भी ऐसी हलचल पैदा न होती कि इजारेदारों में इन जहाजों के पहुँचने से हुई। लन्दन के जहाज बनाने वालो सबसे पहले विरोध में हल्ला मचाया। उन्होंने ऐलान किया कि उनका धन्धा चौ ही होने वाला है और अंग्रेजी जहाज बनाने वाले मजदूरों के भूखे मरने की नौब आने वाली है"। (डिगबी, पृष्ठ ७९)। जो उद्योगपति भारत में अपना मा ेचना चाहते थे, वे स्वच्छन्द व्यापार के हामी थे। इसी स्वच्छन्द व्यापार के नाम र उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी की इजारेदारी का विरोध किया था। उनका वच्छन्दता-प्रेम केवल ईस्ट इंडिया कम्पनी के संदर्भ में उभरता था; जहां तक रत का सम्बन्ध है, उन्हें न भारत का माल पसन्द था, न माल ढोने वाले भारत जहाज पसंद थे। डिगबी ने इंग्लैंड को पाश्चात्य संसार में समुद्र की साम्राज्ञी है और भारत को पूरब में समुद्र की साम्राज्ञी कहा है। आजकल बहुत से लोगों यह सब भारत के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण लगेगा। किन्तु १८५७ तक भारतीय रानी पूरी तरह खत्म न हुई थी। १८५१ में ३४,२८६ भारतीय जहाज पहुँचे; उसी साल ब्रिटिश और ब्रिटिश इंडियन जहाजों की संख्या ५६,४४१ (पृष्ठ ८८)। धीरे-धीरे यह अनुपात भी बदल गया। १८५७ से सौ साल पलासी के युद्ध के समय, जो स्थिति थी, उसी की झलक टेलर के विवरण

में है।

१८१५ में वाटरलू की प्रसिद्ध लड़ाई हुई और इसमें नैपोलियन पराजित हुआ। पलासी से वाटरलू तक भारत की लूट जारी रही और डिगवी का अनुमान है कि इस बीच एक अरब पाउंड की रकम भारत से निकलकर अंग्रेजी बैंकों में पहुँची। इससे महाजनी कारोबार में जो अभूतपूर्व उन्नति हुई, उसकी कल्पना की जा सकती है। इंग्लैंड में उद्योग-धन्धों की उन्नति इस पर भी निर्भर थी कि भारत में लोगों के पास अंग्रेजी माल खरीदने लायक पैसा हो। पर अंग्रेज भारत को इस तरह लूट रहे थे कि लोगों के पास अन्न के लिए पैसा न था, विलायती माल खरीदना तो दूर की बात थी। १८१३ में रिकार्ड्स नाम के अंग्रेज ने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था कि भारत में यूरोपियन चीजों के प्रति शत्रुभाव नहीं है पर हमारी अर्थनीति के कारण लोग इतने गरीब हो गये हैं कि वे उन्हें खरीद नहीं सकते। १८५३ में सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने भारतीय व्यापार के सम्बन्ध में कहा था कि भारत से बहुत बड़ा व्यापार हो सकता है, शर्त यह है कि वहां के लोगों के पास हमारा माल खरीदने के लिए पर्याप्त साधन हों, भले ही वे उतना माल न खरीद सकें जितना हमारे अधिकांश उपनिवेश खरीदते हैं। (पृष्ठ २६५)। आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि उपनिवेश थे, वहां अंग्रेज जाकर बस गये थे। इनकी हालत भारत जैसे पराधीन देश से भिन्न थी। दोनों ही तरह के देश विश्वबाजार के अन्तर्गत थे। किन्तु उपनिवेशों में अंग्रेजी माल की खपत ज्यादा थी। भारत में गरीबी और भुखमरी के कारण बहुत ज्यादा विलायती माल न बिक सकता था। भारत में अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के समर्थक लार्ड मैकाले ने उद्योगपतियों के दूरगामी हितों को ध्यान में रखते हुए लिखा था, "विशुद्ध स्वार्थ की दृष्टि से विचार करें तो पता चलेगा कि पराधीनता और कुशासन में रहने के बदले भारत के लोग स्वाधीन और सुशासित हों तो यह हमारे लिए बहुत अच्छा होगा। उनके ऊपर उनके ही राजाओं का शासन हो लेकिन वे हमारे बनाये हुए कपड़े पहनें, हमारे बनाये काटे-चम्मच इस्तेमाल करें। वे अंग्रेज कलेक्टरों और मेजिस्ट्रेटों को सलाम करते रहें लेकिन इतने मूढ़ हों कि अंग्रेजी माल की कद्र न जानें या इतने गरीब हों कि उसे खरीद न सकें, इस हालत से वह हालत अच्छी है। सभ्य आदमियों से व्यापार करना असभ्य लोगों पर शासन करने से कहीं ज्यादा लाभकारी है। यह कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है कि भारत को व्यर्थ ही पराधीन बनाये रहें; वहां के दस करोड़ आदमी हमारे गाहक बन सकते हैं। गाहक बनाने के बदले हम उन्हें अपना गुलाम बनाये रहें, यह महँगा सौदा है।" (पृष्ठ ६२)। पता नहीं, ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारतीय स्वाधीनता का बिल पेश करने वाले लार्ड ऐटली को लार्ड मैकाले की सलाह याद थी या नहीं, पर अंग्रेजों का आचरण उसी सलाह के अनुरूप था। फर्क इतना है कि अंग्रेजी माल बेचने के अलावा महाजनी पूंजीवाद के युग में अंग्रेजों ने यहां अपनी पूंजी भी लगाई।

जिस बाजार में गरीबों और मुफलिसों की भरमार हो, उसमें व्यवसायी अपना माल बेचकर बहुत बड़ा मुनाफा नहीं कमा सकते। डिगवी ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि भारत में जो अंग्रेजी माल आता है, उसके गाहक या तो

अंग्रेज़ है या वे हिन्दुस्तानी हैं जिनका रहन-सहन अंग्रेजों जैसा है। बहुत थोड़े ऐसे लोग थे जो भारतीय माल की तुलना में अंग्रेज़ी माल के सस्ता होने के कारण उसे खरीदते थे। अंग्रेजी राज एक बहुत बड़ी जमींदारी की तरह था। इस राज से जो लोग सम्बद्ध थे, उनकी आमदनी का मुख्य स्रोत यहां की खेती थी। खेती भारतवासी करते थे, उनकी मेहनत का फल अंग्रेज़ी राज के हाकिमों को मिलता था। १८३१ में जेम्स मिल के अनुसार हिन्दुस्तान में अंग्रेजों की ६० फीसदी मालगुजारी का स्रोत जमीन का लगान था, यह लगान व्यक्तियों को न मिलता था बल्कि "हमेशा सरकार की सम्पत्ति समझा जाता था।" (पृष्ठ २६२)। जेम्स मिल को इस स्थिति से बड़ा सन्तोष था; उनके विचार से राज्य-सत्ता की सारी जरूरतें टैक्स लगाये बिना इस मालगुजारी से पूरी हो जाती थीं। जेम्स मिल के समय में अंग्रेज़ों ने अपना राज चलाने के लिए टैक्स न लगाया हो, ऐसा नहीं है। मिल की बात में सच्चाई यह है कि अंग्रेज़ी राज की आमदनी का मुख्य ज़रिया लगान था जो किसान से वसूल किया जाता था। कानून की निगाह में जमीन का बन्दोबस्त किसी भी तरह का हो, चाहे रैयतवारी व्यवस्था हो चाहे किसी किस्म की जमींदारी हो, खेती की उपज का बड़ा हिस्सा अंग्रेज़ के पास पहुँच जाता था। इसी अर्थ में अंग्रेज़ भारत का सबसे बड़ा जमींदार था। जमीन के लगान को आय का मुख्य साधन बनाना उद्योगपतियों का काम नहीं है। औद्योगिक पूंजीवाद के युग में, और उसके बाद महाजनी पूंजीवाद के युग में, जब तक बन पड़ा, अंग्रेज़ ने अपनी जमींदार वाली भूमिका निबाही।

हेबर नाम के पादरी ने १८२६ में लिखा था कि कुल उपज का आधा हिस्सा सरकार ले लेती है। हेबर ने यह भी बताया कि अंग्रेज़ जितना ज्यादा लगान वसूल करता है, उतना देशी राजा नहीं वसूल करता। इसका नतीजा यह था कि देशी रियासतों में जितनी गरीबी थी, उससे कहीं ज्यादा गरीबी कम्पनी के सूबों में थी और यह गरीबी बराबर बढ़ रही थी। (पृष्ठ ५०)। रिकार्ड्स नामक जिन सज्जन का उल्लेख पहले हो चुका है, उन्हें भारत की स्थिति की प्रत्यक्ष जानकारी थी। उन्होंने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था, "मुझे व्यक्तिगत जानकारी है कि कई जगह जो मालगुज़ारी तय की गई, वह हकीकत में कुल उपज से ज्यादा थी। मुझे इस बात का भी ज्ञान है कि भारत में कई जगह मालगुज़ारी तय करते समय यह भी बताया गया है कि यह मालगुज़ारी किस तरह की जमीन के लिए तय की जा रही है, बताया गया है कि यहां धान होता है, यहां फलों के बाग हैं, यहां काली-मिर्च, अंगूर वगैरह की उपज होती है। जमीन के हर हिस्से की खासियत अलग-अलग बयान की गयी है। लेकिन जब मालगुज़ारी के तखमीने से उस जमीन का मिलान किया गया तब पता चला कि बाबा आदम के ज़माने से वहां जंगल के अलावा कुछ रहा ही नहीं।" (पृष्ठ ५६)। अंग्रेज़ नये ढंग का जमींदार था। जंगल को धान का खेत कहकर वही लगान वसूल कर सकता था। लगान-वसूली के लिए सारा कानूनी तन्त्र, और उसके साथ पुलिस और फौजवाला दमन-तन्त्र, अंग्रेज़ के पास मौजूद था। नतीजा यह कि पलासी की लड़ाई के बाद से ग़दर तक लाखों गरीब हिन्दुस्तानी दुर्भिक्ष के शिकार हुए।

ऐडम स्मिथ, एडमंड बर्क और विलियम डिगवी ने भिन्न-भिन्न समय पर भारत की स्थिति पर विचार करते हुए एक ही बात कही है : भारत आगे बढने के बदले पीछे की ओर लौट रहा था। उसके उद्योग-धन्धे ही तबाह नहीं किये गये, उसके आर्थिक विकास की क्षमता भी नष्ट की गई। लूटखसोट के नये तरीके लागू करके अंग्रेजों ने भारत के कृषितंत्र को नष्ट किया। जब तक दिल्ली मे केन्द्रीय राज्यसत्ता सुदृढ़ रही, अंग्रेजों को तब तक भारत का आर्थिक शोषण करने की सुविधा न मिली। यहां अपना राज्य कायम करके ही वे बडे पैमाने पर जनता का शोषण कर सके। इसीलिए भारत को आर्थिक तबाही से बचाने के लिए उसे सबसे पहले राजनीतिक रूप से स्वतंत्र करना आवश्यक था।

## ६. भारत में रेलमार्गों का निर्माण

भारत की उन्नति के लिए अंग्रेजों ने जो बडे-बड़े काम किये थे, उनमे सबसे बडा काम यहां रेलगाड़िया चलाना था और इस काम का डंका वे खूब ज़ोर से पीटते थे। अभी इस काम की शुरुआत हुई ही थी कि सन् ५७ का गदर हो गया। गदर होने का एक कारण यह भी बताया गया कि रेलगाड़ियों के चलने से लोगो को अपनी जाति जाने का भय था; इसलिए उन्होंने विद्रोह कर दिया। इतिहासकार यह नही बताते कि यह विद्रोह कलकत्ते मे क्यों नही हुआ क्योकि रेलमार्गो का मुख्य केंद्र कलकत्ता था। इसके सिवा वे इस बात की भी कैफियत नही देते कि मुसलमानों को तो जाति जाने का डर था नही, फिर वे इस विद्रोह मे इतनी बड़ी तादाद मे क्यो शामिल हुए। देखना चाहिए कि अंग्रेजो ने भारत मे रेलगाड़िया किस उद्देश्य से चलायी और भारत के आर्थिक विकास पर उनका क्या असर पड़ा।

'डेवलपमैन्ट ऑफ इंडियन रेल्वेज' (ले. नलिनाक्ष सान्याल; प्र. कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३०) नाम की पुस्तक मे सरकारी प्रकाशनो और विशेषज्ञों की पुस्तक के आधार पर आरम्भ से लेकर १९२९ तक की स्थिति का विवरण दिया हुआ है। पुस्तक इस दृष्टि से लिखी गयी है कि कुल मिलाकर रेलों के मामले में सरकारी नीति उचित जान पडे। जहा यह नीति अनुपयोगी साबित हुई या उसके सही नतीजे नही निकले, वहा सरकारी विवरणो या विशेषज्ञों की पुस्तकों से तथ्य दिये गये है। तथ्यो की विश्वसनीयता मे संदेह नही है।

इंग्लैंड मे औद्योगिक क्रान्ति कई मंजिलें पार कर चुकी थी; कारखानों में मशीनों से काम होने लगा था। इसी औद्योगिक क्रान्ति के अन्तर्गत यातायात के साधनों में जब मशीनों का व्यवहार होने लगा, तब इंग्लैंड मे रेलमार्गों का निर्माण हुआ। इस समय इंग्लैंड के व्यापारियों को इस बात की जरूरत न थी कि वे भारत का बना हुआ माल अपने देश मे बेचें। अब जरूरत यह थी कि इंग्लैंड का बना हुआ माल भारत मे लाकर बेचा जाय। इसके अलावा कारखानों मे बिकाऊ माल तैयार करने के लिए उन्हें कच्चा माल भी चाहिए था। इस कच्चे माल मे सबसे महत्त्वपूर्ण चीज थी कपास। भारत से कपास ले जाना, फिर विलायत मे कपड़े बनाकर उन्हें यहाँ बेचने के लिए ले आना, अंग्रेजी उद्योग और व्यापार

का यह रूप था। भारत और इंग्लैंड के बीच माल ढोने का काम जहाज करते थे। इंग्लैंड में बन्दरगाह से कारखाने तक माल ढोने का काम रेलों से होता था। भारत में दो प्रमुख बन्दरगाह कलकत्ता और बम्बई थे। जिन प्रदेशों में कपास होती थी, वे इन बन्दरगाहों से दूर थे। इंग्लैंड को अपनी औद्योगिक प्रगति के लिए भारत से कपास ढोने का काम जल्दी से निपटाना जरूरी हो गया। भारत में रेलमार्गों के निर्माण का यह मुख्य कारण था। उक्त पुस्तक में बताया गया है कि जून १८४७ में ईस्ट इंडियन रेलवे कम्पनी का पंजीकरण हुआ। ब्रिटेन के मैनचेस्टर और ग्लासगो नाम के दो प्रसिद्ध औद्योगिक केंद्रों के व्यवसाइयों ने सरकार पर जोर डाला कि भारत में जल्दी ही रेलमार्ग बनाये जायें। यह काम बम्बई से होनेवाले कपास के निर्यात के लिए विशेष रूप से जरूरी था। अभी तक इंग्लैंड को अमरीका से कपास मिलती थी किन्तु अब उस देश से राजनीतिक सम्बन्ध बिगड़ गये थे। इसलिए भारत से कपास मँगाना जरूरी हो गया। उक्त नगरों के व्यवसाइयों का कहना था कि रेलगाड़ियां चलाने से भारतीय कपास सफलतापूर्वक अमरीकी कपास से टक्कर ले सकेगी। (पृष्ठ १३)। डलहौजी का विचार था कि भारत काफी कपास पैदा करता है। इंग्लैंड जोरों से इस कपास की मांग कर रहा है। रेलगाड़ियां चलाने से भारत के दूर-दूर बाजारों में भी विलायती माल की मांग बढ़ेगी। (पृष्ठ २१)। १८४७ में बम्बई-बड़ौदा और सेन्ट्रल इंडियन रेलवे-लाइन बनाने की बात चली थी। उद्देश्य यह था कि गुजरात की कपास ढोकर बम्बई लायी जाये। रास्ते में बड़ी-बड़ी नदियां पार करना था; इसलिए योजना बनाने वालों ने सोचा कि पहले सूरत और अहमदाबाद के बीच की लाइन बनायी जाये। (पृष्ठ २५)। कपास ढोने के लिए रेलमार्गों के निर्माण का फल यह हुआ कि १८४८ से १८५६ तक की अवधि में कपास का निर्यात दुगुना हो गया और विलायती माल का आयात ढाई गुना से भी ज्यादा बढ़ गया। (पृष्ठ २६)। (यहां उल्लेखनीय है कि गदर का जो मुख्य क्षेत्र था, उससे कपास ढोकर बम्बई न ले जायी जाती थी। गदर से पहले के दस वर्षों में जिस क्षेत्र से रेलमार्गों द्वारा बम्बई तक कपास पहुंचायी जाती थी, वह झांसी, लखनऊ और दिल्ली से सैकड़ों मील दूर था।) १८६८ तक कपास पैदा करने वाले सारे महत्वपूर्ण इलाके रेलमार्गों से सम्बद्ध हो गये। रेलगाड़ियां चलाने के लिए मुख्य व्यावसायिक मांग पूरी हुई। १८५१-५२ से लेकर १८६८-६९ तक ब्रिटिश भारत के आयात-निर्यात व्यापार में तिगुनी बढ़ती हुई। किन्तु इस बीच व्यापार का रूप बदल गया था। पहले यहां से तैयार माल भेजा जाता था; अब उसकी जगह कपास भेजी जाती थी। कपास के अलावा तिलहन और गेहूं का निर्यात भी होता था। भारत में व्यापार की दृष्टि से फसलें उगायी जाने लगीं। कपास की सफाई के लिए, उसके बंडल बनाकर बाहर भेजने के लिए कुछ कारखाने भी खोले गये, "किन्तु कुल मिलाकर भारत के पुराने धन्धे धीरे-धीरे खत्म हो गये और इस कारण यह मुख्य रूप से खेतिहर देश बन गया।" (पृष्ठ ६०)। भारत के आर्थिक जीवन में भारी उथल-पुथल हुई। कीमतें बढ़ीं और पगार भी बढ़ी, "किन्तु कीमतों की बढ़ती के मुकाबले पगार में बढ़ती न हुई।" (उप.) (यह

सिलसिला अब तक चला आ रहा है।) पहले जो अन्न सामग्री म
जाती थी, वह देश मे बनी रहती थी और तंगी के समय वह काम
इस सामग्री का निर्यात होने लगा था। अब देश मे अन्न के ऐसे भ
जो अकाल और दुर्भिक्ष के समय काम आते। इसका परिणाम यह
अकाल पड़ने पर लोगों को मुसीबतें पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा व
प्रदेशों में अन्न हो, उनसे भुखमरी वाले इलाकों मे अन्न पहुंचाया
किन्तु इसके लिए रेलों का भरोसा न किया जा सकता था। कठिनाई
लिए जो अन्न भंडार पहले सुरक्षित रहते थे, उनके अभाव मे तब
गयी। (पृष्ठ ६०-६१)। (रेलो का भरोसा इसलिए न किया जा सक
वे भारत का अन्न भारत के लोगों तक पहुँचाने के लिए न चलायी
उनका उद्देश्य था भारत का अन्न उद्योग-प्रधान इग्लैंड तक पहुंचाना।
पूंजीपति कारखानो मे तैयार किया हुआ माल बाहर भेजकर अपार धन
थे। खेती के विकास मे इस तरह धन कमाना सम्भव न था। खेती की
अपनी पूंजी कारखानो मे लगाते थे। भारत की गरीब प्रजा को भूखा
वे अपनी अन्न की आवश्यकता पूरी करते थे।) इग्लैंड मे जो माल भारत मे
आया, उससे यहां के कारीगर तबाह हुए। रेलो के निर्माण से भारत की आम
का जो हित हो सकता था, वह नहीं हुआ। (पृष्ठ ६१)।

१८४० और ५० के दशको मे कपास की माग जोरो पर थी; १८७०
८० के दशकों मे यूरुप के बाजारों के लिए भारतीय गेहू की माग जोरो से हु
(पृष्ठ १०३)। (गदर से पहले कपास की जरूरत मुख्य थी; गदर के ब
१९वी सदी के अंतिम चरण में, जब महाजनी पूंजी का युग शुरू हुआ, तब गेहू
मांग और बढ गयी। इस समय इग्लैंड के अलावा यूरुप के देशों में भी काफ
औद्योगिक प्रगति हो चुकी थी। अंग्रेजो ने पराधीन भारत का अन्न इग्लैंड
अलावा यूरुप में भी भेजना शुरू किया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत मे
भुखमरी और भी बढ़ी।) भारत में रेलमार्गो के निर्माण के लिए और रेलगाड़िया
चलाने के लिए पूंजी इंग्लैंड से आती थी, सामान वही से आता था। भारत
सरकार इंग्लैंड को यह कच्चा माल भेजती थी जिसकी भारत को जरूरत थी।
(पृष्ठ १०४)। १८७१ मे भारत से इंग्लैंड को दो लाख अडतालीस हजार पांच
सौ बाइस हन्ड्रेडवेट गेहूं भेजा गया था। केवल साल भर बाद निर्यात किये हुए
गेहूं की तादाद तैंतालीस लाख सैंतीस हजार दो सौ आठ हन्ड्रेडवेट हो गयी।
(उप.)।

भारत से कच्चा माल भेजने और इंग्लैंड का तैयार माल यहा बेचने के लिए
इस देश को पराधीन बनाये रखना जरूरी था। देश को पराधीन बनाये रखने के
लिए यहां बहुत बड़ी फौज रखना जरूरी था। यदि रेलगाड़ियों के जरिये फौज
एक जगह से दूसरी जगह शीघ्रतापूर्वक ले जायी जा सके तो सैनिको की संख्या
कम होने पर भी फौज को ज्यादा कारगर ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता था।
जब इस बात का हिसाब लगाया जा रहा था कि रेलें बनाने मे कितना धन खर्च
होगा और उसे कौन देगा, तब गवर्नर जनरल ने हिसाब लगाया कि कलकत्ते से

दिल्ली तक लाइन चालू होने पर फौजी खर्च में कम से कम पचास हज़ार पाउंड सालाना की बचत होगी। (पृष्ठ ११)। इस एक बात से अनुमान किया जा सकता है कि ब्रिटिश फ़ौज को प्रभावशाली बनाने के लिए रेलों की कितनी ज़रूरत थी। १८४५ में बंगाल सरकार ने भारत सरकार को बताया कि कलकत्ता दिल्ली लाइन चालू करने से व्यापारिक लाभ के अलावा राजनीतिक लाभ भी होगा। शासन-केंद्र अभी कलकत्ते में ही था। यह कलकत्ता जब पश्चिमोत्तर प्रदेश से जुड़ जायेगा, तब इस समस्या का समाधान हो जायेगा कि शासन केंद्र कहां पर हो। निस्सन्देह इससे फौजी खर्च में भी बहुत बड़ी बचत होगी। (पृष्ठ ७)।

अंग्रेज़ कुछ रेलमार्गों को रणनीतिक मार्ग (स्ट्रैटीजिक लाइन्स) कहते थे। पंजाब और उत्तरी सीमान्त प्रदेश के रेल मार्ग रणनीतिक मार्ग थे। बहस इस बात पर हो रही थी कि यहां बड़े गेजवाली लाइनें डाली जायें या छोटे गेजवाली। भारत सचिव ने सैनिक अधिकारियों की राय जानना चाही। सेनाध्यक्ष नेपियर ने कहा कि बड़े गेजवाली लाइनें ही डालनी चाहिए किन्तु इस काम में बहुत देर लगे तो छोटे गेजवाली लाइनें डाली जायें। (पृष्ठ १०-११)। बड़े गेज की लाइनें फौज के लिए अधिक सुविधाजनक थीं। उन पर गाड़ियां तेज़ी से चल सकती थीं और फ़ौज को किसी जगह पहुँचाने में समय की बचत होती थी। खर्च ज्यादा पड़ता था पर सैनिक लाभ अधिक था। ई. आई. आर. जैसी लाइनें बड़े गेज की थीं। इसका कारण यह था कि वे सैनिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाई गयी थीं। "यद्यपि पंजाब और सीमान्त की जरूरतों के लिए मीटर गेज लाइनें व्यापारिक दृष्टि से पूरी तरह पर्याप्त मानी जाती थीं, फिर भी सैनिक आवश्यकताओं के विचार से उनकी क्षमता के बारे में सन्देह प्रकट किया जाता था। भारत सरकार के कुछ सदस्यों का विचार था कि मीटर गेज की लाइनें सैनिक आवश्यकताएँ बखूबी पूरा कर सकती हैं लेकिन गवर्नर जनरल लार्ड नौर्थ-ब्रुक की राय थी कि पंजाब की लाइनें विशुद्ध सैनिक और राजनीतिक कारणों से बनाई जा रही हैं; सेना की राय यह है कि बड़े गेज की लाइनें ही डाली जायँ, इसलिए भारत सरकार पंजाब और सीमान्त प्रदेशों के लिए वैसी लाइनों के ही पक्ष में निर्णय करेगी। छोटे गेज की लाइनें सैनिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती हैं या नहीं, इस प्रश्न पर इंग्लैंड में जनरल स्ट्रैची और मेजर विलियम्स नाम के दो सैनिक विशेषज्ञों ने भी विचार किया। (पृष्ठ ६३)। भारत और इंग्लैंड में सैनिक विशेषज्ञ रेल की पटरियों के बीच की चौड़ाई को लेकर बहस कर रहे थे, यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि रेलों के निर्माण में फौजी आवश्यकताओं को बराबर ध्यान में रखा गया था।

रेलमार्गों से अपेक्षित मुनाफ़ा न हुआ तो उसका एक कारण यह था कि रेल-मार्ग केवल व्यापार और मुनाफ़े के लिए नहीं, फौजी आवश्यकताओं के लिए बनाये गये थे। जिन कम्पनियों ने पैसा लगाया, उन्होंने लगायी हुई पूंजी पर मुनाफ़े या ब्याज के रूप में अपना फी सैकड़ा हिसाब पहले से तय कर लिया। कुछ रेलमार्ग भारत सरकार ने स्वयं बनवाये किन्तु उसने जिस लाभ की कल्पना की थी, वह उसे न हुआ। "समय की मांग ऐसी थी कि उसके दबाव से राज्य के पूंजी-साधनों का काफी बड़ा

हिस्सा उत्तरपश्चिमी सीमान्त की सैनिक और रणनीतिक लाइनों के निर्माण में लगाया गया। ऐसा करते समय खर्च और व्यापारिक लाभ-हानि का विचार बिल्कुल न किया गया था। सरकार ने जो लाइनें बनाई, उन पर काफी बड़े परिमाण मे अनुत्पादक पूजी का बोझ लाद दिया गया।" (पृष्ठ १३४)। दरअसल लाइनें चाहे कम्पनियां बनाये चाहे सरकार बनाये, अधिकांश पूजी अनुत्पादक ही रहती थी, क्योंकि कुछ लाइनें सैनिक आवश्यकताओ के लिए ही बनायी गयी थी। भारत के आर्थिक विकास को ध्यान में रखकर रेलों का निर्माण किया जाता तो उनमे लगाई हुई पूजी के अनुत्पादक होने का सवाल ही न उठता। रेलों का उपयोग चाहे कच्चा माल ढोने के लिए किया गया हो और चाहे फौजियों को ढोने के लिए, उनमें लगायी हुई पूजी चाहे उत्पादक हो चाहे अनुत्पादक, वह वसूल की गयी थी भारतीय जनता से।

अंग्रेज भारतीय रेलों का उपयोग यहां की जनता को दबाये रखने के लिए कर रहे थे; इसके अतिरिक्त वे इनका उपयोग पडोसी देशो को दबाने के लिए भी कर रहे थे। भारत सरकार का ध्यान "उत्तरपश्चिमी सीमान्त की सैनिक रेलों के बारे मे निश्चित नीति निर्धारित करने की ओर आकर्षित किया गया था। १८७८-७९ में अफगानिस्तान वाले अभियानों के दौरान रेल-संचार-व्यवस्था का मूल्य बहुत अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका था। राजकीय निर्माण के लिए जितना पैसा उधार लिया गया था, उसका अधिकांश सीमान्त लाइनों में खपता चला जा रहा था और देश के केंद्रीय भाग मे दुर्भिक्ष वाली लाइनो के लिए बहुत कम पैसा बचता था।" (पृष्ठ १४८)। प्रथम महायुद्ध के बाद यह हिसाब लगाया गया कि विशुद्ध रणनीतिक लाइनें कितनी है। १९२१-२२ मे इन लाइनों की लम्बाई १७७५ मील थी। ये सब लाइनें उत्तरपश्चिमी सीमान्त में थी। उत्तरपश्चिमी राजकीय रेल-व्यवस्था का तेंतालीस प्रतिशत भाग इन लाइनों ने घेरा था। "इन रणनीतिक लाइनों के कारण राजकीय रेल-व्यवस्था को भारी हानि सहनी पड़ी और सार्वजनिक रूप से इस बात की आलोचना होने लगी।" (पृष्ठ ३१९-२०)। यह कहना अनावश्यक है कि जो लाइनें व्यापारिक कही जाती थी, उनका उपयोग भी फौजी कार्यों के लिए होता था।

रेल-व्यवस्था फौजी आवश्यकताओ से घनिष्ठ रूप में जुड़ी हुई थी, इसलिए अंग्रेज रेल विभाग के महत्वपूर्ण स्थानों पर भारतवासियों को नियुक्त न करते थे। जहां तक बन पडता था, वे ऐसे स्थानों पर अंग्रेजों को या ऐंग्लो इंडियनों को नियुक्त करते थे। सर टी. रिआन (Ryan) ने आईलिंगटन पब्लिक सर्विसेज कमीशन के सामने गवाही दी थी। वह रेलवे बोर्ड के सचिव थे। उन्होने कहा था कि रेलों का व्यावसायिक महत्व है किन्तु "वे देश की सुरक्षा-व्यवस्था बनाये रखने के लिए आवश्यक साधन हैं। यहा सैनिक दृष्टिकोण और आंतरिक सुरक्षा के दृष्टिकोण, दोनों की ही बात है। रेल-कर्मचारियों की भरती के समय इस सुरक्षा को ध्यान मे रखना जरूरी था।" (पृष्ठ ३०८)। रेलों में काम करने के लिए कुलियों, मजदूरों और क्लर्कों के रूप मे हिन्दुस्तानियो की भरती होती थी। प्रमुख स्थानों पर अपवाद रूप में ही कुछ भारतवासी नियुक्त होते थे। हिन्दुस्तानियों को

इन्जन ड्राइवरों और मिस्त्रियों का काम करने लायक न माना जाता था। रेल सेवाओं के कुछ विभाग भारतवासियों के लिए बन्द रखे गये। (पृष्ठ ५६)। इस बात को अस्वीकार करना कठिन है कि अंग्रेज यहां रंगभेद की नीति से काम ले रहे थे। १९०२ में रेलों में काम करने वाले गोरों की संख्या ५,८७५ थी। अधगोरे (यूरेशियन अथवा ऐंग्लो इंडियन) ८,२६६ थे। भारतवासियों की संख्या ३,७८,३७३ थी। इस प्रकार भारतवासी कुल योग का ९४.६ प्रतिशत थे, "किन्तु उनमें शायद ही किसी को कोई ऊंची जगह या दायित्व का स्थान दिया गया हो। जितने गोरे या अधगोरे काम करते थे, उनमें १२,०२२ को स्वयंसेवक बनाकर सहायक दल (Auxiliary Force) में भरती किया गया था और भारतीय कर्मचारियों को उससे बाहर रखा गया था।" (पृष्ठ २१४)। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि अंग्रेजी राज में भारत की रेलव्यवस्था अंग्रेजों की सैनिकव्यवस्था का अभिन्न अंग थी। रेलों के निर्माण से ब्रिटिश फौज को विदेशी शासन कायम रखने का और भी कारगर साधन बनाया गया। इस सम्बन्ध में एक रोचक घटना का उल्लेख करना उचित होगा। बम्बई में स्टेशन कहां बने, इस बात को लेकर काफी बहस हुई। रेलवे कम्पनी चाहती थी कि किले के पास स्टेशन बनाया जाये जिससे बन्दरगाह तक पहुँचने के लिए वह सुविधाजनक हो। सैनिक अधिकारियों ने इसका तीव्र विरोध किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अस्थायी रूप से पहले बोरीबन्दर में स्टेशन बना। वहां जगह कम थी, इसलिए फिर उसे हटाकर एलफिन्स्टन में बनाया गया। (पृष्ठ ३३)। स्पष्ट ही सैनिक अधिकारियों को भय था कि स्टेशन पर इकट्ठा होनेवाली भीड़ से किले के लिए खतरा पैदा हो सकता था। जब १८५७ में गदर हुआ, तब रेल निर्माण-कार्य में क्षति हुई। "ईस्ट इंडियन रेल्वे पर जो निर्माण-कार्य हो रहा था, वह गदर के समय रुक गया और भारी हानि सहनी पड़ी।" (पृष्ठ ३२)। रेल व्यवस्था को लेकर अंग्रेजों को गदर में भारी हानि सहनी पड़ी तो यह स्वाभाविक था। वे रेलमार्गों का निर्माण फौजी आवश्यकताओं के लिए कर रहे थे। इसलिए गदर करनेवालों ने उनका किया कराया काम बर्बाद किया। यह उचित था। ध्यान देने की बात है कि जिस लाइन पर काम ठप्प हुआ वह ई. आई. आर. थी। दूसरी ओर "१८५७ के गदर ने साबित कर दिया कि और भी द्रुत विकास अत्यन्त आवश्यक है।" (पृष्ठ ३६)। क्यों आवश्यक है? गदर की सम्भावना को रोकने के लिए, गदर हो जाये तो उसे दबाने के लिए। भारत में रेलों का निर्माण हुआ, अंग्रेजी राज का शिकंजा और मजबूत करने के लिए।

रेलें बनाने के लिए पूंजी की जरूरत थी। अधिकारियों का कहना था कि भारत में पूंजी नहीं है, इसलिए इंग्लैंड के पूंजीपति उधार पूंजी देंगे। किन्तु इंग्लैंड के पूंजीपतियों के पास भी यह पूंजी अभी थोड़े दिन पहले ही आयी थी और बहुत से लोगों को याद था कि यह पूंजी यहां भारत से पहुँची है। अंग्रेज जो पूंजी यहां रेलों में लगानेवाले थे, वह एक तरह से पूंजी का निर्यात था। अभी महाजनी पूंजी का युग शुरू नहीं हुआ किन्तु अंग्रेजों के पास इतनी पूंजी एकत्र हो गयी है कि वे रेलों के निर्माण के लिए उसे उधार दे सकते हैं। इस समय, और बाद को भी,

अंग्रेजों ने जिस पूंजी का निर्यात किया, उसका आयात वह भारत जैसे देशों से पहले कर चुके थे। किसी देश को लूटकर पूंजी बटोरना, फिर ब्याज पर उसी देश को पूंजी उठाना, महाजनी पूंजी की कारगुजारी का यही रहस्य है। जिस समय भारत में रेल-मार्ग बनाने की योजनाओं पर इन्जिनियर लोग विचार कर रहे थे, उस समय पूंजी की समस्या हल करने के लिए उनका कहना था, भारत ने बरसों तक इंग्लैंड को खिराज दिया है; उसे चाहिए कि वह उस खिराज का एक हिस्सा वापस मांग ले। (पृष्ठ १२)। जिन इन्जिनियरों ने यह सुझाव दिया था, वे भी अंग्रेज थे। किन्तु भारत की ब्रिटिश सरकार ने खिराज वापस न मांगा और न ब्रिटेन की सरकार ने उसे वापस किया।

अंग्रेज पूंजीपतियों की कम्पनियां बनीं। १७ अगस्त १८४९ को ईस्ट इंडिया कम्पनी ने ईस्ट इंडियन रेलवे कम्पनी और ग्रेट इंडियन पेनिनसुला रेलवे-कम्पनी के साथ रेलें बनाने के लिए इकरारनामे पर हस्ताक्षर किये। भारत पर कम्पनी का राज, इस कम्पनी के साथ ई. आई. आर. और जी. आई. पी. इन दो अन्य कम्पनियों की जागीरें कायम हुईं। इन सब कम्पनियों के माध्यम से जो लोग पैसा कमा रहे थे, वे ब्रिटिश पूंजीपतिवर्ग के सदस्य थे। इकरारनामों की विशेषता यह थी कि भारत सरकार ने पूंजी लगानेवालों को एक निश्चित दर पर ब्याज देना स्वीकार किया था। पूंजी लगाने वाले के सामने जो एक शंका बनी रहती है कि धन्धा चलेगा या नहीं, वैसी शंका की यहां गुंजाइश न थी। पूंजी लगाने वालों को निश्चित ब्याज के अलावा रेलों से मुनाफा होने पर उसमें भी हिस्सा मिलने का विधान था। कम्पनियों का काम केवल रेलें बनाना न था; उन्हें चलाना, उनका प्रबन्ध करना, यह भी उनके जिम्मे था। इसके साथ ही भारत सरकार ने कम्पनियों के ऊपर उपयुक्त नियन्त्रण रखने का अधिकार और अन्त में इन कम्पनियों की रेल-सम्पत्ति को खरीद लेने का अधिकार अपने पास रखा। मुनाफे में भारत सरकार का हिस्सा होगा, इसका विधान न था। इकरारनामे ९९ साल के लिए थे। इस समूची अवधि तक पैसा लगाने वालों को ब्याज मिलने की व्यवस्था थी। विनिमय की दर जो आरम्भ में थी, वह अंत तक चलने वाली थी। एक रुपया एक शिलिंग दस पेंस के बराबर माना गया था। जो ब्याज मिलने वाला था, वह पैसा जमा करने के दिन से दिया जाने को था। जब रेलें चालू होंगी, तब से ब्याज का हिसाब चलेगा, ऐसी बात नहीं थी। कम्पनियां कितनी पूंजी लगाती हैं और उसका उपयोग किस तरह करती हैं, इस पर सरकार का कोई नियन्त्रण न था। जब सरकार कम्पनियों से रेलें खरीदेगी, तब तक इस रेल-सम्पत्ति का मूल्य बहुत बढ़ जायेगा। इस बढ़े हुए मूल्य का लाभ कम्पनियों को होगा। रेलमार्गों के लिए और उनसे सम्बन्धित कार्यों के लिए जो जमीन दरकार होगी, वह कम्पनियों को मुफ्त मिलेगी। (पृष्ठ १५-१६)। वैसे तो पूंजीवाद जमीन को व्यक्तिगत सम्पत्ति बना देता है किन्तु यह नियम भारत में लागू न हो रहा था। भारत का सबसे बड़ा जमींदार था अंग्रेज। इस जमींदार ने इंग्लैंड की कम्पनियों को भारत की जमीन मुफ्त दे दी। तब रेलवे कम्पनियों ने यहां अपनी जागीरें कायम कीं।

कम्पनियों से जो इकरारनामे किये गये थे, उनमें रेल-प्रबन्ध में तरह-तरह के

दोष आना स्वाभाविक था। ४½ से लेकर ५ प्रतिशत तक ब्याज की गारंटी मिल जाने पर कम्पनियों ने किफायत करने पर जरा भी ध्यान न दिया, मनमाने ढंग से पैसा खर्च किया, "और देश पर ऐसा बोझ लाद दिया जिसे ढोना लोगों के वश में न था और न समय की मांग को देखते उसे आवश्यक कहा जा सकता था। कुछ विशेषज्ञों का कहना था कि आंख मूदकर ब्याज की गारंटी देने के बदले यदि सरकार ने कम्पनियों के कुछ हिस्से खुद खरीद लिये होते तो सरकार के लिए वह व्यवस्था ज्यादा लाभकारी होती। रेलों से जो आमदनी होती, उससे भागीदारों को अल्पतम लाभांश दिया जा सकता था। उसके बाद जो मुनाफ़ा होता, उसमें राज्य भागीदार होता। इस तरह रेलों से जो भावी लाभ होने वाला था, वह बहुत कुछ सरकार के हिस्से में आता। (पृष्ठ १७)। यह सब नहीं हुआ, इसका अर्थ यह है कि रेल कम्पनियों के माध्यम से भारत को लूटने के लिए ब्रिटिश पूंजीपतियों को पूरी छूट मिल गयी थी। "१८५८ में लार्ड कैनिंग इस बात से बहुत चिंतित हुए कि पूंजी का संचालन करने में कम्पनियां बेहद लापरवाह हैं। उन्होंने गारंटी-पद्धति चलाने पर आपत्ति की।" (पृष्ठ ६४)। उनकी कौंसिल के सदस्य जे. पी. ग्रांट का कहना था कि गारंटीवाली पद्धति में दोहरे संचालन (डबल मैनेजमेंट) का दोष पैदा होता है और इसे खत्म करना चाहिए। मद्रास के गवर्नर डेनिसन का कहना था कि गारण्टी पद्धति से यह निश्चित था कि सरकार खर्चीले और अलाभकारी व्यवसाय में फंस जाएगी, उसे भारी खतरे का सामना करना पड़ेगा और लाभ में अल्पतम हिस्सा मिलेगा। (पृष्ठ ६५)। पूंजी पर सूद बढ़ता गया, ज़मीन की कीमत बढ़ी, निरीक्षण पर व्यय बढ़ा; विनिमय में जो घाटा होता था, उसमें यह दोष बराबर बढ़ता चला गया। (पृष्ठ ६५-६६)।

भारत में अंग्रेजों ने जो रेलें चलायी, वे कई तरह की थीं। रेलों की पटरियों के बीच की चौड़ाई से लेकर प्रबन्ध और सरकारी सहायता तक अनेक भेद थे। १९०२ में रेलमार्गों का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ था :

१. ऐसी लाइनें जिन्हें कम्पनियां चलाती हैं;
२. सरकारी लाइनें जिन्हें सरकार चलाती है;
३. ऐसी लाइनें जिन पर स्वामित्व कम्पनियों का है और पुराने इकरारनामों के अनुसार गारण्टी की हुई है;
४. ऐसी लाइनें जिन पर स्वामित्व कम्पनियों का है और जिनकी गारण्टी नये इकरारनामों से की हुई है;
५. जिला बोर्ड वाली लाइनें;
६. सहायता प्राप्त कम्पनियों की लाइनें;
७. देशी रियासतों की लाइनें जिन्हें कम्पनियां चलाती हैं;
८. देशी रियासतों की लाइनें जिन्हें रियासती रेलवे एजेंसी चलाती हैं;
९. ऐसी लाइनें जिन पर स्वामित्व देशी रियासतों का है और वही उन्हें चलाती हैं;
१०. ऐसी लाइनें जो विदेशी भूमि पर हैं।

१९०२ में इन विभिन्न प्रकार की रेलों के लिए अलग-अलग ३५ विभिन्न

प्रबन्ध-व्यवस्थाएं थीं। इनमें २४ कम्पनियां, ४ सरकारी एजेण्ट और ५ देशी रियासतें शामिल थीं। (पृष्ठ १८६)। रेलों के लिए सबसे बड़ा गेज साढ़े पांच फुट का था। इसके बाद दूसरे नम्बर पर तीन फुट तीन इंची वाला गेज था। इनके अलावा दो फुट और ढाई फुट वाले गेज भी काम में आते थे। (पृष्ठ २५२)। जैसे पूंजीवाद के अभ्युदय से पहले किसी देश में सामन्ती राज्य अपने अलग-अलग सिक्के चलाते हैं, वैसे ही ब्रिटिश पूंजीवाद ने भारत में सामन्ती ढंग से रेलें चलायी थी। इन रेलो के लिए भारत के कुछ सामन्तो ने भी पैसा दिया था तो यह उचित ही था। पूंजीवाद जिस चुस्ती, एकरूपता, कार्यदक्षता का दावा करता है, भारतीय रेल-व्यवस्था मे उसका अभाव था। यद्यपि सभी कम्पनिया अंग्रेजो की थी और उन सभी से एक ही वर्ग, ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग, को लाभ होता था, फिर भी ये कम्पनिया आपस मे ऐसी होड करती थी कि उसे व्यापारिक युद्ध कहना असगत न होगा। कम्पनियों की स्पर्द्धा का एक परिणाम यह था कि भाडे की दर सब जगह एक-सी न थी। १८८४ की जांच से पता चला कि सरकारी नियन्त्रण प्रभावहीन है। यह आवश्यकता अनुभव की गयी कि सरकार भाडे की अधिकतम दर निश्चित करे, साथ ही इस बात का भी ध्यान रखे कि पूंजी लगानेवालो के हितों की हानि न हो। कई लाइनों ने भाडे की दरों में कमी की। उद्देश्य यह था कि जितना धन्धा वे करती है, वह उनके हाथ में बना रहे, "अथवा पडोसी रेलमार्गो का धन्धा उनके हाथ मे आ जाये। अलग-अलग प्रभाव क्षेत्र बन गये और इनकी बडी चौकसी की जाती थी। सरकार के पास अधिकाधिक आवेदन पहुँचने लगे कि वह हस्तक्षेप करे। इस बीच रेल-लाइनें एक-दूसरे से असम्बद्ध और अलग-थलग न रह गयी थी। बहुत-से जंक्शन बन गये थे और होड़ करने वाले रेल-मार्गों का विस्तार हुआ था। इस प्रकार रेलों के हित पेचीदा हो गये थे। इस दशा मे भारत-सचिव ने जिस नीति पर जोर दिया था कि सरकारी हस्तक्षेप कम-से-कम हो, उस नीति को त्यागना पड़ा और कम्पनियों के अधिकारों को अधिक नियन्त्रित करना पड़ा।" (पृष्ठ १८०-८१)। महाजनी पूंजी का युग शुरू होने पर ही भारत की रेल व्यवस्था मे किसी हद तक एकरूपता आयी। औद्योगिक पूंजीवाद के युग मे भारतीय रेल व्यवस्था मे यथेष्ट अराजकता थी। सामन्ती अलगाव की बात करते हुए पूंजीवादी व्यवस्था की अराजकता को भूल न जाना चाहिये। ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग में अनेक गुट थे, आपस में होड़ करते थे, उस होड़ से जो अव्यवस्था फैलती थी, उसका परिणाम भुगतना पड़ता था भारतीय जनता को। व्यापारिक पूंजीवाद के युग में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को व्यापार का इजारा मिला हुआ था, कम्पनी से बाहर के दूसरे व्यापारी उससे होड़ करते थे; उसके अलावा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इंग्लैण्ड-स्थित स्वामी अलग लाभ कमाते थे और भारत-स्थित उनके चाकर अपना लूट का हिसाब अलग रखते थे। उसी अव्यवस्था का प्रसार १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में रेलों के निर्माण और प्रबन्ध में देखा जाता है। इस अव्यवस्था को महाजनी पूंजी के युग में भी पूरी तरह समाप्त नही किया गया। जैसे सारा देश ब्रिटिश भारत और रियासती भारत मे बँटा हुआ था, वैसे ही रेलो के प्रबन्ध मे विभाजन था।

दोष आना स्वाभाविक था। ४½ से लेकर ५ प्रतिशत तक ब्याज की गारंटी मिल जाने पर कम्पनियों ने किफायत करने पर जरा भी ध्यान न दिया, मनमाने ढंग से पैसा खर्च किया, "और देश पर ऐसा बोझ लाद दिया जिसे ढोना लोगों के वश में न था और न समय की माँग को देखते उसे आवश्यक कहा जा सकता था। कुछ विशेषज्ञों का कहना था कि आंख मूंदकर ब्याज की गारंटी देने के बदले यदि सरकार ने कम्पनियो के कुछ हिस्से खुद खरीद लिये होते तो सरकार के लिए यह व्यवस्था ज्यादा लाभकारी होती। रेलों से जो आमदनी होती, उससे भागीदारों को अल्पतम लाभांश दिया जा सकता था। उसके बाद जो मुनाफ़ा होता, उसमें राज्य भागीदार होता। इस तरह रेलों से जो भावी लाभ होने वाला था, वह बहुत कुछ सरकार के हिस्से मे आता। (पृष्ठ १७)। यह सब नहीं हुआ, इसका अर्थ यह है कि रेल कम्पनियों के माध्यम से भारत को लूटने के लिए ब्रिटिश पूंजीपतियों को पूरी छूट मिल गयी थी। "१८५८ मे लार्ड कैनिंग इस बात से बहुत चिंतित हुए कि पूंजी का संचालन करने में कम्पनियां बेहद लापरवाह है। उन्होंने गारंटी-पद्धति चलाने पर आपत्ति की।" (पृष्ठ ६४)। उनकी कौंसिल के सदस्य जे. पी. ग्रांट का कहना था कि गारंटीवाली पद्धति से दोहरे संचालन (डबल मैनेजमेंट) का दोष पैदा होता है और इसे खत्म करना चाहिए। मद्रास के गवर्नर डेनिसन का कहना था कि गारण्टी पद्धति से यह निश्चित था कि सरकार खर्चीले और अलाभकारी व्यवसाय मे फँस जाएगी, उसे भारी खतरों का सामना करना पड़ेगा और लाभ मे अल्पतम हिस्सा मिलेगा। (पृष्ठ ६५)। पूंजी पर सूद बढ़ता गया, ज़मीन की कीमत बढ़ी, निरीक्षण पर व्यय बढ़ा; विनिमय मे जो घाटा होता था, उससे यह दोष बराबर बढ़ता चला गया। (पृष्ठ ६५-६६)।

भारत मे अंग्रेजो ने जो रेलें चलायी, वे कई तरह की थी। रेलों की पटरियो के बीच की चौड़ाई से लेकर प्रबन्ध और सरकारी सहायता तक अनेक भेद थे। १९०२ में रेलमार्गों का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ था :

१. ऐसी लाइनें जिन्हें कम्पनियां चलाती है;
२. सरकारी लाइनें जिन्हें सरकार चलाती है;
३. ऐसी लाइनें जिन पर स्वामित्व कम्पनियों का है और पुराने इकरारनामों के अनुसार गारण्टी की हुई है;
४. ऐसी लाइनें जिन पर स्वामित्व कम्पनियों का है और जिनकी गारण्टी नये इकरारनामों से की हुई है;
५. जिला बोर्ड वाली लाइनें;
६. सहायता प्राप्त कम्पनियों की लाइनें;
७. देशी रियासतों की लाइनें जिन्हें कम्पनियां चलाती हैं;
८. देशी रियासतों की लाइनें जिन्हें रियासती रेलवे एजेंसी चलाती हैं;
९. ऐसी लाइनें जिन पर स्वामित्व देशी रियासतों का है और वही उन्हें चलाती है;
१०. ऐसी लाइनें जो विदेशी भूमि पर हैं।

१९०२ में इन विभिन्न प्रकार की रेलों के लिए अलग-अलग ३५ विभिन्न

न्ध-व्यवस्थाएं थी। इनमें २४ कम्पनियां, ४ सरकारी एजेण्ट और ५ देशी रियासतें शामिल थी। (पृष्ठ १८९)। रेलों के लिए सबसे बड़ा गेज साढ़े पांच फुट का था। इसके बाद दूसरे नम्बर पर तीन फुट तीन इंची वाला गेज था। इनके अलावा दो फुट और ढाई फुट वाले गेज भी काम में आते थे। (पृष्ठ २५२)। जैसे पूंजीवाद के अभ्युदय से पहले किसी देश में सामन्ती राज्य अपने अलग-अलग सिक्के चलाते हैं, वैसे ही ब्रिटिश पूंजीवाद ने भारत में सामन्ती ढंग से रेलें चलायी थीं। इन रेलों के लिए भारत के कुछ सामन्तों ने भी पैसा दिया था तो यह उचित ही था। पूंजीवाद जिस चुस्ती, एकरूपता, कार्यदक्षता का दावा करता है, भारतीय रेल-व्यवस्था में उसका अभाव था। यद्यपि सभी कम्पनियां अंग्रेजों की थी और उन सभी से एक ही वर्ग, ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग, को लाभ होता था, फिर भी ये कम्पनियां आपस में ऐसी होड़ करती थीं कि उसे व्यापारिक युद्ध कहना असंगत न होगा। कम्पनियों की स्पर्धा का एक परिणाम यह था कि भाड़े की दर सब जगह एक-सी न थी। १८८४ की जांच से पता चला कि सरकारी नियन्त्रण प्रभावहीन है। यह आवश्यकता अनुभव की गयी कि सरकार भाड़े की अधिकतम दर निश्चित करे, साथ ही इस बात का भी ध्यान रखे कि पूंजी लगानेवालों के हितों की हानि न हो। कई लाइनों ने भाड़े की दरों में कमी की। उद्देश्य यह था कि जितना धन्धा वे करती हैं, वह उनके हाथ में बना रहे, "अथवा पड़ोसी रेलमार्गों का धन्धा उनके हाथ में आ जाये। अलग-अलग प्रभाव क्षेत्र बन गये और इनकी बड़ी चौकसी की जाती थी। सरकार के पास अधिकाधिक आवेदन पहुंचने लगे कि वह हस्तक्षेप करे। इस बीच रेल-लाइनें एक-दूसरे से ...म्बद्ध और अलग-थलग न रह गयी थीं। बहुत-से जंक्शन बन गये थे और होड़ ...ने वाले रेल-मार्गों का विस्तार हुआ था। इस प्रकार रेलों के हित पेचीदा हो ...थे। इस दशा में भारत-सचिव ने जिस नीति पर जोर दिया था कि सर- ...री हस्तक्षेप कम-से-कम हो, उस नीति को त्यागना पड़ा और कम्पनियों के ...धिकारों को अधिक नियन्त्रित करना पड़ा।" (पृष्ठ १८०-८१)। महाजनी ...जी का युग शुरू होने पर ही भारत की रेल व्यवस्था में किसी हद तक एक- ...पता आयी। औद्योगिक पूंजीवाद के युग में भारतीय रेल व्यवस्था में यथेष्ट अराजकता थी। सामन्ती अलगाव की बात करते हुए पूंजीवादी व्यवस्था की अराजकता को भूल न जाना चाहिये। ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग में अनेक गुट थे, आपस में होड़ करते थे, उस होड़ से जो अव्यवस्था फैलती थी, उसका परिणाम भुगतना पड़ता था भारतीय जनता को। व्यापारिक पूंजीवाद के युग में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को व्यापार का इजारा मिला हुआ था, कम्पनी से बाहर के दूसरे व्यापारी उसमें होड़ करते थे; इसके अलावा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इंगलैण्ड-स्थित स्वामी अलग लाभ कमाते थे और भारत-स्थित उनके चाकर अपना लूट का हिसाब अलग रखते थे। उसी अव्यवस्था का प्रसार १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में रेलों के निर्माण और प्रबन्ध में देखा जाता है। इस अव्यवस्था को महाजनी पूंजी के युग में भी पूरी तरह समाप्त नहीं किया गया। जैसे सारा देश ब्रिटिश भारत और रियासती भारत में बँटा हुआ था, वैसे ही रेलों के प्रबन्ध में विभाजन था।

भारत के एकीकरण और उसकी आर्थिक प्रगति में रेलों की बहुत बड़ी भूमिका हो सकती थी किन्तु वह भूमिका पूरी नही हुई, इसका कारण यह था कि अंग्रेजों ने भारत में लूट और शोषण की जो व्यवस्था चलायी थी, उसका सम्बन्ध उद्योगीकरण से नही था। रेलों का निर्माण शोषण-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए और उसके अन्तर्गत हुआ था। भारत खेतिहर देश बनता जाये और दुर्भिक्ष में लाखों आदमी मरें, इस स्थिति से अलग रेलों का निर्माण कोई महान् आर्थिक क्रांति करता चला जाये, यह सम्भव न था।

कुछ मुख्य लाइनों पर माल ढोने की गति फी घण्टा ३.७ से लेकर १२ मील थी। यह औसत रफ्तार मुख्य स्टेशनों के बीच की थी। जो छोटे स्टेशन थे, उनके बीच यह रफ्तार और भी कम थी। ई. आई. आर. पर कलकत्ते तक कोयला ढोने के काम में इतना विलम्ब होता था कि १८० मील का फ़ासला तय करने में औसत रफ्तार २ से ५ मील तक की होती थी। (पृष्ठ २०८)। यदि घण्टे भर में दो मील का ही फासला तय करना हो तो बैलगाड़ी ही क्या बुरी थी? यह कहना अनावश्यक है कि रेलगाड़ियों में सबसे ज्यादा यात्री तीसरे दर्जे के होते थे और यात्रा की व्यवस्था उन्हीं के लिए सबसे ज्यादा खराब थी। जिस समय रेलों के निर्माण की योजना बनायी जा रही थी, उस समय अंग्रेजों को गुमान भी न था कि इतने लोग यात्रा करने निकल पड़ेंगे। "भय यह था कि भारत के लोग गरीब हैं और बहुत से प्रदेशों में बस्तियां दूर-दूर बिखरी हुई हैं, इसलिए यात्रियों की संख्या पर्याप्त न होगी।" (पृष्ठ ८)। जब रेलें चालू हो गयी, तब अंग्रेजों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि यहा के लोग काफी यात्रा करते हैं। "भारतवासी 'बेढब यात्री' सिद्ध हुआ। कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने इसकी कल्पना न की थी। यदि यात्रा सस्ते में हो जाये तो वह ऐसी यात्राओं के लिए निकल पड़ता था जैसी यात्रायें करने से बहुत से यूरुपवासी झिझकते।" (पृष्ठ ४३)। रेलों से यात्रा करने वालों की संख्या और भी बढ़ जाती यदि लोगों के पास थोड़ा-बहुत पैसा होता। इंग्लैंड से तुलना करने पर पता चला कि वहा के मजदूर को एक दिन में जितनी पगार मिलती है, उससे वह अठारह मील की यात्रा कर सकता है। उसके मुकाबले भारतीय मजदूर को एक दिन मे जितनी पगार मिलती है, उससे वह चार मील की यात्रा भी नही कर सकता। (पृष्ठ ५०)। अधिकांश गरीब किसानों की तुलना में वह मजदूर सुखी था जिसे दिन भर काम करने के बाद निश्चित पगार मिल जाती थी। यह भाग्यशाली मजदूर एक दिन की पूरी पगार खर्च करे, तब चार मील रेल से यात्रा करे। स्वाभाविक था कि वह एक दिन की पगार खर्च करके रेल-यात्रा करने के बदले पैदल चलना ज्यादा अच्छा समझता था। जब पगार पाने वाले मजदूर की यह हालत थी तब गरीब किसान कितनी यात्रा करते होंगे, इसकी कल्पना की जा सकती है। १९१३-१४ में प्रथम श्रेणी के यात्रियों की संख्या ८१३ थी। उसी वर्ष में तीसरे दर्जे के यात्रियों की संख्या ४,१०,९६० थी। (पृष्ठ २८८)। इससे अनुमान हो जाएगा कि प्रथम और तृतीय श्रेणी के यात्रियों की संख्या में किस तरह का अनुपात था। अंग्रेजों ने वर्ग-भेद का बहुत स्पष्ट रूप रेल व्यवस्था में दिखा दिया था। इस बात को स्वीकार किया गया है कि "भारत की

-व्यवस्था ने तीसरे दर्जे के यात्रियों का मूल्य उचित रूप से न आंका था।
हले और दूसरे दर्जे के यात्रियों से कम आय होती थी किन्तु उन्ही की सुख-
सुविधा का ध्यान रखा जाता था। भारत मे प्रत्येक रेल लाइन के यात्री-व्यवसाय
की आधारशिला यह तीसरा दर्जा था। उसी की उपेक्षा की जाती थी। निम्नतम
श्रेणी की गाड़ियो में बहुधा सफाई की व्यवस्था न होती थी और अक्सर उनमे
भीड बहुत होती थी। कभी-कभी तीर्थयात्रियो को मालगाडियो मे ले जाया जाता
था। गाड़ियों की कमी के अलावा तीसरे दर्जे के यात्रियो के साथ जैसा व्यवहार
किया जाता था, वह विशेष चिन्ताजनक था। यात्रा करते समय पीने के लिए
यथेष्ट पानी और भोजन की व्यवस्था का अधिकतर अभाव होता था। सबसे बढ-
कर यह कि जगह-जगह स्टेशनो के और रेलगाड़ी के कर्मचारी तथा पुलिस के
लोग अनधिकृत पैसा वसूलते थे। कहा जाता था कि स्टेशन मास्टर यात्रियो तथा
व्यापारियों दोनो से अवैध पैसा वसूल करके अपनी आमदनी में काफी इजाफा कर
लेते थे।" (पृष्ठ २०६)। कोई आश्चर्य नहीं कि जो रेल की नौकरी पा गया, वह
पडोसियों के बीच परम भाग्यशाली माना गया। स्टेशन मास्टर अधिकतर अंग्रेज
ही होते थे। बडा हिस्सा उनका था। छोटा हिस्सा बाबू लोगो, पुलिस वगैरह का
था।

रेलों की व्यवस्था से भारतीय जनता का असंतुष्ट होना स्वाभाविक था। इस
असंतोष मे सबसे बडा योगदान तीसरे दर्जे का था। मुख्य शिकायते ये थी:
गाड़ियों की संख्या कम है, भीड बहुत होती है, तीर्थयात्रियों को मालगाडियों
और पशुओ को ले जाने वाली ट्रको में बैठने को मिलता है, गाडियों मे शौचस्थान
नही हैं, हैं तो एकदम अनुपयोगी है, भोजन की व्यवस्था नहीं है, पीने को काफी
पानी नहीं मिलता, यात्रियों के रुकने के लिए मुसाफिरखाने नही हैं, हैं तो सुविधा-
जनक नहीं हैं, गाडियो, शौचालयो, मुसाफिरखानों मे सफाई नही की जाती,
टिकट मिलने मे कठिनाई होती है, टिकट जाचते समय यात्रियो को तग किया
जाता है, रेल कर्मचारी यात्रियों से सभ्य व्यवहार नही करते और स्टेशन, प्लैट-
फार्म, गाडी के अंदर, हर जगह घूस चलती है और लोगों से अवैध पैसा वसूल
किया जाता है। (पृष्ठ २९६-९७)। (अफरीका से गुलाम ढोकर ले जाने वाले
जहाजो मे जैसी व्यवस्था थी, वैसी ही सुव्यवस्था अंग्रेजी राज मे रेलों की थी।)

इंजन से लेकर पटरी तक सारा सामान इंग्लैंड से आता था। कम्पनियो तक को
शिकायत थी कि माल आने मे विलम्ब होता है और इससे उनकी हानि होती है।
सरकारी इंजिनियर अनुभव न होने पर भी उनके काम में दखल देते थे। कम्पनियों
की राय में प्रगति के मार्ग मे सबसे बडी अडचन यह थी कि "इंग्लैंड से सारी
सामग्री ढोकर लानी पडती है, भारत पहुँचने पर उसे उपयुक्त स्थान तक पहुँचाने
में कठिनाई होती है। जो ठेकेदार ऐसे काम के आदी नहीं हैं, वे समय पर अपना
काम पूरा नही कर पाते। इसके अलावा लम्बे और चक्करदार पत्र-व्यवहार में
बहुत समय जाता है। पत्र-व्यवहार करने वाले एक ओर लदन स्थित रेल कम्पनियों
के बोर्ड और उनके एजेण्ट है, दूसरी ओर भारत और इंग्लैंड दोनो जगह के
विभिन्न सरकारी विभाग हैं।" (पृष्ठ ३६)। अंग्रेज जो व्यवस्था चला रहे थे,

वह न तो केन्द्रबद्ध राजकीय पूंजीवाद (स्टेट कैपिटलिज्म) वाली व्यवस्था थी और न यह पूंजीपतियों की स्वच्छन्द होडवाली व्यवस्था थी। इसलिए इंग्लैंड की सरकार और भारत सरकार, इनके विभिन्न विभाग, फिर अनेक रेल कम्पनियां, इंग्लैंड और भारत में इनके दफ्तर; रेल-व्यवस्था में कितने बड़े पैमाने पर कागजी घोड़े दौड़े होंगे, इसका अनुमान किया जा सकता है। रेलों का उपयोग फौज करती थी। रणनीतिक रेल-मार्गों के चलन मे राजकीय रेलों को भारी हानि सहनी पड़ी। १९२२ में काउन्सिल आफ स्टेट ने प्रस्ताव किया कि रणनीतिक रेल-मार्गों का हिसाब-किताब अलग रखा जाये। जितनी पूंजी लगे और जितना घाटा हो, वह सब सैनिक विभाग में प्राप्त किया जाये। सरकार ने प्रस्ताव का पहला अंश स्वीकार किया। दूसरा अंश उसने स्वीकार नहीं किया। तर्क यह था कि इस तरह आतंरिक शांति व्यवस्था बनाये रखने के लिए फौज भी नागरिक विभागों से पैसा माग सकती है। इसलिए जो लाइनें सैनिक दृष्टि से बनायी गयी थी, उनका खर्च रेल विभाग के हिस्से मे आयेगा। १९२४-२५ में सामान्य वित्त-विभाग को रेलवे के वित्त-विभाग से अलग किया गया। निश्चय हुआ कि रणनीतिक रेलमार्गों से जो घाटा होता है, वह सामान्य वित्त विभाग के खाते में रखा जायेगा। (पृष्ठ ३२०)।

यदि प्रथम महायुद्ध के कारण इग्लैण्ड से माल लाने में कठिनाई न होती, तो शायद भारत में रेल सामग्री के निर्माण की थोड़ी व्यवस्था भी न होती। १९१५ में इग्लैण्ड से माल आना बंद हो गया। तब रेलवे बोर्ड ने यह आवश्यकता अनुभव की कि इस देश में रेल उद्योग विकसित किया जाये। कुछ ही समय पहले टाटा आइरन ऐण्ड स्टील वर्क्स ने अपना काम शुरू किया था। उसने रेलों को, विलायती माल के अभाव में, मरने से बचा लिया। १९२० में सरकार ने टाटा उद्योग से इकरारनामा किया कि वह उसे रेल की पटरियां और फिश प्लेट देगा। "उस फर्म को जो प्रोत्साहन उस समय मिला, उससे यह संभव हुआ कि पिछले वर्षों में वह भारतीय लाइनों की आवश्यकताएँ स्थायी रूप से पूरी कर सके।" (पृष्ठ ३०१)। इस प्रकार एक प्रमुख भारतीय औद्योगिक संस्थान से ब्रिटिश सरकार का घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्ध कायम हुआ।

युद्धकाल में यहां के रेलवे वर्कशाप भी अपने काम मे बढ़ती कर सके। बाहर से आये हुए माल को जोड़-बटोरकर ठीक करना, गाड़ियों की मरम्मत करना, यह सब पहले भी होता था। इसके अलावा अब माल ढोने की गाड़ियाँ और यात्रियों के डिब्बे भी बनने लगे। यह सब विलायती कम्पनियों के स्वामित्व की परिधि में था। रेलसम्बन्धी सामग्री बनाने के लिए निजी उद्योग भी कायम हुए। १९१८-१९ में भारत सरकार ने तय किया कि वह प्रतिवर्ष तीन हजार माल ढोने के डिब्बे खरीदेगी। ऐसा वह दस साल तक करेगी जिससे कि डिब्बे बनाने वाले धन्धे का विकास हो। १९२१ में अभी भारत में इंजन न बनते थे। डिब्बे बनाने वाले जो निजी उद्योग कायम हुए थे, उनकी निर्माण-क्षमता बहुत सीमित थी। इसके अतिरिक्त पहिये, धुरी, ब्रेक सम्बन्धी सामग्री, यह सब बाहर से आता था। रेलवे वर्कशाप में यात्रियों के डिब्बे तैयार किये जाते थे लेकिन उनके सभी मुख्य

[illegible] के कारण [illegible]

हिले इंग्लैंड से आते थे। [illegible] की [illegible] के लिए [illegible]

अब वहां से [illegible] था।। [illegible]

निश्चित कर लिया गया था। [illegible]

३०२)।

कोई [illegible] नहीं [illegible]

अनुकूल था। "[illegible]

है; [illegible] और [illegible] का यही [illegible]

धन्धों को [illegible]। [illegible] रही है और [illegible]

और रेल [illegible] के [illegible] का [illegible]

जा रहा है, [illegible] रही है। [illegible] को

रेलवे [illegible] की [illegible] के लिए, [illegible]

बातें थीं।" ([illegible]

[illegible]

आवश्यक [illegible]

पहुंचाने के लिए, [illegible]

देने के लिए [illegible]

भारतीय [illegible]

की तरह [illegible]

रेलमार्गों [illegible]। किन्तु [illegible]

भारतीय [illegible]

भारत के औद्योगिक [illegible]

ठीक [illegible] है।

२

# गदर की परम्परा

## १. लाला हरदयाल और गदर पार्टी

मई १९०८ में गदर का अर्द्धशताब्दी समारोह लन्दन में मनाया गया। इण्डिया हाउस को फूलों और रोशनी से सजाया गया। परदे पर रानी लक्ष्मीबाई, नाना-साहब, बहादुरशाह, कुँवरसिंह, मौलवी अहमदशाह आदि के चित्र लगाए गए। वन्देमातरम् के गायन के बाद गुजराती बैरिस्टर सरदारसिंह जी रेवाभाई राणा को अध्यक्ष बनाया गया। श्रीमती कामा आदि क्रांतिकारियों के संदेश पढ़कर सुनाए गए। १८५७ के वीरों की स्मृति अमर बनाने के लिए लन्दन के भारतीय छात्रों ने चन्दा इकट्ठा किया। हरनामसिंह और रफी अहमद नाम के दो छात्रों ने अपने कोटों पर १८५७ की याद दिलाने वाले दो बिल्ले लगा रखे थे। (यह विवरण धर्मवीर लिखित लाला हरदयाल पुस्तक में है; मूल पुस्तक सभवतः अंग्रेजी में है। इसका हिन्दी रूपान्तर १९७० में राजपाल एण्ड सस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ।) इस सभा में विनायक दामोदर सावरकर ने कहा था, "१० मई १८५७ को जो लड़ाई शुरू हुई थी, वह १० मई १९०८ को अभी समाप्त नहीं हुई, और यह तब तक न समाप्त होगी जब तक ऐसी दस मई न आ जाए जब हमने भाग्य डोर अपने हाथ में ले ली हो और हमारी मातृभूमि स्वाधीन हो चुकी हो।" जब सावरकर पर मुकदमा चलाया गया, तब अभियोग के प्रमाणस्वरूप मई १९०८ का उनका यह वक्तव्य उद्धृत किया गया था। (यह वक्तव्य सावरकर लिखित 'दि इण्डियन वार आफ इण्डिपेन्डेन्स' की भूमिका में दिया हुआ है।) भारतीय क्रांतिकारी गदर को भूले नहीं। उसकी ५०वीं सालगिरह उन्होंने धूम-धाम से मनायी। उस संग्राम से प्रेरणा पाकर उन्होंने देश की स्वाधीनता के लिए लड़ने की प्रतिज्ञा की। उस सभा में लाला हरदयाल भी मौजूद थे। तीन साल बाद वह अमरीका पहुँचे और वहां उन्होंने गदर पार्टी संगठित की।

सोहनसिंह जोश ने बहुत-सी प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री का अध्ययन करके गदर पार्टी का इतिहास लिखा है। उनकी पुस्तक 'हिन्दुस्तान गदर पार्टी, ए

शौर्ट हिस्ट्री' दिल्ली से १९७७ में प्रकाशित हुई। कुछ समय बाद इसका दूसरा खण्ड प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक के आधार पर गदर पार्टी से सम्बन्धित कुछ विशेष बातों की ओर मैं यहां ध्यान आकर्षित करता हूँ। गदर पार्टी के जन्म से पहले अंग्रेजी फौज के देशी सैनिकों में असंतोष फैल रहा था। फौज के बहुत से सेवानिवृत्त सैनिक कनाडा चले गये थे। कनाडा के नगर वैनकूवर के गुरुद्वारे में १९०६ में एक सभा हुई। इस सभा में निश्चय किया गया कि प्रबन्ध-समिति का कोई भी सदस्य तमगा या फौजी चिह्न धारण न करेगा जिससे पता चले कि वह अंग्रेजों का गुलाम है। गरीबसिंह नाम के सिपाही ने चीन का बाक्सर विद्रोह दबाने में अंग्रेजों से तमगा पाया था। उसने वह तमगा उतार दिया। सारासा दीवान के मंत्री भागसिंह ने प्रशंसनीय सेवा के प्रमाण-पत्र जला दिये। १९०८ में सावरकर ने लन्दन की सभा संबोधित की थी, १९०९ में वैनकूवर में भारतीय सैनिक अंग्रेजी गुलामी के चिन्ह उतारकर फेंक रहे थे। इससे विदित होता है कि प्रथम महायुद्ध से पहले ही राष्ट्रीय स्वाधीनता की चेतना भारतवासियों में फैल रही थी। बन्नू के एक सज्जन ने 'स्वदेश सेवक' नाम की मासिक पत्रिका पंजाबी में निकाली थी। तारकनाथ दास ने अंग्रेजी में न्यूयौर्क से 'फ्री हिन्दुस्तान' नाम का पत्र निकाला था। इसमें १८५७-५८ के विद्रोह की असफलता के कारणों का विश्लेषण किया गया था। (यह विश्लेषण क्या था, दुर्भाग्य से यह मालूम नहीं हो सका।) इस पत्र द्वारा भारतवासियों में प्रचार किया जाता था कि वे अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्ति करें। आइरिश पत्रकार जार्ज फ्रीमैन इस पत्र की सहायता करते रहते थे। १९१० में अधिकारियों ने फ्रीमैन के कार्य पर रोक लगाई; फिर यह पत्र बन्द हो गया।

पोर्टलैण्ड नामक स्थान के भारतीय श्रमिकों ने 'हिन्दी एशोसिएशन' नाम की सभा बनायी थी। सोहनसिंह भकना इसके सभापति थे। इस सभा ने १९१३ में लाला हरदयाल को भाषण करने के लिए बुलाया। लाला हरदयाल ने कहा : भारत में सारी मुसीबतों की जड़ अंग्रेजी राज है। अंग्रेजी स्कूल क्लर्क पैदा करने के लिए हैं। ऐसे लोग आजादी के लिए कुछ नहीं कर सकते। देश के लिए क्या करना है, इसका ज्ञान किसानों और मजदूरों को हो तो वे बहुत कुछ कर सकते हैं। पंजाबी लोग बहादुर होते हैं। उन्हें एक राजनीतिक दल का संगठन करना चाहिए। इस दल को १८५७ की विद्रोही भावना से प्रेरित होना चाहिये। क्रांति के लिए यहां तैयारी करनी चाहिए, फिर भारत में जाकर अंग्रेज शासकों को निकालकर ऐसी जनवादी सरकार कायम करनी चाहिये जैसी अमरीका में है। उसमें धर्म, सम्प्रदाय, बिरादरी या रंग का भेद किये बिना सभी भारतीय समान रूप से स्वाधीन होंगे।

जिस सभा का नाम हिन्दी एसोसिएशन था, वह आगे चलकर हिन्दुस्तान गदर पार्टी बनी। १८५७ के गदर की यादगार के रूप में 'गदर' नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला गया। लाला हरदयाल ने प्रस्ताव किया : गदर पार्टी का उद्देश्य हथियारबंद लड़ाई के जरिये भारत को अंग्रेजों की गुलामी से आजाद करना होगा तथा समानता और न्याय के आधार पर राष्ट्रीय सरकार गठित की जाएगी।

पार्टी के दफ्तर मे या पार्टी के पत्र मे जो भाई काम करेंगे, वे तनख्वाह न पायेंगे। उनके खाने-पहनने का प्रबन्ध समानता के आधार पर पार्टी कोष से किया जाएगा। प्रत्येक कारखाने मे श्रमिक अपनी एक समिति निर्वाचित करेंगे और यह पार्टी की कार्यकारिणी से सीधे सम्बद्ध होगी। कार्यकारिणी अपने सदस्यों में से तीन आदमियो का एक कमीशन बनायेगी जो राजनीतिक तथा गुप्त कार्य करेगा। धर्म को हर व्यक्ति का निजी मामला माना जाएगा और धार्मिक विषयो पर कोई विवाद न किया जाएगा। पार्टी-समितियों का निर्वाचन प्रतिवर्ष होगा।

१८५७ के बाद गदर पार्टी ने जो नई बात की थी, वह एक राजनीतिक पार्टी का गठन था। यह पार्टी क्रांतिकारियों की पार्टी थी, उसका काम क्रांति के लिए तैयारी करना था। विदेश में जो भी श्रमिक उपलब्ध थे, उनसे इस पार्टी ने सीधा सम्बन्ध स्थापित किया था। उसने धर्मनिरपेक्षता को संगठन का आधार बनाया था। पार्टी समितियो का निर्माण जनतान्त्रिक निर्वाचन-व्यवस्था से हो, यह निश्चित करने के साथ उसने कार्यकारिणी तथा तीन आदमियो के कमीशन को सर्वोपरि रखा था। तीन आदमियों का यह कमीशन कम्युनिस्ट पार्टियों के पौलिट ब्यूरो से मिलता-जुलता था। इस पार्टी ने खुले और गुप्त दोनों तरह के कार्य करने का फैसला किया था। खुले कार्य के लिए उर्दू, पंजाबी, सिन्धी आदि मे उसने 'गदर साप्ताहिक' के प्रकाशन की योजना बनाई थी। भारत को स्वाधीन करके जनवादी सरकार की स्थापना उसका कार्यक्रम था। भारत के राजनीतिक इतिहास में लाला हरदयाल द्वारा गठित इस पार्टी का महत्व असाधारण है। पहली बार किसी भारतीय ने इस तरह क्रांतिकारी पार्टी बनाने का विचार किया था। यह उन गुप्त क्रांतिकारी संस्थाओं से भिन्न थी जिनकी दृष्टि मे उनके सदस्यो की भूमिका प्रधान थी, क्रान्ति मे जनता की भूमिका गौण थी। इसका लक्ष्य खुला राजनीतिक प्रचार करना था, सैनिकों के अलावा आम जनता मे राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करना था। पार्टी ने जो कमीशन बनाया, उसके तीन सदस्य थे, सभापति सोहनसिंह भकना, सचिव लाला हरदयाल और कोषाध्यक्ष काशीराम। कुछ विलम्ब से पहली नवम्बर १९१३ को उर्दू मे 'गदर' प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशन के स्थान को पहले युगान्तर आश्रम का नाम दिया गया था। गदर नाम की प्रसिद्धि के साथ आगे चलकर वह भी गदर आश्रम कहलाया।

पार्टी और पत्र के मुख्य संचालक, संगठनकर्ता और प्रेरक लाला हरदयाल थे। वह जनवरी १९११ मे अमरीका पहुँचे थे। वहाँ के एक विश्वविद्यालय मे वह दर्शनशास्त्र एव संस्कृत के अध्यापक हुए। सितम्बर १९१२ में उन्होंने वह पद छोड़ दिया और क्रांतिकारी काम मे लग गए। इसी वर्ष उन्होने 'कार्लमार्क्स ए माडर्न रिशि' नाम की पुस्तक लिखी। सोहनसिंह जोश ने लाला हरदयाल के बारे में लिखा है कि वह अपने समय के सबसे बड़े बुद्धिजीवियों मे थे। वह अंग्रेजो का फरेब बहुत अच्छी तरह समझते थे; इस फरेब का पर्दाफाश कैसे करना चाहिए, यह भी वह जानते थे। गदर के पहले अंक में उन्होंने लिखा था कि आज पहली नवम्बर १९१३ को भारत के इतिहास मे एक नया युग शुरू होता है। विदेश मे

किन्तु अपने देश की भाषा में अंग्रेजी राज्य के खिलाफ आज से लड़ाई शुरू होती है।

जो नये युग की शुरुआत थी, वह एक तरह से पुराने युग की आवृत्ति भी थी। गदर पार्टी के नेताओं के सामने क्रांति की रूपरेखा वही थी जो १८५७ में इतिहास की बात बन चुकी थी। गदर अखबार ने लिखा : हमारा नाम क्या है ? गदर। काम क्या करना है ? गदर। गदर कहां होगा ? हिन्दुस्तान में। कब होगा ? कुछ ही साल में। क्यों होगा ? इसलिए कि लोग अंग्रेजी राज के अत्याचार अब बर्दाश्त नहीं कर सकते। वे आजादी के लिए लड़ने-मरने को तैयार हैं। हर हिन्दुस्तानी का फर्ज है कि वह गदर की तैयारी करे। वह वक्त जल्दी ही आएगा जब कलम और स्याही की जगह रायफल और खून ले लेंगे। (अखबार के शब्द ज्यों के त्यों यहां नहीं दिये गये। जोश की पुस्तक में अंग्रेजी के उद्धरण हैं, उनका यह अनुवाद है। अमरीका में सैन ब्रूनो के अभिलेखागार में जो गदर दस्तावेज सुलभ थे, उनके आधार पर जोश ने अपनी सामग्री उद्धृत की है। अनुमान है कि ये दस्तावेज अंग्रेजी में थे और उर्दू सामग्री के अनुवाद थे।) ६ जनवरी १९१४ के 'गदर' ने लोगों को याद दिलाया कि १८५७ में गदर हुआ था। जब सिपाही बगावत करें, हर हिन्दुस्तानी को उनका साथ देना चाहिए। गदर अखबार की एक विशेषता यह थी कि उसमें सावरकर-लिखित 'प्रथम स्वाधीनता संग्राम का इतिहास' धारावाहिक रूप से प्रकाशित होता था। इसमें अनेक कविताएँ प्रकाशित हुई थी जिनमें गदर के वीरों की याद दिलाते हुए सैनिकों से कहा गया था कि तुम गोरों के लिए लड़ते हो, दूसरे देशों पर हमला करते हो, अपने देश के मालिक क्यों नहीं बन जाते ? गदर में लाला हरदयाल की एक लेखमाला 'गुलामी का जहर' प्रकाशित हुई थी। इसमें उन्होंने अंग्रेजों की कूटनीति का पर्दाफाश किया था। गदर पार्टी ने उनकी अनेक पुस्तिकाएं प्रकाशित कीं। इनमें भारत के साम्प्रदायिक संगठनों तथा अंग्रेजों से रियायतें मांगने वाले सुधारवादी नेताओं की आलोचना की गयी थी। लाला हरदयाल ने अपने लेखों में रूढ़िवादी सामन्ती व्यवस्था की आलोचना की। उन्होंने कहा कि जब तक समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव रहेगा, हम आधुनिक समाज का गठन नहीं कर सकते। मालिक और उसके नौकर में बराबरी नहीं हो सकती चाहे दोनों मुसलमान हों, चाहे सिक्ख या वैष्णव हों। पैसे वाला हमेशा गरीब पर हुकूमत करेगा। आर्थिक समानता के बिना भाईचारे की बातें सपना है।

'गदर' अखबार उर्दू और पंजाबी में निकलता था। संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के रघुवर दयाल गुप्त उर्दू किताबत में माहिर थे। उनके कहने पर 'गदर' के कुछ अंक हिन्दी में निकले थे। रघुवर दयाल गुप्त गदर-आश्रम में उसकी स्थापना के समय से रहे थे। 'गदर' के कई अंक गुजराती में भी प्रकाशित हुए। अंग्रेजी फौज में पंजाबियों के साथ बहुत से पठान शामिल थे। जोश के अनुसार 'गदर' का एक अंक सम्भवतः पश्तो में भी छपा था। १७ फरवरी १९१४ के 'गदर' में सिक्खों, मुसलमानों, राजपूतों के साथ पठानों से भी अपील की गयी थी कि वे अंग्रेजों के लिए न लड़कर अपनी आजादी के लिए लड़ें। 'गदर' अखबार

और गदर पार्टी की एक विशेषता यह थी कि अनेक मजदूरों ने गदर में अपनी रचनाएं दीं और उन्होंने सभाओं में राजनीतिक भाषण करना सीखा।

विदेश में देश-भक्त भारतवासियों ने जो अनेक क्रांतिकारी पत्र निकाले थे उनमें 'गदर' का शानदार स्थान था। श्रीमती कामा का 'वन्देमातरम्', श्यामजी कृष्ण वर्मा का 'सोशियोलौजिस्ट', बर्लिन से प्रकाशित होने वाला 'तलवार', इनका जोड़ीदार था 'गदर'। शायद ही किसी अन्य क्रांतिकारी पत्र ने किसानों, मजदूरों, फौज के सिपाहियों से उन्हीं की भाषा में इस तरह राजनीतिक बातें की हों जिस तरह 'गदर' ने की। 'गदर' एक नई तरह का पत्र था। उसकी पत्रकारकला का सीधा सम्बन्ध साधारण जनता से था। पूर्ण स्वाधीनता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, समानता का भाव आदि-आदि बातें आगे चलकर राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन से अटूट रूप में जुड़ गयीं। इनका प्रचार करने का श्रेय 'गदर' को भी है। राजनीतिक स्वाधीनता के अलावा सामाजिक समानता के पक्ष में बहुत-सी बातें 'गदर' में प्रकाशित हुईं। पत्र जिस जनवादी चेतना का प्रचार कर रहा था, उसके नेता पूंजीपति या पूंजीवादी राजनीतिज्ञ नहीं थे। उसमें या तो लाला हरदयाल जैसे क्रांतिकारी बुद्धिजीवी थे या पंजाब के किसान और सैनिक थे। उल्लेखनीय है कि गदर आश्रम में सवर्ण हिन्दू, अछूत, मुसलमान और सिक्ख, सब एक साथ बैठकर भोजन करते थे। गदर पार्टी में पंजाब के लोग अधिक थे और पंजाबियों में सिक्ख अधिक थे किन्तु इनके साथ अन्य प्रदेशों और धर्मों के लोग भी थे। बरकतुल्ला गदर पार्टी के प्रमुख कार्यकर्त्ता थे और बाद में अन्य साथियों के साथ रूस पहुँचे थे। लाला हरदयाल दिल्ली में पैदा हुए थे और अनीश्वरवादी थे। दक्षिण भारत के चेम्पैया भी गदर पार्टी के कार्यकर्त्ता थे। जोश ने इन्हें तमिल लिखा है; सम्भव है, वह आन्ध्र हों। भारत में 'गदर' की प्रतियां पहुँचाना आसान नहीं था। जो प्रतियां भेजी जाती थीं, सरकार उन्हें जब्त कर लेती थी। फिर भी कुछ प्रतियां पहुँच जाती थीं और पंजाब में कई जगह सभाओं में लोगों ने उन्हें पढ़कर सुनाया था।

सन् '१४ में जब लड़ाई छिड़ गयी, तब अंग्रेजों ने पूरा प्रयत्न किया कि विदेश में होने वाला सारा क्रांतिकारी काम बन्द कर दिया जाए। लाला हरदयाल के खिलाफ अभियोग लगाया गया कि वह आतंकवादी है। २७ मार्च १९१४ को, लड़ाई छिड़ने से कुछ महीने पहले, उन्हें अमरीकी पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। लाला हरदयाल ने एक बयान दिया जिसमें उन्होंने अमरीकी सरकार की आलोचना की कि वह अंग्रेजों के दबाव में आ गयी है। उन्होंने राष्ट्रपति विल्सन की विदेश नीति की आलोचना की कि वह अंग्रेजपरस्त हो गयी है। उन्होंने कहा कि कई महीने से ब्रिटिश गुप्तचर मेरा पीछा करते रहे हैं लेकिन मैं अपना सारा काम खुलेआम करता रहा हूँ। इन गुप्तचरों के कारण मैंने अपने लेखन और भाषण में कोई नरमी नहीं आने दी। उन्होंने कहा कि हमारा ध्येय भारत में क्रांति करना है। उन्होंने घोषित किया कि वह कुछ व्यक्तियों की हत्या करने के पक्ष में नहीं हैं, वह अराजकतावादी सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करते। इस संदर्भ में एक मजेदार बात यह है कि दो वर्ष पहले लाला हरदयाल ने जारशाही के

विरुद्ध व्याख्यान दिया था। उन्हें अराजकतावादी सिद्ध करने के लिए अमरीकी अधिकारियों ने प्रमाण के रूप में इस व्याख्यान का हवाला दिया। बाद को इन अधिकारियों ने माना कि ब्रिटिश दूतावास के कहने पर उन्होंने लाला हरदयाल को गिरफ्तार किया था। उन्हें जमानत पर छोड़ा गया। उनके साथियों ने सलाह दी कि वह जमानत जब्त हो जाने दें और अमरीका से बाहर चले जायें। उन्होंने ऐसा ही किया। उनके बाद गदर पार्टी का काम सतोखसिंह ने सँभाला।

ज़ारशाही के विरुद्ध लाला हरदयाल का भाषण कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। गदर पार्टी के क्रांतिकारी जैसे विभिन्न सम्प्रदायों और प्रदेशों के लोगों को मिलाकर राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन चलाने में विश्वास करते थे, वैसे ही वे किसी भी देश में निरंकुश राज्यसत्ता और अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाते थे। विशेष रूप से जहाँ अंग्रेजों ने लोगों को गुलाम बनाया हो, वहाँ क्रांतिकारी भाईचारे का संदेश पहुँचाना वह अपना कर्त्तव्य समझते थे। जैसे इंग्लैण्ड और अमरीका की सरकारें मिलकर भारतीय क्रांतिकारियों का दमन करना चाहती थीं, वैसे ही आयरलैण्ड और भारत के क्रांतिकारी मिलकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध कर रहे थे। फ्रीमैन नामक आइरिश पत्रकार ने 'फ्री हिन्दुस्तान' पत्र में सहयोग करके क्रांतिकारी अन्तर्राष्ट्रीयता का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया था। एक अन्य आइरिश पत्रकार एडवर्ड गैमन्स ने सुरेन्द्रनाथ कर के मासिक पत्र 'इण्डिपेण्डेन्ट हिन्दुस्तान' में उपसंपादक बनकर काम किया था। यह पत्र १९२० में निकला था। इससे पहले जुलाई १९१९ में प्रसिद्ध आइरिश देशभक्त और राजनीतिज्ञ डी वैलेरा अमरीका गये। वहाँ गदर पार्टी ने उनका स्वागत किया। वहाँ उन्हें एक तलवार भेंट की गयी। दिसम्बर १९२४ में आइरिश प्रजातन्त्र के प्रतिनिधि ने न्यूयोर्क में अपने सम्मान में आयोजित भोज में कहा, भारतवासी अत्याचार, धूर्तता और बेईमानी के खिलाफ लड़ रहे हैं। वे सच्चाई और न्याय के लिए लड़ रहे हैं। भारत का लक्ष्य और आयरलैंड का लक्ष्य एक है। हम आइरिश प्रजातन्त्रवादी अपने देश की आजादी के लिए लड़ रहे हैं। हमारे ही भाइयों ने अपने देश का नाम कलंकित करके हिन्दुस्तान को गुलाम बनाने में मदद की है। यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम भारत के लिए काम करें, उसके लिए लड़ें और अत्याचारी के शिकंजे से मिस्र और भारत दोनों को हमेशा के लिए आजाद कर दें। आयरलैण्ड के लोगों की दिमागी ताकत और शारीरिक बल के आधार पर इन दो प्राचीन देशों को गुलाम बनाया गया है। हिन्दुस्तान में इंग्लैण्ड के हित में सर ऐन्टनी मैकडानल्ड और सर माइकेल ओडायर जैसे लोगों के कारनामों से हमारा सिर नीचा हुआ है। [illegible] है जिससे हमारा देश यह कलंक धो डाले और अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा फिर प्राप्त करे।

प्रथम महायुद्ध के दौरान और उसके बाद भारत में अनेक आइरिश पलटनें मौजूद थीं। जुलाई १९२० में सैन फ्रांसिस्को के [illegible] में यह खबर छपी कि भारत में आइरिश सिपाहियों ने बगावत कर दी है। [illegible] की एक पलटन के आइरिश सैनिकों ने आयरलैण्ड में अंग्रेजों के [illegible]

खबरें सुनकर विद्रोह किया था। चौदह विद्रोहियों को गोली मारने की सज़ा दी गई और छियालीस को आजीवन कारावास का दण्ड मिला। गदर पार्टी के मुख पत्र 'इण्डिपेण्डेन्ट इण्डिया' ने लिखा कि आयरलैण्ड और हिन्दुस्तान दोनों मिलकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का जुआ उतार फेंकेंगे।

अप्रैल १६१४ में सिंगापुर के भारतीय व्यापारी गुरुदित्तसिंह ने जापानी जहाज कोमागातामारू किराये पर लिया। उद्देश्य था उसमें पंजाबियों को लेकर कनाडा पहुँचाना। अंग्रेज अधिकारियों ने गुरुदित्तसिंह को गिरफ्तार कर लिया। इस पर हांगकांग-स्थित पंजाबी पलटन ने विरोध किया और अंग्रेजों ने गुरुदित सिंह को छोड़ दिया। १८५७ में विद्रोह का दमन करने के लिए अंग्रेजों ने सिक्ख सामन्तों की मदद से पंजाबी सैनिकों का विशेष उपयोग किया था। पचास साल बाद ये पंजाबी सैनिक भी अंग्रेजों का विरोध करने लगे थे। गदर पार्टी के इतिहास का गहरा सम्बन्ध भारतीय सेना के असंतोष से है। इससे विदित होता है कि १६१४ में यदि और संगठित रूप से प्रयत्न किया जाता तो लाला हरदयाल की योजना सफल हो सकती थी। उसकी सफलता के लिए सेना के अलावा आम जनता में, विशेष रूप से किसानों में, राजनीतिक प्रचार और संगठन आवश्यक था। १८५७ में अवध के किसानों और देशी सेना के बीच जो सम्बन्ध था, वह प्रथम महायुद्ध के दौरान पंजाबी किसानों और पंजाबी पलटनों के बीच नहीं था। गदर पार्टी की योजना की असफलता का यह मुख्य कारण है। गदर पार्टी के नेता छापेमार लड़ाई का महत्व समझते थे किन्तु भारतीय किसानों की वास्तविक स्थिति से वे अपरिचित थे। बहुत जल्दी यह स्पष्ट हो गया कि पंजाब के सामन्त अंग्रेजों के साथ १६१४ में वैसे ही हैं जैसे वे १८५७ में थे। इससे निष्कर्ष यह निकलता था कि सामन्तविरोधी लड़ाई चलाये बिना अंग्रेजों का प्रभुत्व समाप्त नहीं किया जा सकता। गदर पार्टी के नेता सामन्तों से अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करने की आशा कर रहे थे। स्पष्ट ही वे इन सामन्तों की देशभक्ति का मूल्यांकन बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कर रहे थे।

कोमागातामारू की यात्रा के दौरान उसके यात्रियों के बीच गदर पार्टी के नेताओं ने अपना क्रांतिकारी साहित्य वितरित किया। यहाँ के यात्रियों में बहुत से अवकाश-प्राप्त सैनिक थे। इन सब लोगों को कनाडा में उतरने न दिया गया। अनेक प्रकार से उन्हें अपमानित किया गया। इस घटना से अंग्रेजी राज्य के बारे में उनकी धारणा में परिवर्तन हुआ। यात्रियों ने तय किया कि वे स्वदेश लौट चलेंगे। जुलाई में जहाज वापस चला। जापान पहुँचने पर गदर पार्टी के अध्यक्ष सोहनसिंह भकना ने यात्रियों को पिस्तौलें और कारतूस दिये। गुरुदित्तसिंह ने लोगों से कहा कि वे हथियार और क्रांतिकारी साहित्य फेंक दें। कुछ ने ऐसा ही किया किन्तु कुछ और लोगों ने साहित्य और हथियारों की रक्षा की। कलकत्ते में तलाशी के समय गोली चली। एक ब्रिटिश अफसर मारा गया। भारतीय पक्ष के कई लोग मारे गये जिनमें कुछ मुसलमान भी थे।

अगस्त १६१४ में प्रथम महायुद्ध शुरु हुआ। गदर पार्टी ने जोरों से प्रचार किया कि आज़ादी की लड़ाई छेड़ देने का समय आ गया है। गोरी फौजों को

हिन्दुस्तान छोड़ना पड़ेगा। एक तरफ से जर्मनी हमला करेगा, दूसरी तरफ से तुम करो। खुलकर विद्रोह का प्रचार करो। देशी रियासतों की फौजों से हथियार ले लो, नेपाल और अफगानिस्तान से सहायता लो। इस प्रचार का कुछ विशेष परिणाम न हुआ किन्तु अंग्रेजों को पहले की तरह पंजाबी सैनिकों का भरोसा न रहा। आठ हजार सैनिकों को सेना से छुट्टी दे दी गयी, चार सौ जेल भेज दिये गये, ढाई हजार अपने गाँवों में नजरबन्द किये गये, पाँच हजार सेना से निकाल दिये गये। गदर पार्टी के नेता जहाजों मे भारत पहुँचे। लाल हरदयाल ने क्रांति के लिए कार्यक्रम बनाया था : देशी सेना को अपने पक्ष मे करना, सरकारी हाकिमों और उनके चमचों को समाप्त करना, जेलों से राजनीतिक बंदियों को मुक्त करना, पुलिस चौकियों पर हमला करना, खजाने पर अधिकार करना, जरूरत हो तो डाका डालकर धन एकत्र करना, 'गदर' जैसा पत्र निकालना, तार और रेलवे लाइनों को नष्ट करना, बम बनाना और हथियार इकट्ठा करना, जनता को, विशेष रूप से नौजवानों को, क्रांति मे शामिल करना। इस कार्यक्रम की कुछ बातें अगली पीढ़ी के उन क्रांतिकारियों की नीति से मिलती-जुलती थी जो काकोरी षड्यन्त्र में पकड़े गये थे। धन एकत्र करने के लिए डाका डालना ऐसी ही नीति थी। खजाने आदि पर कब्जा करना १८५७ के अनुभव के अनुरूप था। अखबार निकालने और प्रेस कायम करने की बात गदर पार्टी के अपने अनुभव से पैदा होती थी और १८५७ के अनुभव मे भी सीखी जा सकती थी। रेल तार नष्ट करने की योजना आगे चलकर १९४२ के से आंदोलनों मे संघर्ष का आवश्यक अंग बनी। अनेक देश-भक्तों ने क्रांतिकारी कामों के लिए स्वेच्छा से पैसा दिया और एकत्र कराया। ऐसे लोगों में भावी शहीद भगतसिंह के चाचा किशनसिंह भी थे। उन्होंने एक हजार रुपए दिये और लाहौर के एक साहूकार मे इतनी ही रकम दिलवायी। किन्तु इस तरह बहुत थोड़ा धन इकट्ठा किया जा सका। अमृतसर जिले के एक गाँव में जब गदर पार्टी के सदस्य डाका डालने गए तो गाँव वालों ने उनका पीछा किया और दोनों पक्षों मे लड़ाई हुई। जोश ने लिखा है कि जनता सरकारी प्रचार से प्रभावित हुई। उसने उन्हें क्रांति करने वाले देशभक्तों के रूप में स्वीकार न किया और उन्हें साधारण डाकू समझा।

गदर पार्टी के क्रांतिकारियों ने फीरोजपुर और लाहौर की छावनियों में सैनिकों से सम्पर्क स्थापित किया। पता चला कि सैनिकों में बड़ा असंतोष है और यदि विद्रोह शुरू हो जाए तो वे उसमें शामिल हो जायेंगे किन्तु अपनी ओर से विद्रोह न करेंगे। नवम्बर १९१४ मे हथियार इकट्ठा करने के लिए और सैनिकों को क्रांति के पक्ष में उभारने के लिए कुछ छावनियों पर हमला करने की योजना बनायी गयी। अनेक कारणों से यह योजना सफल न हुई और कई लोग पकड़ लिए गए तथा कुछ को फांसी की सजा हुई। जोश के अनुसार गदर पार्टी के नेताओं ने रास विहारी बोस और शचीन्द्र नाथ सान्याल की गलत सलाह मान ली कि अचानक कुछ न किया जाए और अभी वे रुके रहे। अंग्रेजों को क्रांति की योजना की सूचना मिल गयी और उन्होंने पकड़-धकड़ शुरू कर दी। सैनिकों से सम्पर्क कायम करने में पंजाब के करतारसिंह के साथ पिंगले नाम के महाराष्ट्र के

प्रसिद्ध क्रांतिकारी भी थे। इन दोनों को पकड़ लिया गया था और उन्हें फांसी दी गयी। पंजाब के अलावा इन लोगों ने दूसरी जगह के सैनिकों से भी सम्पर्क कायम किया था। मेरठ छावनी के सैनिकों से सम्पर्क कायम करते हुए पिंगले पकड़े गये थे। जून १९१५ में लाहौर षड्यन्त्र का मुकदमा चलाया गया। सरकारी वकील ने कहा कि षड्यन्त्र का उद्देश्य अंग्रेज बादशाह के खिलाफ लड़ाई शुरू करना और कानून से कायम की हुई सरकार को बलपूर्वक उलट देना है तथा अंग्रेजों को निकालकर स्वदेशी सरकार कायम करना है। जज के फैसले में कहा गया कि षड्यन्त्र की योजना अमरीका में बनायी गयी थी। छियालीस आदमियों को फांसी दी गयी, चौंसठ को काले पानी की सजा दी गयी, बहुत से लोग पुलिस द्वारा मारे गए। फौज के बहुत से लोगों को फौजी अदालत के फैसले के अनुसार गोली मार दी गयी। फांसी पाने वालों में करतारसिंह भी थे। इनके जीवन से भगतसिंह बहुत ही प्रभावित थे। इस प्रकार १८५७ के गदर की प्रेरणा से पहले गदर पार्टी बनी, फिर इस पार्टी के करतारसिंह के माध्यम से यह प्रेरणा भगतसिंह तक पहुँची।

इस समय भारत के सुधारवादी नेता इस आशा में थे कि युद्ध में अंग्रेजों की सहायता करें तो युद्ध के बाद ये हमें कुछ रियायतें दे देंगे। इनके अतिरिक्त जमींदार वर्ग पूरी तरह अंग्रेजों का साथ दे रहा था। सिक्ख जमींदारों ने घोषणा की कि गदर पार्टी के क्रांतिकारी सच्चे सिक्ख नहीं हैं। १८५७ में अंग्रेजों ने सिक्ख सामन्तों को अपने हित में इस्तेमाल किया। उस समय इन सामन्तों ने अंग्रेजों का साथ दिया तो विवेचक यह दलील देते हैं कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानियों की मदद से पंजाब पर विजय पायी थी, इसलिए सिक्ख पुरानी बात याद करके अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। प्रथम महायुद्ध के दौरान क्या हो रहा था? जो सिक्ख अंग्रेजों से लड़ने को तैयार थे, उन्हें सिक्ख जमींदार सच्चा सिक्ख मानने को तैयार न थे। उनकी निगाह में सच्चा सिक्ख वही था जो अंग्रेजों की मदद करे। धर्म कोई भी हो, भारत में सामन्ती और प्रतिक्रियावादी शक्तियां उसकी व्याख्या करके एक ही नतीजा निकालती हैं—अंग्रेजों की मदद करो। सोहनसिंह भकना के अनुसार अकाल तख्त ने क्रांतिकारियों को गद्दार घोषित किया। क्रांतिकारियों को पकड़ने के लिए इनाम देने का एलान किया गया। अमरीका में काम करने वाले हिन्दुस्तानी समझते थे कि स्वदेश के तीस करोड़ लोग उनके साथ हैं, कुछ हजार गोरों से ही निपटना है किन्तु देश की परिस्थिति इससे उलटी थी। जनता का नेतृत्व राजाओं, जमींदारों और पूंजीपतियों के हाथ में था जो अंग्रेजों के इशारे पर नाच रहे थे। महात्मा गांधी जैसे सत्य के पुजारी भी अंग्रेजों के पक्ष में काम कर रहे थे। देश के जन धन की बलि अंग्रेजी स्वार्थ की वेदी पर दी जा रही थी।

१८५७ में बंगाल के बुद्धिजीवी अंग्रेजों का साथ दे रहे थे, यह अपराध क्षम्य है। बीसवीं सदी में भारत के शिक्षित राजनीतिज्ञ प्रथम महायुद्ध के दौरान अंग्रेजों की मदद कर रहे थे, यह कार्य क्षम्य नहीं है। ये राजनीतिज्ञ जानते थे कि युद्ध का उद्देश्य या तो दूसरों को गुलाम बनाना है या गुलाम बनाये हुए लोगों को अपने अधिकार में रखना है। इसके विपरीत गदर पार्टी के लोगों ने जहाँ भी बन पड़ा

सैनिकों को समझाया कि अंग्रेजी राज्य की रक्षा के लिए वे अपना और दूसरों का खून न बहाएँ। सुधारवादी नेताओं की तुलना मे वे सही क्रांतिकारी मार्ग पर चल रहे थे।

१९२५ मे पूरब के पीडित जनो का अन्तर्राष्ट्रीय सघ बना। इसका पहला सम्मेलन चीन के हाङ्काउ नगर मे हुआ। इसमे गदर पार्टी के कार्यकर्त्ताओ ने भाग लिया। इस सम्मेलन मे भारत के अलावा कोरिया और वियतनाम के लोगों ने भी भाग लिया। इसके प्रमुख संगठनकर्त्ता हो ची मिन्ह थे। उस समय अंग्रेज चीनी भूमि पर अपने अधिकार क्षेत्रों मे हडतालियों और प्रदर्शनकारियो पर गोलियां बरसा रहे थे। इसके विरोध में हांगकांग-स्थित ब्रिटिश इण्डियन पुलिस के सत्तर आदमियों ने नौकरी से इस्तीफा दिया। लाला हरदयाल के बाद संतोख-सिंह गदर पार्टी के प्रमुख नेता रहे। उन्होने दिसम्बर १९२५ मे सत्यभक्त द्वारा आयोजित कानपुर के कम्युनिस्ट सम्मेलन मे भाग लिया।

पंजाब के क्रांतिकारियो ने पंजाबी भाषा मे 'किर्ती' नाम का पत्र निकाला। इसमे कहा गया कि यह पत्र सारी दुनिया के मजदूरों से सहानुभूति रखता है। अंग्रेज चीन मे भारतीय सैनिको को इस्तेमाल कर रहे थे। इस पत्र ने इस नीति का विरोध किया। फरवरी १९२७ मे बेल्जियम के ब्रुसेल्स नगर मे साम्राज्य-विरोधी संघ का सम्मेलन हुआ। इसमे कांग्रेस की ओर से जवाहरलाल नेहरू ने, भारतीय क्रांतिकारियो की बर्लिन कमेटी की ओर से वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय और नम्बिआर ने तथा गदर पार्टी की ओर से बरकतुल्ला और रत्नसिंह ने भाग लिया। चीन के अनेक नगरों मे, विशेष रूप मे शघाई नगर मे, भारतवासियों ने साम्राज्य-विरोधी प्रचार किया और अंग्रेजो से लड़ने वाले चीनी राष्ट्रवादियो का समर्थन किया। बरकतुल्ला मई सन् '१९ में रूस पहुँचे थे और वहां उन्होने तमाम मुसलमानों से अपील की कि वे सोवियत सत्ता का समर्थन करें। उनकी अपील फारसी में लिखी गयी थी और ताशकन्द से प्रकाशित हुई थी। चीन के शघाई नगर, सिंगापुर, मेक्सिको, अर्जेन्टीना आदि अनेक देशों मे गदर पार्टी की शाखाएँ कायम हुई थी। अर्जेन्टीना के भारतीय श्रमिकों को जब मालूम हुआ कि भगतसिंह और उनके साथियों को फासी दी गयी है तो उन्होंने एक दिन की हड़ताल की। गदर पार्टी के अनेक नेता सोवियत संघ पहुँचे और वहां उन्होंने कम्युनिस्ट इण्टर-नेशनल के सदस्यो के रूप मे काम किया। भारत मे जैसे-जैसे साम्यवादी आदोलन का प्रसार हुआ, वैसे-वैसे गदर पार्टी की उपयोगिता समाप्त होती गयी। 'किर्ती' पत्र से सम्बद्ध अनेक क्रातिकारी कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हुए। गदर पार्टी के जो कार्यकर्त्ता भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी मे शामिल हुए, उनमे गदर पार्टी के अध्यक्ष सोहनसिंह भकना भी थे।

संतोखसिंह ने पंजाबी मासिक पत्र 'किर्ती' की स्थापना की थी। इसमें अमरीकी महिला ऐग्नीस स्मेडले का लेख प्रकाशित हुआ था। पत्र के लिए उन्होंने यह लेख बर्लिन से भेजा था। इस लेख की एक विशेषता यह है कि स्मेडले ने भारतीय स्वाधीनता-आदोलन के इतिहास की शुरुआत १८५७ मे मानी थी। इस लेख की दूसरी किस्त अंग्रेजो ने रास्ते में ही रोक ली। १९२१ मे होने वाले कम्युनिस्ट

इण्टरनेशनल के अधिवेशन मे भारतीय प्रतिनिधियों के साथ ऐग्नीस स्मेडले भी थी। उन्होंने चीन जाकर वहाँ के क्रांतिकारियों के साथ काम किया था। लन्दन में हिन्दुस्तानियों की एक सभा मे उन्होने दूसरे देशों की जनता को दबाने के लिए अंग्रेजों द्वारा भारतीय फौज के इस्तेमाल का विरोध किया। ऐग्नीस स्मेडले के कहने पर गदर पार्टी के नेता गोपालसिंह ने इस आशय का प्रस्ताव पारित कराया और अहमदाबाद से निकलनेवाले गांधीजी के पत्र 'यंग इण्डिया' के नाम तार भेजा कि कैलीफोर्निया मे हिन्दुस्तानियों की सभा असहयोग आंदोलन का समर्थन करती है और हिन्दुस्तानी सैनिको से अपील करती है कि वह साम्राज्यवादी हमलावरों की मदद न करें। अंग्रेजो ने इस तार को रास्ते में ही दबा दिया। गदर पार्टी के कुछ सदस्य भारत से बाहर ईरान मे अंग्रेजों से लड़े। इनमें गदर पार्टी के सैनिक विभाग के सचिव पाण्डुरंग खानखोजे भी थे। जोश ने लिखा है कि गदर पार्टी के लोग जहाँ भी अंग्रेजों से लड़ते थे, यह गीत गाते थे :

जय जय जय जय हिन्द
तोपों बन्दूक हथियारों से
आजाद करो जी हिन्द
हिन्द हमारी जान है
और हिन्द हमारा प्रान
भगत बने हम हिन्द के
और हिन्द के कुर्बान।

इस तरह के गीत १८५७ में भी प्रचलित थे। राष्ट्रीय स्वाधीनता और एकता की वह परम्परा प्रथम महायुद्ध के दौरान और उसके बाद गदर पार्टी द्वारा पुष्ट हुई।

गदर पार्टी को अपने लक्ष्य मे सफलता प्राप्त नही हुई। अनेक असफल क्रांतिकारी आंदोलनो के समान गदर पार्टी की कार्यवाही ने भी भावी इतिहास के निर्माण मे सहायता की। १८५७ के बाद इतने बड़े पैमाने पर देशी सेना को क्रांति के पक्ष में करने का यह प्रयत्न प्रथम महायुद्ध के दौरान किया गया। गदर पार्टी के वीरों ने अपने साहित्य द्वारा सैनिको और किसानों में साम्राज्य-विरोधी चेतना का प्रसार किया। उनका कार्य महायुद्ध के साथ समाप्त नही हो गया। उन्होने अपनी क्रांतिकारी चेतना को और निखारा, और यह बात उनकी समझ मे आयी कि क्रांति की सफलता के लिए जनता को और भी शिक्षित तथा संगठित करना जरूरी है। इस कार्य के लिए मार्क्सवाद से बड़ी सहायता मिल सकती है। यही कारण है कि संतोखसिंह और सोहनसिंह भकना जैसे लोग भारत मे आकर किसान-सगठन के कार्य मे लग गए। क्रातिकारी आंदोलन की एक मंजिल खत्म हुई; दूसरी मंजिल शुरू हुई।

## २. राधामोहन गोकुलजी और क्रान्तिकारी दल

हिन्दी प्रदेश में राजनीतिक और सास्कृतिक नवजागरण १८५७ के स्वाधीनता संग्राम से आरम्भ होता है। इस संग्राम का प्रभाव भारत के सभी प्रदेशों पर है,

हिन्दी प्रदेश मे उसका विशेष सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। हिन्दी पत्रकार और राजनीतिक कार्यकर्त्ता नारायण प्रसाद अरोड़ा के अभिनन्दन मे जो ग्रंथ भेंट किया गया, उसमें अरोड़ा जी ने कानपुर के 'राजनीतिक जीवन' पर अपने लेख मे बताया कि "कानपुर मे राजनीतिक जीवन की झलक पहले-पहल सन् १८५७ के विप्लव मे दिखाई देती है" और "प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक जीवन का सूत्रपात सन् '५७ से होता है।" नौजवान क्रांतिकारी के रूप में नारायण प्रसाद अरोड़ा और उनके साथी जो पुस्तकें पढते थे, उनमें सावरकर की प्रथम स्वाधीनता संग्राम वाली पुस्तक भी थी। अरोड़ा जी और लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी ने 'कानपुर के विद्रोही' (कानपुर, १६४८) सम्पादित की है। इसमें बताया है कि "कानपुर क्रांतिकारी साहित्य के प्रचार का केन्द्र बनाया गया। यहाँ अमरीका से 'गदर' और 'तलवार' आते थे और उन्हे युवकगण बड़े चाव से पढते तथा मित्रों को पढाते थे। सशस्त्र क्रांति, बम और पिस्तौलों द्वारा अंग्रेजों को मार भगाने की चर्चा अक्सर गलियों मे हुआ करती थी। सन् १६०८ में जब लाला हरदयाल कानपुर आये थे, तब अरोड़ाजी ने उनसे सलाह करके रूस और आयरलैण्ड के क्रांतिकारियों के जीवन चरित्र और उनके आंदोलन के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले साहित्य का एक छोटा-सा 'गुप्ती पुस्तकालय' स्थापित कर लिया था। इस पुस्तकालय की पुस्तकों का प्रचार गुप्त रूप से मित्रो मे होता और वे उनका अध्ययन करके अपने साथियों को बताते और उन्हें अपने दल की ओर आकर्षित करते थे।" इस पुस्तकालय में कुछ पुस्तकें रूसी क्रांतिकारियो के बारे में थी, कुछ आयरलैण्ड के देशभक्तो के बारे मे और इनके साथ सावरकर की उक्त पुस्तक थी।

जिस समय लाला हरदयाल कानपुर आये थे, उस समय तक गदर पार्टी का संगठन न हुआ था किन्तु १८५७ के संग्राम से प्रभावित लाला हरदयाल ने कानपुर के नौजवानों को क्रांति की ओर प्रेरित किया और बाहर अमरीका में गदर पार्टी की स्थापना की। इस प्रकार गदर और लाला हरदयाल से नये क्रांतिकारियों का सम्बन्ध जुड़ जाता है। १८५७ की लडाई के समय ही अंग्रेजों के दासो, राजभक्तों और उनके विरोधियों, क्रांतिकारियो मे भेद उत्पन्न हो गया था। नारायण प्रसाद अरोड़ा के अनुसार गदर ने क्रांतिकारी देशभक्तो का ऐसा दल बना दिया था जो अंग्रेजो से किसी तरह का समझौता करने को तैयार न था। इनसे भिन्न स्वार्थी लोगों का ऐसा दल था जो "हाकिमो की खुशामद करके अपना मतलब गाँठते थे और यदाकदा उसी खुशामदी प्रणाली से जनता के कुछ लोगो की थोडी बहुत तकलीफ दूर करा देते थे।" कुछ अन्य उदारपंथी "अंग्रेजों और देशी हाकिमों के गुणगान भी करते थे और साथ ही राष्ट्रीय बातों को भी प्रोत्साहन देते थे।" अंग्रेजों ने भारत मे अपना सामाजिक आधार मजबूत करने के लिए पुराने सामन्तों से समझौता किया और नये सामन्त भी पैदा किये। नाना साहब ने अंग्रेज भक्त नारायण राव को कैद किया था, उन्हे अंग्रेजो ने विठूर की जागीर और विनौड़ की जमीदारी दी। नारायण प्रसाद अरोड़ा ने उपर्युक्त अभिनन्दन-ग्रंथ में बताया है कि गदर में वफ़ादारी के लिए अंग्रेजों ने कानपुर के असिस्टेण्ट कमिश्नर किशन नारायण गुर्टू को पाँच हजार मालगुजारी वाली जमीदारी दी। ईश्वरीप्रसाद खत्री

को छह गाँव, महाजन रेवतीराम तिवारी को तीन गाँव जागीर में दिये। अंग्रेज़ों ने इस तरह अनेक लोगो को जागीरें देकर किसानों को दबाये रखने के लिए अपने दलालों का जाल बिछाया था। नारायण प्रसाद अरोडा और लक्ष्मीकांत त्रिपाठी द्वारा सम्पादित कानपुर का इतिहास (भाग-१; १९५०) में इस तरह के जमींदारी का विस्तार से परिचय दिया हुआ है।

नारायण प्रसाद अरोडा का जन्म १८८१ मे हुआ था। उनकी युवावस्था में भारतेन्दु युग के प्रसिद्ध लेखक प्रतापनारायण मिश्र कानपुर के सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन मे अत्यन्त सक्रिय थे। उनके लिये उपर्युक्त अभिनन्दन ग्रंथ मे अरोडा जी ने लिखा है, "अपने पत्र [ब्राह्मण] तथा अपने व्याख्यानों द्वारा पंडित प्रतापनारायण जी ने कानपुर के राजनीतिक जीवन को प्रोत्साहन देने में काफी मदद पहुँचाई। मिश्र जी उन थोड़े से आदमियों में से थे जिन्होने शहर की पब्लिक मे राजनीतिक भाव पैदा करने की कोशिश की थी। मिश्र जी अपने समय के समस्त देशहित के कामो मे पूरा सहयोग दिया करते थे। उनका जीवन वास्तव मे सार्वजनिक कार्यों के हेतु ही समर्पित था।" बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ', अरविन्द घोष के पत्रो, लाला लाजपतराय की पुस्तकों और प्रतापनारायण मिश्र के लेखो ने "क्रांति की भावना को उत्पन्न करने मे अपना योगदान किया।" नारायण प्रसाद अरोड़ा के जीवनी लेखक नरेशचन्द्र चतुर्वेदी ने प्रतापनारायण मिश्र से अरोडा जी के सम्बन्ध के बारे मे बताया है, "हिन्दी के आदिपुरुषों मे पंडित प्रतापनारायण मिश्र को वे अपना गुरु मानते थे और मिश्रजी के जीवन तथा साहित्य ने उन पर गहरा प्रभाव डाला था। पंडित प्रतापनारायण जी मिश्र की स्मृति मे ही 'प्रताप' साप्ताहिक पत्र की स्थापना अरोड़ा जी ने की थी। मिश्रजी की कविताओं का संग्रह करके 'प्रताप लहरी' के नाम से सन् १९४९ मे छपाया और पंडित प्रतापनारायण मिश्र का शताब्दी समारोह भी अखिल भारतीय स्तर पर कानपुर मे अरोडा जी ने आयोजित किया।" नरेशचन्द्र चतुर्वेदी के अनुसार "अरोडा जी ने पंडित शिवनारायण मिश्र वैद्य तथा यशोदानन्द शुक्ल को साथ लेकर सन् १९१३ मे साप्ताहिक प्रताप की स्थापना की और गणेश जी को प्रताप मे सहयोग देने के लिए कानपुर बुलाया, जो उन दिनों मालवीय जी के पत्र 'अभ्युदय' के सम्पादक थे।" चतुर्वेदी जी ने यह भी बताया है कि प्रताप के प्रथम अंक मे प्रतापनारायण मिश्र पर अरोड़ा जी का लेख प्रकाशित हुआ था, राणा प्रताप पर गणेशशंकर विद्यार्थी का।

नारायण प्रसाद अरोडा के प्रारम्भिक राजनीतिक जीवन के बारे मे सुरेश चन्द्र भट्टाचार्य ने उपर्युक्त अभिनन्दन ग्रंथ मे लिखा है, "जिस समय कांग्रेस की राजनीति निद्रित और निष्क्रिय थी, अरोडा जी इस शहर में बाहर से आए हुए क्रांतिकारी युवकों से मिलकर देश को स्वतन्त्र बनाने का मार्ग ढूँढ रहे थे। उनके साथियों की संख्या अधिक नही थी परन्तु वे थे सभी आजादी का सपना देखने वाले आत्मोत्सर्ग के लिए व्याकुल सर्वत्यागी नवयुवक। श्री नारायण प्रसाद अरोडा इन युवकों के नेता थे।" अभिनन्दन-ग्रंथ मे प्रकाशित अपने निबन्ध में अरोड़ा जी ने लिखा है कि गांधी जी के नेतृत्व मे चलने वाले आंदोलनो से पहले कानपुर के

"समस्त नेता गरम नीति के समर्थक थे" और नौजवानों की एक टोली "तिलक महाराज की नीति को मानने वाली और सशस्त्र क्रांति की समर्थक थी।" इस टोली के बारे में लिखा है कि कानपुर के क्रांतिकारी विदेश में काम करनेवाले क्रांतिकारियों से सम्पर्क बनाये हुए थे। इनके पास इंग्लैण्ड से प्रकाशित श्यामजी कृष्ण वर्मा का 'इण्डियन सोशियोलॉजिस्ट', बर्लिन से प्रकाशित 'तलवार', अमरीका से गदर पार्टी के पत्र आते थे। कानपुर के जो नेता अहिंसात्मक आंदोलन में सक्रिय भाग लेते थे पर क्रांतिकारियों की निरन्तर सहायता भी करते रहे, उनमें नारायण प्रसाद अरोड़ा और गणेशशंकर विद्यार्थी प्रमुख थे।

सन् १९२१ के असहयोग आंदोलन की असफलता के बाद संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के क्रांतिकारियों ने अपने संगठन को मजबूत करना शुरू किया। 'कानपुर के विद्रोही' पुस्तक के अनुसार बनारस षड्यन्त्र केस में शचीन्द्र नाथ सान्याल को काले पानी की सजा मिली थी। अण्डमान से लौटने के बाद वह इलाहाबाद में रहने लगे। कानपुर में सुरेश चन्द्र भट्टाचार्य से मिलकर उन्होंने क्रांतिकारी आंदोलन को व्यापक रूप देने का विचार किया। १९२२ में जब कांग्रेस का अधिवेशन गया में हुआ, तब उसमें शचीन्द्र नाथ सान्याल तथा कानपुर के कुछ अन्य व्यक्ति भी थे। गया कांग्रेस के बाद शाहजहाँपुर से रामप्रसाद बिस्मिल, मथुरा से शिवचरण लाल, काशी से राजेन्द्र लाहिड़ी, आगे चलकर झांसी से शचीन्द्र नाथ बख्शी कानपुर आकर दल की बैठकें करने लगे। जब मन्मथनाथ गुप्त, योगेशचन्द्र चटर्जी और सरदार भगतसिंह कानपुर आए, तब "यह नगर संयुक्त प्रान्तीय क्रांतिकारी दल का केन्द्र स्थान बन गया।" (पृष्ठ ११३)। क्रांतिकारी दल को फिर से संगठित करके हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का नाम दिया गया। "इस संस्था की प्रथम कल्पना, विधान-निर्माण और संस्था की प्रथम प्रान्तीय बैठक कानपुर में ही हुई। इसका विधान पत्र एक पीले कागज में छपा था। इसलिये क्रांतिकारियों में यह 'येलो पेपर' के नाम से परिचित था। इसकी प्रान्तीय कमेटी की कई बैठकें इसी नगर में श्री सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य के घर में हुईं, जिनमें श्री शचीन्द्र नाथ सान्याल, श्री योगेशचन्द्र चटर्जी, श्री रामप्रसाद बिस्मिल, श्री शचीन्द्र नाथ बख्शी, श्री शिवचरण लाल शर्मा, श्री वीरभद्र तिवारी और श्री राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी भी शामिल हुए थे।" (उप. पृष्ठ ११४)। रामदुलारे त्रिवेदी, राजकुमार सिंह, विजय कुमार सिंह, बटुकेश्वर दत्त, अजय कुमार घोष, सुरेन्द्र पाण्डेय आदि अन्य युवक भी क्रान्तिकारी दल में शामिल हुए। काकोरी की डकैती के सिलसिले में जब अनेक क्रांतिकारी युवक पकड़ लिए गये तब गणेशशंकर विद्यार्थी ने उनकी पैरवी और सहायता के लिए बड़ा परिश्रम किया।

गणेशशंकर विद्यार्थी ने एक बहुत बड़ा काम यह किया कि उन्होंने रामप्रसाद बिस्मिल की 'आत्मकथा' प्रकाशित की। फाँसी की सजा सुनने के बाद कुछ दिनों में बिस्मिल ने यह 'आत्मकथा' लिखी थी। 'आत्मकथा' की पाण्डुलिपि शिव वर्मा लाए थे और उन्होंने उसे विद्यार्थी जी को सौंप दिया था। अंग्रेजी राज में यह पुस्तक गुप्त रूप से वितरित की जाती थी। भारत के स्वाधीन होने पर १९५८ में

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली ने इसे प्रकाशित किया। रामप्रसाद बिस्मिल अपनी पीढ़ी के क्रांतिकारियों में पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने क्रांति को सफल बनाने के लिए जन-आंदोलन और जनसंगठन का महत्व पहचाना था। उन्होंने अभूतपूर्व साहस से अपने क्रांतिकारी जीवन की समीक्षा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि जब तक क्रांतिकारी युवक जनता में जाकर काम न करेंगे, तब तक उन्हें अपने कार्य में सफलता न मिलेगी। जिस तरह के दल में वे काम करते रहे थे, उससे भिन्न प्रकार के संगठन की आवश्यकता उन्होंने अनुभव की थी। उन्होंने लिखा था, "राजनैतिक क्रांति के लिए सर्वप्रथम क्रांतिकारियों का संगठन ऐसा होना चाहिए कि अनेक विघ्न तथा बाधाओं के उपस्थित होने पर भी संगठन में किसी प्रकार त्रुटि न आये। सब कार्य यथावत् चलते रहें। कार्यकर्ता इतने योग्य तथा पर्याप्त संख्या में होने चाहिये कि एक की अनुपस्थिति में दूसरा स्थान पूर्ति के लिए सदा उद्यत रहे।" (पृष्ठ ११५)। क्रांतिकारी कार्य के लिए जनता का संगठन करना आवश्यक है, इस बारे में उन्होंने लिखा था, "अति उत्तम होगा यदि भारत की भावी सन्तान तथा नवयुवकवृन्द क्रांतिकारी संगठन करने की अपेक्षा जनता की प्रवृत्ति को देश-सेवा की ओर लगाने का प्रयत्न करें और श्रमजीवी तथा कृषकों का संगठन करके उनको जमींदारों तथा रईसों के अत्याचारों से बचायें। भारतवर्ष के रईस तथा जमींदार सरकार के पक्षपाती है।" (पृष्ठ १२३)। आगे लिखा था, "जिसके हृदय में भारतवर्ष की सेवा के भाव उपस्थित हों, या जो भारतभूमि को स्वतन्त्र देखने या स्वाधीन बनाने की इच्छा रखता हो, उसे उचित है कि ग्रामीण संगठन करके कृषकों की दशा सुधार कर, उनके हृदय से भाग्य-निर्भरता को हटाकर उद्योगी बनने की शिक्षा दे। कल, कारखाने, रेलवे, जहाज तथा खानों में जहां कहीं श्रम-जीवी हों, उनकी दशा को सुधारने के लिए श्रमजीवियों के संघ की स्थापना की जाए, ताकि उनको अपनी अवस्था का ज्ञान हो सके और कारखानों के मालिक मनमाने अत्याचार न कर सकें और अछूतों को, जिनकी संख्या इस देश में लगभग छै करोड़ है, पर्याप्त शिक्षा प्राप्त कराने का प्रबन्ध हो तथा उनको सामाजिक अधिकारों में समानता हो। जिस देश में छै करोड़ मनुष्य अछूत समझे जाते हों उस देश [के] वासियों को स्वाधीन बनने का अधिकार ही क्या है? इसी के साथ ही स्त्रियों की दशा भी इतनी सुधारी जाये कि वे अपने आपको मनुष्य जाति का अंग समझने लगें।" (पृष्ठ १२४-२५)।

रूसी क्रांतिकारियों ने अपने देश के किसानों और मजदूरों में किस तरह काम किया था, उसका हवाला देते हुए रामप्रसाद बिस्मिल ने लिखा था, "रूस में जब तक किसान संगठन नहीं हुआ, रूस सरकार की ओर से देशसेवकों पर मनमाने अत्याचार होते रहे। जिस समय से कैथेराइन ने ग्रामीण संगठन का कार्य अपने हाथ में लिया, स्थान-स्थान पर कृषक-सुधारक संघों की स्थापना की, घूम-घूमकर रूस के युवक तथा युवतियों ने जारशाही के विरुद्ध प्रचार जारी किया। फिर किसानों को अपनी वास्तविक अवस्था का ज्ञान होने लगा। वे अपने मित्र तथा शत्रु को समझने लगे, उसी समय से जारशाही की [illegible] लगी। श्रमजीवियों के संघ भी स्थापित हुए। [illegible] उसी समय से जनता

की प्रवृत्ति को देखकर मदान्धों के नेत्र खुल गये।" (पृष्ठ १२५)।

रामप्रसाद बिस्मिल राजनीतिक स्वाधीनता के साथ व्यापक सामाजिक परिवर्तनों की बात सोच रहे थे। इसीलिए उन्होंने अछूतों और स्त्रियों के समान अधिकारों की चर्चा की है। इससे यह न समझना चाहिए कि वे क्रांति का रास्ता छोड़कर सुधारवाद की ओर झुक गये थे। उन्होंने असहयोग आंदोलन के बारे मे जो पंक्तियां लिखी हैं, वे ध्यान देने योग्य है: "असहयोग आंदोलन मे कार्यकर्त्ताओ की इतनी अधिक संख्या होने पर भी सबके सब शहर के प्लेटफार्मों पर लेक्चर-बाज़ी करना ही अपना कर्त्तव्य समझते थे। ऐसे बहुत थोड़े कार्यकर्ता थे, जिन्होंने ग्रामों में कुछ कार्य किया। उनमे भी अधिकतर ऐसे थे जो केवल हुल्लड़ कराने में ही देशोद्धार समझते थे! परिणाम यह हुआ कि आंदोलन मे थोड़ी शिथिलता आते ही सब कार्य अस्त-व्यस्त हो गया।" (पृष्ठ १२६)। अपनी अंतिम विरासत के तौर पर उन्होंने लिखा, "नवयुवकों को मेरा अंतिम संदेश यही है कि वे रिवाल्वर या पिस्तौल को अपने पास रखने की इच्छा त्यागकर सच्चे देशसेवक बनें। पूर्ण स्वाधीनता उनका ध्येय हो और वे वास्तविक साम्यवादी बनने का प्रयत्न करते रहें।" (पृष्ठ १३०-१३१)।

'आत्मकथा' के अन्त में रामप्रसाद बिस्मिल ने लिखा है, "मेरी यह इच्छा हो रही है कि मैं उन कविताओं मे से भी चन्द का यहाँ उल्लेख कर दूं, जो कि मुझे प्रिय मालूम होती है और मैंने यथासमय कंठस्थ की थी।" इनमें एक कविता यों शुरू होती है: वतन की आबरू का पास देखें कौन करता है। श्रीनारायण चतुर्वेदी के अनुसार यह कविता जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' की लिखी हुई थी। कानपुर के 'दैनिक जागरण' के रजत जयन्ती अंक (२० नवम्बर, १९७२) मे चतुर्वेदी जी का लेख है: 'घनाक्षरी और सवैया के बादशाह हितैषी जी'। इसमे उन्होंने बताया है कि हितैषी जी के पूर्वज अवध के नवाब के यहाँ सेना तथा राज्य के उच्च पदों पर थे; "प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम मे उनके पूर्वजो ने भी खुलकर भाग लिया था।" सोलह साल की उम्र मे वह मैनपुरी षड्यन्त्र के गेंदालाल दीक्षित के दल में शामिल हो गये थे। जब वे असहयोग आंदोलन में भाग ले रहे थे, तब उन्होंने अपने क्रांतिकारी विचार छोड़े न थे। चतुर्वेदी जी ने लिखा है: "उन्हे अहिंसा मे विश्वास न था। वे खुलकर जनता को अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने को प्रेरित करते। इसके परिणामस्वरूप उनकी सारी चल-अचल सम्पत्ति और कानपुर का मकान जब्त करके नीलाम कर दिया गया।" उक्त कविता का परिचय देते हुए लिखा है: "सन् १९१६ में, अमरीका को स्वाधीनता कैसे मिली, नामक पुस्तक कानपुर से प्रकाशित हुई थी, उसके आवरण के अंतिम पृष्ठ पर एक गजल छपी थी:

वतन की आबरू का पास देखें कौन करता है,
सुना है आज मकतल में हमारा इम्तहां होगा।
इलाही वह भी दिन होगा जब अपना राज देखेंगे,
जब अपनी ही ज़मी होगी, जब अपना आसमां होगा।
शहीदों की चिताओ पर लगेंगे हर बरस मेले
वतन पर मरने वालों का यही बाकी निशा होगा।

यह गजल, विशेषकर इसकी अंतिम दो पंक्तियां, सारे देश में आग की तरह फैल गयी। इन पंक्तियों के लेखक थे कानपुर के प्रसिद्ध कवि श्री जगदम्बासहाय [प्रसाद] मिश्र 'हितैषी'।"

क्रांतिकारी आंदोलन से हिन्दी कविता का गहरा सम्बन्ध १९२० के असहयोग आंदोलन से पहले कायम हो चुका था, यह बात ध्यान देने की है। उक्त कविता के लेखक स्वयं क्रांतिकारी आंदोलन से सम्बद्ध थे, यह भी उल्लेखनीय है।

नारायणप्रसाद अरोड़ा के एक वरिष्ठ सहयोगी थे राधामोहन गोकुलजी। १९०८ में इनकी एक छोटी-सी पुस्तक 'देश का धन' प्रकाशित हुई थी। १८५७ के बाद तत्कालीन देश की दशा देखते हुए इसमें उन्होंने लिखा था, "१८५७ के पीछे झूठ बेईमानी बहुत ही बढ़ गयी है [।] यह अब कमी की ओर झुकेगी क्योंकि बीच में देशाभिमान नष्ट हो गया था [,] अब पुनः जाग्रत हो गया है।" (पृष्ठ ३५-३६)। १९०८ में गदर का अर्द्धशताब्दी समारोह लन्दन में मनाया गया था। उसी वर्ष राधामोहन गोकुलजी भी उस संग्राम को याद कर रहे थे। उनके लिए देश की जनता ने १८५७ में अपना देशाभिमान व्यक्त किया था। अंग्रेजों ने उसे दबा दिया था किन्तु बीसवीं सदी के प्रथम दशक में देश की जनता फिर आत्मविश्वास से अपना सिर उठाने लगी थी। प्रतापनारायण मिश्र से इनका सम्बन्ध वैसे ही था जैसे नारायणप्रसाद अरोड़ा का। 'क्रांति का आगमन' (आगरा, १९७४) के सम्पादक सत्यभक्त ने इसमें राधामोहन गोकुल के बारे में लिखा है, "हमने सन् १८९० के आसपास के 'ब्राह्मण' के कई अंकों में इनका नाम आनरेरी मैनेजर के रूप में छपा देखा है। प्रतापनारायणजी के सम्पर्क में आकर इनका हिन्दी प्रेम और भी बढ़ा और ये चुटीली जोरदार भाषा लिखने लगे। इससे पहले इलाहाबाद में भी कदाचित् 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक पंडित बालकृष्णजी भट्ट के प्रभाव से लेख लिखने लग गये थे। इस प्रकार हिन्दी गद्य के दो आरम्भिक निर्माताओं के निकट सम्पर्क में आकर राधामोहनजी की लेखनशैली भी खूब निखर उठी।" प्रतापनारायण मिश्र की राजनीतिक चेतना के बारे में नारायण-प्रसाद अरोड़ा का कथन उद्धृत किया जा चुका है। बालकृष्ण भट्ट नरमदली राजनीति के विरोधी और क्रांतिकारी आंदोलन के समर्थक थे। यह असम्भव है कि भट्टजी ने राधामोहनजी को गद्य लिखने की प्रेरणा दी हो और क्रांतिकारी आंदोलन में भाग लेने की प्रेरणा न दी हो। १८५७ का स्वाधीनता संग्राम, भारतेन्दु युग के दो लेखक प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट, बीसवीं सदी का स्वाधीनता आंदोलन और उससे सम्बद्ध लेखक और क्रांतिकारी नारायणप्रसाद अरोड़ा तथा राधामोहन गोकुलजी, ये कड़ियां आपस में कैसे जुड़ी हुई हैं, यहां बहुत साफ देखा जा सकता है। 'विप्लव' नाम के लेख संग्रह में आगरे के महादेवप्रसाद अग्रवाल ने राधामोहनजी के संक्षिप्त परिचय में बताया है कि कानपुर में प्रतापनारायण मिश्र से उनकी घनिष्ठता थी। कुछ समय तक वह 'ब्राह्मण' के मैनेजर रहे और उसमें लेख भी देते थे। १८८५ में इलाहाबाद में एक स्वदेशी लिबास कम्पनी बनी थी। उसका एक हिस्सा राधामोहनजी ने भी खरीदा था। उस समय उन्होंने सदा देशी वस्त्र पहनने का निर्णय किया था। इलाहाबाद में एक अंग्रेज कर्मचारी

से झगड़ा हो गया था। "इन्होंने उसे दो घौल जमाकर घर का रास्ता लिया;" घर आकर अपने सर्टीफिकेट जलाये और "यावत्जीवन सरकारी नौकरी न करने की प्रतिज्ञा की।" यह घटना जुलाई १८८६ की है। उस समय कांग्रेस मे किस तरह के लोग एकत्र हो रहे थे, पाठक स्मरण कर लें। १९२१ मे वह नागपुर के सत्याग्रह आश्रम मे थे। वहाँ उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और एक साल की सख्त कैद की सजा दी गयी। मुकदमे में इन्होंने जो सरकार-विरोधी वक्तव्य दिया, उसका उल्लेख गांधीजी ने अपने पत्र 'यंग इण्डिया' मे किया था। नागपुर से निकलने वाले 'प्रणवीर' नामक पत्र में वह बराबर लिखते रहे थे। संक्षिप्त परिचय लिखने वाले ने बताया है कि राधामोहनजी के चुने लेख छापने का विचार उसने अनेक बार किया पर वह काम पूरा न हुआ। अब यह काम नारायणप्रसाद अरोड़ा ने हाथ मे लिया है। (मैंने इस पुस्तक की जो प्रति देखी है, उसमें आवरण पृष्ठ नही है। सम्भव है, इसे कानपुर मे नारायणप्रसाद अरोड़ा ने ही प्रकाशित किया हो।)

राधामोहन गोकुलजी का घनिष्ठ सम्पर्क कवि 'निराला' तथा मतवाला-मण्डल के सभी लोगों से था। शिवपूजन सहाय ने उन पर एक परिचयात्मक लेख लिखा था जो शिवपूजन-रचनावली के चौथे खण्ड मे दिया हुआ है। इनका जन्म गोपाल गंज, जिला प्रतापगढ में १८६५ ईसवी में हुआ। प्रतापनारायण मिश्र की संगति का उल्लेख शिवपूजनजी ने भी किया है। आगरे में मिल मजदूरों के संगठन का काम राधामोहनजी ने किया, इसका उल्लेख भी है। शिवपूजनजी ने यह भी बताया है कि जब वह 'मतवाला' मे थे, तब वहाँ राधामोहनजी प्रायः नित्य आते थे। निराला और शिवपूजन सहाय के सहयोगी नवजादिकलाल श्रीवास्तव से उनकी बहुत पुरानी जान-पहचान थी। नवजादिकलाल साप्ताहिक पत्र 'वीर भारत' (कलकत्ता) के सम्पादक थे, "तब आप उसमे बड़े जोशीले लेख लिखा करते थे।" बुढापे में भी "आप सभा सम्मेलनों मे अत्यंत निर्भीकता से उत्तेजना-पूर्ण भाषण करते थे।" अंग्रेजी राज्य के प्रति उनके दृष्टिकोण का वर्णन करते हुए शिवपूजनजी ने लिखा है, "गोरी नौकरशाही के प्रति आपके उद्धत विचारों को सुनकर बार-बार यह आशंका होती थी कि आप कब कहाँ गिरफ्तार हो जायेंगे, कुछ ठीक नही था। पुलिस और जेलखाने के अधिकारी आपको 'बहुत खतरनाक' समझते थे। जेल से छूटते समय आप स्पष्ट कह दिया करते थे कि हमारा स्थान सुरक्षित रखना, हम फिर शीघ्र ही आयेंगे।"

चन्द्रशेखर आज़ाद से शिव वर्मा की पहली भेंट कानपुर मे राधामोहन गोकुल जी के घर पर हुई थी। "रात के लगभग नौ बजे थे राधामोहन गोकुलजी के मकान पर जाकर दरवाजा खटखटाया। राधामोहनजी ने दरवाज़ा खोला और कुछ कहे बगैर ऊपर छत की ओर इशारा कर दिया। वहाँ खुली छत पर फैले चाँद के रुपहले प्रकाश मे एक व्यक्ति चटाई पर उघारे बदन पल्थी लगाये अकेले बैठा हम लोगों की प्रतीक्षा कर रहा था—साँवला रंग, गठा हुआ तगड़ा जिस्म, औसत लम्बाई से कुछ नाटा कद, छोटी, तेज चुभती हुई आँखें, चेहरे पर चेचक के गहरे दाग़। यह काकोरी केस के फरार अभियुक्त चन्द्रशेखर आज़ाद थे।" (शिव

वर्मा, 'संस्मृतियाँ', लखनऊ, १९६९, पृष्ठ-५०)।

क्रांतिकारियों को राधामोहनजी पर कितना भरोसा था, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि चन्द्रशेखर आज़ाद उनके घर पर अन्य क्रांतिकारियों से मिले थे। सत्यभक्त ने आगरे में उनकी क्रांतिकारी गतिविधि के बारे में लिखा है, "आगरा में उन्होंने भगतसिंह आदि के लिए खोल ढलवाये थे, क्योंकि वे आगरा के निवासी थे और उनके एक भाई के यहाँ लोहे की ढलाई का काम भी होता था।" (सत्यभक्त सम्पादित 'क्रांतिपथ के पथिक', आगरा, १९७३, पृष्ठ २३०)। भगतसिंह के सहयोगी विजयकुमार सिन्हा ने बताया है कि "राधामोहनजी ने कलकत्ते से इकट्ठा करके इतना रुपया दिया जिससे हम हथियार खरीद सके और दल के कार्यों के लिए पूरा समय देने वालों के रहने और भोजन की व्यवस्था के लिए उचित स्थान प्राप्त कर सके।"

भारत के क्रांतिकारी आंदोलन के संदर्भ में राधामोहन गोकुलजी की मुख्य भूमिका यह है कि वह क्रांतिकारियों को उस दिशा की ओर मोड़ने में सफल हुए जिसकी ओर संकेत रामप्रसाद बिस्मिल ने 'आत्मकथा' में किया था। कानपुर के क्रांतिकारियों में समाजवादी चेतना फैलाने का श्रेय राधामोहनजी और उनके सहयोगी हिन्दी-पत्रकार और लेखक सत्यभक्त को है। इन दोनों ने तथा गणेशशंकर विद्यार्थी ने क्रांतिकारियों को मजदूर सभा में काम करने की प्रेरणा दी। इस संदर्भ में शिव वर्मा ने लिखा है, "भगतसिंह जब भी कानपुर आता तो अन्य पुस्तकों के साथ नौजवान भारत सभा का कुछ न कुछ साहित्य अपने साथ अवश्य लाता था। राधामोहन गोकुलजी और सत्यभक्त के सम्पर्क ने कानपुर के हम सभी साथियों में समाजवाद की ओर रुझान पैदा कर दिया था। स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के नेतृत्व में हम लोगों ने कानपुर मजदूर सभा में दिलचस्पी लेनी आरम्भ कर दी थी। भगतसिंह ने हमारे इस रुझान को बल दिया और समाजवाद का अध्ययन तथा उस पर बहस आदि करने की प्रेरणा प्रदान की।" ('संस्मृतियाँ', पृष्ठ २२)

सत्यभक्त के अनुसार राधामोहनजी ने 'कम्यूनिज्म क्या है?' पुस्तक १९२४ में लिखी थी। इसे सत्यभक्त ने १९२७ में प्रकाशित किया था। इस पुस्तक के बारे में उन्होंने लिखा है, "उन दिनों यह पुस्तक क्रांतिदल के सदस्यों में राधामोहनजी ने खूब बाँटी और पढ़ाई थी।" ('क्रांतिपथ के पथिक', पृष्ठ १९६)। सत्यभक्त, नारायणप्रसाद अरोड़ा, राधामोहन गोकुलजी और नौजवान क्रांतिकारी, इन सबमें घनिष्ठ सम्पर्क था। विजयकुमार सिन्हा ने अपने दल के लोगों पर राधामोहन जी के प्रभाव के बारे में लिखा है, "मैं सत्यभक्तजी द्वारा शीघ्र ही राधामोहनजी से परिचित हो गया। वे भी उसी स्थान में पास ही रहते थे और उनसे हमें क्रांतिकारी साहित्य मिला करता था...राधामोहनजी, सत्यभक्तजी और श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा, जिनका मकान पास में ही था, प्रायः प्रतिदिन मिला करते थे और उग्र राजनीतिक विचारों तथा कार्य-सम्बन्धी योजनाओं के सम्बन्ध में बातचीत किया करते थे...यह वह जमाना था जब क्रांतिकारियों की विचारधारा तेज़ी से बदल रही थी और हमारे सशस्त्र क्रांतिवाद में साम्यवाद के सिद्धान्त का समावेश

होता जाता था। रूस में अक्टूबर क्रांति की सफलता के समाचारों से हमारे आंदोलन को एक नई दिशा मिल रही थी। हम अनुभव करने लगे थे कि भारतवर्ष से ब्रिटिश शासन को समाप्त करना हमारे आन्दोलन का प्रथम उद्देश्य अवश्य है, पर उसके बाद हमको अपने देश मे साम्यवादी सिद्धान्त के आधार पर एक सुखी समाज के निर्माण के लिए भी संघर्ष करना होगा। इसलिए हम राधामोहनजी के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट होते थे क्योंकि इस सम्बन्ध में उनके विचार पहले ही परिपक्व हो चुके थे। उन्होने एक पुस्तक लिखी थी 'कम्यूनिज्म क्या है ?' जिसमें साम्यवाद के सिद्धान्तो का जोरों से समर्थन किया गया था। उस समय देश की जैसी राजनीतिक परिस्थिति थी, उसे देखते हुए यह एक मार्गदर्शक का ही कार्य था। इस विषय को स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम उनसे प्रायः लम्बे समय तक विचार-विमर्श किया करते थे, क्योंकि उस समय इस विषय का साहित्य कम ही मिलता था। ऐसे अवसरो पर राधामोहनजी ऐसे आंतरिक भाव से वार्तालाप करते थे, मानो इस सिद्धान्त पर उनको अटल, अचल विश्वास है।" (उप. पृष्ठ २६८-६६)।

शिव वर्माजी से मुझे मालूम हुआ कि राधामोहन गोकुलजी के पास अच्छा पुस्तकालय था। इसमें मार्क्सवाद से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें थीं। मार्क्स और एंगेल्स की प्रसिद्ध पुस्तिका 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' उन्ही से लेकर शिव वर्मा ने पढी थी। दुबारा उन्होंने उसे फिर पढा जब चन्द्रशेखर आजाद आगरे में थे। घोषणा-पत्र अंग्रेजी में था, शिव वर्मा उसका हिन्दी अनुवाद करके आजाद को सुनाते जाते थे। उनसे और उनके साथियो से राधामोहनजी कहते थे, अपना काम करते रहो पर यह साहित्य भी पढ़ो। अपनी बातचीत मे वर्माजी ने एक दिलचस्प वाक्य कहा था, "हम लोग काम से टेररिस्ट विचारों से कम्युनिस्ट थे।" सक्रमण की हालत में ऐसा होना स्वाभाविक है। 'संस्मृतियां' मे उन्होने भगतसिंह के बारे मे इससे मिलती-जुलती बात लिखी है, "उसका कहना था कि अँग्रेजी दासता के विरुद्ध संघर्ष तो हमारे युद्ध का पहला मोर्चा है। अंतिम लडाई तो हमे शोषण के विरुद्ध ही लड़नी पड़ेगी। चाहे वह शोषण मनुष्य द्वारा मनुष्य का हो या एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का हो। यह लड़ाई जनता के सहयोग के बगैर नही लड़ी जा सकती।" ('संस्मृतियां,' पृष्ठ २२)

अपने जीवन के अंतिम चरण में राधामोहनजी किसानों का संगठन कर रहे थे। अशोककुमार बोस को एक सी. आई. डी. इन्स्पेक्टर पर गोली चलाने के अपराध में पांच साल की सजा हुई थी। छूटने पर वह हमीरपुर के खूही गांव गये जहाँ राधामोहनजी एक स्कूल मे पढ़ाते थे। वहाँ उनके काम के बारे मे अशोककुमार ने लिखा है, "दूसरे दिन राधामोहनजी ने मुझे अपना प्लान समझाया कि पढ़ाना तो हमारे काम के लिए एक आड है। हमारा मुख्य ध्येय है गरीब, समाज के पीड़ित, अनपढ़ तथा अज्ञ किसानों को राजनैतिक दृष्टि से संगठित करना, गाँव-गाँव मे सर्वहारा वर्ग की क्रांति के लिए सैंकडों और हजारों विप्लव केन्द्र बनाना।" (उप. पृष्ठ २६०)।

राधामोहन गोकुलजी नवयुवक साथियों मे किस तरह की विचारधारा का प्रसार कर रहे थे, इसका स्पष्ट विवरण अशोककुमार ने दिया है: "उनका

कहना था कि हमारा देश कृषिप्रधान है, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है और राजनीतिक रूप से तो पूरा गुलाम है ही। अतः जब तक सोये और खोये सर्वहारा किसानों को चैतन्य और संगठित नहीं किया जाएगा, तब तक किसी प्रकार की आजादी की उम्मीद करना व्यर्थ है। जब तक पैदावार के साधन सर्वहारा वर्ग के हाथ में नहीं आ जायेंगे, तब तक शोषण का अन्त और जनता की भलाई नहीं हो सकती।" (उप. पृष्ठ २८६-९०)।

आजादी पाने के बाद देश में समाजवादी व्यवस्था कायम की जायेगी, उसके लिए समाजवाद का ज्ञान आवश्यक होगा, यह दूरगामी लक्ष्य की बात हुई। किन्तु जब तक किसानों और मजदूरों का संगठन न किया जाएगा, तब तक राजनीतिक स्वाधीनता भी नहीं मिल सकती। आजादी का लक्ष्य दूरगामी नहीं था, उसकी प्राप्ति के लिए भी समाजवादी विचारधारा का ज्ञान, उसके अनुसार स्वाधीनता आंदोलन का संचालन आवश्यक था, यह बात राधामोहनजी जानते थे, यह तथ्य अशोककुमार के कथन से स्पष्ट हो जाता है।

१९३० में राधामोहनजी को दो साल की सजा हुई। जेल में रहते हुए वह बीमार पड़ गये, फिर भी काम करते रहे। जिस समय वह हमीरपुर के गाँवों में किसानों का संगठन कर रहे थे, उस समय उन सत्तर वर्ष के वृद्ध क्रांतिकारी को मजिस्ट्रेट ने अपना काम बन्द करने को कहा। मजिस्ट्रेट के यहाँ जाते और लौटते में उन्हें जो खराब खाना मिला, उससे उनकी हालत और खराब हो गयी। उनके अंतिम समय का और अपने ऊपर उनके जीवन के प्रभाव का मार्मिक वर्णन अशोककुमार ने इन शब्दों में किया है, "उनको भयंकर पेचिश हो गयी थी। हम सभी साथियों ने हर तरह से सेवा-सुश्रूषा करके उनको रोगमुक्त करने की कोशिश की पर वीरान स्थान में चिकित्सा की उचित व्यवस्था न हो सकने से हमें उनको खो देना पड़ा। देश की एक महान् हस्ती, एक चमकते हुए सितारे का अकस्मात् अन्त हो गया। उसी गाँव में हमने उनकी समाधि बनायी और मैंने उसके सामने खड़े होकर यह प्रतिज्ञा की कि अपना सारा जीवन गरीब किसान, मजदूर अर्थात् सर्वहारा वर्ग के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उत्थान में लगाऊँगा और तब तक चैन नहीं लूँगा जब तक उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती। (उप. पृष्ठ २९१-९२)।

### ३. क्रान्तिकारी दल और जनआन्दोलन

सन् २० के बाद भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन पर रूस की समाजवादी क्रान्ति का प्रभाव क्रमशः बढ़ता गया। इस समय तक रूसी क्रान्ति और मार्क्सवाद से सम्बन्धित काफी सामग्री भारत में उपलब्ध होने लगी थी। १९२३ के बाद शचीन्द्र सान्याल ने विभिन्न दलों को मिलाकर क्रान्तिकारियों का जो संगठन बनाया उसका नाम उन्होंने हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन रखा। १९२८ में भगतसिंह और उनके साथियों ने अपने संगठन का नाम हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी रखा। इन नामों से ही समाजवाद के प्रति क्रांतिकारियों की धारणा का पता चल जाता है। हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का लक्ष्य

भारत को संयुक्त राज्यों का संघीय प्रजातंत्र (फेडेरेटेड रिपब्लिक आफ यूनाइटेड स्टेट्स आफ इंडिया) बनाना था। यूनाइटेड स्टेट्स वाली यह धारणा लाला हरदयाल और गदर पार्टी से चली आ रही थी। भारत मे अनेक जातियां बसती हैं, ये जातियां अलग-अलग भाषाएँ बोलती है, भारत इन जातियो का सघ है; पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य के साथ यह जातीय संघ वाली धारणा राष्ट्रीय आदोलन को क्रान्तिकारियों की महत्वपूर्ण देन है। भारतीय संघ प्रजातंत्र होगा, उसमे राजाओं के लिए कोई स्थान न होगा, यह धारणा भी सघीय प्रजातंत्र मे निहित है। इंग्लैंड का राजा भारत का शाहंशाह न होगा, देशी रियासतों के राजा भी अपनी सामन्तशाही कायम न रख सकेंगे। अंग्रेजो ने भारत मे कभी बालिग मताधिकार के आधार पर जनतंत्र नही कायम होने दिया। भारतीय जनतंत्र मे हर बालिग को वोट देने का अधिकार होगा, क्रान्तिकारियों ने यह लक्ष्य अपने सामने रखा था। किन्तु इससे आगे बढ़कर अर्थात् पूंजीवादी जनतंत्र से आगे बढ़कर ये क्रान्तिकारी मनुष्य को सामाजिक उत्पीड़न से भी मुक्त करना चाहते थे।

उक्त एसोसिएशन के (पीला पर्चा नाम से विख्यात) संविधान मे, शिव वर्मा के अनुसार, "ऐसे समाज की स्थापना की भी बात कही गयी थी जिसमें मनुष्य का शोषण करने का अधिकार नही होगा। संविधान की यह एक महत्त्वपूर्ण घोषणा थी जिस पर अक्तूबर क्रान्ति की छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।" (स्मारिका, आगरा, १९८१, पृष्ठ २३)।

वर्माजी ने आगे बताया है कि संविधान में प्रमुख उद्योग-धन्धों पर राज्य का अधिकार होगा, यह बात कही गयी थी। एसोसिएशन के काम को गुप्त और सार्वजनिक दो हिस्सों में बांटा गया था। यह रोचक तथ्य है कि सन् २० के बाद अनेक क्रान्तिकारी युवक सार्वजनिक आन्दोलन के महत्व पर जोर देने लगे थे। गदर पार्टी ने भी गुप्त और सार्वजनिक कामों में भेद किया था। किन्तु उसका कार्यक्षेत्र अधिकतर भारत से बाहर था। भारत में जो लोग सशस्त्र क्रान्ति का प्रयास कर रहे थे, वे गुप्त कार्रवाई पर ही अधिक जोर देते आये थे। रूसी क्रान्ति से थोड़ा परिचय होने पर भी उनसे यह छिपा न रह सकता था कि किसानों और मज़दूरों के संगठन के बिना कोई क्रान्ति सफल नही हो सकती। इसलिए हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के सार्वजनिक कामों मे एक काम था मज़दूरों और किसानों के संगठन बनाना। यह सब रूसी क्रान्ति के प्रभाव की सूचना देता है पर उससे यह सिद्ध नही होता कि क्रान्तिकारियो ने मार्क्सवाद को स्वीकार कर लिया था। शिव वर्मा ने ठीक लिखा है, "यह सब होते हुए भी यह कहना गलत होगा कि संविधान तथा कार्यक्रम को बनानेवालों का उद्देश्य किसान और मज़दूर वर्ग का अधिनायकत्व या सोवियत रूस जैसा समाजवादी समाज स्थापित करना था।" (उप.)। यदि क्रान्तिकारियो ने मार्क्सवाद को स्वीकार किया होता तो उनके संगठन और काम करने के तरीके पूरी तरह बदल जाते, तब वे पुराने ढंग के क्रान्तिकारी न रहकर नये ढंग के क्रान्तिकारी, मार्क्सवादी क्रान्तिकारी हो जाते। किन्तु स्वयं मार्क्सवादियों के लिए यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि जो लोग गुप्त संगठन पर अधिक ज़ोर देते थे और सशस्त्र क्रान्ति को संघर्ष का मुख्य रूप मानते थे, वे

जनआन्दोलन और जनसंगठन के विरोधी नहीं थे वरन् उनके समर्थक थे। इनसे जनआन्दोलन के लिए वीर और त्यागी युवकों का एक समुदाय मार्क्सवादियों को सुलभ होना था और सुलभ हुआ है। प्रश्न यह था कि स्वयं मार्क्सवादियों ने मजदूरों और किसानों को, विशेष रूप से किसानों को, संगठित करने के लिए कितना प्रयास किया। इस प्रयास पर यह निर्भर था कि पुराने क्रान्तिकारियों में जो समाजवादी रुझान है, मार्क्सवादी उसे निखारकर भारतीय क्रान्ति के विकास में पुराने क्रान्तिकारियों से कितना सहयोग प्राप्त करते हैं।

१ जनवरी १९२५ को एक पर्चा बांटा गया जिसका शीर्षक था 'भारत की क्रान्तिकारी पार्टी का घोषणा-पत्र'। घोषणा-पत्र मूल रूप में अंग्रेजी में था। ऐसा लगता है कि क्रान्तिकारी दल ने नियमित रूप से एक पत्र निकालने की योजना बनाई थी। पत्र का नाम रखा था क्रान्तिकारी (दि रिवोल्यूशनरी)। इसे भारत की क्रान्तिकारी पार्टी का मुख-पत्र बताकर उसके पहले अंक में उक्त घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया था। इसके लेखक पीले पर्चे से परिचित जान पड़ते हैं। इसमें भी भारत के संयुक्त राज्यों का संघीय प्रजातन्त्र क्रान्ति का लक्ष्य बताया गया है। प्रजातन्त्र में बालिग मताधिकार से चुनाव होगा, मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की हर व्यवस्था समाप्त की जायेगी। रेलों, खानों, परिवहन और संचार साधनों का राष्ट्रीयकरण होगा। जिन भारी उद्योग-धन्धों से इस्पात और जहाजों का निर्माण होता है, उनका भी राष्ट्रीयकरण होगा। इस घोषणा-पत्र की विशेषता यह है कि संघीय प्रजातंत्र की स्थापना को तात्कालिक लक्ष्य बताया गया है। रेलों आदि का राष्ट्रीयकरण, मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के अंत को प्रजातंत्र के बुनियादी सिद्धान्त कहा गया है। आशय यह है कि शोषण से मुक्ति दूरगामी लक्ष्य है, तात्कालिक लक्ष्य है स्वाधीन प्रजातंत्र की स्थापना। प्रजातंत्र में जनता को अधिकार होगा कि निर्वाचित प्रतिनिधियों को वापस बुला सके। यह सिद्धान्त सोवियत संविधान में विद्यमान है। पुराने क्रान्तिकारियों को राष्ट्रीय क्रान्तिकारी की संज्ञा दी गयी है किन्तु इस घोषणा-पत्र में स्पष्ट कहा गया है कि "क्रान्तिकारी पार्टी राष्ट्रीय नहीं अन्तरराष्ट्रीय है" (The Revolutionary party is not National but International)। यह अन्तर्राष्ट्रीयता वैसी ही नहीं है जैसी वह मार्क्सवादियों के लिये सुपरिचित है किन्तु उससे यह बहुत दूर भी नहीं है। घोषणा-पत्र में व्याख्या की गयी है कि संसार में विभिन्न जातियां रहती हैं, इन जातियों के हित अलग-अलग हैं, इन हितों का सम्मान करते हुए जातियों के बीच सामंजस्य स्थापित करना क्रान्तिकारी पार्टी का लक्ष्य है, इस अर्थ में वह अन्तर्राष्ट्रीय है। पार्टी का लक्ष्य विभिन्न राज्यों और जातियों के बीच प्रतिस्पर्द्धा खत्म करके सहयोग कायम करना है, "और इस मामले में वह गौरवमय अतीत के महान् भारतीय ऋषियों तथा आधुनिक युग में बोल्शेविक रूस के चरण-चिन्हों पर चलती है।" यहां बोल्शेविक रूस के साथ भारतीय ऋषियों का उल्लेख है, इससे चौंकने की जरूरत नहीं। लाला हरदयाल ने कार्ल मार्क्स को आधुनिक ऋषि कहा था। जो मनुष्य दूसरों के लिए जीता है, स्वार्थ के लिए कुछ नहीं करता, धैर्यपूर्वक कष्ट सहता है, वह लाला हरदयाल के लिए ऋषि है। यदि

पात्र है। शान्तिपूर्ण और वैध उपायों से भारत को राजनीतिक स्वाधीनता मिलेगी, यह सोचना खुद को धोखा देना है। शत्रु अपनी सुविधा से शान्ति भंग करने पर तुला हुआ है, ऐसी स्थिति मे वैध उपाय अर्थहीन शब्द हैं और हर हालत मे हम शान्ति बनाये रहेंगे, यह सम्भव नही है। (यहा संवैधानिक तरीके से आशय है अंग्रेजो द्वारा दी हुई कुछ रियायतो से। कांग्रेस इन रियायतों को अस्वीकार करती थी, फिर उन्हें थोड़े हेर-फेर मे स्वीकार करती थी। वैध उपाय ऐसे थे जो अंग्रेजी कानून को स्वीकार थे)। घोषणा-पत्र मे इस बात पर जोर दिया गया है कि ब्रिटिश भारत के कानून भारतवासियो ने नही बनाये। अंग्रेजी कानून और संविधान से ब्रिटिश भारत को स्वाधीन प्रजातंत्र नही बनाया जा सकता। क्रांतिकारियों का आदर्श मानव-जाति की सेवा करना है। जब तक भारत अंग्रेजों का गुलाम है, तब तक इस आदर्श की उपलब्धि नही हो सकती। जो बुद्धिमान बनते हैं, वे कहते हैं कि हथियारो की लड़ाई से भारत को फिर जीन लेंगे, यह फिजूल की बात है। मानव-जाति के पांचवें हिस्से को मुट्ठीभर अंग्रेज हथियारों के बल पर दबाये हुए है, क्या यह बेसिर-पैर की बात नहीं ?

क्रान्तिकारियों को अराजकतावादी और आतंकवादी कहा जाता रहा है। घोषणा-पत्र मे इस धारणा का जोरदार खण्डन किया गया है। क्रान्ति के प्रसंग में इन शब्दो का प्रयोग बार-बार इसलिए होता है कि इन शब्दो के व्यवहार से क्रान्तिकारियो की निंदा करने मे सुविधा होती है। "भारतीय क्रान्तिकारी न तो आतंकवादी है न अराजकतावादी। ("The Indian revolutionaries are neither terrorist nor anarchist.") उनका यह लक्ष्य कभी नही है कि देश मे अराजकता फैलायें; इसलिए उन्हें अराजकतावादी कहना कभी उचित न होगा। उनका लक्ष्य आतंकवाद कभी नही है और उन्हें आतंकवादी नही कहा जा सकता। विदेशियो ने भारतीय जनता को आतंकित कर रखा है। भारतवासी नही चाहते कि अंग्रेज यहा रहें; वे उनसे डरे हुए है। इस सरकारी आतंक का मुकाबला करना जरूरी है। क्रान्तिकारी प्रदर्शनो और आतंक द्वारा उसका मुकाबला किया जा सकता है। क्रान्तिकारी पार्टी अंतिम प्रहार करने की तैयारी कर रही है, इसलिए जबरदस्त उकसावा होने पर भी उसने आतंकवादी कार्रवाई नही की किन्तु जब जरूरत होगी तब वह करेगी और जो भी विदेशी शासको की मदद करेगा, वह उसका जीना दूभर कर देगी। "लेकिन उस हालत मे भी पार्टी यह कभी न भूलेगी कि आतंकवाद उसका उद्देश्य नही है, वह निःस्वार्थ और निष्ठावान कार्यकर्ताओं का दल सगठित करने का निरन्तर प्रयत्न करेगी जो देश की राजनीतिक और सामाजिक मुक्ति के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देंगे।"

घोषणा-पत्र के प्रारम्भिक अंश मे आन्दोलन (मूवमेंट) शब्द का कई बार प्रयोग किया गया है। एक नई शक्ति, एक नई भावना सारी दुनिया को हिला रही है, वह भारत के तरुणो मे भी व्यक्त हो रही है और आंदोलन का रूप ले रही है। यह आंदोलन तरुण भारत का क्रांतिकारी आंदोलन है। (This remarkable movement is the revolutionary movement in young India)। जि[illegible] व्यक्ति ने यह लिखा था, वह पुराने ढंग की गुप्त क्रांतिकारी कारंवाई से अ[illegible]

बढ़कर एक व्यापक आंदोलन की वात जरूर सोच रहा था। उसकी दृष्टि नौजवानो पर थी और स्वाधीनता प्राप्ति के लिये वह उनका आंदोलन आवश्यक समझता था। इससे एक पग आगे बढ़ें तो नौजवान भारत सभा जैसे संगठन की कल्पना अपने आप सामने आ जाती है। भारत की क्रांतिकारी पार्टी का घोषणा-पत्र मूल अंग्रेजी रूप में **स्मारिका** मे दिया हुआ है। इसके बाद ही नौजवान भारत सभा लाहौर का घोषणा-पत्र है जो अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवादित है। इस घोषणा-पत्र के लेखक भगवतीचरण बोहरा है और इसमे ६ अप्रैल १९२८ तारीख दी हुई है। क्रांतिकारी पार्टी के घोषणा-पत्र और नौजवान भारत सभा के घोषणा-पत्र मे कई बातें सामान्य है। क्रांतिकारी पार्टी के घोषणा-पत्र में कहा गया है कि नये भारत के जन्म के लिए अराजकता अनिवार्य है (inevitable chaos)। नौजवान भारत सभा के घोषणा-पत्र मे भी कहा गया है कि राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया में अराजकता एक अनिवार्य तथा आवश्यक दौर है। संभव है लेखक का आशय यह हो कि क्रांति से पहले अव्यवस्था फैलती है और इस तरह की उथल-पुथल आवश्यक है।

इस घोषणा-पत्र की एक विशेषता यह है कि इसमे भारत के आर्थिक शोषण पर काफी जोर दिया गया है, यहा के उद्योग-धन्धों के विनाश के बारे मे रमेशचन्द्र दत्त, विलियम डिगबी और दादाभाई नौरोजी का स्मरण किया गया है। भारत सबसे गरीब देशों में एक है, बहुत थोड़े लोग साक्षर है, सभी देशों से यहा बच्चो की मौत ज्यादा होती है। राजनीतिक पराधीनता के अलावा जनता की आर्थिक और सांस्कृतिक दशा पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद के प्रति लोगों को सचेत किया गया है, धार्मिक अन्धविश्वासो और कट्टरता को प्रगति मे बाधक बताया गया है। जापान, पोलैंड, इटली आदि देशो के क्रांतिकारी आंदोलनों से प्रेरणा ग्रहण करने के अलावा रूसी नौजवानो को भी याद किया गया है जिन्हें समाजवादी पर्चे बाटने के अपराध मे साइबेरिया भेज दिया गया। लेखक के लिये भारत की राजनीतिक लडाई १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के बाद आरम्भ हो गयी थी।

घोषणा-पत्र की अन्य विशेषता यह है कि क्रांति जनता के हित मे होती है और वह जनता द्वारा होती है। *भारतीय नवयुवकों को गांव मे जाकर लोगों को समझाना* होगा कि क्रांति वास्तव में क्या होती है। लेखक के अनुसार क्रांति का अर्थ होगा नई व्यवस्था का जन्म, एक नई राज्यसत्ता।

क्रांतिकारियों के घोषणा-पत्रों मे गदर का हवाला रहा है, गदर पार्टी का हवाला रहा है। *गदर पार्टी के नेता करतारसिंह की वीरता को यहां भी याद किया* गया है। नई बात यह है कि यहा समाज का वर्ग-विश्लेषण भी किया गया है। २०वी सदी के आरम्भ से अंग्रेज भारत के पूंजीपति तथा निम्न पूंजीपति वर्ग को सहूलियतें देकर अपनी तरफ मिला रहे है। भारत मे ब्रिटिश पूंजी का प्रवेश बढ़ा, उसका यही नतीजा होना था। यह उच्च वर्ग अभी साम्राज्यवाद से मिल नहीं गया किन्तु दोनों के हित एक हो रहे हैं और निकट भविष्य मे दोनों मिलकर एक हो जायेंगे। दोनों मे समझौता हो जाएगा, समझौता न भी हो, तो भी दोनों के

की दूरी कम हो जाएगी।

उस समय अधिकाश मार्क्सवादी भारत की स्थिति का विश्लेषण इसी तरह करते थे। यह असम्भव है कि भगवतीचरण वोहरा मार्क्सवादी साहित्य से, सामान्य रूप मे ही नही वरन् भारत सम्बन्धी किन्ही महत्वपूर्ण दस्तावेजों से, परिचित न रहे हों। आने वाली क्रांति का मतलब केवल मालिकों की तबदीली न होगा, उससे एक नई व्यवस्था का जन्म होगा।

६ जून १९२९ को भगतसिंह ने दिल्ली के सेदान्स जज की अदालत में जो बयान दिया, उसमे भी यह दृष्टिकोण मौजूद है। इसमें श्रमिक नेताओं की गिरफ्तारियों की चर्चा है, भारत के करोड़ों मेहनतकश, अंग्रेजों की बनायी हुई केन्द्रीय सभा (ऐसेम्बली) से कुछ भी प्राप्त नही कर सकते, इस बात पर जोर दिया गया है। क्रांति की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अन्याय पर आधारित वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन लाना होगा। किसान, मजदूर, बुनकर देश की सम्पत्ति पैदा करते है किन्तु उन्हें अपने श्रम का फल नही मिलता। पूजीपति करोड़ों रुपया पानी की तरह बहाते हैं। जो लोग समझते है, उनका कर्त्तव्य है कि समाज को इस तरह पुनर्गठित करें कि सर्वहारा वर्ग की प्रभुता को मान्यता मिले।

पंजाब सरकार के नाम भगतसिंह ने जो पत्र लिखा था, उसमे स्पष्ट कहा गया है कि मुट्ठीभर शक्तिशाली लोगो ने मेहनत-मजदूरी करने वाले जनसाधारण के प्राकृतिक साधनो पर अपना अधिकार जमा रखा है। अपना स्वार्थ साधने वाले चाहे अंग्रेज पूजीपति हो चाहे हिन्दुस्तानी, वे मिलकर लूटते हों चाहे शुद्ध भारतीय पूजी से गरीबो का खून चूसते हो, इससे व्यवस्था में कोई अन्तर नही आता।

'कौम के नाम सरदार भगतसिंह का सदेश' नाम से जो दस्तावेज स्मारिका मे छपा है, उसमे काग्रेस की समझौतावादी नीति की आलोचना है। साल भर की लड़ाई के बाद गोलमेज सम्मेलन हुआ। काग्रेस के नेता आदोलन को स्थगित कर देने के लिये तैयार दिखायी देते है, उनके आदोलन का अन्त किसी न किसी प्रकार के समझौते मे होगा। इस बयान में यह बात स्पष्ट की गयी है कि हर तरह का समझौता अनुचित नही होता। एक समझौता क्राति की अगली तैयारी के लिये किया जाता है, दूसरा समझौता हथियार डालने और क्राति को रोकने के लिए किया जाता है। भगतसिंह ने यहां १९०५ की रूसी क्राति का हवाला दिया है जब लेनिन ने जार की बनाई हुई विधान सभा मे जाने का समर्थन किया था। फिर १९१७ की क्राति के बाद उस सधि का हवाला दिया है जो लेनिन के जोर देने पर जर्मनी से की गयी थी। इन उल्लेखो से यह पता चलता है कि भगतसिंह और उनके साथी रूसी क्राति और उसके बाद के घटनाक्रम का अध्ययन गभीरता-पूर्वक कर रहे थे और अध्ययन से लाभ उठाकर अपने देश के लिये नई रणनीति और कार्यनीति निर्धारित करने के लिये प्रयत्नशील थे। यदि उन्हे कुछ दिन और जीने का अवसर मिलता तो वे निस्संदेह एक नई क्रातिकारी नीति निर्धारित करते और उसके अनुरूप अपने सगठन और आदोलनों के तरीके बदलते। काग्रेस की आलोचना करते हुए कहा गया है कि वह मध्यवर्ग के सहारे अंग्रेजों पर दबाव डालकर कुछ अधिकार लेना चाहती है। इससे मजदूरो और किसानो का उद्धार

न होगा। यही नहीं, इस तरह आजादी भी प्राप्त न होगी। स्वाधीनता संग्राम में विजय पाने के लिए मजदूरों, किसानों और सामान्य जनता को आगे लाना होगा। इन मजदूरों और किसानों को विदेशी हुकूमत के साथ-साथ देशी भूस्वामियों और पूंजीपतियों के शासन से भी मुक्ति पानी होगी।

क्रांतिकारी दल का नाम सोशलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी है। यहां सेना (आर्मी) के बदले पार्टी शब्द का व्यवहार किया गया है। सेना का काम हथियारों से लड़ना है, पार्टी का मुख्य काम राजनीतिक संगठन और आंदोलन है। यह बात बदलते हुए राजनीतिक दृष्टिकोण की सूचना देती है। पार्टी के नाम में सोशलिस्ट शब्द है। इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि पार्टी का लक्ष्य एक सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट समाज की स्थापना है। राजनीतिक क्रांति से जब शासन-शक्ति अंग्रेजों के हाथ से निकलकर हिन्दुस्तानियों के हाथ में आ जाएगी, तब कांग्रेस वहीं रुक जाएगी। भगतसिंह की पार्टी का लक्ष्य होगा कि शासन-शक्ति उन्हें सौंपी जाये जो कम्युनिस्ट समाज स्थापित करना चाहते हैं। इसके लिये मजदूरों और किसानों को संगठित करना होगा। इन लोगों के लिये लार्ड रीडिंग या इरविन की जगह तेजबहादुर या पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के आ जाने से कोई भारी फर्क न पड़ेगा।

कांग्रेस एक मंजिल तक पहुंचकर रुक जायेगी, क्रांतिकारी दल उसके बाद भी आगे बढ़ेगा, इस स्थापना से यह नतीजा भी निकाला जा सकता है कि क्रांति की दो मंजिलें हैं, पहली मंजिल राजनीतिक स्वाधीनता की है, दूसरी मंजिल सामाजिक स्वाधीनता की। यदि कांग्रेस राजनीतिक स्वाधीनता की मंजिल पर जाकर रुक जाती है तो क्या यह संभव नहीं कि क्रांतिकारी दल उस मंजिल तक पहुँचने के लिए कांग्रेस के साथ मिलकर लड़े? अधिकांश क्रांतिकारी कांग्रेस के सुधारवादी रवैये से चिन्तित थे। कांग्रेसी नेता क्रांति से भय खाकर अंग्रेजों से मिल गये हैं या मिल जायेंगे, इस बात की ओर संकेत अवश्य है किन्तु यह उनके चिन्तन की बुनियादी स्थापना नहीं है। यह बात २६ जनवरी १९३० को बांटे हुए क्रांतिकारियों के पर्चे से स्पष्ट हो जाती है। गांधीजी ने क्रांतिकारियों की आलोचना की थी, उसके उत्तर में भगवतीचरण वोहरा ने **बम का दर्शन (द फिलासफी आफ द बॉम)** नाम का पर्चा लिखा था। विश्वनाथ वैशम्पायन लिखित **अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद** (भाग २-३, १९६७) में यह घोषणा-पत्र मूल अंग्रेजी में दिया हुआ है। इसमें कहा गया है कि क्रांतिकारी लोग इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि कांग्रेस ने जनसाधारण को जगाया, उनमें स्वाधीनता के लिये उत्कट कामना जगायी। वे उससे भविष्य में बड़े-बड़े कामों की आशा करते हैं। कांग्रेस में ऐसे लोग हैं जो सारी शक्ति क्रांतिकारियों के विरोध में ही लगा देते हैं। जब तक इनकी चलेगी तब तक देश कांग्रेस से बड़े कामों की आशा नहीं कर सकता। क्रांतिकारी लोग उस दिन की बाट जोह रहे हैं जिस दिन अहिंसा के लिए दुराग्रह कांग्रेस से दूर हो जाएगा और "वह क्रांतिकारियों के साथ कन्धे से कंधा मिलाकर पूर्ण स्वाधीनता के सामान्य लक्ष्य की ओर बढ़ेगी।" यदि कांग्रेस, क्रांतिकारियों की निगाह में, साम्राज्यवादियों से मिल गयी होती तो उसके साथ आगे बढ़ने का प्रश्न ही न होता। कांग्रेस के साथ क्रांतिकारियों का संयुक्त मोर्चा बन

सकता है, इसके लिये सुधारवादी नेताओं को हटाना होगा, यह धारणा इस पर्चे में विद्यमान है। पर्चा २६ जनवरी १६३० को बांटा गया था किन्तु वह लिखा १६२६ में गया था। उसी वर्ष कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य स्वीकार किया था। इसलिये पर्चे में कांग्रेस के लिये कहा गया है, "इस वर्ष उसने वह लक्ष्य स्वीकार किया है जिसका प्रचार २५ साल से ऊपर हुए क्रांतिकारी करते आये हैं और जिसके लिये वे जी रहे हैं।" १६२६ में मेरठ षड्यन्त्र का मुकदमा भी चल रहा था। भगवतीचरण वोहरा ने अंग्रेजों के अत्याचार के उदाहरण के रूप में लाहौर और भुसावल के मुकदमों के साथ मेरठ के मुकदमे का भी उल्लेख किया है।

क्रांतिकारी आंदोलन कांग्रेस की सुधारवादी नीति की प्रतिक्रिया था, यह बात यहां स्पष्ट की गयी है। ब्रिटिश सरकार समय-समय पर रियायतें देती रही है जिससे कि आंदोलन करने वाले सही रास्ते से भटक जायें। होमरूल, डोमीनियन स्टेटस आदि गुलामी का ही दूसरा नाम है। इन रियायतों के बदले क्रांतिकारियों ने स्वाधीनता का झण्डा उठाया था। कांग्रेसी नेता अहिंसा पर बहुत जोर देते हैं, क्रांतिकारियों के मार्ग को हिंसा का मार्ग कहते हैं। क्रांतिकारियों की ओर से भगवतीचरण वोहरा जवाब देते हैं कि हिंसा वहां होती है जहां अन्याय के लिए बल प्रयोग होता है। जहां तक मानसिक शक्ति का सवाल है, क्रांतिकारी अदम्य साहस से अपने आदर्श के लिए कष्ट सहते हैं, आत्मबलिदान करते हैं। भारतीय स्वाधीनता क्रांति द्वारा प्राप्त होगी और यह क्रांति जनता करेगी, इस बारे में लिखा है, "क्रांतिकारी विश्वास करते हैं कि देश का उद्धार क्रांति से होगा। जिस क्रांति के लिए वे निरन्तर काम करते हैं, जिसकी बाट जोहते हैं, वह विदेशी सरकार और उसके समर्थकों तथा जनता के बीच हथियारबन्द संघर्ष का रूप लेगी। यही नहीं, वह एक नई समाज-व्यवस्था को भी जन्म देगी। क्रांति से पूंजीवाद, वर्गभेद और विशेषाधिकार समाप्त हो जाएंगे। राष्ट्र अपना स्वरूप पहचानेगा। क्रांति एक नई राज्यसत्ता, एक नये समाज को जन्म देगी। सबसे बड़ी बात यह है कि वह सर्वहारा अधिनायकवाद स्थापित करेगी और राजनीतिक सत्ता के सिंहासन से समाज के उपजीवियों को सदा के लिए खदेड़ देगी।" ("it will establish the Dictatorship of the proletariat")।

कांग्रेस की सुधारवादी नीति के कारण भारतीय क्रांतिकारी उसके विरोधी थे। उनका यह विरोध अनेक दस्तावेजों में देखने को मिलता है। भगवतीचरण वोहरा के पर्चे में जो नई बात है, वह यह है कि सुधारवाद की आलोचना करते हुए स्वाधीनता आंदोलन की प्रगति के लिए गांधीवाद के मुकाबले सीधे मार्क्सवाद को प्रस्तुत कर दिया गया है। मार्क्सवाद शब्द का व्यवहार नहीं किया गया किन्तु आशय उसी से है। देश में राजनीतिक जागृति अहिंसावादी उपदेशों का परिणाम है इस धारणा का खण्डन करते हुए कहा है कि जहां भी सीधी कार्रवाई का प्रोग्राम सामने रखा जाता है, वहां बड़े पैमाने पर जनसाधारण में जागृति फैलती है। फिर लिखा है, "उदाहरण के लिये रूस में जब कम्युनिस्टों ने जुझारू जन कार्यवाही का अपना महान् कार्यक्रम शुरू कर दिया, तब किसानों और मजदूरों के बीच बड़े पैमाने पर जागृति फैली यद्यपि किसी ने उन्हें अहिंसा का उपदेश न

दिया था। हम इससे और आगे बढ़कर कहेंगे कि जन कार्यवाही का नारा देने पर जो शक्तियां एकत्र हुई थी, वे मुख्यतः अहिंसावाद और गांधी के समझौतावादी दृष्टिकोण के कारण बिखर गई।" एक ओर जहां अहिंसावाद के नाम पर साम्राज्यवाद से समझौता करने की नीति है, वहां उसके मुकाबले कम्युनिस्टों का महान् कार्यक्रम है, जनता की जुझारू कारंवाई का कार्यक्रम है। यह कार्यक्रम किसानों और मजदूरों के लिए है, इस कार्यक्रम के बल पर किसानों और मजदूरों में विशाल जागृति फैली है। कम्युनिस्ट जो कार्यक्रम बनाएंगे, वह मार्क्सवाद के आधार पर बनेगा, इसीलिये यह कहना उचित है कि यहां स्वाधीनता आंदोलन की प्रगति के लिये भगवतीचरण वोहरा ने गांधीवाद के मुकाबले मार्क्सवाद को प्रस्तुत किया है। मार्क्सवादी दर्शन क्या है, मार्क्स के अर्थशास्त्र की विशेषताएं कौन-सी हैं, साम्राज्यविरोधी क्रांति और समाजवादी क्रांति एक साथ होंगी या आगे-पीछे आदि बहुत-से प्रश्न हैं जिन पर लम्बी बहस हो सकती है और होती रही है किन्तु मुख्य बात किसानों और मजदूरों के संगठन की, क्रांति में उनकी भूमिका की, कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा जनता को संगठित करने की है। तत्व की यह बात भगवती-चरण वोहरा को बहुत अच्छी तरह मालूम है। यदि बम के अचानक फट जाने से उनकी अकाल मृत्यु न होती तो इसमें सन्देह नहीं कि वे उसी रास्ते पर आगे बढ़ते जिस रास्ते पर शिव वर्मा और उनके अनेक साथी बढ़े। गांधीवाद की परिणति साम्राज्यवाद से समझौता करने में होगी, जो आदमी यह जानता था, वह जन-आंदोलन में पूंजीवादी नेतृत्व की जगह मार्क्सवादी नेतृत्व की प्रतिष्ठा के लिए अवश्य प्रयत्न करता। १९३४ के बाद कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की जो नीति अपनायी, वह सही थी। संयुक्त मोर्चे के नाम पर समझौता करने वाले नेताओं को आंदोलन की बागडोर संभाले रहने दिया, यह नीति सही नहीं थी। इस संदर्भ में भगवतीचरण वोहरा ने जो बात १९२९ में लिखी थी, वह १९४७ के पहले ही नहीं, उसके बाद भी मार्क्सवादियों के ध्यान देने योग्य है। उन्होंने लिखा था, "दरअसल गांधी जिस सत्याग्रह का प्रचार करते हैं, वह एक तरह का आंदोलन (ऐजीटेशन) है, विरोध है जो अनिवार्य रूप से समझौते में जाकर समाप्त होता है जैसा कि देखा जा चुका है। जो देश राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रयत्नशील है, उसके लिये वह (अर्थात् सत्याग्रह) किसी काम का नहीं है क्योंकि राष्ट्रीय स्वाधीनता समझौते के फलस्वरूप कभी प्राप्त नहीं हो सकती। आज़ादी और गुलामी के बीच कोई समझौता नहीं हो सकता, यह बात जितना जल्दी हम समझ लें, उतना ही अच्छा है।"

भगवतीचरण मानते हैं कि कांग्रेस देशव्यापी जनआंदोलन छेड़ सकती है। वे कहते हैं कि सर्वमान्य क्रांतिकारी सिद्धान्तों के अनुसार ऐसा देशव्यापी आंदोलन छेड़ा जाये तो वह महान् दिवस होगा। किन्तु जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक आज़ादी का झण्डा फहराना महज एक मखौल है। क्रांतिकारी मुख्य रूप से तरुणों को अपनी ओर आकर्षित करते थे। इस पर्चे में तरुणों के अलावा मजदूरों, किसानों और क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों से अपील की गयी है कि वे क्रांतिकारियों का साथ दें और आज़ादी का झण्डा लेकर उनके साथ आगे बढ़ें। १९३० तक क्रान्ति-

कारियों को समाज में वर्गों के अस्तित्व, उनकी विभिन्न भूमिकाओं की पहचान हो गयी थी। यह पहचान वह मोड़ है जहां से तरुणों का गुप्त संगठन बनाने के बदले क्रांतिकारी नेता मजदूरों और किसानों की ओर बढ़ते हैं, क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों को साथ लेते हैं और जनआंदोलन में नई शक्ति संचारित करते हैं। ऐसे आंदोलन की अंतिम परिणति वही हो सकती है जो भगवतीचरण वोहरा ने बतायी है—"हम एक नई समाज व्यवस्था कायम करें जिसमें राजनीतिक और आर्थिक शोषण असंभव हो जाए।"

'बम का दर्शन' स्मारिका में प्रकाशित है। उसके सम्बन्ध में ऊपर जो बातें कही गयी हैं, उनका आधार आज़ाद की जीवनी में वैशम्पायन का दिया हुआ दस्तावेज़ है। अप्रैल १९८१ में आगरा नगर में भगतसिंह के बलिदान दिवस की अर्द्धशताब्दी के अवसर पर क्रांतिकारियों का बहुत बड़ा सम्मेलन हुआ। उस अवसर पर क्रांतिकारियों की स्मृति में **स्मारिका** नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें बनारसीदास चतुर्वेदीजी का संदेश प्रकाशित है। चतुर्वेदीजी ने क्रांतिकारियों की कीर्ति-रक्षा के लिए सराहनीय कार्य किया है किन्तु **स्मारिका** में प्रकाशित संदेश में दो-एक बातें सही नहीं हैं। यहाँ उनकी चर्चा कर देना उचित है। चतुर्वेदी जी ने लिखा है, "सन् १९१८ में मैंने ७२८ पृष्ठों की जो **प्रवासी भारतवासी** नामक पुस्तक लिखी थी उसे मैंने दक्षिण अफ्रीका की शहीद कुमारी वेलि अम्मा को समर्पित किया था। तब से लेकर अब तक शहीदों के विषय में मेरी २२-२३ चीजें निकल चुकी हैं जिनमें १९ सशस्त्र क्रांतिकारियों के विषय में हैं और केवल ४ सत्याग्रहियों के।" चतुर्वेदी जी की पुस्तक वेलि अम्मा के 'स्मरणार्थ' लिखी गयी है किन्तु वह समर्पित है "सुप्रसिद्ध भारत हितैषी स्वर्गीय सर हैनरी काटन के. सी. ऐस्. आई. की पवित्र आत्मा की सेवा में।" पुस्तक में ऐसी अनेक पवित्र आत्माओं का उल्लेख है। इनमें लार्ड हार्डिंग भी हैं। इन्हीं पर दिल्ली में बम फेंका गया था। पुस्तक के दूसरे भाग के पृष्ठ ४० पर बम फेंकनेवाले का उल्लेख इस प्रकार है, "देहली में २३ दिसम्बर सन् १९१२ ई. को जब आपके ऊपर किसी राजद्रोही दुष्ट पापी ने बम फेंका था तब भी आप अपने पथ पर से नहीं डिगे थे।" अंग्रेज वाइसराय भारत हितैषी था, उस पर बम फेंकने वाला युवक दुष्ट और पापी था। **स्मारिका** के संदेश में **प्रवासी भारतवासी** के लेखनकाल से लेकर १९८१ तक शहीदों के विषय में जिस लिखाई की चर्चा है वह भ्रम पैदा करने वाली है। इस दीर्घ अवधि के दो भाग हैं। पहला भाग १९४७ से पहले का है, दूसरा भाग १९४७ के बाद का। १९४७ से पहले, विशेष रूप से **प्रवासी भारतवासी** पुस्तक के लेखनकाल में, चतुर्वेदी जी लिबरल नेताओं के साथ थे, शहीदों की श्राद्ध का काम उन्होंने भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद शुरू किया।

कानपुर से गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रभा' नाम की पत्रिका निकाली। इस पत्रिका ने उस युग के प्रायः सभी जागरूक लेखकों को आकर्षित किया। बाद को बालकृष्ण शर्मा नवीन इसके सम्पादक हुए। अक्तूबर १९२४ की 'प्रभा' के आवरण पृष्ठ पर लार्ड हार्डिंग पर बम फेंकने वाले की तस्वीर छपी है और उसके नीचे लिखा है—"वीर श्रेष्ठ श्रीयुत रासबिहारी बोस।" सन् २४ में किसी पत्रिका के

आवरण पृष्ठ पर रासबिहारी बोस का चित्र छापना वीरता का काम था। उससे पहले सितम्बर के अंक मे मैनपुरी के क्रांतिकारी गेंदालाल दीक्षित का चित्र छपा है। 'अज्ञातनाम' लेखक ने उनका परिचय लिखा है। आगरा जिले की वाह तहसील के एक गाव मे उनका जन्म हुआ था और वह मैनपुरी षड्यन्त्र मे पकड़े गये। दिसम्बर १९२४ की 'प्रभा' मे सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य का 'भारत में क्रांतिकारी आंदोलन' शीर्षक निबन्ध प्रकाशित हुआ था। इसमें रासबिहारी बोस के बारे मे लिखा है कि वह देहरादून के वन विभाग के एक दफ्तर में हेड क्लर्क का काम करते थे। लाला हरदयाल अमरीका में थे, उनके शिष्य दिल्ली आये और वहां अनेक तरुणों से मिले। रासबिहारी बोस और दिल्ली के नौजवानों के सम्बन्ध के बारे में सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य ने लिखा है, "उत्तर भारत के प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री रास-बिहारी बसु, जो इस समय जापान में है, इनके अगुआ बने।" रासबिहारी बोस का मुख्य कार्यक्षेत्र उत्तर भारत था, यह बात ध्यान देने योग्य है। उन्होंने पंजाब में गदर पार्टी के नेताओं के साथ काम किया, यह भी उल्लेखनीय है। इस प्रकार उत्तर भारत का क्रांतिकारी आदोलन लाला हरदयाल के अलावा अन्य नेताओं के माध्यम से भी सीधे गदर पार्टी से जुड़ जाता है। रासबिहारी बोस का एक गढ़ बनारस था। शचीन्द्रनाथ सान्याल उनके प्रमुख सहायक थे। बनारस, इलाहाबाद, कानपुर आदि नगरो मे क्रांतिकारियों का सगठन करने मे उनकी प्रमुख भूमिका थी।

कानपुर के दैनिक 'जागरण' का रजत जयन्ती अंक नवम्बर १९७२ मे प्रकाशित हुआ था। इसमे लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी का एक निबन्ध 'कानपुर का नव-जागरण' है। इसमे बताया गया है, "सन् १९०५ मे कानपुर मे श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा के नेतृत्व मे नवयुवकों के एक दल का गठन हुआ जो तिलक में आस्था रखता हुआ सशस्त्र क्रांति मे विश्वास करता था।" कानपुर के एक पुस्तकालय में राजनीतिक जागरण सम्बन्धी पुस्तकें रखी गयी थीं। गणेशशंकर विद्यार्थी और नारायणप्रसाद अरोड़ा इसी पुस्तकालय मे एक दूसरे से परिचित हुए। त्रिपाठीजी के अनुसार १९०८ में लाला हरदयाल कानपुर आये और "यहां बीस-बाईस दिन रहकर उन्होंने एक क्रांतिकारी दल का विधिवत् संस्थापन इसी पुस्तकालय में किया था।" उन्होंने क्रांतिकारियों के लिये एक पाठ्यक्रम भी निश्चित किया था। २३ दिसम्बर १९१२ को लार्ड हार्डिंग पर दिल्ली की चांदनी चौक में बम फेंका गया और एक पर्चा बाटा गया। वह पर्चा कानपुर में भी बांटा गया। सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य का जन्म बनारस मे हुआ था। बनारस मे साढे तीन साल की नजरबन्दी से मुक्त होकर वे कानपुर आये और वहां क्रांतिकारियों का संगठन करने लगे। गणेशशंकर विद्यार्थी कांग्रेस के प्रमुख नेता थे, साथ ही वह क्रांतिकारियो के संरक्षक और मित्र भी थे। सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य 'प्रताप' साप्ताहिक मे काम करते थे। 'दैनिक जागरण' के गणेश-शंकर विद्यार्थी से सम्बन्धित लेख मे भगतसिंह के लिये कहा गया है कि वह गणेशजी के साथ प्रताप में बहुत अर्से तक रहते रहे। शिव वर्माजी से मुझे मालूम हुआ कि पुलिस की नजरों से बचाने के लिए विद्यार्थी जी ने भगतसिंह को 'प्रताप' के सम्पादकीय विभाग मे रखा था। गणेशशंकर विद्यार्थी महावीरप्रसाद द्विवेदी के

और खुल्लमखुल्ला उसका खण्डन करना भी क्रांति ही है।" इंग्लैण्ड का राजकुमार भारत में आता है, उसका सम्मान किया जाता है। प्रश्न यह है, "इंग्लैण्ड के राजकुमार को हमारे घर में जबर्दस्ती हमसे सम्मान पाने का क्या अधिकार था।" इस टिप्पणी में एक वाक्य दिलचस्प है, "साधारण हड़ताल के समय मालिक और मजदूरों में जो भाव देखने में आता है, क्रांति के समय वही भाव राजा और प्रजा, सेना और सेनापतियों में भी दीख पड़ता है" अर्थात् वर्ग संघर्ष की परिणति है क्रांति।

सन् '५७ का गदर, गदर से मिली प्रेरणा से सशस्त्र क्रांति का प्रयास, फिर क्रांति की सफलता के लिए सही रणनीति और कार्यनीति का ज्ञान होने पर समाजवादी विचारधारा की स्वीकृति, यह रास्ता भारत के बहुत-से क्रांतिकारियों ने, और भारत के विभिन्न प्रदेशों में, तय किया। उन्होंने अपने अनुभव से यह जाना कि क्रांति जनता करती है, उसे संगठित करने का काम क्रांतिकारियों का है, जन-संगठन के साथ क्रांतिकारी पार्टी का संगठन आवश्यक है। राधामोहन गोकुल जी ने अनेक नौजवानों को क्रांति के नये मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। शिव वर्मा भगतसिंह के साथियों में है। रामप्रसाद बिस्मिल ने जिस तरह के नये क्रांतिकारी संगठन बनाने का स्वप्न देखा था, उसके अनुरूप शिव वर्मा ने कार्य किया। राजनीतिक कार्यकर्ता होने के अलावा वह हिन्दी के समर्थ पत्रकार और लेखक भी है। अनेक पुस्तिकाओं की रचना करने के अतिरिक्त वह अनेक वर्षों तक प्रगतिशील साहित्यिक पत्र 'नया पथ' के सम्पादक रहे हैं। उनके एक सहयोगी अजय घोष ने उनके बारे में लिखा है कि वह क्रांतिकारियों में सबसे अधिक अध्यवसायी थे और उत्तर प्रदेश में क्रांतिकारी दल के मुख्य संगठनकर्ता थे। वह १६०६ में हरदोई जिले के एक गाव मे पैदा हुए थे। सन् '२५ में वह कानपुर आ गए थे। जिस कालेज में पढ़ते थे, वह क्रांतिकारियों का अड्डा था। १६२६ में पकड़े जाने के बाद भारत के स्वाधीन होने तक उनका जीवन जेल में बीता था। अनेक बार भूख हड़ताल करने से स्वास्थ्य काफी खराब हुआ, फिर भी संघर्ष मे बराबर भाग लेते रहे।

शिव वर्मा के साथी अजय घोष उनसे तीन साल छोटे थे। उनका जन्म कानपुर में हुआ था और वहीं उन्होंने मजदूरों के बीच राजनीतिक कार्य आरंभ किया था। वह कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख नेता थे। सन् '६२ में उनका देहान्त हुआ। क्रांतिकारियों के संस्मरण अजय घोष ने भी लिखे है। शिव वर्मा की अनेक बातों की पुष्टि अजय घोष के संस्मरणों में होती है। भगतसिंह के बारे में लिखा है, "शायद हम लोगों में सबसे पहले वे ही समाजवादी विचारों की ओर आकृष्ट हुए थे। वे एक कट्टर अनीश्वरवादी व्यक्ति थे और पहले के आतंकवादियों के धार्मिक विश्वासों का उन पर तनिक भी प्रभाव नहीं था।" (अजय घोष, 'चुने हुए लेख तथा भाषण', दिल्ली; १६७६, पृष्ठ १७; ये निबन्ध अंग्रेजी से अनुवादित हैं)।

नहीं था। इसलिए वे दूसरों को प्रेरित करते थे कि वे पढ़कर बातों को उन्हें समझा दें···आज़ाद के अपने विचार थे कि अधिक से अधिक साथी जनता के बीच में काम करने निकल जाएं और एक विशाल समाजवादी आंदोलन के विकास के लिए मज़दूरों और किसानों को संगठित करें तथा जब भी उस आंदोलन के लिए आवश्यक हो सशस्त्र संघर्ष की तैयारी करने और भावी क्रांतिकारी उभार के लिए स्वयंसेवकों को हथियार चलाने की शिक्षा देने का भार उन पर तथा कुछ अन्य साथियों पर सौंप दें। इसी आधार पर आज़ाद पार्टी का पुनर्गठन करना चाहते थे, लेकिन अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए वे जीवित नहीं रह सके।"

लाहौर की जेल में अंग्रेजों के व्यवहार के विरुद्ध भगतसिंह, शिव वर्मा तथा अन्य क्रांतिकारियों ने ६३ दिन तक भूख हड़ताल की थी। इसी हड़ताल के दौरान यतीन्द्रनाथ दास शहीद हुए थे। हड़ताल में भाग लेने वाले एक क्रांतिकारी गदर [illegible]

कारी इस तरह कन्धे से कन्धा मिलाकर अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध लड़े।

फरवरी १९२६ में गदर पार्टी के संतोखसिंह ने पंजाबी भाषा में 'किर्ती' मासिक पत्रिका निकाली। सोहनसिंह जोश के अनुसार गदर पार्टी के नेता इस समय मार्क्सवाद से अपना रास्ता पहचानने की कोशिश कर रहे थे और पंजाब के किसानों और मज़दूरों का संगठन करना चाहते थे। (भगतसिंह और अन्य पुराने क्रान्तिकारियों पर सोहनसिंह जोश ने **माई मीटिंग्स विद भगतसिंह ऐण्ड आन ग़दर अर्ली रिवोल्यूशनरीज़** पुस्तिका लिखी है; कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा दिल्ली से १९७६ में प्रकाशित; पृष्ठ ११)। जनवरी १९२७ में सोहनसिंह जोश ने 'किर्ती' की बागडोर सँभाली। 'किर्ती' के संचालक नौजवानों को संगठित करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने योजना बनाई थी कि अप्रैल १९२८ में वे जलियान वाला बाग में नौजवानों का सम्मेलन करेंगे। इस सम्मेलन से कुछ दिन पहले अमृतसर में भगतसिंह किर्ती दफ्तर पहुँचे और सोहनसिंह जोश से मिले। उन्होंने लाहौर में नौजवान भारत सभा बनाई थी। उन्हें अमृतसर के नौजवान सम्मेलन से दिलचस्पी हो, यह स्वाभाविक था। पंजाब सरकार ने नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं पर पाबंदी लगा दी थी कि वे कालेजों में न आयें, खुफिया पुलिस उनका पीछा करती थी। इसलिए सभा का काम करना नौजवानों के लिए मुश्किल हो गया था। भगतसिंह की नौजवान भारत सभा के बारे में अंग्रेज सरकार की राय थी कि "साम्यवाद और हिंसा के उग्र राजनीतिक सिद्धान्तों के गुप्त प्रचार के लिए" उसका घोषित कार्यक्रम बहाना मात्र था। (उप. पृष्ठ. १३; जोश ने भारतीय अभिलेखागार में सुरक्षित तत्कालीन गृह विभाग की फाइल से यह राय उद्धृत की है।)

अमृतसर के नौजवान-सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए सोहनसिंह जोश और उनके साथियों ने केदारनाथ सहगल को चुना था क्योंकि "वह गदर पार्टी के नेताओं से

ार प्रथम लाहौर षडयंत्र केस (१९१५) में गदर देशभक्तों के साथ वह अभियुक्त थे। 'किर्ती' गदर आन्दोलन को नये ढंग से आगे बढ़ा रहा था।'' (उ पृ. १३)। केदारनाथ सहगल लाहौर की नौजवान सभा के सदस्य भी रह चुके थे भगतसिंह और उनके साथियों ने अमृतसर के नौजवान सम्मेलन में भाग लिया इस समय पुरानी गदर पार्टी के नेता, नये क्रान्तिकारी दल के भगतसिंह जैसे सदस्य और सोहनसिंह जोश जैसे मार्क्सवादी नेता सामान्य रूप से नौजवानों के संगठन की ज़रूरत महसूस कर रहे थे। इसीलिए तीन क्रान्तिकारी धाराएं मिलकर एक बड़ी धारा बनती हुई आगे बढ़ रही थी। नौजवानों का लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता होगा, भावी भारत किसानों और मजदूरों का समाजवादी राज्य होगा, इस बारे में जलियान वाला बाग में एकत्र होने वाले नौजवानों में आम सहमति थी। कुछ नौजवानों का विचार था कि सिख और मुसलमान साम्प्रदायिक युवासंगठनों के सदस्यों को भी अपने दल में शामिल किया जाय किन्तु भगतसिंह के साथियों तथा 'किर्ती' पत्रिका के लोगों ने सफलतापूर्वक इनका विरोध किया।

अमृतसर के सम्मेलन ने १९२८ में नौजवान भारत सभा को नये सिरे से संगठित करने का फैसला किया। यह फैसला भगतसिंह की नौजवान भारत सभा के काम को आगे बढ़ाने वाला था। सम्मेलन के संगठन संबंधी प्रस्ताव में कहा गया कि पंजाब के ज़िलों और गांवों में सभा की शाखाएं संगठित की जायेंगी। सभा की केन्द्रीय समिति चुनी गई; उसमें हिन्दू, मुसलमान, सिख, विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के लोग थे। केन्द्रीय समिति ने सभा का उद्देश्य पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति, मज़दूरों और किसानों के राज्य की स्थापना स्वीकार किया। केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष सोहनसिंह जोश थे।

अप्रैल १९२८ में 'किर्ती' का पहला उर्दू अंक प्रकाशित हुआ। 'किर्ती' के संचालकों ने भगतसिंह को 'किर्ती' के उर्दू संपादन विभाग में काम करने के लिए आमन्त्रित किया और उन्होंने उसमें लगभग तीन महीने तक काम किया। अपना घर छोड़ने के बाद भगतसिंह ''पहले दिल्ली गये, उसके बाद कानपुर पहुँचे। वहां वह महान् देशभक्त गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पर्क में आये और कुछ समय तक उनके दैनिक 'प्रताप' में काम करते रहे।'' (उप. पृ. १८)।

काकोरी के शहीदों के बारे में नौजवान भारत सभा ने प्रस्ताव पास करके अपनी ाखाओं से कहा कि वे १९ दिसम्बर १९२८ को काकोरी शहीद दिवस मनायें, भाएँ करें और लोगों को बतायें कि वे क्यों शहीद हुए थे। उस दिन जलियान वाला ग में भी सभा हुई। मुख्य वक्ता थे सोहनसिंह जोश। जोश ने अपने भाषण में नता के संगठन और लगानबंदी जैसे आन्दोलन से व्यवस्था को बदलने पर ज़ोर या। ''जब तक जनता हमारे साथ नहीं आती और उसमें वर्ग-चेतना नहीं पैदा ी, तब तक हमें स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो सकती।'' (उप. पृ. २२)।

२० मार्च १९२९ को सरकार ने सोहनसिंह जोश को पकड़ लिया और अन्य निस्ट अभियुक्तों के साथ उन पर मेरठ षड्यंत्र का मुकदमा चलाया। ८ अप्रैल ९ को भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने दिल्ली की विधानसभा में बम फेंका। गे क्या करने जा रहे थे, इसकी पूर्वसूचना उन्होंने पंजाबी 'किर्ती' (जुलाई

१९२८) में प्रकाशित अपने एक लेख में मानो दे दी थी। भगतसिंह ने फ्रान्सीसी क्रान्तिकारी वइयां (Vaillant) के बारे में लिखा था कि उन्होंने फ्रान्स की विधान सभा में बम फेंका था और कहा था—बहरे सुनें, इसके लिए जबर्दस्त धमाका जरूरी है। भगतसिंह ने अपनी बात एक धमाके के साथ देश के बहरे राजनीतिज्ञों को सुना दी।

२३ मार्च १९३१ को भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी दी गई। अगले दिन मेरठ षड्यन्त्र के अभियुक्तों की ओर से सोहनसिंह जोश ने अदालत में खड़े होकर, जज की धमकियों की परवाह न करते हुए, अंग्रेजों के कुकृत्य की निन्दा की। अभियुक्तों ने आवेदन प्रस्तुत किया और उसमें कहा: कामरेड भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव की मृत्यु की काली छाया इस अदालत पर है जहां हम आज उपस्थित हैं; उन्हें फांसी दी गई है, यह नीच कार्य विशुद्ध हत्या है, साम्राज्यवादी न्याय का दारुण उदाहरण है, गोराशाही आतंक का कायर कारनामा है। राष्ट्रीय क्रान्ति के लिए वे शहीद हुए, हम उनका सम्मान करते हैं। (उप. पृ. २८)।

गदर पार्टी और क्रान्तिकारी दल की परंपरा किसानों और मजदूरों के आन्दोलन में नये स्तर पर विकसित हुई।

## ४. गदर का इतिहास और सावरकर

१८५७ ई. की लड़ाई से जो क्रांतिकारी सबसे पहले प्रभावित हुए थे, वे गदर पार्टी के रूप में संगठित हुए थे। इसके प्रमुख नेता लाला हरदयाल थे। जैसा कि पार्टी के नाम से प्रकट है, गदर शब्द का व्यवहार क्रांति के अर्थ में होने लगा था। १८५७ की लड़ाई केवल स्वाधीनता संग्राम नहीं है, वह क्रांति भी है, यह धारणा सावरकर की प्रसिद्ध पुस्तक में व्यक्त हुई है। भारतीय क्रांतिकारियों ने सन् ५७ की लड़ाई को किस रूप में ग्रहण किया, यह समझने के लिए सावरकर की पुस्तक पर ध्यान देना आवश्यक है। इस पुस्तक ने लाला हरदयाल समेत गदर पार्टी के नेताओं को प्रभावित किया, आगे चलकर भगतसिंह की पीढ़ी के क्रांतिकारियों ने इस पुस्तक से प्रेरणा पायी। भारत में जो भी अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार लेकर लड़ना चाहते थे, वे स्वभावतः गदर को अपना आदर्श मानकर चलते थे। इनके अलावा गदर से वे क्रांतिकारी भी प्रभावित हुए जो अहिंसावादी न थे किन्तु तुरत हथियार उठाकर लड़ने की नीति सही न मानते थे, इसके बदले वे पहले किसानों और मजदूरों को संगठित करना चाहते थे।

सावरकर की पुस्तक मूलतः मराठी में लिखी गयी थी किन्तु उसका वह मूल मराठी रूप नष्ट हो गया है। १९१० में उसका अंग्रेजी रूपान्तर प्रकाशित हुआ। यह रूपान्तर भी स्वयं सावरकर का किया हुआ न था, उनके सहयोगियों ने उसे तैयार किया था। अनुवाद की भाषा ऐसी है कि उससे भावुकता की व्यंजना अधिक होती है, विवेकपूर्ण विवेचन की कम। यह कहना कठिन है कि इसका कारण मूल पाठ की शैली कहाँ तक है। वैसे तो नौजवान क्रान्तिकारी उत्साही होते ही हैं और उनके विवेक पर उत्साह छा जाये तो कोई आश्चर्य नहीं। पर इस पुस्तक

को पढ़ते हुए यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि सावरकर ने गदर सम्बन्धी साहित्य यथेष्ट रूप से पढ़ा है, जहाँ-तहाँ से दो-चार बातें देखकर उन्होंने पुस्तक नहीं लिख डाली। इसके सिवा गदर के विवेचन मे जो अनेक समस्याएं इतिहासकारों के सामने आती है, उनसे वे परिचित है। अँग्रेजो ने कारतूसों की कहानी का बड़ा प्रचार किया था। सावरकर ने यह दिखाया कि यदि कारतूसो का व्यवहार गदर का मुख्य कारण होता, तो जब अँग्रेजो ने घोषणा कर दी कि कारतूसो का व्यवहार अब न होगा, तब लड़ाई बन्द हो जानी चाहिए थी। इस घोषणा के बाद भी लडाई होती रही और बहुत दिनों तक होती रही। सावरकर ने इस बात पर भी ध्यान दिया था कि १८५७ में पलासी की लड़ाई के बाद के सौ साल पूरे होते थे। इतिहासकारो ने इस बात पर बहुत कम ध्यान दिया है कि सिपाहियों के मन में देश की गुलामी की शुरुआत १७५७ से हुई थी, उसे खत्म करने के लिए उन्होने १८५७ का साल चुना था। इस लडाई से पहले फौज मे अनेक बार विद्रोह हुए थे जिनके द्वारा सिपाही एक बड़े युद्ध के लिए अपने को तैयार कर रहे थे।

सावरकर ने १८५७ की लडाई को स्वाधीनता की लडाई कहा है। उनके लिए यह स्वधर्म और स्वराज्य की लडाई है। यूरुप के व्यापारी अफ्रीका और अमरीका गए, वहाँ उन्होने आदिवासियो को गुलाम बनाया और ईसाई भी बनाया। भारत में भी उनका एक लक्ष्य ईसाई धर्म फैलाना था। इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। यदि किसी देश के लोग बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन के विरुद्ध लड़ें, तो इसका यह अर्थ नही कि वे स्वाधीनता के लिए नही लड रहे है। १८५७ की लड़ाई पर जो भी लिखेगा, वह यह बात देखे बिना नही रह सकता कि अँग्रेजों के विरुद्ध हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर लड़े थे। १९१० मे भारतीय क्रांतिकारी यह बात अच्छी तरह समझ गये थे कि अँग्रेजों की दासता से मुक्त होने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानो को मिलकर उनके विरुद्ध लड़ना चाहिए। सावरकर ने अपनी पुस्तक मे इस बात पर काफी जोर दिया है। आगे चलकर उनकी विचारधारा ने जो रूप लिया, उससे लोगों को भ्रम हो सकता है कि उनका वही दृष्टिकोण इस पुस्तक मे होगा। नानासाहब के संदर्भ मे उन्होंने लिखा है कि उनके लिए हिन्दुस्तान का अर्थ इस्लाम और हिन्दू धर्म मानने वालो की मिलीजुली जाति था। उनका तर्क यह है कि जब तक मुसलमान भारत मे विदेशी शासक बनकर रहे, तब तक उन्हे भाई मानना अपनी निर्बलता दिखाना था। विदेशी शासकों के विरुद्ध महाराष्ट्र समेत भारत के अनेक भागों में संघर्ष हुआ। अब समय आ गया था कि पुराना शत्रुभाव भुलाकर हिन्दू और मुसलमान मिलकर लड़ें। उन्होंने लिखा है, "वर्तमान काल मे उनका सम्बन्ध शासक और शासित का नही था, विदेशी और देशी का नही था; उनका सम्बन्ध भाइयो का था जिनमें केवल धर्म का भेद था। कारण यह है कि दोनों ही हिन्दुस्तान की धरती के पुत्र थे। उनके नाम अलग-अलग थे लेकिन वे सब एक ही माँ के बेटे थे। दोनों की एक ही माँ थी, इसलिए वे सहोदर भाई थे। नानासाहब, दिल्ली के बहादुर शाह, मौलवी अहमदशाह, खानबहादुर खां और १८५७ के अन्य नेताओं ने एक

हृद तक इस सम्बन्ध का अनुभव किया था। उनकी शत्रुता अब एकदम विवेकहीन और मूर्खतापूर्ण थी। उसे भुलाकर वे स्वदेशी के झण्डे के नीचे एकत्र हुए। संक्षेप मे नानासाहब और अज़ीमुल्ला की नीति की सामान्य विशेषता यह थी कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर अपने देश की स्वाधीनता के लिए एक साथ लड़ें और जब स्वाधीनता प्राप्त हो जाए, तब भारतीय शासकों और राजाओ की देखरेख मे भारत के संयुक्त राज्य की स्थापना हो।" (The Indian War of Independence, Bombay, १९४७, पृष्ठ ७५)

अंग्रेजी मे the united states of India शब्दों का प्रयोग किया गया है। सम्भव है, अनेक देशी राजाओ और रियासतो का संघ बनेगा, यह सोचकर संयुक्त राज्य की कल्पना की गयी हो। यह भी सम्भव है कि भारत मे अनेक भाषाएं बोलने वाले लोग रहते है, यह उनके प्रदेशों के संघ की कल्पना हो। यह भी सम्भव है कि सयुक्त राज्य अमरीका का राजनीतिक ढाँचा देखकर भारत के लिए संघीय ढाँचे की कल्पना की गयी हो। भारत किसी न किसी प्रकार का संघ है, १८५७ मे विजय मिलने पर वह अनेक राज्यो का संघ बनता, यह धारणा सावरकर की पुस्तक मे विद्यमान है। यह धारणा एक धर्म, एक भाषा वाले एक राष्ट्र की भावना भिन्न है।

सेना के बाहर जिन दो आदमियों ने संगठन-कार्य सबसे अधिक किया था, वे नानासाहब और अज़ीमुल्ला थे। इन दोनों का सहयोग एक तरह से हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक था। १९२० मे महात्मा गांधी और मौलाना शौकत अली, मुहम्मद अली के बीच जिस तरह की एकता स्थापित हुई थी, उसकी तुलना मे नानासाहब और अज़ीमुल्ला की एकता बहुत मजबूत थी। उसकी तुलना काकोरी के शहीदों रामप्रसाद बिस्मिल और अशफ़ाक उल्लाह की दोस्ती से की जा सकती है। अज़ीमुल्ला के लिए सावरकर ने लिखा है, "जिन बुद्धिमान और प्रतिभाशाली लोगो ने सबसे पहले स्वाधीनता संग्राम की बात सोची थी, उनमे अज़ीमुल्ला को ऊँचा स्थान देना होगा।" (पृष्ठ ३२)।

१८५७ मे भारतीय सामन्त अपने राज्य बचाने के लिये या उन्हें वापस पाने के लिए लड़ रहे थे, इसका बहुत प्रचार किया गया। कुल मिलाकर सामन्तवर्ग लड़ाई से अलग रहा या अँग्रेजों का साथ देता रहा, इस तथ्य के बारे मे लोगो ने कम लिखा है। सावरकर ने लिखा है कि "अधिकांश रियासतें जानबूझकर दोरंगी नीति पर चली।" (पृष्ठ २६६)। दोरंगी नीति का कारण यह था कि अँग्रेजों का साथ दें तो सिपाहियों की लड़ाई मे रुकावट होगी और क्रांतिकारियों की मदद करें तो अँग्रेजो को उनका राज्य छीनने का बहाना मिल जाएगा। सावरकर ने इन्हें मूर्ख कहा है जिन्हें यह न दिखाई देता था कि यदि वे सब क्रांतिकारियो का साथ देंगे तो अँग्रेजो के जीतने की सम्भावना ही न रहेगी। जो खुले गद्दार थे, उन्होने तो अँग्रेजों की मदद की ही, किन्तु जो ढुलमुल या तटस्थ बने रहे, "उन्होने भी अप्रत्यक्ष रूप से देशद्रोहियों की भूमिका निबाही" और "राजाओ के इस स्वार्थी व्यवहार से ही अंत मे क्रांति का नाश हुआ।" (पृ. २६७)। क्रांति की असफलता के लिए यहाँ का सामन्त वर्ग ज़िम्मेदार है, यह बात बहुत कम इतिहासकारो ने

लिखी है। वास्तव में सामन्तों की कृपा से ही अँग्रेजों को भारत में अपना
विस्तार करने का अवसर मिला। १८५७ मे जो राजा और जमीदार उनसे
उनकी सख्या बहुत थोड़ी थी, जो तटस्थ रहे या उनके सहायक थे, उनकी स
बहुत बडी थी। सेना के लोग और सेना के बाहर के लोग बहादुरशाह के झण्डे
नीचे लड़े। सावरकर ने लिखा है कि बहादुरशाह को गद्दी पर बिठाने का मतल
था कि हिन्दुओं और मुसलमानो की पुरानी लड़ाई खत्म हो गयी है और यहाँ
लोग स्वयं अपने राजा का चुनाव कर सकते है। (पृ. २८५)।

१८५७ मे जो सामन्त अँग्रेजो से लड़े, वे सब एक ही स्तर के योद्धा नही थे। जो भूमिका कुँवरसिह की थी, वह बहादुरशाह की नही थी। कुँवरसिह के सम्बन्ध मे सावरकर ने जो कुछ लिखा है, वह एक व्यक्ति का मूल्याकन मात्र नही है; उसमे उन्होंने यह दिखाया है कि प्रबल शत्रु के विरुद्ध छापेमार लडाई किस तरह चलानी चाहिए। भारतीय सेना की ओर से लड़ने वालो मे तात्या टोपे का रणकौशल प्रसिद्ध है। वह अँग्रेजो द्वारा प्रशिक्षित सेनापति न थे; कुँवरसिह को भी अँग्रेजो की देख-रेख मे सैनिक शिक्षण न मिला था। इन दोनो के रणकौशल का तुलनात्मक विवेचन करते हुए सावरकर ने जो कुछ लिखा है, वह उनकी पुस्तक का श्रेष्ठ अंश है। उन्होंने लिखा है, "१८५७ मे क्रातिकारियो के जितने नेता थे, उनमे कोई ऐसा नही था जो सैनिक योग्यता मे कुँवरसिह से बढ़कर हो। स्वाधीनता-सग्राम मे छापेमार लड़ाई की उपयोगिता क्या है, इस बात को तुरन्त उन्होने ही भली प्रकार समझा था, और वही अकेले ऐसे नेता थे जो शिवाजी जैसे सिद्ध छापेमार योद्धा की कुशल रणनीति का अनुसरण कर सके थे। १८५७ मे तात्या टोपे और कुँवरसिह, इन दो महान् सेनापतियों का रंगमंच पर आविर्भाव हुआ। छापेमार नेताओ के रूप मे इनकी सैनिक उपलब्धियों की तुलना करें तो एक विशेष बात हमारा ध्यान आकर्पित करेगी। छापेमार लड़ाई का जो नकारात्मक पक्ष है, उसमे तात्या टोपे को अवश्य ही बहुत ऊँचा स्थान दिया जाएगा, कुँवरसिह को उतना ही ऊँचा स्थान उसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनो पक्षों मे दिया जाएगा। तात्या टोपे शत्रु को यह अवसर न देते थे कि वह उनकी सेना को ध्वस्त कर दे या नया सैन्य सगठन करने की उनकी क्षमता नष्ट कर दे। किन्तु कुँवरसिह को यह सब करने मे तो सफलता मिली ही, उन्हे शत्रु की सेना को ध्वस्त करने और उसे गहरी पराजय का सामना करने को विवश करने मे भी सफलता मिली। छापेमार लड़ाई मे निर्णायक सफलता पाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मैदान से बार-बार भागकर या प्रबल शत्रु से युद्ध करने से बचकर जो मनोबल का ह्रास अनिवार्यतः होता है, उससे बचा जाए। नेता जानबूझकर जहाँ ...ता है और आवश्यकतानुसार भागता है, वहाँ यह हालत न पैदा होने देनी ...ए कि उसके अनुयायियों का मनोबल टूट जाए या वे लड़ाई से कतराने लगें। ... होना चाहिए कि लगातार लड़ाइयो से बचने का नतीजा यह हो कि सैनिक ... से ही डरने लगें। लड़ाई को कौशलपूर्वक बचा जाना एक बात है और ... के दौरान भगदड़ मे शामिल होना बिलकुल दूसरी बात है। इसलिए छापे-... ड़ाई मे इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि कायरतापूर्वक मैदान से

भी न भागे। जब भी लड़ने का फैसला किया जाए, तब इतनी मजबूती से और हिम्मत से लड़ना चाहिए कि दुश्मन का दिल दहल जाये और अपने अनुयायियों में जबर्दस्त आत्मविश्वास पैदा हो। कौशल की मुख्य बात यह है कि शत्रु को अपने ऊपर तब लड़ाई लादने न दे जब मुकाबला बराबरी का न हो। किन्तु एक बार छिड़ जाए तो मैदान में ऐसे साहस का परिचय देना चाहिए जैसा कि बाजीराव ने पवनखिड या कुंवरसिंह ने तनू नदी पर दिया था। संक्षेप में बात यह है कि यदि शत्रुदल प्रबल हो तो छापेमार नेता को चाहिए कि लड़ाई में न उलझे। दोनों की ताकत बराबर हो तो उसे लड़ जाना चाहिए। पर चाहे इच्छा से लड़े, चाहे मजबूरी में लड़ना पड़े, डर के मारे या अनुशासन की कमी के कारण लड़ाई के दौरान भागना न चाहिए। भले ही पराजय निश्चित हो, इतनी दिलेरी से लड़ना चाहिए कि विजय न मिलने पर भी वीरता की ख्याति बनी रहे। शत्रु पर इस तरह हमला होगा तो उसका दिल दहल जाएगा, अनुयायियों के हौसले पस्त न होंगे, अनुशासन में शिथिलता न आएगी, शहीदों की कथा सुनकर लोगों को प्रेरणा मिलेगी। वीरता से वीरता उत्पन्न होती है और इस प्रकार विजय निश्चित हो जाएगी। छापेमार सेनापति और उसके दल को चाहिए कि वह कभी यह धारणा न बनने दे कि उनका शत्रु वीरता में बढ़चढ़कर है, इसलिए जीत गया। छापेमार लड़ाई की यह कुंजी है।

किन्तु तात्याटोपे ने युद्ध के इस सकारात्मक पक्ष का अनुसरण नहीं किया। जब वह नर्मदा पार कर रहे थे, उस समय उनके अभियान की तुलना गंगा पार करते समय कुंवरसिंह के अभियान से की जाए तो यह अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। तात्या अनेक बार हारे। इसका कारण सिपाहियों में भगदड़ और उनकी कायरता ही थी। उन्हें ऐसे सिपाहियों का नेतृत्व करना था और इसका कारण उनकी अपनी अक्षमता नहीं थी। पीछे हटते हुए कुंवरसिंह ने ऐसी दिलेरी का परिचय दिया, जहाँ भी मौका मिला, पीछा करते हुए शत्रु पर ऐसे जोर से टूटे कि उनकी सेना में आत्मविश्वास बना रहा, पीछा करते हुए शत्रु के सामने पीछे हटने पर भी उनका हौसला बुलन्द रहा। यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि तात्या टोपे को छापेमार नीति उस समय अपनानी पड़ी जब उनकी सेना हार पर हार खाकर एकदम पस्त हो चुकी थी और उनके पुराने योद्धा या तो पहले ही लड़ाई में मारे जा चुके थे या लड़ने के योग्य न रह गये थे। इसलिए यह स्वाभाविक था कि अपने रणकौशल और छापेमार युद्धकला की जानकारी के बावजूद उपयुक्त सेना न होने से वह अपनी नीति को अमल में न ला सके। कारण जो भी हो, एक चीज स्पष्ट है कि अपने सेनापति के भव्य जीवन में अनेक बार तात्या टोपे को इस कारण मैदान छोड़ना पड़ा कि उनके सैनिकों में पस्ती छा गयी थी। किन्तु कुंवरसिंह महाराष्ट्र के महान् शिवाजी के समान अपनी सेना को कभी पस्त न होने देते थे। उन्होंने उनके नेता स्वयं में तथा सैनिकों में पूर्ण विश्वास को जन्म दिया। उन्होंने ऐसा व्यक्तिगत वीरता, अनुशासन और साहस द्वारा किया। उन्होंने लड़ने में और लड़ाई से बचने में छापेमार लड़ाई के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों में अनुपम कौशल का परिचय दिया। और यही कारण है कि शत्रु को

चटाकर, अपनी गौरवपूर्ण विजय के बीच, स्वतन्त्रता की पताका के नीचे अ
स्वाधीन सिंहासन पर बैठने के बाद, इन वृद्ध, वीर, महान् भारतवासी को गौर
पूर्ण मृत्यु प्राप्त हुई।" (पृष्ठ ४३६-४३९)।

छापेमार लडाई पर सावरकर ने इतने विस्तार से लिखा है, इससे यह अप्रत्यक्ष संकेत मिलता है कि वह अंग्रेजो के विरुद्ध अपने समय में भी इस तरह की लड़ाई की उपयोगिता स्वीकार करते थे। किन्तु अप्रत्यक्ष संकेत से अधिक इस सम्बन्ध में उनका चिन्तन और आगे न बढा था। जहाँ भी छापेमार लडाई सफलतापूर्वक चलायी गयी है, वहाँ उसका मुख्य सामाजिक आधार किसानो का समर्थन रहा है। यह बात शिवाजी की छापेमार लडाई पर भी लागू होती है। अनेक युद्धो मे राजपूत राजा के हाथी या घोडे से गिरते ही सेना के भाग खड़े होने के वर्णन मिलते है। किन्तु शिवाजी और उनके सहयोगियो द्वारा जो युद्ध सचालित हुए, उनमे नेता के साथ और नेता के बिना भी सैनिक लडते रहे। अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध १८५७-५८ मे जहाँ भी सफलतापूर्वक छापेमारों ने लड़ाई की, वहाँ की किसान जनता की राजनीतिक चेतना दूसरे प्रदेशो को देखते ज्यादा निखरी हुई थी। तात्या टोपे और कुँवरसिंह के कार्यक्षेत्र दो भिन्न प्रदेशो मे थे और दोनो की राजनीतिक चेतना मे काफी अन्तर था। प्रश्न केवल सैनिक नीति निर्धारित करने का नही था, उससे पहले राजनीति निर्धारित करने का था।

अनेक अंग्रेज इतिहासकारो ने अवध मे होनेवाली लडाई को ऐसा स्वाधीनता सग्राम बताया है जिसमे जनता के सभी स्तर भाग ले रहे थे और उसका समर्थन कर रहे थे। इस बात की ओर सावरकर ने भी ध्यान दिया है। अवध मे स्वाधीनता सग्राम के ऊँचे स्तर का कारण वहाँ की जनता की राजनीतिक चेतना थी। १८५७-५८ की घटनाओ का विवेचन करते समय विभिन्न प्रदेशो की राजनीतिक चेतना मे जो अन्तर था, उसे याद रखना चाहिए। अवध मे संघर्ष की समाप्ति के प्रसग मे सावरकर ने लिखा है, "इस प्रकार १८५७ की राष्ट्रीय क्रांति अवध मे समाप्त हुई। ससार मे कही भी कोई देश अपनी स्वाधीनता के लिए ऐसे जमकर वीरतापूर्वक नही लड़ा।" (पृष्ठ ५२१)। अपने कथन के समर्थन मे वह इतिहासकार मैलीसन से निम्नलिखित उद्धरण देते है: "अवध के लोग उस विद्रोह मे शामिल हुए जिसे उनके सिपाही भाइयो ने शुरू किया था। ये अधिकाश सिपाही अवध के थे। अवध के लोग स्वाधीनता के लिए लड़े। वे किस जीवट से लड़ते रहे, इसका वर्णन इन पृष्ठो मे हो चुका है। भारत के किसी भी और दूसरे हिस्से मे यों दृढ़तापूर्वक चलाए हुए और इतने दीर्घकाल तक चलाये हुए प्रतिरोध का ऐसा उदाहरण नही मिलता जैसा कि अवध मे मिलता है। समूचे संघर्ष के दौरान वहाँ की जनता के हृदय को इस भावना ने फौलाद बना दिया था कि १८५६ मे उनके साथ अन्याय हुआ है। इससे युद्ध के लिए उनका मनोबल मजबूत हुआ। यदि कभी-कभी वे भी बेतहाशा भागे, तो यह केवल इस आशा से उन्होने किया कि फिर किसी दिन लड़ेंगे और तब शायद सफलता मिलेगी। और आखिर मे जब अवध मे लार्ड क्लाइड के अभियान ने लड़ाकू वर्ग के बचेखुचे लोगों को नेपाल के जंगलो मे भागकर शरण लेने पर मजबूर किया, तो अक्सर इन बचेखुचे लोगों ने आत्मसमर्पण

करने के बदले भूख से मर जाना ज्यादा अच्छा समझा। यहाँ की खेतिहर जनता ने, ताल्लुकेदारों, भूस्वामियों, व्यापारियों ने तब पराजय स्वीकार की जब लम्बे संघर्ष के बाद उन्होंने समझ लिया कि अब आगे लड़ाई सम्भव नहीं है।"

सावरकर की पुस्तक मे अनेक समस्याएं ऐसी हैं जिनका विस्तृत विवेचन शायद उस समय के क्रांतिकारियो के लिए सम्भव नहीं था। इनमें एक समस्या भारत और इंग्लैण्ड के सामाजिक विकास की है। इंग्लैण्ड में मशीनों से उत्पादन होने लगा था। भारत इस मामले मे अभी पीछे था। क्या इस कारण भारत की पराजय अनिवार्य थी? दूसरी समस्या यह थी कि १८५७ में सेना के बाहर किसानो ने संघर्ष किया या नही और उनके इस संघर्ष की भूमिका राष्ट्रीय स्वाधीनता के संदर्भ में क्या थी। इन समस्याओं का विवेचन सावरकर की पुस्तक मे नही है।

## ५. गदर और जयप्रकाश नारायण तथा जवाहरलाल नेहरू

१८८५ में कांग्रेस का जन्म हुआ। स्वाधीनता आदोलन के हर दौर में १८५७ के संग्राम का महत्व लोगों ने अपनी राजनीतिक चेतना के अनुसार समझा। १८५७ और १८८५ में जो मौलिक अंतर था, वह १९३६ मे भारत के प्रगतिशील राजनीतिज्ञों को बहुत साफ दिखायी देता था। अपनी पुस्तक समाजवाद ही क्यों (Why Socialism ?) मे जयप्रकाश नारायण ने दोनों के अंतर के बारे मे लिखा है, "१८५७ में पूर्ण प्रभुसत्ता के लिए खुली हथियारबंद लड़ाई हुई; १८८५ में नम्रतापूर्वक फरियाद करने का काम हुआ। प्रभुसत्ता के लिए संघर्ष करने के बाद रायल कमीशन की नियुक्ति के लिए फरियाद की जाए, यह बहुत बड़ा परिवर्तन है। फिर भी इस फरियाद के लिए कहा गया है कि 'भारत की माँगो को स्पष्ट रूप देने का काम यहाँ से शुरू होता है।' यदि १८५७ और १८८५ दोनो ही राष्ट्रीय आदोलन की मिसालें है तो इससे जाहिर है कि राष्ट्रीयता का मतलब अलग-अलग समय पर अलग-अलग है। जो अन्तर है वह केवल उद्देश्यों मे नही है वरन् उसकी मानवीय विषयवस्तु मे भी है। १८५७ में सामन्त और उनके सैनिक 'राष्ट्रवादी' थे; १८८५ मे मध्यवर्ग के बहुतर सम्य लोग 'राष्ट्रवादी' थे और इनमें अवकाशप्राप्त सरकारी नौकर भी थे।" (पृष्ठ १३०)। तमाम प्रचार के बावजूद जो भी स्वाधीनता आंदोलन मे सक्रिय भाग लेता था, वह १८५७ के प्रति आकर्षित हुए बिना न रहता था। जयप्रकाश नारायण के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि १८८५ के फरियाद करनेवालों की तुलना मे वह १८५७ के वीरों को आदर से याद करते थे। जहाँ तक उस स्वाधीनता संग्राम के नेतृत्व का प्रश्न है, वह भी समझते थे कि नेतृत्व सामन्तो के हाथ मे था।

जवाहरलाल नेहरू की पुस्तकों से ज्ञात होता है कि अपने दीर्घ राजनीतिक जीवन में वह अक्सर १८५७ के बारे मे सोचते रहे थे। 'आत्मकथा' (आटोबायग्राफी) में उन्होंने १८५७ के 'महान् विद्रोह' का उल्लेख किया है। (पृष्ठ २)। वह स्वयं नए स्वाधीनता-आदोलन के प्रमुख नेता थे और उनके मन मे १८५७ का साल एक मार्गस्तम्भ के समान था जिससे वह बाद के आदोलनों की

तुलना करते थे। प्रथम महायुद्ध से पहले भारत में जो विद्रोह-भावना फैली, उसके बारे में उन्होंने लिखा है कि "१८५७ के विद्रोह के बाद पहली बार भारत लड़ने पर आमादा दिखाई देता था और विदेशी शासन को झुककर स्वीकार करने को तैयार न था।" (पृष्ठ २१)। १८५७ में जनता लड़ी, उसी पैमाने पर वह प्रथम महायुद्ध के पहले न लड़ रही थी किन्तु उसमें तीव्र असंतोष फैला हुआ था। अंग्रेजों को जिस बात का डर सबसे ज्यादा था, वह यह थी कि भारत में १८५७ की पुनरावृत्ति न हो। ध्यान देने की बात है कि जिस व्यापक असंतोष की बात नेहरूजी ने लिखी है, वह गांधीजी द्वारा संचालित आंदोलनों से एक दशक पहले का है। फिर प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ। अंग्रेजों ने जनसंघर्षों का दमन करने के लिए नए कानून बनाए। इस समय के लिए नेहरूजी ने लिखा है कि रौलट बिलों के तीन साल शांति के वर्ष नहीं थे वरन् "१८५७ के विद्रोह के बाद भारत में ये सबसे ज्यादा असंतोष के साल थे।" (पृष्ठ ४१)। इन उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि भारत में क्रांतिकारी आंदोलन चलाने के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। क्रांतिकारी आंदोलन तभी व्यापक आंदोलन बनता है, जब उसमें जनता का काफी बड़ा हिस्सा शामिल होता है। सन् '२० और '३० में जो आंदोलन चलाए गए, उनमें इस बात का बराबर ध्यान रखा गया कि सामन्तविरोधी किसान आंदोलन पर अंकुश लगा रहे और वह क्रांतिकारी रूप न लेने पाए।

१९४२ के आंदोलन के दौरान जब कांग्रेस के अनेक नेताओं को जेल में डाल दिया गया, तब जवाहरलाल नेहरू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इण्डिया' लिखी। इसमें कई जगह १८५७ के संघर्ष का उल्लेख है। मुख्य बात यह है कि कुल मिलाकर नेहरूजी का दृष्टिकोण सरकारी इतिहासकार सुरेन्द्रनाथ सेन के दृष्टिकोण से भिन्न है। पर नेहरूजी की पुस्तक तब लिखी गयी थी जब भारत में अंग्रेजी राज कायम था और सुरेन्द्रनाथ सेन की पुस्तक तब लिखी गयी थी जब उसे आजाद हुए दस साल बीत चुके थे। सेन के लिए १८५७ की लड़ाई अपने वर्ग-स्वार्थों के लिए सामन्तों की लड़ाई थी। ये सामन्त यहाँ पिछड़ी हुई सामाजिक व्यवस्था कायम रखना चाहते थे। इनके विपरीत अंग्रेज शासक प्रगतिशील सभ्यता के प्रतिनिधि थे। यदि १८५७-५८ में भारतीय पक्ष जीत जाता तो सेन के अनुसार इतिहास की गति उलट जाती और भारत पिछड़ा हुआ देश बना रहता। स्वभावतः ऐसी लड़ाई को स्वाधीनता-संग्राम की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसके विपरीत नेहरूजी ने लिखा कि उत्तर भारत में अंग्रेज अभी पैर जमा ही रहे थे कि महान् 'सिपाही विद्रोह' (दि ग्रेट म्युटिनी) फूट पड़ा और 'स्वाधीनता-संग्राम' (ए वार आफ़ इण्डिपेन्डेन्स) में विकसित हुआ और उसने अंग्रेजी राज को लगभग समाप्त कर दिया। (पृष्ठ १४७)। यहाँ वह लड़ाई की शुरुआत सिपाहियों के विद्रोह से मानते हैं, किन्तु विद्रोह सेना तक सीमित नहीं रहता, वह स्वाधीनता-संग्राम के रूप में विकसित होता है। आगे उन्होंने '१८५७ के महान् विद्रोह के प्रसंग में फिर लिखा है कि बंगाल में जो शासन के अंग्रेजी शासन में किसान [illegible] से तबाह हुए, वहाँ एक नया बुद्धिजीवी वर्ग पैदा हुआ जो पश्चिम की ओर इस आशा से देखता था कि अंग्रेजों के उदारतावाद के सहारे स्वशासन [illegible] कर

सकेंगे। मद्रास, बम्बई और पश्चिमी भारत में यही स्थिति थी। इससे उत्तर भारत की भिन्नता दिखाते हुए उन्होंने लिखा है, "किन्तु ऊपर वाले प्रदेशों में ऐसे आत्मसमर्पण की भावना या मिलजुलकर रहने की भावना नहीं थी। विद्रोह की भावना बढ़ रही थी, खास तौर से सामन्तों और उनके अनुयायियों में बढ़ रही थी। आम जनता में भी असंतोष और अंग्रेजविरोधी तीव्र भावना बड़े पैमाने पर फैली हुयी थी।" (पृष्ठ ३४१)। विभिन्न प्रदेशों में राजनीतिक चेतना को लेकर जो भेद था, उस पर नेहरूजी ने ठीक ध्यान दिया है। ऊपर वाले प्रदेश (अपर प्रौविन्सेज) बंगाल से भिन्न हिन्दी प्रदेश हैं। सिपाही विद्रोह में जन संघर्षों का सम्बन्ध जोड़ते हुए उन्होंने आगे फिर लिखा, "यह फौजी बगावत से और बड़ी चीज थी। वह तेजी से फैली और उसने जनविद्रोह तथा स्वाधीनता-संग्राम का रूप ले लिया (ए पौपूलर रिवेलियन ऐण्ड वार आफ़ इन्डिपेन्डेन्स)। आम जनता के जनविद्रोह के रूप में वह दिल्ली, संयुक्त प्रान्त (जैसा कि अब वे कहलाते हैं), बिहार और मध्य भारत के कुछ भागों तक सीमित रहा।" (पृष्ठ ३४२)। नेहरूजी ने १८५७ की लड़ाई को स्वाधीनता-संग्राम के अलावा जनविद्रोह भी कहा है। जिस आंदोलन में आम जनता सक्रिय भाग ले, उसी आंदोलन को जन-विद्रोह कहा जा सकेगा। इस जनविद्रोह का क्षेत्र उन्होंने स्पष्ट कर दिया है। दिल्ली, बिहार और मध्यप्रदेश के विशाल त्रिकोण में यह संघर्ष हुआ था। उस लड़ाई को जन-विद्रोह मानते हुए भी उन्होंने उसे सामन्ती विस्फोट कहा है। उसका नेतृत्व सामन्त कर रहे थे और उन्हें अंग्रेज-विरोधी भावना में मदद मिल रही थी। पुरानी शासन-व्यवस्था में जो कमजोरियां थीं, वे विदेशी शासकों को निकालने के प्रयत्न में सामने आ गयी। भविष्य में सामन्तों के लिए कोई स्थान न था। किन्तु नेहरूजी ने सामन्तों के पूरे वर्ग को देखते हुए यह भी लिखा है, "कुल मिलाकर भारत के राजा लड़ाई से अलग रहे या फिर अंग्रेजों की मदद करते रहे। उन्हें भय था कि जो दौलत उन्होंने कमाई है या जो दौलत उनके पास बच गयी है, वह कहीं हाथ से निकल न जाए।" (पृष्ठ ३४२)। यह स्थापना सही है। और इसीलिये १८५७ के जनविद्रोह को सामन्तों का विस्फोट नहीं कहा जा सकता।

सामन्तों में राष्ट्रीयता की भावना की कमी थी, यह कहने के बाद वह स्वीकार करते है कि उनमें कुछ राष्ट्रवादी तत्व भी थे। वह यह भी मानते हैं कि सामन्तों के तटस्थ रहने या अंग्रेजों की मदद करने के कारण ही विद्रोह असफल हुआ। वास्तव में सामन्त और अंग्रेज मिलकर लड़ रहे थे। जो थोड़े से सामन्त लड़ाई में शामिल हुए थे, वे अपवाद रूप से शामिल हुए थे और ज्यादातर नेतृत्व उनके हाथ में न था। यह लड़ाई सामन्तों का विस्फोट नहीं थी, इसी कारण नेहरूजी का यह कहना सही है कि इस विद्रोह से समूचा भारत हिल गया था। (पृष्ठ ३४६)।

भारत और इंग्लैण्ड के सामाजिक विकास की मंजिलों पर ध्यान देने वाले भारतीय लेखकों में नेहरूजी भी है। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति के आने से पहले तक भारत किसी भी देश से पिछड़ा हुआ नहीं था, इस बात पर ज़ोर देते हुए उन्होंने लिखा है, "वास्तव में औद्योगिक और व्यापारिक और वित्तीय दृष्टि से

भारत उतना ही आगे बढ़ा हुआ देश था जितना कि औद्योगिक क्रांति से पहले का कोई अन्य देश।" (पृष्ठ ३००)। वह इस बात से परिचित हैं कि भारत में जो अंग्रेज आए, वे औद्योगिक पूँजीवाद के प्रतिनिधि न थे। उन्होंने लिखा है, "इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने के लिए जो सामन्ती भूस्वामी (फ्यूडल लैण्डलॉर्ड्स) और उनके भाई-बन्धु आए, वे दुनिया को भूस्वामियों की निगाह से देखते थे। उनके लिए भारत एक बहुत बड़ी जमींदारी था जिसकी मालिक ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी।" (पृष्ठ ३०८)। उन्होंने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि इंग्लैण्ड में जो औद्योगिक क्रांति हुई, उसमें बंगाल की लूट का योगदान महत्वपूर्ण था। (पृष्ठ ३१२)। अंग्रेज़ों ने क्रमशः यहाँ के उद्योग-धन्धों का नाश किया और अधिकाधिक जनता खेतिहर बनती गयी। अंग्रेज भारत को खेतिहर बनाकर उसकी सभ्यता का नाश कर रहे थे, यह बात कुछ अंग्रेज विद्वानों से छिपी न थी। १८४० में पार्लियामेण्ट की जाँच समिति के सामने माण्टगोमरी मार्टिन ने कहा था, "हिन्दुस्तान जितना कृषिप्रधान है, उतना ही उद्योगप्रधान भी है; जो भी उसे खेतिहर देश बना डालना चाहता है, वह उसे सभ्यता के पैमाने में नीचे उतार लाना चाहता है।" नेहरूजी ने माण्टगोमरी मार्टिन का यह कथन उद्धृत किया है। (पृष्ठ ३१९)। उन्होंने इस ब्रिटिश नीति को उजागर किया है कि भारत का औद्योगिक विकास यथासम्भव रोका जाए। अंग्रेज़ों की न्यायव्यवस्था के लिए उन्होंने लिखा है कि उसने जनता में आतंक फैला रखा था। (पृष्ठ ३४१)। भारत के ग्रामसमाज १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में विघटित हो रहे थे, इस तथ्य की चर्चा उन्होंने की है। मशीनों से चलने वाले उद्योग-धन्धों के मालिक होने के कारण अंग्रेज दुनिया की प्रमुख शक्ति बन गए, यह मानते हुए उन्होंने प्रतिक्रियावादी अंग्रेज शासकों और पश्चिम की प्रगतिशील संस्कृति में भेद किया है। (पृ. ३३१)। यह भेद बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अनेक लेखक शासकों की प्रतिक्रियावादी नीति और इंग्लैण्ड के प्रगतिशील बुद्धिजीवियों की संस्कृति में भेद नहीं कर पाते। कुल मिलाकर सुरेन्द्रनाथ सेन की तुलना में नेहरूजी का दृष्टिकोण सत्य के अधिक निकट है। यद्यपि उनकी पुस्तक उस समय प्रकाशित हुई थी जब भारत स्वाधीन होने वाला था, फिर भी १८५७ को लेकर १९४७ के बाद भी जो विवाद चलते रहे, उन्हें देखते हुए यह मानना होगा कि अनेक इतिहासकारों की तुलना में उनका इतिहास-सम्बन्धी विवेचन अधिक तर्कसंगत था और इस विवेचन का महत्व १९४७ के बाद समाप्त नहीं हो गया।

## ६. गदर और मार्क्सवादी विचारक—स्वाधीनताप्राप्ति से पहले

जहाँ तक मुझे मालूम है कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों में १८५७ पर चर्चा १९३९ में शुरू हुई। पहले मद्रास से 'न्यू एज' नाम की मासिक पत्रिका निकलती थी। इसके सम्पादक ऐस. वी. घाटे थे। इस पत्रिका के मई १९३९ के अंक में 'दि इण्डियन म्युटिनी' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। लेखक का पूरा नाम नहीं दिया गया, केवल बी. के. लिखा है। लेख के साथ जो सम्पादकीय टिप्पणी है, उसमें १८५७ की लोकवादी उथल-पुथल (मास अपहीवल) का उल्लेख है। कहा

गया है कि इस विषय पर समकालीन इतिहासकारों ने ध्यान दिया है और कोशिश की जा रही है कि संघर्ष के स्वरूप का विवेचन किया जाए और उसके मूल कारणों का पता लगाया जाए। सम्पादक ने इस विषय पर और लेख भी आमन्त्रित किये थे। इस टिप्पणी से विदित होता है कि कम्युनिस्ट पार्टी के पत्रों में इस विषय पर यह पहला लेख है।

यद्यपि लेख पार्टी की पत्रिका मे छपा है किन्तु वह किसी एक मार्क्सवादी का व्यक्तिगत प्रयत्न है। संगठित रूप से पार्टी की ओर से इस विषय के अध्ययन और विवेचन के लिए अभी कोई प्रयत्न नही हुआ। इस लेख मे जनता की कार्य-वाही पर जोर दिया गया है। इसके साथ सामन्तों के नेतृत्व को प्रतिक्रियावादी बताया गया है। यह लडाई केवल सिपाहियों का विद्रोह नही थी वरन् राष्ट्रीय क्रांति थी, यह बात भी कही गयी है। लेखक ने इस बात को भी नोट किया है कि फौज के सिपाही अपने अधिकारों के लिए बहुत दिनों से संघर्ष करते आ रहे थे और उनका यह संघर्ष ट्रेड यूनियन सघर्ष के समान था। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अब तक जो कुछ १८५७ पर लिखा गया था, उसकी तुलना में यहां जनता की भूमिका को समझने के लिए विशेष प्रयास किया गया है।

बी. के. ने लिखा है कि भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में सिपाही युद्ध को उसका उचित स्थान नही दिया गया। (इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता-आंदोलन के संदर्भ मे १८५७ की लड़ाई का विशेष महत्व है।) उसके बाद थकान और अध्यात्मवाद का दौर शुरू हुआ; इस दौर में रामकृष्ण परम-हस के आंदोलन का पहला चरण आता है। (अध्यात्मवाद का प्रचार थकान के कारण हुआ, यह संकेत रोचक है।) उसके बाद जब राष्ट्रीयता फिर से आरम्भ हुई तब उसका स्तर भिन्न और अधिक सचेत था और उसका एक नया आर्थिक ढाचा था। (अर्थात् पूंजीवाद के नये विकास से इस नये आन्दोलन की शुरुआत जुड़ी हुई थी।) सिपाहियों ने बगावत की, इस प्रचार से हमारा मन पूरी तरह मुक्त नही हुआ, हमने उस समय का काफी अध्ययन नही किया कि उसका पूर्ण महत्व समझ सकें। उस लडाई की सही व्याख्या करना और उससे निष्कर्ष निकालना बाकी है। यह कार्य केवल मार्क्सवादी विश्लेषण से पूरा हो सकता है।

मार्क्सवादी विश्लेषण का महत्व बताने के बाद बी. के. ने अंग्रेजी दमन के बारे मे लिखा है और उसमे निष्कर्ष यह निकाला है कि १८५७-५८ में अंग्रेजों ने जो अत्याचार किये, जिस भयंकर पैमाने पर आतंक फैलाया, वह केवल एक राष्ट्रीय क्रांति की ही प्रतिक्रिया हो सकता था। शासक वर्ग इस तरह प्रतिहिंसा का सहारा तब लेता है जब वह देखता है कि जनता की समूची शक्ति उसके विरुद्ध लगा दी गयी है। अंग्रेजों ने गाँव-गाँव मे जाकर वहाँ के निवासियों को पेड़ों पर लटकाकर फांसी दी। कर्नल निकलसन ने माँग की कि उन्हें जिन्दा जलाने और उनकी खाल खीचने की छूट दी जाए। फ्रास मे पैरिस कम्यून नाम की क्रांति के बाद वहा के पूंजीपतियों का व्यवहार ऐसा ही था, ऐसा ही व्यवहार स्पेन के फासिस्टो का है। (बी. के. ने स्पेन के फासिस्टों से तुलना उचित की है। जहाँ-जहाँ भी क्रांति को दबाने के प्रयास किये गये, वहाँ इसी तरह आतंक का सहारा लिया

गया। इस आतंक को न्यायपूर्ण ठहराने के लिए अंग्रेजों ने अपनी मेमों और बच्चों के मारे जाने की कहानियों का खूब प्रचार किया था।)

आगे लिखा है: गाय की चर्बी के इस्तेमाल से बगावत शुरू हुई, इसे केवल मज़ाक कहा जा सकता है हालांकि अंग्रेजी स्कूलों में भारत के बारे में यही सिखाया जाता है। इतिहासकार के (Kaye) का हवाला देते हुए वी. के. ने लिखा है कि लड़ाई का कारण गंभीर आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं और उसमें सारा राष्ट्र सिमट आया था। के की कमज़ोरी यह है कि उन्होंने प्रतिक्रियावादी नेताओं के सामन्ती इरादों और आम जनता के इरादों में भेद नहीं किया। वी. के. ने याद दिलाया है कि लड़ाई के दौरान नेताओं की अपेक्षा भारतीय जनता ने कहीं अधिक साहस और उत्साह का परिचय दिया। (वी. के. ने इतिहासकार के की पुस्तक अच्छी तरह पढ़ी है किन्तु वह पुस्तक नाकाफ़ी है। १९३९ तक और ऐसी सामग्री सुलभ थी जिससे १८५७ के बारे में और गहरी जानकारी हो सकती थी। किन्तु चर्बी वाले किस्से के बारे में वी. के. और सावरकर की राय एक है।)

लड़ाई की पृष्ठभूमि का विवेचन करते हुए वी. के. ने जनअसंतोष के लिए अंग्रेजी राज्य के प्रसार और शासनपद्धति को दोषी ठहराया है। बीसियों साल में विद्रोह की शक्ति संगठित होती रही। इस तरह का राष्ट्रीय जनविद्रोह भारतीय इतिहास में पहले कभी हुआ ही न था। (१८५७ की लड़ाई पहले की लड़ाइयों से गुणात्मक रूप से भिन्न थी, इस तथ्य की ओर यहाँ महत्वपूर्ण संकेत है। वी. के. ने १८५७ की तुलना में कांग्रेस के जन्म का स्मरण भी उसी तरह से किया है, जिस तरह जयप्रकाश नारायण ने किया था।)

वी. के. के अनुसार गुप्त प्रचार-केन्द्र अपना कार्य करते रहे थे और क्रांतिकारी साहित्य वितरित किया जाता रहा था। जो वर्ग पहले शक्तिशाली थे, वे तबाह हो गये थे। मुसलमान हाकिम और ब्राह्मण प्रशासक बेकार हो गए थे और इनके धार्मिक निहित स्वार्थों के लिए खतरा पैदा हो गया था। उनके प्रचार से उनके स्वरूप का पता चल जाता है। प्रचार मुख्यतः धार्मिक था और उसका लक्ष्य सिपाही थे। अंग्रेजी राज्य का जितना ही प्रसार हुआ, उतना ही इन असंतुष्ट लोगों की सख्या बढ़ती गयी। अंग्रेजों में दो प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। एक तो अंग्रेजों की हेकड़ी थी जिसके लिए हिन्दुस्तान का आदमी इन्सान नहीं था। जो प्रदेश अंग्रेजी राज्य में शामिल किये गये, वहाँ के देशी पदाधिकारी हटा दिये गये और देशी सेनाएं भंग कर दी गयी। दूसरी प्रवृत्ति वह थी जो फ्रांसीसी राज्य क्रांति के बाद यूरुप में फैली थी। यह सामन्त-विरोधी प्रवृत्ति थी। कम्पनी के बहुत से नौजवान सेवक समझते थे कि देशी राजाओं के कुशासन से जनता को मुक्त करना उनका पुनीत कर्त्तव्य है। उनका उद्देश्य था कि पुरोहितों, राजाओं और भूस्वामियों का प्रभुत्व समाप्त कर दें और सबको एक निरंकुश राज्यसत्ता के अधीन बराबरी का दर्जा दें जो पिता के समान उनकी देखभाल करे। जो पुरानपंथी कहते थे कि एक देशी अभिजात वर्ग निर्मित किया जाए और बनाए रखा जाए और वह सरकार तथा जनता के बीच ढाल का काम करे, उनसे इन लोगों को नफ़रत थी। उस नीति के फलस्वरूप मध्य भारत में वहाँ के राजा जमे हुए थे, बंगाल में पक्का बन्दो-

वस्त हुआ जिससे वहाँ जमीदारों का वर्ग बना। अच्छे अफसर मानते थे कि लगान वसूलने वाले ये ज़मीदार अत्याचारी थे। नौजवानों को अपनी नीति मनवाने मे वही तक सफलता मिली जहाँ तक उनके इरादों के नकारात्मक पक्ष का सम्बन्ध था। राजाओं को गद्दी से उतारने और ज़मीदारों को भिखारी बना देने की छूट उन्हे मिली किन्तु इससे लाभ किसानो को नही हुआ वरन् पहले से ज्यादा कठोर कर-व्यवस्था लागू की गयी। सरकार को पैसे की ज्यादा जरूरत थी, सरकारी तत्र अब ज्यादा चुस्ती से काम करता था, इसलिए कर-व्यवस्था अधिक कठोर थी। इससे भारत घाटे मे रहा।

लेखक यह मानकर चला है कि कम्पनी राज्य की तुलना मे यहाँ के सामन्ती शासक अधिक अयोग्य थे। कम्पनी के नौकरो मे जो भ्रष्टाचार फैला हुआ था, अपने मालिको को वे बराबर ठग रहे थे, व्यक्तिगत रूप से दौलत बटोरने में लगे हुए थे, सबसे पहले इसके खिलाफ लडने के लिए प्रगतिशील अग्रेज सेवकों को प्रेरणा मिलनी चाहिए थी। फ्रास और इंग्लैण्ड के जो बुद्धिजीवी फ्रासीसी राज्यक्रांति से प्रभावित हुए थे, वे भारत और आयरलैण्ड जैसे देशो की स्वाधीनता के लिए निरन्तर प्रचार कर रहे थे, भारत मे अग्रेजो राज्य-विस्तार का विरोध उन्होने बराबर किया था। यदि बी. के. की बात सही मानी जाए तो कहना होगा कि इंग्लैण्ड के बुद्धिजीवियो पर उस क्राति का प्रभाव एक ढग का था। यहाँ कम्पनी के प्रगतिशील सेवकों पर उसका प्रभाव दूसरे ढंग का था। फ्रासीसी राज्यक्राति के तीन नारे प्रसिद्ध हैं – स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारा। यदि यह माना जाए कि समानता स्थापित करने के लिए सामन्तों के अधिकार छीने जा रहे थे तो क्या कम्पनी के प्रगतिशील सेवको को यह न दिखाई देता था कि इस देश की स्वाधीनता का अपहरण किया जा रहा है? सामन्त के हटने पर कम्पनी के नौकरों और किसानो के बीच कोई समानता का सबध कायम न होता था, यह स्पष्ट है। जहाँ कम्पनी का राज्य पहले से कायम था, वहाँ के जमीदारो को हटाने के लिए इन प्रगतिशीलों ने कोई प्रयत्न नही किया। बी. के. ने कम्पनी के कुछ नौकरों को फ्रासीसी राज्यक्राति से प्रभावित बताकर अग्रेजी नीति की बर्बरता को ढांकने का प्रयत्न किया है।

देशी रियासतों को हड़पने की नीति के बारे मे आगे लिखा है कि १८४० से इस पर तेजी से अमल हुआ। गैर अग्रेजों को लगता था कि यह नया हमलावर अभियान है। एशिया मे साम्राज्यवाद फैल रहा था। चीन पर अपना अफीम का व्यापार लादने के लिए १८४० मे उस देश से इंग्लैण्ड ने लडाई की; पीगू को अपने राज्य मे मिलाने के लिए १८४६ मे बर्मा से लड़ाई की; व्यापार के कारण १८५६ मे ईरान से लड़ाई की। भारत के सिपाही देश से बाहर लड़ने भेजे गए; बाहर की घटनाओं की गूँज देश के भीतर सुनाई दी। ईरान और रूस अग्रेज-विरोधी प्रचार करने मे लगे हुए थे। अफगानिस्तान के युद्ध से जाहिर हो गया कि अंग्रेज अपराजेय नही है। भारत के भीतर पंजाब को अंग्रेजी राज्य मे मिलाया गया। जहाँ राजा की सन्तान न हो, वहाँ राज्य हड़पने की नीति से अग्रेजी राज्य का और प्रसार हुआ। अवध की भीतरी हालत खराब थी [illegible] इसके लिए कमजोर

शासन को फौजी मदद देने की अंग्रेजी नीति जिम्मेदार थी। प्रजा के उद्धार के नाम पर अंग्रेजों ने अवध पर अधिकार प्राप्त किया किन्तु सबसे पहले सरकार के अर्थ-विभाग को लाभ होना था। इन सभी घटनाओं से देश में ऐसे बेकार लोगों की बाढ़ आ गयी जो पहले प्रतिष्ठित जीवन बिताते रहे थे। सामान्यतः जिन लोगों की रियासतें छीनी गयी थीं, वे देश की प्रगति में सहायक न थे। इनका विनाश अपने आप में एक प्रगतिशील कदम था। लेकिन वह वैसी ही प्रगति थी जैसी ऐबीसीनिया में इतालवी सेनापतियों द्वारा पुराने राजघराने को हटा देने में प्राप्त हुई है। (कम्पनी द्वारा देशी रियासतों का हड़पा जाना और ऐबीसीनिया में इटली के फासिस्टों का अधिकार, ये दो भिन्न युगों की घटनाएं हैं। वास्तव में अंग्रेज भारत में कहीं भी सामन्तवाद खत्म न कर रहे थे, वे कुछ सामन्तों को अपना दोस्त बना रहे थे और कुछ की सम्पत्ति छीनते जा रहे थे। सामन्तों के विघटन से वे लाभ उठा रहे थे और जिन सामन्तों ने उनकी प्रभुसत्ता स्वीकार की, उनकी रक्षा वे अगले सौ वर्ष तक करते रहे।) असन्तुष्ट लोग आम जनता को केवल सामन्तों के प्रति वफादारी का हवाला देकर अपनी ओर न खींच सकते थे। वफादारी का भाव एक हद तक मौजूद था। जिन नये राज्यों पर अंग्रेजों ने कब्जा किया, वहां पुराने ताल्लुकदारों को हटाकर उन्होंने नए गैरहाजिर सट्टेबाजों को स्थापित किया। (दरअसल अंग्रेजों ने पुराने सामन्तों को हटाकर उनकी जगह अपने प्रति वफादार नए सामन्त स्थापित किये थे।) आज भी भारतीय किसान बहुत स्पष्ट या व्यवस्थित रूप से राष्ट्रीय कार्यक्रम नहीं समझ पाता। उन दिनों जनता का असंतोष उच्च वर्गों द्वारा निर्धारित रूपों में ही व्यक्त हो सकता था। (यहां बी. के. ने भारतीय किसान के साथ अन्याय किया है, उसकी चेतना को बहुत कम करके आंका है, सन् ५७ की लड़ाई में उसकी भूमिका की जानकारी न होने से उन्होंने अपने जमाने और अपने वर्ग की समझ उस पर आरोपित की है।) इसके सिवा बहुत जगह रेलों के चलने से, सती-प्रथा के बंद करने आदि से लोगों में बेचैनी थी। यह भावना अंशतः प्रतिक्रियावादी थी और मजहबी नेता इससे लाभ उठा सकते थे। स्पेन के गृहयुद्ध में जहां किसानों पर पादरियों का प्रभाव ज्यादा था, किसान

. . . . . . .

प्रतिक्रियावादी वर्गों ने खोई हुई प्रतिष्ठा पाने के लिए जनता को बरगलाया और अंग्रेजों से लड़े।)

हमें जनता के तीन मुख्य स्तरों पर ध्यान देना चाहिए—किसान, कारीगर और सिपाही। किसान संतुष्ट थे या नहीं, यह पूछना बेकार है। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक बंगाल और बिहार में किसान पक्के बंदोबस्त का नतीजा काफी दिन से भुगत रहे थे। जमींदारों का गुण्डादल लगान वसूल करता था और वसूल न होने पर बेदखल करता था। मुनाफे की रकम सरकार को न मिलती थी लेकिन सरकार जमींदारों के हर काम का समर्थन करती थी। (बी. के. ने यह नहीं बताया कि बंगाल के किसान बहुत पहले से उत्पीड़ित थे, फिर वे अंग्रेजों से क्यों नहीं लड़े।) नये सूबों में मालगुजारी की नयी व्यवस्थाएं कायम की गयी थीं।

उनें सबका मूल तत्व यह था कि किसान से आखिरी दमड़ी तक छीन ली जाए। इस प्रकार भारतीय इतिहास में भूसम्पत्ति को लेकर पहली बार क्रांति हुई थी। (यह क्रांति अंग्रेज़ो ने की थी और उसका सारतत्व यह था कि किसानो और सामन्तो सभी के अधिकार छीनकर अँग्रेज स्वयं ज़मीन के मालिक बन बैठे थे।) इस क्रांति का गहरा प्रभाव आम किसान जनता पर पड़ा। आबादी के बढ़ने से कुछ इलाको मे खेती पर निर्भर रहने वालो की सख्या बढ़ रही थी। कारीगरों पर जो बीती, उससे हालत और बिगड़ गयी। (अंग्रेजी राज्य मे, और सबसे पहले बंगाल मे, भुखमरी के कारण जो लाखो आदमी मरने लगे थे, उसका जिक्र बी. के. ने नही किया।) १८१४ तक हर तरह जोर-जबर्दस्ती करके कम्पनी बुनकरों से ज्यादा से ज्यादा कपड़ा बुनवाती थी। इसके बाद लंकाशायर के कारखानों में बना हुआ कपड़ा भारत आने लगा और वह नीति बदल गयी। हर तरह की चुगी और टैक्स लगाकर देशी उद्योग-धन्धों को निरुत्साहित किया गया। शहर तबाह हो गए, ग्रामसमाज टूट गए और झुण्ड के झुण्ड कारीगर खेती करने चले या फिर भीख मांगने लगे। यही बात उस समय इंग्लैण्ड में हो रही थी। वहाँ भी मशीन कारीगरों को तबाह कर रही थी और असंतोष इतना बढ़ा कि चार्टिस्ट आंदोलन देखकर १८४८ मे अधिकारियों को लगा कि अब क्रांति हो जाएगी। भारत मे १८५० के आसपास अन्न के दाम बहुत बढ़ गए, इससे हालत और खराब हुई। (इग्लैण्ड मे किसानो की भूमि छीनने का सिलसिला सोलहवी सदी में शुरू हो चुका था। १८वी सदी मे वह प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी। इग्लैण्ड मे औद्योगिक विकास के कारण मुफ़लिस कारीगर और किसान कारखानो मे काम पा रहे थे। भारत में उन कारखानो का बना हुआ माल बेचा जा रहा था, यहाँ कारखाने न लगाए जा रहे थे, दोनो देशो की स्थिति मे यह बुनियादी अतर था।)

सिपाही जनता से ही आए थे, उसकी भावनाए समझते थे। उनमे बहुत से आर्थिक बदहाली के कारण फौज मे भरती हुए होगे जैसे कि इग्लैण्ड और आयरलैण्ड मे आर्थिक बदहाली के कारण फौज मे भरती होकर भारत आए थे। वे अनेक बार छोटे-मोटे विद्रोह कर चुके थे। ये लड़ाइयां ट्रेड यूनियन सघर्षों जैसी थी। उनकी सख्या बढ़ी, साम्राज्य की सेवा के लिए उन्हें ज्यादा काम करना पड़ा पर उनके साथ और बुरा सलूक होने लगा।

बी. के. ने आगे लिखा है : भारतीय क्रांति मे जो जनशक्ति का उभार आया, उसका कारण अधविश्वासो पर आधारित ब्राह्मणपंथी अपीलें नही थी। लड़ाई के दौरान कही भी साम्प्रदायिक फूट नही देखी गयी। अधिकारियों को अनुभव हुआ कि हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य से उन्होंने जो आशा की थी, वह पूरी होने वाली नहीं है। लड़ने वालो की पांति में जाति-बिरादरी को लेकर कहीं फूट नही दिखाई दी। फौज जनता को अपने साथ खींच रही हो, ऐसा कुछ नही था। जनता का सबसे सुगठित और सचेत भाग फौज थी। (यह स्थापना अत्यन्त महत्वपूर्ण है और बी. के. की अन्य मान्यताओं का खण्डन करती है। फौज जनता का सुगठित और सचेत अंश थी, इसीलिए वह सारे संघर्ष का नेतृत्व कर रही थी, सघर्ष मे भाग लेने वाले चाहे फौजी लोग हों चाहे गैर फौजी हो, चाहे किसान हो चाहे सामन्त हों।)

अनेक इलाकों में फौजी बगावत शुरू होने से हफ्तों पहले आम जनता खुला विद्रोह कर रही थी और लगभग हर जगह फौजियों और गैरफौजियों के बीच पूरा सहयोग था। (जो आम जनता विद्रोह कर रही थी, उसमें सबसे ज्यादा संख्या किसानों की थी। ये किसान-विद्रोह फौजी बगावत से पहले फूट रहे थे, यह तथ्य अकेले ही सन् ५७ की लड़ाई के असली कारण स्पष्ट कर देता है।) देहात में गहरी उथल-पुथल शुरू हो गयी। यह केवल लूटमार नहीं थी यद्यपि उसमें उलझाव था और हमें उसके बारे में पूरी जानकारी नहीं है। कभी-कभी किसान नए जमींदारों के खिलाफ उठ खड़े हुए, कभी पुराने ताल्लुकदार लौटकर किसानों की अगुआई करने लगे। उन्होंने संगठित रूप में सिपाहियों की मदद की। आंदोलन के ज्वार का सही पता किसानों के इस उभार से जाना जाता है, न कि नानासाहब जैसे दुरभिसंधि करने वालों के सपनों से। (बी. के. ने नानासाहब का सही मूल्यांकन नहीं किया। किन्तु उन्होंने किसानों के उभार और फौज की भूमिका के बारे में जो कुछ लिखा है, वह उनके लेख का सकारात्मक पक्ष है और महत्वपूर्ण है।)

क्रांति असफल क्यों हुई? राष्ट्रीय एकता अभी नयी थी और अपूर्ण थी। अंग्रेज गुरखा लोगों, पठानों और सिक्खों को इस्तेमाल कर सके। सिक्ख और राजपूत सामन्तों को अपनी ही प्रजा के विरुद्ध अंग्रेजी मदद की जरूरत थी और उन्होंने सरकार का साथ दिया। (किसी भी राष्ट्रीय क्रांति में राष्ट्रीय एकता सौ फीसदी पूरी नहीं होती। वास्तव में उस क्रांति का एक लक्ष्य राष्ट्रीय एकीकरण होता है। १९४७ में भारत का जो विभाजन हुआ, उसकी तुलना में तो १८५७ की राष्ट्रीय एकता अधिक पूर्ण ही थी। अनेक भारतीय सामन्तों को अपनी प्रजा के ही विरुद्ध अंग्रेजी राज्य की मदद की जरूरत पड़ी, यह तथ्य सन् ५७ की लड़ाई में सामन्त-विरोधी क्रांति के बीजों की ओर संकेत करता है। जहाँ भी किसान और सिपाही अंग्रेजों के समर्थक सामन्तों से लड़े, वहाँ वे वस्तुगत रूप से सामन्त-विरोधी क्रांति में भाग ले रहे थे। सामन्त-विरोधी लड़ाई और साम्राज्य-विरोधी लड़ाई यहाँ मिल कर एक हो गयी थी। यह तथ्य दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने से कुछ महीने पहले भारतीय क्रांतिकारियों के लिए कितना महत्वपूर्ण था, इस ओर बी. के. ने ध्यान नहीं दिया।) भारतीय पूंजीपतियों ने सरकारी फण्ड में पैसा दिया था और अपनी लगाई पूंजी खोना न चाहते थे। अंग्रेजों के पास केन्द्रबद्ध संगठन था, सिपाहियों के पास नहीं था। सिपाहियों ने दिखा दिया कि वे अनुशासन कायम रख सकते हैं, शहरों की रक्षा कर सकते हैं, लड़ाइयां जीत सकते हैं। उनकी पांति से स्थानीय नेता निकले होंगे। कार्य-नीति की दृष्टि से वे योजना बना सकते थे, रणनीति के विचार से योजना न बना सकते थे। उनके पास कोई व्यापक योजना न थी, कोई यथार्थवादी कार्यक्रम न था। उनका सामन्ती नेतृत्व निकम्मा था। वह मुगल साम्राज्य को पुनर्जीवित करने के सपने देख रहा था और यह अशतः साम्प्रदायिक कार्यक्रम था। इतिहासकार के के अनुसार यदि नेतृत्व में वैसी ही शक्ति होती जैसी अनुयायियों में थी, तो क्रांति सफल हो जाती। (जहाँ तक केन्द्रबद्ध संगठन का सवाल है, सन् ५७ की घटनाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि अनेक

राजा और सामन्त थे। यह नेतृत्व १८५७ के विद्रोह में शिखर पर पहुँचा और फिर नष्ट हो गया। शोषित और उत्पीड़ित किसानों का नेतृत्व करने योग्य और उनकी आकांक्षाओं को वाणी देने योग्य कोई शक्ति उस समय नहीं थी। विद्रोह का अंत पराजय में ही हो सकता था।

१८५७ के विद्रोह के बाद भारत में अंग्रेजी हुकूमत ने अपनी नीति बदलना शुरू किया। भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद राजाओं को अपनी कठपुतलियों के रूप में पालता-पोसता है और उनकी राजनीतिक भूमिका भी बुलन्द करने की बराबर कोशिश करता है, जैसा कि अभी कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव से ज़ाहिर है। वह प्रगतिशील भारतीय जनमत की माँग के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी सामाजिक और धार्मिक अवशेषों को सुधारने के बदले 'सावधानी' से उनकी रक्षा करता है (जैसे कि ब्याह की उम्र के बारे में या अछूतों से सम्बन्धित पाबन्दियों [illegible] के बारे में।) वह भाषण और विचार की स्वाधीनता को दमनचक्र से दबाता है, वह सामाजिक, औद्योगिक तथा शिक्षा सम्बन्धी उन्नति के लिए भारतीय जनता की अप्रतिहत माँग को रोकता है। इन सारे तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत में साम्राज्यवाद न केवल आर्थिक क्षेत्र में, वरन् सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी प्रतिक्रियावाद का मुख्य गढ़ है।"

ये दोनों पैरा 'आज का भारत' के [illegible] लिये गए हैं। यहाँ जो तर्क दिये गए हैं, उन पर टिप्पणी [illegible] ध्यान दिलाना है कि रजनी पाम दत्त ने [illegible] की बात लिखी थी। एक ओर इंग्लैंड का [illegible] और भारत की पुरानी समाजव्यवस्था [illegible] होने और लड़ने की क्षमता नहीं थी, [illegible] और कोई वर्ग था ही नहीं। [illegible] किसानों की भूमिका नगण्य थी, [illegible] भारतीय समाज में जो प्रतिक्रियावादी [illegible]।

## ७. गदर और मार्क्सवादी [illegible]

### (क) [illegible]

१९५७ में सारे देश में [illegible] गया। कम्युनिस्ट पार्टी के [illegible] लड़ाई पर एक निबन्ध [illegible] पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस [illegible] मार्क्सवादियों की ओर से [illegible] जोशी इस समय [illegible] बाद यहाँ निष्कर्ष [illegible] महत्वपूर्ण है। [illegible] १८५७ की लड़ाई [illegible] चार निबन्ध हैं जिनमें [illegible]

दूसरे भाग में पाँच निबन्ध हैं जिनमें १८५७ से सम्बद्ध साहित्य और लोक-साहित्य का विवेचन गया है। पुस्तक का तीसरा भाग सबसे महत्वपूर्ण है जिसमें विदेशी लेखकों ने इंग्लैण्ड, फ्रास, इटली, रूस और चीन मे सन् '५७ की लड़ाई के प्रति वहाँ के लोगो की भावनाओं और उनके विचारों का विवरण दिया है।

पहला निबन्ध तल्मीज़ खल्दून नाम से किन्ही सज्जन ने लिखा है। इब्न खल्दून प्रसिद्ध अरब इतिहासकार हो गए है और सम्भवतः उन्ही का स्मरण करके छद्म नाम से किसी ने यह लेख लिखा है। भूमिका में जोशी ने उन्हें पुराना शोधकर्त्ता बताया है और लिखा है कि वह इस विषय पर राष्ट्रीय अभिलेखागार मे काम करते रहे है। खल्दून ने अपने लेख मे दो भिन्न और विरोधी दृष्टिकोणों से हटकर मध्य मार्ग अपनाने का प्रयत्न किया है। पहला दृष्टिकोण उन अंग्रेज़ इतिहासकारों का है जो सन् '५७ की लड़ाई को सिपाहियों की बगावत कहकर छुट्टी पा लेते है। दूसरा दृष्टिकोण उन भारतीय लेखकों का है जो इसे स्वाधीनता-संग्राम कहकर उसे गौरव प्रदान करते है। उनके विचार से इस तरह की व्याख्या विवेकशून्य राष्ट्रवाद की उपज है। पहले दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए उन्होने लड़ाई मे जनसाधारण के भाग लेने पर जोर दिया है। अनेक अंग्रेज इतिहासकारों से ही उद्धरण देकर उन्होंने बताया है कि कई जगह सिपाहियो से पहले आम जनता ने विद्रोह किया। अंग्रेजो ने बहुत जगह सिपाहियो की अपेक्षा साधारण लोगों को ज्यादा सख्त सज़ा दी। अंग्रेज़ अपने विरोधियों को खदेड़ देते थे, उनके हथियार छीन लेते थे लेकिन एक बार हारने के बाद वे फिर इकट्ठा हो जाते थे। एक इलाके मे अपनी फौज लाकर जब अंग्रेज शाति कायम करते थे, तभी दूसरे इलाके मे उथल-पुथल शुरू हो जाती थी। दो बड़े शहरों के बीच अंग्रेज़ जब किसी राजमार्ग को भारतीय विद्रोहियों के प्रभाव से मुक्त करते थे, तभी अन्य दो शहरों के बीच वे विद्रोही किसी अन्य राजमार्ग पर हावी हो जाते थे। अवध मे सिपाहियों को आसानी से अपना भोजन जनता से मिल जाता था। भोजन-सामग्री लादकर चलने की जरूरत उन्हें नही थी। और दूसरा सामान वे रक्षकों के बिना छोड़कर चल देते थे, जनता उसकी रक्षा करती थी। अंग्रेजों की गतिविधि के बारे मे उन्हे जनता से बराबर जानकारी प्राप्त होती थी। अंग्रेज जो भी योजना बनाते थे, उसकी खबर सिपाहियों को मिल जाती थी। उनके हमदर्द अंग्रेज़ी छावनियों मे भरे पड़े थे। खबरें इतनी तेज़ी से फैलती थी कि घुड़सवार भी उन्हे इतनी तेज़ी से न फैला सकते थे। अवध, रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड और सागर तथा नर्मदा के बीच के प्रदेश की समग्र जनता विद्रोह कर उठी थी। सबसे गहराई से और व्यापक रूप मे विद्रोह अवध मे हुआ। पजाब में लड़ाई नही हुई लेकिन आम जनता अंग्रेजों के खिलाफ़ थी। दिल्ली पर अधिकार होने से पहले अंग्रेजो को रसद जुटाने में बड़ी कठिनाई हुई थी। विद्रोह के राजनीतिक कारण थे और वह राजनीतिक विद्रोह था।

सारी लड़ाई राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम नही थी, यह प्रतिपादित करते हुए लेखक ने तर्क दिया है कि किसी इलाके से बाग़ी सिपाहियों और विद्रोही राजाओ के हटते ही शाति कायम हो जाती थी। (लेखक ने अपने निबन्ध मे जनता के भाग

लेने पर बहुत ज़ोर दिया है, यह सही है। यहां दूसरा तर्क उस धारणा के विरोध में है।) राष्ट्रीयता की भावना का अभाव था। इसी कारण विद्रोह का कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था, कोई सामान्य योजना नहीं थी। बख्त खाँ, नानासाहब, झांसी की रानी, कुंवरसिंह आदि अपने प्रदेशों की छोटी सीमाओं में बन्द रहे। (यहाँ तथ्यों की जानकारी का नितान्त अभाव स्पष्ट है।) विद्रोह के विभिन्न केन्द्रों और नेताओं के बीच सम्पर्क नहीं था। जैसे ही अंग्रेजी राज खत्म होता दिखाई देता था, वैसे ही विद्रोही नेताओं की आपसी फूट में अंग्रेज़-विरोधी संयुक्त मोर्चा कमज़ोर पड़ जाता था। (लेखक ने भारतीय नेताओं के आपसी सम्पर्क को कम करके आंका है, उनके मतभेद को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया है। सारी लड़ाई में अनुशासनबद्ध फौज की भूमिका न समझने के कारण उसने इस तरह की बातें लिखी हैं।)

भौगोलिक दृष्टि से विद्रोह-क्षेत्र सारे देश का छठा भाग ही था और आबादी के दसवें भाग से कम ने उसमें हिस्सा लिया। स्वयं भारतीयों की सहायता के बिना उसका दमन न किया जा सकता था। (ये सारे तथ्य वे हैं जो सुरेन्द्रनाथ सेन, रमेशचन्द मजूमदार आदि की पुस्तकों में मिलते हैं। जो स्वाधीनता-आंदोलन कांग्रेस के नेतृत्व में चलाया गया, उसके संकुचित होने, पूरी तरह राष्ट्रीय न होने के बारे में अंग्रेज जो तर्क दिया करते थे, उन्हें याद कीजिए। वे कहते थे : मुस्लिम लीग के नेतृत्व में बहुसंख्यक मुसलमान उक्त आंदोलन से अलग हैं, अम्बेदकर के नेतृत्व में अछूत उससे अलग हैं, बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपने-अपने नेतृत्व में और सामूहिक रूप से भी उससे अलग हैं। बहुत-से क्षेत्रों में कांग्रेसी आंदोलन किसी रूप में नहीं था। राष्ट्रीय एकता के एकमात्र विधायक बचे अंग्रेज। कोई भी क्रांति पूरे देश को सौ फीसदी समेटकर नहीं होती, उसमें जनता के आगे बढ़े हुए हिस्से भाग लेते हैं। जनता के अन्य स्तर क्रमशः उसमें खिंचकर आते हैं।)

ब्रिटेन और भारत की समाज-व्यवस्था के बारे में खल्दून की राय है कि ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी और भारत में वही पिछड़ा हुआ पुराना समाज था। औद्योगिक क्रांति ने ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धों को पूरी तरह बदल दिया। (आशय यह है कि औद्योगिक क्रांति ने कम्पनी राज्य के समय के सम्बन्ध बदल दिये। वास्तव में राजशक्ति के बिना केवल अर्थशक्ति के बल पर अंग्रेज इन सम्बन्धों को पूरी तरह न बदल सके थे।) ब्रिटिश उद्योग-धन्धों के प्रसार से भारत के पुरातनपंथी धन्धे नष्ट हो गए। अंग्रेजी माल की बिक्री के लिए भारत एक बड़ा बाजार बन गया जो उसे कच्चा माल भेजता था। (यह मूलतः वही स्थापना है जो रजनी पाम दत्त की पुस्तक में विद्यमान है।) भारत में उत्पादन के साधनों में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन न हुआ था। पुरानी समाज-व्यवस्था के भंग होने से विद्रोह फूट पड़ा था। (आशय यह है कि वास्तविक क्रांति तब होती है जब उत्पादन के साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तन होते हैं। पुरानी व्यवस्था टूटने से जो विद्रोह होगा, वह वास्तव में प्रतिक्रियावादी संघर्ष होगा।) इंग्लैण्ड भारतीय इतिहास को बदलने का उपकरण बना और उसने भारत में सामाजिक क्रांति की। (अपनी इसी समझ के अनुसार खल्दून ने सामन्तों की भूमिका का मूल्यांकन किया है।)

अवध के नवाबी शासन में ताल्लुकदार निरंकुश शासकों के समान जनता को लूटते और मारते थे। अंग्रेजी राज्य में अवध के मिला लिये जाने से इन्हीं ताल्लुकदारों को सबसे ज्यादा परेशानी हुई। सिपाहियों ने बहादुरशाह को सम्राट् मान लिया। इससे पंजाब के सिक्ख सरदारों और राजपूत राजाओं के मन में शंका उत्पन्न हुई। नानासाहब को महत्व का पद मिलने से हैदराबाद के निज़ाम को शंका हुई। राजपूत रियासतों की प्रजा और वहां के राजाओं, दोनों को डर था कि विद्रोही जीत गए तो मुगल और मराठे दोनों उन्हें लूटेंगे। (इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दू-मुस्लिम-सिक्ख राजा-प्रजा को शान्तिपूर्वक रहने की सुविधा केवल अंग्रेजी राज में थी।) पंजाब के सिक्ख सरदार डरते थे कि मुग़ल प्रभुसत्ता कायम होने पर उनका प्रभुत्व खत्म हो जाएगा। जो सिक्ख राजा अंग्रेजों से हार चुके थे, उन्हें याद था कि पुरबिया सिपाहियों ने उन्हें हराया था। अब वे उस हार का बदला लेने को तैयार थे। (पुरबियों ने हराया तो उनसे तो हार का बदला लेना था, अंग्रेजों ने हराया तो उनसे सहयोग करना था!) सिक्ख जनता को डर था कि विद्रोही जीत गए तो मुसलमान उनका धार्मिक उत्पीड़न शुरू कर देंगे; उन्हें गुरु तेगबहादुर की शहादत याद थी। जान लारेन्स ने उनकी भावनाओं का सही अनुमान करके यह अफवाह फैलायी कि जो भी किसी सरदार को मारेगा या उसका सिर लेकर दिल्ली जाएगा, बहादुरशाह उसे इनाम देगा। विद्रोह के दौरान कुल मिलाकर पंजाब ने अंग्रेजों की मदद की। पंजाब के मुसलमान भी सिपाहियों से डरते थे। अंग्रेजों ने सिक्खों के उत्पीडन से उनकी रक्षा की थी। भारत के दूसरे हिस्सों में अंग्रेजों ने मुसलमानों को तबाह किया था किन्तु पंजाब में उन्होंने उनकी रक्षा की थी। (यह सब पढ़कर आँखों पर विश्वास नहीं होता कि पुस्तक में यह सब छपा है किन्तु कांग्रेस-लीग एकता के नाम पर जिस तरह का आंदोलन जोशी नेतृत्व ने चलाया था, इतिहास की यह व्याख्या उसी के अनुरूप थी।)

(खल्दून के लेख का सकारात्मक पक्ष यह है कि उन्होंने सन् '५७ की लड़ाई में जनता की भूमिका को उभारा है, सामन्तों की कमज़ोरी दिखलाई है और बहुत जगह जनता को ज़मींदारों और महाजनों के खिलाफ लड़ते हुए बताया है।) अंग्रेजों ने जो नई भूमि-व्यवस्था लागू की, उससे आम जनता अपने पुराने अधिकार खो बैठी। इसी कारण सिपाहियों की बगावत के साथ या उससे पहले शहर और देहात की जनता ने बगावत की। लोगों ने सरकारी रिकार्ड नष्ट कर दिये और बनियों के बहीखाते बर्बाद कर दिये। अंग्रेजों ने जो कर-व्यवस्था लागू की थी, उसी की यह प्रतिक्रिया थी। अंग्रेजी राज की कृपा से महाजनों ने जिन्हें तबाह कर दिया था, उन्होंने महाजनों से बदला लिया। सम्पत्तिशाली वर्गों ने विद्रोह के प्रति विश्वासघात किया। नये-पुराने ज़मींदार, महाजन, सरकारी चाकर या तो अंग्रेजों की मदद कर रहे थे या तटस्थ बने हुए थे। "जिस समय विदेशी और सामन्ती दासता से मुक्त होने के लिए भारतीय किसान जिन्दगी और मौत की लड़ाई लड़ रहे थे, उस समय ये सब लोग अंग्रेजों को रक्षक के रूप में देख रहे थे।" इस प्रकार लड़ाई शुरू में पुरानी अर्थव्यवस्था को फिर से कायम करने के उद्देश्य से आरम्भ हुई थी किन्तु विद्रोह का खात्मा विदेशी साम्राज्यवाद और देशी ज़मींदारी-

प्रथा के खिलाफ किसान-युद्ध के रूप मे हुआ। (खल्दून ने किसानों की सामन्त-विरोधी लड़ाई को उभारा है, यह तो उन्होने उचित किया है किन्तु उन्होने उसे बहुत सीधा-सादा वर्ग-युद्ध बना दिया है। मुख्य बात यह है कि स्वाधीनता के लिए लड़ने वालों में अनेक वर्गों के लोग थे और उसके नेताओ ने बराबर कोशिश की कि अंग्रेजों के विरुद्ध यह विशाल मोर्चा कायम हो। यह स्वाभाविक है कि इन विभिन्न वर्गों मे सबसे ज्यादा जीवट से लडने वाले छोटे सामन्त और किसान थे। सामन्तों के एक अंश की भूमिका सकारात्मक थी, यह न भूलना चाहिए। इनमे जो ढुलमुल थे, सिपाहियो ने उनका ढुलमुलपन रोका। जो अंग्रेजो से मिले हुए थे, उनका विरोध किया। खल्दून ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह लड़ाई केवल सिपाही-विद्रोह नही थी। इस प्रयत्न मे उन्होने फौज की भूमिका को कम करके आंका है और अपने निबन्ध में परस्पर विरोधी बातें कही है। विद्रोह के सगठन के बारे मे उन्होंने लिखा है:) महीने-दो-महीने के भीतर बहुत बडे पैमाने पर सिपाहियो ने विद्रोह किया। गंगा और जमुना के बीच की भूमि मे विद्रोहियों ने संघर्ष का सगठन किया, इससे उनकी सगठन-क्षमता का पता चलता है। (फिर अपनी यह बात काटते हुए आगे लिखा है ·) अच्छा सगठन न होने के कारण ऐसा विद्रोह सफल न हो सकता था। विद्रोह के नेताओं मे हर तरह के लोग थे, जायदाद खो चुकने वाले जमींदार, तबाह कारीगर, मुफलिस किसान, असंतुष्ट सिपाही, कट्टर मजहबी नेता; और स्वाधीन भारत के बारे में इन सबके अलग-अलग विचार थे। नेताओ ने दिल्ली मे जो कोर्ट कायम किया, वह एक बडी ग्राम-पचायत के समान था। उन्हे अपनी राजनीतिक विरासत से यही चीज सुलभ थी। यद्यपि इस कोर्ट के लोग चुने गए थे, फिर भी अगर विद्रोही जीत जाते तो नये राज्य मे फिर वही बादशाही चलती।

(बादशाही परम्परा को इतना शक्तिशाली दिखाने के बाद आगे कहते है-) जब सामन्तों ने देखा कि लड़ाई का नेतृत्व उनके हाथ से निकला जा रहा है तो वे उससे अलग होने लगे। बहादुरशाह को हिन्द का शहंशाह घोषित किया गया था किन्तु वास्तविक सत्ता कोर्ट के हाथ मे थी। वही राज्य का शासन करता था, मालगुजारी वसूल करता था, महाजनों से कर्ज लेता था, युद्ध करने आदि की जिम्मेदारी उसी की थी। कोर्ट मे छह आदमी फौज के थे और चार गैरफौजी विभागों के थे। फौजी प्रतिनिधि अपनी योग्यता और अनुभव के अनुसार बहुमत से चुने जाते थे। गैरफौजी सदस्य भी अपने विभागों से चुने जाते थे। बादशाह का सम्मान किया गया था लेकिन वह संवैधानिक बादशाह था। राज्यसत्ता सैनिकों की समिति के हाथ में थी। कोर्ट जो चाहता था, करता था और उसके फैसले पर बादशाह को मुहर लगानी होती थी।

(इस कोर्ट की कार्यवाही से बहुत स्पष्ट हो जाता है कि फौज ने बादशाह को प्रतीक रूप मे स्वीकार किया था, पुरानी बादशाही बहाल करने का प्रश्न न था। खल्दून ने भारतीय सैनिको की जनतान्त्रिक चेतना को बहुत कम करके आका है। जहां भी आम जनता क्रांति में भाग लेती है, वह सगठन के ऐसे तरीके निकालती है जो सम्पत्तिशाली वर्गों के जनतन्त्र से भिन्न होते है। अपनी पंचायत के बल पर

ही सिपाहियों ने बादशाह को संवैधानिक प्रतीक का दर्जा दिया था और वास्तविक सत्ता अपने हाथ में रखी थी। खल्दून के मन पर पार्लियामेन्ट वाले जनतन्त्र का रौब छाया हुआ है। उन्होंने कोर्ट की आलोचना करते हुए लिखा है :) बाग़ियों ने जो कार्य-पद्धति बनायी थी, वह किसी भी आधुनिक राज्य की पार्लियामेन्ट के कायदों के अनुसार नही थी। विद्रोहियो को पार्लियामेन्टरी सरकार का कोई अनुभव न था, कायदे और नियम बनाने का अनुभव और भी नहीं था। ऐसा लगता है कि अपने वर्ग की जनवादी भावना को तुष्ट करने के लिए कोर्ट का निर्माण हुआ था। परम्परा से इस वर्ग का सामाजिक राजनीतिक संगठन पंचायत रही थी।

इस प्रकार खल्दून का चिन्तन रजनी पाम दत्त के बनाए हुए सांचे के भीतर घूमता है। भारतीय समाज पिछड़ा हुआ है, उसकी तुलना मे इंग्लैंड का समाज प्रगतिशील था, दोनों की टक्कर में भारतीय पक्ष की हार अनिवार्य थी, यह भावना लेख मे विद्यमान है। अंग्रेज़ी राज्य की प्रगतिशील भूमिका से अभिभूत होने के कारण वह तथ्यों की सही व्याख्या नही कर पाते। वह किसानों की कार्यवाही देखते है, एक हद तक सिपाहियों की सगठन-क्षमता भी देखते है, किन्तु भारत के लोग अंग्रेज़ी राज खत्म करने के लिए, देश की आज़ादी के लिए लड़े थे, यह बात वह स्वीकार नहीं करते।

### (ख) कुंवर मुहम्मद अशरफ

दूसरा लेख इतिहास के विद्वान् कुंवर मुहम्मद अशरफ का है। इसमें उन्होंने बताया है कि मुसलमानो के राजनीतिक दृष्टिकोण पर पुनरुत्थानवाद का गहरा असर था। पुनरुत्थानवादियों मे वहाबी लोग ऐसे थे जो अंग्रेज़ों के विरुद्ध थे और उन्होंने समूचे उत्तर भारत मे अपने केन्द्र कायम कर रखे थे। वहाबियों ने मुस्लिम जनता को अंग्रेज़ों के राजनीतिक अत्याचार से ही मुक्त होने की प्रेरणा नही दी वरन् मुस्लिम उत्पीड़को तथा भारतीय निहित स्वार्थों के आर्थिक शोषण से भी मुक्त होने की प्रेरणा दी। डा. अशरफ का कहना है कि वहाबी नेता बहुत पहले समझ चुके थे कि सामन्ती राज्यसत्ता को बदलना जरूरी है। टीपू सुलतान ने बेकार लोगों की आजीविका की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ली थी। (यह स्पष्ट नही है कि यह वहाबियों का प्रभाव था या फ्रांस की राज्यक्रांति का या टीपू के अपने मन की उपज थी।) बंगाल मे एक दल ने जमीदारों की भूमि पर अधिकार करने का कार्यक्रम भी बनाया था। बख्त खाँ ने नमक और शक्कर पर से टैक्स हटा लिया था और दिल्ली में ज़खीरेबाज़ी को जुर्म करार दिया था। लखनऊ में ऐसी ही नीति मौलवी अहमदुल्ला की थी। दिल्ली मे बागी सरकार ने अंग्रेज़ों के खिलाफ लड़ने वाले हर सिपाही को पाच बीघा लगानमुक्त ज़मीन देने का वादा किया था। बहादुरशाह को गद्दी पर बैठाना मुस्लिम पुनरुत्थानवादियों को बहुत अच्छा लगा होगा। वे एक मज़बूत केन्द्र-बद्ध राज्य का सपना देखते आए थे। इमाम और बादशाह की भूमिका तैमूर का वंशज निबाहे, इससे अच्छा और क्या होगा? बहादुरशाह गाज़ी, इमाम, मुर्शिद और पीर थे, शायद तो वह थे ही। हिन्दू राजाओं से उन्होंने कहा कि सन्तान न होने पर वह किसी को गोद ले सकेंगे,

ज़मींदारों से कहा कि पक्का बन्दोबस्त खत्म किया जायेगा और मालगुज़ारी में काफी कमी की जाएगी, व्यापारियों से कहा कि अंग्रेज़ों का इजारा खत्म किया जाएगा, सरकारी नौकरों से कहा कि उनकी तनख्वाह बढ़ा दी जाएगी, सिपाहियों से कहा कि उनकी तनख्वाह दुगुनी कर दी जाएगी।

फ़ैज़ाबाद के मौलवी के बारे में डाक्टर अशरफ ने लिखा है कि वह सही-सही वहाबी न थे पर टीपू सुल्तान की तरह वह पुनरुत्थानवादी थे और वहाबियों के साथ मिलकर काम कर रहे थे। अवध में सुल्तानपुर के योद्धा बख्त खाँ दिल्ली की केन्द्रीय सरकार के नेता थे और वह कट्टर वहाबी थे। वह अपने साथ वहाबी संगठनकर्ताओं का गिरोह दिल्ली लाए थे और उनकी कार्यवाही के कारण फौज का मनोबल ऊँचा रहा। बख्त खाँ के खेमे में हर सिपाही ने आखिरी दम तक अंग्रेज़ों से लड़ने की प्रतिज्ञा की थी। बख्त खाँ और वहाबियों की देखरेख में दिल्ली सरकार ने जनतान्त्रिक नीति अपनायी। बख्त खाँ के आने से शाहज़ादों का रौबदाब कम हो गया; और उन्होंने ऐसी रणनीति अपनायी कि अंग्रेज उसका जवाब न दे सके।

डाक्टर अशरफ ने धार्मिक पक्ष पर बहुत ज़ोर दिया है और इस पक्ष में वहाबियों की भूमिका बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखायी है। सन् '५७ की लड़ाई में बहुत तरह के लोग शामिल थे, उनमें एक दल वहाबियों का भी था। मुसलमानों में अनेक तरह के लोग थे; उनमें अज़ीमुल्ला जैसे स्वाधीन विचारों के लोग भी थे। बख्त खाँ दिल्ली सरकार के नेता नहीं थे। उनके दिल्ली पहुँचने से पहले वहाँ जो सैनिक समिति बनी थी, वास्तविक सत्ता उसके हाथ में थी। इस समिति ने बख्त खाँ को बहुत ज़्यादा शक्ति अपने हाथ में केन्द्रित करते देखकर उनकी आलोचना भी की थी। यह समिति पलटनों द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों से बनी थी; चुनाव का आधार सैनिक अनुभव और राजनीतिक सूझबूझ थी, धार्मिक दृष्टिकोण नहीं। डाक्टर अशरफ ने उन लोगों का उचित खण्डन किया है जो सामन्तों को लड़ाई का नेता कहते हैं। किन्तु सामन्तों की जगह उन्होंने पुनरुत्थानवादियों को बिठा दिया है और उन्हें इतना प्रगतिशील सिद्ध किया है कि उनमें और मार्क्सवादियों में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। मुस्लिम पुनरुत्थानवादी इस्लामी राज्य कायम करना चाहते थे। दिल्ली या लखनऊ की सरकारों को किसी भी अर्थ में इस्लामी या धार्मिक नहीं कहा जा सकता। डाक्टर अशरफ ने फौज की राजनीतिक भूमिका कम करके आंकी है। उन्होंने सिपाहियों की राजनीतिक कमेटियों की बात कही है। संघर्ष चलाने वाली वास्तविक संस्थाएँ यही थीं। बहादुरशाह की भूमिका नगण्य थी, यह बात वह स्वीकार करते हैं। जो लोग तैमूर के वंशज के दिल्ली की गद्दी पर बैठने से प्रसन्न थे, वे कभी न चाहते थे कि वह वंशज सिपाहियों के हाथ की कठपुतली बना रहे। डाक्टर अशरफ मानते हैं कि आम जनता ने विद्रोह में आगे बढ़कर भाग लिया पर उन्होंने यह नहीं बताया कि किसानों के संघर्ष में वहाबियों की भूमिका क्या थी। उनके विवरण से ऐसा लगता है कि वहाबियों की कार्यवाही कुछ बड़े शहरों तक सीमित थी; वे पुनरुत्थानवादी थे, इसलिए सम्प्रदाय विशेष के लोगों में ही काम करते थे। किसानों

के संघर्ष की विशेषता यह थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों ने मिलकर उसमें भाग लिया था। यह बात उन छोटे-बड़े सामन्तों के बारे में भी कही जा सकती है जो अंग्रेजों से लड़े थे। दरअसल हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता १८५७ की लड़ाई का सबसे शानदार पक्ष है। यह एकता मुस्लिम पुनरुत्थानवाद के आधार पर कायम न हुई थी। एक बात और। दिल्ली सरकार ने जो भी जनतांत्रिक कदम उठाये हों, वह सामन्तों के बटोरे हुए धन का उपयोग युद्ध के लिए करने में असफल रही। डाक्टर सैयद अतहर अब्बास रिजवी ने 'स्वतन्त्र दिल्ली' (१९५७) पुस्तक में लिखा है: "सेना के लिए केवल जीवनयापन ही कठिन न था अपितु मोर्चों पर भी भोजन न मिलता था। पहली अगस्त को बख्त खां के कार्यालय से बादशाह को एक पत्र प्राप्त हुआ कि कल से २०,००० सेना वर्षा की अधिकता तथा भोजन के अभाव के कारण कष्ट उठा रही है। अतः कोतवाल शहर को आदेश दे दिया जाय कि बुसी पुल के दूसरी ओर के शिविर में १०० मन भुने हुए चने भेज दिये जाए, अन्यथा सेना के उपवास का यह दूसरा दिन है।" (पृ. ८९)

सामन्तों की धनदौलत अंग्रेजों ने लूटी पर सामन्तों ने उसका उपयोग सिपाहियों के लिए भोजन जुटाने के लिए न किया। सिपाही भूखे रहे, चने चबाकर लड़े, इसका कारण उनकी राजनीतिक चेतना थी। डा. अशरफ ने लिखा है कि आम जनता अंग्रेजों के खिलाफ थी; केवल अंग्रेजों के बनाये हुए नये जमींदार उनके साथ थे और उनके साथ बड़े शहरों के बुद्धिजीवी थे जिनका भाग्य अंग्रेजों के भविष्य के साथ जुड़ा हुआ था। यह बात सही है। इसमें इतना जोड़ देना चाहिए कि काफी बुद्धिजीवी अंग्रेजों के विरुद्ध लड़े और उनमें ऐसे लोग थे जो आधुनिक शिक्षा पाये हुए थे। डाक्टर अशरफ के दृष्टिकोण पर उस समय की कम्युनिस्ट नीति का प्रभाव है जिस समय कांग्रेस-लीग एकता के नाम पर मुसलमानों के आत्मनिर्णय के अधिकार की बात कही जाती थी। उस समय की राजनीति के अवशेष इतिहास के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रभावित करते रहे।

### (ग) विनय घोष

एक लेख बंगाल के बुद्धिजीवी वर्ग पर विनय घोष का है। उनका कहना है कि १८५७ के विद्रोह के प्रति बंगाल का यह वर्ग उदासीन था। इसका कारण यह बताया है कि अंग्रेज शासक जब तक इस वर्ग के हित में काम करते रहे, तब तक यह वर्ग उनके प्रति वफादार रहा। उसका अपना दृष्टिकोण था और वह उसी के अनुरूप शासकों को परखता था। मध्यवर्ग के शिक्षित जनों में जो राजनीतिक चेतना विकसित हो रही थी, उससे वे अपनी भूमिका के प्रति सचेत थे। विनय घोष ने लिखा है, "मध्यवर्ग के युग का आविर्भाव यूरुप में हो रहा था, उनके शासकों के देश इंग्लैण्ड में भी हो रहा था, और उसकी पताका पर लिखा था: स्वाधीनता, समानता और भाईचारा। राममोहन के दिनों से बंगाल का शिक्षित मध्यवर्ग यूरुप और अमरीका में अपने सहचरों की हर जीत पर खुलेआम खुशी मना रहा था।"

यूरुप में जिस मध्यवर्ग का अभ्युदय हो रहा था, वह सामन्तों और शेष जनता के बीच का पूँजीपति वर्ग था। मार्क्स और एंगेल्स ने इसी अर्थ में मध्यवर्ग का

प्रयोग कम्युनिस्ट घोषणापत्र में किया था। भारत का मध्यवर्ग अंग्रेजी शासन द्वारा प्रशिक्षित जमींदारों और किसानों के बीच का बाबू वर्ग था। दोनों में गुणात्मक अन्तर था। विनय घोष का तात्पर्य यही है, यह बात ऊपर वाले अंश के बाद उनके एक वाक्य से स्पष्ट हो जाती है। लिखा है, "पिछली शताब्दी के तीस वाले दशक में जब महान् रिफॉर्म बिल इंग्लैण्ड के हाउस आफ कॉमन्स में पेश किये गये और औद्योगिक क्रान्ति के बाद सामाजिक सुधारों की एक शृंखला के बाद अंग्रेजी मध्यवर्ग ने महत्त्वपूर्ण विजय प्राप्त की, तब बंगाली बुद्धिजीवी वर्ग ने 'जय स्वाधीनता जय' का नारा लगाकर उस समाचार का स्वागत किया।" रिफॉर्म बिलों से जिस मध्यवर्ग को सत्ता में साझेदार बनने का अवसर मिला था, वह पूँजीपति वर्ग था। ये बिल इसीलिए महान् कहे जा सकते हैं कि उद्योगपति आंशिक रूप से राज्यसत्ता पर हावी होने में सफल हुए। स्पष्ट है कि औद्योगिक देश इंग्लैण्ड के पूँजीपति वर्ग और पराधीन भारत के बाबू वर्ग के बीच बहुत बड़ा फासला था। बंगाल में एक अन्य वर्ग भी था जो अंग्रेजी राज का प्रबल समर्थक था। यह वर्ग जमींदारों का था। अन्य प्रदेशों में भी जमींदार और सामन्त कुल मिलाकर अंग्रेजी राज के समर्थक थे। बंगाल की विशेषता यह थी कि नवशिक्षित मध्यवर्ग जमींदार वर्ग के दृष्टिकोण से प्रभावित था और सन् '५७ की लड़ाई के प्रति उसी की भावना का प्रतिनिधि बन गया था।

बंगाल के बुद्धिजीवियों में किस तरह की विचारधारा फैल रही थी, इसे बताने के लिए लेखक ने ४ जून १८५७ के 'हिन्दू पेट्रियट' पत्र का एक अंश उद्धृत किया है। उसमें बताया गया है कि बंगाली लोग फौजों का नेतृत्व करके कीर्ति-लाभ करने का स्वप्न नहीं देखते। वे गैरफौजी काम करते हैं और उसी में सफल होते हैं। अपनी तीव्र बुद्धि के कारण वे दूरदर्शिता और गहराई से विचार करते हैं। "उन्हें आशा है कि वे अंग्रेज जनता की सद्बुद्धि और न्यायपरायणता को अपनी कानूनी और संवैधानिक अपीलों से आंदोलित करेंगे। इस जनता के प्रति-निधि प्रभुतासम्पन्न परिषद् अथवा पार्लियामेण्ट में बैठे हैं। इस प्रकार बंगाली लोग अपने विदेशी शासकों के साथ समानता के स्तर तक पहुँचेंगे और उनके साथ एशिया के सबसे बड़े और सबसे दृढ़तापूर्वक स्थापित साम्राज्य का शासन करने के दायित्व और गौरव में सहभागी होंगे।"

मैं समझता हूँ कि समस्त बंगालियों की यह आकांक्षा नहीं थी, समस्त बंगाली मध्यवर्ग या शिक्षितजनों की भी यह आकांक्षा नहीं थी। यह उन थोड़े से चाटुकारों की आकांक्षा थी जो अंग्रेजी राज में बंगाली जनता की तबाही भूल गये थे, जो सपना देख रहे थे कि भारत में शासक वर्ग के साथ वे भी उसका अंग बन जाएंगे। विनय घोष ने १९४३ का दुर्भिक्ष देखा था। उसकी स्मृति से बंगाल के पुराने दुर्भिक्ष उन्हें पुनः याद आने चाहिए थे। उनके मन में वह याद उभरती तो वे १८५७ में अंग्रेजों के सहायकों, जमींदारों और बाबुओं को दूसरी निगाह से देखते। पर उन्होंने लिखा है कि अंग्रेजी शासन में जो नया मध्यवर्ग निर्मित हुआ

वह इस मध्यवर्ग का प्रतिनिधि मानता था। इस कारण सामन्त पक्ष का समर्थन करना वह उचित न समझता था और उसने १८५७ के विद्रोहियों की स्पष्ट निंदा की।

उल्लेखनीय है कि जब कांग्रेस का जन्म हुआ, तब उसके सदस्य भी कानूनी अपीलें करके अंग्रेजों की सद्बुद्धि जगाना चाहते थे और उनके साथ देश के शासन मे साझेदार बनना चाहते थे। उनके लिए भी सन् '५७ की लड़ाई प्रगतिशील अंग्रेजी राज के खिलाफ प्रतिक्रियावादी सामन्तों की लड़ाई थी। जैसे-जैसे कांग्रेस का रूप बदलता गया, जैसे-जैसे कानूनी अपीलों से सतुष्ट न होकर कांग्रेस कानून तोड़ने की ओर बढ़ी, वैसे-वैसे सन् '५७ की लड़ाई का महत्व भी उजागर होता गया। लेकिन १६५७ तक सुरेन्द्रनाथ सेन के लिए सन् '५७ की लड़ाई फिर वैसे ही अवांछित घटना बन गयी थी जैसी वह १८५७ मे 'हिन्दू पेट्रियट' के लिए थी।

## (घ) पूरनचन्द जोशी

जोशी द्वारा सम्पादित सकलन में सबसे बड़ा लेख उन्ही का है। अन्य लेखकों के, विशेष रूप से इतिहासकारो के, उद्धरण उसमें काफी है। इस लेख की विशेषता यह है कि इसमे दो परस्पर विरोधी स्थापनाओं के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। एक स्थापना यह है कि सन् '५७ का विद्रोह राष्ट्रीय विद्रोह था; दूसरी स्थापना यह है कि अंग्रेज उद्योगपति प्रगतिशील थे, भारत की पुरानी समाज-व्यवस्था टूट रही थी और इसलिए विद्रोहियों की पराजय अनिवार्य थी। एक मान्यता यह है कि औद्योगिक पूंजीवाद के मुकाबले सामन्तवाद पराजित होगा ही; दूसरी स्थापना यह है कि रूसी सामन्तवाद ने नैपोलियन की सेना को परास्त कर दिया (अत: पूंजीवाद के सामने सामंतवाद की पराजय अनिवार्य नही है।) एक स्थापना यह है कि भारतीय समाज गतिरुद्ध था, वह ग्रामसमाजो, सामन्ती राज्यों में विभाजित था; दूसरी स्थापना यह है कि यहां व्यापारिक पूंजीवाद का विकास हो रहा था और अंग्रेजों ने इसे नष्ट किया। जोशी ने यह लेख १६५७ मे लिखा था जब १८५७ के गौरव गीत गाने मे सभी राजनीतिक दल एक-दूसरे से होड़ कर रहे थे। मार्क्सवादियो की ओर से इस राष्ट्रीय उत्सव में भाग लेने के लिए कोई संगठित प्रयत्न न किया गया था। यह कमी पूरनचन्द जोशी ने पूरी की। इसके साथ ही दूसरे महायुद्ध के दौरान और उसके बाद कुल मिलाकर उनकी जो राजनीति रही थी, उससे वह पुरानी स्थापनाओं की सीमाएं लांघने मे असमर्थ थे। कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति मे अनेक बार परस्पर भिन्न मत वाले गुटों की टक्कर हुई। इनमें एकता स्थापित करने का एक तरीका यह था कि ऐसा प्रस्ताव तैयार किया जाय कि उसमें दोनो गुटों को अपने मतलब की बात मिल जाए। इस कार्य मे जोशी ने तथा कुछ अन्य नेताओं ने भी यथेष्ट कौशल का परिचय दिया था। वैसा ही कौशल १८५७ पर उनके इस निबन्ध में है।

निबन्ध-सकलन का नाम उन्होंने 'रिबेलियन १८५७' रखा है। अपने निबन्ध का शीर्षक '१८५७ इन अवर हिस्ट्री' रखा है। इन नामो के द्वारा वह इस झंझट से बचना चाहते है कि यह लड़ाई स्वाधीनता-संग्राम थी या नही। सुरेन्द्रनाथ सेन

ने भी अपनी पुस्तक का नाम 'एट्टीन फ़िफ़्टी सेविन' रखा था। इसके विपरीत तीन साल बाद मास्को में भारत-सम्बन्धी मार्क्स के लेखों का जो संकलन १९६० में प्रकाशित हुआ, उसका नाम अंग्रेजी अनुवाद में 'दि फ़र्स्ट वार ऑव इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स' रखा गया। जोशी के संकलन में भिन्न मतों का समर्थन करने वाले लेख हैं; इसलिए 'रिबेलियन' नाम का औचित्य हो सकता है। किन्तु जोशी के अपने लेख में विद्रोह या स्वाधीनता संग्राम का उल्लेख किये बिना केवल १८५७ का होना अकारण नहीं है।

निबन्ध के आरम्भ में उन्होंने बताया है कि हमारे राष्ट्रीय विकास में १८५७ का राष्ट्रीय विद्रोह ऐतिहासिक मार्गचिह्न है। भारतीय देशभक्त इसे आधुनिक स्वाधीनता-आन्दोलन की नींव मानते हैं। उन्होंने मार्क्स के एक लेख का हवाला दिया है जिसमें उन्होंने लिखा था, "धीरे-धीरे एक के बाद दूसरे तथ्य सामने आते जाएंगे जिनसे स्वयं जान बुल [अर्थात् इंग्लैण्ड] को विश्वास हो जाएगा कि जिसे वह फौजी बगावत समझे थे, वह दरअसल राष्ट्रीय विद्रोह था।" यह लेख उस समय भारत में सुलभ न था। मास्को में उसकी फोटोकापी मँगाकर उसका हवाला देना जोशी का श्रेष्ठ शोधकार्य है। आगे कहते हैं कि राष्ट्रीय भावना के कारण हमारे पुरखों ने फिरंगी हुकूमत को गैर और बुरा समझकर उससे नफरत की। जान की बाजी लगाकर १८५७-५८ के क्रांतिकारी संघर्ष में वे फिरंगी शैतान से लड़े, यह राष्ट्रीय आकांक्षा की अभिव्यंजना थी। उस समय की राष्ट्रीय चेतना की यह सीमा थी कि हमारे विद्रोही पुरखों ने मुगल बादशाह, मराठा पेशवा और अवध के नवाब को नेता बनाया पर इससे यह समझना बिलकुल गलत होगा कि वे पिछड़े हुए या प्रतिक्रियावादी थे। उस समय वे विचार और धारणाएँ नहीं थीं जिनका प्रसार बीसवीं सदी के स्वाधीनता-आंदोलन में हुआ। भारतीय फूट से अंग्रेज क्यों लाभ उठा सके, इस सवाल का जवाब देते हुए जोशी ने लिखा है कि किसान अंग्रेज-विरोधी थे किन्तु उनकी निगाह अपने गांव तक सीमित थी; जिस राजा की रियासत में रहते थे, उसकी गतिविधि के अलावा उन्हें राजनीति का ज्ञान न था। "देश का राजनीतिक विचारधारात्मक नेतृत्व अभी सामन्ती शासकवर्ग के हाथ में था। इस वर्ग में अंग्रेज-विरोधी भावना थी पर एक सामन्त को अपने दूसरे प्रतिद्वन्द्वी सामन्त से और भी अधिक भय था। यह एक ह्रासमान वर्ग था। उसकी इतिहास-सम्बन्धी स्मृति में फूट और घरेलू लड़ाइयों का सामन्ती अतीत ही था। संयुक्त स्वाधीन भारत का स्वप्न उसे दिखाई न दे सकता था। उन दिनों देश-प्रेम का मतलब था परम्परागत शासक द्वारा शासित अपने प्रदेश का प्रेम। भारत हम सब लोगों का सामान्य देश है, यह धारणा अभी पैदा न हुई थी। न केवल सामन्ती ऐतिहासिक स्मृतियाँ आड़े आती थीं वरन् उसके लिए [अर्थात् देशप्रेम के लिए] रेल, तार, सामान्य शिक्षा-व्यवस्था आदि के रूप में अभी भौतिक आधार निर्मित न हुआ था; उसकी शुरुआत भर हुई थी। भारतीय मातृभूमि की धारणा का विकास बाद में हुआ और १८५७ के महान् अनुभव ने उसके विकास में सहायता मिली।" इस प्रकार राष्ट्रीय विद्रोह में राष्ट्र-प्रेम का अभाव था। इसमें भाग लेने वाले किसान थे

जिन्हे राजनीति की जानकारी न थी। अपने छोटे-छोटे देहाती दायरों के बाहर उनकी निगाह पहुँचती न थी। राजनीतिक नेतृत्व सामन्तों के हाथ मे था जो फूट और आपसी लड़ाई के अलावा राष्ट्रीय एकता का स्वप्न भी न देख सकते थे। और भी गहराई से इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करते हुए जोशी मानते हैं कि उसके भौतिक आधारो का निर्माण अभी शुरू ही हुआ था। भौतिक आधार थे रेल, तार और सामान्य शिक्षा-व्यवस्था। इन भौतिक आधारों का निर्माण कौन कर रहा था ? अंग्रेज। वस्तुगत रूप से जो लोग अंग्रेजों से लड रहे थे, वे राष्ट्रीय एकता के भौतिक आधारो के निर्माताओ से लड़ रहे थे, फूट और अलगाव के पक्ष मे लड़ रहे थे। इस पर भी जोशी सन् '५७ की लड़ाई को राष्ट्रीय विद्रोह कहते है, तो इसे उनकी अप्रत्याशित उदारता ही मानना चाहिए।

पहले की लडाइयां अलग-अलग प्रदेशों के लिए हुई पर १८५७ मे जनता की अभूतपूर्व एकता देखी गयी। जिस क्षेत्र मे विद्रोह हुआ, वह विशाल था और उसके प्रति सहानुभूति और भी व्यापक थी। जोशी आगे कहते है कि अनेक क्षेत्र इसमे शामिल न हुए और जनता के कुछ अश अग्रेजो का समर्थन भी करते रहे। नेपाल के युद्ध में अंग्रेजो ने हिन्दुस्तानी फौज से काम लिया था। राणा जंग बहादुर की गुरखा फौज ने अवध का दमन करने मे अंग्रेजों की मदद की। सिक्खो को भी अपना मुगल-विरोधी इतिहास याद था। अंग्रेज उन्हे अपनी फौज मे भरती करने मे सफल हुए। मराठे राजा आपसी प्रतिद्वन्द्विता के अलावा उत्तर में मुगलों और दक्षिण मे निज़ाम से अपनी लडाइयां भूले न थे। राजस्थान के राजा पहले मुगल, फिर मराठा प्रभुत्व के मातहत रह चुके थे; अब अंग्रेजी प्रभुत्व के मातहत थे। (इन राजाओं की इतिहास-सम्बन्धी स्मृति मे केवल मुगल-मराठा-प्रभुत्व जागता रहा, ताजे ब्रिटिश प्रभुत्व की याद सो गयी।) पुरानी फूट के सामन्ती अतीत की ऐतिहासिक स्मृतियों ने देश के बड़े-बड़े भागो को जनता को पंगु बना दिया। अपने सामन्ती वर्ग-हित से प्रेरित होकर देशी राजाओ ने अंग्रेजों की मदद की। भारतवासियो को भारतवासियों के विरुद्ध इस्तेमाल करके अंग्रेज विजय प्राप्त कर सके।

ये सब तर्क उन लोगों के है जो १८५७ को स्वाधीनता संग्राम कहना अनुचित मानते हैं। ऐसा लगता है कि भारत की पराजय का मुख्य कारण सामन्ती व्यवस्था थी। यूरुप मे औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी और पुरानी समाज-व्यवस्था टूट रही थी। ऐतिहासिक विकास मे उत्पादन के सम्बन्धों की भूमिका निर्णायक मानी जाए तो कहना होगा कि पिछडे होने के कारण भारत की पराजय अनिवार्य थी। फ्रांसीसी पूंजीवाद के प्रतिनिधि नैपोलियन ने जब रूस पर हमला किया, तब वहाँ भी सामन्ती अवशेष कायम थे। ज़ारशाही रूस को प्रतिक्रियावाद का गढ़ माना जाता था। उसकी तुलना मे नैपोलियन का फ्रांस प्रगतिशील देश था। किन्तु रूस मे नैपोलियन की पराजय हुई। इस युद्ध पर तोल्स्तोय ने अपना प्रसिद्ध उपन्यास लिखा। सोवियत क्रांति से पहले और उसके बाद [illegible] जनता इस स्वाधीनता-संग्राम पर गर्व करती आयी है। [illegible] सदर्भ मे [illegible] ने उसी निबन्ध मे लिखा है, "यह बात सही न[illegible] ग में [illegible] देशभक्ति

पूर्ण भूमिका नहीं रही। हम सोवियत राजनीतिज्ञों और इतिहासकारों के रूढ़ि-मुक्त दृष्टिकोण को सराहते हैं, जो उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में नैपोलियन के खिलाफ़ प्रतिरोध का संगठन करनेवाले रूस के सामन्ती सेनापतियों और नेताओं की देश-भक्ति को गर्व की वस्तु मानते हैं। हम पोलैण्ड की जनता के उस संघर्ष को प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं जो उनकी मातृभूमि की मुक्ति के लिए और उसके विभाजन के विरुद्ध सामन्तों के नेतृत्व में चलाया गया था। हम इटली की जनता के जीवट और वीरता वाले संघर्ष की प्रशंसा करते हैं जो मातृभूमि की एकता और स्वाधीनता के लिए चलाया गया था, जिसमें मात्सीनी और गारीवाल्दी जैसे क्रांतिकारी जनवादियों ने ही भाग नहीं लिया वरन् सामन्त कावूर और पिएद-मोन्त के राजा ने भी भाग लिया था। हम दूसरे देशों में सामन्तों की देशभक्ति-पूर्ण भूमिका सराहते हैं किन्तु अपने देश में नहीं!"

वास्तव में यह आश्चर्य की बात है। दूसरे देशों में सामन्त देशभक्त हो सकते हैं, भारत में नहीं। रूस, पोलैण्ड, इटली में सामन्तों ने देशभक्तिपूर्ण भूमिका निबाही, भारत में नहीं। प्रश्न यह है कि देशभक्ति का भौतिक आधार भारत में था या नहीं? नहीं था तो सामन्तों के देशभक्त होने का प्रश्न ही कैसे उठेगा? पर यह भी जानना उचित होगा कि रूस और पोलैण्ड में वहाँ के सामन्तों के लिए रेल, तार आदि के रूप में राष्ट्रीयता का भौतिक आधार था या नहीं। कम से कम रूस में नैपोलियन की पराजय के समय तो यह भौतिक आधार वहाँ नहीं था। तब भारत में ही इस भौतिक आधार का इतना महत्व कैसे बढ़ गया?

जोशी मानते हैं कि १८५७ का विद्रोह अनिवार्य था और उसकी पराजय भी अनिवार्य थी। विद्रोह अनिवार्य इसलिए था कि कम्पनी राज ने भारत की आर्थिक व्यवस्था उलट-पलट दी थी, व्यापार और उद्योग-धन्धे चौपट कर दिये थे। ज़मींदारों से उनकी ज़मीन छीन ली गयी, किसान मुफलिस हो गए, कारी-गर बेकार हो गए और व्यापारी पूँजीपति वर्ग खत्म कर दिया गया। जिस आर्थिक व्यवस्था का प्रत्येक वर्ग इस तरह तबाह किया गया हो, उससे एक सामा-जिक उथल-पुथल पैदा होनी ही थी; यह उथल-पुथल १८५७ का विद्रोह था। इस विश्लेषण में एक बात की कैफ़ियत नहीं है; जब आर्थिक व्यवस्था पूरे देश में ध्वस्त हुई, तब विद्रोह हिन्दी प्रदेश में ही सीमित होकर क्यों रह गया। जोशी का विचार है कि पराजय अनिवार्य थी और इतिहास के लिए आवश्यक भी। इसके बिना आधुनिक राष्ट्रीयता का विकास सम्भव न था। लिखा है, "१८५७ का विद्रोह और उसकी असफलता दोनों बातें ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य थीं। किन्तु वह [असफलता] ऐतिहासिक आवश्यकता भी थी क्योंकि उसके बाद वह आधु-निक विकास हुआ (जिसका विश्लेषण आगे करेंगे), जिसमें से भारतीय जनता का आधुनिक राष्ट्रीय स्वाधीनता-आंदोलन पैदा हुआ और वे नई सामाजिक शक्तियाँ पैदा हुईं जो उसे विजय तक ले गयीं।" देखा जाए तो सुरेन्द्रनाथ सेन की स्थापना और जोशी की इस स्थापना में बुनियादी अन्तर नहीं है। पुरानी व्यवस्था के नष्ट हुए बिना आधुनिक विकास सम्भव न था। पुरानी व्यवस्था के प्रतिनिधि १८५७ में लड़े। जीत जाते तो पुरानी व्यवस्था कुछ दिन और

चलती, हार गए इसलिए जल्दी नष्ट हुई। सेन का भी कहना है कि विद्रोही जीत जाते तो इतिहास पीछे की ओर लौट चलता, प्रगति करने के बदले देश पुरानी रूढ़ियों को और मजबूत करता। जोशी विद्रोही पक्ष को प्रतिक्रियावादी नहीं कहते किन्तु जो पुरानी व्यवस्था के लिए लड़ रहे हैं, जिनकी पराजय अनिवार्य है, उन्हें प्रतिक्रियावादी न कहकर क्रांतिकारी किस तरह कहा जाएगा? सन् '५७ की लडाई को राष्ट्रीय विद्रोह कहने, विद्रोहियों को क्रांतिकारी कहने, पुरखों पर गर्व करने से मूल बात पर परदा नहीं डाला जा सकता कि ये सब लड़ने वाले लोग पुरानी व्यवस्था के प्रतिनिधि थे, उनकी पराजय अनिवार्य थी, इतिहास के लिए आवश्यक थी और इस आवश्यकता की पूर्ति के बाद ही उन सामाजिक शक्तियों का जन्म हो सकता था जिन्होंने भारत को स्वाधीनता की मंजिल तक पहुँचाया।

ये सामाजिक शक्तियां कौन-सी है, लेख से यह बहुत स्पष्ट नहीं है। अंग्रेज़ी राज में आधुनिक उद्योग-धन्धों का विकास हुआ। जोशी कहते हैं कि यह विकास अंग्रेज़ों के विरोध के बावजूद हुआ। यदि अंग्रेज़ों के विरोध के बावजूद भारत का औद्योगिक विकास हुआ, तो १८५७-५८ के विद्रोह की असफलता ऐतिहासिक आवश्यकता कैसे हुई? यदि शक्तिशाली अंग्रेज़ों के विरोध के बावजूद भारत का औद्योगिक विकास सम्भव था तो कमजोर भारतीय सामन्तों के विरोध के बावजूद वह संभव क्यों न था? सामन्त तो अंग्रेज़ों से कहीं ज्यादा असंगठित और कमज़ोर थे। औद्योगिक पूंजीपतियों के साथ क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग का जन्म हुआ। जोशी के अनुसार इन दोनों वर्गों ने भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को नया जनतांत्रिक रूप दिया और वे ही अंग्रेज़ों की विरासत औपनिवेशिक पिछड़ापन दूर करेंगे। इस स्थापना में दिलचस्प बात यह है कि उद्योगपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग दोनों की भूमिका समान रूप से महत्वपूर्ण मानी गयी है। दूसरी बात यह कि स्वाधीनता आंदोलन को जनतांत्रिक रूप देने में किसानों की भूमिका का उल्लेख नहीं है। जोशी ने शिक्षित मध्यवर्ग का जिक्र किया है, जिसके क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों ने राष्ट्रीय आंदोलन में प्रमुख भूमिका निबाही। निबन्ध के अन्त में कहा है, राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करके हमने १८५७ के विद्रोही पुरखों के प्रेतों को शांत कर दिया है, अब भाग्य की बागडोर हमारे हाथ में है और हम उन जातियों को कृतज्ञता का ऋण चुकाने लगे हैं जिन्होंने स्वाधीनता संग्राम में हमारी मदद की थी। १९४७ में भारत ने जो स्वाधीनता प्राप्त की, वह एक राष्ट्र की नहीं दो राष्ट्रों की थी, जोशी ने इसका उल्लेख नहीं किया। स्वाधीनता प्राप्ति के साथ भारत में ब्रिटिश पूंजी का अस्तित्व समाप्त नहीं हो गया, इस दूसरी बात का उल्लेख जोशी ने नहीं किया। तब पुरखों के प्रेत कैसे शान्त होंगे?

[illegible]

वैस ह [illegible]

जिस: [illegible]

रहा था और विदेशी विजेता हमारी कमज़ोरियों से लाभ उठा रहे थे। सभी वर्गों के लिए सबसे बड़ी समस्या यह थी कि फिरंगी के चौतरफा हमलों से भारत की

रक्षा कैसे की जाए। इस ऐतिहासिक संदर्भ में परम्परागत धार्मिक-सांस्कृतिक धारणाएँ विदेशी सत्ता के विरोध में विचारधारात्मक संघर्ष का महत्वपूर्ण अंग बनीं। अंग्रेज यहाँ के परम्परागत संस्कारों में दखल दे रहे थे और यह काम उन्होंने फौज में शुरू कर दिया था। उन्होंने सिपाहियों को समुद्र-यात्रा करने पर बाध्य किया और "सबसे गम्भीर बात यह कि उन्होंने चर्बी लगे कारतूसों का चलन किया।" चारों तरफ यह संदेह फैला हुआ था कि अंग्रेज सरकार लोगों को ईसाई बनाना चाहती है। जोशी के अनुसार यह संदेह पूरी तरह वाजिब था। १८५७ के पहले से अंग्रेज बड़े पैमाने पर लोगों को ईसाई बनाकर सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का राष्ट्रत्व नष्ट कर रहे थे। भारतीय जनता के लिए यह बहुत बड़ा खतरा था। "इस प्रकार १८५७ के संघर्ष में धर्म की बात ने बड़ी भूमिका निबाही; वह राष्ट्रीय साधना का हिस्सा थी। आम भारतीय जनता ने अपने धर्म की रक्षा के लिए हथियार उठाए और वह केवल धर्म की रक्षा के लिए नहीं वरन् अपनी जीवन-पद्धति और राष्ट्रत्व की रक्षा के लिए लड़ रही थी।" और भी—"हमारे विद्रोही पुरखों ने क्रांतिकारी संघर्ष को बढ़ाने के लिए धर्म का उपयोग किया। उन्होंने धर्म द्वारा अपनी बुद्धि को स्तम्भित न होने दिया। इसके बदले उन्होंने धर्म का उपयोग किया कि उन्हें उससे फिरंगी से लड़ने की शक्ति मिले।" धर्मसम्बन्धी अनुभाग के अन्त में जोशी ने लिखा है, "१८५७ की ऐतिहासिक परिस्थितियों में संघर्ष का वैचारिक रूप धार्मिक ही हो सकता था। इससे भिन्न किसी और चीज की आशा करना अवैज्ञानिक और अयथार्थवादी कार्य होगा।" पुनः इतिहास की भौतिकवादी अनिवार्यता! जोशी की ये बातें सैंतालीस साल पहले लिखी सावरकर की पुस्तक में हैं किन्तु सावरकर ने भी चरबी लगे कारतूसों की कथा को महत्वपूर्ण न माना था। स्वधर्म और स्वराज्य की लड़ाई को जोशी ने भौतिकवादी अनिवार्यता का रूप दिया है। एक सवाल यह है कि अंग्रेज सारे भारत में राष्ट्रत्व का नाश कर रहे थे, ईसाई धर्म फैला रहे थे, तब उसकी प्रतिक्रिया बंगाल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र आदि में क्यों न हुई। दूसरा सवाल यह कि इंग्लैण्ड का उद्योगपति वर्ग सामाजिक विकास में प्रगतिशील भूमिका निबाहने के साथ ईसाई धर्म का प्रचारक कैसे बन गया।

सब कुछ सामन्तों के हाथ में न था, पुरोहितों और मुल्लाओं की शक्ति और भी क्षीण थी। लड़ाई में देशी फौज की भूमिका भी थी। जोशी इस फौज के बारे में कहते हैं कि उसने विद्रोह की शुरूआत की, उसके संचालन और नेतृत्व में उसने सकारात्मक और बड़ी भूमिका निबाही। जोशी मानते हैं कि देसी फौज भारतीय जनता की सबसे संगठित शक्ति थी। ये सिपाही किसान वर्ग के थे और बंगाल आर्मी में ज्यादातर लोग अवध के किसान थे। यह फौज अपने अनुभव से इस नतीजे पर पहुँची थी कि उसने अब तक अंग्रेजों के लिए भारत जीता है, "अब उसे अंग्रेजी अमल से भारत को आजाद करने के लिए पहल करनी चाहिए। ऐसी फौज भारत के सामन्ती नेताओं का ताबेदार पिछलगुआ बनने को तैयार न थी; उसने क्रांतिकारी संघर्ष की गति और विकास पर अपनी छाप लगा दी।" यदि यह बात सही है तो सामन्ती नेतृत्व की बात, धर्म की भूमिका की बात, विद्रोही सेना के नेतृत्व

के अनिवार्यत: हारने की बात कैसे युक्तिसंगत हो सकती है ? अनेक सामंत फौज के साथ मिलकर लड़े, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे फौज का नेतृत्व कर रहे थे। भले ही सामन्तों की दृष्टि उनके छोटे-बड़े राज्यों तक सीमित रही हो पर फौज यह समझती थी कि उसने भारत नाम का देश अंग्रेजों के लिये जीता है और अब इस देश को अंग्रेजो से आजाद करना है। तब वह आधुनिक अर्थ में राष्ट्रीय एकता की बात क्यों न सोच सकती थी ? देशभक्ति की धारणा के लिये रेल-तार वाले भौतिक आधार का निर्माण ही क्यों जरूरी था ? जोशी कहते हैं कि हिन्दुस्तानी फौज मुगल बादशाह को अपनी शर्तें मानने पर बाध्य कर रही थी, यह अकबर या औरंगज़ेब की फौज नहीं थी, वरन् क्रांतिकारी फौज थी जो सामन्ती शासक वर्ग के साथ नेतृत्व में साझेदार थी और सामन्ती नेतृत्व पर नियन्त्रण रखने के लिए उसे अपनी शर्तें मानने को कहती थी। दिल्ली में उसने जो कोर्ट कायम किया, वह क्रांतिकारी संघर्ष और नई सत्ता का सामूहिक साधन था। तल्मीज़ खल्दून के लेख का हवाला देते हुए जोशी ने बताया है कि इस कोर्ट ने सैनिक कार्य के बारे में ही फ़ैसले नहीं किये वरन् देश की दीवानी हुकूमत के लिए भी कानून बनाए और फरमान जारी किये। १८५७ की विजय से सामन्ती व्यवस्था फिर से कायम न होती। "इसके विपरीत ऊपर वाले सामन्त इतने पस्त हो गए थे, मुगल बादशाह, उनकी प्यारी बेगम, शहज़ादों की जमात, सब इतने पस्त हो गए थे कि उन्होंने अंग्रेजों से सुलह करने का फ़ैसला किया और बादशाह ने हज करने की इच्छा ज़ाहिर करके इस बात पर परदा डाला। जहाँ भी विद्रोही सैनिक सक्रिय थे, वहाँ यही हाल हुआ; सारे देश में देशी सामन्तों को अंग्रेजी छावनी में शरण मिलती दिखाई देती थी, वही उनकी धार्मिक यात्रा का लक्ष्य था।" विद्रोही सैनिकों ने अंग्रेजों के खिलाफ मिलीजुली लड़ाई चलाने के लिए कुछ सामन्तों से समझौता किया किन्तु उन्होंने संघर्ष की नई और सर्वोच्च संस्था कोर्ट के निर्माण में बड़ी मेहनत की। सवैधानिक बादशाही के ढाँचे के भीतर उस समय की परिस्थितियों में यह सैनिक-किसान-जनतन्त्र का रूप था। स्वाधीन भारत में देशी राज्यों का संघ बनाया जाएगा। विद्रोह की लपटों से निकला हुआ यह भी एक महत्वपूर्ण विचार था। रानी लक्ष्मीबाई ने झांसी पर अंग्रेजों का कब्जा हो जाने के बाद अपने सिपाहियों को कसम खाई, जब तक जियेंगे काल्पी हाथ से न जाने देंगे; अपने हाथों हम अपनी आज़ा[illegible] दफनाएंगे। जोशी कहते हैं कि जान की बाज़ी लगा[illegible] सिपाहियों को [illegible] देते हुए रानी ने आज़ादशाही की नयी [illegible] बादशा[illegible] [illegible] की बात नहीं की। लखनऊ [illegible] कठपुतली था। दिल्ली की तरह लखनऊ [illegible] चल रही थी। जहाँ भी विद्रोह था [illegible] यह [illegible] ही - यह साबित न होता था कि [illegible] है। बरेली औ[illegible] ने फर[illegible] लड़ाई [illegible]

दो, उनकी छावनियों के आसपास मँडराते रहो और फिरंगी को दम न लेने दो। जोशी कहते है कि लडाई की इस नीति को अमल में लाने का भार आम किसान जनता पर पडा। "जिन सभी समकालीन अंग्रेज इतिहासकारो ने रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, अवध और बिहार मे होने वाली इस लड़ाई का हाल लिखा है, उन्होने ऐसे पचासों उदाहरण दिये है जिनसे मालूम होता है कि हिन्दुस्तानी किसानों ने वड़ी लगन और वफादारी से विद्रोही हाई कमान के फरमानों पर अमल किया।" जोशी की ये सब बातें सही है। इसीलिए सामन्तो के नेतृत्व के बारे मे और विद्रोह की अनिवार्य असफलता के बारे में उनकी सारी बातें गलत है।

भारत की आर्थिक व्यवस्था के प्रसंग मे जोशी ने लिखा है कि अंग्रेजों ने यहाँ की परम्परागत समाज-व्यवस्था का नाश किया और नई व्यवस्था की ओर उसका जो सहज विकास था, उसे भंग किया। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी है। या तो परम्परागत व्यवस्था बदल न रही थी और इसलिए जैसी वह हज़ार साल पहले थी, वैसी अंग्रेजी राज्य कायम होने के समय भी थी। इसीलिए वह 'परम्परागत' कहलायी। अथवा यह व्यवस्था टूट रही थी और नई व्यवस्था की ओर सहज विकास होने लगा था। उस हालत मे वह पुरानी व्यवस्था ज्यों की त्यों कायम न थी। जोशी के अनुसार पुरानी आर्थिक व्यवस्था के सबसे महत्वपूर्ण पहलू का सबध कृषि से है। मार्क्स का हवाला देते हुए लिखा है कि अंग्रेजी सुधारों ने भारतीय कृषि का सारा परम्परागत आधार नष्ट कर दिया; इस कृषि का आधार ग्रामसमाज-व्यवस्था थी। अंग्रेजों ने सामूहिक सम्पत्ति की जगह व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति का चलन किया। जोशी की यह बात मानें तो सवाल उठता है कि सामूहिक भू-सम्पत्ति वाली ग्रामसमाज-व्यवस्था अंग्रेजी राज कायम होने के समय बड़े पैमाने पर विद्यमान थी तो नयी व्यवस्था की ओर वह सहज विकास किस आधार पर हो रहा था जिसे अंग्रेजों ने भंग किया। या तो अपरिवर्तित आधार मे अंग्रेजों ने परिवर्तन किया या परिवर्तित होते हुए आधार मे उन्होने बाधा डाली। दोनो बातें एक साथ नही हो सकती। सहज विकास की बात व्यापारिक पूँजीपति वर्ग के हवाले से स्पष्ट होती है। रामकृष्ण मुकर्जी का हवाला देते हुए जोशी ने लिखा है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से कारीगरो के साथ स्वाधीन व्यापारिक पूँजीपति वर्ग भी नष्ट हो गया। व्यापारिक पूँजीपति वर्ग का निर्माण हो, और पुराना समाज अचल बना रहे, यह सम्भव नही है। १८वी सदी मे यहाँ बड़े-बड़े नगर है, वे व्यापार की मण्डियाँ है। मुनाफे के लिए जो माल तैयार किया जाता है, वह इन्ही शहरों मे तैयार किया जाता है। वे दस्तकारी उद्योग के केन्द्र भी हैं। इन केन्द्रों में काम करने वाले कारीगर आसपास के गाँवों से ही आते हैं। ये नगर समुद्र में स्थित अलग-थलग द्वीपो की तरह नहीं हैं। देहात से उनका गहरा सम्बन्ध है। उत्पादन के तरीको में यहाँ जो परिवर्तन हो रहा था, उसे छोड़ भी दें, तो भी स्पष्ट है कि व्यापारिक पूँजीवाद की प्रगति उत्तर भारत में एक बहुत बड़ा बाजार कायम कर रही थी। इस बाजार में जो माल बिकता था, वह मुनाफ़ा कमाने के लिए तैयार किया जाता था। इससे पुरानी व्यवस्था टूट रही थी और चारों तरफ़ वर्णव्यवस्था के नाश होने की, कलियुग के आगमन की शिकायत

सुनने को मिलती थी।

स्वाधीन व्यापारिक पूँजीपति वर्ग के अलावा पणिक्कर का हवाला देते जोशी ने दलाल पूँजीपति वर्ग का उल्लेख भी किया है। पणिक्कर के अनुसार स तटवर्ती व्यापार-केन्द्रों में यूरुप के सौदागरों ने अड्डा जमाया, तब एक शक्तिशा पूँजीपति वर्ग का विकास हुआ। इस वर्ग का गहरा सम्बन्ध विदेशी सौदागरों था, उनके साथ व्यापार करके वह भारी मुनाफा कमाता था। आगे चलकर चं में जैसे दलाल पूँजीपति वर्ग पैदा हुआ, वैसे ही बंगाल के मारवाड़ी सेठ दल थे। पणिक्कर यह कहना नहीं भूले कि यह वर्ग मुस्लिम शासन से घृणा करता और उसके आर्थिक हित विदेशी व्यापारियों के हितों से जुड़े हुए थे। जोशी पणिक्कर की यह स्थापना मान ली है और लिखा है कि कम्पनी के गुमाश्तों अं बनियों ने १८५७ में अंग्रेजों का साथ दिया।

अंग्रेजी राज कायम होने के समय भारत का बाज़ार धर्म के आधार विभाजित न था। हिन्दू और मुसलमान व्यापारी दोनों ही इस बाजार से सम्ब थे। सेठ अमीचन्द ने नवाबों को कर्ज दिया; वहाँ हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव सवाल न था। सबसे ज्यादा भेदभाव औरंगज़ेब के समय में दिखाई दिया कि उस समय भी अधिकांश हिन्दू सामन्त औरंगज़ेब के साथ थे। व्यापार की प्रग में सामन्तवाद बाधक था; सामन्त हिन्दू है या मुसलमान, इससे कोई फर्क पड़ता था। चीन के दलाल पूँजीपतियों का हवाला देते समय वहाँ के स्वाधी पूँजीपति वर्ग का भी ध्यान रखना चाहिए। यह स्वाधीन पूँजीपति वर्ग न होता सुनयात सेन वहाँ की पूँजीवादी क्रांति के नेता न होते। कम्पनी के गुमाश्तों 'शक्तिशाली' पूँजीपति वर्ग वही कहेगा जो विदेशी सौदागरों से असम्बद्ध यहाँ व्यापारी वर्ग की भूमिका को अस्वीकार करता है।

एक बात दिलचस्प है कि १८५७ से पहले और बाद को यूरुप के अन्य दे के बुद्धिजीवियों ने अंग्रेजी राज्य पर जो कुछ लिखा, उसमें कहीं भी पुरानी व्यवस् के टूटने, भारतीय पराजय के अनिवार्य होने आदि का उल्लेख नहीं है। उन बुद्धि जीवियों के लिए सीधी बात यह थी कि अंग्रेज भारत को गुलाम बना रहे हैं औ भारत के लोग अपनी आजादी के लिए लड़ते हैं, तो यह सर्वथा उचित है। जोश ने अपने निबन्ध-संकलन की भूमिका में चीन समेत अन्य देशों में १८५७ प्रतिक्रिया पर लेखों के बारे में लिखा है कि परिश्रम से किए हुए शोधकार्य परिणाम इन निबन्धों में है। उनसे पता चलता है कि इन सभी देशों में १८५७ विद्रोह का स्वागत किया गया, उसे अंग्रेजी गुलामी खत्म करने के लिए भारतीय जनता का राष्ट्रीय विद्रोह माना गया और उसके प्रति जनवादी हलकों में गहरी सहानुभूति प्रकट की गयी। यह दृष्टिकोण उन्नीसवीं सदी में ही नहीं, बीसवीं सदी में भी विद्यमान है। जोशी का दृष्टिकोण उससे भिन्न है।

## (७) मार्क्सवाद-लेनिनवाद-संस्थान मास्को

भारत में १८५७ के गदर का शताब्दी-समारोह मनाया गया। उसके दो वर्ष बाद मास्को से मार्क्स के भारत सम्बन्धी लेख प्रकाशित हुए। इनमें मार्क्स और एंगेल्स

के गदर-सम्बन्धी लेख भी हैं। यह संकलन सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति द्वारा संचालित मार्क्सवाद-लेनिनवाद-संस्थान की ओर से प्रकाशित हुआ। संकलन का नाम है 'स्वाधीनता का प्रथम भारतीय संग्राम १८५७-१८५९'। सोवियत विद्वान् इस संग्राम की अवधि १८५९ तक मानते है, उस हिसाब से शताब्दी पूरी होने पर उन्होने अपना संकलन प्रकाशित किया। इसमे उक्त संस्थान की ओर से भूमिका प्रकाशित है। उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

मार्क्स और एंगेल्स ने सर्वहारा वर्ग के मुक्ति-संघर्ष के दृष्टिकोण से भारत और चीन की स्थिति का अध्ययन किया। पूंजीवादी डाकू-नीति के शिकार भारत और चीन थे। दोनों देशों मे पितृसत्ताक और सामन्ती सम्बन्ध टूट रहे थे और दोनों देश पूंजीवादी विकास की ओर धीरे-धीरे बढ रहे थे। इन देशों मे जो परिवर्तन होगा, वह अनिवार्य रूप से यूरुप की क्रांति को प्रभावित करेगा। यही कारण है कि उन्होने इतने ध्यान से १८५७ के विद्रोह की गतिविधि का अध्ययन किया। उनका विचार था कि समूचे एशिया मे १८५० के दशक मे जो पीड़ित जातियों का स्वाधीनता-सग्राम विकसित हो रहा था, यह विद्रोह उसी का अंग था। उन्होंने देखा कि वह यूरुप की क्रांति का सहयोगी है। उस समय संयुक्त राज्य अमरीका और यूरुप के देशों में जो पहला विश्वव्यापी आर्थिक सकट फैल रहा था, उनकी समझ मे उसके फलस्वरूप यूरुप मे क्रांति होने वाली थी। (सोवियत-विद्वानों ने १८५७ के विद्रोह को विश्वइतिहास से अलग करके उसे अलग-थलग घटना के रूप मे न देखकर उसे एशियाव्यापी स्वाधीनता-सग्राम का अंग माना है। यह दृष्टिकोण मार्क्सवाद के अनुरूप है और केवल इस दृष्टिकोण से तत्कालीन भारतीय इतिहास का सही विवेचन सम्भव है। भारत मे जिन मार्क्सवादियों ने १८५७ पर लिखा है, उन्होने इस लड़ाई की व्यापक एशियायी पृष्ठभूमि की ओर ध्यान नही दिया। यह संग्राम कितना राष्ट्रीय, कितना प्रतिक्रियावादी है, इस ऊहापोह मे फँसे हुए विवेचकों के लिए यह सम्भव ही न था कि वे यूरुप की सम्भावित क्रांति से भी उसका सम्बन्ध जोड़ें।)

मार्क्स के अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अपना हथियार बनाकर अंग्रेजों ने भारत पर विजय प्राप्त की। अंग्रेजों ने यहां के लोगो मे धार्मिक आदि भेदभाव उभारकर और सामन्तो की आपसी लड़ाइयों से लाभ उठाकर यहां के प्रदेश हड़प लिये। मार्क्स ने दिखाया है कि भारत की लूट का ढग ब्रिटेन के लखपतियों की आमदनी का मुख्य स्रोत था। इस रूप से उस विशाल, सम्पत्तिशाली और प्राचीन देश की जनता को भयानक निर्धनता का सामना करना पड़ा और भारतीय अर्थतन्त्र की पूरी की पूरी शाखाएं ध्वस्त हो गयी। मार्क्स ने ध्यान दिया कि अंग्रेज हमलावरों ने भारत को सिंचाई-व्यवस्था का नाश किया। दस्तकारी का नाश करके करोड़ों भारतवासियों को भुखमरी का शिकार बनाया। कारीगर इंग्लैण्ड मे बने हुए कपड़े से होड़ मे न ठहर सकते थे। यह कपड़ा भारत के बाजार पर थोपा जा रहा था। अंग्रेजों ने सामूहिक भूस्वामित्व तथा पितृसत्ताक ढांचा तोड़ा, साथ ही उन्होंने कर-व्यवस्था ऐसी चलाई और जमींदारी तथा रैयतवारी

दो तरह के बंदोबस्त ऐसे किए कि बहुत से सामन्ती अवशेष कायम रहे। इससे देश का प्रगतिशील विकास धीमा पड़ गया और भारतीय किसान बोझ से दब गया। असहनीय टैक्स लगाकर अंग्रेजों ने किसानों पर दोहरा बोझ डाला, एक अपने राज्य का और दूसरा देशी सामन्तो का। भारत मे अंग्रेजों की आर्थिक नीति का अभिन्न अंग किसानो को मारना-पीटना और शारीरिक यन्त्रणा देना था। किन्तु जो भी कर वसूल किया गया, वह जनता के लिए आवश्यक सार्वजनिक कार्यों मे नही लगाया गया। मार्क्स का निष्कर्ष यह था कि भारत मे अंग्रेज हमलावरों की डाकू-नीति और शोषण के बर्बर तरीको ने भारतीय विद्रोह को जन्म दिया।

१९वी सदी के मध्य मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी अनेक प्रदेश जीतने के बाद देशी फौज से पुलिस का काम लेना चाहती थी। जिन लोगों पर उसने विजय पाई थी, उन्हे दबाये रखने के लिए फौज की जरूरत थी। मार्क्स ने लिखा कि बीस करोड़ आबादी को गुलाम बनाए रखने के लिए अंग्रेज दो लाख देशी फौज से काम ले रहे थे। इस देशी फौज के अफसर अंग्रेज थे और उसे काबू रखने के लिए ४० हजार अंग्रेजी सेना थी। किन्तु अंग्रेजी फौज का निर्माण करके अंग्रेजों ने प्रतिरोध का पहला सामान्य केन्द्र भी स्थापित कर लिया। अंग्रेजों को अपनी फौज का बहुत भरोसा था। एक दिन उन्हे पता चला कि यह फौज ही उनके लिए सबसे बड़ा खतरा बन गयी है। मार्क्स ने बताया है कि विद्रोह की मुख्य प्रेरक शक्ति भारत की जनता थी, अंग्रेजो की असह्य गुलामी के खिलाफ वह लड़ने को तैयार हो गयी थी। अंग्रेजों ने कोशिश की थी कि विद्रोह मे आम जनता ने जो भाग लिया था, उस पर परदा डाल दिया जाए। मार्क्स और एंगेल्स ने अंग्रेज शासक वर्ग के झूठे दावे का खण्डन किया; उन्होने इस आंदोलन को प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय विद्रोह कहा, उन्होने इसे अंग्रेजी राज्य के खिलाफ भारतीय जनता की क्रांति कहा। ("The authors described the movement from the first as a national revolt, a revolution of the Indian people against British rule.") उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि विद्रोह में विभिन्न धर्मों और बिरादरियो के लोग शामिल हुए, हिन्दू-मुसलमान मिलकर लड़े, ब्राह्मण, राजपूत और कही-कही सिक्ख भी अंग्रेजो से लड़े। इसके सिवा विभिन्न सामाजिक स्तरों के लोग विद्रोह मे शामिल हुए। यद्यपि ब्रिटिश अखबारों ने विद्रोह में आम जनता के भाग लेने की बात को छिपाने का भरपूर प्रयत्न किया किन्तु मार्क्स ने अपने लेखो में बताया कि भारतीय जनता ने विद्रोह के प्रति सहानुभूति ही नही जाहिर की वरन् हर तरह से उसका समर्थन भी किया। मार्क्स ने असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे आम जनता ने, सबसे अधिक किसानों ने, विद्रोह मे भाग लिया। मार्क्स ने लिखा कि विद्रोह इतने बड़े पैमाने पर हुआ और अंग्रेजों को रसद पाने मे और फौजों के लिए वाहन प्राप्त करने में इतनी कठिनाई हुई, उससे साबित है कि भारतीय किसान उनके शत्रु थे। अंग्रेज जबर्दस्ती अपने राज्य का प्रसार कर रहे थे; जो स्वाधीन प्रदेश बचे थे, उन्हें अपने राज्य में मिला रहे थे, देशी रियासतों की जमीन हड़प रहे थे; यह भी विद्रोह का तात्कालिक कारण था। जिन प्रदेशो को अंग्रेजी राज मे मिलाया गया,

उनकी जनता ने भारी मुसीबतें सहीं। भारत के सम्पत्तिशाली वर्गों का एक भाग बहुत असंतुष्ट हुआ। अंग्रेजों ने राजाओं के साथ जो इकरारनामे किये थे, उन्होंने उनका पालन न किया। वारिस न हो तो गोद लेने का अधिकार खत्म कर दिया। इससे भारतीय भूस्वामी क्रुद्ध हुए। "विद्रोह के समय अंग्रेज-विरोधी भावना भारतीय पूंजीपति वर्ग में भी फैली हुई थी, इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि कलकत्ते में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने युद्ध के लिए ऋण प्राप्त करने की जो योजना चलाई, वह असफल हुई। मार्क्स और एंगेल्स को भारतीय जनता के स्वाधीनता-संग्राम में पूर्ण सहानुभूति थी। वे आशा करते थे कि विद्रोह में भारतीय जनता विजयी होगी। साथ ही वे जानते थे कि विद्रोह की सफलता इस बात पर निर्भर है कि भारतीय जनता के सभी स्तर, विशेष रूप से दक्षिण और मध्य भारत के लोग, उसकी बहुमुखी सहायता करते हैं या नहीं।" पर अनेक कारणों से ऐसा हुआ नहीं। सामन्ती, साम्प्रदायिक आदि अनेक प्रकार की फूट से और विद्रोह का नेतृत्व करने वाले स्थानीय सामन्तों की दगाबाजी से विद्रोह असफल हुआ। केन्द्रबद्ध नेतृत्व का अभाव भी एक कारण था। यही बात विद्रोही दल के भीतर आतरिक संघर्ष के बारे में कही जा सकती है। लडाई का अनुभव न होने से, उपयुक्त सैन्य-शक्ति न होने से सफलता की सम्भावना कम हो गयी। फिर भी विद्रोहियों ने तमाम कठिनाइयों के बावजूद वीरतापूर्वक संघर्ष किया, खास तौर से दिल्ली और लखनऊ में। "यद्यपि वे दिल्ली की रक्षा करने में असफल हुए, फिर भी उन्होंने राष्ट्रीय विद्रोह की पूरी शक्ति प्रदर्शित कर दी और एंगेल्स ने नोट किया कि यह शक्ति नियमित युद्ध में उतना उभरकर सामने नहीं आयी, जितना छापेमार लडाई में सामने आयी।" अनेक लेखों में मार्क्स और एंगेल्स ने 'सभ्य' अंग्रेजी फौज की धज्जियां उड़ा दी, पराजित विद्रोहियों से इस फौज ने कैसा पाशविक व्यवहार किया, शहरों और गांवों को किस तरह लूटा, इसका वर्णन उन्होंने किया है। विद्रोह से औपनिवेशिक व्यवस्था में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन न हुआ किन्तु उससे यह प्रकट हो गया कि भारतीय जनता गुलाम बनाने वालों से तीव्र घृणा करती है और उनसे मुक्त होने के लिए वह दृढ़प्रतिज्ञ है और मुक्त होने की क्षमता भी उसमें है। अंग्रेजों को मजबूरन अपने शासन के कुछ तरीके बदलने पड़े। जिस ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से लोग इतना नाराज थे, उसे उन्होंने खत्म कर दिया।

मार्क्स और एंगेल्स को विश्वास था कि भारतीय जनता औपनिवेशिक दासता से मुक्त होगी। मार्क्स ने लिखा था कि भारत के लोग जब तक विदेशी उत्पीडन समाप्त न करेंगे और अपने देश के मालिक न बन जाएंगे, तब तक अंग्रेजी राज के फलस्वरूप उत्पादक शक्तियों का जो विकास हुआ है, उससे उनकी स्थिति न सुधरेगी। या तो ब्रिटेन में सर्वहारा क्रांति हो या फिर भारतीय जनता स्वाधीनता-संग्राम में विजय प्राप्त करे। भारतीय जनता ने १८५७-५९ के विद्रोह की शताब्दी का समारोह उस समय आयोजित किया जिस समय भारतीय स्वाधीनता के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी पूरी हुई और लम्बे संघर्ष के बाद राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करके भारत स्वतन्त्र राष्ट्रीय विकास के मार्ग पर बढ़

चला।

यहाँ तक भूमिका का सारांश हुआ। इस भूमिका के अलावा मार्क्स के निबन्धों के सम्बन्ध मे कुछ टिप्पणियाँ पुस्तक के अन्त में दी हुई हैं। इनमें एक टिप्पणी (संख्या २८) विशेष महत्वपूर्ण है। १८५७-५६ के विद्रोह को "अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता वाला बड़ा विद्रोह" कहा गया है। आशय यह है कि इस विद्रोह का लक्ष्य राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करना था। इसके बाद बताया गया है कि अंग्रेज़ों से सन् सत्तावन के पहले भी सशस्त्र संघर्ष हुआ था। इस विद्रोह का तात्कालिक कारण औपनिवेशिक शोषण के पाशविक तरीकों के खिलाफ भारतीय जनता के सभी स्तरो का आक्रोश था। इन तरीकों में बेहिसाब टैक्स का भार जो किसानों की लूट जैसा था, कुछ सामन्तों की रियासतों का अपहरण, कर वसूल करने के लिए शारीरिक यातना और आतंक, जनता की परम्परा और रीति-रिवाज की अवज्ञा शामिल है। इस टिप्पणी में खास बात यह कही गयी है कि विद्रोह की तैयारी १८५६ की गर्मियों मे शुरू हुई थी। फिर बताया है कि विद्रोह बगाल सेना की पलटनो मे शुरू हुआ जो उत्तरी भारत में स्थित थी। सिपाहियो के हाथ में उस क्षेत्र के सामरिक महत्त्व के केन्द्र थे, उनके हाथ मे काफी तोपें भी थी। "इस कारण वे विद्रोह का सैनिक पक्ष बनी। सिपाही मुख्यतः ब्राह्मण, राजपूत आदि ऊँची हिन्दू बिरादरियों के थे और मुसलमान भी थे। देशी सेना मूलतः भारतीय किसानो का असतोष व्यक्त कर रही थी। साधारण सिपाही किसानों में से ही आए थे। इसके अतिरिक्त देशी सेना उत्तरी भारत, विशेषकर अवध के सामन्तों के एक भाग का असतोष व्यक्त करती थी। इस भाग से सिपाहियों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस लोकविद्रोह का लक्ष्य विदेशी शासन का तख्ता उलट देना था। यह विद्रोह उत्तरी और मध्य भारत के विशाल क्षेत्रो मे फैल गया, मुख्यतः दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, रुहेलखण्ड, मध्य भारत और बुंदेलखण्ड मे फैला। विद्रोह की मुख्य प्रेरक शक्ति किसान और गरीब शहरी कारीगर थे किन्तु नेतृत्व सामन्तों के हाथ मे था। जब अंग्रेज़ों ने १८५८ मे वादा किया कि सामन्तों की रियासतें बनी रहने दी जाएंगी, तब इनमे लगभग सभी ने विश्वासघात किया।"

मेरी समझ मे यहाँ कुछ बातो पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। १८५८ की घोषणा से कुछ सामन्त प्रभावित हुए थे किन्तु उससे पहले बहादुरशाह के ढुलमुलपन के कारण दिल्लीवाला सामन्त दल विद्रोह से अलग हो चुका था। बहादुरशाह की तुलना मे अवध की बेगम ने बड़ी दृढ़ता का परिचय दिया। इसके अतिरिक्त झांसी की रानी से लेकर अवध में चहलारी के राजा तक अनेक सामन्त अंग्रेज़ों से बड़ी वीरता से लड़े। आखिर तक नानासाहब अंग्रेज़ों के हाथ न आए। विद्रोह मे अनेक सामन्तो की महत्वपूर्ण भूमिका थी किन्तु कुल मिलाकर नेतृत्व उनके हाथ में नही था। उक्त टिप्पणी में पराजय के कारणो की छानबीन करते हुए सामन्ती फूट, धार्मिक, साम्प्रदायिक भेदभाव का उल्लेख किया गया है। कहा गया है कि विद्रोहियो के पास युद्ध चलाने की सामान्य योजना नही थी और केन्द्र-बद्ध नेतृत्व का अभाव था। अंग्रेज़ो ने इस सबसे लाभ उठाया। ये बातें आंशिक

रूप में सही हैं। भारत में दो मुख्य सम्प्रदाय हिन्दुओं और मुसलमानों के हैं और इनमें अभूतपूर्व एकता देखी गयी। इसी तरह जाति-बिरादरी के विचार से इस लड़ाई में निम्न वर्ण के लोगों ने काफी बड़ी संख्या में भाग लिया। पराजय का वास्तविक कारण यह है कि जिस हिन्दी प्रदेश में लड़ाई हुई, उसे चारों ओर से घेर लेने में अंग्रेज़ सफल हुए और इस घिराव में उनका साथ भारतीय सामन्तों ने दिया। इन सामन्तों में हिन्दू-मुसलमान-सिक्ख, तीनों सम्प्रदायों के लोग थे; इन सामन्तों में भारत की अनेक भाषाएं बोलनेवाले अहिन्दी सामन्त भी थे। टिप्पणी में आगे ठीक कहा गया है कि "विद्रोह का दमन करने में अंग्रेज़ों को भारत के अधिकांश सामन्तों की सहायता प्राप्त हुई।" यह स्थापना महत्वपूर्ण है। जिस सामन्तीव्यवस्था की रक्षा करने के नाम पर सन् '५७ की लड़ाई को प्रतिक्रियावादी कहा जाता है, उसके बहुसंख्यक प्रतिनिधि अंग्रेजों की मदद कर रहे थे। वे अंग्रेज़ों की मदद इसलिए न कर रहे थे कि वे अचानक औद्योगिक पूंजीवाद के समर्थक हो गए थे। सामन्त अंग्रेज़ों की सहायता इसलिए कर रहे थे कि वे उनको सामन्तीव्यवस्था का रक्षक मानते थे। अहिन्दी क्षेत्रों के बहुसंख्यक सामन्त १८५८ की घोषणा के बहुत पहले से अंग्रेज़ों का साथ दे रहे थे। इनमें कश्मीर और हैदराबाद जैसे बड़े राज्यों के ही सामन्त नहीं थे, अंग्रेज़ों के कृपापात्र बंगाल के ज़मींदार भी थे।

टिप्पणी में कहा गया है कि फौजी दृष्टि से अंग्रेज़ विद्रोहियों से ज्यादा ताकतवर थे। यह बात सही है। अंग्रेज़ों के पास तोपों के अलावा लम्बी मार करनेवाले एनफील्ड रायफल थे; विद्रोहियों के पास तोपें बहुत कम, ज्यादातर छोटी तोपें और पुराने ढंग की टोपीदार बन्दूकें थीं। जहाँ उन्हें एनफील्ड रायफल मिल गये, वहाँ उन्होंने उनका पूरा उपयोग किया। इन्हीं रायफलों के कारतूसों में चरबी लगाने की अफवाह फैली थी। इस अफवाह की परवाह न करके सिपाही बराबर एनफील्ड रायफल हथियाने के फिराक में रहते थे। टिप्पणी का अंतिम भाग बहुत महत्वपूर्ण है। समूचे भारत पर और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर इस विद्रोह का जो प्रभाव पड़ा, उसका उल्लेख किया गया है। कहा गया है कि प्रत्यक्ष रूप में भारत के अनेक प्रदेश विद्रोह में शामिल न हुए, "पंजाब, बंगाल और दक्षिण भारत में विद्रोह के फैलने को रोकने में अंग्रेज सफल हुए"; फिर भी उसका प्रभाव सारे भारत पर पड़ा, उसने अंग्रेज अधिकारियों को बाध्य किया कि देश की शासनव्यवस्था में सुधार करें। "यह विद्रोह अन्य एशियायी देशों के राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध था। उसने अंग्रेज उपनिवेशवादियों की स्थिति को कमज़ोर किया। खासतौर से अफगानिस्तान, ईरान और कुछ अन्य एशियायी देशों के लिए अंग्रेज़ों ने जो आक्रामक योजनाएं बनायी थीं, वे दर्जनों साल के लिए विलम्बित हुईं।"

१९८०-८१ में भारत, ईरान और अफगानिस्तान में अंग्रेज़ों की वही दुरभिसंधि चल रही है जो १८५७-५८ में चल रही थी। अन्तर यह है कि विभाजित भारत का एक भाग अब अंग्रेजों के लिए सैनिक और राजनीतिक अड्डे का काम दे रहा है। इसके सिवा अंग्रेजों के साथ सहायता के लिए उनके भूतपूर्व उपनिवेशी

अमरीकी भाई भी है। इस प्रसंग मे पुस्तक की एक अन्य टिप्पणी (संख्या २७) उल्लेखनीय है। मार्क्स ने एक निवन्ध मे १८५६-५७ की अंग्रेज-ईरानी लडाई का जिक्र किया था। टिप्पणी मे कहा गया था कि १९वी सदी के मध्य मे अंग्रेज जो आक्रामक उपनिवेशी नीति एशिया में चला रहे थे, उसी की एक कड़ी यह लड़ाई थी। ईरान के शासकों ने हेरात पर कब्जा करना चाहा। सामरिक दृष्टि से यह नगर महत्वपूर्ण था और व्यापारिक मार्गो से सम्वद्ध था। उस समय ईरान को रूस का समर्थन हासिल था और अंग्रेज अफगानिस्तान को प्रोत्साहन दे रहे थे। अक्तूबर १८५६ मे ईरानी फौजों ने हेरात पर अधिकार किया। इसका बहाना लेकर अंग्रेजो ने हथियारबन्द दखलन्दाजी की। इसका उद्देश्य अफगानिस्तान और ईरान दोनो पर अधिकार करना था। ईरान के खिलाफ युद्ध की घोषणा करके उन्होने अपनी फौज हेरात भेजी। "किन्तु इसी समय भारत मे १८५७-५९ का राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन वाला विद्रोह फूट पड़ा और इसने मजबूर होकर अंग्रेजों को जल्दी मे सुलह करनी पड़ी।" मार्च १८५७ में ईरान ने हेरात पर अपना दावा छोड़ दिया और १८६३ मे हेरात को अफगानिस्तान के अमीर के राज्य मे शामिल कर लिया गया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी अंग्रेजी पूजीवाद से अलग कोई संस्था नही थी, यह बात एक टिप्पणी (सख्या ३) मे स्पप्ट की गयी है। १६०० मे कायम की जाने वाली ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी अंग्रेजों की उपनिवेशी नीति का हथियार बनी। अंग्रेज पूजीपतियो ने कम्पनी के नाम पर भारत देश को जीता। उनका यह काम १९वी सदी के मध्य मे पूरा हुआ। १९वी सदी में कम्पनी का व्यापार धीरे-धीरे अपना महत्व खोता गया। १८१३ मे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने कानून बनाया जिससे भारतीय व्यापार पर उसका इजारा खत्म हुआ, केवल चाय और चीनी वाले व्यापार पर उसका इजारा बना रहा। १८३३ मे व्यापार सम्बन्धी जो विशेषाधिकार बचे थे, वे भी उसके हाथ से निकल गए। भारत पर शासन करने का जो इजारा कम्पनी के हाथ मे था, १८५३ मे वह सीमित कर दिया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर इंग्लैण्ड की सरकार का नियन्त्रण वढ गया। उसके डायरेक्टरो को भारत मे अफसर नियुक्त करने का अधिकार न रहा। १८५८ तक भारत के अंग्रेजी राज पर कम्पनी का नियन्त्रण बना रहा, फिर वह भी खत्म कर दिया गया और भारत सीधे इंग्लैण्ड की हुकूमत के अधीन हो गया।

एक टिप्पणी (संख्या ५३) स्पेन के सम्बन्ध मे है। इसका सीधा सम्बन्ध भारत से नही है पर यह भारतीय इतिहास के मार्क्सवादी विवेचको के ध्यान देने योग्य है। नैपोलियन पूंजीवादी फ्रास का प्रतिनिधि था। रूस मे सामन्ती अवशेष मज़बूत थे। यूरुप मे जारशाही रूस को प्रतिक्रियावाद का गढ माना जाता था। नैपोलियन ने इस जारशाही रूस पर हमला किया। युद्ध मे वह पराजित हुआ। सोवियत सघ के इतिहासकार जारशाही रूस की विजय को प्रतिक्रियावाद की विजय नही मानते। फासीसी पूंजीवाद की विजय अनिवार्य थी, सामन्ती रूस की पराजय अनिवार्य थी, यह भी वह नही मानते। रूस के अलावा नैपोलियन ने स्पेन पर भी हमला किया था। स्पेन में भी सामन्ती अवशेष मज़बूत थे। टिप्पणी मे

स्पेन के छापेमारों का उल्लेख है। ये छापेमार "१८०८-१४ में फ्रांसीसी हमलावरों के खिलाफ स्पेन की जनता के राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के अन्तर्गत गुरिल्ला युद्ध में भाग ले रहे थे। किसानों ने दृढ़ता से विजेताओं का मुकाबला किया; वही छापेमारों की मुख्य प्रेरक शक्ति थे।" जिस तरह सोवियत इतिहासकारों ने रूस के नैपोलियन-विरोधी संग्राम को राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम माना है, उसी तरह उन्होंने *नैपोलियन के विरुद्ध स्पेन की जनता के संघर्ष को स्वाधीनता-संग्राम* की संज्ञा दी है। यही दृष्टिकोण हिन्दुस्तानी गदर के विश्लेषण में दिखाई देता है। उल्लेखनीय है कि नैपोलियन-विरोधी रूसी लड़ाई में, सामन्ती नेतृत्व के बावजूद, किसानों ने छापेमार लड़ाई चलायी। इसी तरह की लड़ाई स्पेन के किसानों ने चलाई। छापेमार युद्ध १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम का भी महत्वपूर्ण पक्ष है।

सन् सत्तावन सम्बन्धी विवेचन में मार्क्सवाद-लेनिनवाद-संस्थान द्वारा प्रकाशित उक्त पुस्तक का महत्व अन्यतम है। पुस्तक की भूमिका और टिप्पणियों में मार्क्स एंगेल्स के लेखों का विवेचन रूढ़िवादी ढंग से नहीं किया गया; मार्क्सवाद का सारतत्व ग्रहण करते हुए राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों के संदर्भ में गदर का मूल्याङ्कन किया गया है। पुस्तक की भूमिका में कुछ स्थापनाएं ऐसी हैं जिन पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है। *यह कार्य अगले* किसी अध्याय में पूरा होगा।

### (च) श्रीपाद अमृत डांगे

१९७५ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने जीवन के पचास साल पूरे किये। इस अवसर पर २८ दिसम्बर १९७५ के न्यू ऐज साप्ताहिक में पार्टी के अध्यक्ष डांगे का लेख प्रकाशित हुआ—'भारत और उसकी ऐतिहासिक नियति पर मार्क्स' (Marx on India and her Historical Destiny)। इसमें उन्होंने अंग्रेजी राज कायम होने के बाद जो पुराना सामाजिक ढांचा टूटा, उसका ज़िक्र करते हुए लिखा, "इस प्रक्रिया के खिलाफ जो प्रारम्भिक विद्रोह हुआ, उसने १८५७ की लड़ाई का रूप लिया। इसमें संदेह नहीं कि लोग बड़ी बहादुरी से लड़े और अंग्रेजों ने बड़ी निर्दयता से बदला लिया। लेकिन इस युद्ध की असफलता अनिवार्य थी। नयी परिस्थिति के लिए कोई सामाजिक-राजनीतिक कार्यक्रम न था। केवल बादशाह को फिर गद्दी पर बिठा देने से और पुरानी राज्यसत्ता फिर बहाल कर देने से पतनशील सामन्ती समाज की समस्या का हल होना सम्भव न था, न वे समस्याएँ हल हो सकती थीं जो नयी उत्पादक शक्तियों ने पेश कर दी थीं।"

१८५७ के बाद अर्थतन्त्र का विकास किस तरह हुआ, वर्ग-संघर्ष कैसे फूटे, राजनीतिक पार्टियां कैसे बनीं, इस सबका विश्लेषण करना डांगे का लक्ष्य नहीं है, यह बताने के बाद उन्होंने विशेष ध्यान दो बातों पर दिया है। पहली यह कि, "देशी रियासतों को खत्म करने की जिस नीति पर अंग्रेज १८५७ से पहले चल रहे थे, वह नीति उन्होंने त्याग दी। यह बात भारत में साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी, जनवादी क्रांति के विकास के लिए स्पष्ट रूप से हानिकर थी, उस

विकास में बाधक थी, यद्यपि कुछ देशी राजाओं ने राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों और अपनी रियासतों में सामाजिक और औद्योगिक सुधार करने में मदद दी।"

यदि यह बात सही है तो भारतवासियों को अंग्रेजों का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने यहां आकर हमारी शताब्दियों की तन्द्रा भंग की और प्रगति का नया मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने यहां चाहे जितनी लूटमार की हो, चाहे जितने लाख आदमी भूखों मारे हों, यदि जनवादी क्रांति की तैयारी के लिए यह सब अनिवार्य हो तो उसे सहना चाहिए। १८५७ में पहले जो लोग अंग्रेजों से लड़े, उन्होंने गलती की, जो १८५७ में लड़े, उन्होंने भी गलती की। डलहौजी की नीति अंग्रेजी राज का विस्तार करने की थी। यदि इस नीति के फलस्वरूप ही भारत के लोग अपनी राष्ट्रीय एकता पहचान सकते थे तो उसकी नुक्ता-चीनी व्यर्थ है। मार्क्स की रचनाओं के अध्ययन के स्पष्ट ही दो तरीके हैं। बहुत-सी बातों को लेकर लेनिन और त्रात्स्की में मतभेद था। दोनों ही अपने दृष्टिकोण के समर्थन के लिए मार्क्स का हवाला देते थे। कुछ वैसा ही भेद मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान की ऊपर विवेचित भूमिका तथा डांगे के उक्त लेख में प्रतिपादित विचारों में दिखाई देता है। इस तरह का भेद क्यों उत्पन्न होता है, मार्क्सवादियों के लिए यह समस्या विचारणीय होनी चाहिए।

### (छ) मोहित सेन

मोहित सेन की पुस्तक 'इण्डियन रिवोल्यूशन रिव्यू ऐण्ड पर्स्पैक्टिव' १९७० में प्रकाशित हुई। इसमें १८५७ की लड़ाई पर क्या लिखा गया था, मुझे मालूम नहीं। मैंने इसका दूसरा संस्करण देखा है जो १९७७ में प्रकाशित हुआ। इसमें पुस्तक का नाम बदलकर 'रिवोल्यूशन इन इण्डिया : पाथ ऐण्ड प्रौब्लेम्स' रखा गया है। इसके चौथे अध्याय में भारतीय क्रांति से सम्बन्धित ऐतिहासिक अनुभव की चर्चा है। इस अध्याय में जोशी के संकलन का उल्लेख है किन्तु डांगे के लेख का हवाला नहीं है। यह शायद इसलिए हो कि मूल पुस्तक १९७० में प्रकाशित हुई थी। किन्तु इसमें मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान की भूमिका का भी जिक्र नहीं है जो १९७० में और उससे पहले यहां सुलभ थी। इस अध्याय में मोहित सेन ने बताया है कि भारत में आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता के प्रसार को आत्मसात् करने और उसका विरोध करने के साथ भारतीय क्रांति की शुरुआत होती है। पूंजीवादी सभ्यता का प्रसार उपनिवेशवाद के आगमन के साथ हुआ। मोहित सेन के अनुसार यह उपनिवेशवाद का अपेक्षाकृत अल्प अवधिवाला पुनर्जन्मकारी दौर था, यद्यपि यह भी रक्तपात से भरा हुआ था। आशय यह है कि अंग्रेजों का राज कायम होने पर भारत ने बड़ी मुसीबतें उठायीं पर इस समय अंग्रेजी पूंजीवाद पिछड़े हुए देशों में उथल-पुथल मचाकर उन्हें नई जिन्दगी की तरफ ठेल रहा था। बंगाल में जो पुनर्जागरण हुआ, उसके नेताओं के बारे में मोहित सेन ने लिखा है कि उन्होंने अपने धर्म-निरपेक्ष, बुद्धिवादी और मानवतावादी प्रचार से देश की बहुत बड़ी सेवा की पर वे उपनिवेशवाद के विरोधी न थे और आम जनता से उनका गहरा सम्पर्क न था। ये उनकी ऐतिहासिक सीमाएँ थीं।

मोहित सेन ने जिसे मानवतावाद, बुद्धिवाद आदि कहा है, वह एक तरह का मध्यवर्गीय सुधारवाद है जो अंग्रेजी राज का पोषक है। उसने सतीप्रथा का विरोध किया, अनेक विधवाओं को जल-मरने से बचाया, यह उसने अच्छा काम किया। किन्तु अंग्रेजी नीति के फलस्वरूप लाखों आदमी बंगाल में ही भूख से मरे, उनकी अकाल मृत्यु के बारे में यह मानवतावाद चुप रहा। जब मनुष्य जीवित न बचेंगे, तब समाजसुधार किसके लिए होगा ? बीसवीं सदी में भी भारत के अनेक [illegible]

[illegible] ध्यान खींचते रहे है। यही काम बंगाल के उक्त पुनर्जागरण ने किया था। मोहित सेन ने ठीक लिखा है कि जब भारतीय किसानों ने फौजी वर्दी पहने हुए १८५७ में स्वाधीनता का पहला संग्राम शुरू किया तब उस जागरण के प्रतिनिधियों ने अपनी नकारात्मक प्रतिक्रिया दिखाई। "फिर भी इससे पहले जो कुछ हुआ था और आगे १९१९-२० के उभार तक जो कुछ होने वाला था, उसकी तुलना में यह विद्रोह वास्तविक अर्थ में अधिक क्रांतिकारी था। उसे क्रांति-विरोधी या सामन्ती प्रतिगामिता कहना, जैसा कि ऐम. ऐन. राय और रजनी पाम दत्त से लेकर अब तक कुछ प्रसिद्ध मार्क्सवादियों ने किया है, नितान्त अनैतिहासिक कार्य है। मार्क्स और एंगेल्स ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने उसे भारतीय स्वाधीनता के प्रथम संग्राम के रूप में पहचाना था और यही उसका वास्तविक स्वरूप था।"

इस प्रसंग में ऐम. ऐन. राय का नाम लेकर मोहित सेन ने प्रशंसनीय कार्य किया है। राय ने त्रात्स्की का अनुसरण करते हुए मार्क्सवाद की जो व्याख्या की थी, उससे यही परिणाम निकल सकता था कि सन् '५७ की लड़ाई प्रतिक्रियावादियों का विद्रोह है। मोहित सेन ने तल्मीज़ खल्दून के लेख के आधार पर विद्रोहियों के कोर्ट में शासन के आधुनिक सिद्धान्तों की झलक देखकर लिखा है कि जाग्रत और संगठित किसानों में आधुनिक चेतना की किरणें फूट रही थीं। उन्होंने ठीक लिखा है कि शहरी बुद्धिजीवी एकमात्र बुद्धिजीवी नहीं थे, और न आधुनिक चेतना उन्हीं में केन्द्रित थी। इसके साथ ही मोहित सेन ने डा. अशरफ का अनुसरण करते हुए वहाबी आंदोलन को विद्रोहियों की विचारधारा का मुख्य स्रोत मान लिया है। तल्मीज़ खल्दून और जोशी की स्थापनाएँ दोहराते हुए उन्होंने व्यापक कार्यक्रम के अभाव की चर्चा की है और माना है कि सामन्ती नेतृत्व पर विद्रोही बहुत निर्भर थे। इसीलिए फूट, संगठन की कमी, स्थानीयता, छापेमार लड़ाई चलाने में असफलता और सामन्ती विश्वासघात की काट करने में असफलता, ये सब बातें पैदा हुई। मोहित सेन ने इस बात का उल्लेख नहीं किया कि भारत के अधिकांश सामन्त अंग्रेजों के साथ थे और उनकी सहायता से विद्रोह के मुख्य क्षेत्र को घेर लेने में अंग्रेज सफल हुए। सारे देश में विद्रोह नहीं फैला, इसे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर न देखना चाहिए, यह मानते हुए मोहित सेन कहते हैं कि किसान अब पुरानपंथी बागी न रह गया था, फिर भी वह ऐसी स्वाधीन सत्ता स्थापित न कर सका और भावी वैकल्पिक व्यवस्था को ऐसे आकर्षक ढंग से प्रस्तुत न कर सका जिससे "पश्चिम का औद्योगिक उपनिवेशवाद ध्वस्त हो

जाता। किसान के पास कोई आधुनिक नेता नहीं था, कोई आधुनिक सहयोगी नहीं था और इस अभाव की पूर्ति आज तक नहीं हुई।" (पृष्ठ ६७-६८)। तात्पर्य यह कि १८५७ में अंग्रेजी पूंजीवाद का मुकाबला करने की शक्ति भारतीय किसानों में न थी और एक तरह से उनकी हार अनिवार्य थी। यहां अमरीकी उपनिवेशों के स्वाधीनता-संग्राम का स्मरण किया जा सकता है। अमरीकी उपनिवेशों में औद्योगिक क्रांति न हुई थी, इंग्लैण्ड में हुई थी। फिर भी इन उपनिवेशों ने इंग्लैण्ड को हरा दिया। अमरीकी उपनिवेशों के गोरे निवासी दास-प्रथा के प्रबल समर्थक थे। अंग्रेजों ने दासों को आज़ाद कर देने की आकर्षक योजना का खूब प्रचार किया था। फिर भी उन्हें सफलता न मिली। रूस की ज़ार-शाही ने नैपोलियन को हराया, और ज़ारशाही रूस में अर्ध दासप्रथा का बोल-बाला था। नैपोलियन अर्ध दासों को मुक्त करने की बात कहता था, फिर भी रूस में हारा।

प्रश्न वैकल्पिक व्यवस्था को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने का न था। प्रश्न था अंग्रेज़ी राज में होनेवाली तबाही को रोकने का। यह तबाही अनिवार्य थी, यह कहना अंग्रेज़ी राज की प्रगतिशीलता को स्वीकार करना है। साथ ही गदर को स्वाधीनता संग्राम कहना विरोधी स्थापना को अंगीकार करना है। दोनों बातें एक साथ सही नहीं हो सकतीं।

### (ज) सोहनसिंह जोश

डांगे के उक्त लेख के लगभग दो वर्ष बाद कम्युनिस्ट नेता सोहनसिंह जोश की पुस्तक '*हिन्दुस्तान गदर पार्टी, ए शोर्ट हिस्ट्री*' (*पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली*) १९७७ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के आरम्भ में भारत के स्वाधीनता-आंदोलन पर गदर के प्रभाव का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा, "१८५७ का राष्ट्रीय विद्रोह, भारतीय जनता का विद्रोह (जिसे ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने इण्डियन म्युटिनी कहकर बदनाम किया, हमारे देश के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में मार्गस्तम्भ था। उसे निर्दयता और बर्बरता से दबाया गया⋯लोग बहुत दिनों तक दबे रहे पर वे विद्रोह करने वाली फौजों के वीरतापूर्ण कार्य कभी नहीं भूले। हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता, विद्रोह आरम्भ होने से पहले किया गया संगठन, लड़ने वाले विद्रोहियों की दृढ़ता, विश्वासघात की बहुत थोड़ी घटनाएं, इन सबसे विद्रोहियों की जीवट का पता चलता है, और ज्ञात होता है कि आंदोलन राष्ट्रीय और राजनीतिक था। झांसी की रानी, कुंवरसिंह और तात्या टोपे जैसे विद्रोह के कुछ नेताओं के नामों से भारतीय जनता अच्छी तरह परिचित हो गयी। बेशक, भारतीय स्वाधीनता का प्रथम संग्राम बर्बरतापूर्वक दबा दिया गया। लेकिन अंग्रेज़ शासकों के विरुद्ध इसमें जो आक्रोश और घृणा का जन्म हुआ, वह बाद को बराबर दहकता रहा।⋯१८५७ के विद्रोह की पराजय से दोनों पक्षों ने सबक सीखे। अंग्रेज शासक जीत गये थे पर जीत पर खुशी मनाते समय सावधान थे। विद्रोह से उनका राजसिंहासन बुरी तरह हिल उठा था और भारत में अपने भावी शासन के प्रति उन्हें चिन्ता हो गयी थी। यही कारण है कि १८५८ में

रानी ने जो घोषणा की, उसमें मेलमिलाप की वात थी। यही कारण है कि
जब भी कोई राजनीतिक आंदोलन उभरता था, वे चौकन्ने हो जाते थे।"
अंग्रेज शासकों की सतर्कता की चर्चा करने के बाद सोहनसिंह जोश ने
ा, "सारे भारत में गदर विवाद और वार्तालाप का खास विषय बन गया।
छड़े हुए इलाकों में भी उन दिनों की प्रचलित बहुत-सी कहानियाँ और अफवाहें
गयी। क्या बड़े क्या छोटे, सभी ने करारा झटका खाया था। गदर से
ोहियों के प्रति सहानुभूति जागी और जब वे सफल न हुए तो लोगों को दुःख
ा। स्वतन्त्रता के लिए भारत की आकांक्षाओं का साकार रूप था गदर।
द्धमान नौजवानों में उसने नई चेतना जगायी। राष्ट्रीय भावना की जड़ मजबूत
और वह पनपने लगी···कुल मिलाकर १८५७ का विद्रोह भारतीय राजनीति
इतिहास की सबसे बड़ी घटना था। उसमें लोगों ने जो बेढब साहस दिखाया,
असीम था। हथियारबंद लड़ाई के ज़रिये उन्होंने अंग्रेजों को खदेड़कर दिलेरी
राज्यसत्ता पर कब्ज़ा करने की कोशिश की और जमकर अंग्रेजी फौज का
ाबला किया। अंग्रेज शासक इस देश में लोगों पर आमतौर से जो रौब जमाए
उसे करारा धक्का लगा। हिन्दुस्तानी फौज पर अंग्रेजों का विश्वास बुरी तरह
मगाया। भावी संघर्षों में भारत के राष्ट्रीय जनवादी क्रांतिकारी, प्रेरणा के
ए, १८५७ के विद्रोह की ओर देखते थे, वहाँ से साहस और स्फूर्ति पाते थे।
स संघर्ष में विद्रोहियों ने जो आत्मबलिदान किया, भारत के नौजवानों के लिए
ह ज्वलन्त आदर्श बन गया। भारत के स्वाधीनता-आंदोलन में उसकी भूमिका
ो कम करके देखना अंग्रेजों के झूठे प्रचार का शिकार होना है।" सैनिकों और
सानों के क्रांतिकारी आन्दोलनों का अध्ययन करने वाले सोहनसिंह जोश का
ष्टिकोण जोशी और डांगे के दृष्टिकोण से भिन्न है। इस भिन्नता का कारण
ार्क्सवाद की समझ है जो दो तरह की है। इसकी चर्चा पुस्तक के दूसरे खंड में
ोगी।

३

# लाला हरदयाल, जयप्रकाश नारायण और जवाहरलाल नेहरू तथा मार्क्सवाद

## १. लाला हरदयाल

गदर पार्टी के प्रमुख सिद्धान्तकार और प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लाला हरदयाल ने मार्क्स पर अपना निबन्ध १९१२ मे लिखा था। कार्ल मार्क्स : ए माडर्न रिशि नाम का यह निबन्ध कलकत्ते की माडर्न रिव्यू पत्रिका के मार्च १९१२ के अंक मे प्रकाशित हुआ था। इसे पूरनचन्द जोशी और के. दामोदरन् ने मार्क्स कम्स टु इण्डिया नामक पुस्तक मे प्रकाशित किया है। प्रकाशक है मनोहर बुक सर्विस, दिल्ली। जोशी और दामोदरन् द्वारा सम्पादित यह पुस्तक १९७५ मे प्रकाशित हुई थी। इसका हिन्दी अनुवाद व्रजमोहन वर्मा ने किया था और उसे राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली ने प्रकाशित किया था। अनुवाद मे प्रकाशन का समय नही लिखा। अनुवादित पुस्तक का नाम क्रान्तिकारी ऋषि कार्ल मार्क्स है। अनुवाद के साथ जो वक्तव्य प्रकाशित है, उसके साथ लेखक का नाम नही दिया गया। सम्भवतः यह बनारसीदास चतुर्वेदी का लिखा हुआ है क्योंकि इसके पहले ही वाक्य मे भारत के महान् सेवक दीनबन्धु सी. एफ. ऐण्ड्रूज का उद्धरण है।

वक्तव्य मे बताया गया है कि लाला हरदयाल की जीवनधारा को मार्क्स ने 'बेहद प्रभावित किया'। यह बात सही नही है। बेहद की जगह वह काफी प्रभावित भी होते तो वह दूसरे ढग के क्रान्तिकारी होते। वक्तव्य मे यह बात अंशतः सही लिखी गई है, "यद्यपि इस सक्षिप्त जीवनी मे कार्ल मार्क्स के दर्शन का विश्लेषणात्मक विवेचन नही हुआ है, लेखक का यह उद्देश्य भी न था, तथापि मार्क्स के दर्शन को समझने मे इससे काफी हद तक सहायता मिलती है।" वक्तव्य मे एक अन्य वाक्य दिलचस्प है। इसमें मार्क्स के लिए कहा गया है कि उन्होने "एक ऐसी रक्तहीन क्रान्ति का सूत्रपात किया जिससे ससारके करोड़ों मनुष्यों की जीवनधारा का प्रवाह बदल गया।" स्वय लाला हरदयाल रक्तहीन क्रान्ति के समर्थक न थे।

नहीं है जो संसार त्याग कर वन में निवास करते हैं। एक साधना वह भी है जिसमें मनुष्य संसार को सुखी बनाने के लिए जीवन भर परिश्रम करता है। इसीलिए उन्होंने मार्क्स को 'आधुनिक' ऋषि कहा है। इस भाग में उन्होंने भाववादी दृष्टिकोण की तीखी आलोचना की है। जो लोग दुख और गरीबी को मनुष्य की उन्नति का साधन मानते है, उनको उन्होंने जोरदार शब्दों में निन्दा की है। जो दार्शनिक भौतिक ससार से अलग हटकर अपनी कल्पना में आध्यात्मिक ससार रच लेते है, उनकी उन्होंने भर्त्सना की है। उनके निबन्ध का यह अंश अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहां वह वस्तुतः बुद्धिवाद और भौतिकवाद का पक्ष लेकर भाववाद और अध्यात्मवाद का खण्डन करते दिखाई देते है। यह अश उस समय लिखा गया है जिस समय वेदान्त और अध्यात्मवाद भारत की श्रेष्ठ उपलब्धि माने जा रहे है। हरदयाल ने मार्क्स के जिन सिद्धान्तो को अस्वीकार किया है, उनका सम्बन्ध अर्थशास्त्र और इतिहास से है, भौतिकवाद और दर्शनशास्त्र से नहीं।

निबन्ध के दूसरे भाग मे उन्होंने मार्क्स की जीवनकथा लिखी है। मार्क्स की इच्छाशक्ति, उनकी कष्टकथा, उनके विकट संघर्ष से वह अभिभूत है। उनके जीवन प्रसंग मे उन्होने उस अन्तरराष्ट्रीय श्रमिक संघ की उपलब्धि की भी चर्चा की है जिसकी स्थापना मार्क्स ने की थी। यह चर्चा भी महत्वपूर्ण है। अन्तरराष्ट्रीय श्रमिक सघ की सारी कार्यवाही मार्क्स के आर्थिक राजनीतिक चिन्तन से अभिन्न रूप मे जुड़ी हुई थी। लाला हरदयाल उस चिन्तन का महत्व अस्वीकार करते है किन्तु उससे प्रेरित होकर श्रमिक आन्दोलन को जो सफलता मिली, उसे वह उत्साह से स्वीकार करते है।

निबन्ध के तीसरे भाग मे वह मार्क्स के सिद्धान्तों की चर्चा करते है। मार्क्स की जीवनी निबन्ध का एक तिहाई भाग है, उससे पहले का भाग भारतीय पाठकों के लिए लिखी हुई भूमिका के समान है। अन्तिम अंश मे उन्होंने मार्क्स के सिद्धान्तो का विवरण दिया है। यह अश भी महत्वपूर्ण है, मार्क्सवाद को समझने के लिए नहीं वरन् लाला हरदयाल को समझने के लिए। वह अपने पुराने क्रान्तिकारी मार्ग से हटकर नये क्रान्तिकारी जनआन्दोलन के संगठनकर्ता क्यो नहीं बन पाये, इसकी जानकारी निबन्ध के तीसरे भाग से होगी।

अनेक क्रान्तिकारियो के समान लाला हरदयाल भी भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन से प्रेरित होकर मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुए थे। १९१२ में स्वाधीनता आन्दोलन बहुत कुछ असंगठित था किन्तु उसका अभाव नहीं था। देश कैसे स्वाधीन हो, क्या इस काम मे मार्क्स की विचारधारा सहायक हो सकती है, ये प्रश्न लाला हरदयाल को मार्क्स की ओर देखने की प्रेरणा देते है। निबन्ध के दूसरे पैराग्राफ में लिखा है कि भारत का भाग्य मार्क्स के नाम से एक व्यक्तिगत कारण से जुड़ा हुआ है। वह कारण यह है कि फ्रांसीसी पत्रकार जां लोगुए भारतीय

अधिकारों और आशाओं के प्रबल समर्थक हैं। वह "पैरिस के अपने ल्यूमानिते दैनिक पत्र में नये भारत की मांगों का सदा समर्थन करते हैं।" (पृष्ठ ४७) लोंगुए कार्ल मार्क्स की बड़ी लड़की के पुत्र थे। ल्यूमानिते फ्रांस के क्रान्तिकारी श्रमिकों का पत्र रहा है। फ्रांस के क्रान्तिकारी श्रमिक, वहां के मार्क्सवादी विचारक भारतीय स्वाधीनता के लक्ष्य का समर्थन करते हैं, यह बात देशभक्त लाला हरदयाल के मर्म को छूती है। कहते हैं कि "तरुण भारत अपने उद्देश्य के प्रति की हुई थी लोंगुए की सेवाओं का पूर्ण मूल्य नहीं पहचानता किन्तु समय सबकुछ प्रकट कर देगा। ऐसा कुछ भी छिपा हुआ नहीं है जो जनता के सामने प्रकट न किया जायगा।" (पृष्ठ ४७-४८)। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि वह मार्क्स पर अपना निबन्ध किसी बौद्धिक कुतूहल के कारण लिखने नहीं चले। वह भारतीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहे हैं। और इस संघर्ष के दौरान उन्हें भाववादी चिन्तन से असन्तोष होता है, इसलिए वह मार्क्स की ओर बढ़ते हैं।

निबन्ध के आरम्भ में वह कहते हैं कि मार्क्स यूरुप के सन्त हैं, ऋषि हैं, पाश्चात्य देशों के लाखों स्त्री-पुरुष श्रद्धा में उनका नाम लेते हैं। अपने निबन्ध से वह बताना चाहते हैं कि सन्त होने का अर्थ धार्मिक सूत्र दोहराना और भजन गाना ही नहीं है। धूप में अपने चारों ओर आग जलाकर बैठने से ही तपस्या नहीं होती। उनके निबन्ध में मनुष्य जाति की खुशहाली के विवेचन की ओर हम बढ़ेंगे, हमें सोचने के लिए विवश होना पड़ेगा। यह निबन्ध बतायेगा कि "ज्ञान की अपनी खोज में हम स्वयं को कणाद और कपिल, शंकराचार्य और रामानुज की रचनाओं तक सीमित न रखें वरन् अपनी सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक और राजनीतिक कठिनाइयों में मार्ग-दर्शन के लिए महान् आधुनिक विचारकों की ओर ध्यान दें।" (पृष्ठ ४७)। जिन बौद्धिक और राजनीतिक कठिनाइयों की ओर उन्होंने संकेत किया है, उनमें सबसे पहले और सबसे विकट राजनीतिक पराधीनता की कठिनाई है। इस कठिनाई का समाधान यह है कि अंग्रेजी राज समाप्त किया जाय। इसके लिए राजनीतिक संघर्ष आवश्यक है। किन्तु कुछ ज्ञानी कहते हैं कि संसार मिथ्या है, संसार दुख का कारण है, यहां राजा भी दुखी है प्रजा भी दुखी है, मनुष्य जब तक जीता है तब तक वह पराधीन है, मुक्ति तो माया का फंदा कटने पर मिलेगी। लाला हरदयाल कहते हैं, यूनान, रोम, चीन, ईरान, चाहे जिस प्राचीन' देश को लो, समाज के बहुसंख्यक लोग गरीबी में दिन बिताते रहे हैं। "भारत के दार्शनिकों ने इस समस्या पर विचार नहीं किया। वे किसान का पैदा किया हुआ अनाज खाते रहे और फिर उसी को दोष देने लगे कि वह खेत की फसल और पशुओं जैसे स्थूल भौतिक पदार्थों के मोह में पड़ा है। उन्होंने यह नहीं देखा कि सभी दर्शन अन्ततः खुराक पर निर्भर हैं। हिन्दू दर्शन में जो तीव्र बौद्धिक दृष्टि मिलती है, उसे देखते ऐसी तर्कविरोधी बात हमें आश्चर्य में डालती है। जो दर्शन अर्थशास्त्र का विवेचन नहीं करता, वह उस मीनार की तरह है जिसकी नींव नहीं है। कारण स्पष्ट है कि पैदा होने के बाद आदमी खायेगा और बड़ा होगा, तब वह मुक्ति, निर्वाण, उद्धार, पूर्णता आदि ऐसे किसी लक्ष्य की बात सोच सकता है जो धर्म में कही गई हो। आधुनिक युरोप ने यह सत्य पहचाना है और सारा

संसार मार्क्स के प्रति अत्यन्त ऋणी है कि मानव इतिहास में उन्होंने अर्थशास्त्र के बुनियादी महत्व की ओर ध्यान दिलाया है।" (पृष्ठ ४६-५०)

चिन्तन की कौन सी भूमि से हटकर लाला हरदयाल किस दिशा की ओर बढ़ना चाहते है, यह बात ऊपर के उल्लेख से स्पष्ट हो जाती है। जिनके पास धन है उन्हे दयालु होना चाहिए, दान देना चाहिए, जो निर्धन है, उन्हे सब्र करना चाहिए, जो लोक मे नही मिला उसे परलोक मे मिलने की साधना करनी चाहिए, क्या इस पुरानी शिक्षा से काम न चलेगा? हरदयाल कहते है, प्राचीन-काल में लोगों को गरीबी के गोरखधन्धे से बाहर निकलने का मार्ग न सूझता था। इसलिए वे धनीजनो से कहते थे दान करो, निर्धनों से कहते थे, सब्र करो; इस लोक में तुमने गरीवी का दुख देखा है तो इसका खामियाजा परलोक में पूरा हो जायेगा। ईसा मसीह ने धनी-निर्धन का भेद देखा, कहा कि धनी नरक भोगेगा, निर्धन को ईश्वर अपनायेगा। इससे अधिक वह कुछ न कर सके। "इसके साथ ही प्राचीन दार्शनिकों ने, निष्ठुरतापूर्वक, भूखे रहने और संसार त्यागने का उपदेश दिया। सम्पदा क्षणभंगुर है, उसका वितरण न्याय और समानता से नही हो सकता; राजाओं के लोभ और चोरों की चतुराई से उसकी रक्षा नही की जा सकती। इसलिए उन्होंने यह वीरतापूर्ण उपाय निकाला कि इसकी जड़ ही काट दी। किन्तु व्यवहार मे वह अपने उपदेश के अनुसार आचरण न कर सके क्योंकि उनके सिद्धान्त का एक ही तर्कसगत परिणाम था कि निरपवाद रूप से सभी लोग आत्महत्या कर लें। उन्होंने जोरो से सभी आर्थिक काम-काज की निंदा की किन्तु दूसरो के अर्थ-सम्बन्धी श्रम के सहारे जीते रहे। मैदान से मूर्खतापूर्वक भागने की असम्भव क्रिया को उन्होने बहुत बड़ी विजय समझ लिया। जो तपस्वी थे, दिन मे अन्न का एक दाना खाते थे, उनके लिए भी जरूरी था कि अन्न उपजाने वालो के प्रति अपनी घृणा व्यक्त करने के लिए जीते रहे और जीते रहने के लिए थोड़ा बहुत अन्न खाते रहें। इस प्रकार प्राचीन संसार रोग का निदान न कर सका और मूर्खतापूर्ण उपाय बताता रहा। भौतिक परिस्थितियो की असमानता की समस्या ने उसे परेशानी में डाल दिया और वह जल्दी में भाग खड़ा हुआ। कुछ ने यह बताने का प्रयास किया कि ये सब बुराइयां पूर्वजन्म का फल हैं। किन्तु आधुनिक संसार इसकी अपेक्षा कुछ कम अस्पष्ट व्याख्या चाहता है। भागने के बदले वह समस्या का सीधा सामना करता है। कोई भी सन्त या दार्शनिक केवल विचारो के सहारे या दैवी कृपा के बल पर जीता नही रह सकता। आदमी को खाने को न मिले और वह कमजोर हो, तो वह चाहे जितना बड़ा धर्मात्मा हो, वह रोग और महामारी से न बचेगा। आध्यात्मिक दर्शन के पैर मिट्टी के बने हैं जैसे कि नेबुचदनज़र की स्वर्णमूर्ति के थे। शरीर की प्राकृतिक आवश्यकताएँ पापी और धर्मात्मा दोनों को समान रूप से परेशान करती है। प्रोटीन, कारबोहाइड्रेट और पानी की एक निश्चित मात्रा चौबीस घण्टों मे न मिले तो वेदान्त भी पुष्पित और पल्लवित नहीं हो सकता। किन्तु दाल-रोटी से मोक्ष और मुक्ति की बात जोड़ना कैसी घटिया दुनियादारी है! बड़े शर्म की बात है। लेकिन क्या किया जाये? जो हक़ीक़त है वह है। मैंने किसी धर्मात्मा या दार्शनिक के बारे में नही पढ़ा कि वह

तर्कशास्त्र या हवा के सहारे जीता रहा हो। इस प्रकार गरीबी की चिरन्तन समस्या के पुराने समाधान एकदम नाकाफी और हास्यास्पद थे। अब देखें कि आधुनिक ससार इस समस्या से कैसे निपटता है। मानवजाति के ज्ञान-कोष मे इस क्षेत्र से सम्बन्धित कार्ल मार्क्स की जो देन है, हम उसका अध्ययन करें।" (पृष्ठ ५१-५२)

परलोकवाद, भाववाद, पूर्वजन्म और कर्मफल आदि की आलोचना लाला हरदयाल के लिए इसलिए आवश्यक हुई कि इस तरह के विचार भौतिक समस्याओं को भौतिक ढंग से सुलझाने मे बाधक होते थे। मार्क्स के सिद्धान्तों का अध्ययन क्यों जरूरी है, यह बताने के लिए उन्होंने आवश्यक समझा कि यह स्पष्ट कर दें कि प्राचीन संसार के दार्शनिक जिस समस्या का समाधान न कर पाये, उसी का समाधान मार्क्स ने प्रस्तुत किया है। यह समस्या सामाजिक विषमता की है, गरीबी की है, पुरानी है और बनी हुई है। इसका यह अर्थ नही है कि मार्क्स और लाला हरदयाल के युग मे पुराना संसार ज्यो का त्यों बना हुआ है। आधुनिक काल मे औद्योगिक विकास के साथ-साथ सामाजिक विषमता और भी बढ़ गयी है। उद्योग-धन्धों से सम्पत्ति अर्जित करने मे बड़ी प्रगति हुई किन्तु मानवजाति के विशाल भाग को कोई लाभ नही हुआ। मार्क्स ने उद्योग-धन्धों से उत्पन्न अपने युग की विशेष समस्या का समाधान प्रस्तुत किया।

लाला हरदयाल कहते है कि "खेती की प्रगति से जब खत्तियों मे अनाज भरा था, तब भी मानवजाति गरीबी की समस्या से विचलित थी। वैसे ही अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों मे जो बड़े मार्के के आविष्कार हुए, उनसे मनुष्य की उत्पादक शक्ति सौ गुना बढ़ गयी है, प्रकृति अब उसकी दासी के समान है, फिर भी अधिकांश मानवता को खाने के लिए कुछ सूखे टुकड़े है और पहनने के लिए चीथड़े। दुनिया मे जब इतनी अमीरी है तब जनता गरीब क्यों है ? यह समस्या थी जिसे आधुनिक यूरुप के लिए मार्क्स ने हल करना चाहा था। पुराने ज़माने के कल्पनालोकवादियों ने कभी सपने मे भी न सोचा था कि खेती और उद्योग-धन्धों मे ऐसी तरक्की होगी जैसी कि विज्ञान ने कर दिखाई है। फिर आधुनिक यूरुप मे गरीबी क्यो रहे ? किन्तु मार्क्स के समय मे यूरुप की जनता घोर दरिद्रता के दल-दल में फँसी हुई थी और उसकी अब भी हालत वही है क्योकि मार्क्स का समय हमारे समय से दूर नही है। १८१८ मे उनका जन्म हुआ था और १८८३ में उनकी मृत्यु हुई थी।" (पृष्ठ ५०)।

पूँजीवाद ने मनुष्य की उत्पादक शक्ति को सौ गुना बढ़ा दिया है, वह अब इतनी सम्पदा अर्जित कर सका है जितनी कल्पनालोक रचनेवालों को सपने मे भी दिखाई न दी थी। उत्पादन मे पूँजीवादी क्रान्ति का यह सारतत्व है। किन्तु भुख-मरी और मुफलिसी मे कमी नहीं हुई, बहुत बड़े पैमाने पर इनमें बढ़ती हुई। एक ओर अथाह धन-सम्पदा, दूसरी ओर वैसी ही बेहिसाब गरीबी, पूंजीवाद ने जो सामाजिक विषमता पैदा की, उसका यह सारतत्व है। मार्क्स ने इस विषमता को दूर करने का उपाय बताया। लाला हरदयाल जिस समय अपना यह निबन्ध लिख रहे थे, उस समय मार्क्स का देहान्त हुए तीस वर्ष भी न हुए थे। स्वभावतः वह

अपने और मार्क्स के बीच बहुत बड़ा फासला नही देखते। एंगेल्स का देहान्त हुए और भी कम समय हुआ था, लगभग १७ साल। इसलिए मार्क्स और लाला हरदयाल का युग एक है, मार्क्स पुरानी पीढ़ी के है, हरदयाल नयी पीढ़ी के।

गरीबी की समस्या लाला हरदयाल के लिए अर्थशास्त्र की कोई अमूर्त समस्या नही है। वह एक जीवन्त समस्या है जिसे उन्होने अपनी आँखों देखा है, भारत मे देखा है, यूरुप मे देखा है और अमरीका में देखा है। वह गरीबी का वर्णन करते हैं एक यथार्थवादी प्रत्यक्ष दर्शक के समान। उनके विचारो मे चाहे जो उलझन हो, इस बारे मे जरा भी सन्देह नही है कि उन्हे संसार के गरीबो से गहरी सहानुभूति है। यह सहानुभूति पूर्व और पश्चिम मे भेद नही करती, उसका आधार अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे की भावना है। उन्होंने अपना निबन्ध भारत के नौजवानो को लक्ष्य करके लिखा है, उनमे क्रान्तिकारी भावना जगाने के उद्देश्य से लिखा है। भारतीय युवकों को अन्तरराष्ट्रीयता की शिक्षा देनेवाले वह प्रथम क्रान्तिकारी विचारक है।

भारत के शिक्षित जनो को यूरुप की आम जनता की मुफलिसी का हाल सुनाते हुए कहते है कि मुगल बादशाहों ने दिल्ली के महलों की दीवालो पर लिखा दिया था कि बहिश्त कही है तो यही है, और पैरिस और न्यूयार्क की मजदूर-बस्तियो के बीच चलते हुए लाला हरदयाल ने कहा, नरक कही है तो यही है। नौजवानों को लक्ष्य करके कहते हैं, "भारत के नौजवान इस बात का जवाब दें कि ऐंड्र कारनेगी जैसा एक आदमी तीन करोड़ साठ लाख पाउंड दान कर सकता है किन्तु न्यूयार्क मे जो ४४ आदमी अभी कल आवारा होने के अपराध मे पकड़े गये थे, उनके पास केवल पांच रुपये की सारी दौलत थी। ऐसा क्यों है कि इंग्लैंड दुनिया का सबसे अमीर देश है लेकिन वहा की एकतिहाई जनता साल-दर-साल भुखमरी मे जिन्दगी बिताती है? ऐसा क्यों है कि अंग्रेजी आयात और निर्यात व्यापार बराबर बढ़ता जाता है लेकिन हर साल जाड़े मे बहुत से मजदूर अपने बच्चों का गला काट देते हैं और आत्महत्या कर लेते हैं क्योंकि उनके पास खाने को कुछ नही है? ऐसा क्यों है कि निठल्ले अमीर विस्क्रा, अल्जीरिया और खारतूम जैसी दूर की जगहो मे छुट्टियां बिताने जाते हैं किन्तु ठीक खुराक और साफ हवा न मिलने से हजारो गरीब तपेदिक से जान गँवाते है? ऐसा क्यो है कि इंग्लैंड के विशाल साम्राज्य मे सूरज कभी नही डूबता और वह उसकी गन्दी मजदूर-बस्तियो पर भी नही डूबता? इन सब सवालो ने नौजवान मार्क्स के दिमाग को दिन-रात परेशान किया था। उन्होंने तय किया था कि जो गरीबी तमाम रोगों का घर है, जो मनुष्य को भीतर से तोड़ देती है, उसे भोगने वाले यूरुप के मजदूरों का उद्धार करेंगे और इसके लिए वह अपने उज्ज्वल भविष्य और जीवन का भी बलिदान करेंगे।" (पृष्ठ ५०-५१)।

पूंजीवाद विश्वव्यापी व्यवस्था है, इसलिए मार्क्स के सिद्धान्तों का महत्व किसी एक देश या महाद्वीप के लिए नही है, उनका महत्व सारे संसार के लिए है। मजदूरों की चर्चा करते हुए वह उन श्रमिकों को भी याद करते है जो "इंग्लैंड या भारत की खानों से तमाम कोयला बाहर निकालते हैं", वह कहते हैं कि जो मेहनत

सबसे ज्यादा सख्त है, सबसे ज्यादा खतरनाक है, उसी के लिए "दुनिया के सभी देशों में सबसे कम पगार दी जाती है।" (पृष्ठ ५१, 'सभी' पर ज़ोर लाला हरदयाल का है)।

लाला हरदयाल ने मार्क्स के जीवन के बारे में जो कुछ लिखा है, वह इस विश्वव्यापी दरिद्रता को ध्यान में रखकर लिखा है। मार्क्स ने अपने जीवन में दरिद्रता के कष्ट भोगे, उन कष्टों का विचार करके लाला हरदयाल द्रवित होते हैं। मार्क्स को देशनिकाला मिला। वह फ्रांस आये और उन लोगों से मिले जो कहते थे कि यूरुप का मज़दूर वर्ग साम्यवाद द्वारा गरीबी से मुक्ति पायेगा। राजनीतिक उदारतावाद काफी नहीं है; उसके कार्यक्रम में किसानों और मज़दूरों के त्राण के लिए आर्थिक उपाय भी होने चाहिए। मार्क्स ने तय किया कि वह अर्थशास्त्र और फ्रांसीसी साम्यवादियों के सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे। (पृष्ठ ५४-५५)। उन्होंने साम्यवादी संगठनों से सम्पर्क स्थापित किया, स्वयं कम्युनिस्ट लीग की स्थापना की और उसके लिए अपना प्रसिद्ध कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र तैयार किया। कोलोन के एक राजनीतिक सम्मेलन में अमरीकी सोशलिस्ट ऐल्वर्ट ब्रिस्बेन ने मार्क्स को देखा था। हरदयाल ने उसका लिखा वर्णन उद्धृत किया है। मार्क्स उस समय लगभग ३० साल के थे, शरीर गठा हुआ और नाटा था, सुन्दर चेहरे पर घने काले बाल थे। उनके हाव-भाव से एक दृढ़ चरित्र व्यक्ति की ऊर्जा और लगन का आभास मिलता था। पूंजी की शक्ति ने मज़दूरों को गुलाम बना रखा है, उसके शोषण और स्वार्थपरता से उन्हें तीव्र घृणा थी।

लंदन में रहते हुए मार्क्स और उनकी पत्नी जेनी को जो दारुण दुख सहने पड़े, हरदयाल ने उनका वर्णन विस्तार से किया है। उनके मन में मार्क्स के प्रति जितनी श्रद्धा है, उतनी ही उनकी वीर पत्नी जेनी के प्रति है। वह एंगेल्स की मैत्री से प्रभावित होते हैं। पूंजी का पहला खण्ड मार्क्स के जीवनकाल में प्रकाशित हुआ, उसका दूसरा और तीसरा खण्ड मार्क्स के बाद एंगेल्स ने प्रकाशित किया। मार्क्स के प्रति एंगेल्स का लगाव "समाजवाद के इतिहास की एक उज्ज्वलतम घटना है" (पृष्ठ ६४) और "एंगेल्स का नाम उनके महान् मित्र के नाम के साथ अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ है।" (पृष्ठ ६५)।

१८६४ में मार्क्स ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की स्थापना की। इसकी कार्यवाही के बारे में लाला हरदयाल ने लिखा है, "इस उल्लेखनीय संघ को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि इतिहास में 'इन्टरनेशनल' कहने मात्र से उसका बोध होता था। यह शब्द फ्रान्स, इटली और स्विट्ज़रलैंड के जोशीले लोगों के मन पर अब भी जादू का सा असर करता है। विभिन्न नगरों में उसके वार्षिक सम्मेलन हुए, उसने कार्यक्रम बनाये और प्रस्ताव पास किये। किन्तु उसका सर्वाधिक मूल्य उसके इस प्रयत्न में था कि विभिन्न देशों के मज़दूर वर्गों को एकजुट करे और उनकी एकता सुदृढ़ करे। दुनिया के मज़दूरो एक हो, मार्क्स का यह युद्ध-घोष सारे यूरुप में गूंज उठा था। टाइम्स पत्र ने लिखा था कि 'ईसाई धर्म की स्थापना और प्राचीन संसार के ध्वंस के बाद से अब तक जैसी यह श्रमिकों की जागृति है, वैसी और कोई दूसरी चीज़ दिखाई नहीं दी।' श्रमिक संघ के नेता अनेक सरकारों के उत्पीड़न के शिकार

...की शक्ति साल दर साल बढ़ती रही।" (पृष्ठ ६४)।

१८८१ में मार्क्स की पत्नी की मृत्यु हुई। १८८३ में मार्क्स का देहान्त हुआ। लाला हरदयाल ने मार्क्स का एक स्मारक बनाने के बारे में उनके एक शिष्य का कथन उद्धृत किया है कि उनका स्मारक पीतल या पत्थर का नहीं, मनुष्य का हृदय है, और "सारा अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन उनका एक स्मारक है तथा समाजवादी शक्तियों की प्रत्येक विजय से यह स्मारक और भी ऊंचा उठता जाता है।" (पृष्ठ ६५)।

यह कल्पना करना कठिन है कि अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमिक संघ ने श्रमिकों में जो अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न की, उसका मार्क्स के सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध न था। न यह सोचा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन की प्रत्येक विजय से मार्क्स का यह स्मारक तो ऊंचा उठता जाता है किन्तु मार्क्स के सिद्धान्तों से न तो इस स्मारक का कोई सम्बन्ध है और न अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन का। मार्क्स की क्रान्तिकारी कार्यवाही उनके चिन्तन और सिद्धान्तों से अभिन्न रूप में जुड़ी हुई है। अनेक प्रकार के समाजवाद मार्क्स से पहले भी प्रचलित थे। मार्क्स के समाजवाद ने श्रमिकों में जो 'अभूतपूर्व' जागृति उत्पन्न की, उसका कारण मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद था। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-आन्दोलन ने जितनी सफलता प्राप्त की है, उसका मुख्य कारण वैज्ञानिक समाजवाद की विचारधारा का अनुसरण और विकास है।

लाला हरदयाल ने निबन्ध के तीसरे भाग में मार्क्स के सिद्धान्तों के बारे में जो कुछ कहा है, वह पहले दो भागों में कही हुई बातों का खण्डन करता है। वह कहते हैं कि वह उन लोगों में है जो मार्क्स के सिद्धान्तों को बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। उनकी समझ में ये सिद्धान्त एकांगी और दोषपूर्ण हैं। उनकी उपयोगिता इतनी ही है कि श्रमिक वर्ग की न्यायपूर्ण आकांक्षाओं को नाममात्र का सैद्धान्तिक आधार मिल गया। वर्ग-संघर्ष और मूल्य के सिद्धान्त सही नहीं हैं किन्तु वे श्रमिक वर्ग के व्यावहारिक आदर्श हैं, इसलिए वे बहुत लोकप्रिय हुए। लाला हरदयाल के अनुसार मार्क्स का पहला प्रमुख विचार यह था कि आर्थिक परिस्थितियां मानवजाति पर लगभग निरपेक्ष प्रभाव डालती हैं और राजनीतिक संस्थाओं को ही नहीं, धार्मिक और साहित्यिक जीवन को भी निर्मित करती हैं। उत्पादन की पद्धति बदलने से सारा समाजतंत्र बदल जाता है और उसके साथ विचार और आदर्श भी बदलते हैं। यहां वह पादटिप्पणी में कम्युनिस्ट घोषणापत्र की भिन्न-भिन्न भूमिका उद्धृत करते हैं। एंगेल्स ने बताया है कि प्रत्येक युग में जैसी उत्पादन और विनिमय की पद्धति होती है, उसी के अनुरूप समाज की व्यवस्था होती है, उसी के आधार पर उस युग के राजनीतिक और बौद्धिक इतिहास की व्याख्या की जा सकती है। यद्यपि लाला हरदयाल इस धारणा से सहमत नहीं हैं किन्तु भारतीय क्रान्तिकारियों में शायद सबसे पहले उन्होंने ही कम्युनिस्ट घोषणापत्र का हवाला दिया है। यह तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

उन्होंने बताया है कि उनका दृष्टिकोण इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या [illegible] जाता है। उनके विचार से यह धारणा अर्द्ध सत्य है जिसे मार्क्स ने [illegible]

लाला हरदयाल, [illegible] [illegible]

रूप में प्रस्तुत किया था। 'अर्द्ध सत्य' की व्याख्या करते हुए लाला हरदयाल कहते हैं कि इस धारणा के अनुसार समाज पर विकास के कुछ नियम लागू होते हैं और ये नियम औद्योगिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं। इस कारण सामाजिक विकास बहुत कुछ भौतिक विकास से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। कुछ नियम उसमें अन्तर्निहित हैं जिनका पता लगाना होगा। समाज में जो प्रवृत्तियां विद्यमान हैं और अप्रतिहत रूप से उसे आगे बढाती है, उनके अनुकूल हमें काम करना चाहिए। सामाजिक विकास की यह धारणा नियतिवादी है और उसका यह पक्ष हर्बर्ट स्पेन्सर की धारणा से मिलता-जुलता है। लाला हरदयाल स्पष्ट करते हैं कि उन्होंने उक्त दृष्टिकोण का उल्लेख उससे असहमति जताने के लिए किया है। उस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए कहते हैं कि समाज परमाणुओं का समवाय नहीं है, मनुष्य यन्त्र नही है, सामाजिक विकास निरन्तर घटित होनेवाली प्रक्रिया नही है, सामाजिक विकास का कही कोई नियम दिखाई नही देता।

तब इतिहास का निर्माण कैसे होता है? लाला हरदयाल कहते है कि इतिहास प्राकृतिक परिवेश तथा मनुष्य की इच्छाशक्ति द्वारा निर्मित होत उनके विचार से मार्क्स और स्पेन्सर के 'यान्त्रिक वैज्ञानिक' विकास की अ कार्लाइल का सिद्धान्त सत्य के अधिक निकट है कि सभ्यता व्यक्तिगत प्रभाव परिणाम है। मार्क्स ने विकास मे सामाजिक चयन की शक्ति स्वीकार की किन्तु उनकी दृष्टि मे प्रगति के नियम प्रधान थे, मनुष्य की इच्छाशक्ति गौण इतिहास की यह व्याख्या भ्रामक है। इतिहास में कोई ऐसा नियम नही है। कुछ है वह अनियमित है, महापुरुष उसे नियमित बनाने का प्रयत्न करते है।

लाला हरदयाल मार्क्स के उद्देश्य से असहमति प्रकट नही करते, असहमति उस उद्देश्य को प्राप्त करने मे मनुष्य की इच्छाशक्ति की भूमिका को लेकर मानव-समाज यन्त्र नही है, उसके विकास मे मनुष्य के चिन्तन की प्रमुख भूमिका है, यह तर्क इस निबन्ध से सोलह साल पहले मार्क्सवाद के रूसी आलोचक प्रस्तुत कर चुके थे। उनके इस तर्क का खण्डन भी लेनिन ने अपनी प्राथमिक रचनाओं मे किया था। लाला हरदयाल ने इच्छाशक्ति पर जो बल दिया है, वह भी मतभेद का मुख्य कारण नही है। मुख्य कारण है क्रान्ति मे श्रमिक जनता की भूमिका को लेकर। मार्क्स ने बताया था कि सामाजिक क्रान्ति समाज के वर्ग करते हैं, दो-चार महापुरुष नही। कार्लाइल का मत था कि आम जनता मूर्ख होती है, सामाजिक परिवर्तनों में मुख्य भूमिका महापुरुषों की होती है। इस भूमिका मे लाला हरदयाल सहमत हैं। यह सहमति उन्हें पुराने क्रान्तिवाद के दायरे से निकल-कर जनता का क्रान्तिकारी संगठनकर्ता बनने से रोकती है। उनसे छिपा नहीं है कि यूरुप मे अभूतपूर्व जागृति हुई है, यह जागृति मजदूरो मे हुई है, इस जागृति का एक कारण उनका सगठित होना है। लाला हरदयाल के विचार से मजदूर वर्ग की आकाक्षाओ को पूरा करने के लिए मार्क्स के अर्द्ध सत्य सिद्धान्तों की उप-ोगिता है। इसका अर्थ यह है कि अशिक्षित मजदूरो को अर्द्ध सत्य बता दो, वे मे पूर्ण सत्य मान लेंगे। वर्गचेतन मजदूर वैज्ञानिक समाजवाद ठीक-ठीक समझ कते हैं, वे समाज की प्रमुख क्रान्तिकारी शक्ति हैं, अपने संघर्षों और अनुभवों मे

वैज्ञानिक समाजवादको और समृद्ध कर सकते है, महापुरुष वह है जो पूंजीवाद की वस्तुगत परिस्थितियों में मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी भूमिका पहचानता है, यह सब लाला हरदयाल के लिए कल्पनातीत है।

सामाजिक विकास की कुछ खास मंजिलें हैं, वे सभी देशो में और सभी समाजों में मिलती है, वे मंजिलें महापुरुषों की बनायी हुई नहीं हैं, लाला हरदयाल अप्रत्यक्ष रूप से यह तथ्य स्वीकार करते है। डार्विन का हवाला देते है कि भोजन की कमी के कारण पशुओ मे निरन्तर संघर्ष छिड़ा रहता है। इसके बाद कहते है, *"अपने इतिहास के आदिम युगों में मनुष्य भी ऐसी ही स्थिति में था।* उसके भोजन का एकमात्र साधन शिकार था और वह जितना शिकारी था, उतना ही दूसरो का शिकार भी बन जाता था। किन्तु पशुचारण की मंजिल आने पर परिस्थितिया बदल गयी। और जब खेती का चमत्कार हुआ, मनुष्य को एक दाने के बदले हजार दाने मिलने लगे, तब ईसा मसीह के कथित चमत्कार से बहुत पहले मुट्ठीभर अनाज से सैकड़ो आदमियों को भोजन दिया गया। आदमी की गरीबी पुराने जमाने की बात हो गयी। चारो तरफ सुखसम्पदा का राज हो गया। किन्तु भाग्य मनुष्य की आशाओ पर हँस रहा था। क्योंकि हमे अब यह कठिन पहेली सुलझानी है कि खेती का आविष्कार हो जाने पर भी मनुष्य दरिद्रता का दुख क्यों भोगता रहा?" (पृष्ठ ४६)। एक मंजिल है आखेट की, दूसरी मंजिल है पशुचारण की, तीसरी मंजिल है खेती की। इन तीन मंजिलो का स्पष्ट उल्लेख इस बात की स्वीकृति है कि समाज का विकास मनुष्य की इच्छाओ पर निर्भर नही है, उसके अपने नियम है। खेती के आविष्कार के बाद यदि अधिकांश जनता गरीबी मे दिन काटती रही तो यह भाग्य का खेल नही है, यह श्रमविभाजन का परिणाम है; इसका कारण सम्पत्ति के साधनों पर, मुख्यतः भूमि पर, वर्ग विशेष का अधिकार है। सामाजिक विकास के नियमों को अस्वीकार करने का अर्थ होगा इतिहास को भाग्य का खेल बना देना। यदि खेती से अन्न की बहुतायत हुई पर अधिकाश जनता उससे लाभ न उठा सकी तो यह भाग्य का खेल हुआ, पूर्वजन्मो का फल हुआ, अथवा यह भी महापुरुषों का कार्य हुआ। थोड़े से आदमियो ने हजारों को गरीब बनाकर रखा, महापुरुषो के अलावा ऐसा चमत्कार और कौन कर सकता है? ईसाई धर्म मे ईसा मसीह के चमत्कारों का वर्णन है, विज्ञान उन्हे स्वीकार नही करता। इसी तरह मानवइतिहास महापुरुषों की चमत्कार-कथा है, समाज विज्ञान इसे स्वीकार नही करता।

मार्क्स के जिस दूसरे विचार की आलोचना लाला हरदयाल ने की है, उसका सम्बन्ध वर्ग-संघर्ष से है। यहां उन्होंने फिर कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र से एक अश उद्धृत किया है जहां मार्क्स ने प्राचीनकाल के वर्ग-संघर्ष की चर्चा करते हुए बताया है कि वर्तमानकाल मे वर्ग-सघर्ष का रूप सरल हो गया है। समाज पूंजीपतियों और सर्वहारा के दो विरोधी वर्गों में बँटता चला जाता है। लाला हरदयाल की आलोचना यह है कि वर्ग-सघर्ष ऐतिहासिक विकास का एक पक्ष है, मार्क्स ने उसे सर्वव्यापी नियम बना दिया है। इतिहास मे वर्ग हुए हैं, वर्ग-युद्ध हुए हैं, किन्तु यह सब न तो इतिहास का सारतत्व है, न उसकी मूल प्रेरक शक्ति है।

वर्ग-संघर्ष समूचे नाटक का केवल एक भाग है। लाला हरदयाल यह नहीं मानते कि वर्गों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा है। उनका कहना है, "सभी युगों में प्रगति की मुख्य प्रेरक शक्ति वर्ग-स्वार्थ नहीं रहा वरन् उच्च आदर्श भावना के आधार पर सामाजिक सहयोग रहा है। स्वयं मार्क्स का स्वर आगे चलकर बदल गया जब उन्होंने इन्टरनैशनल के लिए मध्यवर्ग का सहयोग पाने का प्रयास किया। वर्गों का सिद्धान्त उल्टी मार करने वाला खतरनाक हथियार था क्योंकि बहुत से मजदूर यह तर्क देने लगे कि मार्क्स उनके वर्ग के नहीं हैं, इसलिए उन्हें आन्दोलन से निकाल देना चाहिए। वह बुर्जुआ हैं (मध्यवर्ग के आदमी हैं)! इस प्रकार गलत सिद्धान्तों का बुरा नतीजा सामने आ जाता है।" (पृष्ठ ६७)।

लाला हरदयाल ने 'मध्यवर्ग' शब्दों का प्रयोग पूंजीपति वर्ग के लिए किया है। मार्क्स ने भी कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में मध्यवर्ग शब्दों का प्रयोग इसी अर्थ में

रखें तो नतीजा यह निकलेगा कि लाला हरदयाल के अनुसार मार्क्स ने पूंजीपतियों का विरोध छोड़कर उनसे सहयोग करने की नीति अपनाई। यह नीति उन्होंने कहाँ अपनाई ? यह नीति उन्होंने इन्टरनैशनल में अपनाई। यह बात निराधार है। आगे चलकर समाजवादियों का जो संगठन दूसरे इन्टरनैशनल के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसकी नीति पूंजीपतियों से सहयोग करने की थी, मार्क्स की यह नीति कभी नहीं रही। लाला हरदयाल समाज में वर्गों का स्पष्ट विभाजन अस्वीकार करते हैं, इतिहास में वर्गसंघर्षों की प्रमुख भूमिका अमान्य करते हैं। तब खेती का आविष्कार होने के बाद भी जो लाखों आदमी दरिद्रता का दुख भोगते रहे, आधुनिक काल में जो मजदूर मुफलिसी में जीवन बिताते रहे, वह क्या आत्म-त्याग की भावना से, सामाजिक विकास के लिए अपने उत्पीड़कों से सहयोग करने के उद्देश्य से ? लाला हरदयाल ने पुराने और नये युगों में आम जनता की गरीबी के बारे में जो कुछ लिखा है, वह सब वर्गशोषण का परिणाम है। मार्क्स ने जिस अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की स्थापना की थी, उसके नेताओं को सरकारी उत्पीड़न इसीलिए सहना पड़ा था कि वे पूंजीपतियों का विरोध कर रहे थे। इसी निबन्ध में आगे चलकर उन्होंने अनेक ऐसी बातें कही हैं जिनसे उनकी वर्ग-सहयोग सम्बन्धी धारणा का खण्डन होता है।

मार्क्स के जिस तीसरे विचार की आलोचना उन्होंने की है, उसका सम्बन्ध अतिरिक्त मूल्य के विश्लेषण से है। उनके अनुसार मार्क्स ने देखा कि पूंजीपति अमीर होता चला जाता है क्योंकि वह मजदूरों को उनकी बनाई हुई वस्तु का पूरा मूल्य नहीं देता। उसे जो मुनाफा होता है, वह अतिरिक्त मूल्य है जो वह मजदूरों से छीनता है। आगे कहते हैं, "इस विचार को परिवर्द्धित करने में मार्क्स ने काफी कौशल का परिचय दिया है और विशुद्ध सिद्धान्त-चर्चा में यह उनके कार्य का सबसे समर्थ भाग प्रतीत होता है। किन्तु इस मूर्खतापूर्ण व्यवस्था के मूर्खतापूर्ण अर्थशास्त्र में मुझे विशेष दिलचस्पी नहीं है। परम्परागत अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से मार्क्स के मूल्य-सम्बन्धी विवेचन पर गम्भीर आपत्ति की जा सकती है। इस

वेम्रिर-पैर की वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत मूल्य का कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त हो ही नहीं सकता। इस विषय पर बहुत विश्वासपूर्वक मैं कुछ नहीं कह सकता क्योंकि वर्तमान लूट-पाट वाले अर्थतन्त्र के कीचड़ और उसकी गन्दगी में गोता लगाना मुझे पसन्द नहीं है। मैं जानता हू कि मजदूरों और किसानों को अपना पसीना बहाने पर मजबूर किया जाता है और इसके लिए उन्हे जो मिलना चाहिए, वह उन्हे नही दिया जाता। मैं जानता हू कि कारखानेदार और ज़मींदार इनकी मेहनत के बल पर मोटे होते जाते है। मैं जानता हूँ कि उत्पादन का काम स्वार्थी और लोभी पूजीपतियों के हाथ में छोड देने से समाज को भारी हानि सहनी पड़ती है।" (पृष्ठ ६७)।

अर्थशास्त्र का ज्ञान इसीलिए ज़रूरी है कि कारखानेदारों और ज़मींदारों के मोटे होने की प्रक्रिया समझ मे आ जाए। पूजीपति लोभी और स्वार्थी हैं, यह बात परम्परागत अर्थशास्त्र भी बता देता है। मार्क्स के क्रान्तिकारी अर्थशास्त्र की विशेषता यह है कि वह पूजीवादी तन्त्र की सारी प्रक्रिया उद्‌घाटित करके उसकी जगह साम्यवादी तन्त्र स्थापित करने की तरकीब भी बतलाता है। स्वभावत: रूढिवादी अर्थशास्त्र को मार्क्स के अर्थशास्त्र पर गम्भीर आपत्ति होगी। वर्गों का अस्तित्व, वर्गों के संघर्ष का अस्तित्व पुराने अर्थशास्त्र मे स्वीकृत है। मार्क्स ने वर्गसंघर्ष समाप्त करने, वर्गहीन समाज रचने का रास्ता दिखाया। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मार्क्स का आविष्कार नही है, वह भी पुराने अर्थशास्त्र में है। मार्क्स ने दिखाया कि समस्त पूजीवादी तन्त्र इस अतिरिक्त मूल्य को हड़पने की प्रक्रिया से परिचालित है। उन्होंने मज़दूरों को इस शोषण से मुक्ति पाने का मार्ग दिखाया।

क्या पूंजीवाद के बाद साम्यवाद आयेगा ? साम्यवाद है क्या ? लाला हरदयाल दूसरे प्रश्न का उत्तर देते है और उनके इस उत्तर मे पहले प्रश्न का भी उत्तर निहित है। उनके अनुसार साम्यवाद का सिद्धान्त बहुत सीधा-सादा है। ज़मीन पर किसी व्यक्ति, परिवार या गिरोह का अधिकार न होना चाहिए, वरन् उस पर पूरे समाज का सामूहिक अधिकार होना चाहिए। धरती हमारी माता है। यदि थोड़े से आदमी उस पर अधिकार कर लें तो बाकी जनता रोटी के लिए उनकी गुलामी करेगी। व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति से दासता, निर्धनता और सामाजिक संघर्ष का जन्म होता है। साम्यवाद का लक्ष्य है कि भूमि सारे समाज की सम्पत्ति हो, उससे सारे समाज का हित हो। साम्यवाद का दूसरा सिद्धान्त यह है कि व्यक्तिगत पूंजी का खात्मा कर दिया जाए, उसके साथ रुपये-पैसे की शक्ति भी खत्म कर दी जाए। कारखानेदार और सौदागर द्रव्य तन्त्र के कारण धनी होते है। लाला हरदयाल कहते हैं, "जितना ही सोचते है उतना ही यह विश्वास पक्का होता जाता है कि मानव मस्तिष्क का एक अत्यन्त घातक आविष्कार द्रव्य है। इस हथियार से मनुष्यजाति ने आत्महत्या कर ली है। जिस आदमी ने पहला सिक्का चलाया, उसने मानवजाति से विश्वासघात किया था।" (पृष्ठ ६९)।

लाला हरदयाल ने द्रव्य पर लगभग तीन पृष्ठ लिखे हैं। वह धर्मोपदेशकों का भी हवाला देते है। द्रव्य के बिना विनिमय सम्भव न था, विनिमय के आदिम

तरीके, वस्तुओं की अदला-बदली, की जगह सिक्का जरूरी हुआ। विनिमय के इस माध्यम के बिना सामाजिक प्रगति सम्भव न होती। लाला हरदयाल द्रव्य की इस ऐतिहासिक भूमिका के बारे में कुछ नहीं कहते। किन्तु वह मानते हैं कि साम्यवाद आवश्यक है, प्रगति के लिए अर्थशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है और मार्क्स का अर्थशास्त्र मनुष्य के नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। उन्होंने भूमि और पूंजी में व्यक्तिगत सम्पत्ति को बहुत बड़ा अवगुण कहा है। उत्पादन और वितरण प्रजातंत्र के हाथ में होना चाहिए; राज्यसत्ता उपज को न्याय और समानता के आधार पर बांटेगी। पूंजीवाद की जगह साम्यवाद कायम होना चाहिए कि नहीं? लाला हरदयाल का उत्तर है, "साम्यवाद मानवजाति की नैतिक प्रगति में एक महत्वपूर्ण और अनिवार्य साधन है। जो धर्मोपदेशक अर्थशास्त्र की अनदेखी करते हैं, वे रेत पर इमारत खड़ी करते हैं। नैतिक जीवन पर आर्थिक व्यवस्था का गहरा असर होता है। और मार्क्स के प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए, इसलिए नहीं कि उन्होंने अर्थशास्त्र के सम्बन्ध की व्याख्या की और उसका महत्व बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया। फिर आदर्शवादियों ने उनके सिद्धान्तों की छानबीन शुरू की और उन्हें पता चला कि उनमें सत्य का अंश विद्यमान है। इस प्रकार मार्क्स ने, अर्थशास्त्र के लिए अपने हठ द्वारा, अप्रत्यक्ष रूप में नीतिशास्त्र की भी सहायता की।" (पृष्ठ ७०)।

इतना तो स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र की अनदेखी करना बुद्धिमानी का काम नहीं है। अर्थशास्त्र का ज्ञान धर्मोपदेशक के लिए जरूरी है, तो वह क्रान्तिकारी राजनीतिज्ञ के लिए और भी जरूरी है। पूंजीवादी व्यवस्था के कीचड़ से घृणा के कारण वह उस व्यवस्था की प्रक्रिया समझने का प्रयत्न नहीं करता तो वह उसे बदल भी नहीं सकता।

अपने निबन्ध के अंत में लाला हरदयाल मार्क्स का महत्व घोषित करते हुए कहते हैं कि बहुत कम महापुरुष स्वयं को जान पाते हैं। इसी प्रकार मार्क्स भी अपना वास्तविक महत्व न जानते थे। स्पष्ट है कि मार्क्स के अनुयायी भी उनका महत्व नहीं जानते। लाला हरदयाल के अनुसार मार्क्स का सबसे बड़ा काम न तो पूंजी ग्रन्थ का प्रकाशन था, न और बहुत सी पुस्तिकाओं की रचना थी, न वे संघ थे जिन्हें मार्क्स ने स्थापित किया और समाप्त किया। मार्क्स की महत्ता का रहस्य बतलाते हुए वह कहते हैं, "मार्क्स ने मानवजाति का उपकार किया क्योंकि आधुनिक यूरुप के वह पहले विचारक थे जिन्हें मजदूर वर्ग में आस्था थी। उनसे पहले समाजवादियों ने कल्पना की थी कि साम्यवाद ऐसा वरदान है जो गरीब अज्ञानी मजदूरों को शिक्षित उदार परोपकारी जनों से प्राप्त होगा। वे समझते थे कि वह कहीं ऊपर से अवतरित होगा। इंग्लैण्ड की फेबियन सोसायटी और क्रिश्चियन सोशलिस्ट संघों में यह धारणा अब भी फैली हुई है। मार्क्स पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह सूत्र रचा कि मजदूर वर्ग को अपनी मुक्ति अपने ही प्रयत्न से प्राप्त करनी होगी। जिसे आजाद होना है उसे जंजीर पर खुद चोट करनी होगी। उनका आह्वान मजदूरों के हृदय को छूने वाला था, उनमें सोये हुए पुरुषत्व को जगानेवाला था जिसके प्रति वे स्वयं सचेत नहीं थे। 'दुनिया के मजदूरो एक हो।

खोने को तुम्हारे पास जंजीरों के अलावा कुछ नहीं है। पाने को सारी दुनिया है।' साल दर साल बीतते गये, आदमी आये और चले गये लेकिन अज्ञानी और गन्दे मज़दूरों पर आस्था रखने वाले उस नेता की जोरदार आवाज उन्हें अब भी पुरुषत्व की पूरी ऊँचाई तक उठा ले जाती है। ऐसी अन्तर्दृष्टि केवल उन्हें मिलती है जिन्होंने किसी उद्देश्य के लिए दुख झेला है। यह अन्तर्दृष्टि कुर्सियों पर जमे हुए सुधारकों और विद्वान् प्रोफ़ेसरों को नहीं मिलती जो अपने अध्ययनकक्ष में आराम से बैठे हुए उपदेश झाड़ा करते हैं।" (पृष्ठ ७१)।

मार्क्स की इस प्रशंसा में लाला हरदयाल का जोर मार्क्स के ज्ञान पर नहीं, उनकी भावना पर है। इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्स अत्यन्त सहृदय व्यक्ति थे, उन्हें मज़दूर वर्ग से और संसार के सभी पीड़ितों से गहरी सहानुभूति थी। उतनी गहरी नहीं, तो उससे कुछ हल्की सहानुभूति मार्क्स से पहले के समाजवादियों को भी मज़दूरों से थी। वे समझते थे कि उदार और पढ़े-लिखे लोग सहानुभूति से द्रवित होकर मज़दूरों को मुक्त करेंगे। मार्क्स में और इन समाजवादियों में बुनियादी अन्तर है। लाला हरदयाल ने इस अन्तर का उल्लेख किया है। अन्तर का कारण क्या है? अन्तर का कारण मार्क्स का ज्ञान है, पूँजीवादी समाज का वैज्ञानिक विश्लेषण है, उस प्रक्रिया का उद्घाटन है जिससे मज़दूर समाज की क्रान्तिकारी शक्ति बनते हैं। पूँजीवाद विश्वव्यापी वर्ग-व्यवस्था है, उससे मुक्ति पाने के लिए श्रमिकों का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आवश्यक है। मार्क्स का आह्वान 'दुनिया के मज़दूरो एक हो' पूँजीवादी व्यवस्था के विश्लेषण की उपज है। मार्क्स ने न केवल श्रमिकों को आन्दोलित किया वरन् उनके सामने उस सारी प्रक्रिया की रूपरेखा भी प्रस्तुत कर दी जिसके अनुसार वे पूँजीवादी राज्यसत्ता का ध्वंस करके नये साम्यवादी समाज की रचना करेंगे।

मार्क्स के नैतिक बड़प्पन के बारे में लाला हरदयाल ने आगे लिखा है, "अठारहवीं सदी में यूरुप की जनता के लिए रूसो ने जो कुछ किया, वही उन्नीसवीं सदी में मार्क्स और अन्य लोगों ने उसके लिए किया। उनकी अन्तर्दृष्टि से उनकी नैतिक महत्ता उद्घाटित होती है। वह बहुत बड़े विद्वान् थे, धनी लोगों में पैदा हुए और पाले-पोसे गए थे। वह पशुतुल्य मूर्ख श्रमिकों से घृणा कर सकते थे, कल्पना कर सकते थे कि सुसंस्कृत और बुद्धिमान लोग इतिहास और दर्शन की बातें समझते हैं, वे मज़दूरों की दशा सुधारेंगे। किन्तु नैतिक दृष्टि से वह विराट पुरुष थे। उन्होंने देखा कि आरामतलब, सभ्य शिक्षित वर्ग की तुलना में साधारण लोग हमेशा अच्छी तरह समझ लेते हैं कि प्रेम, समानता और वीरता किसे कहते हैं। सामाजिक और राजनीतिक प्रगति का आधार प्रेम और लगन है, न कि प्रोफ़ेसरी विद्वत्ता और भाषण कला। मार्क्स ने पहले दलित और त्याज्य श्रमिकों में महान् आशा का संचार किया, उन्हें एक समर्थ उद्देश्य से प्रेरित किया। इस प्रकार वास्तविक और आधुनिक सामाजिक जनतन्त्र का जन्म हुआ। इस प्रकार ग़रीबों को मुक्ति-सन्देश मिला।" (पृष्ठ ७२)।

यह सब १९१२ में लिखा गया था। अभी रूसी क्रान्ति न हुई थी। मार्क्स के विचारों के अनुसार कहीं क्रान्ति हो सकती है, यह अभी व्यवहार में सिद्ध न हुआ था।

लाला हरदयाल के पूरे लेख मे कही अंग्रेजी राज्य का उल्लेख नही है। यदि होता तो वह निबन्ध मॉडर्न-रिव्यू मे छपता भी नही। उन्होंने गदर पार्टी के नेता के रूप मे अंग्रेजी राज्य की शोषण प्रक्रिया के बारे मे बहुत कुछ लिखा। किन्तु भारत के स्वाधीनता आन्दोलन को सफल बनाने के लिए मार्क्सवादी विचारधारा आवश्यक है, यह बात उन्होंने स्वीकार नही की। १९१७ में रूसी क्रान्ति हुई, उसने मार्क्स के सिद्धान्तों की व्यावहारिक उपयोगिता प्रमाणित की। उस क्रान्ति के बाद लाला हरदयाल मार्क्सवादी नहीं हो गये पर यह सत्य है कि १९१२ के निबन्ध की तुलना में वह मार्क्सवाद के अधिक निकट आये।

१९३४ मे लाला हरदयाल की पुस्तक हिन्ट्स फार सेल्फ कल्चर प्रकाशित हुई। इस समय तक जर्मनी मे हिटलर का अभ्युदय हो चुका है, एक महायुद्ध हो चुका है और रूस में संसार की पहली समाजवादी क्रान्ति सफल हो चुकी है। गदर पार्टी समाप्त हो चुकी है और तीसरे इण्टरनैशनल के नाम से साम्यवादी दलों का अन्तर्राष्ट्रीय

अध्याय है जिनमें चार तरह की संस्कृति का वर्णन है। पहली है बौद्धिक संस्कृति। इसमें प्रकृति और समाज से सम्बन्धित विज्ञान की चर्चा है। दूसरी शारीरिक संस्कृति है जिसमे खाने-पीने, व्यायाम आदि की चर्चा है। तीसरी है कलात्मक संस्कृति जिसमे काव्य तथा चित्र, संगीत आदि कलाओं का वर्णन है। चौथी नैतिक संस्कृति है जिसमें व्यक्तिगत नैतिकता, सेवाभाव आदि की चर्चा है। इन चारों अध्यायों में दूसरा अध्याय सबसे छोटा है, राजनीतिक दृष्टि से पहला और चौथा अध्याय सबसे महत्वपूर्ण हैं। नौजवानों को जो समाज विज्ञान पढ़ने चाहिए, उनमें राज-नीति और अर्थशास्त्र शामिल हैं।

मार्क्स वाले (सन् १२ के) निबन्ध मे इतिहास के प्रति कार्लाइल का दृष्टिकोण लाला हरदयाल को ठीक लगा था किन्तु यहा वह कार्लाइल की धारणा स्वीकार नही करते। मानव-इतिहास महापुरुषो की जीवनकथा है, कार्लाइल की इस उक्ति के साथ वह अन्य विद्वानों की उक्तियां उद्धृत करके उनकी आलोचना करते हैं। इमर्सन "अतिशय वीरपूजा के कारण गुमराह हो गये थे।" (पृष्ठ ४८; यहा मैं जैको पब्लिशिंग हाउस, बम्बई द्वारा १९६१ मे प्रकाशित संस्करण से उद्धरण दे रहा हूं)। रेनां का विचार था कि इतिहास का उद्देश्य ही है कि वह प्रतिभा-शाली पुरुषो को जन्म दे। इसे वह जनतन्त्र-विरोधी बेहूदा दृष्टिकोण कहते हैं। उनका मत है कि "इतिहास का निर्माण अपने परिवेश मे प्रयत्नशील और कार्य-रत सभी साधारण स्त्री-पुरुष करते हैं"। ('सभी' पर जोर लाला हरदयाल का है; उप.)। महापुरुषों ने अपने बुद्धिबल से जनता को संगठित किया। संगठन के लिए नेतृत्व चाहिए और "सच्चा नेता उसे समझना चाहिए जो साधारण जनता का प्रतिनिधि हो।" (पृष्ठ ४९)। इस प्रकार इतिहास-निर्माण मे साधारण जनता और असाधारण नेता का आपसी सम्बन्ध ज्यादा सही रूप मे स्थापित हुआ।

इस साधारण जनता में मजदूर वर्ग की विशेष स्थिति है और मजदूर वर्ग

का लक्ष्य है समाजवाद। मजदूरों का अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारा समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जरूरी है। पूंजीपति वर्ग राष्ट्रवादी प्रचार के द्वारा मजदूरों को गुमराह करता है। इस सन्दर्भ में तरुण क्रान्तिकारियों को सावधान करते हुए लाला हरदयाल कहते हैं, "समाजवाद की विजय में बहुत बड़ी बाधा राष्ट्रवाद हो सकता है, यह जान लेना चाहिए। राष्ट्रवाद मानव समाज को स्थायी रूप से युद्धरत राष्ट्रों में बाँट देता है और मजदूरों की वर्गचेतना को कमजोर और मुर्दा बना देना चाहता है। इसके विपरीत समाजवाद अस्थायी रूप से मानवता को दो युद्धरत वर्गों में बाँटता है और सर्वहारा की वर्गभावना को जगाना और उत्तेजित करना चाहता है। राष्ट्रवादी राज्यों के युद्ध समाजवादी पार्टियों और संगठनों को बार-बार वैसे ही ध्वस्त कर देंगे जैसे कि समुद्र इंग्लैण्ड का तटबन्ध नष्ट कर देता है या भूचाल जापान में मकानों का नाश कर देता है। कामगारों को प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि वे किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध में भाग न लेंगे, भले ही उनसे 'सम्राट् और देश', अथवा 'स्वाधीनता', 'न्याय', 'सम्मान', 'साम्राज्य', 'धर्म' या 'राष्ट्रीय स्वतंत्रता' के लिए लड़ने को कहा जाय। ऐसे आह्वानों और नारों के जरिये पूंजीपति उन्हें उनके सर्वनाश की ओर ले जाने का प्रयत्न करेंगे। यदि वे यह सीधी सी सच्चाई नहीं समझते तो वे फिर इसी योग्य हैं कि हमेशा गुलाम बने रहें। समाजवाद गधों और उल्लुओं के लिए नहीं है, वह बुद्धिमान पुरुषों और स्त्रियों के लिए है।" (पृष्ठ ३६०-३६१)।

मजदूरों में वर्गचेतना नाम की वस्तु है। राष्ट्रवादी प्रभाव से बचने के लिए यह वर्गचेतना आवश्यक है। वर्गचेतना केवल भावना की बात नहीं है, वह ज्ञान की बात भी है। इसीलिए समाजवाद बुद्धिमानों के लिए है, मूर्खों के लिए नहीं। यदि मार्क्स ने मजदूरों के हृदय को छुआ और दिमाग को वैसा ही छोड़ दिया तो उनका सारा काम अकारथ हुआ। किन्तु मजदूरों को राष्ट्रवाद से गुमराह न होकर अपना अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारा मजबूत करना चाहिए, यह शिक्षा मार्क्स की ही दी हुई है। जनसाधारण और मजदूर वर्ग की भूमिका पहचान लेने के बाद इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या अपनाने में लाला हरदयाल को कठिनाई न होनी चाहिए थी। किन्तु उनके लिए ऐतिहासिक भौतिकवाद और यान्त्रिक भौतिकवाद में कोई फर्क नहीं है। वह समझते हैं कि जो व्यक्ति जिस वर्ग में पैदा हुआ है, वह उस वर्ग से अलग हटकर दूसरे वर्ग से अपना लगाव नहीं कायम कर सकता, यही भौतिकवाद है। उनके लिए भौतिकवाद का अर्थ है नियतिवाद।

लाला हरदयाल के विचार से मार्क्स का जीवन ही मार्क्सवाद का खण्डन करता है। मार्क्स के साथ यूरुप और इंग्लैण्ड के अनेक नेताओं के नाम गिनाकर वह कहते हैं कि यह सब लोग उच्च वर्गों में पैदा हुए थे, फिर भी उन्होंने समाजवाद की सेवा में सारा जीवन बिताया और इस प्रकार उन्होंने इस विचार का खोखलापन साबित कर दिया कि इतिहास की भौतिकवादी धारणा सदा और सर्वत्र सही है। फिर वह यान्त्रिक भौतिकवाद के कठमुल्लों का उल्लेख करते हैं जिनके अनुसार समाजवादी क्रांति सबसे आगे बढ़े हुए देश में होनी चाहिए थी किन्तु विस्फोट हुआ रूस में जहाँ पूंजीवाद सबसे कम विकसित था। (पृष्ठ ७४)।

इस सबसे विदित होता है कि लाला हरदयाल के लिए भौतिकवाद एक ही प्रकार का है, वह है यान्त्रिक भौतिकवाद। गैरयान्त्रिक भौतिकवाद जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व उनके लिए नही है। यदि होता तो वह उसके अनुसार रूसी क्रांति की व्याख्या करते। रूसी क्राति ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार हुई या नही हुई, इस समस्या का विवेचन इस पुस्तक के दूसरे खंड मे है। यहां इतना कहना काफी है कि यान्त्रिक और द्वन्दात्मक भौतिकवाद मे जो भेद करना चाहिए, वह कुछ मार्क्सवादियो ने नही किया। जर्मन मार्क्सवादी कौट्स्की के बारे मे हरदयाल ने लिखा है कि रूसी क्रान्ति से वह उलझन में पड़ गया और अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए वह उस क्रान्ति को ही नकारता रहा। कौट्स्की के मार्क्सवाद को अर्द्ध सत्य कहते हुए उन्होने उसकी कमी यह बताई है कि उसने "यान्त्रिक परि-वेश को ऊंचे उठा दिया और जीवत मानव व्यक्तित्व को छोटा करके दिखाया।" (पृष्ठ ७४)। कौट्स्की के मार्क्सवाद से अलग कोई और मार्क्सवाद है, लाला हरदयाल ने यह नही लिखा। यान्त्रिक भौतिकवाद का वह खण्डन करते हैं और द्वन्दात्मक भौतिकवाद का समर्थन करते है, ऐसा सोचना गलत होगा। वह द्वन्दात्मक भौतिकवाद से परिचित नही है। इससे यह निष्कर्ष भी निकालना सही न होगा कि वह पूर्णत. भौतिकवाद के विरोधी थे। जहां तक संसार रचनेवाले ईश्वर का सम्बन्ध है, वह पूरे नास्तिक थे; जहा तक इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का सम्बन्ध है, वह व्यक्तिवादी थे।

रूस मे क्रान्ति क्यों हुई, जर्मनी मे क्यों न हुई, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह,दोनो देशो में वर्गों की स्थिति का विवेचन आवश्यक नही समझते। रूस मे समर्थ व्यक्तित्व वाले मनुष्य थे और जर्मनी मे नही थे, प्रश्न का यही सीधा सा उत्तर है। इस प्रकार कार्लाइल की इतिहाससम्बन्धी धारणा का खण्डन करने पर भी वह उसके आकर्षण से पूरी तरह मुक्त नही होते। यही कारण है कि व्यक्ति-केंद्रित क्रान्तिवाद के दायरे से बाहर निकलकर वह मजदूरों की वर्गचेतना का महत्व स्वीकार तो करते है किन्तु फिर उसी दायरे मे लौट आते हैं।

पोलैण्ड मे ईसाई धर्म के पुराने रोमन कैथलिक सम्प्रदाय का विरोध जर्मनी की तरह नही फैला क्योंकि "उस देश मे व्यापारी और औद्योगिक मध्यवर्ग का अभाव था, जैन मत और प्यूरिटन मत मुख्यतः शहरों के व्यापारी वर्ग ने स्वीकार किये हैं।" (पृष्ठ ७४)। इस वाक्य से लगेगा कि लाला हरदयाल विचारधारा का सम्बन्ध वर्गों से जोड़ते हैं। किन्तु आगे ही वह स्काटलैण्ड का जिक्र करते हैं जहा मध्यवर्ग नही था किन्तु कैलविन के प्यूरिटन सम्प्रदाय को सफलता मिली। फिर भारत के शहरी व्यापारियों के बारे मे कहते है कि उनकी आस्था हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्मों के बीच बँटी रही है। जावा के निवासियों के लिए कहते है कि वहा की आर्थिक व्यवस्था मे कोई परिवर्तन नही हुआ किन्तु वहा के लोग हिन्दू धर्म छोड़-कर मुसलमान हो गये। यहां भी लाला हरदयाल धर्म, सम्प्रदाय आदि को यान्त्रिक ढंग से समाजव्यवस्था और वर्गों से जोड़ते है। प्राचीन वर्गहीन गणसमाजों मे कही भी सगठित धर्म का अभ्युदय और प्रसार नही हुआ। धर्म का अभ्युदय और प्रसार सामन्ती व्यवस्था की ऐतिहासिक आवश्यकता है। पूजीवादी व्यवस्था

कायम होने, औद्योगिक विकास और वैज्ञानिक प्रगति के साथ धार्मिक विश्वास क्षीण होते जाते है। साथ ही स्मरणीय है कि विचारधारा समाजव्यवस्था का *यान्त्रिक प्रतिबिम्ब नही होती, सापेक्ष रूप मे वह स्वतंत्र होती है।*

कार्लाइल और नीत्शे की महामानव सम्बन्धी धारणा फासिस्टो ने अपनाई। उन्होंने अपने नेता को सर्वगुणसम्पन्न, सबकुछ करने मे समर्थ, उसे भाग्यविधाता के रूप मे प्रतिष्ठित किया। जनता का कर्तव्य इतना ही था कि वह आंख मूंदकर पूरी निष्ठा से उसके पीछे चले। लाला हरदयाल ने फासिस्टो की विचारधारा का तीव्र खण्डन किया है। वह पूजीवाद, हथियारबंदी मे होड़, अंध-राष्ट्रवाद और युद्ध के कठोर आलोचक है, वह निरस्त्रीकरण और विश्वशान्ति के प्रबल समर्थक हैं। विश्वशान्ति के लिए वह चाहते हैं कि विश्व राज्यसत्ता कायम की जाये। उनकी आलोचना बहुत महत्वपूर्ण है किन्तु निरस्त्रीकरण के लिए वह वर्गों से अधिक व्यक्तियों का भरोसा करते है। इस कारण उनकी विश्व राज्यसत्ता एक कल्पनामात्र रह जाती है जो विश्व राजनीति को प्रभावित न कर सकती थी।

व्यक्तिकेन्द्रित क्रान्तिवाद और विश्वराजनीति की वास्तविकता से दूर विश्व राज्यसत्ता की कल्पना के बावजूद उन्होंने पूजीवाद, युद्ध, हथियारबंदी के बारे मे वही बातें कही हैं जो उस समय ससार के मार्क्सवादी कहते थे। वह भारत के उन थोड़े से क्रान्तिकारियो में थे जो हिटलर के अभ्युदय काल से ही फासिस्ट विचार-धारा के मानवद्रोही रूप से परिचित थे। उन्होंने विश्व पूजीवाद की जो आलोचना की थी, वह आज भी महत्वपूर्ण है। उनकी इस आलोचना से पता चलता है कि परिस्थितिया किस तरह प्रथम महायुद्ध के समय के क्रान्तिकारियों को व्यक्तिकेन्द्रित क्रान्ति से ठेलकर उन्हें वर्गकेन्द्रित क्रान्ति की ओर ले जा रही थी। पूजीवादी *व्यवस्था वास्तव मे अव्यवस्था है। सट्टेबाजी और ठगविद्या* पूजी-वादी व्यवस्था मे आसानी से पनपती है। अनेक औद्योगिक सस्थान एक ही वस्तु बनायेंगे, आपस मे होड़ करेंगे, झूठे विज्ञापन करेंगे, खूब मुनाफा कमायेंगे, फिर आर्थिक संकट आने पर बेकारी बढ़ायेंगे और लोग आत्महत्या करेंगे। जरूरत की चीजें न बनायें गे पर मुनाफा मिलता हो तो लडाई का सामान तैयार करेंगे, नशीले पदार्थ बेचेंगे। (पृष्ठ ३७५)। *पूजीपतियो का वर्गशासन बलप्रयोग के भरोसे* कायम रहता है। जिन वर्गों को विशेष अधिकार प्राप्त है, उन्हें हमेशा डर लगा रहता है कि निर्धन लोग विद्रोह कर देंगे। इस प्रकार सैन्यवाद अभिन्न रूप मे पूजीवाद से जुड़ा हुआ है। धनी वर्ग की सम्पत्ति को शोषित वर्ग से जो खतरा है, उससे फौज और पुलिस उसकी रक्षा करती है। (पृष्ठ ३८७)। आगे कहते है, "*वर्गशासन धर्म, कला और साहित्य को भ्रष्ट करता है*। वर्ग-समाज मे हर व्यक्ति और हर वस्तु बाध्य है कि सम्पत्तिशाली वर्ग की चाकरी करे और उसकी हिमायत करे, या फिर बरबाद हो जाये। जितनी संस्थाएं है, उनका नियन्त्रण और सचालन इस उद्देश्य से होता है कि वर्गशासन कायम रहे। जैसे कि कहते हैं, रोम के साम्राज्य मे सारी सड़कें रोम तक पहुंचाती थी। सारे चर्च, स्कूल, स्टूडियो, यूनिवर्सिटी, अकादमी, सेमिनार, पब्लिशर और प्रिंटर बाध्य हैं कि वर्गशासन को न्यायपूर्ण बताये और उसकी तारीफ करें और जनता को सिखायें

कि यह उसका कर्तव्य है और सौभाग्य है कि वह पैसा दे और हुकुम माने। व्यक्तियों, सभाओं और संस्थाओं की तथाकथित स्वाधीनता मृगमरीचिका है। अस्थायी तौर से पूंजीवाद की समृद्धि और बुद्धिमत्ता से यह मरीचिका पैदा होती है। लेकिन जहां संकट आया और वर्गशासन के लिए जीवन्-मरण का प्रश्न उपस्थित हुआ, वहा पूंजीपति हमेशा यही कहेंगे, जो हमारा साथ नही देता, वह हमारा शत्रु है। सभी सम्पत्तिशाली वर्गों को सर्वप्रथम और सर्वाधिक चिन्ता अपनी सम्पत्ति और विशेषाधिकार की होती है। पूंजीपति हर तरह की विचार-धारा को तरह दे सकते है, केवल समाजवाद उनके लिए बहुत बड़ा अपराध है। कारण यह है कि "समाजवाद एकमात्र ऐसा वाद है जिससे वर्गशासन खतरे में पड़ता है, इसलिए वर्गसमाज में उसे हमेशा के लिए वर्जित और गैरकानूनी घोषित कर दिया जाता है।" (पृष्ठ ३८९)।

[illegible]
गया [illegible]
ध्वंस [illegible]
का ड [illegible]
भी जानवर वैसा खूंखार और रक्त का प्यासा नही होता।" (पृष्ठ ३९०)। पूंजीवाद समाज की आर्थिक आवश्यकताएं पूरी नही कर सकता। "जो भी व्यवस्था समाजविरोधी और अस्वाभाविक होगी, उसका विनाश निश्चित है।" (पृष्ठ ३९२)। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में तमाम अनधिकृत भूमि सुलभ थी। बेकारी और भुखमरी वहां भी फैली हुई है। इसी तरह अन्य देशों में पूंजीवाद लाखों नागरिकों को काम नहीं दे सकता। "कारण यह है कि सम्पत्ति पर निजी स्वामित्व होगा तो उत्पादन केवल मुनाफे के लिए होगा।" (पृष्ठ ३९२)। समाज जो सम्पत्ति पैदा करे, उसका बँटवारा समानता के आधार पर होना चाहिए। इसका यह अर्थ नही है कि सबको एक सी आमदनी हो। "सामाजिक समानता का अर्थ है कि उच्चतम आदर्श के अनुसार सभी को अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर मिले, उनमें जितना भी सुखी और भरापूरा जीवन बिताने की क्षमता हो, उसके लिए उन्हें अवसर मिले।" (पृष्ठ ३९३)।

समाजवाद की स्थापना और प्रगति के लिए विश्वशान्ति आवश्यक है। हिटलर के अभ्युदय के बाद युद्ध का खतरा बराबर बढ़ता जाता था। इस संदर्भ में लाला हरदयाल ने लिखा है, "सैन्यवाद-विरोधी प्रचार और तेज़ करना चाहिए जिससे कि युद्ध में मजदूर वर्ग का नाश न हो जाये। शान्ति और प्रगति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। शान्ति के वातावरण में ही समाजवाद का विकास सम्भव है।" (पृष्ठ ३९४-९५)। युद्ध रोकने के लिए मजदूरों का शिक्षण आवश्यक है। उन्हें "आधुनिक समाजवाद के गौरवपूर्ण और प्रेरणादायक इतिहास की शिक्षा दी जानी चाहिए।" (पृष्ठ ३९५)। पहले समय के समाजवादियों ने अपने उद्देश्य के लिए जो काम किया है, जो शिक्षा दी है और जो कष्ट सहे हैं, उस सबका ज्ञान मजदूरों को होना चाहिए। समाजवाद की स्थापना किसी पिकनिक या काकटेल पार्टी के समान है, यह भ्रान्ति इतिहास के ज्ञान से दूर करनी चाहिए।

मार्क्सवाद के बारे में कहते है, "हमें अधिक मार्क्सवाद ही न चाहिए वरन् मार्क्स और उनकी पत्नी का त्याग, उनकी सादगी भी चाहिए। हमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों तरह का मार्क्सवाद सीखना चाहिए।" (पृष्ठ ३९५)। कहना न होगा कि उन्होंने मार्क्सवाद से ही सीखा है कि "बीमार पूंजीवाद मौत की घड़िया गिन रहा है, लेकिन जब तक कि कोई योग्य डाक्टर उसे मौत का प्रमाण-पत्र नहीं दे देता और उसे दफनाने वाले कफन लेकर नहीं आ पहुंचते तब तक वह मरेगा नहीं।" (उप.)। पूंजीवाद जनतन्त्र का ढोंग रचता है। उसके जनतन्त्र मे आर्थिक और राजनीतिक शक्ति पूंजीपति वर्ग के हाथों मे केन्द्रित रहती है। लाला हरदयाल ने पूंजीवादी देशों की पार्लियामेन्टो की तीव्र आलोचना की है और उनके फरेब से समाजवादी नेताओं को सावधान किया है।

विशेष रूप में इंग्लैंड की पार्लियामेन्ट को ध्यान में रखते हुए उन्होने लिखा है, "चोटी के समाजवादी नेताओं को पूंजीवाद की कौंसिलों और पार्लियामेन्टों मे न उलझना चाहिए। वहा दूसरे दर्जे के नेता भेजे जा सकते है। मुख्य नेताओं को शत्रु के शिविर में पहुंचकर वहा के अनैतिक वातावरण में अपने उत्साह और बुद्धिमानी का नाश न कर देना चाहिए।" (उप.)। पूंजीवाद और उसकी राजनीतिक सस्थाओं के बारे मे उनका कहना है कि "पार्लियामेन्टें पतनशील पूंजीवाद की ऐसी सस्थाएँ है जो अब गतिरुद्ध है।" (पृष्ठ ४०३)। वे भ्रष्टाचार, चापलूसी, बड़प्पन के झूठे प्रदर्शन का अखाड़ा है। इनमें परस्पर लड़नेवाले अनैतिक राजनीतिज्ञ और बदमाश भरे हुए है। इसके बदले प्रत्यक्ष जनतन्त्र (डायरेक्ट डेमोक्रैसी) की स्थापना होनी चाहिए। प्रत्यक्ष जनतन्त्र से उनका आशय यह है कि जनता शासन मे स्वयं भाग ले।

जब पार्लियामेन्टों से काम नहीं चलता, तब पूंजीवाद इन्हें भंग करके सीधे तानाशाही से काम लेता है। यह तानाशाही इटली और जर्मनी में स्थापित हो चुकी थी। अन्धराष्ट्रवाद, सैन्यवाद, नस्ल का सिद्धान्त इस तानाशाही के प्रमुख सहायक थे। फासिस्ट तानाशाही के अभ्युदयकाल मे ही लाला हरदयाल ने पूर्ण आत्मविश्वास से उसके अनिवार्य विनाश की घोषणा की थी। उन्होने लिखा था, "विश्व मंच पर अचानक कलाबाजी दिखाने वाले फासिस्टवाद से डरने की ज़रूरत नहीं है। यह कलाबाज़ी अस्थाई है, बुझने से पहले पूंजीवादी दीप की यह आखिरी लौ है। जनतन्त्र एक कदम पीछे हटा है, केवल इसलिए कि वह एक और ऊंची, एक और लम्बी छलांग लगा सके। निर्दय फासिस्टवाद भी श्रमिक सघों को, सर्वहारा की सुसज्जित पंक्तियो की जबरदस्त किलेबन्दी को तोड़ नही सका। जनवादी नेताओं को (जिनमे अनेक नेता कहलाने के योग्य नहीं है) वह जेल में डाल सकता है, देश से निकाल सकता है किन्तु वह विज्ञान को देशनिकाला नही दे सकता और न वह सभी कारखानों और मजदूर सभाओं को अपनी जेल-छावनियों (कन्सनट्रेशन कैम्पों) मे बन्द करके रख सकता है। जब तक विज्ञान जीवित है, तब तक जनतन्त्र के लिए आशा है। चाहे जिस वर्ग का शासन हो, विज्ञान अब अमर है।" (पृष्ठ ४२२-२३)। तानाशाही केवल अन्धविश्वासों के सहारे कायम रह सकती है। जर्मन जाति विशुद्ध आर्य रक्तवाली श्रेष्ठ जाति है

संसार पर शासन करने के लिए रची गई है, इस अन्धविश्वास का प्रचार
ौर उसकी नात्सी-पार्टी ने किया। विज्ञान की भूमि से लाला हरदयाल
द्धान्त का खण्डन करते हैं। जर्मन आर्यवाद को वह असीम अहंकार बता-
मानसिक रोग की संज्ञा देते हैं। कहते हैं, "ये राष्ट्रपूजक और नस्लवादी
एक दिमागी बीमारी के दयनीय शिकार हैं।" (पृष्ठ ६०-६१)। वे उन
ादियो का मजाक उड़ाते है, जिन्होंने ईसा मसीह मे भी जर्मन आर्यरक्त
निकाला था। इस संदर्भ में वह हिन्दू पुनरुत्थानवाद का इतिहासविरोधी
कोण नही भूले। उन्होंने लिखा है, "एक हिन्दू ने अपनी पुस्तक हिन्दू श्रेष्ठता
न्दू सुपीरियार्टी) धरती के स्वर्ग भारत को समर्पित की है जो शाश्वत, सनातन
र अमर है और जिसने संसार को सभ्यता और धर्म का पाठ पढ़ाया है। ऐसे
त्वपूर्ण उद्गार अन्ध देशभक्ति की देन है।" (पृष्ठ ६१)। लाला हरदयाल ने
९३४ मे हिन्दू पुनरुत्थानवाद की आलोचना की, यह ऐतिहासिक महत्त्व की
टना है। भारतीय क्रान्तिकारियो की विचारधारा समाजवाद की ओर प्रवाहित
है, पुनरुत्थानवाद की ओर नही।

समाजवाद के विरोधियो का एक तर्क यह है कि भारत अध्यात्मवादी देश है, वह भौतिकवादी विचारधारा कभी स्वीकार नहीं कर सकता। भारत मे नवजागरण के दो रूप है। एक रूप वह है जो अध्यात्मवाद को श्रेष्ठ उपलब्धि मानकर आधुनिक विज्ञान का विरोध करता है। दूसरा नवजागरण वह है जो रहस्यवाद और धार्मिक अन्धविश्वासों का विरोध करता है और आधुनिक विज्ञान को अपनाने पर जोर देता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लगभग बीस साल तक सरस्वती मे जो काम किया, उसका सम्बन्ध इसी दूसरी तरह के नवजागरण से है। पूंजीवादी लेखकों ने पूरी कोशिश की है कि इतिहास की पुस्तकों मे इस नवजागरण की चर्चा न हो। स्वाभाविक है कि लाला हरदयाल ने रहस्यवाद के विरोध में और बुद्धिवाद के पक्ष मे जो कुछ लिखा है, उसका प्रभाव बुद्धिजीवियों पर नगण्य है। यहां उनकी जिस पुस्तक की चर्चा हो रही है, उसकी भूमिका मे उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि उनका उद्देश्य बुद्धिवाद का सन्देश पहुँचाना और उसकी व्याख्या करना है।

वह भौतिक विज्ञान के अध्ययन पर जोर देते हुए कहते है, "उससे तुम सीखोगे कि ऊर्जा (न कि ईश्वर) परम तत्व अथवा यथार्थ है। ऊर्जा ही भूत का रूप धारण करती है। इस भूत मे अणु-परमाणु भी है। प्रकृति एक विराट यन्त्र है जो ऊर्जा को भूत में और भूत को ऊर्जा मे बदलता है।" (पृष्ठ ६)। जीवविज्ञान के महत्व के बारे मे कहते हैं कि इससे जीवन के उद्भव का वैज्ञानिक सिद्धान्त प्राप्त होगा और इस सिद्धान्त मे सृष्टि रचने वाले देवता को स्थान नहीं है। (पृष्ठ २३)। मानवइतिहास और भौतिक विज्ञान की जानकारी पर बार-बार जोर देते हुए लाला हरदयाल ने नौजवानों से ज्ञान की मशाल लेकर क्रांति के मार्ग पर आगे बढ़ने को कहा है। इस ज्ञान-विज्ञान में अर्थशास्त्र का स्थान महत्वपूर्ण है। वर्तमान सभ्यता का आधार अन्याय और लूट है, इस बात का ज्ञान अर्थशास्त्र मे होगा। अर्थशास्त्र समाजवाद का मार्ग भी दिखायेगा। (पृष्ठ १०८)। अर्थशास्त्र वर्गों से

परे नहीं है। पूंजीवादी अर्थशास्त्र के बदले क्रान्तिकारी अर्थशास्त्र पढ़ना चाहिए।

इस सम्बन्ध में लाला हरदयाल ने लिखा है, "क्लासिकल और पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों से सावधान रहो। अर्थशास्त्र नाम की तटस्थ और निष्पक्ष विज्ञान जैसी कोई चीज नहीं है। जैसे कोई प्रोफेसर भौतिकी और रसायनशास्त्र पढ़ाता है, वैसे ही कोई अर्थशास्त्र की शिक्षा नहीं दे सकता। बहुत होशियारी बरते और तटस्थ बने रहने की कोशिश करे, तो भी लगान, ब्याज और मुनाफे के बारे में उसे कहना पड़ेगा कि ये न्यायपूर्ण हैं या अन्यायपूर्ण। वह अपनी बात चाहे सीधे कहे चाहे घुमा-फिराकर कहे, छिपी हुई बात जाहिर हो जायेगी। प्रेम और राजनीतिक विचार गुप्त नहीं रखे जा सकते। इसलिए जब तुम पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों के ग्रन्थ पढ़ो या उनके व्याख्यान सुनो, तब याद रखो कि वे जान में या अनजान में पूंजीवाद का पक्षपात करते हैं। वे भले ही व्यक्तिगत पूंजी के सामाजिक कार्य, मुक्त प्रतिद्वन्दिता, पगार का लौह नियम आदि को लेकर वाक्‌चातुर्य दिखायें, किन्तु जिनका दिमाग उनके पेट में है, उन्हें पैसा हमेशा खरीदेगा, अपना गुलाम बनायेगा। सबसे अधिक तुम्हें फूरियर और मार्क्स की रचनाएँ पढ़नी चाहिए जिन्होंने आश्चर्यजनक प्रतिभा की मार्मिक दृष्टि से पूंजीवादी समाज का विश्लेषण किया है। वे समाजवादी अर्थशास्त्र के संस्थापकों में हैं।" (पृष्ठ १०६)। वह अन्य अर्थशास्त्रियों का भी उल्लेख करते हैं जिनमें मार्क्स को प्रेरणा मिली। फिर कहते हैं, "अपने मार्क्स को बार-बार दोहराते रहो, सच्चे मार्क्सवाद का मूल्य और महत्व समझो। यदि तुम मार्क्सवाद नहीं समझते तो तुम प्रगतिशील मानवता के अग्रदल में शामिल होकर आगे नहीं बढ़ सकते।" ("Revise your Marx frequently, and appreciate the value and significance of true Marxism. If you do not understand Marxism, you cannot march in the vanguard of progressive Humanity.") (पृष्ठ १०६)।

क्रान्तिकारी विरासत के तौर पर भारत के नौजवानों के लिए लाला हरदयाल का यह सन्देश है। इसका जितना महत्व १६३४ में था, उतना ही और उससे कुछ अधिक महत्व १६८१ में है।

## २. जयप्रकाश नारायण

१६२० में गांधीजी और कांग्रेस के नेतृत्व में जो साम्राज्यविरोधी आन्दोलन चलाया गया, उससे बड़े पैमाने पर जनता में राजनीतिक चेतना का प्रसार हुआ, किन्तु आन्दोलन के नेताओं ने स्वराज्य के जिस लक्ष्य की घोषणा की थी, वह प्राप्त नहीं हुआ। इसके अलावा किसान आन्दोलन के जोर पकड़ने पर जिस तरह आन्दोलन बन्द कर दिया गया, उससे बहुत से लोग क्षुब्ध हुए। ऐसे लोग कांग्रेस के भीतर थे और उसके बाहर भी थे। सन् २० के आन्दोलन के बाद से ही कांग्रेसी नेतृत्व की ऐसी आलोचना शुरू हो गई थी जो समाजवादी दृष्टिकोण से की गई थी। उसकी मांग थी कि स्वाधीनता-आन्दोलन को बिना समझौते की लड़ाई के रूप में पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए चलाया जाये। १६३० के आन्दोलन का लक्ष्य सन् २० की तुलना में अधिक स्पष्ट रूप से पूर्ण स्वाधीनता था। किन्तु इस

लन मे भी यह लक्ष्य प्राप्त नही हुआ। आन्दोलन की परिणति लन्दन के मेज सम्मेलनों मे हुई और फिर वह समाप्त हो गया। इन परिस्थितियों मे सी नेतृत्व के प्रति असन्तोष और बढ़ा और अनेक क्रान्तिकारी नेता यह नव करने लगे कि कांग्रेस का नेतृत्व सफलतापूर्वक स्वाधीनता-आन्दोलन नही ा सकता। उसकी जगह अधिक क्रान्तिकारी नेतृत्व कायम होना चाहिए। इस य मजदूरो के वर्ग-संगठन काफी सक्रिय थे, किसानों को संगठित करने के यास हो रहे थे। कांग्रेस के भीतर किसानों और मजदूरों की नई चेतना के प्रति-निधि के रूप मे एक नया दल उभरने लगा जो कांग्रेस सोशलिस्ट कहलाया। इस ल के अतिरिक्त कम्युनिस्ट भी इस समय कांग्रेस के भीतर रहकर काम कर रहे थे। इस समय की महत्वपूर्ण बात यह है कि कम्युनिस्ट और कांग्रेसी सोशलिस्ट दोनों मिलकर काम कर रहे थे, दोनों मार्क्सवाद को अपनी राजनीतिक कार्यवाही का आधार मानते थे और दोनों ही रूसी क्रान्ति और वहां के समाजवादी निर्माण के प्रबल समर्थक थे। उस समय के भारतीय इतिहास को समझने के लिए कांग्रेसी सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों के आपसी सम्बन्धों को याद रखना जरूरी है, मार्क्स-वाद और सोवियत संघ के प्रति उनके दृष्टिकोण को याद रखना बहुत जरूरी है।

समाजवादियों की ओर से कांग्रेसी नेतृत्व और गांधीवाद की जो आलोचना की जाती थी, वह काफी विस्तार से जयप्रकाश नारायण की पुस्तक **समाजवाद ही क्यों ? (व्हाई सोशलिज्म ?)** मे सुलभ है। यह पुस्तक १९३६ मे जयप्रकाश नारायण द्वारा कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की ओर से बनारस से प्रकाशित की गई थी। इसमे बताया गया है कि समाजवादी विचारधारा केवल एक है और वह मार्क्सवाद है। भारत में वर्ग-भेद और वर्ग-शोषण अंग्रेजी राज मे है और उससे पहले भी था। उसे समाजवाद ही समाप्त कर सकता है। समाजवादी विचारधारा पहले तो इसलिए आवश्यक है कि स्वाधीनता-आन्दोलन समझौते की राह से हट-कर क्रान्तिकारी ढंग से चलाया जाये, दूसरे वह इसलिए जरूरी है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद आर्थिक और राजनीतिक शक्ति शोषकों के हाथ में न रहे, वरन् जनता के हाथ मे हो, जिससे वह शोषण-मुक्त वर्गहीन समाज का निर्माण कर सके। समाजवाद के विरोधियों की ओर से जो तर्क पेश किये जाते थे, उनका उत्तर इस पुस्तक मे है। वे तर्क पुष्पित और पल्लवित करके आज भी पेश किये जाते है, इसलिए इस पुस्तक की विस्तृत चर्चा यहां आवश्यक है।

पुस्तक के आरम्भ मे जयप्रकाश नारायण ने बता दिया है कि वह मुख्यतः कांग्रेसी कार्यकर्ता को ध्यान में रखकर समाजवाद के बारे में लिख रहे हैं और इसलिए बहुत सी बातें उन्होने सरल करके लिखी है। जैसे आज बहुत से लोग समाजवाद की बातें करते है, वैसे ही १९३६ मे अनेक प्रकार के समाजवादों की चर्चा हो रही थी। इससे लाभ उठाकर विरोधी कहते थे, क्या पता समाजवाद किसे कहते है, जितने मुहँ है, उतनी बातें हैं। जयप्रकाशजी कहते हैं कि समाजवाद के अनेक सम्प्रदाय हुए है और परस्परविरोधी सोशलिस्ट पार्टियां भी हुई है किन्तु फासिस्टवाद के अभ्युदय और विश्व संकट के प्रभाव से "समाजवादी चिंतन मे एकता बढ़ती गई है। पहले की अपेक्षा आज यह कहना अधिक सम्भव है कि

समाजवाद का एक ही प्रकार है, एक ही सिद्धान्त है, और वह मार्क्सवाद है।" (पृष्ठ १)। आगे उन्होंने बताया है कि समाजवाद जिस धरती में उगता और पनपता है, वह वर्ग-संघर्ष की धरती है और यह वर्ग-संघर्ष पूंजीवादी समाज में चलता है। पूंजीवादी व्यवस्था विश्वव्यापी है, उसी तरह समाजवादियों का संगठन विश्वव्यापी है। लिखा है, "समाजवादी शब्द का व्यवहार करते समय मैं कम्युनिस्टों को उससे बाहर नहीं करता हूँ। जो व्यवस्था कायम है, उसके विरोध में दुनिया की सबसे बड़ी राजनीतिक पार्टी समाजवादियों की है।" (पृष्ठ १२४)।

संसार में शोषण और निर्धनता का मुख्य कारण यह है कि जो लोग उत्पादन में लगे हैं, वे उत्पादन के साधनों के मालिक नहीं हैं। पैदावार के उपकरण, आवश्यक सामग्री, भूमि आदि पर उनका अधिकार नहीं है। जिनका अधिकार है, वे उत्पादन मुनाफे के लिए करते हैं। (पृष्ठ १०)। जब से कारखानों में भाप से चलनेवाली मशीनों का आविष्कार हुआ, तब से मजदूरों का शोषण बड़े पैमाने पर होने लगा। जो अतिरिक्त सम्पदा मजदूर पैदा करते हैं, उस पर उनका अधिकार नहीं होता। पूंजीवाद के सारे दाव-पेंच इसलिए होते हैं कि अतिरिक्त सम्पदा का अधिक से अधिक भाग वे हड़प लें। जो उत्पादन के साधनों के मालिक हैं, उनके पास सम्पदा एकत्र होती जाती है। इसी सम्पदा का एक भाग वकीलों, डाक्टरों आदि को मिलता है। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के बाद बड़े-बड़े कारखानों में विशाल श्रमिक-समुदायों का काम करना सम्भव हुआ। यह ऐसे युग का आरम्भ था जिसमें होनेवाले शोषण की तुलना और किसी युग में होने वाले शोषण से नहीं की जा सकती। (पृष्ठ १४-१६)।

शोषण की समस्या से निपटने का समाजवादी उपाय यह है कि उत्पादन के साधनों पर जो निजी स्वामित्व कायम है, उसे समाप्त किया जाये और उसकी जगह समाज का स्वामित्व कायम किया जाये। (पृष्ठ १८)। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समाजवादी कार्यकर्त्ता शोषित वर्गों की ओर देखता है, खास तौर से मजदूर वर्ग में सही दृष्टि और आवश्यक सामर्थ्य पाने की आशा करता है। दूसरे शब्दों में "वह समाज में वर्ग-संघर्ष की शक्तियों का भरोसा करता है और कोशिश करता है कि वह उत्पीड़ित और शोषित जनों का संगठन करे जिससे कि समाज के वर्तमान आधार का नाश हो और नये समाज की रचना के लिए नये आधार का निर्माण हो।" (पृष्ठ १२०-२१)।

पूंजीपति कहते हैं कि जनतन्त्र कायम है, इसलिए क्रान्ति अनावश्यक है। जयप्रकाश नारायण का कहना है कि वर्गयुक्त समाज में राज्य-सत्ता पर वास्तविक अधिकार शोषक वर्ग का होता है। यूनानी जनतन्त्र में भी थोड़े से नागरिक गुलामों के बड़े समुदाय पर हुकूमत करते थे और उसे सताते थे। पूंजीवादी जनतन्त्र के बारे में उन्होंने लिखा है, "वोट डालने की पेटी का चलन होने पर और पार्टियों द्वारा सरकार चलाने की व्यवस्था होने पर जनतन्त्र की कहानी कही जाने लगी। यह माना गया कि इन दो संस्थाओं से [यानी पेटी में वोट डालो और जिस पार्टी को वोट दोगे, वह शासन चलायेगी, इन दो बातों से] बड़े से लेकर छोटे तक सारी जनता को शक्ति मिल गयी। लेकिन आर्थिक व्यवस्था के कारण तराजू की डांड़ी

ाली हितों की ओर जोरों से झुकी होती है, वह इस जनतन्त्र को एक नाकर रख देती है। अमीरों के पास बड़े-बड़े साधन हैं, चुनाव लड़ने के ूब पैसा है, बड़े-बड़े अखबार हैं, स्कूल और कालेज हैं। और ग़रीबों के बहुत से बहुत उन्हें बेकारी का भत्ता मिल सकता है [यह इंग्लैण्ड जैसे देशों त है] या फिर वे भूखों मरें। ऐसी हालत में वोट देने का अधिकार बेमानी है। न्त्र का यह दिखावा, यह मखौल भी ग़रीब मजदूरों के खिलाफ हो जाता है तमाम असमानता के बावजूद ये गरीब मजदूर इतने मजबूत होते दिखाई देते आर्थिक व्यवस्था का पलड़ा थोड़ा सा अपनी तरफ झुका लें। 'क्रान्ति' और युनिस्ट' का शोर होने लगता है। जो चीज जनतन्त्र जैसी दिखाई देती थी, वह ध की तरह गायब हो जाती है। वोट डालने का डिब्बा मजदूरों की पहुँच से हर खींच लिया जाता है, पार्टी-व्यवस्था वाली सरकार उठाकर घूरे पर फेंक ी जाती है। उसकी जगह फासिस्टवाद गद्दी पर आ बैठता है। आर्थिक व्यवस्था की डाड़ी और भी मजबूती से मालिकों के हित की तरफ झुक जाती है। इस परिस्थिति में हमारा नारा है, सत्ता आम जनता के हाथ में हो।" (पृष्ठ ३०-३१)। मूल प्रश्न यह है कि सत्ता किस वर्ग के हाथ में है। जो लोग उत्पादन करते हैं, उनके हाथ में आर्थिक और राजनीतिक दोनों तरह की शक्ति होनी चाहिए। जब इनके हाथ में शक्ति होगी, तब जनतन्त्र का रूप बदल जायेगा। "जो काम करते हैं, उनके हाथ में शक्ति होगी, इससे यह नतीजा निकलता है कि जो काम नहीं करते, उनके हाथ में शक्ति भी न होगी।" (पृष्ठ ३०)। इसका मतलब यह है कि मजदूरों के हाथ में राज्य-सत्ता होगी तो वे उसका उपयोग विरोधियों को दबाने के लिए करेंगे।

सत्ता का प्रश्न सर्वोपरि है। उसके बिना मजदूर वर्ग समाजवाद नहीं कायम कर सकता। "जब राज्य-सत्ता तुम्हारे हाथ में होगी, तब तुम कानून बना सकते हो, तुम प्रचार और शिक्षा का वह सारा विशाल तन्त्र काम में ला सकते हो जो आधुनिक विज्ञान से सुलभ हुआ है, तुम अपनी इच्छाओं को अमल में ला सकते हो। और यदि विरोध हो तो उसका दमन करने के लिए तुम राज्य-सत्ता के शस्त्र-बल, पुलिस और फौज, का इस्तेमाल कर सकते हो। जो भी कानून बनता है, उसके पीछे राज्य-सत्ता की वह शक्ति होती है जिसका काम समझाना-बुझाना, और जरूरत पड़े तो, दमन करना है।" (पृष्ठ ३)। आगे कहते हैं कि राज्य-सत्ता हाथ में न हो तो कोई भी पार्टी समाजवाद का निर्माण नहीं कर सकती। राज्य-सत्ता हाथ में होने पर समाजवाद की स्थापना के लिए पार्टी के पास "या तो विरोध को दबाने के लिए यथेष्ट दमनकारी शक्ति होनी चाहिए या विरोध से निपटने के लिए यथेष्ट जनसमर्थन होना चाहिए। आखिर में दोनों बातों का मतलब एक ही है। समाजवादी राज्य-सत्ता के पास यदि कोई दमनकारी शक्ति होगी भी, तो वह जनसमर्थन से प्राप्त होगी। जिस समर्थन का आधार जनसाधारण नहीं बल्कि सम्पत्तिशाली वर्ग है, वह समर्थन विरोधियों की तरफ चला जायेगा।" (पृष्ठ ३-४)।

उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व होने पर उनके भूतपूर्व स्वामियों, पूंजीपतियों का क्या होगा? इसका उत्तर देते हैं कि श्रमिकों के समाज में इन

स्वामियों को भी श्रमिक बनना होगा। इनसे जो सम्पत्ति ले ली जायेगी, क्या उसके लिए उन्हें मुआवज़ा दिया जायेगा ? उन्हें मुआवज़ा न दिया जायेगा, और इसका कारण यह है कि मुआवज़ा देने का मतलब यह होगा कि इन्होंने जो सम्पदा कमाई है, वह अतिरिक्त मूल्य हड़पकर, शोषण के द्वारा नही कमाई, वरन् उचित साधनों से कमाई है। यदि पूंजीपति अपनी हरकतों से बाज़ न आये तो क्या होगा ? इसका उत्तर यह है, "यदि उन्होंने नये अध्यादेशों का विरोध किया, नये उद्योग-धन्धों मे तोड़-फोड़ की, नये समाज के विरुद्ध षड्यन्त्र किया, तो उनकी खैर न होगी। कानून की निगाह में वे जनता के शत्रु होंगे और उनसे उसी तरह निपटा जायेगा। हो सकता है कि क्रान्तिकारी तनाव के कारण, नयी व्यवस्था के अभी जम न पाने के कारण, यात्रा शुरू करते ही तूफानों से जहाज़ को बचाने की आतुरता के कारण उनके खिलाफ जनता का क्रोध भड़क उठे। इसलिए स्वामियों के साथ कैसा सलूक किया जाता है, यह बहुत कुछ खुद उन्ही के आचरण पर निर्भर है।" (पृष्ठ ४२-४३)। साम्यवादी लोग हिंसा द्वारा समाज बदलना चाहते है, इस प्रचार का युक्तिसंगत उत्तर यहां दे दिया गया है।

समाजवाद ससार के लिए और भारत के लिए आवश्यक है क्योंकि समाजवाद के बिना स्वाधीनता अधूरी है। राजनीतिक स्वाधीनता के साथ आर्थिक स्वाधीनता आवश्यक है। जहा तक समाजवादियों का सम्बन्ध है, "भारत मे जो लोग सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट विचारधारा के है, वे सब मानते हैं कि हमारे लिए आर्थिक स्वाधीनता का एक ही अर्थ है—समाजवाद। समाजवाद के बिना आर्थिक स्वाधीनता मिथ्या प्रपञ्च है, ठगविद्या है।" (पृष्ठ २७)। समाजवाद के लिए परिस्थितियां कैसे तैयार की जा सकती है, यह रूस के मार्क्सवादियों ने दिखा दिया है। समाजवाद के अन्तर्गत अनेक प्रकार की विचारधाराएँ है किन्तु "अभी तक केवल कम्युनिस्टों ने रूस मे अपनी महान् और उल्लेखनीय सफलता के द्वारा अपना कार्यनीति-सम्बन्धी सिद्धान्त सही साबित किया है। जो लोग दूसरे तरीकों की बातें करते रहे है, वे हर जगह असफल सिद्ध होते है।" (पृष्ठ १-२)। पूंजीवादी समाज की अराजकता खत्म करके रूसी कम्युनिस्टो ने दिखा दिया है कि समाजवादी व्यवस्था में योजनाबद्ध विकास कैसे किया जाता है। जयप्रकाश नारायण कहते हैं कि लोगों के मन मे पूर्वाग्रह पैदा करने के लिए प्रचार किया जाता है कि रूसी समाज-व्यवस्था मे नौकरशाही का बोलबाला है, उसने लोगों की पहलकदमी खत्म कर दी है, वह व्यवस्था पूरी तरह असफल हो चुकी है। इस तरह क प्रचार के बारे में "इतना ही कहना काफी है कि पूजीवाद का वर्तमान संकट हल करने के सारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न असफल हो चुके है, केवल रूस अपना सर ऊंचा किये हुए है, उत्पादन मे और लोगों का जीवन स्तर ऊचा करने मे बराबर प्रगति करता जाता है। जिस समय बेकारी बड़े पैमाने पर फैली हुई है, अकेला रूस ऐसा देश है जहा काम करनेवालो की कमी है।" (पृष्ठ ३३)।

समाजवाद के निर्माण के लिए मूल बात यह है कि सामाजिक हित से अलग ऐसा कोई आर्थिक हित न होना चाहिए जिसमे दोनों मे संघर्ष पैदा हो। पूजीवादी अव्यवस्था की जगह जब समाजवादी व्यवस्था कायम की जाती है, तब रचनात्मक

क्षमता के नये स्रोत फूट पड़ते हैं, लोगों को नये ढंग से पहल करने का मौका मिलता है। भौतिक दृष्टि से ही नही, नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी समाजवाद मानव प्रगति का नया अध्याय शुरू करता है। इस सबका आम आदमी के लिए क्या महत्व है, "यह रूस को देखने से बहुत अच्छी तरह समझ मे आ जाता है। ऐसा लगता है कि वहां एक नयी चेतना, एक नयी आस्था जाग चुकी है जिसके लिए धरती या आकाश, पानी या पवन कुछ भी अजेय नही है। और ज़रा सोचिये कि कुछ ही साल पहले इस देश मे घोर निराशा फैली हुई थी, जिस आलस के लिए पूरब के लोग बदनाम है, यह देश उसका घर था!" (पृष्ठ ३२)।

समाजवाद के लिए विकास की योजनाएं बनाना ही काफी नही है। आर्थिक [illegible] योजनाएं बना रहे [illegible] इसका कारण यह [illegible] को समाज-हित में चलाने के लिए उसमें लचीली की जाये; उनका उद्देश्य यह है कि पूजीपतियों को पहले की तरह बराबर मुनाफा मिलता रहे। मुनाफा खत्म करने का मतलब होगा पूंजीवाद को खत्म करना। राज्य-सत्ता आम जनता के हाथ मे होगी तो "उसका आधार आर्थिक क्षेत्र मे वर्गों के शासन का खात्मा होगा। आम जनता की आर्थिक आज़ादी का यही अर्थ होना चाहिए कि सम्पदा पैदा करने वाले साधनों पर निजी मिल्कियत से जो आर्थिक शोषण उत्पन्न होता है, उसे समाप्त कर दिया गया है। समाजवादी योजनाओं की शुरुआत होगी निहित स्वार्थों को खत्म कर देने से।" (पृष्ठ ३९)।

भारत मे अभी समाजवाद की स्थापना का प्रश्न न था। पहली और सबसे बड़ी आवश्यकता देश को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त करने की थी। फिर भी समाजवाद क्या है, भारतीय जलवायु उसके अनुकूल है या नही, रूस में समाजवादी प्रयोग सफल हुआ है या असफल, इन सब प्रश्नों को लेकर हमारे यहां राजनीति और साहित्य मे ज़ोरों से बहस हो रही थी। यह सब बहस अकारण नही थी। समकालीन राजनीतिक कार्रवाई से उसका गहरा सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध का पहला कारण यह था कि भारत के बहुत से जागरूक लोग स्वाधीनता-आन्दोलन के कांग्रेसी संचालन से असन्तुष्ट थे। पुराना रास्ता छोड़कर वे नया ज़्यादा कारगर रास्ता खोज रहे थे। समाजवादी कहते थे कि उन्हें यह रास्ता मालूम है और उनकी कार्यनीति मानी जाये तो स्वाधीनता-आन्दोलन समझौतावाद के दलदल से निकलकर क्रान्ति के प्रशस्त जनपथ पर आगे बढ़ सकता है। जो लोग समझौतावादी मार्ग पर चलना चाहते थे, वे कहते थे, क्रान्ति का मार्ग हिंसा का मार्ग है, इतनी हिंसा होने के बाद भी रूस मे समाजवादी प्रयोग सफल नहीं हुआ। इस प्रकार जो लोग पुराने रास्ते की वकालत करते थे, वे रूसी क्रान्ति, समाजवादी व्यवस्था, मार्क्सवाद की नुकताचीनी करते थे। दूसरी तरफ जो लोग [illegible] कारण यह [illegible]

करना सीखेंगे, पूंजीपतियों से मुनाफे का हिस्सा मांगेंगे और इस सबका परिणाम यह हो सकता है कि वे राजनीतिक आन्दोलन मे इतने सक्रिय हो जायें कि उसकी बागडोर पूंजीपतियों के हाथ से निकल जाये। समाजवाद की तात्कालिक रचना का प्रश्न उपस्थित न होने पर भी पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सीमित अधिकारों के लिए मजदूरों के संघर्ष का प्रश्न सदा ही विद्यमान था। इस संघर्ष को समाजवादी विचारधारा से बल मिलता था। पूंजीपतियों का हित इस बात मे था कि मजदूरों को समाजवाद की छूत से बचाया जाये। तीसरा कारण यह था कि दूरदेश पूंजीपति जानते थे कि आज़ादी की लड़ाई मे किसानो की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। मजदूर अपने हितो के लिए लड़े तो इसका असर किसानो पर भी पड़ेगा, वे ज़मीदारों से ज़मीन मांगेंगे, मांगने से न मिलेगी तो कानून तोड़ेंगे, ज़मीन पर जबरदस्ती कब्ज़ा करेंगे। यदि किसानो का सरकार-विरोधी, ज़मीदार-विरोधी आन्दोलन ज़ोर पकड़ता गया, तो स्वाधीनता-आन्दोलन का रूप ही बदलता जायेगा, पुराना रास्ता छोड़कर उसे नये रास्ते पर चलने से कोई भी न रोक सकेगा। चौथा कारण यह था कि स्वाधीनता-आन्दोलन चाहे जिस रास्ते पर चले, लाठी-गोली का सामना करना पड़ा, तो यह काम जनता करेगी। चाहे जिस रास्ते से आज़ादी मिले, चतुराई की बात यह है कि उसका लाभ सबसे पहले और सबसे अधिक पूंजीपतियो को हो। समाजवादी विचारधारा के फैलने का मतलब यह था कि मजदूरो मे वर्गचेतना फैलेगी, किसान अपना हित पहचानेंगे, मध्यवर्ग के नौजवान किसानो और मजदूरो का साथ देंगे, आज़ादी मिलने के बाद वास्तविक सत्ता पूंजीपतियों के हाथ मे न रहेगी, अंग्रेज़ों के जाने के बाद राजनीतिक स्वाधीनता के साथ आर्थिक स्वाधीनता भी प्राप्त होगी। यह सब न होने पाये, इसलिए समाजवाद के विरोध मे अभी से, भारत के स्वाधीन होने के बहुत पहले से, प्रचार शुरू हो गया था। इन विरोधियों को लक्ष्य करके जयप्रकाश नारायण ने लिखा है कि यह बिल्कुल स्पष्ट है कि "स्वराज्य पाने के बाद ये लोग चाहे जो वाद अपनायें, कम से कम समाजवाद का विरोध वे ज़रूर करेंगे।" (पृष्ठ ७४)।

समाजवाद के विरोधियों को उत्तर देते हुए जयप्रकाश नारायण ने जो बातें कही है, उन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि वे आज़ादी मिलने के ग्यारह साल पहले नही लिखी गईं, वरन् उसके पच्चीस साल बाद लिखी गयी हैं। समाज में वर्गों की स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति, का सही विश्लेषण किया जाय तो आगे चलकर उनकी कार्यनीति का नतीजा क्या होगा, इसका पता लगाना बहुत कठिन नहीं है। पहले एक तर्क दिया जाता था और अब भी दिया जाता है कि स्वराज्य मिलने के बाद आम जनता को वोट देने का अधिकार दे दिया जायेगा; राजनीतिक स्वाधीनता कायम हो जायेगी। उसके बाद जनता चाहेगी तो आर्थिक स्वाधीनता भी कायम कर लेगी। जयप्रकाश नारायण औपचारिक और वास्तविक जनतन्त्र में भेद करते है। आम जनता को वोट देने का अधिकार मिल जाये तो औपचारिक जनतन्त्र कायम हो जायेगा। वास्तविक जनतन्त्र के लिए अर्थतन्त्र में बुनियादी परिवर्तन आवश्यक है। किसी समय इंग्लैंड में, बेन्थम और गोडविन के ज़माने मे, लोग सोचते थे कि बालिग मताधिकार मिलने से जनता इतनी शक्तिशाली हो

[illegible] के बन्धन को दूर कर [illegible]

[illegible] है। फिर भी [illegible]

[illegible] हुआ है"

[illegible] करने के लिए

[illegible] के कारोबी बन और

(पृष्ठ [illegible])।

[illegible] रहे हैं। (पृष्ठ [illegible])।

[illegible] है। [illegible] पूंजीपति

[illegible] किया। इस प्रकार "[illegible]

[illegible] जिनके द्वारा उसने अपना

[illegible]" (पृष्ठ [illegible])। भारत में इसी तर

[illegible] कायम किया और [illegible] तो उसका परिणाम क्या होगा ? उत्तर

[illegible] कायम किया जाये तो उसका परिणाम [illegible] हो चुका है, उससे कुछ बदतर ही है

[illegible] जनतन्त्र कायम किया [illegible] के देशों में हो चुका है, उससे कुछ बदतर ही है

[illegible] होगा जो पश्चिम के देशों में [illegible] के लिए भारत की जनतान्त्रिक राज्य-

[illegible] और [illegible] को पंगु डालने के लिए भारत की जनतान्त्रिक राज्य[illegible]

[illegible] भी भयानक अस्त्र बन सकती है। भारत में इन वर्गों के बारे में जो भी [illegible]

[illegible], उनके आधार पर किसी और सुखद परिणाम की कल्पना नहीं की जा

[illegible] सभी जानते हैं कि हिन्दुस्तानी के मुकाबले ब्रिटिश कारखानेदार [illegible]

[illegible] होता है। हिन्दुस्तान के साहूकारों और जमीदारों के कारनामे [illegible]

[illegible] और उत्पीड़न में [illegible] का कोई सानी नहीं है।

[illegible] हैं। अत्याचार और उत्पीड़न में राज- [illegible] ?" (पृष्ठ [illegible])

[illegible] इन वर्गों के हाथ में होगी तब जनत[illegible]

[illegible]) । [illegible] नारायण स्वाधीनता-प्राप्ति [illegible]

[illegible] सामाजिकस्थिति देखकर कहते हैं [illegible]

[illegible] हाथ में होगी तो आम जनता का उत्पीड़न समाप्[illegible]

[illegible] यह था कि समाजवाद की ओर बढ़[illegible]

[illegible] करना जरूरी होगा। भारत फिर [illegible]

[illegible] होगी ? जयप्रक[illegible]

आर्थिक विकास कर सकें। आम पूंजीवादी अराजकता और पंगुता के बीच समाजवादी रूस की निरन्तर बढती हुई आर्थिक प्रगति समाज की उत्पादक शक्तियों के निर्माण में समाजवादी शक्तियों की श्रेष्ठता सिद्ध कर चुकी है।" (पृष्ठ ७८)। स्वराज्य मिलने के बाद भारत का रास्ता पूजीवादी होगा या गैरपूजीवादी, इस प्रश्न का उत्तर बहुत पहले दिया जा चुका था। होना चाहिए गैरपूजीवादी अर्थात् समाजवादी किन्तु यदि स्वाधीनता-आन्दोलन की बागडोर पूजीपति वर्ग के हाथ में होगी, तो वह रास्ता पूजीवादी ही होगा।

जयप्रकाश नारायण इस सम्भावना पर विचार करते है कि भारत का पूजीपति वर्ग अपने नेतृत्व मे राष्ट्रीय क्रान्ति पूरी कर लेता है, "तो इसमे सन्देह नही कि वह इस हालत में होगा कि देश पर (सामन्ती हितों के साथ मिलकर) अपना शासन कायम करे। ऐसा वह जनतन्त्र की आड में कर सकता है और खुली फासिस्ट व्यवस्था के रूप मे भी कर सकता है। उस हालत मे जनता को अपनी मुक्ति के लिए दूसरी क्रान्ति करनी होगी।"(पृष्ठ ७९)। आजादी मिलने के साथ ही समाजवादी क्रान्ति होगी या इन दोनों के बीच मे फासला होगा, यह प्रश्न भारतीय राजनीतिज्ञों के सामने बहुत पहले पेश हो चुका था। दोनो के बीच मे फासला होना तो अनिवार्य था क्योंकि उद्योगीकरण के बिना समाजवाद की स्थापना नही हो सकती, विशेषरूप से खेती मे कोई बुनियादी तब्दीली नही हो सकती। किन्तु यह फासला कितना होगा, यह इस पर निर्भर था कि स्वाधीनता-आन्दोलन मे वर्गों का आपसी सन्तुलन किस तरह का है। यदि इस सन्तुलन मे पूजीवादियों का पलडा भारी है तो यह फासला लम्बा होगा। दूसरी ओर यदि समाजवादियों का पलड़ा भारी होगा, तो उद्योगीकरण उनकी देखरेख मे होगा और यह फासला बहुत थोड़ा होगा। जयप्रकाश नारायण इस समस्या का सीधे सामना करते हुए कहते है कि "यदि, दूसरी ओर साम्राज्यवाद को परास्त करने का काम जनसाधारण, मजदूर, किसान और निर्धन शहरी मध्यवर्ग करते है, तो किसी का यह सुझाव रखना अपराध होगा कि सत्ता पर अधिकार कर लेने के बाद वे उसे पूजीपतियो को सौप दे। उस हालत मे पूजीवादी दौर को लाना जान-बूझकर आम जनता के हितो का बलिदान करना होगा। आम जनता के लिए एक ही तर्कसंगत रास्ता होगा कि वह सबसे क्रान्तिकारी और सचेत वर्ग, मजदूर वर्ग, के नेतृत्व मे अपना शासन कायम करे और समाजवाद की ओर बढ़ चले।" (पृष्ठ ७९)। इस प्रकार स्वाधीनता-आन्दोलन की सफलता, और उसके साथ स्वाधीनताप्राप्ति के बाद विकास की मंजिल, इस पर निर्भर थी कि इस आन्दोलन मे मज़दूर वर्ग और समाजवादी शक्तियों की स्थिति क्या है।

भारत के स्वाधीन होने पर क्या समाजवादियो के पास इतनी शक्ति होगी कि वे पूजीवाद की जगह नयी व्यवस्था कायम कर सकें? यदि उनमे स्वाधीनता-आन्दोलन का सफल नेतृत्व करने की ताकत होगी तो वे नयी व्यवस्था भी कायम कर सकेंगे। यदि स्वाधीनता-आन्दोलन में वे पूजीपतियो के पिछलगुए बने रहे, तो आजादी मिलने पर यह पिछलगुआपन दूर करने में कुछ समय लगेगा। जयप्रकाश नारायण को १९३६ मे आशा थी कि समाजवादी लोग इतनी शक्ति जुटा लेगे कि

कि वह समाज की सभी बुराइयों को, सभी तरह के अन्याय को दूर कर
यह अधिकार उसे मिल गया किन्तु न तो बुराइयां दूर हुईं, न अन्याय खत्म
समाजवादी कहते आये थे कि "आर्थिक शक्ति वोट डालने के अधिकार मे
, वरन् देश के आर्थिक जीवन पर अधिकार पाने में है। फिर भी असमाज-
लोग मतपेटी की शक्ति का भरोसा करते रहे। जब इस पेटी से समस्या हल
ई, तब चारो तरफ से यह शोर सुनाई देने लगा कि जनतन्त्र असफल हुआ है।"
ष्ठ ७५-७६)।

पश्चिम के लोग मानने लगे कि समाज की समस्याएं हल करने के लिए
र्थिक जनतन्त्र आवश्यक है किन्तु भारत मे पुरानी पीढ़ी के कांग्रेसी जन और
लिबरल लोग अभी बेन्थम और गोडविन के जमाने में रह रहे हैं। (पृष्ठ ७६)।
आधुनिक जनतन्त्र का विकास पूजीवाद के साथ हुआ है। अभ्युदयशील पूजीपति
वर्ग ने उसका उपयोग सामन्ती सत्ता से लडने के लिए किया। इस प्रकार "जन-
तान्त्रिक राज्य-सत्ता पूजीपति वर्ग का अस्त्र बन गयी जिसके द्वारा उसने अपना
शासन कायम किया और उसे बनाये रखा।" (पृष्ठ ७७)। भारत मे इसी तरह
राजनीतिक जनतन्त्र कायम किया जाये तो उसका परिणाम क्या होगा? उत्तर है,
वही परिणाम होगा जो पश्चिम के देशों मे हो चुका है, उससे कुछ बदतर ही होगा।
"गरीबो और शोषितो को पीस डालने के लिए भारत की जनतान्त्रिक राज्य-सत्ता
और भी भयानक अस्त्र बन सकती है। भारत में इन वर्गों के बारे में जो भी जान-
कारी है, उसके आधार पर किसी और सुखद परिणाम की कल्पना नहीं की जा
सकती। सभी जानते है कि हिन्दुस्तानी के मुकाबले ब्रिटिश कारखानेदार ज्यादा
अच्छा मालिक होता है। हिन्दुस्तान के साहूकारों और जमीदारों के कारनामे जग-
जाहिर है। अत्याचार और उत्पीड़न मे राजे-महराजो का कोई सानी नहीं है।
जब सत्ता इन वर्गों के हाथ में होगी तब जनता पर क्या बीतेगी?" (पृष्ठ ७७-
७८)। जयप्रकाश नारायण स्वाधीनता-प्राप्ति से पहले यहां के पूंजीपतियों और
जमींदारों की सामाजिक स्थिति देखकर कहते है कि स्वराज्य मिलने पर सत्ता इनके
हाथ में होगी तो आम जनता का उत्पीड़न समाप्त न होगा।

एक तर्क यह था कि समाजवाद की ओर बढने के लिए भी पहले राजनीतिक
जनतन्त्र कायम करना जरूरी होगा। भारत पिछड़ा हुआ देश है; उद्योगीकरण के
बिना समाजवाद की स्थापना कैसे होगी? जयप्रकाश नारायण इस सन्दर्भ में कहते
हैं, "भारत जैसे औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश को पूरी तरह औद्योगिक
बनने मे स्वभावत: कुछ समय लगेगा। इस बारे में कोई सन्देह नहीं है। किन्तु इसके
साथ जो बात हमारे लिए उतनी ही स्पष्ट नही है, वह यह है कि सामान्य आर्थिक
विकास और यह उद्योगीकरण पूजीवाद की ही देखरेख में क्यों हो? जब समाज-
वाद की शक्तियों का अभ्युदय हो चुका है, जब ठीक यही काम पूरा करने में ये
शक्तियां दुनिया के छठे भाग मे इतनी सफलता पा चुकी है, जब पूंजीवाद का ह्रास
हो रहा है और उत्पादन की शक्ति बढ़ाने के बदले वह उस पर रोक लगा रहा है,
तब किसी भी बुद्धिमान आदमी के लिए ऐसा कोई कारण न होना चाहिए कि आम
जनता को शोषकों के हवाले कर दिया जाय, केवल इसलिए कि ये लोग राष्ट्र का

ादी शक्तियों की श्रेष्ठता सिद्ध कर चुकी है।" (पृष्ठ ७८)।
वाद भारत का रास्ता पूंजीवादी होगा या गैरपूंजीवादी, इस
हुत पहले दिया जा चुका था। होना चाहिए गैरपूंजीवादी अर्थात्
यदि स्वाधीनता-आन्दोलन की बागडोर पूंजीपति वर्ग के हाथ
रास्ता पूंजीवादी ही होगा।
रायण इस सम्भावना पर विचार करते है कि भारत का पूंजी-
त्व मे राष्ट्रीय क्रान्ति पूरी कर लेता है, "तो इसमें सन्देह नहीं
मे होगा कि देश पर (सामन्ती हितो के साथ मिलकर) अपना
। ऐसा वह जनतन्त्र की आड में कर सकता है और खुली
के रूप मे भी कर सकता है। उस हालत मे जनता को अपनी
री क्रान्ति करनी होगी।" (पृष्ठ ७९)। आजादी मिलने के साथ
न्ति होगी या इन दोनो के बीच मे फ़ासला होगा, यह प्रश्न भारतीय
ामने बहुत पहले पेश हो चुका था। दोनों के बीच में फासला
था क्योंकि उद्योगीकरण के बिना समाजवाद की स्थापना नहीं
रूप से खेती मे कोई बुनियादी तब्दीली नहीं हो सकती। किन्तु
ा होगा, यह इस पर निर्भर था कि स्वाधीनता-आन्दोलन में वर्गों
न किस तरह का है। यदि इस सन्तुलन मे पूंजीवादियों का पलड़ा
ासला लम्बा होगा। दूसरी ओर यदि समाजवादियों का पलड़ा
द्योगीकरण उनकी देखरेख में होगा और यह फ़ासला बहुत थोड़ा
नारायण इस समस्या का सीधे सामना करते हुए कहते हैं कि
र साम्राज्यवाद को परास्त करने का काम जनसाधारण, मजदूर,
न शहरी मध्यवर्ग करते है, तो किसी का यह सुझाव रखना
सत्ता पर अधिकार कर लेने के बाद वे उसे पूंजीपतियों को
ल में पूंजीवादी दौर को लाना जान-बूझकर आम जनता के
र करना होगा। आम जनता के लिए एक ही तर्कसंगत रास्ता
से क्रान्तिकारी और सचेत वर्ग, मजदूर वर्ग, के नेतृत्व में अपना
और समाजवाद की ओर बढ़ चले।" (पृष्ठ ७९)। इस प्रकार
लन की सफलता, और उसके साथ स्वाधीनताप्राप्ति के बाद
ल, इस पर निर्भर थी कि इस आन्दोलन में मजदूर वर्ग और
तयों की स्थिति क्या है।
ाधीन होने पर क्या समाजवादियो के पास इतनी शक्ति होगी कि
जगह नयी व्यवस्था कायम कर सकें? यदि उनमे स्वाधीनता-
ल नेतृत्व करने की ताक़त होगी तो वे नयी व्यवस्था भी कायम
स्वाधीनता-आन्दोलन में वे पूंजीपतियों के पिछलगुए बने रहे, तो
र यह पिछलगुआपन दूर करने मे कुछ समय लगेगा। जयप्रकाश
३६ मे आशा थी कि समाजवादी लोग इतनी शक्ति जुटा लेंगे कि

वे स्वाधीनता-आन्दोलन का नेतृत्व कर सकें। उन्होंने लिखा है, "यदि हम पूर्ण स्वाधीनता पाने के लिए आवश्यक शक्ति जुटा लेते है, और हमें आशा है कि हम जुटा लेंगे, तो हमारे पास इतनी शक्ति होगी कि हम इस देश में लगभग कुछ भी कर सकेंगे। भारत मे साम्राज्यवाद से ज्यादा मजबूत कोई भी पार्टी या शक्ति नही है। यदि हमने साम्राज्यवाद को धूल चटा दी तो हमें चुनौती देने वाला कोई न होगा। राजा और जमींदार अंग्रेजी राज के सहारे आज जरा ताक़तवर जान पडते हैं लेकिन हमारे हाथ लगाते ही इनका नाम-निशान न बचेगा। शायद पूजीपति कुछ ज्यादा ताकतवर निकलें पर हमारा रास्ता रोकने की ताब इनमे भी न होगी।" (पृष्ठ ६७-६८)। इस बारे मे सन्देह नही रह जाता कि सन् ३० और ४० के दशक मे भारत के समाजवादी यह बहुत साफ देख रहे थे कि स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व कांग्रेस के हाथ में बना रहा तो स्वाधीनताप्राप्ति का लाभ आम जनता को न होगा और समाजवाद की स्थापना के लिए फिर से संघर्ष करना जरूरी हो जायेगा।

समाजवाद के विरुद्ध एक सुपरिचित तर्क यह रहा है कि वह भारतीय परिस्थितियो, विशेषकर भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है। इस संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी गयी कि विभिन्न वर्ग यहां सहयोग का जीवन बिताते रहे, यहा वर्गसंघर्ष नही था, वर्गभेद पैदा करके समाज में अशान्ति फैलाना साम्यवादियों का काम है और ये लोग विदेशी विचारधारा से प्रभावित हैं। इस तर्क का सारतत्व यह धारणा है कि भारत मे वर्ग तो थे किन्तु शोषण नही था; वर्तमान समाज में वर्ग हैं और शोषण भी है, इस शोषण को सहयोग मे बदल देना चाहिए। भारतीय जनता वर्गशोषण के विरुद्ध पहले कभी नही लड़ी; उसे आज भी न लड़ना चाहिए। पर अंग्रेजी राज से लड़ना अनिवार्य है। आजादी मिले बिना पूंजीवाद का पूरी तरह विकास नही हो सकता, पूंजीपतियों को शोषण का विस्तार करने का अवसर नही मिल सकता। यह लड़ाई ऐसे चलानी चाहिए कि वह क्रान्तिकारी रूप न ले। उसे हमेशा अहिंसात्मक बनाये रखना चाहिए अर्थात् साम्राज्यवाद से सुलह-समझौते का रास्ता खुला रखना चाहिए।

इस संदर्भ मे जयप्रकाश नारायण ने लिखा है कि समाजवाद जैसे अन्य देशों के लिए आवश्यक है, वैसे ही भारत के लिए भी जरूरी है क्योंकि "भारत में भी एक ओर गरीबी है, गरीबी ही नही भुखमरी है, और दूसरी ओर धन-दौलत और ऐश का सामान है; भारत में भी शोषण है; यहां भी उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार है। इसका मतलब यह है कि जो आर्थिक और सामाजिक असमानता आधुनिक समाज की बुराइयो की जड़ है, वह भारत मे भी है और उसका कारण यहां भी वही है, थोड़े से लोगों द्वारा बहुसंख्यक जनता का शोषण। और यह अंग्रेजी राज का परिणाम नही है। वह उससे स्वतंत्र है और उसके बाद भी जारी रहेगा। विदेशी प्रभुत्व खत्म कर देने से भारतीय निर्धनता की समस्या अपने आप हल न हो जायेगी, थोड़े से लोगो द्वारा विशाल जनता का शोषण समाप्त न हो जायेगा।" (पृष्ठ २१-२२)। मार्क्सवादी दृष्टि से कभी-कभी भविष्य कितना साफ दिखाई देता है, इसका प्रमाण जयप्रकाश नारायण के ये वाक्य हैं।

उन्हें लिखते समय जो भविष्य था, वह अब अतीत और वर्तमान है। उससे हम अच्छी तरह परिचित है। भारत की वर्तमान निर्धनता अंग्रेज़ी राज का परिणाम है, साथ ही उसमें देशी पूजीवाद के शोषण का बहुत बड़ा योगदान है। अंग्रेज़ी राज से पहले यहां जो शोषण विद्यमान था, वह अंग्रेज़ी राज के कायम होने का एक कारण था। और अंग्रेज़ी राज से पहले यहां तुर्कों को अपने विजयअभियान में जो सफलता मिली, उसका कारण गरीब किसानों का भयानक शोषण था।

जयप्रकाश नारायण ने तर्क दिया है कि जिन नियमों के अनुसार दौलत एक जगह जमा होती है, वे नियम जैसे और जगह लागू होते है, वैसे ही भारत मे लागू होते है। सम्पत्ति के इस केन्द्रीकरण को रोकने का जो उपाय कारगर है, वह दूसरी जगह के लिए सही है और भारत के लिए भी सही है। शोषण को रोकने और दौलत का असमान बँटवारा खत्म करने के लिए उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार जैसे और देशो के लिए ज़रूरी है, वैसे ही भारत के लिए ज़रूरी है। इसका यह अर्थ नही है कि सब देशों में क्रान्ति एक ही ढंग से होती है। विकास की सामान्य रूपरेखा एक ही होती है, हर देश की अपनी विशेषताएँ इस रूपरेखा के अन्तर्गत होती है। भारत के लिए जयप्रकाश नारायण का कहना है कि "समाजवाद के सिद्धान्त यहां किस तरह और किन मंजिलो मे लागू किये जायेंगे, इस पर भारत की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ सकता है, वह तरीका और वे मंज़िलें इन परिस्थितियों से निर्धारित हो सकती है किन्तु परिस्थितियों की वह विशेषता इन सिद्धान्तो को कभी नही बदल सकती।" (पृष्ठ २२)।

भारत कृषि-प्रधान देश है, स्वाधीन होने से पहले कृषि की प्रधानता और भी अधिक थी। ऐसे देश में यदि ग्राम समाज को आर्थिक इकाई माना जाये और उसे स्वायत्त बना दिया जाय, तो क्या इसमे शोषण की समस्या हल न हो जायेगी? जयप्रकाश नारायण ने इस समाधान पर भी विचार किया है। समाज का पुनर्गठन इस तरह किया जाय कि आदमी के पास उतनी ज़मीन हो, जितनी मे वह स्वयं खेती कर सके। इसी तरह कारीगर अपने कारखाने में अपने औज़ारो से काम करे। उत्पादन के जिन साधनों का उपयोग आदमी खुद अपने हाथो न कर सके, उन साधनो पर उसका अधिकार रहने ही न दिया जाये। जयप्रकाश नारायण कहते हैं कि तानशाही के बिना वर्तमान समाज को बदलकर इस तरह की समाज-व्यवस्था कायम करना सम्भव नही है। पहली कठिनाई तो उसे कायम करने की है। दूसरी कठिनाई का सम्बन्ध उसकी उपयोगिता से है। जयप्रकाशजी कहते है कि ऐसी व्यवस्था कायम करना सम्भव हो, तो भी उसे कायम करना हितकर न होगा। संचार और यातायात के साधन ऐसे समाज में निहायत पिछड़े हुए होंगे। यह समाज रेल-तार व्यवस्था से मुक्त होगा। सैनिक दृष्टि से "वह बहुत ही कमज़ोर होगा और औद्योगिक दृष्टि से आगे बढ़े हुए देश बड़ी आसानी से उसे दबोच लेंगे। जीवन-स्तर के विचार से भारत जैसे देश मे, जहां इतनी बड़ी आबादी है, लोगों को बहुत ही नीचे स्तर का जीवन बिताना पड़ेगा क्योंकि फी आदमी उत्पादकता बहुत ही कम होगी।" (पृष्ठ १७)।

भारत के स्वाधीन हो जाने के बाद जो भूदान आन्दोलन चलाया गया,

उसका उद्देश्य ग्राम समाज को स्वायत्त आर्थिक इकाई बनाकर उसे पूंजीवादी शोषण से मुक्त करना था। यह आन्दोलन सफल न हो सकता था क्योंकि देश के पूंजीवादी (औद्योगिक) विकास को रोकने की शक्ति उसमे नही थी। इसके सिवा यदि वह सफल भी हो जाता तो देश वर्तमान संसार मे जितना पिछड़ा हुआ आज है, उससे भी ज्यादा पिछडी हुई स्थिति में हो जाता। भूदानी विचार-धारा उन छोटे किसानो की आकांक्षा प्रतिबिम्बित करती है जिनके पास थोड़ी-सी ज़मीन है और जो चाहते है कि इसके सहारे वे आराम से ज़िन्दगी बसर करते रहें। समाजवादियो का लक्ष्य होता है कि ऐसे किसानो को सहकारिता के आधार पर संगठित करके उन्हें क्रमशः सामूहिक उत्पादन की ओर ले चलें। सहकारिता के बिना छोटा किसान खरीददार, विक्रेता, उत्पादक आदि के रूप मे कमज़ोर पड़ता है। सहकारिता से उसे जो सुविधाएँ मिल सकती है, वे अलग-थलग पड़े रहने से नही मिल सकती। सास्कृतिक और नैतिक दृष्टि से इस छोटे किसान का व्यक्तित्व विकसित नही हो पाता। जो आदमी अपने छोटे से दायरे के बाहर नही निकल पाता, एक बड़े समाज से अपना तादात्म्य स्थापित नही कर पाता, वह अपने व्यक्तित्व का विकास भी नही कर पाता। (पृष्ठ ५०)। सारी खेती छोटे-छोटे मालिकों मे बँट जाये, तो योजना के अनुसार उत्पादन करना सम्भव ही न होगा। कारखानो के लिए कौन-सा कच्चा माल तैयार किया जाये, किस माल का निर्यात हो, किस माल का आयात हो, समाज के लिए कौन-सी चीजें आवश्यक है, उनका उत्पादन किन कारखानो मे और कितनी मात्रा में हो, छोटी किसानी के चलने इन सब बातो का हिसाब नही लगाया जा सकता। इसलिए छोटी इकाइयों के बदले खेती में बड़ी इकाइयां कायम करना जरूरी होता है। (पृष्ठ ५१)।

भारत मे ऐसे ग्राम समाज रहे है जिनमे भूमि पर पंचायती अधिकार रहा है। जयप्रकाश नारायण का तर्क है कि पहले लोग मिलकर खेती कर सकते थे तो आगे क्यों नही कर सकते। यह तर्क रूस में भी दिया जाता था। वहा भी ऐसे ग्राम समाज थे जहां भूमि पर पचायती अधिकार था। किन्तु समाजवादी व्यवस्था का कायम होना उद्योग-धन्धों के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। ग्राम समाजो में भूमि पर पंचायती अधिकार गणव्यवस्था का अवशेष था जो सामन्ती व्यवस्था में बना हुआ था। सम्पत्ति का प्रधान रूप सामन्ती था, न कि पंचायती। सम्पत्ति का सामन्ती रूप किस तरह का होता है, इसकी चर्चा इस पुस्तक मे अन्यत्र होगी। यहा इतना कहना काफी है कि उन्नीसवी सदी मे यह व्यवस्था रूस में टूट रही थी, भारत मे उसके बहुत पहले से टूटने के अनेक प्रमाण है। जयप्रकाशजी मानते हैं कि "कृषि मे यह व्यवस्था न तो भारत की सबसे प्राचीन व्यवस्था है और न यहा की सबसे व्यापक व्यवस्था है।" (पृष्ठ ५१)। बीसवी सदी में समाजवाद की रचना से ग्राम समाजो को जोड़ने का प्रश्न ही न था। रूस में समाजवाद के अन्तर्गत खेती मे कितनी उन्नति हुई है, अन्य लेखको की पुस्तको से प्रमाण देते हुए इसकी विस्तार से चर्चा जयप्रकाश नारायण ने की है। समाजवाद के अन्तर्गत गाव दुनिया से अलग-थलग पड़ा हुआ समाज न रह जायेगा, यातायात और सचार के साधनो

तो वह बाकी दुनिया से जुड़ जायेगा, "शहर के समान गांव भी उत्पादन की औद्योगिक इकाई बन जायेगा।" (पृष्ठ ६०)।

समाज में वर्गसंघर्ष न होना चाहिए, विभिन्न वर्गों को मिलकर काम करना चाहिए, मशीनों से उत्पादन बढ़ाने के बदले पुराने साधनों को आधार बनाकर समाज को आर्थिक रूप से स्वतंत्र करना चाहिए, यह विचारधारा गांधीजी की भी थी। जिनके पास पूंजी है, सम्पत्ति इकट्ठा हो गयी है, उन्हें चाहिए कि वे उसे जनता की धरोहर मान लें। जो सम्पत्ति धरोहर मान ली जायेगी, उसमें उद्योगपतियों की पूंजी ही नहीं है वरन् जमींदारों की जमीन भी है। इस तरह किसानों और मजदूरों, दोनों की समस्या हल हो जायेगी; पूंजीवादी और सामन्ती, दोनों तरह का शोषण समाप्त हो जायेगा। जयप्रकाश नारायण ने अपनी पुस्तक में समाजवादी दृष्टिकोण से इस गांधीवादी विचारधारा की आलोचना की है। १९२० के बाद कांग्रेसी नेतृत्व की जो आलोचना थोड़े से लोगों तक सीमित थी, वह अब व्यापक बन गई थी।

गांधीवादी विचारधारा की आलोचना करने के लिए जयप्रकाश नारायण ने उत्तर-प्रदेश के जमींदारों की गांधीजी से भेंटवार्ता का विवरण विस्तार से उद्धृत किया है। कांग्रेसी नीति से शंकित होने पर ये जमींदार गांधीजी से कानपुर में मिले थे। जो बातचीत हुई, उसका पूरा वृत्तान्त महादेव देसाई ने प्रकाशित कराया था। बहुत से लोग कहते थे कि गांधीवाद ही सच्चा समाजवाद है और भारत के लिए वही उपयुक्त है। सारी बातचीत का सारतत्व यह है कि जमींदारों और पूंजीपतियों की सम्पत्ति उनसे छीनी न जायेगी, वह प्रजा की धरोहर के रूप में उनके पास रहेगी। गांधीजी ने कहा कि वर्ग-युद्ध भारतीय मानस के प्रतिकूल है। गांधीजी के राम-राज्य में राजकुमार और भिखारी दोनों के अधिकार सुरक्षित रहेंगे। पश्चिम का समाजवाद, और साम्यवाद, यह मानकर चलता है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी होता है। हमारे यहां सन्त पैदा हुए जिन्होंने आध्यात्मिक सत्य की खोज में तपस्या करते हुए जीवन बिताया। पश्चिम में ऐसे सन्त नहीं हुए। हमारे समाजवाद या साम्यवाद का आधार अहिंसा होगी; उसमें मजदूर और पूंजीपति, जमींदार और किसान शान्तिपूर्वक सहयोग करेंगे। जमींदार भी अपना दृष्टिकोण बदलेंगे, वे देखेंगे कि हम उनकी तरफ हैं और उनके सम्मान और निजी अधिकारों की पूरी चौकसी करते हैं। 'हम' में पंडित जवाहरलाल नेहरू भी शामिल हैं क्योंकि अहिंसा के प्रश्न पर उनमें कोई मतभेद नहीं है।

जमींदारों से बातचीत का विवरण ३ अगस्त १९३४ के 'लीडर' में छपा था। गांधीजी की धारणाओं की आलोचना करते हुए जयप्रकाश नारायण ने लिखा है कि ये धारणाएँ न तो नयी हैं और न विशेषरूप से भारतीय हैं। किसी बात पर जोर कम या ज्यादा हो, इतना ही फर्क है; विचारों की मोटी रूपरेखा वही है, तर्क वही है जो पश्चिम के पूंजीवादी प्रोफेसर, विचारक और पादरी प्रस्तुत करते रहे हैं। वे कहते आये हैं कि वर्गसंघर्ष की बात मूर्खतापूर्ण है, क्रांति में बड़ी बरबादी होती है, संघर्ष करने वाली शक्तियों में सामंजस्य कायम करने का आदर्श क्रांति के आदर्श से ऊँचा है, पूंजी और श्रम परस्पर निर्भर हैं, और एक दूसरे के

लिए आवश्यक हैं। इसलिए मुनाफा, पगार और चीजों की कीमतें, इन पर बुद्धिमानी से नियन्त्रण रखना चाहिए। अंग्रेजी लेखक ऐच. जी. वेल्स ने स्तालिन से मिलकर उन्हें यह समझाने की कोशिश की थी कि वर्ग-युद्ध फ़िजूल की चीज है; पूंजीवाद मे दोष है, उन्हें दूर करने का तरीका यह है कि आपस मे टकराने वाले हितों के बीच सामंजस्य कायम किया जाये। इंग्लैण्ड के दक्षिणपंथी श्रमिक नेता रैमजे मैकडानल्ड भी वर्ग-युद्ध से चिंतित थे। उनका विचार था कि पूंजीपतियों और मजदूरों की टक्कर आर्थिक और नैतिक दृष्टि से हानिकर है। पूंजीपतियों और मजदूरों, दोनों को समाज की सेवा करनी है, समाजवादियों की कोशिश यह करनी है कि दोनों मे सहयोग कायम हो।

जो लोग वर्ग-सहयोग की बात करते है, वे सुधारवादी है। सुधारवादियों और क्रांतिकारियों की पटरी कभी नही बैठी। इस संदर्भ में जयप्रकाश नारायण ने लिखा है, "क्रांति और सुधार का संघर्ष उतना ही पुराना है जितना मानव-इतिहास। गाधीजी की विचारधारा मूलतः वही है जो समाजवाद के इतिहास में सुधारवाद के नाम से जानी जाती है। उसकी भाषा हिन्दुस्तानी है लेकिन उसका सारतत्व अन्तरराष्ट्रीय है। सुधारवाद का मुख्य हित इस बात में है कि समाज में जो व्यवस्था पहले से कायम है, उसे कायम रखा जाये। जब उसे खतरा दिखाई देता है, भविष्य मे केवल विध्वस दिखाई देता है, तब वह व्यवस्था में मरहमपट्टी करके खतरे को टाल देना चाहता है। गांधीजी जमीदारों और पूंजीपतियों से इतना ही कहते है कि उन्हें आसामियों और मजदूरों से अपने सम्बन्ध सुधारने चाहिए। ऐसा करने पर सबकुछ ठीक हो जायेगा, वर्गयुद्ध का भय दूर हो जायेगा, विद्रोह, असन्तोष, उपद्रव की नौबत न आयेगी। सुधारवाद को दिलचस्पी इस बात से नही है कि सामाजिक न्याय प्राप्त किया जाये वरन् इस बात से है कि समाज में जो घिनौनी दरारें पड़ गयी हैं, उन पर परदा डाल दिया जाये।" (पृष्ठ ८७)।

गाधीजी की विचारधारा एक पूरे वर्ग की विचारधारा है, यह बात स्वाधीन भारत के तीन दशकों के इतिहास को देखकर अच्छी तरह समझ मे आ जाती है। इन तीन दशकों की अवधि में सत्ताधारी वर्ग के नेता बराबर समाजवाद की बात करते रहे है, इसके साथ ही जहां भी किसानों और मजदूरों ने अपनी हालत सुधारने के लिए संघर्ष किया, वहीं इस वर्ग ने उनका दमन किया, भले ही इस संघर्ष का तात्कालिक उद्देश्य पूंजीवाद का नाश करना न रहा हो। कांग्रेसी सुधारवाद की आलोचना करना सन् ३० और ४० के दशक मे क्यों जरूरी था, यह सन् ७० और ८० के दशक मे भारतीय जनता की हालत देखकर आप समझ सकते हैं।

जयप्रकाश नारायण कहते है कि गाधीजी जिस राम-राज्य का सपना देखते हैं, उसमें राजा के साथ भिखारी भी रहेगा, यह बात चौका देने वाली है। ठीक भी है। भिखारी न होंगे तो राजा को अपनी दानशीलता दिखाने का अवसर कैसे मिलेगा? गाधीवाद यह नही पूछता कि समाज मे थोड़े से ही आदमी राजा, जमींदार और पूंजीपति क्यों है। वह उच्च और निम्न वर्गों वाली व्यवस्था स्वीकार कर लेता है। वह यह नही पूछता कि जमींदारों और पूंजीपतियों को

अपनी दौलत मिलनी कहां से है। दौलत के मालिकों से कहा जाये कि यह दौलत तुम्हारे पास धरोहर के रूप में है, तो "एक समाजवादी के लिए इस विचारधारा का मतलब होगा धोखा देना, खुद को धोखा देना और शोषित जनता को धोखा देना। हमारे विचार से जमींदारों और किसानों की दौलत किसानों और मजदूरों की मेहनत के बल पर उन्हें मिलती है और इसलिए प्रूदों की प्रसिद्ध शब्दावली में वह चोरी का माल है। इस चोरी को चलने दिया जाये, उसके बारे में सवाल न किया जाये, उसे न्यायपूर्ण करार दिया जाये, यह सब धोखा देनेवाली विचारधारा है, भले ही वह अनजान में धोखा देती हो। उच्चवर्ग चोरी के ही अपराधी नहीं हैं, वे हिंसा के भी अपराधी हैं। वे हिंसा के अपराधी इसलिए हैं कि वे जनता के बनाये माल की चोरी हिंसा के द्वारा कायम रखते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। अगर कानून न हो, और जान लेना चाहिए कि यह एक वर्ग का कानून है, और उसे लागू करने के लिए हिंसा की संगठित शक्ति मौजूद न हो, तो किसान और मजदूर कल ही जमीन और कारखानों पर कब्जा कर लें।" (पृष्ठ ८९)।

मतलब यह है कि सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए दो बातें जरूरी है। पहली यह कि जो किसान जमीन जोतता है, वह उस पर कब्जा करे; दूसरी यह कि कारखानों में काम करने वाले मजदूर उन पर कब्जा करें। भारत के समाजवादी नेता और जयप्रकाश नारायण यह बात १९३६ में अच्छी तरह जानते थे किन्तु चालीस साल बाद उन्होंने जो सम्पूर्ण क्रान्ति का आन्दोलन चलाया, उसमें न तो जमीन पर जोतने वालों के अधिकार की बात थी, न कारखानों पर मजदूरों के कब्जा करने की।

पूंजीपतियों के पास उनकी दौलत अमानत की तरह है, यह सिद्धान्त भी बहुत पुराना है। १८वीं सदी में ही अंग्रेज लेखक गोडविन ने अपनी पुस्तक पोलिटिकल जस्टिस (सामाजिक न्याय) में बताया था कि धर्मप्रचारक अमीरों को यह सिखाते रहे है कि उनकी दौलत उनके पास अमानत के रूप में है। जयप्रकाश नारायण ने लिखा है कि डेढ सौ साल पहले अमानत का यह सिद्धान्त इंग्लैण्ड में प्रचलित था; इसलिए कोई नहीं कह सकता कि यह सिद्धान्त भारत की देन है। यदि धनी लोगों ने अपनी दौलत न्यायपूर्ण ढंग से कमाई है तो किसी को यह कहने का क्या अधिकार है कि वह उसे दूसरों को दे दे; गरीब मरते हैं तो मरें, इसमें अमीरों का क्या दोष? यदि उन्होंने अपनी दौलत अन्याय से कमाई है, तो उसे उनसे छीन लेना उचित न होगा। जयप्रकाशजी कहते हैं कि यह नीतिशास्त्र की समस्या नहीं है, "समस्या है सम्पत्ति के वैज्ञानिक विश्लेषण की, उसके उत्पादन और वितरण की पद्धति के वैज्ञानिक विश्लेषण की। भावुकता के धुन्ध में समस्या को छिपा देने के बदले साहसपूर्वक उसका सामना करना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने मानवजाति की बहुत बड़ी सेवा की थी जब उन्होंने पूंजीवादी सम्पत्ति के विश्लेषण का काम उठाया था और फिर साबित कर दिया था कि उसका आधार मेहनत का शोषण है। पहले लोग नैतिक कारणों से आवेश में आकर जो कहते थे, उसे मार्क्स ने वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध किया; इसके लिए पूंजीवादी

प्रोफेसरों ने अभी तक उनको क्षमा नहीं किया। यही कारण है कि मूल्य सम्बन्ध उनके श्रमसिद्धान्त को इतनी बार लोग 'असिद्ध' कर चुके है।" (पृष्ठ ९२)।

समाजवाद के विरुद्ध एक तर्क यह है कि समाज व्यक्तियो से बना है और यदि व्यक्ति का सुधार हो जाये, तो सारा समाज सुधर जायेगा। इस तर्क के बारे में जयप्रकाश नारायण कहते है कि व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करने वाली शक्ति सामाजिक परिवेश है। यदि कोई पूंजीपति मजदूरों का शोषण करता है तो आवश्यक नही कि इसलिए वह ऐसा करता हो कि वह दुष्ट है। वह जिस पूंजीवादी व्यवस्था मे रहता है, उसमें वह मजदूरों का शोषण करने के बदले और कुछ कर ही नही सकता। यदि वह शोषण करना बन्द कर दे तो दूसरे लोग उसे ठेलकर एक तरफ कर देंगे और उसकी जगह ले लेंगे। समाज में वर्गों का व्यवहार बदलना है, तो इसके लिए समाज के संगठन को ही बदलना होगा। (पृष्ठ ९७-९८)।

बहुत से लोग विश्वास करते थे और कुछ अब भी करते हैं कि उद्योग-धन्धे मशीनों से न चलाये जायें, इनकी जगह घरेलू उद्योग समाज की आवश्यकताएँ पूरी करें, तो इससे वर्गहीन समाज की स्थापना हो जायेगी। जयप्रकाश नारायण कहते है कि पैदावार बढ़ाने के लिए मशीनों का उपयोग जरूरी है। बेकारी का कारण पूंजीवादी व्यवस्था है। जहां यह व्यवस्था नही है, जैसे रूस में, वहां मशीनो के व्यवहार से पैदावार मे बढ़ती हुई है, बेकारी का नाम नही है और आम जनता के जीवनस्तर को ऊँचा किया गया है। चर्खा चलाने को रचनात्मक कार्यक्रम का नाम दिया गया था। हरिजन-उद्धार आदि कुछ और बातें चर्खा चलाने के साथ जोड़ दी गयी थी। जयप्रकाश नारायण ने लिखा है कि आम जनता को राजनीतिक क्षेत्र मे खीच लाने मे यह रचनात्मक कार्यक्रम कारगर साबित नही हुआ। क्रान्ति के लिए आवश्यक है कि पूरे वर्ग के वर्ग, अपने वर्ग-हितों से प्रेरित होकर, राजनीति में भाग लें। पूजीपतियों के पास ऐसा कार्यक्रम नही है। (पृष्ठ १३६)। साराश यह कि "गाधीवादी सिद्धान्त के पीछे नीयत अच्छी हो सकती है। मैं व्यक्तिगत रूप से समझता हूँ कि नीयत अच्छी है पर नीयत चाहे जितनी अच्छी हो, मुझे मानना होगा कि यह सिद्धान्त खतरनाक है। ऐसा कहने से मुझे कोई खुशी नही होती। वह खतरनाक इसलिए है कि वह वास्तविक समस्याओ पर पर्दा डालता है और समाज की बुराइयों को सिर्फ नेक इरादों के सहारे दूर करने को आगे बढ़ता है। इस तरह वह आम जनता को धोखा देता है और उच्च वर्गों को प्रोत्साहन देता है कि वे अपना प्रभुत्व बनाये रहें।" (पृष्ठ १११)।

जयप्रकाश नारायण ने गाधीवाद के बारे मे जो कुछ लिखा है, वह पूंजीपति वर्ग के बारे मे उनकी मान्यताओं के अनुरूप है। इन मान्यताओ की चर्चा आगे करेंगे। यहा इतना कहना काफी है कि गांधीवाद लाखों आदमियों को उनके जीवन मे पहली बार राजनीति के मैदान मे खीचकर लाया। इसका उद्देश्य यह था कि अंग्रेजो पर जन-आन्दोलन का दबाव डाला जाये। इसके साथ ही उसका उद्देश्य यह भी था कि इस दबाव को क्रान्तिकारी रूप न लेने दिया जाये। यदि मजदूर और किसान अपने वर्गहितो को ध्यान मे रखते हुए इस आन्दोलन मे भाग लेंगे

तो वह क्रान्तिकारी रूप धारण करेगा और उसका नेतृत्व पूंजीपति वर्ग के हाथ से निकल जायेगा।

समाजवाद के विरोधियों में कुछ प्राचीनतावादी लोग भी थे जो मानते थे कि मनुस्मृति में जो व्यवस्था है, वही समाज के लिए आदर्श व्यवस्था है। जयप्रकाश नारायण ने इन लोगों की मान्यताओं का भी खण्डन किया है। समाज में किस तरह का विभाजन हो, यह किसी व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं है। जयप्रकाश नारायण ने मार्क्स का हवाला देते हुए बताया है कि सामाजिक विभाजन का मूल स्रोत वह पद्धति है जिसके अनुसार मनुष्य अपनी जीविका के साधन जुटाते हैं। (पृष्ठ ११८)। समाज में जो विभाजन सहज रूप में पैदा हुआ था, सभ्यता की एक विशेष मंजिल में मनु ने उसे व्यवस्थित किया। वह पुरानी व्यवस्था वर्तमान समाज पर लादने के पहले इस सवाल का जवाब देना चाहिए कि वर्तमान समाज में इस तरह का विभाजन पैदा क्यों हुआ। भारत में तथा अन्य देशों में वर्तमान वर्ग-भेद सामाजिक विकास क्रम में पैदा हुआ है, उसे किसी ने बाहर से समाज पर लाद नहीं दिया। इसलिए वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिए वर्गों की स्थिति समझनी चाहिए और उनमें जो क्रान्तिकारी हों, उन्हें संगठित करके आन्दोलन चलाना चाहिए।

आधुनिक भारत में स्वाधीनता के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए जयप्रकाशजी की पुस्तक में विभिन्न वर्गों की स्थिति का विश्लेषण किया गया है। भारत राष्ट्र के अन्तर्गत देशी रियासतों के राजा, उद्योगपति, साहूकार, सौदागर, किसान, मजदूर आदि हैं। इन सबके लिए राष्ट्रीयता और स्वाधीनता का एक ही अर्थ नहीं है, न उसके लिए लड़ने का तरीका ही सबके लिए एक है। राजाओं के लिए आजादी का मतलब है रियासत में उनकी पूर्ण प्रभुता हो। यह प्रभुता तो समर-भूमि में लड़कर ही प्राप्त की जा सकती है। जयप्रकाशजी पूछते हैं, "किन्तु १८५७ के बाद राजाओं में ऐसा कौन है जो अपनी प्रभुता के लिए युद्ध करने को तैयार है?" इस सवाल का जवाब देते हुए कहते हैं, "जाहिर है कि राजा लोग स्थाई रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अधीन सामन्त बने रहेंगे। जिस हद तक 'राष्ट्रीय' आन्दोलन साम्राज्यवाद का विरोध करता है, उस हद तक वे स्वभावतः इस आन्दोलन के खिलाफ होंगे।" (पृष्ठ १३१-३२)।

इनके साथी जमींदार हैं जो "अधिकतर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सृष्टि हैं।" (पृष्ठ १३२)। बड़े जमींदारों ने हमेशा अंग्रेजी राज का साथ दिया है और देहात में उसके प्रमुख स्तम्भ रहे [illegible] है। वे राजनीति में हिस्स [illegible] के हाथों में आ जाये तो उनके हितों पर आंच न आये। ऐसी हालत में "जिसे जरा भी राजनीतिक समझ होगी या राजनीति का अनुभव होगा, वह जमींदारों के साथ एकता कायम करने की बात न सोचेगा।" (पृष्ठ १३३)। इस स्थापना से निष्कर्ष यह निकलता है कि साम्राज्यवाद को हटाने के लिए उसके स्तम्भों को गिराना जरूरी है। भारत की बहुसंख्यक जनता किसान है; किसानों के बीच जमींदारों के रूप में ये स्तम्भ देहात में खड़े हुए हैं। साम्राज्यवाद को मिटाने के

लिए इन स्तम्भों को गिराना ज़रूरी है। भारत में साम्राज्यविरोधी क्रान्ति तभी सफल हो सकती है जब वह सामन्तविरोधी भी हो। जयप्रकाश नारायण कहते हैं कि राष्ट्रीयता तभी सार्थक हो सकती है जब उसका मतलब किसानों की आज़ादी भी हो। (पृष्ठ १३३)। इस आज़ादी का मतलब है किसानों की शोषण से मुक्ति। किसानों के लड़ने का तरीका क्या है? जयप्रकाशजी कहते है, "किसान सदा से एक ही तरीका जानते आये है—सीधी कार्यवाही (डायरेक्ट ऐक्शन)। किन्तु ऐसी कार्यवाही देशी शोषकों के लिए भी उतनी ही खतरनाक है जितनी विदेशी के लिए। इस कारण देशी शोषकों का हित इस बात में है कि किसान अपने आर्थिक और राजनीतिक भविष्य के प्रति सचेत न हो पायें।" (पृष्ठ १३४)। मार्क्सवादी साहित्य मे किसानों की उदासीनता, निष्क्रियता, राजनीतिक पिछड़ेपन पर बहुत कुछ लिखा गया है। इसके विपरीत जयप्रकाशजी मानते है कि भारत के किसान सीधी कार्यवाही से परिचित हैं और बहुत समय से परिचित हैं। उनकी इस मान्यता के सही होने का एक प्रमाण यह यह है कि सुधारवादी नेतृत्व के लिए यह निरन्तर आवश्यक रहा है कि वह उनकी सीधी कार्यवाही पर अंकुश लगाये।

जहा तक पूजीपति वर्ग का सम्बन्ध है, जयप्रकाशजी कहते है, "भारत का पूजीपति वर्ग गैरक्रान्तिकारी साबित हुआ है, अर्थात् वह अपने नेतृत्व मे एक जबर्दस्त साम्राज्यविरोधी आन्दोलन विकसित नही कर सका। और इसका कारण यही नही है कि उसने स्वय संघर्ष में भाग नही लिया, ऐसे आन्दोलन के विकास के लिए यह भी ज़रूरी है कि उसमे आम जनता बड़ी तादाद मे खिचकर आये, यानी उसे जन-आन्दोलन बनाना होगा। पूंजीपति वर्ग ऐसा करने मे असफल रहा है।" (पृष्ठ १३८)।

पूजीपतियों की वर्ग-स्थिति का विश्लेषण करते हुए जयप्रकाश नारायण कहते है कि वे क्रान्तिकारी भूमिका निबाहने की स्थिति में नही है। इसका कारण यह है कि "भारत का उद्योगपति वर्ग साम्राज्यवाद की छत्रछाया मे पला और बढा है। उसकी आर्थिक और राजनीतिक नकेल साम्राज्यवाद के हाथ मे है। उसे कोई विदेशी सहायता भी प्राप्त नही है जैसी आयरलेड के पूजीपतियों को संयुक्त-राष्ट्र अमरीका मे सुलभ है। भारत मे उसकी बढ़ती से ऐसा कोई लाभ नही हुआ, न देश के आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन पर उसका कोई ऐसा प्रभाव पड़ा है, कि लोगों में उसके लिए उत्साह पैदा हो और उनका समर्थन उसे मिले। इसका नतीजा यह है कि वह साम्राज्यवाद का विरोध नही कर पाता। अधिक से अधिक वह उस पर दबाव डाल सकता है। लेकिन यह दबाव भी वह खुद वर्गरूप मे नही डाल पाता। साम्राज्यवाद पर दबाव डाल पाने का उसके पास एक ही तरीका है कि वह दूसरे वर्गों को ऐसा करने के लिए फुसलाये और चोरी-चोरी उनकी मदद करे। ये दूसरे वर्ग ऐसे होगे जिन्हें अपना माल-मता खोने का डर न होगा। दबाव का लक्ष्य है उसके हाथों में सत्ता आना; इससे अलग हटकर जहा कोई उद्देश्य हुआ, वहां वह मदद से हाथ खीच लेगा। दूसरे शब्दो में उद्योगपति वहीं तक राष्ट्रवादी हैं जहां तक राष्ट्रवाद का लक्ष्य पूजीवादी राज्यसत्ता की स्थापना है।" (पृष्ठ १३३)।

उद्योगपतियों के विपरीत मजदूरों के लिए आजादी का मतलब है उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार, पगार लेकर गुलामी करनेवाले जीवन से मुक्ति। किसानों की तरह मजदूरों का भी तरीका है सीधी कार्यवाही। पूंजीपति चाहते हैं कि इनमें वर्गचेतना न फैलने पाये। (पृष्ठ १३४)।

भारत का पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद के दलाल का काम करता है या उसके विरोध में है, यह वर्ग क्रान्तिविरोधी है या सुधारवादी है, यह प्रश्न १९४७-४८ में अनेक मार्क्सवादी विचारकों के सामने प्रखर रूप में विद्यमान था। प्रश्न बहुत पुराना था और १९३६ में जयप्रकाश नारायण के सामने भी विद्यमान था। उससे एक दशक पहले मानवेन्द्रनाथ राय भी इस प्रश्न का विवेचन कर चुके थे। इन सभी के विवेचन में सुधारवादी और क्रान्तिविरोधी में स्पष्ट भेद नहीं किया गया। तर्क कुछ इस तरह चलता है कि जो साम्राज्यवाद से क्रान्तिकारी संघर्ष नहीं चलाता, वह सुधारवादी है और जो सुधारवादी है, वह क्रान्तिविरोधी है। यह बिल्कुल सम्भव है कि अंग्रेजी राज और भारत के अनेक उद्योगपतियों में आपसी विरोध हो किन्तु ये उद्योगपति क्रान्तिकारी ढंग से स्वाधीनता आन्दोलन न चला सकें, उनके प्रभाव से जो आन्दोलन चलाया जाये, उसका उद्देश्य अंग्रेजी राज पर दबाव डालकर अपने लिए सुविधाएं प्राप्त करना हो। इसका यह अर्थ न होगा कि इन उद्योगपतियों के कल-कारखाने साम्राज्यवाद का आर्थिक आधार है। ऐसे उद्योगपति सुधारवादी कहलायेंगे, क्रान्ति-विरोधी नहीं। भारत में मुख्य क्रान्तिविरोधी वर्ग देशी रियासतों के राजाओं और जमींदारों का था। जयप्रकाश नारायण ने ठीक लिखा है कि भारत में अपनी जड़ जमाने के लिए अंग्रेजी राज के लिए जरूरी था कि वह अपने मातहत एक दूसरी सत्ता कायम करे जो उसके और जनता के बीच में हो और जनता से उसकी रक्षा करे। उसके लिए जरूरी था कि वह देहात में अपने लिए सामाजिक आधार बनाये। उसने यह काम इस तरह पूरा किया, "सामन्ती भारत के उच्च वर्गों में जिन्होंने अंग्रेजी राज कायम करने के दौरान लड़ाइयों में अपने पक्ष में विश्वासघात किया था, उन्हें उसने बटोरा और जमींदारों का एक वर्ग बनाया और उसे लाखों किसान सौंप दिये।" (पृष्ठ १४८-४९)। खासतौर से जिन्होंने १८५७ में अंग्रेजों का साथ दिया, स्वभावतः अंग्रेजों ने उनका भरोसा ज्यादा किया और इसके फलस्वरूप उनकी भूमिका भी उतनी ही अधिक क्रान्तिविरोधी थी। जो लोग समझते हैं कि अंग्रेज भारत पर अपनी हुकूमत कायम करके सामन्तवाद खत्म रहे थे, वे इस बात की कैफियत नहीं देते कि १८५७ में बंगाल, पंजाब, कश्मीर, नेपाल, राजस्थान, हैदराबाद आदि के सामन्तों ने अंग्रेजों का साथ क्यों दिया। १८५७ के बाद जो सामन्त अंग्रेजी राज के सामाजिक आधार बने, वे अचानक न प्रकट हो गये थे। वे अंग्रेजी राज के सहायक १८५७ में भी थे। जो लोग १८५७ में अंग्रेजों और सामन्तों के गठबंधन का मतलब नहीं समझते, वे यह भी नहीं जानते कि साम्राज्यविरोधी क्रान्ति तभी सफल होगी, जब वह सामन्तविरोधी भी हो। इस प्रकार भारत में क्रान्ति का लक्ष्य क्या हो, उसकी मुख्य शक्ति कौन हो, इन प्रश्नों का उत्तर १८५७ के बारे में प्रश्नकर्ता की समझ से जुड़ा हुआ है।

जयप्रकाश नारायण ने ठीक लिखा है कि ज़मीदारों के रूप में अंग्रेज़ों को प्रभावशाली और विश्वसनीय सहायक मिला। ज़मीदारों को विशेष अधिकार प्राप्त थे; इससे देहात में उनका खूब रोब-दाब था। किसान यदि अंग्रेज़ी राज से टकरायें, तो पहली टक्कर झेलने के लिए ज़मीदार मौजूद थे। जब भी किसानों का असन्तोष उफनाता, "वह उतना सरकार बहादुर के खिलाफ़ न होता जितना ज़मीदारों के। इस प्रकार ज़मीदारी प्रथा भारत में अंग्रेज़ी राज का पहला और सबसे प्रशस्त आधार थी।" (पृष्ठ १४६)। यह बात सही है, इसलिए अंग्रेज़ी राज को निर्मूल करने के लिए इस आधार को खत्म करना ज़रूरी था। मुख्य क्रान्ति-विरोधी शक्ति देश के राजाओं और ज़मीदारों की थी।

भारत के अनेक उद्योगपति क्रान्तिविरोधी नही थे, इसका यह अर्थ नही है कि वे क्रान्तिकारी थे और किसानों का सामन्तविरोधी संघर्ष चलाने की क्षमता उनमें थी। भारत मे जो मार्क्सवादी यह मानते रहे हैं कि भारतीय पूंजीवाद साम्राज्यवाद का दलाल नही है, वे अपनी मान्यता से अक्सर एक दूसरा निष्कर्ष निकालते रहे है कि यह वर्ग क्रान्तिकारी है। उनके लिए कोई वर्ग या तो क्रान्तिविरोधी होगा या फिर क्रान्तिकारी, दोनो के बीच मे अन्य स्थिति उनके लिए कल्पनातीत है। जो लोग समझते है कि पूंजीपति वर्ग क्रान्तिविरोधी है, वे सामन्त-विरोधी क्रान्ति का लक्ष्य भूलकर सारी शक्ति पूजीवाद विरोधी अर्थात् समाजवादी क्रान्ति करने में लगा देते हैं। समाजवादी क्रान्ति से दिलचस्पी सर्वहारा वर्ग को होगी; जो गैर-सर्वहारा हैं, वे अभी समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार नही हैं। साम्राज्यवादी शासन के कायम रहते जो लोग समाजवादी क्रान्ति के लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहते थे, जो साम्राज्यविरोधी और पूजीवादविरोधी दोनो क्रान्तियां एक साथ सम्पन्न करना चाहते थे, वे राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन से अलग-थलग पड़कर उस आन्दोलन का नेतृत्व पूजीपतियों को सौप देते थे। उनकी राजनीतिक कार्यवाही का और कोई दूसरा परिणाम न हो सकता था। इनके विपरीत जो लोग समझते थे कि पूजीपति वर्ग क्रान्तिकारी है, वे भी उसके पिछलगुए बने रहने में अपनी कार्यनीति की सफलता देखते थे। सीधी सी बात है, यदि पूजीपति वर्ग क्रान्तिकारी है, तो उसे स्वाधीनता आन्दोलन के नेतृत्व पद से हटाने का मतलब होगा क्रान्ति विरोध। इस तरह भारतीय पूजीवाद की भूमिका को लेकर वामपंथी आन्दोलन मे दो तरह का अवसरवाद पैदा होता है, एक उग्रपंथी जो समस्त देशी पूंजीवाद को क्रान्तिविरोधी मानता है, दूसरा दक्षिणपंथी जो उसे क्रान्तिकारी मानता है। दोनों तरह के अवसरवाद स्वाधीनता आन्दोलन मे किसानो की भूमिका पहचानने में असमर्थ रहते हैं, दोनो का वस्तुगत परिणाम एक ही होता है, वह यह कि पूंजीपति वर्ग स्वाधीनता आन्दोलन की बागडोर मजबूती से अपने हाथ में रखे।

पूजीवाद का लक्ष्य है, लड़ाई जनता करे लेकिन उस लड़ाई का फल उसे मिले। जयप्रकाश नारायण ने पूजीपतियों के सुधारवाद के बारे में अनेक बातें कही है जो सही है। वे ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और आज की राजनीति के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। प्रसिद्ध समाचारपत्र हिन्दुस्तान टाइम्स भारतीय पूंजीवाद का मुख पत्र है (पृष्ठ १२८), यह बताने के बाद वह उस राष्ट्रीय एकता की छान-

बीन करते हैं, यह अखबार जिसकी वकालत करता है। हिन्दुस्तान टाइम्स के लिए राष्ट्रीय एकता का वास्तविक यह अर्थ है कि "निम्न वर्ग, आम जनता, साम्राज्यवाद में लड़े, स्वयं शोषण से मुक्त होने के लिए नहीं, वरन् साम्राज्यवाद की जगह पूंजीपतियों और बड़े भू-स्वामियों को गद्दी पर बिठाने के लिए; जबकि ये भू-स्वामी और पूंजीपति स्वयं उस लड़ाई में हिस्सा नहीं लेते।" (पृष्ठ १३५)। मानी बात है कि स्वाधीनता-आन्दोलन की बागडोर पूंजीपति वर्ग के हाथ में होगी तो उस आन्दोलन के फलस्वरूप जो सत्ता प्राप्त होगी, उस पर अधिकार भी इसी वर्ग का होगा। यह वर्ग जिस तरह से आन्दोलन चला रहा है, उसमें साम्राज्यवाद की हार न होगी वरन् कुछ कमजोर से समझौते होंगे। (पृष्ठ १३६)। कांग्रेस के अभ्युदय से पहले आजादी की लड़ाई, जयप्रकाश नारायण के अनुसार, सामन्ती नेतृत्व में लड़ी गयी; "उसके बाद पूंजीवादी नेतृत्व में चलनेवाले राष्ट्रीय सुधारवादी आन्दोलन का दौर आया।" (पृष्ठ १५७)। यहां पूंजीवादी नेतृत्व को सुधारवादी आन्दोलन चलाने वाला ठीक कहा गया है। इसके बाद उन्होंने प्रश्न किया है कि भावी नेतृत्व किस तरह का होगा और उत्तर दिया है कि यह नेतृत्व केवल मजदूर वर्ग का हो सकता है। (पृष्ठ १५८)। सुधारवादी नेतृत्व की जगह मजदूर वर्ग का क्रान्तिकारी नेतृत्व कायम करने की बात सही है। ऐसा नेतृत्व कायम होने पर पूंजीपति वर्ग के कुछ अंश क्रान्तिकारी युद्ध में सहयोग कर सकते हैं, जो सहयोग न करें, वे तटस्थ किये जा सकते हैं, जो शत्रु से मिल जायें, वे स्वयं अलग-थलग पड़ जायेंगे और देश की बहुसंख्यक जनता शत्रु के साथ उन्हें भी नष्ट कर देगी। मजदूर वर्ग का नेतृत्व कितना क्रान्तिकारी है, इसकी कसौटी यह है कि वह कितने बड़े पैमाने पर स्वाधीनता आन्दोलन में क्रियाशील बनता है। किसानों को एकजुट किये बिना वह पूंजीपति वर्ग को अलगाव की हालत में नहीं कर सकता। स्वाधीनता आन्दोलन की बागडोर सुधारवादियों के हाथ में है या क्रान्तिकारियों के, यह इस पर निर्भर है कि किसानों पर पूंजीपति वर्ग का प्रभाव है या मजदूर वर्ग का।

जयप्रकाश नारायण भारतीय पूंजीवाद को सुधारवादी कहते हैं और क्रान्ति-विरोधी भी। उनका विश्लेषण यह है कि भारत का उद्योगपति वर्ग साम्राज्यवाद की छत्रछाया में पला है। उसके आर्थिक हित साम्राज्यवादी हितों से जुड़े हुए हैं। (पृष्ठ १३३)। साम्राज्यवाद के अलावा जमींदारों से भी उसका गहरा सम्बन्ध है। (पृष्ठ १४०)। इसलिए वह किसानों के लिए कोई सामन्त-विरोधी कार्यक्रम नहीं रख सकता, इस कारण उसके साथ किसी भी तरह की एकता कायम करना गलत होगा। वह जिस आन्दोलन में साथ रहेगा, उसका एक ही परिणाम होगा कि *आम जनता के हितों की बलि देकर साम्राज्यवाद से समझौता किया जाये।* (पृष्ठ १४१)। साम्राज्यवाद से वह समझौता करने योग्य इसी कारण हो पाता है कि आम जनता साम्राज्यवाद पर दबाव डालती है। इसी जनता से वह दगा करता है। इसलिए राष्ट्रीय एकता की बात करना बेकार है। ऐसी बातों का मतलब होता है, उच्च वर्गों को राजनीतिक और आर्थिक शक्ति दिलाने के लिए साम्राज्यवाद से आम जनता लड़े। जयप्रकाशजी कहते हैं, "उच्चवर्गों के क्रान्तिविरोधी स्वरूप के कारण

यथार्थ व्यवहार मे ऐसी नीति का परिणाम होता है आम जनता से विश्वासघात और स्वाधीनता आन्दोलन में निराशा का प्रसार।" (पृष्ठ १४२)। आज़ादी मिलने पर भारत के उद्योगपति साम्राज्यवाद के छुटभैये भागीदार होंगे। १९४८ में जो मार्क्सवादी कहते थे कि भारतीय पूंजीपति अंग्रेज़ों के भागीदार हैं, उनकी यही बात बहुत पहले जयप्रकाश नारायण कह चुके थे। अंग्रेज़ी राज का शिकंजा जिन्हें अपनी प्रगति मे बहुत बड़ी बाधा जान पड़ता है "किन्तु जो उससे लड़ने की स्थिति मे नही हैं, जैसे कि भारत के उद्योगपति, वे साम्राज्यवाद के छोटे भागीदारों (जूनियर पार्टनर्स ऑफ इम्पीरियलिज़्म) की हैसियत से आम जनता के शोषण की सुविधाएँ पाकर सन्तुष्ट हो जायेंगे, खासतौर से उस हालत में जब स्वाधीनता आन्दोलन से आम जनता मे वर्गचेतना के जागने का खतरा पैदा हो गया हो।" (पृष्ठ १४४)।

१९४७ मे भारत को जो आज़ादी मिली, उसके बारे में अनेक मार्क्सवादियों की मान्यता यह थी कि देश मे क्रान्तिकारी उभार से घबड़ाकर पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद से जा मिला है, साम्राज्यवादी शोषण मे अब उसे भी हिस्सा मिल गया है। जयप्रकाश नारायण ने १९३६ मे भारतीय पूंजीवाद के बारे मे जो कुछ कहा था, यह मान्यता उसी को दोहरा रही थी। जयप्रकाशजी यह मानते थे कि भारत के उद्योगपतियों को अंग्रेज़ी राज का शिकंजा अपनी प्रगति में बहुत बड़ी बाधा जान पड़ता था। यदि ये सभी उद्योगपति अंग्रेज़ी राज की छत्रछाया में बढ़ रहे थे, तो वह छत्रछाया शिकंजा बनकर उनकी प्रगति मे बाधक न हो सकती थी। भारत का पूंजीपति वर्ग ऐसा सुगठित वर्ग न था जिसमें अनेक स्तर न हों और जिसमे इन स्तरो के बीच आपसी विरोध न हो। जयप्रकाश नारायण ने माना है कि पूंजीपति वर्ग का एक भाग ऐसा है, "जो साम्राज्यवाद पर इतना निर्भर है कि उसका विरोध करना तो दूर, वह चाहता है कि साम्राज्यवाद यहां हमेशा बना रहे। यह वह भाग है जो साम्राज्यवाद के बिचवानी (मिडल मैन) का काम करता है। दूसरा भाग औद्योगिक पूंजीपतियों का है जो चाहता है कि साम्राज्यवाद से मुक्ति मिले किन्तु जो उसका सीधे विरोध करने से डरता है।" (पृष्ठ १३६)। मोटे तौर से पूंजीपतियों मे ये दो भिन्न स्तर हैं। इनमें एक का हित साम्राज्यवाद के बने रहने मे है और दूसरे का हित उसके चले जाने मे है। यह भेद मज़दूर वर्ग के लिए महत्त्वपूर्ण है। दोनों स्तरो को मिलाकर उन्हे समान रूप से क्रान्तिविरोधी कहना वास्तविक स्थिति का सही विवेचन नही है।

साम्राज्यवाद ने सामन्तो और ज़मीदारों को अपना मुख्य सामाजिक आधार बनाया। उनके अलावा उसने "दूसरे लगुए-भगुए तैयार किये, ये बिचवानी थे जो उसका काम करते थे। इनके साथ उसके सेवक, नौकर-चाकर, राय साहब, खां साहब वगैरह थे। ये वर्ग और गुट समाज का उच्च स्तर बने और अपने-अपने दायरे में वे जनता पर काफी असर डालते रहे। इस प्रकार वे साम्राज्यवाद के लिए एक और रक्षा-पंक्ति बन गये।" (पृष्ठ १४९)। अनेक उद्योगपति इन लगुओ-भगुओ और सेवकों के वर्ग से भिन्न थे। साम्राज्यवाद का मुख्य आधार सामन्त थे। इसलिए साम्राज्यविरोधी क्रान्ति की मुख्य दिशा सामन्तविरोधी थी। जो

ोग साम्राज्यवाद के विचवानी का काम करते थे, उसके सेवक थे, वे उसका ौण सामाजिक आधार थे। इसलिए साम्राज्यविरोधी क्रान्ति की गौण दिशा इन ोगो की ओर भी थी। समस्त पूंजीपति वर्ग को क्रान्तिविरोधी मानने का परिणाम ही होता कि मार्क्सवादी विचारक साम्राज्यविरोधी और पूंजीवादविरोधी, दोनों क्रान्तियां एक साथ सम्पन्न करने का लक्ष्य अपने सामने रखते। १९४८ में अनेक मार्क्सवादियो के सामने यही स्थिति थी: भारत का पूंजीपति वर्ग साम्राज्यविरोधी क्रान्ति नही कर सका, वह साम्राज्यवाद से मिल गया है, इसलिए अब साम्राज्य-विरोधी क्रान्ति और पूंजीवादविरोधी क्रान्ति दोनों मिलकर एक हो गयी है, अब स्वाधीनता की लड़ाई और समाजवाद की लड़ाई, दोनो लड़ाइया एक साथ चलायी जायेंगी। जयप्रकाश नारायण ने लिखा था कि "आम जनता के लिए साम्राज्य-विरोधी क्रान्ति का आधार यह नारा होना चाहिए कि सभी शोषको को समाप्त कर दिया जाये।" (पृष्ठ १५१)। आम जनता के वर्गसंगठन बनाने का मतलब उन्होने यह लगाया कि पूंजीवादी नेतृत्व मे चलनेवाले स्वाधीनता आन्दोलन से नाता तोड़ लिया जाये। उन्होंने लिखा, "हमें राष्ट्रीय एकता के जादू का अन्त करना चाहिए; और राष्ट्रीय स्वाधीनता के हित में इन सगठनों का निर्माण करना चाहिए।" (पृष्ठ १५२)। राष्ट्रीय एकता को भंग करने की जिम्मेदारी पूंजीपतिवर्ग पर डालने के बदले वह उसे अपने ही कन्धों पर उठा रहे थे। इस तरह के विचार १९३४ से पहले कम्युनिस्ट पार्टी में भी फैले हुए थे और कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल से १९२९ में निकाले जाने से पहले मानवेन्द्रनाथ राय ने ऐसे विचारों का यथेष्ट प्रचार और प्रसार किया था।

जयप्रकाश नारायण अनुभव करते थे कि कांग्रेस के साथ देश के अधिकांश स्वाधीनता-प्रेमी लोग है। उन्होंने माना कि आम जनता के वर्गसंगठनों के साथ उनका एक सामान्य राजनीतिक संगठन होना चाहिए जो साम्राज्यविरोधी संघर्ष चलाये। कांग्रेस ऐसा सगठन बन सकती थी। इसलिए उसमें काम करते हुए उसके सविधान मे ऐसा परिवर्तन करना चाहिए कि वह आम जनता का संगठन बन जाये। [illegible]
प्रतिनिधि न [illegible]
पति वर्ग क [illegible]
कि वह भारतीय जनता की प्रतिनिधि है। वह पूंजीपतियों की प्रतिनिधि नहीं है, यह घोषित करने की उसे जरूरत ही महसूस न हुई। जयप्रकाश नारायण ने कहा कि कांग्रेस का लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता होना चाहिए। इसकी घोषणा वह पहले कर ही चुकी थी। इसके अलावा उन्होंने बड़े उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण, जमींदारी प्रथा के खात्मे और जमीन पर उसके जोतने वाले को अधिकार देने आदि की बातें कही। (पृष्ठ १५५)। कांग्रेसी नेताओं को ऐसी बातें मानने मे परहेज न था। क्रमशः उसकी घोषणाओं मे स्वाधीनता के साथ समाजवाद का लक्ष्य जुड़ता चला गया। स्वाधीनताप्राप्ति के बाद समाजवाद की घोषणा और भी जोरों से होने लगी। किन्तु बड़े उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण न हुआ, जमींदारी प्रथा खत्म होने के देने पर भी जमीन पर जोतने वाले का अधिकार न हुआ, पूंजीवाद [illegible]

वदले और विकसित हुआ।

कांग्रेसी नेताओं ने स्वाधीनता से समाजवाद को क्यों जोड़ा, स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद वे समाजवाद की इतनी चर्चा क्यों करते रहे, यह जानने के लिए, कांग्रेसी नेताओं के राजनीतिक दांव-पेंच समझने के लिए यह याद रखना जरूरी है कि सन् ३०-४० के दशक मे मार्क्सवादी विचारधारा का अभूतपूर्व प्रसार हुआ था। सन् २० और ३० के दशक में कांग्रेसी नेताओ के पुराने दांव-पेंच आजमाये जा चुके थे। भारत के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को, विशेष रूप से नौजवानों को, सुधारवादी राजनीति के दायरे में बन्द किये रहना सम्भव न था। सुधारवाद की जितनी ही आलोचना हो रही थी, उतनी ही समाजवादी विकल्प के प्रति लोगों की रुचि बढ़ गयी थी। यह विकल्प सबसे पहले स्वाधीनता आन्दोलन को क्रान्तिकारी ढंग से चलाने के लिए आवश्यक था, उसके बाद स्वाधीन भारत में शोषण-मुक्त समाजव्यवस्था के निर्माण के लिए आवश्यक था। देश की आन्तरिक परिस्थितियों के कारण लोग इस विकल्प की ओर बढ़ रहे थे। जयप्रकाश नारायण की पुस्तक इन आन्तरिक परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करती है। उसमें सुधारवादी राजनीति की सही आलोचना की गयी है। मार्क्सवाद को समाजवादी विचारधारा का एकमात्र वैज्ञानिक रूप मानकर उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। लाला हरदयाल की पुस्तक **हिंदूस फॉर सेल्फ कल्चर** १९३४ मे प्रकाशित हुई थी। उससे १९३६ मे प्रकाशित जयप्रकाश नारायण की पुस्तक का अन्तर यह है कि जयप्रकाशजी की पुस्तक मार्क्सवाद को सीधे साम्राज्यविरोधी संग्राम से जोडती थी। जयप्रकाश नारायण के साथ मार्क्सवाद का समर्थन करने वाले एक नेता और थे—जवाहरलाल नेहरू। १९२९ मे पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा करने के बाद सन् ३० और ४० के दशक मे वह लोकप्रिय वामपक्षी नेता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उस दशक में कोई उन्हें गांधीवादी न कहता था। वह गांधीवाद का विकल्प लेकर सामने आये थे और यही उनकी लोकप्रियता का मुख्य कारण था। उनके पास गांधीवाद का जो विकल्प था वह मार्क्सवाद ही था।

लाला हरदयाल, जयप्रकाश नारायण और जवाहरलाल नेहरू तीनों भिन्न परिस्थितियों में पले और बढ़े थे, भिन्न परिस्थितियों में उन्होंने काम किया था किन्तु तीनों ही राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन से बहुत गहराई से जुड़े हुए थे। इन तीनों का ३०-४० के दशक में मार्क्सवाद का समर्थन करना ऐतिहासिक महत्व की घटना है। उससे साबित होता है कि मार्क्सवादी विचारधारा स्वाधीनता आन्दोलन को लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए अनिवार्य थी। स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेने वाले जितने भी जागरूक व्यक्ति थे, वे सब मार्क्सवाद की ओर आकर्षित हो रहे थे।

अपनी पुस्तक के आरम्भ मे जयप्रकाश नारायण ने एक मजेदार सवाल किया है। यदि पंडित जवाहरलाल समाजवादी भारत के प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति हो जाते हैं, तब क्या वह यू.पी. के तालुकदारों को तोप से उड़ा देंगे, क्या वह राजाओं और महाजनों के खजाने छीनकर उन्हें जनता में बराबर-बराबर बांट देंगे, क्या वह टाटा आयरन वर्क्स को वहां काम करने वाले मजदूरों के हाथ सौंप देंगे कि वे

उस धन्धे को चाहे बिगाड़ें चाहे बनायें और क्या वह देश की आबादी के हिसाब से सारी जमीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटकर हर व्यक्ति को एक छोटा टुकड़ा दे देंगे ? क्या ऐसा करना समाजवाद होगा ? जयप्रकाशजी उत्तर देते है, "नहीं; समाजवाद इससे अधिक बुद्धिमानी और सभ्यता की बात है, इससे अधिक वैज्ञानिक है। तब पंडित जवाहरलाल को क्या करना होगा ? यदि हम उस समाज की तरफ देखें जिसमें हम रहते हैं और दूसरे देशों के समाज की तरफ देखें तो हमे इस सवाल का जवाब मिल जायेगा।" (पृष्ठ ४)। जयप्रकाश नारायण का सवाल मजेदार इसलिए है कि वह जवाहरलाल नेहरू को ही स्वाधीन भारत का प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति कल्पित करते है। अन्य कोई नेता उस समय न जयप्रकाश के लिए और न अधिकांश भारतीय जनता के लिए इस पद के योग्य था। वह इसके योग्य इसलिए थे कि स्वाधीन भारत पूंजीवादी भारत न होकर समाजवादी भारत होगा और समाजवादी नेता के रूप में सबसे ज्यादा ख्याति जवाहरलाल नेहरू की थी। यह सवाल इसलिए भी मजेदार है कि उससे उन बातों की जानकारी होती है जो समाजवाद के विरोध में कही जाती थी। धनी आदमियों को गोली मार दी जायेगी, उनकी दौलत छीनकर जनता मे बाँट दी जायेगी, दौलत के साथ इसी तरह सारी जनता में जमीन बाँट दी जायेगी, पूंजीपतियों के कारखाने उनमें काम करने वाले मजदूरों को सौंप दिये जायेंगे। जयप्रकाश नारायण ने समाजवाद के बारे में जो कुछ लिखा, सम्पत्ति के साधनों पर पूरे समाज के अधिकार होने की बात कही, सामूहिक श्रम द्वारा कृषि और उद्योग-धन्धों में उत्पादकता बढ़ाने का लक्ष्य स्पष्ट किया, उससे उक्त कोटि के प्रचार का खण्डन होता था।

अपनी पुस्तक के पहले अध्याय के अन्त मे वह समाजवाद के बुनियादी सिद्धान्त पर जोर देते है कि उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार खत्म करके ही समाज की नये ढंग से रचना हो सकती है। यह सम्भव है कि नयी राज्यसत्ता समाजवाद की ओर बढ़ते हुए यह सब तुरत न कर सके, "फिर भी यदि उसे अपने उद्देश्य में सफल होना है, तो बड़े पैमाने के उत्पादन के जो क्षेत्र देश के आर्थिक जीवन पर हावी है और इस आर्थिक जीवन के मर्मस्थल हैं, उनमें यह परिवर्तन तुरत करना होगा।" (पृष्ठ १६)। भारत के भावी प्रधानमन्त्री को ध्यान में रखते हुए कहते हैं, "अब शायद हम यह बताने की स्थिति में है कि यदि पंडित जवाहरलाल के हाथ मे सत्ता आई तो वह क्या करेंगे।" (उप.)।

गांधीजी ने कहा था कि पंडित जवाहरलाल सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण की बात जरूर करते हैं पर इससे जमीदारों को डरना नही चाहिए क्योंकि अहिंसा के सिद्धान्त पर उनसे (जवाहरलाल से) कोई मतभेद नही है। अब इसमें सन्देह नही कि जयप्रकाशजी की तुलना में महात्मा गांधी पंडित जवाहरलाल नेहरू को ज्यादा अच्छी तरह समझते थे। किन्तु उन दिनों जयप्रकाश नारायण ने समाजवादियो पर हिंसा का दोष लगाने वालो को उत्तर देते हुए जवाहरलाल नेहरू का हवाला दिया। उनकी पुस्तक रीसेन्ट एसेज ऐण्ड राइटिंग्स से उन्होंने उद्धरण दिया, "इस बात को समझ लेना अच्छा होगा कि जो लोग भू-स्वामी आदि सम्पत्तिशाली वर्गों के सदस्य है, वे केवल दमन के जरिये अपनी जगह पर कायम

है।" (पृष्ठ ८६)। जमींदारों के संदर्भ में जयप्रकाश नारायण ने लिखा, "गांधी जी मान लेते हैं कि उनमें और जवाहरलाल में अहिंसा को लेकर सहमति है, इसलिए जवाहरलाल जमींदारों की सम्पत्ति और निजी अधिकारों की बड़ी मुस्तैदी से हिफ़ाजत करेंगे।" (पृष्ठ १०२)। नेहरूजी की उसी पुस्तक का हवाला देते हुए उन्होंने बताया कि जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्होंने साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई में अहिंसा को केवल एक हथियार के रूप में स्वीकार किया है और वहाँ भी वह उसे अचूक नहीं मानते। नेहरूजी ने लिखा था कि "मेरे लिए हिंसा के मुकाबले में अहिंसा कहीं ज्यादा बेहतर है, फिर भी अहिंसा के साथ गुलाम बने रहने के बदले हिंसा के साथ आज़ाद होना मैं कहीं ज्यादा अच्छा समझता हूँ।" हिंसा-अहिंसा का प्रश्न साम्राज्यविरोधी लड़ाई के सन्दर्भ में ही न उठता था, आजादी मिलने के बाद समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के सन्दर्भ में भी यह प्रश्न मौजूद था। नेहरूजी ने लिखा था, "राज्यसत्ता पर अधिकार कर लेने के बाद हिंसा-अहिंसा का प्रश्न दूसरे रूप में उठ सकता है, और दरअसल उसका उठना लाजमी है। मुमकिन है कि प्रतिक्रियावादी समुदाय नयी शासनव्यवस्था को उलट देने की कोशिश करे। तब 'जी.' (नेहरूजी की पुस्तक **व्हिदर इण्डिया** के एक आलोचक—ज. प्र. ना.) नयी सरकार को सलाह देंगे कि ऐसे लोगों को राज्य-सत्ता की दमन-शक्ति के ज़रिये काबू में किया जाये अथवा क्या वह सोचते हैं कि धर्म और परोपकार की दलीलों से उनका हृदय परिवर्तन किया जायेगा? फिर नयी सरकार जनता के बहुसंख्यक भाग की इच्छा को पूरा करते हुए ऐसे कानून बना सकती है जिनका उद्देश्य हो कि विशेषाधिकार प्राप्त लोगों से उनके ये अधिकार छीन लिये जायें। उस हालत में 'जी.' इन लोगों को क्या सलाह देंगे, बहुसंख्यक जनता के सामने झुक जायें या उसका मुकाबला करें? यदि मुकाबला करते हैं तो उनके विरोध से कैसे निपटा जायेगा?" इस पर जयप्रकाश नारायण की टिप्पणी है, "जी. का उत्तर चाहे जो हो, जवाहरलाल का उत्तर तो स्पष्ट मालूम होता है।" (पृष्ठ १०३)। इन उद्धरणों से यह भी समझ में आता है कि साम्राज्यवाद से लड़ते हुए अहिंसा से काम लिया जाय तो यह मजबूरी की बात होगी। किन्तु राज्य-सत्ता पर अधिकार हो जाने के बाद इस तरह की मजबूरी का नामनिशान न होगा। राज्य-सत्ता के पास हिंसात्मक दमन के साधन होंगे, सम्पत्तिशाली वर्गों के विरोध को दबाने के लिए इनका उपयोग अनिवार्य होगा और उचित होगा। इस बारे में जयप्रकाश नारायण और जवाहरलाल नेहरू की एक ही राय थी। इसलिए नेहरूजी के लेखों का हवाला देते हुए जयप्रकाशजी ने लिखा कि नेहरूजी के ये सब बयान देखकर "समझ में नहीं आता कि किस आधार पर इस मामले में गांधीजी अपने साथ जवाहरलाल का नाम जोड़ लेते हैं।" (पृष्ठ १०३)।

## ३. जवाहरलाल नेहरू

१६२७ में जवाहरलाल नेहरू ने अपने परिवार के साथ रूस की यात्रा की। समाजवादी क्रान्ति की १०वीं सालगिरह पर उन्होंने मास्को में जनसमारोह देखा। वह

थोड़े ही समय वहां रहे थे, वहां के जीवन की झलक ही देखने को मिली थी किन्तु यह भी लाभकारी थी। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि इससे अपने पढ़ने के लिए एक पृष्ठभूमि मिल गई। अपने पिता पंडित मोतीलाल नेहरू के लिए लिखा है कि उनकी सारी शिक्षा कानून और संविधान के दायरे की थी और उस दायरे से निकलना उनके लिए आसान न था। सोवियत संघ के समूहवादी विचार उनके लिए बिल्कुल नये थे, "फिर भी उन्होंने मास्को में जो कुछ देखा, उससे वह निश्चित रूप में प्रभावित हुए।" (पृष्ठ १६५; आत्मकथा से उद्धरण १९६२ के मूल अंग्रेज़ी भाषा वाले संस्करण से यहां दिये जा रहे हैं।)

१९३६ में जयप्रकाश नारायण की पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उसी वर्ष नेहरूजी की आत्मकथा भी प्रकाशित हुई थी। मार्क्सवाद के प्रति दोनों पुस्तकों में दृष्टिकोण लगभग एक-सा है। दोनों पुस्तकों के लेखकों ने स्वाधीनता आन्दोलन के सुधारवादी नेतृत्व की आलोचना की है। सन् २० के आन्दोलन के बाद अंग्रेज़ों ने जब साम्प्रदायिक उकसावा पैदा किया और आन्दोलन को कमज़ोर करने में सफल हुए तब यह सवाल पैदा हुआ कि अंग्रेज़ों की इस नीति से आन्दोलन का बचाव कैसे किया जाये। फूट डालो और राज करो, यह नीति नयी नहीं थी। साम्राज्यवादी हमेशा इस नीति से काम लेते रहे थे। तब उसकी शिकायत क्या करना। अपनी कमज़ोरी दूर करने के लिए स्वाधीनता आन्दोलन को साम्राज्यवादी कूटनीति से बचाना ज़रूरी था। नेहरूजी ने लिखा, "बचाव के लिए क्या किया जाये? अवश्य ही बाज़ार में मोलभाव करनेवाली नीति से यह न हो सकता था। हम चाहे जितने ऊंचे भाव की बात करें, एक तीसरी पार्टी हमेशा मौजूद रहती है जो और भी ऊंचे भाव की बात कर सकती है और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि वह अपना मोलभाव अमल में ला सकती है। यदि हमारे पास कोई सामान्य राष्ट्रीय दृष्टिकोण न होगा, तो हम अपने सामान्य शत्रु के विरुद्ध कोई सामान्य कार्रवाई भी न कर सकेंगे। यदि हम मौजूदा राजनीति और आर्थिक ढांचे की सीमाओं के भीतर ही सोचते रहेंगे, चाहेंगे कि जहां-तहां छिट-पुट जोड़-तोड़ कर दिया जाये, उसमें सुधार कर दिया जाये, उसे 'हिन्दुस्तानी बना दिया जाये', तो सामान्य कार्रवाई के लिए कोई भी वास्तविक प्रेरणा न रहेगी। तब उद्देश्य यह हो जाता है कि लूट में हमें भी हिस्सा मिल जाये, और जिस तीसरी पार्टी के हाथ में वास्तविक अधिकार है, लाज़मी तौर पर उसी की मुख्य भूमिका होती है और वह अपने चहेतों को इनाम बांटती है। केवल एक भिन्न राजनीतिक ढांचे के दायरे में, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह कि भिन्न सामाजिक ढांचे के दायरे में हम सामान्य कार्यवाही के लिए स्थाई आधार बना सकते हैं। स्वाधीनता की मांग के पीछे सारा चिन्तन यह था; हम लोगों को महसूस करायें कि हम ऐसे राजनीतिक ढांचे के लिए लड़ रहे हैं जो एकदम भिन्न है, जो वर्तमान व्यवस्था का हिन्दुस्तानी संस्करण मात्र नहीं है (जिसमें अंग्रेज पर्दे के पीछे से सूत्रधार का काम करते रहते हैं)। औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमीनियन स्टेटस) का यही मतलब है। इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिक स्वाधीनता का अर्थ केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता है; उसमें किसी तरह का सामाजिक परिवर्तन या आम जनता के लिए आर्थिक

स्वतन्त्रता शामिल नही है। किन्तु उसका यह अर्थ अवश्य था कि जो वित्तीय और आर्थिक जंजीरें हमें सिटी ऑफ लन्दन से बांधे हुए है, उन्हें हटा दिया जाये, और इससे सामाजिक ढाचे में तब्दीली करना आसान हो जायेगा। ऐसा मैं उस समय सोचता था। अब इसमें एक बात और जोड़ूंगा कि अब मैं नही समझता कि सच्ची राजनीतिक आज़ादी अपने आप हमारे पास आ जायेगी। जब वह आयेगी तो अपने साथ सामाजिक आज़ादी भी काफी मात्रा मे लायेगी।" (पृष्ठ १३६-३७)।

नेहरूजी ने साम्राज्यवाद को तीसरी पार्टी कहा है। पहली पार्टी कांग्रेस के नेतृत्व मे चलनेवाला स्वाधीनता आन्दोलन है। इनके बीच दूसरी पार्टी सम्प्रदायवाद को उभारनेवाली मुस्लिम लीग थी। १९२० के बाद यह बिल्कुल स्पष्ट होता जाता था कि साम्राज्यवाद पर जनआन्दोलन का दवाव डालने की जो नीति कांग्रेस ने अपनायी थी, उसका काट करने के लिए साम्राज्यवाद के पास जवाबी नीति थी—साम्प्रदायिक उभार के ज़रिये स्वाधीनता आन्दोलन पर दबाव डालना। कांग्रेसी नेतृत्व में चलने वाले हर आन्दोलन के बाद अंग्रेज़ों से सुलह-समझौते की बातचीत अनिवार्य थी। इस बातचीत मे अंग्रेज जितनी रियायतें कांग्रेस को देते थे, उनके साथ वे इतनी रियायतें मुस्लिम लीग को भी देते थे कि कांग्रेसी नेताओं के पैरों में बेड़ियां पड़ी रहें। रियायतें देनेवाले अंग्रेज थे। मोल-भाव करनेवाली नीति मे उनका पलड़ा भारी रहता था। राजाओं, अछूतों आदि के अलावा वे खासतौर से अल्पसंख्यक मुसलमानों के संरक्षक थे। जितना ही सम्प्रदायवाद बढ़ता था, उतना ही अंग्रेज़ों पर संरक्षण का भार बढ़ता जाता था, उतना ही मोल-भाव करने वाले कांग्रेसी नेताओं पर अंग्रेज़ों का दबाव बढ़ता था। सुधारवादी ढंग से स्वाधीनता आन्दोलन चलाने का और कोई नतीजा न हो सकता था। इस स्थिति से अनेक राजनीतिज्ञ परिचित थे। वे पुराना रास्ता छोड़कर नये रास्ते पर बढ़ना चाहते थे। नये रास्ते पर बढ़ने का मतलब था पुराने राजनीतिक ढाचे मे जहां-तहां सुधार न करना वरन् उसे पूरी तरह बदल देना। अंग्रेज़ों से रियायतें पाने के उद्देश्य से जो आन्दोलन चलाया जा रहा था, वह इस ढाचे को न बदल सकता था, उसे बदलने के लिए सबसे पहले तो पूर्ण स्वाधीनता का स्पष्ट लक्ष्य सामने रखना ज़रूरी था। पूर्ण स्वाधीनता का मतलब था भारत को जो आर्थिक जंजीरें सिटी ऑफ लन्दन से बांधे हुए थी, उन्हें तोड़ दिया जाये। इसके बिना सामाजिक ढाचे में तब्दीली न हो सकती थी। यदि भारत और ब्रिटेन के आर्थिक सम्बन्ध बरकरार रहते हैं, तो यह पूरी आज़ादी न होगी। इन सम्बन्धों के कायम रहते समाजव्यवस्था मे कोई मौलिक परिवर्तन न होगा। यह बात पंडित जवाहरलाल नेहरू १९२४ के आसपास साम्प्रदायिकता के उभार के समय समझते थे। आत्मकथा लिखते समय उनके सामने जो नयी बात स्पष्ट हुई, वह यह थी कि राजनीतिक स्वाधीनता के साथ काफी मात्रा मे सामाजिक स्वाधीनता भी आनी चाहिए। सामाजिक स्वाधीनता का मतलब यह था कि भारतीय समाज में जो प्रजा के देशी शोषक थे, उनके उत्पीड़न से प्रजा को अंशतः मुक्ति मिले।

सामाजिक स्वाधीनता दरकिनार, जिस तात्कालिक विष से समाज को

बँचाना ज़रूरी था, वह सम्प्रदायवाद था। इस विष का एक ही कारगर उपचार था सुधारवादी नीति का त्याग, स्वाधीनता आन्दोलन का क्रान्तिकारी ढंग से संचालन। नेहरूजी ने लिखा है, "किन्तु लगभग हमारे सभी नेता मौजूदा राजनीतिक, और बेशक उसके साथ सामाजिक, ढांचे के तंग फौलादी दायरे के भीतर अपना सोच-विचार जारी किये हुए थे। समस्या चाहे साम्प्रदायिक हो चाहे संवैधानिक हो, वे उसका सामना इसी पृष्ठभूमि के साथ करते थे। इसका लाज़मी नतीजा यह था कि वे अंग्रेज सरकार के हाथों खेल जाते थे क्योंकि इस ढांचे पर पूरा अधिकार इस सरकार का था। वे इसके अलावा और कुछ कर न सकते थे क्योंकि उनका सारा दृष्टिकोण जबतब सीधी कार्रवाई वाले प्रयोगों के बावजूद बुनियादी तौर पर सुधारवादी था, क्रान्तिकारी नहीं था। लेकिन वह ज़माना गया जब भारत में कोई राजनीतिक, आर्थिक या साम्प्रदायिक समस्या का सन्तोषजनक समाधान सुधारवादी तरीकों से मिल जाता। परिस्थिति की मांग थी कि क्रान्तिकारी दृष्टिकोण, क्रान्तिकारी योजना और क्रांतिकारी समाधानों से काम लिया जाये। लेकिन ऐसा करने वाला नेताओं में कोई न था।" (पृष्ठ १३७)।

राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन सुधारवादी ढंग से चलाया जाये या क्रान्तिकारी ढंग से, तीस-चालीस के दशक में भारतीय राजनीति की यह प्रमुख समस्या थी। सुधारवाद का एक ही विकल्प हो सकता था मार्क्सवाद। किन्तु कांग्रेसी नेताओं में क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपनाने वाला कोई भी न था। इसका अर्थ यह है कि साम्प्रदायिक उभार के रूप में अंग्रेज़ों ने जो जवाबी हमला किया, उसका मुकाबला करने की ताक़त कांग्रेस में नहीं थी। मार्क्सवाद का अध्ययन करने से सुधारवाद और क्रान्तिकारी नीति का भेद नेहरूजी बहुत स्पष्ट समझ गये थे। सोवियत संघ में समाजवादी व्यवस्था के निर्माण की चर्चा करते हुए नेहरूजी ने आत्मकथा में लिखा, "जिस समय बुनियादी ढांचे को बदलने का सवाल पेश हो, उस नाज़ुक घड़ी में सुधारवाद के ज़रिये किसी भी बुनियादी समस्या को हल करना असम्भव था। बाद की प्रगति चाहे जितनी धीमी हो, शुरू में तो उस मौजूदा व्यवस्था से पूरी तरह नाता तोड़ना ही होगा जो अपनी भूमिका पूरी कर चुकी थी और भावी प्रगति में सिर्फ रोड़े अटका रही थी।" (पृष्ठ ३६२)। रूस में अंग्रेज़ी राज से आज़ादी पाने का सवाल न था, फिर भी सुधारवाद और क्रान्तिकारी नीति का आमना-सामना वहां भी था। सुधारवाद से पूंजीवादी व्यवस्था को खत्म न किया जा सकता था। उसे क्रान्तिकारी ढंग से खत्म किया गया, समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के लिए क्रान्तिकारी कदम उठाये गये। इससे भारत के नेताओं ने सीखा कि भारत में सुधारवाद का जो रूप था, उसे खत्म कर देना जरूरी है, स्वाधीनता आन्दोलन को अंग्रेज़ों के जवाबी हमले से बचाना है तो उसे क्रान्तिकारी ढंग से चलाना चाहिए।

स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेने वाले जितने जनसमुदाय थे, उनमें किसानों का समुदाय सबसे बड़ा था। साम्राज्यवाद के मातहत राजे-महाराजे और ज़मींदार इनके प्रत्यक्ष शोषक थे, खासतौर से जिन जनपद में नेहरू का अपना कार्यक्षेत्र था, उसमें सामन्तों का यह वर्ग अत्यन्त पतित था। इसके साथ ही किसानों में

अपने आप सामन्तविरोधी आन्दोलन फूट रहे थे। अवध की ये दोनों विशेषताएँ आत्मकथा में बहुत साफ शब्दों में बयान की गयी हैं। इसका मतलब यह है कि सुधारवाद को खत्म करने और क्रान्तिकारी नीति के अनुसार स्वाधीनता आन्दोलन चलाने के लिए जितनी अच्छी ज़मीन जवाहरलाल नेहरू के अपने कार्यक्षेत्र में थी, उतनी अच्छी ज़मीन देश में दूसरी जगह न थी। अवध के सामन्तों के बारे में नेहरूजी ने लिखा है, "ताल्लुकदार और बड़े ज़मीदार ज़मीन के मालिक हैं। ये घमण्ड से अपने को जनता का पैदायशी नेता कहते हैं। ये ब्रिटिश सरकार के बगल-बच्चे हैं। सरकार ने उन्हें इस तरह पाला-पोसा है और सिखाया-पढ़ाया है या उन्हें अपने हाल पे छोड़ दिया है कि वह एक वर्ग की हैसियत से उन्हें बौद्धिक रूप में नपुंसक बना डालने में कामयाब हुई है। दूसरे देशों में ज़मीदारों ने अपनी रिआया के लिए अक्सर कुछ किया भी है लेकिन इन्होंने कुछ नहीं किया। ये ज़मीन और किसानों का खून चूसने वाली जोंकों की तरह हैं। इनका खास काम यह रहता है कि अपने इलाके के हाकिमों को खुश करते रहें, अपने विशेष हितों और अधिकारों की रक्षा के लिए हमेशा उनका दरवाज़ा खटखटाते रहें क्योंकि हाकिमों की कृपा के बिना ये चार दिन भी सलामत नहीं रह सकते।" (पृष्ठ ५८)।

नेहरूजी ने छोटे और बड़े ज़मीदारों में भेद किया है और बताया है कि छोटे और मझोले ज़मीदारों में अनेक ने स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया है। ताल्लुकदारों और बड़े ज़मीदारों की स्थिति भिन्न है, "अभिजात वर्ग में जो गुण होते हैं, वे भी इनमें नहीं हैं। वर्ग की हैसियत से इनका शारीरिक और मानसिक पतन हो चुका है। इनके दिन बीत चुके हैं। ये तभी तक बने हुए हैं जब तक ब्रिटिश सरकार जैसी विदेशी ताकत उन्हें बनाये हुए है।" (उप.)। साम्राज्यवाद ने अपने सामाजिक आधार के लिए अवध में जो आदमी चुने थे उनका हुलिया यही था। ये अंग्रेज़ों के सहारे जी रहे थे, प्रजा और धरती पर भार बने हुए थे। इस भार को हटा देने की ताकत यहां के किसानों में थी। पुस्तकों में किसानों की निष्क्रियता के बारे में चाहे जो कुछ लिखा जाये, किसान ज़मीदारों की अन्धेरगर्दी खत्म करने के लिए आगे बढ़ रहे थे। अन्य प्रदेशों से अवध के किसानों की तुलना करते हुए नेहरूजी ने लिखा कि यहां पर किसानों को थोड़े समय के लिए लगान पर ज़मीन जोतने को दी जाती थी। जब कोई दूसरा किसान ज़्यादा लगान देने को तैयार होता था तब पहले वाले किसान को बेदखल किया जाता था। लगान ले लिया और रसीद न दी। किसान के लिए बहुत मुश्किल था कि वह साबित करे कि उसने लगान चुका दिया था। ज़मीदार उसे आसानी से बेदखल कर सकता था। लगान के अलावा गैरकानूनी वसूली के बहुत से तरीके थे। परिवार में ब्याह है, लड़के को पढ़ने के लिए विदेश भेजना है, लाट साहब को दावत देनी है, हाथी या मोटरकार खरीदना है, तो इस सबके लिए अलग वसूली होगी। इस तरह की वसूली के अलग-अलग नाम हैं जैसे मोटर खरीदने के लिए मोटरौना, हाथी खरीदने के लिए हथौना। (पृष्ठ ५४)। रामचन्द्र वर्मा ने अपनी साम्यवाद नाम की पुस्तक में बड़े ज़मीदारों के बारे में जो बातें १६१६ में लिखी थीं, नेहरूजी का बयान उनसे बिल्कुल मिलता-जुलता है।

इस परिस्थिति में किसान आन्दोलन का अपने आप चल पड़ना स्वाभाविक था। नेहरूजी ने लिखा है, "इसलिए अवध में एक बड़ा किसान आन्दोलन फैल गया, इसमें आश्चर्य की बात नहीं थी। मेरे लिए जो आश्चर्य की बात थी वह यह कि किसी शहरी मदद के बिना या राजनीतिज्ञों आदि के दखल दिये बिना बिल्कुल अपने आप फैल गया। किसान आन्दोलन कांग्रेस से बिल्कुल अलग था; जो असहयोग आन्दोलन चल रहा था, उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि इन दोनों शक्तिशाली आन्दोलनों के बड़े पैमाने पर फैलने के मूल कारण एक ही थे। १९१९ में गांधीजी ने जिन बड़ी हड़तालों की घोषणा की थी, उनमें किसानों ने बेशक हिस्सा लिया था और आगे चलकर उनका नाम गांव वालों के लिए जादू का काम करता था।" (पृष्ठ ५४)। यह विवरण प्रत्यक्ष जानकारी के बल पर लिखा गया है। इसमें ध्यान देने की पहली बात यह है कि यह आन्दोलन कांग्रेसी या गैर-कांग्रेसी राजनीतिज्ञों की सहायता के बिना खुद किसानों की पहल पर फैला था। इससे मालूम होगा कि पहले विश्वयुद्ध के बाद भारत में, विशेष रूप से अवध में सामन्तविरोधी क्रान्ति के लिए कैसी अनुकूल परिस्थिति थी। जो क्रान्तिकारी परिस्थिति की यह विशेषता न पहचान पाये, वे चाहे मार्क्सवादी हों चाहे गैर-मार्क्सवादी, लाजमी तौर से साम्राज्यविरोधी क्रान्ति करने में भी वे असफल रहे। ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि यह किसान आन्दोलन असहयोग आन्दोलन के साथ चल रहा था, दोनों के मूल कारण एक ही थे और १९१९ में ही गांधीजी ने जिन बड़ी हड़तालों की घोषणा की थी, उनमें किसानों ने भाग लिया था। इसका अर्थ यह है कि वे राजनीतिक आन्दोलन के प्रति उदासीन नहीं थे और उसमें आगे बढ़कर हिस्सा ले चुके थे। किसान आन्दोलन से जोड़ दिये जाने पर राजनीतिक आन्दोलन अपरिमित रूप से शक्तिशाली बन सकता था। ध्यान देने की तीसरी बात यह है कि किसान आन्दोलन बड़े पैमाने पर फैला था, प्रसार और शक्ति में वह असहयोग आन्दोलन के समकक्ष था। नेहरूजी ने वाइड स्प्रेड (बड़े पैमाने पर फैला हुआ) और पावरफुल (शक्तिशाली), इन विशेषणों का प्रयोग दोनों आन्दोलनों के लिए एकसाथ किया है। किन्तु अधिकतर राजनीतिक इतिहास की पुस्तकों में और पढ़े-लिखे लोगों की चेतना में असहयोग आन्दोलन की तस्वीर तो साफ बनी हुई है लेकिन किसान आन्दोलन की तस्वीर बहुत धुंधली है या फिर है ही नहीं।

इतिहासकार अपने वर्ग दृष्टिकोण से कैसे प्रभावित होते हैं, कैसे महत्वपूर्ण घटनाओं की अनदेखी करते हैं, इसका उदाहरण किसान आन्दोलन का यह प्रसंग है। ऐसा नहीं है कि बहुत दिन बीत जाने के कारण लोग सन् १९२० के आन्दोलन की बातें भूल गये हैं। जिस समय यह आन्दोलन चल रहा था, उस समय भी ज्यादातर पढ़े-लिखे लोग इसकी तरफ से बेखबर थे। इस स्थिति का वर्णन जवाहरलाल नेहरू ने इस प्रकार किया है, "इस महान् किसान आन्दोलन के बारे में शहर के लोगों का पूरी तरह अनजान होना मेरे लिए और भी आश्चर्य की बात थी। किसी अखबार में एक सतर इसके बारे में न छपी थी। मुझे पहले से और भी ज्यादा यह एहसास हुआ कि हम अपनी जनता से कितना कटे हुए हैं और

उससे अलग-थलग एक छोटी-सी दुनिया में अपनी सरगर्मियां दिखा रहे हैं।" (पृष्ठ ५४-५५)।

यदि १९१९-२० का किसान आन्दोलन भारत के समकालीन बुद्धिजीवियों को न दिखाई देता था, तो १८५७-५८ में किसानों ने जो कुछ किया, उसकी जानकारी उन्हें कैसे हो सकती थी ?

किसानों और कम्युनिस्टों के बारे में जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "भारत में कम्युनिस्टों का सम्बन्ध बड़े शहरों के औद्योगिक मजदूरों से रहा है। देहात से उनका सम्पर्क नहीं है, वहां की जानकारी नहीं है। औद्योगिक मज़दूरों का महत्व अवश्य है और भविष्य में उसके बढ़ने की सम्भावना है, पर किसानों के बाद उनका दूसरा स्थान है क्योंकि आज के भारत की समस्या किसानों की समस्या है। इसके विपरीत कांग्रेसी कार्यकर्ता देहात में सब जगह फैले हुए हैं और यह स्थिति बनी रही तो एक विशाल किसान संगठन के रूप में कांग्रेस का विकास अवश्य होगा। तात्कालिक उद्देश्य पूरा हो जाने के बाद किसान कम ही क्रान्तिकारी बने रहते हैं और यह मुमकिन है कि आगे कभी शहर बनाम देहात और औद्योगिक मजदूर बनाम किसान का आम मसला भारत में भी दरपेश हो।" (पृष्ठ ३६८)। किसानों और मजदूरों में किसका स्थान पहले है और किसका बाद को, इस प्रश्न पर यहां कुछ कहने की जरूरत नहीं। तात्कालिक मांगें पूरी होने पर किसान क्रान्तिकारी रहेंगे या नहीं, मसला मजदूर बनाम किसान का है या किसान-मजदूर एकता का है, यह सवाल भी उठा रखने हैं। देहात से कम्युनिस्टों का सम्बन्ध बहुत कम था, यह आलोचना सही है। भारत की मुख्य समस्या किसानों की थी, यह बात भी सही है। मुख्य प्रश्न यह है कि कांग्रेस एक विशाल संगठन क्यों नहीं बन पायी, वह सामन्तविरोधी किसान आन्दोलन दृढ़तापूर्वक क्यों नहीं चला सकी। इस मुख्य प्रश्न का उत्तर नेहरूजी की आत्मकथा में है।

सन् २० के बाद दस साल बीत गये। नेहरूजी का मुख्य कार्यक्षेत्र भूतपूर्व संयुक्त-प्रान्त और वर्तमान उत्तर प्रदेश था। सूबे की कांग्रेस कमेटी किसानों की हालत पर ध्यान दे रही थी। इस कमेटी की कार्यकारिणी समिति किसान विभाग की देखरेख करती थी। १९३१ के उत्तरार्द्ध में इस समिति ने किसानों से सम्बन्धित एक अलग कमेटी बनाई। इन संगठनों के बारे में नेहरूजी ने लिखा है, "यह जानना दिलचस्प होगा कि समिति और इस कमेटी में कई ज़मींदार प्रमुखरूप में निरन्तर सम्बद्ध रहे और सभी कदम उनकी अनुमति से उठाये गये। दरअसल उस साल के लिए हमारी सूबा कमेटी के सभापति (और अपने इस पद के कारण कार्यकारिणी समिति के प्रधान) तसद्दुक [illegible] खानदान के थे। सचिव श्रीप्र[illegible] ज़मींदार थे या ज़मींदार घराने [illegible] हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी में एक भी आसामी या ग़रीब किसान प्रतिनिधि रूप में नहीं था। हमारी जिला कमेटियों में किसान थे लेकिन चुनाव-दर-चुनाव के बाद जो प्रान्तीय कार्यकारिणी बनती थी, उस तक वे बहुत कम पहुंच पाते थे। कार्यकारिणी पर मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी पूरी तरह हावी थे और उसमें एक तगड़ा

जमींदारों का था। इस कारण उसे किसी भी प्रकार का गरम-दली संगठन
ा जा सकता था, किसानों के मामले में तो और भी नहीं।" (पृष्ठ २६७-
।

कांग्रेस जनतान्त्रिक संगठन है। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान १६३१ में
जनतत्र का भीतरी वर्गरूप क्या था, यह नेहरूजी के विवरण से बहुत अच्छी
मालूम हो जायेगा। स्वाधीनताप्राप्ति के बाद भारतीय जनतत्र का रूप किस
का होगा, यह बहुत कुछ इस पर निर्भर था कि स्वाधीनता के लिए आन्दोलन
वाली पार्टियों के अपने जनतंत्रों का वर्गरूप क्या था। कांग्रेस एक विशाल
न सगठन क्यों न बन पायी, सामन्तविरोधी क्रान्ति के लिए परिस्थिति
ल होने पर भी उसका संचालन क्यों नहीं कर पायी, इसका जवाब उसकी
संस्थाओं का वर्गरूप देखने से मिल जाता है।

आत्मकथा के अन्तिम अंश में सम्प्रदायवाद की चर्चा करते हुए नेहरूजी ने
है, "कांग्रेस ने अपने को साम्प्रदायिक अधकार से बहुत कुछ अलग रखा है
उसका दृष्टिकोण निम्नपूंजीवादी (पेटी बुर्जुआ) है और वह इसका जो
ा ढूंढती है, वह दूसरे मसलों की तरह पेटी बुर्जुआ नुस्खों के मुताबिक है।
इसमें उसके कामयाब होने की गुंजाइश बहुत कम है। वह अभी इस निम्न
र्ग का प्रतिनिधि बनी हुई है क्योंकि वह इस समय सबसे ज्यादा मुखर
क्रान्तिकारी है। फिर भी वह उतनी जीवंत नहीं है जितनी ऊपर से दिखाई
है। इस पर अगल-बगल दो ताकतों का दबाव है; इनमें एक मजबूती से पैर
ये है और दूसरी अभी कमजोर है पर तेजी से बढ़ रही है। इस समय निम्न
र्ग अपने अस्तित्व के संकट से गुजर रहा है। भविष्य में उसका क्या होगा,
कहना कठिन है।" (पृष्ठ ५६३)। जो दो ताक़तें मध्यवर्ग पर दबाव डालती
स्पष्ट ही पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग की हैं। इनमें पूंजीपति वर्ग की
मज़बूती से पैर जमाये है, मजदूर वर्ग अभी कमजोर है पर उसकी ताक़त
से बढ़ रही है। जिस वर्ग के लिए अस्तित्व का संकट मौजूद हो, वह जमकर
कारी आन्दोलन नहीं चला सकता। कांग्रेस के साथ मध्यवर्ग का बहुत बड़ा
ा था और उसमें क्रान्तिकारी क्षमता भी थी किन्तु इस क्षमता का विकास
रों और किसानों के साथ काम करने से ही हो सकता था। कांग्रेस
दायिक समस्या हल करने में क्यों असफल रही? इसलिए असफल रही कि
पास निम्न पूंजीवादी नुस्खों के अलावा इस समस्या का और कोई इलाज
। यह भी तब जब कांग्रेस अपना सबसे क्रान्तिकारी कदम उठाती थी।
न्य स्थिति में उस पर जमींदारों का प्रभाव भी था, जमींदारों के अलावा
पतियों का प्रभाव भी था। अंग्रेजों से सुलह-समझौते की बात करने के लिए
मुख्य प्रेरणा इन्हीं वर्गों से मिलती थी, निम्न मध्यवर्ग से नहीं।

आत्मकथा में नेहरूजी ने कई जगह कम्युनिस्टों के प्रति अपना असन्तोष प्रकट
है। कांग्रेसी नेता कम्युनिस्टों से असन्तुष्ट हों, यह बात समझ में आती है,
कांग्रेसी सोशलिस्टों से क्यों असन्तुष्ट थे, यह बात तुरत हर किसी की समझ
आयेगी। कांग्रेसी सोशलिस्ट गुट अभी उभर ही रहा था कि नेतागण चौकन्ने

हुए। अभी पूंजीवाद को समाप्त करने और समाजवाद कायम करने का सवाल न था पर सोशलिस्ट नौजवान वर्गयुद्ध की बातें करने लगे थे। कांग्रेसी नेताओं को भय था कि ये नौजवान किसानों का संगठन बनाने लगे तो ज़मींदारों के खिलाफ लड़ाई छिड़ जायेगी। यदि इन्होंने मजदूरों का संगठन किया तो अपनी हालत सुधारने के लिए पूंजीपतियों से ये मज़दूर संघर्ष करेंगे। अपना जीवन-स्तर सुधारने के लिए मज़दूरों का छोटा-मोटा आन्दोलन भी पूंजीपतियों को रक्त-रंजित वर्ग-युद्ध जैसा दिखाई देता था। कांग्रेस के इतिहास में कराची अधिवेशन की चर्चा अक्सर होती है। यह माना जाता है कि इस अधिवेशन में कांग्रेस ने अपनी प्रगतिशील नीतियों की घोषणा की। किन्तु सन् ३०-३१ के आन्दोलन की असफलता के बाद कांग्रेसी नेताओं ने जब अंग्रेज़ों की बनाई हुई विधान समितियों में काम करने का निश्चय किया तब उनके लिए आवश्यक हो गया कि वे कराची में घोषित नीति का स्पष्टीकरण प्रकाशित करें।

कराची में जो नीतिसम्बन्धी प्रस्ताव पास किया गया था, उसकी आलोचना करते हुए अपनी पूर्वोक्त पुस्तक में जयप्रकाश नारायण ने लिखा था कि प्रस्ताव की भूमिका में यह स्पष्ट घोषणा है कि स्वराज्य आम जनता के लिए वास्तविक स्वराज्य तब होगा तब उसका अर्थ देश की राजनीतिक स्वाधीनता मात्र न हो वरन् आम जनता की आर्थिक स्वतन्त्रता भी हो। कांग्रेस समाजवाद का पूरा कार्यक्रम प्रस्तुत न करे पर उसे एक अल्पतम आर्थिक कार्यक्रम तो प्रस्तुत करना ही चाहिए। क्रान्तिकारी परिवर्तन करना दूर, कांग्रेस का वर्तमान कार्यक्रम समाज के आर्थिक गठन को पहले जैसा ही रहने देता है।(पृष्ठ २५-२६)। यद्यपि कार्यक्रम में स्वाधीनताप्राप्ति के बाद किसी बुनियादी परिवर्तन की बात न कही गयी थी, फिर भी उसमें मुख्य उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण की बात थी। एक ओर भविष्य में आम जनता के लिए आर्थिक स्वाधीनता की बात, दूसरी ओर प्रमुख उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीकरण की बात, इन दोनों बातों का तात्कालिक साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन से सीधा सम्बन्ध न था, पर दूरन्देश पूंजीपति अभी से परेशान थे। उन्हें चिन्ता थी कि कांग्रेसी नेता उनके प्रभाव से बाहर तो नहीं निकले जा रहे हैं।

इन दिनों पंडित जवाहरलाल नेहरू भी बहुत परेशान थे। रात को ठीक से नींद न आती थी, भयानक सपने देखते थे और सपने देखते हुए वह चिल्लाने लगते थे। एक दिन उन्होंने देखा कि कोई उनका गला घोंट रहा है और वह दूसरे दिनों के मुकाबले ज्यादा ज़ोर से चिल्लाये। वह जेल में थे। जब जागे तब अपने बिस्तर के पास जेल के दो वार्डरों को खड़े पाया।(पृष्ठ ५५६)। यह घटना उनके मानसिक द्वन्द का प्रतीक थी। इसका वर्णन करने के बाद उन्होंने आगे लिखा है "लगभग इसी समय कांग्रेस कार्यकारिणी के एक प्रस्ताव से मुझे कष्ट हुआ। इस प्रस्ताव के बारे में कहा गया था कि 'वर्गयुद्ध की आवश्यकता और व्यक्तिगत सम्पत्ति को छीनने के बारे में जो चवाव चल रहा था, उसे ध्यान में रखते हुए यह प्रस्ताव पास किया गया था। आगे प्रस्ताव में कांग्रेसियों को याद दिलाया गया है कि कराची प्रस्ताव में 'न तो वर्गयुद्ध की वकालत की गयी है, न उचित

कारण या मुआवजे के बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति छीनने की बात कही गयी है। कार्यकारिणी का यह मत भी है कि वर्गयुद्ध और सम्पत्ति छीनना कांग्रेस के अहिंसा सम्बन्धी विश्वास के विरुद्ध है।' इस प्रस्ताव की भाषा ढीली-ढाली थी और एक हद तक उसे लिखने वालों ने वर्गयुद्ध के बारे में अपना ज्ञान भी ज़ाहिर कर दिया था। स्पष्ट ही प्रस्ताव का लक्ष्य नव-निर्मित कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी थी। हकीकत यह है कि इस गुट के किसी ज़िम्मेदार आदमी ने सम्पत्ति छीनने की बात न कही थी, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में वर्गयुद्ध का अस्तित्व है, इसका ज़िक्र अक्सर किया गया था। कार्यकारिणी के प्रस्ताव ने मानो इशारे में बता दिया था कि जो भी इस वर्गसंघर्ष का अस्तित्व मानता है, वह कांग्रेस का साधारण सदस्य भी नहीं हो सकता। अभी तक किसी ने कांग्रेस पर यह आरोप न लगाया था कि वह सोशलिस्ट हो गयी है या कि यह व्यक्तिगत सम्पत्ति के खिलाफ है। इस तरह का मत उनके कुछ सदस्यों का था पर अब ऐसा लगता था कि इस व्यापक राष्ट्रीय संगठन में उनके लिए साधारण सदस्य की हैसियत वाली जगह भी नहीं थी।" (पृष्ठ ५५७)।

यह समझना कठिन नहीं है कि जिस प्रस्ताव से नेहरूजी को कष्ट हुआ था, उसमें किस वर्ग का हित होता था। मध्यवर्ग पर जो सम्पत्तिशाली वर्ग हावी हो जाता था, वह पूंजीपतियों का था। मध्यवर्ग चाहता था कि आज़ाद होने के बाद समाजवाद की स्थापना हो। पूंजीपति वर्ग को इस तरह की भावना से अपने लिए खतरा महसूस होता था। यह वर्ग इतना प्रभावशाली था कि वह कांग्रेसी नीति को एक विशेष दिशा में चलने के लिए बाध्य कर सकता था। कांग्रेस में चुनाव लड़ने के लिए एक अलग गुट संगठित किया गया था। यह चुनाव अंग्रेज़ों द्वारा निर्मित विधान परिषद के लिए होनेवाले थे। प्रस्ताव का लक्ष्य था कि "विधान परिषद के अगले चुनाव में सम्पत्तिशाली लोगों का समर्थन हासिल किया जाये। उनके इशारे पर कांग्रेस दाहिने बाज़ू की तरफ झुकती जाती थी और देश के नरमदली और रूढ़िवादी लोगों को मिलाने की कोशिश कर रही थी। जो लोग पहले कांग्रेसी आन्दोलनों का विरोध कर चुके थे और सविनय अवज्ञा के दौरान सरकार का साथ दे चुके थे, उनसे मीठी-मीठी बातें की जा रही थीं। समझौते और 'हृदय-परिवर्तन' की इस प्रक्रिया में शोर मचानेवाला और नुक्ताचीनी करनेवाला वाम-पक्ष रुकावट मालूम होता था। कार्यकारिणी के प्रस्ताव से और अनेक व्यक्तिगत बयानों से ज़ाहिर हो गया कि कांग्रेस कार्यकारिणी को बायें बाज़ू की नुक्ताचीनी उनके नये रास्ते से हटा नहीं सकती। बायें बाज़ू ने अपने को न सँभाला तो उसे दबा दिया जायेगा और कांग्रेस की सफ़ों से उसे निकाल बाहर किया जायेगा। कांग्रेस के पार्लमेन्ट्री-बोर्ड ने जो घोषणा-पत्र निकाला, वह ऐसा कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहा था जैसा नरम और फूंक-फूंककर कदम रखने वाला कार्यक्रम कांग्रेस ने पिछले पन्द्रह साल में न पेश किया था।" (पृष्ठ ५५८)।

यह तब की बात है जब भारत में अंग्रेज़ी फौज मौजूद थी और दिल्ली शहर स्वाधीन भारत की राजधानी न बना था। होनहार बिरवान के होत चीकने पात। कांग्रेसी नेता आर्थिक स्वाधीनता की बात करने के बाद किस तरह की सौदेबाज़ी

करते है, यह राजनीतिक स्वाधीनताप्राप्ति से बहुत पहले स्पष्ट हो गया था। खुद कांग्रेस के भीतर जो वायाँ बाजू उनकी नुक्ताचीनी करता था, वह उनके लिए सिरदर्द था। यदि वह उनके पीछे-पीछे उनके सुधारवादी रास्ते पर न चले तो उसे संगठन से बाहर निकाल देने में उन्हें कोई संकोच न था। वह वाम-पक्ष क्रान्तिकारी बातें करता हो पर चले उनके पीछे तो इससे उन्हें कोई परेशानी न थी। परेशानी तो दूर की बात है, वे जानते थे कि ऐसा वाम-पक्ष उनके लिए बहुत उपयोगी है। पूंजीपतियों का हित करनेवाली नीति खुले रूप में दक्षिण-पंथी नेता जनता के सामने रखें तो वह स्वीकार न की जायेगी किन्तु यदि उसे गरम शब्दावली का व्यवहार करनेवाले उसके वाम-पक्षी अनुयायी पेश करें, तो वह स्वीकार कर ली जायेगी। कांग्रेस के द्वार अवसरवादियों के लिए पहले की अपेक्षा और भी चौड़े खुल गये। अंग्रेज़ सरकार इस स्थिति से खुश थी क्योंकि स्वाधीनता आन्दोलन को विरोध की राह पर चलने से उसने रोक लिया था। एक बार यह बात फिर स्पष्ट हो गयी कि कांग्रेसी सुधारवाद का सम्बन्ध इस बात से इतना नही है कि भविष्य मे समाजवादी व्यवस्था कायम होगी या नही, जितना इस बात से कि भारत मे जो साम्राज्यवाद वर्तमान था, उसका पूरी तरह खात्मा होगा कि नही।

इस सन्दर्भ मे नेहरूजी ने जो कुछ लिखा है, वह बहुत ही शिक्षाप्रद है। उस समय की स्थिति का वर्णन करते हुए उन्होने लिखा है, "सरकारी हलकों में जो खुशी छायी हुई थी, उसे छिपाया न गया था। सविनय अवज्ञा और उसके परिणामो को दबा देने में सरकार ने जो सफलता प्राप्त की थी, उसी से यह खुशी पैदा हुई थी। मरीज़ का आपरेशन कामयाबी के साथ हो गया था, आगे वह मरेगा या जियेगा, यह बात महत्व की न थी। सरकार का विचार था कि यद्यपि एक हद तक कांग्रेस को ठीक कर लिया गया है, फिर भी थोड़ी-बहुत तब्दीली करके वही नीति चालू रखी जायेगी। वह जानती थी कि जब तक बुनियादी समस्या बनी हुई है तब तक राष्ट्रीय नीति मे ऐसे परिवर्तन अस्थायी होगे, और सरकार ने कही भी ढील दी, तो आन्दोलन और भी तेजी से बढ़ेगा। शायद वह यह भी सोचती थी कि वह कांग्रेस के अन्दर मौजूद प्रगतिशील लोगों को दबाती रहे या मजदूर-किसान समुदायों के आगे बढ़े हुए लोगो को दबाती रहे, तो इससे कांग्रेस के वे नेता कोई खास नाराज न होंगे जो औरों के मुकाबले ज्यादा फूंक-फूंककर कदम उठाते थे।" (पृष्ठ ५५९)।

नेहरूजी ने कम्युनिस्टों की आलोचना की है कि वे कांग्रेस का सम्बन्ध पूंजीवाद से जोड़ते हैं। उन्हें विशेष रूप से किसी भी प्रकार पूंजीवाद से गांधीजी का [illegible] कि [illegible] लागू कर सकता। समझौते बहुत तरह के होते हैं। एक समझौता साम्राज्यवाद ने

लड़ने के लिए मजदूरों और पूंजीपतियों मे हो सकता है; दूसरा समझौता आम जनता का आन्दोलन दवाने के लिए पूजीपतियो और साम्राज्यवाद के बीच हो सकता है। दोनों समझौतों में वड़ा अन्तर है। एक समझौता पूजीवाद से लड़ने के लिए सर्वहारा वर्ग निम्न पूंजीवादियों से कर सकना है, दूसरी तरह का समझौता मजदूर आन्दोलन के मध्यवर्गीय नेता इस आन्दोलन को दवाने के लिए पूजीपतियों से कर सकते हैं। दोनों समझौतों मे वडा अन्तर है। सन् ३० और ४० के दशक मे भारत के वामपंथी नेता जिस समझौते का विरोध कर रहे थे वह ज़मीदारो, बड़े पूंजीपतियो और साम्राज्यवाद के वीच था। उस तरह के समझौते से कुछ समय के लिए जवाहरलाल नेहरू भी परेशान हुए थे।

कम्युनिस्टों के लिए उन्होने लिखा है कि इनके अनुसार "कांग्रेसी नेताओं का उद्देश्य है कि हिन्दुस्तानी पूजीपतियों और ज़मीदारों के हित मे सरकार पर आम जनता का दवाव डालकर व्यापार और उद्योग-धन्धो में रियायतें हासिल करें। कांग्रेस का कार्य है कि 'वम्बई, अहमदावाद और कलकत्ता के मिलमालिको और महाजनों की गाड़ी चलाने के लिए किसानो, निम्न मध्यवर्ग और औद्योगिक मज़दूर वर्ग के आर्थिक-राजनीतिक असन्तोप का उपयोग किया जाये।' यह कल्पना की जाती है कि पर्दे के पीछे भारतीय पूजीपति वैठे हैं और कांग्रेस कार्यकारिणी के लिए फरमान जारी करते है कि पहले वह आम जनता का आन्दोलन चलाये, और जव वह वहुत वडा और खतरनाक हो जाये तो उसे रोक दे या दूसरी राह पर ले चले। इसके साथ यह भी कि कांग्रेसी नेता दरअसल चाहते नही है कि अंग्रेज चले जायें क्योंकि भूखी जनता का शोषण और नियन्त्रण करने के लिए उनकी ज़रूरत होगी, और हिन्दुस्तानी मध्यवर्ग महसूस करता है कि उसमे यह काम होगा नही।" (पृष्ठ ३६६)। इसमें सन्देह नही कि पूजीपति वर्ग का विश्लेषण करने मे कम्युनिस्टों ने गलतिया की थीं पर इससे यह सिद्ध नही होता कि कांग्रेस पर पूंजीवादी प्रभाव मानने मे उन्होने गलती की थी। यह प्रभाव किस तरह का था, इसके विवेचन में गलती हुई। औद्योगिक पूजीवाद और साम्राज्यवाद के बीच जो अन्तर्विरोध था, वह स्वाधीनता आन्दोलन के लिए महत्वपूर्ण था। इसी के अनुरूप कांग्रेसी नेताओं और अंग्रेज सरकार मे जो अन्तर्विरोध था, वह स्वाधीनता आन्दोलन के लिए महत्वपूर्ण था। किन्तु भारतीय पूजीवाद मे, औद्योगिक और अनुद्योगिक दोनो तरह के पूजीवाद मे, ऐसे तत्व रहे हैं जो अपने विकास के लिए साम्राज्यवाद का मुहँ जोहते रहे है। पूजीवादी नेतृत्व की कमजोरी यह नहीं थी कि वह पूजीवाद का विकास चाहता था, कमजोरी यह थी कि वह इस विकास के लिए पूरी तरह जन-आन्दोलन का भरोसा न करके साम्राज्यवाद के सहारे विकास की समस्या हल करना चाहता था। इसी कारण यह नेतृत्व क्रान्तिकारी ढंग मे स्वाधीनता आन्दोलन चलाने मे असमर्थ हो रहा था। पूजीपतियों के लिए आवश्यक नही था कि वे पर्दे के पीछे वैठें। घनश्यामदास विड़ला से अनेक कांग्रेसी नेताओं का सम्वन्ध जग-ज़ाहिर था। इसमें वुरा कुछ भी नही; शर्त यह थी कि ये नेता स्वयं भारतीय पूंजीवाद के विकास के लिए साम्राज्यवाद से जमकर संघर्ष करते रहें।

नेहरूजी की आत्मकथा से वहुत स्पष्ट है कि पूजीपति स्वाधीनता आन्दोलन

से लाभ उठाते थे और फिर उससे दगा भी करते थे। नेहरूजी ने कांग्रेसी नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए लिखा है, "जैसा कि इसके नाम से ज़ाहिर है, यह पूंजीवादी आन्दोलन (बुर्जुआ मूवमेंट) है और उसका उद्देश्य अभी तक राजनीतिक स्वाधीनता है, न कि समाजव्यवस्था में परिवर्तन। इस उद्देश्य की आलोचना की जा सकती है कि वह काफी दूरगामी नहीं है, और स्वयं राष्ट्रवाद के बारे मे कहा जा सकता है कि उसके दिन लद गये। किन्तु आन्दोलन का बुनियादी आधार मान लेने के बाद यह कहना कि नेता भूमि व्यवस्था या पूजीवादी व्यवस्था को उलटने की कोशिश नही करते, इसलिए जनता से गद्दारी करते हैं, बेसिर-पैर की बात है। उन्होंने ऐसा करने का दावा कभी किया ही नही। कांग्रेस मे कुछ लोग है जो भूमि व्यवस्था और पूंजीवादी व्यवस्था बदलना चाहते हैं और उनकी सख्या बढ़ती जाती है लेकिन वे कांग्रेस की ओर से नही बोल सकते।" (पृष्ठ ३६६-६७)। नेहरूजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन को पूंजीवादी आन्दोलन की संज्ञा ठीक दी है। जिस आन्दोलन के नेतृत्व पर पूंजीवादी प्रभाव न हो, उसे इस तरह की संज्ञा देना निरर्थक होगा। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का कांग्रेसी नेतृत्व पूजीवादी था। पूजीवाद के हित में था कि भारत में सामन्तवाद समाप्त हो। जितना ही सामन्ती अवशेष कायम रहेंगे, उतना ही पूंजीवादी विकास मे रुकावट होगी। ये सामन्ती अवशेष साम्राज्यवाद का मुख्य सामाजिक आधार थे। इस आधार को खत्म करना पूजीवाद के हित मे था। पूजीवादी व्यवस्था को उलटने का दावा न करें, कांग्रेसी नेताओं के लिए यह स्वाभाविक था; किन्तु वे ज़मींदारी प्रथा को खत्म करने का आन्दोलन न चलायें, यह उनके लिए स्वाभाविक न था। सुधारवाद की असली जड़ यह थी। कम्युनिस्टों ने भारतीय पूंजीवाद की साम्राज्यविरोधी भूमिका कम करके आकी, यह उनकी भूल थी पर यह उनकी मुख्य भूल न थी। मुख्य भूल यह थी कि उन्होने किसान आन्दोलन की भूमिका कम करके आकी और इस भूल से स्वाधीनता आन्दोलन को भारी नुकसान पहुँचा। नुकसान यह पहुँचा कि सुधारवादी नेता आन्दोलन का नेतृत्व सँभाले रहे; सुधारवाद के क्रान्तिकारी विकल्प का जो प्रश्न भारतीय राजनीति में बहुत स्पष्ट रूप से सन् ३० और ४० के दशक मे सामने आ चुका था, उसका समाधान वे न कर सके।

भारतीय पूंजीपतियो के लिए नेहरूजी ने लिखा है कि अंग्रेज़ी माल के बायकाट और स्वदेशी के प्रचार मे उन्होने बहुत लाभ उठाया। ऐसा होना लाज़मी था क्योंकि हर राष्ट्रीय आन्दोलन स्वदेशी उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देता है और विदेशी माल के बायकाट पर ज़ोर देता है। स्वाधीनता आन्दोलन से लाभ उठाने के साथ-साथ उन्होने एक काम और किया, "सविनय अवज्ञा आन्दोलन जब चालू था और हम अंग्रेज़ी माल के बायकाट का प्रचार कर रहे थे, तब बम्बई के मिल-मालिकों की पूरी जमात ने लंकाशायर से समझौता करने की जुर्रत दिखायी।" (पृष्ठ ३६७)। यह स्वदेशी उद्योग-धन्धों के प्रमुख केन्द्र बम्बई के पूजीपतियों का हाल था। कम्युनिस्ट यदि इन पूजीपतियों की आलोचना करते थे तो क्या बुरा करते थे? कांग्रेसी नेता इस तरह के समझौते रोकने मे नितान्त असमर्थ साबित

हुए। तब पूंजीपतियों के साथ इन नेताओं की आलोचना भी कम्युनिस्ट करते थे तो इसमें बेजा क्या था ?

कांग्रेसी नेता भूमि व्यवस्था उलटने का दावा करते थे किन्तु साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन में इस भूमि व्यवस्था से लाभ उठानेवालो की स्थिति क्या थी ? इस प्रश्न का उत्तर नेहरूजी की आत्मकथा मे इस प्रकार है, "जहा तक बड़े जमीदारों और ताल्लुकदारों का सम्बन्ध है, गोलमेज सम्मेलन मे वे पूरी तरह कांग्रेस के खिलाफ थे; उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान खुले और आक्रामक ढंग से सरकार का साथ देने की घोषणा की। इन्ही की मदद से विभिन्न प्रान्तों मे सरकार ने आर्डिनेन्सों के जरिये दमनकारी कानून बनाये। संयुक्त-प्रान्त की कौंसिल मे जमीदार सदस्यों के बहुमत ने सविनय अवज्ञा वाले कैदियों की रिहाई का विरोध किया।" (पृष्ठ ३६७)। सामन्ती अवशेष अंग्रेजी राज का मुख्य आधार थे और स्वाधीनता आन्दोलन की राह में बहुत बडी रुकावट थे, इसका प्रमाण उक्त विवरण से अच्छा और क्या होगा ? भारतीय पूंजीवाद स्वयं अपने विकास के लिए न तो सामन्ती अवशेष खत्म करने की ओर बढ रहा था और न लंकाशायर से समझौता किये बिना उसे चैन था। इसीलिए पूंजीवादी नेतृत्व का विकल्प अनिवार्य हो गया था। यह विकल्प मार्क्सवादी नेतृत्व ही हो सकता था।

राष्ट्रवाद, कांग्रेस और गाधीजी के सम्बन्धों के बारे मे नेहरूजी ने लिखा है कि जब तक यथेष्ट मात्रा मे राजनीतिक स्वाधीनता नही मिल जाती, तब तक राष्ट्रवाद मुख्य प्रेरणा बना रहेगा। इसी कारण गाधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जनता मे अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न की थी और "अपनी अस्पष्ट पूंजीवादी विचार-धारा के बावजूद उसने एक क्रान्तिकारी उद्देश्य पूरा किया था।" (पृष्ठ ३६५)। पूंजीवादी विचारधारा कांग्रेस के प्रमुख नेताओं के लिए अस्पष्ट नही थी। वे जानते थे कि उनके किस कदम से कब और कहा किस वर्ग का हित होगा। पूंजीवाद की क्रान्तिकारी भूमिका सीमित थी; उसी के अनुरूप कांग्रेस ने जन-जागरण का जो काम किया, उसकी सीमाएँ थी। कांग्रेस से अलग होने का मतलब था राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग होना। फिर भी यह सवाल लोगों के सामने आ रहा था कि क्या कभी कांग्रेस कोई क्रान्तिकारी सामाजिक समाधान प्रस्तुत कर सकती है। नेहरूजी के अनुसार कांग्रेस के सामने ऐसी समस्या आयी तो वह दो या अधिक गुटों में बँट जायेगी। यदि कांग्रेस के भीतर क्रान्तिकारी सामाजिक कार्यक्रम का समर्थन करनेवाला कोई बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक गुट बन जाये तो इसमें बुराई न होगी, समस्याएँ और स्पष्ट रूप से सामने आ जायेंगी। सवाल यह था कि उस हालत में गांधीजी किस तरफ होंगे। नेहरूजी ने लिखा है, "विचार-धारा की दृष्टि से वह कभी-कभी इतने पिछड़े दिखाई देते थे कि आश्चर्य होता था। लेकिन जहा अमल का सवाल था, वह पिछले दिनों भारत के सबसे बड़े क्रान्तिकारी थे। उनका व्यक्तित्व अपूर्व था। सामान्य मापदण्ड से उनको आकना असम्भव था। उन पर तर्कशास्त्र के साधारण सिद्धान्त लागू ही न होते थे। लेकिन वह बुनियादी तौर से क्रान्तिकारी थे और भारत को आजाद करने की प्रतिज्ञा कर

चुके थे, इसलिए जब तक आजादी न मिले, किसी समझौते के बिना अपनी भूमिका निबाहना उनके लिए लाज़मी था। इस प्रक्रिया के दौरान वे जनता की ज़बर्दस्त शक्ति के स्रोत खोल देंगे और मुझे कुछ-कुछ आशा थी कि वह स्वयं क़दम-ब-क़दम सामाजिक लक्ष्य की तरफ बढ़ेंगे।" (पृष्ठ ३६५)।

कांग्रेस ने जो जन-जागरण पैदा किया, उसका श्रेय गांधीजी को है। उसने शत्रु-दल से जो भी समझौते किये, उनके लिए भी जिम्मेदारी गांधीजी की है। उनके व्यक्तित्व को चमत्कारी बनाकर प्रस्तुत करने से कांग्रेसी नेतृत्व की पूंजीवादी विचारधारा छिपाई न जा सकती थी। जवाहरलाल नेहरू गांधीवाद की सीमाएँ बहुत अच्छी तरह जानते थे किन्तु वे इन सीमाओं को लांघने में असमर्थ थे। उन्होंने अपने बारे में बहुत स्पष्ट लिखा है कि मैं कम्युनिस्ट नहीं हूँ, मेरी जड़ें अंशतः उन्नीसवीं सदी में हैं और मुझ पर मानवतावादी उदार परम्परा का बहुत असर है, "यह पूंजीवादी पृष्ठभूमि (बुर्जुआ बैकग्राउण्ड) मेरे साथ लगी चलती है और स्वभावतः बहुत से कम्युनिस्ट इससे नाराज़ होते हैं।" (पृष्ठ ५६१)। यहां नेहरूजी ने जिस उन्नीसवीं सदी का ज़िक्र किया है, वह इंग्लैण्ड की उन्नीसवीं सदी है, उन्होंने जिस मानवतावादी परम्परा का ज़िक्र किया है, वह इंग्लैण्ड के पूंजीवादी उदारपंथ की परम्परा है। यह उदारपंथ भारत में लाखों आदमियों को भूख से मरने से न रोक सका था। इसका कारण यह था कि यह मानवतावाद एक वर्ग-विशेष से जुड़ा हुआ था और यह वर्ग पूंजीपतियों का था। सामाजिक समस्याएँ हल करने के लिए, सबसे पहले साम्राज्यवादी दासता से मुक्त होने के लिए यह ज़रूरी था कि जागरूक बुद्धिजीवी अपनी पूंजीवादी पृष्ठभूमि से पूरी तरह पीछा छुड़ा लें।

इस सन्दर्भ में नेहरूजी ने उदारपंथी परम्परा का समर्थन करते हुए लिखा है कि मुझे कठमुल्लापन पसन्द नहीं है, मार्क्स की रचनाओं को धर्मग्रन्थ बना देना ठीक नहीं है। रूस में बहुत-सी बातें हुई हैं जो मुझे पसन्द नहीं हैं, ख़ासतौर से साधारण समय में हिंसा का अत्यधिक प्रयोग मुझे पसन्द नहीं है, "फिर भी मेरा झुकाव कम्युनिस्ट दर्शन की ओर ही होता जाता है।" (पृष्ठ ५५१)। मार्क्स के दर्शन को मनुष्य के कर्ममय जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। यही इस दर्शन की विशेषता है। यह दर्शन पूंजीवादी उदारपंथ से ठीक उलटा है। जो भी दोनों में सामंजस्य पैदा करना चाहेगा, वह असफल होगा। नेहरूजी के लेखन का ऐतिहासिक महत्व यह है कि उसमें सुधारवाद की बहुत अच्छी आलोचना है, सुधारवाद के विकल्प के रूप में क्रान्तिकारी राजनीति की तलाश भी है। १९३१ के आन्दोलन के असफल होने के बाद सुधारवाद का सही रूप बहुत से लोगों के सामने स्पष्ट होने लगा। इस परिस्थिति में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रसार तेज़ी से होने लगा। नेहरूजी के अनुसार "अंग्रेज़ सरकार के ज़बर्दस्त दमन के बावजूद सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट विचार [illegible]।" (पृष्ठ ५९१)। १९३१ के बाद नेहरूजी का अ[illegible] तेज़ी से मार्[illegible] आ, इसका सबूत उनका एक पत्र है जो उन्[illegible] थियन के [illegible] ९३६ को लिखा था। यह पत्र उनकी [illegible] एफ [illegible] पब्लिशिंग हाउस,

१९४८) में दिया हुआ है। मार्क्सवाद के जिन मुद्दों पर आम तौर से बहस होती रही है और जिनको लेकर मार्क्सवादियों पर कट्टरपंथी होने का आरोप लगाया जाता है, उन सबके बारे में नेहरूजी की राय वही है जो मार्क्सवादियों की होती है।

सबसे पहले इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का मुद्दा है। नेहरूजी ने लिखा है कि सम्भव है कि मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर बहुत ज्यादा जोर दिया हो, और शायद इसलिए दिया हो कि उस वक्त लोगों ने इस पहलू पर बहुत कम ध्यान दिया था, "लेकिन घटनाक्रम निर्धारित करने में दूसरे तत्वों का हाथ होता है, मार्क्स ने यह कभी अस्वीकार न किया। उन्होंने [illegible] एक बात पर सबसे ज्यादा जोर दिया, वह थी आर्थिक कारण। यह जोर कुछ ज्यादा रहा हो तो भी उससे कुछ ज्यादा फर्क नहीं पड़ता। मेरी समझ में यह इसीलिए [illegible] है कि उन्होंने जो इतिहास की व्याख्या की है वह एकमात्र व्याख्या है जिससे इतिहास का कुछ अर्थ निकलता है और किसी हद तक इतिहास को समझा जा सकता है। इससे वर्तमान को समझने में मदद मिल सकती है और भविष्य के बारे में उनकी कितनी ही बातें सही साबित हुई हैं, यह तथ्य बड़े मार्के का है।"

विश्व पैमाने पर खास मुद्दा पूँजीवाद का है। इसके बारे में नेहरूजी ने बताया कि पूँजीवादी व्यवस्था ने वर्गों की टक्कर को तेज कर दिया है। यह टक्कर इतनी तेज हो गयी है कि गृह-युद्ध का खतरा पैदा हो गया है। लड़ाइयाँ पहले भी होती थीं किन्तु अब वह अन्तर्राष्ट्रीय हो गयी और बड़े पैमाने पर होती हैं। छोटी मोटी स्थानीय लड़ाइयों के बदले उसने विशाल और भयानक संघर्ष पैदा किये हैं। भारत के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि "उसने आधुनिक साम्राज्यवाद को जन्म दिया है। ये साम्राज्यवाद विशाल भू-भागों और विशाल जनसमुदायों का दमन और शोषण ही नहीं करते वरन् एक दूसरे से निरन्तर लड़ते रहते हैं।" आधुनिक साम्राज्यवाद पूँजीवादी व्यवस्था की देन है, यह एकाधिकार पूँजीवाद का ही दूसरा रूप है। युद्ध और साम्राज्यवाद का सम्बन्ध अटूट है।

लेकर अराजकता न फैल जाये, अराजकता से नई लड़ाइयां न शुरू हो जायें या नये सिरे से साम्राज्यवाद न फैल जाये। इस तरह के तर्क लार्ड लोथियन ने दिये थे। नेहरूजी ने कहा, "मुझे तो पुराना साम्राज्यवाद कहीं खत्म होते नहीं दिखाई देता, उलटा उसे कायम रखने के लिए बार-बार और जोरदार कोशिशें की जाती हैं, उसे और मजबूत करने की कोशिश की जाती है, यद्यपि कहीं-कहीं लोगों को दिखाने के लिए उसके नया मुखौटा लगा दिया जाता है।" इंग्लैण्ड का पेट भरा हुआ है। मौजूदा हालत सलामत रहे, उसे नयी लड़ाइयों की जरूरत नहीं। उसे नये साम्राज्यवाद पसन्द नहीं हैं, "क्योंकि वे उसके पुराने साम्राज्यवाद से टकराते हैं। उसे साम्राज्यवाद से ही नफरत हो गई हो, ऐसा नहीं है।"

अंग्रेज चाहते थे कि भारत में जो भी आन्दोलन चले, वह उनके बनाये हुए कानून के दायरे में चले। नेहरूजी ने कहा कि संवैधानिक तरीक़ों से भारत की दशा बदलना न पहले सम्भव था, न अब है। संविधान का ऐसा तन्त्र था ही नहीं। उसके सामने दो ही रास्ते थे, "वह या तो भीख मांगे या बगावत करे।" अंग्रेज यहां भारत का उद्धार करने के लिए जमे हैं, इस बात की घोषणा वे अक्सर करते थे। इस तरह की घोषणाओं से लोगों को हँसी आती थी। नेहरूजी ने लिखा, "भारत में जो कुछ हो चुका है और हो रहा है, उसे देखते जनतन्त्र और वैधानिकता की बात करना मेरी समझ में इन शब्दों के अर्थ को पूरी तरह तोड़ना-मरोड़ना है। हुकूमत करनेवाली ताकतों और शासक वर्गों ने खुशी से गद्दी छोड़ दी हो, इसका सबूत इतिहास में नहीं है। अगर इतिहास की सीख काफी न हो तो भारत में हमें ठोस हकीक़त का अनुभव हो चुका है।" जो बात अंग्रेज शासकों के लिए कही गयी है, वह समाजवाद के सन्दर्भ में देशी शासकों पर भी लागू हो सकती है। अंग्रेज कहते थे कि ब्रिटिश सरकार के पास भारत की आजादी धरोहर की तरह है। जैसे ही जनता आजादी पाने के लायक हो जायेगी, वैसे ही उसकी धरोहर वे उसे लौटा देंगे। नेहरूजी ने अंग्रेजों के न्यासधारी (ट्रस्टी) बनने को जबर्दस्त मुगालता कहा है। जब देशी पूंजीपति और जमींदार जनता की धरोहर के रखवाले बनते थे, तब उनका यह न्यासधारीपन भी बहुत बड़ा मुगालता था।

समाजवाद शान्तिपूर्ण उपायों से कायम किया जाये या उसके लिए हिंसा का सहारा भी लेना पड़ेगा, यह प्रश्न तब से विवाद का विषय बना हुआ है जब से समाजवादी विचारधारा का जन्म हुआ है। हमारे देश में भी समाजवाद का विरोध करने वाले हिंसा से उसका सम्बन्ध जोड़कर सामन्ती और पूंजीवादी हितों की रक्षा करते थे। यूरोप में लोग ईसा मसीह के अहिंसावाद की दुहाई देते थे, भारत में वे गौतम बुद्ध और महात्मा गांधी की दुहाई देते थे। अहिंसावाद का उपयोग साम्राज्यवाद से समझौते का रास्ता खुला रखने के लिए होता था। भविष्य में पूंजीवाद की रक्षा के लिए भी उसका उपयोग मजे में हो सकता था। राज्यसत्ता का आधार शासक-वर्ग की हिंसा है, यह बात जवाहरलाल नेहरू बहुत अच्छी तरह जानते थे। इसलिए उन्होंने लार्ड लोथियन को उक्त बातें लिखी थीं। इस समस्या पर उन्होंने विस्तार से आत्मकथा में भी लिखा है। उनकी आलोचना का लक्ष्य बहुत स्पष्ट रूप से गांधीवादी विचारधारा है। राज्यसत्ता के लिए

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

विवेक की बात करने या न्यायभावना जगाने से संघर्ष समाप्त हो जायेगा, अपने आपको धोखा देना है। यह कल्पना मिथ्या है कि प्रभुत्वशाली साम्राज्यवादी ताकत किसी देश पर अपना अधिकार छोड़ देगी या कोई वर्ग अपने विशेष अधिकार और समाज में ऊंची स्थिति छोड़ देगा जब तक कि उस पर ऐसा कारगर दबाव न डाला जायेगा जो दमन के समान होगा।" (पृष्ठ ५४४)।

एक तरह से विरोधी पर दबाव गांधीजी भी डालते थे। यह दबाव आत्मपीड़न का था। यह उपाय बहुत कारगर साबित नहीं हुआ। आत्मपीड़न करने वाले को महात्मा बनते देखकर विरोध-पक्ष और भी बौखला उठता है। उसका असर आम जनता पर ही ज्यादा होता है। जिस उद्देश्य के लिए आत्मपीड़न किया जा रहा है, उससे जनता पहले ही सहमत है। जिन्हें परिवर्तन से डर लगता है, उन पर उसका असर होता नहीं दिखाई देता। सन् २० और ३० के आन्दोलनों का सीधे ज़िक्र करते हुए नेहरूजी ने लिखा है, "भारत में असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलन तेजी से फैल गये। इससे ज़ाहिर होता है कि अहिंसात्मक आन्दोलन कैसे विशाल जनसमुदाय पर जबर्दस्त असर डालता है और बहुत से ढुलमुल यक़ीनों का हृदयपरिवर्तन करता है। लेकिन जो शुरू से आन्दोलन के विरोधी थे, उनमें कोई खास हृदयपरिवर्तन होता दिखाई न देता था। दरअसल आन्दोलन की सफलता से उनका भय और भी बढ़ गया, वे उसके और भी विरोधी हो गये।" (पृष्ठ ५४६)। अहिंसात्मक आन्दोलन में जनता में जागृति पैदा की जा सकती है किन्तु यह आन्दोलन की पहली मंज़िल है। दूसरी मंज़िल संघर्ष की है, वहां आत्मपीड़न का सिद्धान्त काम नहीं देता।

नीति की बात यह है कि राज्यसत्ता हिंसा का उपयोग करती है अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए, तो इस स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए भी हिंसा का सहारा लेना उचित है। नेहरूजी के अनुसार यह सम्भव है कि किसी समय "हिंसा का तरीका अवांछनीय और अनुपयोगी हो पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह नितान्त अनुचित भी होगा और कभी उसका उपयोग किया ही न जाये। सरकार का गुट प्रधान होने से फौज पर अधिकार किये है, इस तथ्य से उसे हिंसा इस्तेमाल करने का ज्यादा अधिकार नहीं मिल जाता। मान लीजिए अहिंसात्मक क्रान्ति सफल होती है और राज्यसत्ता पर अधिकार मिल जाता है, तब क्या उसे तुरत हिंसा के इस्तेमाल का अधिकार मिल जायेगा जो अभी तक उसे न मिला था? उसके अधिकार के खिलाफ़ कहीं बगावत होती है तो वह उसका सामना कैसे करेगी? स्वाभाविक है कि वह हिंसात्मक उपाय से काम लेना न चाहेगी, परिस्थिति से निपटने के लिए वह हर शान्तिपूर्ण तरीका अपनाने की कोशिश करेगी लेकिन वह हिंसा के व्यवहार का अधिकार छोड़ नहीं सकती। समाज में ऐसे असन्तुष्ट लोग ज़रूर होंगे जो परिवर्तन का विरोध करेंगे और वे पुरानी स्थिति की ओर लौट जाने का प्रयत्न करेंगे। यदि वे समझ लेंगे कि नयी राज्यसत्ता अपने दमनतन्त्र से उनकी हिंसा न रोकेगी तो सम्भावना यही है कि वे और भी हिंसा से काम लेंगे। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि हिंसा और अहिंसा, दमन और हृदयपरिवर्तन के बीच अचल सीमा-

[illegible] दृष्टिकोण पूरी तरह पूंजीवादी (बुर्जुआ) था।" (पृष्ठ ४९)।
[illegible] दृष्टिकोण से हटने की प्रेरणा उन्हें सन् २० के आन्दोलन की [illegible] ने साम्प्रदायिकता उभारकर जवाबी हमला [illegible] सुधारवाद के पास न था, इसलिए क्रान्तिकारी [illegible] हुई। १९२७ में जब नेहरूजी यूरोप से लौटे, तब उन्होंने [illegible] ने अस्पष्ट से समाजवादी विचार फैले [illegible] जो नेहरूजी के समान समाजवाद के बारे में [illegible] स्वाधीनता आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र [illegible] कि समाजवादी विचारधारा कांग्रेस के भीतर [illegible] लिखा है, "सोशलिस्ट कार्यकर्त्ता के रूप में [illegible] था कि मैं एक प्रमुख कांग्रेसी कार्यकर्त्ता था [illegible] महत्त्वपूर्ण [illegible] पर था। और भी बहुत से प्रसिद्ध कांग्रेसी थे [illegible] यह बात सबसे ज्यादा संयुक्त-प्रान्त की सूबाई [illegible] इस कमेटी के भीतर १९२६ के दिनों में ही हमने [illegible] बनाने की कोशिश की थी। हमारा सूबा जमीं[illegible] का सूबा है। हमारे सामने जो सबसे पहला सवाल दरपेश [illegible] का था। हमने ऐलान किया कि मौजूदा भूमि व्यवस्था खत्म करनी होगी, [illegible] और किसान के मध्य कोई बिचौलिया न होगा।" (पृष्ठ १८३)।

बहुत से मार्क्सवादी यह समझते रहे हैं कि समाजवादी विचारधारा से किसान का कोई सम्बन्ध नहीं है। वे देखें कि परिस्थितियां ऐसी भी हो सकती हैं कि जो स्वाधीनता आन्दोलन राष्ट्रीय है, वह भूमि समस्या न हल कर पाने पर किसानों को समाजवादी विचारों की ओर ठेलता है। १९२९ के साल में कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा की। इसी साल "संयुक्त-प्रान्त की सूबाई कांग्रेस कमेटी एक कदम आगे बढ़ी। उसने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के लिए अपनी एक सिफारिश भेजी जो निश्चित रूप से समाजवादी नीति के अनुरूप थी। १९२९ की गर्मियों में अखिल भार[illegible] का अधि[illegible] में हुआ। उसने यू. पी. के प्रस्ताव की भूमिका [illegible] मंजूर [illegible] इस तरह समाजवाद का जो सिद्धान्त पूरे प्रस्त[illegible] कर लिया। यू. पी. के प्रस्ताव में जो वि[illegible] आगे विचार के लिए उठा रखा।" (पृष्ठ [illegible] धारा संयुक्त-प्रान्त की कांग्रेस कमेटी से [illegible] तक पहुँची। भारत में एक और भी संग[illegible] इसकी यू. पी. शाखा [illegible] कार्यकर्त्ता [illegible] कार्यकर्त्ता थे। [illegible] जैसी मिली-जुली [illegible] इंडिपेंडेंस लीग [illegible] (७प.)।

नेहरूजी और उने[illegible]

सफलता नहीं मिली पर समाजवादी विचारधारा कांग्रेस के भीतर और बाहर बराबर फैलती रही। लन्दन में गोलमेज कान्फ्रेंस चालू थी। सन् ३० का आन्दोलन ठण्ढा हो गया था। स्वाधीनता आन्दोलन के जितने विरोधी थे, वे तटस्थ रहने के बदले खुलकर अंग्रेजों का साथ देने लगे। कांग्रेस ने जनता में जागृति फैलाई, थोड़ी सी जागृति कांग्रेस के भीतर जनता ने भी फैलाई। नेहरूजी ने लिखा है कि "लन्दन में जो आम कतार-बंदी तेजी से हुई, उसका कारण यह एहसास था कि कांग्रेस अधिकाधिक वामपंथ की ओर बढ़ रही है और आम जनता का प्रभाव उस पर अधिकाधिक बढ़ रहा है। लोगों ने सहज बुद्धि से जाना कि भारत में यदि मौलिक राजनीतिक परिवर्तन होगा तो इससे आम जनता के अनेक तत्व अपना प्रभुत्व कायम करेंगे या कम-से-कम महत्व की जगहों में होंगे। ये तत्व लाजमी तौर से बुनियादी सामाजिक तब्दीलियों की तरफ बढ़ेंगे और इस तरह वे निहित स्वार्थ खतरे में पड़ जायेंगे। भारत के निहित स्वार्थों के लिए यह सम्भावना संकट की सूचना जैसी थी और वे उससे पीछे हटे। इस कारण उन्होंने किसी भी दूरगामी राजनीतिक परिवर्तन का विरोध किया। वे चाहते थे कि एक निर्णायक तत्व की हैसियत से अंग्रेज भारत में बने रहें और समाज के मौजूदा ढांचे और मौजूदा निहित स्वार्थों को बनाये रखें। वे जो डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज्य) पर जोर दे रहे थे, उसके पीछे असली भावना यही थी। भारत के एक प्रसिद्ध लिबरल नेता एक बार मुझसे इस बात पर नाराज हो गये कि मैं इस बात पर जोर दे रहा था कि अंग्रेजों से समझौता इसी आधार पर हो सकता है कि उनकी फौज यहां से तुरत चली जाये और भारतीय फौज भारत के जनतान्त्रिक नियंत्रण में रहे।" (पृष्ठ २४१-४२)। लिबरल नेता को यह डर हो सकता था कि अंग्रेजी फौज के बिना हम बाहरी हमले का मुकाबला न कर सकेंगे पर असली कारण यह था कि "अंग्रेज यहां रहें और स्वयं हिन्दुस्तानियों के खिलाफ यहां के निहित स्वार्थों की रक्षा करें, आम जनता के उभार और विशुद्ध जनतन्त्र से उनकी रक्षा करें।" (पृष्ठ २४२)।

अंग्रेज साम्राज्यवादियों का जनतन्त्र-प्रेम ऐसा ही था; उसका उद्देश्य देश की जनता से देश के निहित स्वार्थों को बचाना था। खुले प्रतिक्रियावादियों के अलावा उदारपंथी लोग उनके साथ थे। पर सवाल केवल लिबरल नेताओं का न था। नेहरूजी कहते हैं, "तो भारतीय गोल-मेज सम्मेलन के प्रतिनिधियों में खुले प्रतिक्रियावादी और सम्प्रदायवादी ही न थे वरन् जो लोग अपने को प्रगतिशील और राष्ट्रवादी कहते थे, वे भी अंग्रेज सरकार की बहुत-सी बातों से सहमत हो गये। हमें प्रतीत हुआ कि राष्ट्रवाद शब्द के अर्थ का दायरा लचीला और काफी बड़ा है; आजादी की लड़ाई को आगे चलाने के लिए जो लोग भारत में जेल गये थे, वे इस दायरे में थे और उसमें वे भी थे जो हमारे जेलरों से मिले हुए थे और सामान्य नीति निर्धारित करने के बारे में उनसे बातचीत कर रहे थे। हमारे देश में ऐसे भी बहादुर राष्ट्रवादी थे, फर्राटे से व्याख्यान देते थे, हर तरह से स्वदेशी आन्दोलन को प्रोत्साहन देते थे, और हमसे कहते थे स्वराज का असली तत्व स्वदेशी है, और देशवासियों का आह्वान करते थे कि इसके लिए बलिदान करना

"मेरा राजनीतिक दृष्टिकोण पूरी तरह पूंजीवादी (बुर्जुआ) था।" (पृष्ठ ४६)। इस पूंजीवादी दृष्टिकोण से हटने की प्रेरणा उन्हें सन् २० के आन्दोलन की असफलता से मिली। साम्राज्यवाद ने साम्प्रदायिकता उभारकर जवाबी हमला किया। इस हमले का काट सुधारवाद के पास न था, इसलिए क्रान्तिकारी विकल्प की तलाश जरूरी हुई। १६२७ मे जब नेहरूजी यूरोप से लौटे, तब उन्होने देखा कि देश के राजनीतिक वातावरण मे अस्पष्ट से समाजवादी विचार फैले है। कांग्रेस के भीतर ऐसे लोग थे जो नेहरूजी के समान समाजवाद के बारे मे सोचते थे। नेहरूजी का अपना कार्यक्षेत्र स्वाधीनता आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि समाजवादी विचारधारा कांग्रेस के भीतर यही सबसे ज्यादा फैले। नेहरूजी ने लिखा है, "सोशलिस्ट कार्यकर्त्ता के रूप मे मेरा जो भी महत्व था, वह इसलिए था कि मै एक प्रमुख कांग्रेसी कार्यकर्त्ता था और कांग्रेस के भीतर महत्वपूर्ण पदो पर था। और भी बहुत से प्रसिद्ध कांग्रेसी थे जो इसी तरह सोचने लगे थे। यह बात सबसे ज्यादा संयुक्त-प्रान्त की सूबाई कांग्रेस-कमेटी मे जाहिर थी। इस कमेटी के भीतर १६२६ के दिनो मे ही हमने एक नरम समाजवादी कार्यक्रम बनाने की कोशिश की थी। हमारा सूबा जमींदारो और ताल्लुकदारो का सूबा है। हमारे सामने जो सबसे पहला सवाल दरपेश था, वह जमीन का था। हमने ऐलान किया कि मौजूदा भूमि व्यवस्था खत्म करनी होगी; राज्य और किसान के मध्य कोई बिचौलिया न होगा।" (पृष्ठ १८३)।

बहुत से मार्क्सवादी यह समझते रहे है कि समाजवादी विचारधारा से किसान का कोई सम्बन्ध नही है। वे देखे कि परिस्थितियां ऐसी भी हो सकती हैं कि जो स्वाधीनता आन्दोलन राष्ट्रीय है, वह भूमि समस्या न हल कर पाने पर किसानों को समाजवादी विचारो की ओर ठेलता है। १६२६ के साल मे कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा की। इसी साल "संयुक्त-प्रान्त की सूबाई कांग्रेस कमेटी एक कदम आगे बढ़ी। उसने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के लिए अपनी एक सिफारिश भेजी जो निश्चित रूप से समाजवादी नीति के अनुरूप थी। १६२६ की गर्मियों मे अखिल भारतीय कमेटी का अधिवेशन बम्बई में हुआ। उसने यू. पी. के प्रस्ताव का भूमिका वाला हिस्सा मजूर कर लिया और इस तरह समाजवाद का जो सिद्धान्त पूरे प्रस्ताव का आधार था, उसे उसने स्वीकार कर लिया। यू. पी. के प्रस्ताव मे जो विस्तृत कार्यक्रम दिया हुआ था, उसे आगे विचार के लिए उठा रखा।" (पृष्ठ १८३)। इस तरह समाजवादी विचारधारा संयुक्त-प्रान्त की कांग्रेस कमेटी से आगे बढ़ती हुई अखिल भारतीय कमेटी तक पहुंची। भारत में एक और भी संगठन था इंडिपेंडेन्स फार इण्डिया लीग। इसकी यू. पी. शाखा के सभी कार्यकर्त्ता ऐसे लोग थे जो कांग्रेस के भी प्रमुख कार्यकर्ता थे। यह शाखा "निश्चित रूप से समाजवादी थी और कांग्रेस कमेटी जैसी मिली-जुली जमात के मुकाबले मे थोड़ा और आगे बढ़ी हुई थी। दरअसल इंडिपेंडेन्स लीग का एक उद्देश्य सामाजिक स्वाधीनता प्राप्त करना था।" (उप.)।

नेहरूजी और उनके साथियो को लीग का भारतव्यापी संगठन बनाने मे

सफलता नहीं मिली पर समाजवादी विचारधारा कांग्रेस के भीतर और बाहर बराबर फैलती रही। लन्दन में गोलमेज कान्फ्रेंस चालू थी। सन् ३० का आन्दोलन ठप्प हो गया था। स्वाधीनता आन्दोलन के जितने विरोधी थे, वे तटस्थ रहने के बदले खुलकर अंग्रेजों का साथ देने लगे। कांग्रेस ने जनता में जागृति फैलाई, थोड़ी सी जागृति कांग्रेस के भीतर जनता ने भी फैलाई। नेहरूजी ने लिखा है कि "लन्दन में जो आम कतार-बंदी तेजी से हुई, उसका कारण यह एहसास था कि कांग्रेस अधिकाधिक वामपंथ की ओर बढ़ रही है और आम जनता का प्रभाव उस पर अधिकाधिक बढ़ रहा है। लोगों ने सहज बुद्धि से जाना कि भारत में यदि मौलिक राजनीतिक परिवर्तन होगा तो इससे आम जनता के अनेक तत्व अपना प्रभुत्व कायम करेंगे या कम-से-कम महत्त्व की जगहों में होंगे। ये तत्व ताकतो जोर से बुनियादी सामाजिक तब्दीलियों की तरफ बढ़ेंगे और इस तरह वे निहित स्वार्थ खतरे में पड़ जायेंगे। भारत के निहित स्वार्थों के लिए यह सम्भावना संकट की सूचना देती थी और वे उससे पीछे हटे। इस कारण उन्होंने किसी भी दूरगामी राजनीतिक परिवर्तन का विरोध किया। वे चाहते थे कि एक नियामक तत्व की हैसियत से अंग्रेज भारत में बने रहें और समाज के मौजूदा ढाँचे और मौजूदा निहित स्वार्थों को बनाये रखें। वे जो डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज्य) पर जोर दे रहे थे, उसके पीछे असली भावना यही थी। भारत के एक प्रसिद्ध लिबरल नेता एक बार मुझसे इस बात पर नाराज हो गये कि मैं इस बात पर जोर दे रहा था कि अंग्रेजों से समझौता इसी आधार पर हो सकता है कि उनकी फौज यहाँ से तुरन्त चली जाये और भारतीय फौज भारत के जनतान्त्रिक नियंत्रण में रहे।" (पृष्ठ २४१-४२)। लिबरल नेता को यह डर हो सकता था कि अंग्रेजी फौज के बिना हम बाहरी हमले का मुकाबला न कर सकेंगे पर असली कारण यह था कि "अंग्रेज यहाँ रहें और स्वयं हिन्दुस्तानियों के खिलाफ यहाँ के निहित स्वार्थों की रक्षा करें, आम जनता के उभार और विशुद्ध जनतन्त्र से उनकी रक्षा करें।" (पृष्ठ २४२)।

अंग्रेज साम्राज्यवादियों का जनतन्त्र-प्रेम ऐसा ही था; उसका उद्देश्य देश की जनता से देश के निहित स्वार्थों को बचाना था। खुले प्रतिक्रियावादियो के अलावा उदारपंथी लोग उनके साथ थे। पर सवाल केवल लिबरल नेताओं का न था। नेहरूजी कहते हैं, "तो भारतीय गोल-मेज सम्मेलन के प्रतिनिधियों में खुले प्रतिक्रियावादी और सम्प्रदायवादी ही न थे वरन् जो लोग अपने को प्रगतिशील और राष्ट्रवादी कहते थे, वे भी अंग्रेज सरकार की बहुत-सी बातो से सहमत हो गये। हमें प्रतीत हुआ कि राष्ट्रवाद शब्द के अर्थ का दायरा लचीला और काफी बड़ा है; आजादी की लड़ाई को आगे चलाने के लिए जो लोग भारत में जेल गये थे, वे इस दायरे में थे और उसमें वे भी थे जो हमारे जेलरों से मिले हुए थे और सामान्य नीति निर्धारित करने के बारे में उनसे बातचीत कर रहे थे। हमारे देश में ऐसे भी बहादुर राष्ट्रवादी थे, फर्राटे से व्याख्यान देते थे, हर तरह से स्वदेशी आन्दोलन को प्रोत्साहन देते थे, और हमसे कहते थे स्वराज का असली तत्व स्वदेशी है, और देशवासियो का आह्वान करते थे कि इसके लिए बलिदान करना

पड़े तो भी उसे बढ़ावा देना चाहिए। सौभाग्य से आन्दोलन के कारण खुद उन्हें कुछ भी बलिदान न करना पड़ा; उनका धन्धा और चमका, लाभांश में बढ़ती हुई। आगे चलकर जब आक्रामक राष्ट्रवाद उनके लिए थोड़ा खतरनाक बन गया, तब उन्होंने अपने व्याख्यानों का स्वर मद्धिम कर दिया, 'अतिवादियों' की निन्दा की, और दूसरी पार्टी के साथ समझौते और गठबन्धन किये।" (पृष्ठ २४२)। यह स्थिति १९३० के बाद अचानक पैदा न हुई थी। भारतीय पूंजीपतियों में एक हिस्सा पहले भी ऐसा था जो अंग्रेजी राज से सहयोग करके धन बटोरता रहा था। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान भारत का आर्थिक संकट गहरा हुआ किन्तु इसके साथ ही "उद्योगीकरण का प्रसार हुआ और पूंजीपतिवर्ग की सम्पदा और शक्ति में बढ़ती हुई। ये ऊपर वाले मुट्ठीभर लोग मालामाल होते रहे, और भी शक्ति पाने के लिए वे ललचा रहे थे और चाहते थे कि बचत के धन को कही लगाने और दौलत मे इजाफा करने का मौका मिले।" (पृष्ठ ४०)। नेहरूजी के इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि भारतीय पूंजीपतिवर्ग का एक अंश प्रथम महायुद्ध के दौरान अंग्रेजों से सहयोग करके धनी बना था और सन् २० मे इस सहयोग को जारी रखना चाहता था। पूंजीपतिवर्ग का यह अंश सन् ३० मे मौजूद था और वह उस समय भी अंग्रेजो से सहयोग करने के पक्ष मे था। स्वाधीनता आन्दोलन के जोर पकड़ने पर वह अपने दाव-पेंच बदल देता था पर उसके धीमा पड़ने पर वह साम्राज्यवाद से सहयोग करने के लिए खुलकर सामने आ जाता था। भारतीय मार्क्सवादियों के सामने बहस का एक खास मुद्दा यह रहा है, १९४७ के पहले रहा है और १९४७ के बाद भी रहा है, कि भारत का पूंजीपतिवर्ग पूर्णतः प्रतिक्रियावादी है या अंशतः ऐसा है, पूर्णतः प्रगतिशील है या अंशतः ऐसा है। इस मुद्दे की चर्चा आगे भी होगी। यहाँ इतना कह देना काफी है कि पूंजीपतिवर्ग के दाव-पेंच समझने के लिए जितनी सुविधा कांग्रेस के भीतर नेहरूजी को थी, उतनी कांग्रेस के बाहर किसी और को नही थी। सन् २० और ३० में इस वर्ग के जो दांव-पेंच थे, उनका विवरण आत्मकथा में है। उक्त समस्या पर विचार करते समय उस विवरण को नजरन्दाज न करना चाहिए। कांग्रेसी नेता स्वाधीनता आन्दोलन को उन पूंजीपतियों के प्रभाव से पूरी तरह कभी मुक्त नही कर पाये जो साम्राज्यवाद से सहयोग करने के पक्ष मे थे। इसी कारण स्वाधीनता आन्दोलन की प्रगति के लिए यह अनिवार्य हो गया था कि उसका नेतृत्व ऐसे लोग करें जो साम्राज्यवाद से समझौता करने के पक्ष मे न थे, जो समझौता चाहने वाले पूंजीपतियों के प्रभाव से स्वाधीनता आन्दोलन को मुक्त कर सकते थे। साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने के लिए यह जरूरी हो गया था कि उससे सहयोग करने वालो के प्रभाव से मुक्ति पाई जाये। इससे समझौतावादियो और समझौताविरोधियों का संयुक्त मोर्चा टूटता था किन्तु इसमें दुखी होने की बात न थी। उसकी जगह ऐसा संयुक्त मोर्चा बनाना जरूरी था जिसमे ऊपर वाले मुट्ठीभर लाभांश-प्रेमियो के बदले हजारो मजदूरो और लाखों किसानों के जुझारू प्रतिनिधि शामिल हों। इसके लिए परिस्थितियाँ अनुकूल थी।

कलकत्ता कांग्रेस से कुछ दिन पहले झरिया मे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन

[illegible]
मौजूद थे। उन्होंने देखा कि [illegible]
जमा हुआ है। [illegible]
राजनीति का जाना [illegible]
धीरे-धीरे मजदूरों की [illegible]
में नेहरूजी ने लिखा है कि [illegible]
करता था और [illegible]
पर कम्युनिस्टों और उनके [illegible] करता था। [illegible]
निस्सन्देह [illegible]
जाता था। उनके नेतृत्व में बम्बई के सूती मिल-मजदूरों का [illegible] बनाने में
जो अगत: [illegible]। [illegible] बम्बई के सूती मिल-मजदूरों की बड़ी हड़ताल हुई
[illegible] सूती मिल-मजदूर [illegible] बम्बई में [illegible] यह मजदूर और
[illegible] पर होती था। [illegible] ए. आई. टी. [illegible]
[illegible] (पृष्ठ १८७-८२)। लेखक की सहानु-
[illegible] के आंदोलन के [illegible] थी।

१९३० का आन्दोलन शुरू होने के पहले मजदूर वर्ग का एक भाग आजादी लड़ाई में नेहरू [illegible] बढ़कर शामिल हुआ था। मिल-मजदूर हड़ताल करते थे यह अंग्रेजी राज से सीधी टक्कर थी, बम्बई के सूती मिल-मजदूर हड़ताल करते यह उन पूँजीपतियों से टक्कर थी जो साम्राज्यवाद से सहयोग करने की पर चलते थे। इन हड़तालों को मजदूरों की वर्ग-संघर्ष लड़ाई मात्र मान लेना नहीं है। स्वाधीनता-आन्दोलन में यह मजदूर वर्ग का क्रान्तिकारी योगदान यदि इस लड़ाई में उन देशी पूँजीपतियों का नुकसान होता जो साम्राज्यवाद [illegible]थी थे, तो अंग्रेज इससे खुश होते। किन्तु इस लड़ाई से अंग्रेजी राज का [illegible]न हो रहा था, इसलिए उन्होंने नये उभरते हुए कम्युनिस्ट नेतृत्व को [illegible]र कर लिया और उन पर मेरठ का प्रसिद्ध मुकदमा चलाया। इससे पहले [illegible]ुर में बोल्शेविक कान्सपिरेसी केस नाम से १९२४ में एक मुकदमा चला [illegible] दोनों मुकदमों में उन्होंने कम्युनिस्टों पर आरोप यह लगाया था कि वे [illegible]राज का तख्ता उलटना चाहते थे।

[illegible] ने १९२९ में पूर्णस्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा की। इससे पहले [illegible] सम्बन्धी स्थिति इस प्रकार थी: "उन्नीस सौ अट्ठाईस का साल श्रमिक [illegible]ौर हड़तालों से भरा हुआ साल था। उन्नीस सौ उन्तीस के साल में वही [illegible]ी रही। इन हड़तालों में बम्बई के मशहूर और जुझारू सूती मिल-[illegible] पहल की। बंगाल की जूट मिलों में भारी आम हड़ताल हुई। जमशेदपुर कारखानों में भी हड़तालें हुईं, और मेरा खयाल है कि रेल्वे में हुईं। [illegible]

[illegible]

[illegible] पृष्ठ १८७-८८)।

यह सब सन् ३० का आन्दोलन शुरू होने मे पहले हो रहा था। जो कम्पनी वर्मा आयल कम्पनी से जुड़ी हुई थी, वह ब्रिटिश पूंजी की प्रतिनिधि थी। उसके खिलाफ हड़ताल का मतलब था अंग्रेजी राज से लड़ाई। १६२८-२६ के दो वर्ष भारत के श्रमिक आन्दोलन के महत्वपूर्ण वर्ष थे। पहले विश्वयुद्ध के बाद से लेकर अब तक उद्योग-धन्धो की जो स्थिति रही थी, उसमे जिस तरह मजदूरों की हड़तालें अनिवार्य हो रही थी, इसका बहुत सजीव वर्णन नेहरूजो की आत्मकथा में है। उसे पढने से हर देशभक्त की समझ मे आ जायेगा कि वर्गसघर्ष को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ को [illegible]

क्यो भाग लेते है। उन्होने लिखा है, [illegible] को कमाई करने का खूब मौका मिला और उन्होने भारी-भरकम मुनाफा कमाया। पाँच-छह साल तक पटसन या सूती मिलों में औसत लाभाश की सालाना दर सौ फीसदी से ज्यादा थी और अक्सर डेढ़ सौ फीसदी रही। यह सब भारी मुनाफा मालिको और भागीदारों के हिस्से मे आया, और मजदूर जैसे पहले थे वैसे ही बने रहे। उनकी पगार मे थोड़ी-बहुत बढ़ती हुई तो उसकी काट बढ़ती हुई कीमतो से हो जाती थी। जिन दिनों लोग लाखो कमाने मे जी-जान से जुटे हुए थे, ज्यादातर मजदूर निहायत मनहूस खोलियों मे रहते आये और उनकी स्त्रियों के पास तन ढकने को वस्त्र भी न थे। बम्बई के मजदूरा की हालत काफी खराब थी लेकिन शायद उन पटसन-मजदूरों की हालत बदतर थी जो कलकत्ते के महलों से इतनी दूर थे कि गाडी में बैठकर घन्टे भर मे उन तक पहुँचा जा सके। रूखे-उलझे बालो वाली अधनगी औरतें दो-चार पैसों के लिए मेहनत करती जाती थी जिससे कि सम्पदा की विशाल नदी ग्लास्गो और डण्डी की तरफ, तथा कुछ हिन्दुस्तानी जेबो की तरफ लगातार बहती रहे।" (पृष्ठ १८८)। ग्लास्गो और डण्डी से आशय यह है कि भारतीय मजदूरों की मेहनत से लाभ उठाने वाले मुख्य रूप से ब्रिटिश पूंजीपति है। मुनाफे का छोटा हिस्सा पाने वाले भारत के कुछ पूंजीपति है। बम्बई के सूती मिल-मजदूरो की हालत काफी खराब थी; वहाँ मिलों मे ज्यादातर पूंजी भारतीय उद्योगपतियों की थी। पटसन मजदूरों की हालत बदतर थी; पटसन मिलो मे ज्यादातर पूंजी ब्रिटिश थी। अंग्रेज सरकार और भारतीय उद्योगपति दोनों चाहते थे कि अपनी दशा सुधारने के लिए वे किसी तरह का संघर्ष न करें।

जब तक मुनाफा कमाने के लिए उभार का समय था, तब तक उद्योगपति चैन की बसी बजाते रहे। जब मन्दी का जमाना आया तब भारी मुनाफा कमाना मुमकिन न रहा और मन्दी का बोझ मजदूरों पर पड़ा। नतीजा यह हुआ कि "उद्योग-धन्धों मे अशान्ति फैली, श्रम-सम्बन्धी झगड़े हुए, और बम्बई मे जगो हड़ताल हुई। हर आदमी के मन पर हड़तालों की छाप पड़ी, और मिल-मालिक तथा सरकार दोनो सहम गये। मजदूर आन्दोलन मे वर्गचेतना फैल गयी थी। क्या विचारधारा और क्या संगठन, दोनों ही तरफ से वह जुझारू और खतरनाक बनता जाता था। राजनीतिक परिस्थिति तेजी से बदल रही थी। हालांकि ये दोनों चीजें अलग थी और उनमे कोई सम्बन्ध न था, फिर भी वे एक हद तक

साथ-साथ चल रही थी, और सरकार भविष्य के बारे में निश्चिन्त होकर न बैठ सकती थी।" (उप.)। शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि राजनीतिक परिस्थिति को बदलने मे मजदूर वर्ग पहल कर रहा था। मजदूरो का वर्ग-संघर्ष स्वाधीनता संग्राम का महत्वपूर्ण भाग था, दोनो मे अटूट सम्बन्ध था। मजदूरों के एक मालिक विलायत मे बैठे थे। उनसे मजदूर की लड़ाई सीधे अंग्रेज़ी राज से लड़ाई थी। दूसरे मालिक बम्बई के देशी पूंजीपति थे, ये विलायती मालिक के दबाव से मुक्ति पाना चाहते थे पर उससे सहयोग करने को भी उत्सुक थे। मजदूरो का संघर्ष इनके ढुलमुलपन के खिलाफ था। कांग्रेसी नेतृत्व मे चलने वाला स्वाधीनता आन्दोलन अभी आगे के दॉव-पेंच तय करने में लगा था। दॉव-पेच तय करके वह मजदूर आन्दोलन के साथ आगे बढे, इससे पहले सरकार ने मजदूर आन्दोलन पर हमला किया, उसके नेताओ को जेल मे डालकर उसने कांग्रेसी आन्दोलन से निपटने का काम अपने लिए आसान बना लिया। कांग्रेसी नेतृत्व मे चलने वाले आन्दोलन और कम्युनिस्ट नेतृत्व में चलने वाले श्रमिक आन्दोलन में आपसी तालमेल न होने से अंग्रेज़ो को दोनो का दमन करने में सफलता मिली।

नेहरूजी ने सरकारी हमले का विवरण देते हुए लिखा है, "मार्च १६२६ में सरकार ने अचानक संगठित मजदूरों पर हमला किया; प्रगतिशील गुटो मे उनके जो प्रमुख नेता थे, उनमें अधिकांश को उसने पकड लिया। बम्बई के गिरनी कामगार-यूनियन के नेता पकड लिये गये, बंगाल, संयुक्त प्रान्त और पंजाब के मजदूर नेता भी पकड़े गये। इनमे कुछ कम्युनिस्ट थे, कुछ उनके नज़दीकी विचार वाले लोग थे, कुछ अन्य केवल मजदूरसभाई थे। यह मेरठ के उस प्रसिद्ध मुकद्दमे की शुरूआत थी जो साढ़े-चार साल तक चला।" (पृष्ठ १८८-८६)। अदालत में मेरठ-बन्दियों की पैरवी करने के लिए जो बचाव-कमेटी बनी उसके एक सदस्य नेहरूजी भी थे।

सन् ३० से पहले एक ओर मजदूर आजादी की लडाई मे आगे बढ़ रहे थे, दूसरी ओर किसान अपनी लड़ाई तेज करने की तैयारी मे थे। १६३० में इलाहाबाद की ज़िला कांग्रेस कमेटी ने सारे सूबे मे लगानबन्दी आन्दोलन चलाने मे पहल की। इसके बाद मार्च १६३१ मे सरकार और कांग्रेस के बीच दिल्ली वाला समझौता हुआ। कांग्रेस ने देहात मे अपने कार्यकर्त्ता भेजे और किसानों से कहा कि वे लगान अदा कर दें, कांग्रेसी नेता लगान मे छूट के लिए कोशिश करेंगे। यदि यह मान लिया जाये कि मजदूर आन्दोलन को कम्युनिस्टो ने स्वाधीनता आन्दोलन से अलग रखा, तो सवाल यह है कि किसानों के लगान-बन्दी आन्दोलन को उस स्वाधीनता आन्दोलन से किसने अलग रखा? इस सवाल का जवाब जवाहरलाल नेहरू के शब्दों मे इस प्रकार है: "हमने कोशिश की कि सविनय अवज्ञा के आम सवाल मे किसानो के मसले को बिलकुल अलग रखें। कम-से-कम १६३१ मे हम यही चाहते थे कि इस मसले को राजनीति से अलग रखकर आर्थिक दृष्टि से ही उस पर विचार करें। यह काम मुश्किल था क्योंकि दोनो चीजें एक-दूसरे मे घुलमिल गयी थीं और इस तरह पहले भी घुल-मिल चुकी थी।" (पृष्ठ २६८)। इस तरह की कई मुश्किलों के बावजूद

वम
खि
भा
लेक
की
कथ
जन्
क्यो
को
पांच
फीर
मा
रहे
जात
मज़
ढकने
शाय
दूर थे
वाली
सम्पद
जेबों
आदाय
ब्रिटिश
है। वम्ब
ज्यादात
थी; पटस
उद्योगपति
न करें।

जब तक
चीन की बंसी
मुमकिन न रहा
"उद्योग-धन्धों में
हड़ताल हुई। हर
तथा सरकार दोनों
क्या विचारधारा और
बनता जाता था। राजनी
दोनों चीजें अलग थी और

जो भागने और मुहँ छिपाने की बात न सोचकर दमन के खिलाफ किसानों की रक्षा के कारगर तरीके अपनाये। इस तरह की पार्टी देश में थी पर वह थोड़े से औद्योगिक केन्द्रों में बन्द थी। इसीलिए उसके नेताओं को पकड़कर जेल में बन्द करना आसान था। नेताओं के अभाव में मज़दूर आन्दोलन का ठप्प हो जाना भी अनिवार्य था। मज़दूर आन्दोलन को चलाने के लिए ज़रूरी था कि उसके नेता देहात में अपना आधार मजबूत करें। केवल किसान आन्दोलन सरकारी दमन से इन नेताओं की रक्षा कर सकता था, वह मजदूर आन्दोलन को कुचले जाने से बचा सकता था, वह राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन को अजेय बना सकता था। पर उसकी शक्ति पहचानने वाली पार्टी देश में न थी। पर १९२८-३१ के बीच, जहाँ तक किसानों और मजदूरों का सम्बन्ध है, देश में क्रान्ति के लिए परिस्थिति परिपक्व हो चुकी थी।

सवाल शहर बनाम गाँव, मजदूर बनाम किसान का न था; सवाल था मजदूरों और किसानों की एकता का, मजदूर आन्दोलन से किसान आन्दोलन को जोड़ने का, दोनों के साथ स्वाधीनता आन्दोलन को चलाने का। इतिहास ने यह कार्य भारतीय जनता के सामने प्रस्तुत कर दिया था। उसे जवाहरलाल नेहरू या महात्मा गांधी पूरा न कर पाये तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। आश्चर्य की बात यह थी कि जो ऐतिहासिक भौतिकवाद के विशेषज्ञ थे, वे समकालीन इतिहास की गतिविधि समझ न पा रहे थे।

"हमारी यह बराबर कोशिश रही कि दिल्ली समझौते के बाद से किसान समस्या को राजनीतिक लड़ाई से अलग रखा जाये।" (पृष्ठ २९९)। संगठित रूप से किसान आन्दोलन केवल संयुक्त प्रान्त में चलाया गया था लेकिन "दर हकीकत सारे भारत के किसान उसी तरह प्रभावित हुए थे।" (उप.)। १९२९ की मन्दी के बाद सरकार की मालगुजारी में काफी बढ़ती हुई, ज़मींदार की आमदनी में भारी बढ़ती हुई, लेकिन किसान भुखमरी की ज़िन्दगी बिताता रहा। (पृष्ठ ३०१)। किसान कर्ज के बोझ से दबे जा रहे थे और अंग्रेज़ी कानून महाजनों की रक्षा करता था। (पृष्ठ ३०२)। सूबे की सरकार की आय का मुख्य स्रोत किसानों से मिलने वाला टैक्स था। वह इस टैक्स में छूट न देना चाहती थी, लेकिन "उसे यह डर भी था कि किसान कहीं उठ खड़े न हों। वह जहाँ तक बन सके, छूट देकर किसानों को तसल्ली दे।" (पृष्ठ ३०३-३०४)। सरकार ने छूट दी और इससे किसानों का कुछ भला न होने वाला था। नेहरूजी के शब्दों में "हमें यकीन था कि किसानों के साथ नाइन्साफी हुई है, फिर भी इस मामले में हम मजबूर थे। हम इस बात की ज़िम्मेदारी न लेना चाहते थे कि उन्हें सलाह दें कि वे लगान न दें। हम उन्हें यह सलाह देने की ज़िम्मेदारी न लेना चाहते थे कि वे लगान अदा न करें। हम बार-बार यही कहते रहे कि जितना बन पड़े उतना दें, उनकी मुसीबत में हम उनसे आम हमदर्दी ज़ाहिर करते रहे और उन्हें हिम्मत बँधाने की कोशिश करते रहे। हम उनसे सहमत थे कि छूट के बाद भी उन्हें जो कुछ देना था, वह उनके लिए बहुत था। कानूनी और गैरकानूनी दमन-चक्र चलने लगा। हजारों के खिलाफ बेदखली के मुकद्दमे दायर किये गये, उनके बैल-बधिया, घर-दुआर कुर्क कर लिये गये, जमींदारों के कारिन्दों ने उन्हें मारा-पीटा।" (पृष्ठ ३०४)। उन्होंने जो भी लगान दिया, उससे वे अपने को तबाही से न बचा सके। दरअसल वे कुछ न देते तो उनकी हालत थोड़ा अच्छी होती क्योंकि जो पैसा उन्होंने दिया, वह तो उनके पास बच ही जाता। (पृष्ठ ३०४-३०५)। ज़िला कांग्रेस कमेटी के दफ्तर में किसानों की भीड़ लगी रहती। नेहरूजी के घर को झुंड-के-झुंड किसान आ घेरते थे। उस समय उनकी हालत यह थी : "मन करता था कि भाग जाऊँ और कहीं भी जाकर छिप जाऊँ जिससे कि इस भयानक संकट से छुटकारा मिल जाये। बहुत से किसानों के शरीर पर चोट के निशान थे। वे कहते थे कि जमींदारों के कारिन्दों ने उन्हें मारा है, उसके वे निशान है। हमने अस्पताल में उनका इलाज कराया। वे क्या कर सकते थे? हम क्या कर सकते थे? हमने यू.पी. सरकार को लम्बी-लम्बी चिट्ठियाँ लिखीं।" (पृष्ठ ३०५)।

कांग्रेसी नेतृत्व में जो किसान आन्दोलन बहुत छोटे पैमाने पर चला, उसका नतीजा यह हुआ। कांग्रेस में जो सबसे प्रगतिशील नेता थे, वे सरकार और ज़मींदारों के दमन के सामने खुद को असहाय महसूस करने लगे। मजदूरों के आन्दोलन और किसानों के आन्दोलन, दोनों से स्वाधीनता आन्दोलन को अलग करके उसे दबा लेना और समझौता करने के लिए कांग्रेसी नेताओं को विवश करना अंग्रेज़ों के लिए आसान हो गया। जरूरत एक क्रान्तिकारी पार्टी की थी

जो भागने और मुहँ छिपाने की बात न सोचकर दमन के खिलाफ किसानों की रक्षा के कारगर तरीके अपनाये। इस तरह की पार्टी देश मे थी पर वह थोड़े से औद्योगिक केन्द्रों में बन्द थी। इसीलिए उसके नेताओं को पकडकर जेल में बन्द करना आसान था। नेताओं के अभाव मे मजदूर आन्दोलन का ठप्प हो जाना भी अनिवार्य था। मजदूर आन्दोलन को चलाने के लिए जरूरी था कि उसके नेता देहात मे अपना आधार मजबूत करें। केवल किसान आन्दोलन सरकारी दमन से इन नेताओं की रक्षा कर सकता था, वह मजदूर आन्दोलन को कुचले जाने से बचा सकता था, वह राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन को अजेय बना सकता था। पर उसकी शक्ति पहचानने वाली पार्टी देश मे न थी। पर १९२८-३१ के बीच, जहाँ तक किसानो और मजदूरों का सम्बन्ध है, देश मे क्रान्ति के लिए परिस्थिति परिपक्व हो चुकी थी।

सवाल शहर बनाम गाँव, मजदूर बनाम किसान का न था; सवाल था मजदूरों और किसानों की एकता का, मजदूर आन्दोलन से किसान आन्दोलन को जोड़ने का, दोनों के साथ स्वाधीनता आन्दोलन को चलाने का। इतिहास ने यह कार्य भारतीय जनता के सामने प्रस्तुत कर दिया था। उसे जवाहरलाल नेहरू या महात्मा गांधी पूरा न कर पाये तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। आश्चर्य की बात यह थी कि जो ऐतिहासिक भौतिकवाद के विशेषज्ञ थे, वे समकालीन इतिहास की गतिविधि समझ न पा रहे थे।

# 4
# हिन्दी प्रदेश में समाजवादी चेतना का प्रसार

## 1. रूसी क्रान्ति से पहले

### (क) ऐतिहासिक महत्व की दो मंजिलें

भारत में साम्राज्य-विरोधी चेतना के प्रसार की अगली कड़ी है समाजवादी चेतना का प्रसार। स्वाधीन होने के बाद किस तरह की समाज-व्यवस्था का निर्माण होगा, इस समस्या का हल करके दूरगामी राजनीतिक कार्यक्रम बनाना आवश्यक था। इससे भी अधिक आवश्यक कार्य यह जानना था कि स्वाधीनता-आन्दोलन का संचालन किस तरह किया जाय जिससे कि समीपवर्ती उद्देश्य पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति हो। इसके लिए तात्कालिक राजनीतिक कार्यक्रम बनाना आवश्यक था। इसे बनाने के लिए भी समाजवादी विचारधारा का ज्ञान आवश्यक था। भारत में समाजवादी चेतना का अभ्युदय स्वाधीनता-आन्दोलन की देन है, समाजवादी चेतना अभिन्न रूप से साम्राज्य-विरोधी चेतना से जुड़ी हुई है। इस समस्त विकास में हिन्दी पत्रकारों और साहित्यकारों का योगदान महत्वपूर्ण है। जो लोग भारत में साम्यवादी आन्दोलन का इतिहास लिख रहे हैं, उनके लिए आवश्यक है कि अंग्रेजी में प्राप्त सामग्री के अलावा वे भारतीय भाषाओं में प्राप्त सामग्री पर भी ध्यान दें। यह कार्य अंशतः उन्होंने किया है किन्तु संगठित और व्यापक रूप में नहीं। खास तौर से हिन्दी में जो कार्य हुआ है, उसकी ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। विभिन्न भाषाओं में प्राप्त सामग्री के आधार पर ही भारत के समग्र राजनीतिक आन्दोलन का इतिहास लिखा जा सकता है। साम्यवादी पार्टी का इतिहास भी इसी आन्दोलन के इतिहास के अन्तर्गत है। अपनी इस पुस्तक में अपना ध्यान मैं हिन्दी प्रदेश पर केन्द्रित कर रहा हूँ। जो बृहत् इतिहास लिखा जायेगा, उसमें इस तरह के प्रदेशगत इतिहासों का योगदान होगा। यह बात बहुत स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा में जो कुछ लिखा गया, उसकी चर्चा करने का अर्थ यह

ा है कि अन्य भाषाओं की उपेक्षा की जाय, न किसी प्रदेश
न्दोलन के विवेचन का यह अर्थ है कि राष्ट्र के शेष भागों के आन्दोलन का कोई हत्व नही है। हिन्दी भाषा में प्राप्त साहित्य और हिन्दी प्रदेश के राजनीतिक आन्दोलन के बारे मे मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह अखिल भारतीय आन्दोलन के इतिहास का एक अंग है। मैं मानता हूँ कि अन्य भाषाओं पर इसी तरह काम करना चाहिए और सारी सामग्री समेटकर विद्वानो को सम्मिलित प्रयास द्वारा साम्यवादी आन्दोलन का इतिहास लिखना चाहिए।

हिन्दी मे जो कुछ लिखा गया, उसका महत्व पहचानने के लिए मोटे तौर से प्राप्त सामग्री को तीन हिस्सो मे बाँट देना चाहिए। सामग्री का पहला हिस्सा बीसवी सदी के आरम्भ से लेकर नवम्बर १९१७ की समाजवादी क्रान्ति तक की अवधि का होगा। सामान्यत यह माना जाता है कि भारत समेत विभिन्न देशों मे—यूरुप मे कम, एशिया मे ज्यादा—समाजवादी विचारधारा का प्रसार नवम्बर क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ। इसमे सन्देह नही कि भारतीय क्रान्तिकारियों पर और भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन पर रूसी क्रान्ति ने गहरा प्रभाव डाला। किन्तु यह प्रभाव सभी देशों मे एक-सा नही था, भारत के सभी प्रदेशो मे एक-सा नही था। इसका कारण यह है कि विभिन्न देशों मे पूर्ववर्त्ती राजनीतिक चेतना एक-सी नही थी, जहाँ जैसी राजनीतिक चेतना थी, उसी के अनुरूप जनता के आगे बढे हुए लोगों ने रूसी क्रान्ति का प्रभाव ग्रहण किया। इसलिए हिन्दी मे नवम्बर १९१७ से पहले के राजनीतिक माहित्य का अध्ययन और विवेचन करना आवश्यक है। भारत मे कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म दिसम्बर १९२५ से माना जाता है; जो लोग उसका जन्म इससे पहले मानते है, वे स्वीकार करते है कि कम्युनिस्ट पार्टी भारत से बाहर बनी थी। भारत मे कम्युनिस्ट पार्टी १९२५ के बाद ही प्रभावशाली होती है। इसलिए दिसम्बर १९२५ एक उपयोगी विभाजन-रेखा है। नवम्बर १९१७ से लेकर दिसम्बर १९२५ तक रूसी क्रान्ति, समाजवादी विचारधारा और मार्क्सवाद के बारे मे जो कुछ लिखा गया है, वह कम्युनिस्ट पार्टी के सगठित प्रयास का फल नही है। इस कारण उसका ऐतिहासिक महत्व अपने आप स्पष्ट हो जाता है। प्रगतिशील राजनीतिज्ञो की चेतना किस दिशा की ओर विकसित हो रही थी, इसकी जानकारी इस अवधि के राजनीतिक साहित्य से होती है। यहाँ इन दोनो दौरों मे लिखे हुए साहित्य की सक्षिप्त चर्चा करनी है।

नवम्बर १९१७ से पहले हिन्दी में जो राजनीतिक माहित्य लिखा गया है, उसका अधिक विवरण **भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा** तथा **महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण** मेरी इन दो पुस्तको मे है। उस मवको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही है। सक्षेप मे महावीरप्रसाद द्विवेद और उनके सहयोगियो की कुछ स्थापनाओं का उल्लेख करना यथेष्ट होगा; इस साथ राधामोहन गोकुलजी की पुस्तक **देश का धन** की चर्चा कुछ विस्तार करना प्रासंगिक होगा।

(ख) देश का धन

महावीरप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक सम्पत्तिशास्त्र १९०८ में प्रकाशित हुई थी। उसी वर्ष राधामोहन गोकुलजी ने अपनी छोटी-सी पुस्तक देश का धन प्रकाशित की थी। यह रोचक तथ्य है कि बीसवीं सदी के प्रथम दशक में हिन्दी के ये दो गद्य लेखक स्वतन्त्र रूप से अर्थशास्त्र का अध्ययन कर रहे थे। उस समय के हिन्दी गद्य लेखक विशुद्ध साहित्य-सेवी नहीं थे, भाषा और साहित्य की सेवा के लिए वे राजनीति और अर्थशास्त्र का ज्ञान आवश्यक समझते थे। इसी कारण "देश का धन अर्थात् अर्थशास्त्र सम्बन्धी एक क्षुद्र प्रबन्ध जिसको मात्र हिन्दी भाषी भारत-वासियों के निमित्त राधामोहन गोकुलजी ने लिखकर नं. ४/१ जगमोहन मल्लिक लेन [कलकत्ता] से प्रकाशित किया।"

इस पुस्तक में पूंजी, मूल्य, श्रम आदि के बारे में जो कुछ लिखा गया है, वह सब तत्कालीन अंग्रेजी पुस्तकों में आसानी से मिल जायेगा। पुस्तक का महत्व यह नहीं है कि वह अर्थशास्त्र की मौलिक पाठ्यपुस्तक है। उसका महत्व यह है कि राधामोहन गोकुलजी बहुत अच्छी तरह समझ रहे हैं कि देश की प्रगति उसकी पराधीनता के कारण रुकी हुई है। महावीरप्रसाद द्विवेदी और राधामोहनजी, दोनों लेखक शास्त्र की उपयोगिता इसी से जांचते हैं कि वह अपने देश की स्थिति को समझने में कहां तक सहायक होता है। भारत के लोग गरीब और अपढ़ हैं, दरिद्र भी हैं। राधामोहनजी कहते हैं, "मनुष्यजातियों के इतिहासों से विदित होता है कि कभी किसी जाति ने नितान्त दरिद्र व परतन्त्र होते हुए उक्त गुणों को (बल, बुद्धि, विभव, वीरता, दया, धर्म) नहीं लाभ किया।" (पृष्ठ ४)। इससे स्वाभाविक निष्कर्ष निकलेगा कि परतन्त्रता को दूर किये बिना आर्थिक या नैतिक किसी तरह का विकास न होगा। भारत के व्यापारी विदेशी माल के लिए आर्डर देते हैं। अंग्रेज जैसा भी माल भेज देते हैं, उन्हें लेना पड़ता है। "मन्दी और हानि की छुरी भारतीय व्यापारियों के वा सर्वसाधारण के गले पर है।" (पृष्ठ १३)। ये व्यापारी "आंख बन्द करके देश को लूटते हैं और दूसरों को खिलाते हैं।" (पृष्ठ १४)। जब भारत का माल इंग्लैण्ड में बिकता था, तब वहां के पूंजीपतियों ने अपने हित में जो कुछ किया, उसे पढ़कर "हमारे पाठकों को इतना ही बोध होगा कि किसी देश की परतन्त्रता उसकी उन्नति में कितनी बाधक हो सकती है।" (पृष्ठ १४)। भारत का माल रोकने को वहां की राज्यशक्ति ने आज्ञा दी। वहां के लोग किसी के शरीर पर विदेशी वस्त्र देखें तो फाड़ डालें। देश की आर्थिक दशा पर स्वतन्त्रता-परतन्त्रता का क्या प्रभाव पड़ता है, पाठक जान सकते हैं। (पृष्ठ १५)। अंग्रेज़ी राज कायम होने के बाद पैदावार पर ध्यान दिये बिना टैक्स वसूल किया जाता है। "कहीं-कहीं भारत में सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले की अपेक्षा अब दस गुना, पन्द्रह व बीस गुना तक कर बढ़ गया है।" (पृष्ठ २४)। जितने भिखारी आज हैं, उतने मुगलों के राज्य में नहीं थे। पहले खेती की उपज का दसवां भाग राज-कर के रूप में लिया जाता था। यदि उपज न हो तो कुछ न लिया जाता था। यह कर फौज, शिक्षा आदि पर खर्च किया जाता था, "इसी से उस समय प्रजा

दुखी, भूखी, रोगी,विद्या और कारीगरीविहीन न थी।" (पृष्ठ २५)। अंग्रेजों ने किस नीति से भारतीय वस्त्र-उद्योग का नाश किया है और उस उद्योग को फिर उभारने मे जो हस्तक्षेप किया है, उस सबका विवरण देने से पुस्तक का आकार बढेगा, "दूसरे कदाचित् राजा हमको कही दोषी ठहराकर देशनिकाला दे दे तो मुश्किल होगी। इतना अवश्य कहेगे कि वर्तमान शासनशक्ति भारतवर्ष के अवनति, दु:ख, दरिद्रता, निर्बलता आदि मूल कारणो में से एक वृहत् कारण है।" (पृष्ठ २६)।

रानी विक्टोरिया के राज मे कुछ लोग यह समझने लगे थे कि इग्लैण्ड और भारत के लोग समान रूप से रानी की प्रजा है। राधामोहनजी ने इस धारणा का खण्डन करते हुए बताया कि दो देशों मे राजा समान हो तो आर्थिक उन्नति का समान होना आवश्यक नही है। "भारत व इंग्लैण्ड का मिलान करने से यह बात ठीक नही मिलती। राजा दोनों जगह एक ही कृपासागर बहुत दिन से है।" (पृष्ठ ५६)। दोनों देशों की भिन्नता का कारण यह है कि इग्लैण्ड स्वाधीन है और भारत पराधीन है। अंग्रेजी राज मे प्रजा पर इतना टैक्स लगाया गया है कि वह लगभग निर्जीव हो गयी है। लिखा है, "यदि राज-कर जोक की तरह सर्वथा प्रजा के अग मे लगा रहे तो शरीर कैसे पुष्ट हो सकता है।" (पृष्ठ ५९)। पहले खेती करने वालो से पैदावार के एक अश के रूप में टैक्स लिया जाता था। अंग्रेजी राज में टैक्स द्रव्य के रूप में वसूल किया जाने लगा। "कही-कही भारत मे सौ-डेढ सौ वर्ष पहले की अपेक्षा अब दस गुना, पन्द्रह गुना व बीस गुना तक कर बढ़ गया है।" (पृष्ठ २४)। परिणाम यह कि अनेक जमीदार नष्ट हो गये है, असख्य किसान भिखारी हो गये है। भारत मे पुराने उद्योग-धन्धे नष्ट कर दिये गये; जो नये उद्योग स्थापित हुए, उनसे लाभ विदेशियों को हो रहा था। भारत मे रेल-मार्ग बने, माल ढोने के लिए जहाज काम मे लाये गये किन्तु "पूँजी लगाकर असली काम दूसरो के पास है, भारतवासी मात्र दलाल है।" (पृष्ठ ६६)। जो लोग अंग्रेजो के साथ मिलकर धन्धा करते थे, वे स्वभावतः अंग्रेजी राज के समर्थक थे। इनके लिए राधामोहनजी ने लिखा है, "हमारे देशी व्यवसायी (जो वास्तव मे दलाल है, कितने ही तो मात्र जुआड़ी है, दलाल भी नही) अपने ही स्वार्थ को नही देख सकते।" (पृष्ठ १२)। आशय यह है कि स्वयं उद्योग स्थापित करें, देश मे माल पैदा करके बेचें तो इससे उन्हें अधिक लाभ होगा। जैसे-जैसे स्वदेशी आन्दोलन का प्रसार हुआ, वैसे-वैसे यहाँ छोटे पैमाने पर कुछ उद्योग स्थापित हुए। राधामोहनजी ने स्वदेशी आन्दोलन का जोरदार समर्थन किया। उन्होंने जनता और व्यवसायियों का आह्वान किया कि देश का अन्न बाहर न जाने दें, "बाहर के आने वाले अनावश्यक पदार्थो को जब तक देश-दशा न सुधर ले, विचार कर बलपूर्वक रोक दें। यह बात प्रजा समूह बिना राजा की सहायता के भी कर सकती है। राजा प्रजाकृत होता है, राजाकृत प्रजा कभी नही होती। प्रजा मूल है, राजा शाखा है।" (पृष्ठ ६६)। स्वदेशी आन्दोलन के साथ नयी जनतांत्रिक चेतना का प्रसार हो रहा था। राजा शासन करने के लिए है और प्रजा शासित होने के लिए, इस धारणा के विपरीत यहाँ कहा गया है कि प्रजा ही मूल है, वही राजा को

बनाती है। इसलिए बाहर से आने वाले अनावश्यक पदार्थों को बलपूर्वक रोकना प्रजा का कर्त्तव्य है।

बाहर से जो तैयार माल आता है, वह राधामोहनजी के लिए अनावश्यक है, आवश्यक माल वह है जिससे भारत मे माल पैदा किया जा सके अर्थात् विदेश से मशीनें मँगाना उचित है। बीसवी सदी के प्रथम दशक में दलाल पूँजीपति का प्रतिद्वन्दी नया उद्योगपति उभरकर सामने आने लगा था। इस प्रसंग में राधामोहनजी ने लिखा है, "जो पिछले पाँच-छ वर्ष के सौदागरी (दलाली) के काम की ओर दृष्टिपात करते है तो इसने बड़ा ही पलटा खाया है। स्वदेश की वस्तुओ के व्यवहार का प्रेम जो थोडे से आर्यसमाजियो पर ही परिमित था अब देश के समस्त विभागो पर प्रभाव डाल रहा है। इसी से देशीय कारखाने जो वास्तव मे बहुत ही थोड़े सच्चे देशी है गिरी दशा से उठकर कुछ चगे देखे जाते है।" (पृष्ठ ३१)। स्वदेशी उद्योग-धन्धो की उन्नति से "अनेशियाई जुलाहो का कुछ नशा उतरा है।" (पृष्ठ ३२)। अनेशियाई अर्थात् एशिया से बाहर के, विलायती व्यापारियो का नशा कुछ उतरा है। बाहर का माल कुछ सस्ता हुआ है। दलाल व्यापारियों की हालत खराब हुई है। ऐसे व्यापारियों के लिए लिखा है, "भारत के कुपढ व्यापारी (दलाल कहना ठीक होगा) जो पहले से देश का धन उड़ाते और विदेश भी भेजते रहे थे, इस वास्ते इनकी सख्या ऐसी बढ गयी थी जैसे बरसात मे केचुए या मेंढक बढ जाते है। उन लोगो ने कुछ तो रास्ता देखकर, कुछ रगीन विदेशी रिपोर्टें पढकर, कुछ कमाई के नशे से खुशामद के मारे माल को खरीदकर घर में धर लिया।" (पृष्ठ ३३)। माल इतना इकट्ठा हो गया कि बिका नही। बहुत-सा माल रखे-रखे खराब हो गया। लोगो के पास माल खरीदने के लिए पैसे थे नही। बहुत से व्यापारी दिवालिये हो गये। "जिन बिचारो में कुछ दम बाकी है, वे बसी मे फँसी मछली के समान तड़प रहे है। इनके जीवन की आशा हमारे निदान से तो कम ही है पर ईश्वर करे इनकी बुद्धि शुद्ध हो, पथ्य से रहे और चिरजीवी हों।" (उप.)।

किस तरह का माल बनाना चाहिए, इसके लिए सुझाव भी दिया है। ऊन, सूत, रेशम, लोहा, रबड, चमडा, कागज आदि के उद्योग कायम करने चाहिए। स्वदेशी उद्योग-धन्धों और व्यापार की उन्नति के लिए संघर्ष करना आवश्यक होगा क्योकि "व्यापार-क्षेत्र भी एक युद्ध-क्षेत्र है।" (पृष्ठ ६२)। इस युद्ध-क्षेत्र मे टिके रहना आसान नही है क्योकि "जहाँ प्राण-रक्षा और धन-रक्षा, खेत-बाग-रक्षा को लाठी तलवार बदूक नही, वहाँ और क्या मिल सकता है।" (पृष्ठ ६६)। इसका अर्थ यह है कि देश के स्वाधीन हुए बिना उसके उद्योग-धन्धों की उन्नति नही हो सकती। भारतीय उद्योगपतियो को सीमित मुनाफा लेने की सलाह देते हुए राधामोहनजी कहते हैं, "यह बात ठीक नही है कि अधिक नफा लेने से ही धन बढ़ता है।" (पृष्ठ ५७)।

, फिर भी
र विदेशी
जाते हैं,

देशी पूंजीपति अपने यहाँ का धन देश में ही रखेंगे, इसलिए वे उतने खराब नहीं
है। पूंजीपतियों मे किस तरह की नैतिकता होती है, या हो सकती है, उस पर
विचार करते हुए राधामोहनजी ने सलाह दी है- कारीगरो के साथ उदारता
बरतो, कम्पनियाँ बनाओ, जो अपना विश्वास न करे उसके बाप-दादो का न
करो। व्यापार की लडाई बुद्धिमान ही जीतते है। बुद्धिमानी के साथ ईमानदारी
भी जरूरी है। कहते है, "परस्पर का विश्वास, धर्म, सच्चाई कम-से-कम इतनी
तो हो कि जितनी चोर-डाकुओ मे भी होती है कि लूट के माल को ईमानदारी से
बाँट लेते है।" (पृष्ठ ३४)। लुटेरे दोनो है पर देशी और विदेशी लुटेरो मे अन्तर
यह है, "देश का चोर, डाकू, लुटेरा, घूस खाने वाला भी जो धन ले जाता है, वह
फिर हमारे पास आ सकता है, इसमे कुछ भी सन्देह नही। यदि उक्त जन शास्त्रानु-
कूल दुष्ट और राक्षस है और हमारे घृणा के पात्र हैं, दया के नही, पर जर्मन,
अमरीका आदि के लोगों की अपेक्षा तो अच्छे ही है।" (उप)। यहाँ बीजरूप मे
समाजवादी चेतना देखी जा सकती है। पूंजीपतियों की तुलना लुटेरों और राक्षसो
से की गयी है, साथ ही देशी-विदेशी लुटेरो मे भेद किया गया है। राधामोहनजी
यह भी देख रहे थे कि भारतीय पूंजीपति स्वदेशी आन्दोलन से लाभ उठाते हैं,
किन्तु जो लोग आन्दोलन चलाते है, वे उन्ही का शोषण करते है। लिखा है, "जिस
आन्दोलन के बदौलत ये मरने से बचे, चगे हुए, उसी का रुधिर पान करने मे कभी-
कभी कोई ऐसे चतुर देख पडते है कि कहना पड़ता है कि क्या तुम्हे वे महारिये
याराने वतन याद नही। यदि यह अवगुण इनमे न होता तो इनको जितना लाभ
हुआ उससे बहुत अधिक लाभ दिनो-दिन होता जाता।" (पृष्ठ ३१)। इसलिए
उन्हे सलाह देते है कि सूक्ष्मतम लाभ से सतोष करे।

भारत की औद्योगिक प्रगति पुरानी रूढ़ियों को तोडे बिना सम्भव नही थी।
जो लोग कला-कौशल के कामो को नीच समझते है, उद्योग-धन्धो मे काम करने
वालो से घृणा करते है, राधामोहनजी ने उनकी आलोचना की है। (वर्ण-व्यवस्था,
जाति-प्रथा आदि के बन्धन तोड़कर लोगो को औद्योगिक उन्नति मे शक्ति लगानी
चाहिए। भारत मे सोना, चाँदी गाडकर रखने की परम्परा रही है। जिनके पास
रुपया होता था, वे उसे ब्याज पर उठाते थे। इस बारे मे लिखा है, "धरती मे
सोने-चाँदी का गाड़ना, गहना बनाना, पूंजी को ब्याज पर देना, आवश्यकता से
अधिक घर बनाकर भाड़े पर चलाना आदि काम अच्छे नही है। जो लोग धन को
गाड़कर बैठ जाते है वड़े ही मूर्ख है, जो ब्याज-भाड़े पर उतर बैठते है वे आलसियों
के दादा गुरु है।" (पृष्ठ ३४-३५)। रतनगढ (शेखावटी) मे लोगो ने धर्मशाला
बनवायी। सब खाली पड़ी रहती है। जंगल मे मदिर बनवाये, चोरों औ
जुआरियों को लाभ हुआ। पंडों-पुजारियो को भोजन कराने और दक्षिणा देने
पूंजी नष्ट होती है, "आलसी, हरामखोर बढते है।" (पृष्ठ ५१)। भारत मे
के ध्वजाधारियो की कमी नही; लाखों-करोड़ो आदमी भूख से प्रतिवर्ष मरते
"कही भी इन धर्म के डीगियो का एक भी यथोचित औषधालय या विद्या
-कला-कौशल सीखने का प्रबन्ध नहीं दीख पडता।" (उप.)। समाज मे जो
प्रतिष्ठित है, वे सदा प्रतिष्ठा के योग्य नही है। धर्म-नेता "ठगी का जाल

को" ज्ञान बघारते है, ऐसा लगता है, "ईश्वर, वैकुण्ठ एवं धर्मग्रंथ मानो थोडे-से लोगो के हाथ बिक चुके है;" राजनीति ऐसी है कि हाथी के खाने के दांत अलग और दिखाने के दांत अलग है। नतीजा यह है, "वास्तविक ब्राह्मण, विद्वान सदाचारी को शूद्र और ठग, बेईमान, हरामखोरो को द्विजदेव कहते हैं और भक्षक को रक्षक और रक्षक को भक्षक जानते हैं। फिर कल्याण कैसा और कहां।" (पृष्ठ ५६)।

मेहनत करने से कोई आदमी छोटा नही होता। जहाँ आरामपसन्द लोगों को बड़ा आदमी कहा जाता है, वहाँ समाज में आर्थिक दोष पैदा होते है। बड़े कारखानो के अलावा छोटे-छोटे कारखाने भी कायम किये जा सकते है। दिल्ली, आगरा, मेरठ, बुलन्दशहर और आस-पास के ज़िलो मे दरी बनाने वाले, लोहे का सामान बनाने वाले कारीगर सुलभ है; उन्हें काम में लगाना चाहिए। स्त्रियाँ भी हाथ की छोटी मशीनो से काम कर सकती है। (पृष्ठ ३८)।

राधामोहन गोकुलजी की पुस्तक देश का धन अर्थशास्त्र का साधारण परिचय देनेवाली पुस्तिका है। इसमें अनेक पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की गयी है। धन क्या है? "धन मेहनत के प्रतिफल को कहते हैं।" (भूमिका)। विद्या किसे कहते है? "विद्या पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को कहते है।" (उप.)। देश किसे कहते है? "देश धरती के उस भाग को कहते हैं कि जिसके किसी एक अंश के सुख-दुख, हानि-लाभ का प्रभाव सीधा और वस्तुतः उसके दूसरे अंश पर पड़ता है।" (उप.) जाति किसे कहते है? "एक देश के बसने वाले एक जनसमूह को एक जाति कहते है।" (उप.) उदाहरण के लिए भारतवर्ष हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक एक देश है। इसमे बगाली, गुजराती, पजाबी आदि रहते है, जैन, सिख, मुसलमान, ईसाई, शैव, शाक्त "जो हों सब मिलकर एक हिन्दुस्तानी जाति है।" (उप.)। देश और जाति की धर्म-निरपेक्ष व्याख्या ध्यान देने योग्य है। इस बारे मे विस्तार से और छान-बीन की जा सकती है। किन्तु सूत्ररूप मे कही हुई बात महत्वपूर्ण है। आधुनिक उद्योग-धन्धे बाजार में बिकनेवाली वस्तु पैदा करते है। इस वस्तु का मूल्य कैसे निर्धारित होता है? "वस्तु का मूल्य उस मेहनत पर निर्भर होता है जो उस वस्तु के पैदा करने मे लगती है।" वस्तु पैदा करने का काम मजदूर करते है। "अपने ही हाथों-पैरो और मस्तिष्क से काम करके वस्तु के निपजाने वालो को मजूर कहते है।" (पृष्ठ ६५)। पूँजीपति कहते है कि मजदूरों को ज्यादा पैसे दिये जायेंगे तो वस्तु महँगी हो जायेगी। राधामोहन जी कहते हैं, "यह बात विचारना कि मजूरो, कारीगरों की मजूरी बढ़ जाने से देश की हानि होती है, पदार्थ महँगे पड़ते हैं, सर्वथा भूल है।" (पृष्ठ १०४)।

आधुनिक उद्योग-धन्धो का आधार नयी तरह का श्रम-विभाजन है। मशीनो से काम करनेपर काम अधिक होता है और चीजें सस्ती पड़ती है। (पृष्ठ४२-४३)। यदि समाज सुसंगठित हो तो मजदूरो को अधिक अवकाश मिले और वे उसका उपयोग अपनी उन्नति के लिए कर सकते है। जैसे कारीगरों का चतुर होना अच्छा है, वैसे ही "कलों द्वारा भी उत्तमतर अधिक माल बनाना, समय का बचाना लाभकारी मानना होगा।" (पृष्ठ ७३)। महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह राधा-

मोहन गोकुलजी श्रम की उत्पादकता का बढना अच्छा मानते है। वह पुरानपंथियों का यह तर्क स्वीकार नही करते कि मशीनो के प्रयोग से बेकारी बढ़ेगी। ज्यादा माल पैदा करने से श्रमिक को लाभ होता है या नही, यह समाज-व्यवस्था पर निर्भर है। अभी स्थिति यह है कि "थोड़ा काम कारीगर मर-मर कर करता है, उसको अपने बाल-बच्चों सहित हरदम काम मे लगा रहना पड़ता है।" (पृष्ठ ७३)। इससे भिन्न स्थिति यह हो सकती है, "मशीनो तथा अभ्यास से जब चौगुना, दस-गुना माल पैदा करने लगेगा तो यह आवश्यक नही होगा कि पहले की तरह वह रात-दिन घर वालों सहित हैरान हुआ करे। तब आराम करने, फिरने, देखने, सीखने को फुरसत मिलेगी।" (उप.) राधामोहनजी ने यह स्पष्ट नही किया कि पूंजीवादी व्यवस्था के चलते मजदूर अपने अवकाश का उपयोग इस तरह कर सकते है या नही पर ऐसा उपयोग सम्भव है, यह बात उनके मन मे है। वर्तमान स्थिति यह है कि मजदूरों को जीविका के सामान्य साधन जुटाने के लिए भी आवश्यक पगार नही मिलती। न्यूनतम मजदूरी की दर वह है जिससे मजदूरों को जीवित रहने योग्य अन्न-वस्त्र मिलें। "इससे कम दर और क्या होगी सिवाय इसके कि जो वर्तमान मे महात्मा मसीह के शासनकाल मे भारत के मजूरो की है कि भूखे-प्यासे धड़ाधड़ सीधे रास्ते ईश्वर के दरबार में दौड़े चले जाते हैं। सिक्का कम मिले या अधिक पर उसके बदले में जीवनयात्रा का सम्बल कितना मिलता है, ध्यान मे रखकर हिसाब करने से मुख्य मजूरी का दर हर समय मे निकल सकता है।" (पृष्ठ १०७-१०८)।

राधामोहनजी ने वर्ग-संघर्ष, राज्यसत्ता का स्वरूप, शोषण से मुक्त होने का उपाय आदि के बारे में स्पष्ट और अलग से नही लिखा पर बीजरूप मे अनेक बातें उनकी पुस्तक मे ऐसी है जिनकी व्याख्या करने पर क्रान्तिकारी निष्कर्ष निकाले जा सकते है। पूंजीवादी देशो मे राज्य सरकारें जनता से कर्ज लेती हैं, यह धन पूंजीपतियों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए खर्च किया जाता है, विशेषरूप से फौज और युद्ध का खर्च चलाने के लिए सरकारें इस तरह का कर्ज लेती हैं। इसे जातीय ऋण (नैशनल डेट) का नाम दिया जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए राधामोहनजी ने लिखा है, "जो राजा अपने उचित अधिकार का अतिक्रमण करके नरहत्या के निमित्त भाड़े के हत्यारों को नौकर रखने और राजकीय पुरुषों को हराम के धन से पुतली की तरह सजाने और मोटा करने मे खर्च करने को ऋण लेता है, फिर उसके मूल और ब्याज के देने को मेहनती प्रजा का रुधिर रात-दिन खटमल की तरह पान करता है, उसी को मूर्खों ने जातीय ऋण के नाम से नाम्नित किया है।" (पृष्ठ १०७)। जातीय ऋण राजा लेता है अर्थात् सरकार लेती है। ऐसा करने का उसे अधिकार नही है। भाड़े के हत्यारे राज्यसत्ता के हथियार-बद दस्ते है। फौज का काम दूसरों को मारना है। चाहे अपने देश के लोग मारे जाएँ, चाहे दूसरे देश के मारे जाएँ, हिंसा के बिना पूंजीवादी राज्यसत्ता टिक नहीं सकती। इस सारे खर्च का भार जनता पर होता है। जो लोग राज्यसत्ता से चिपके हुए है, वे प्रजा से वसूल किये हुए धन मे हिस्सा बँटाते हैं। यह राज्यसत्ता मेहनती प्रजा का खून चूसती है। स्पष्ट ही ऐसी राज्यसत्ता को बने रहने का

अधिकार नहीं है।

**देश का धन** का लेखक अभी समाजवादी नहीं है, भौतिकवादी और भी नहीं है। अभी वह परमात्मा के अटल न्याय मे विश्वास करता है, जिसने मनुष्यों को बाध्य किया है कि वे समाजबद्ध होकर रहें। किन्तु उसे अपने अनुभव से इस बात का ज्ञान हो गया है कि समाज मे धर्म के नाम पर ठगविद्या का प्रसार है और ऐसा लगता है कि ईश्वर और धर्मग्रंथ कुछ लोगों के बाप-दादो के हाथ बिक चुके है। कुछ दिन मे इससे एक कदम आगे बढ़कर राधामोहन गोकुलजी नास्तिक मत का प्रचार करेंगे। वह चाहते है कि बाहर के आने वाले पदार्थों को बलपूर्वक रोक दे, इससे एक कदम आगे बढकर वे बलप्रयोग द्वारा अंग्रेजी राज को समाप्त कर देने वालों का साथ देंगे। गाधीवाद से उनका मतभेद केवल बलप्रयोग के प्रश्न को लेकर न होगा, मतभेद उद्योगिकीकरण के प्रश्न को लेकर भी होगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह वह आधुनिक उद्योग-धन्धों का विकास चाहते है। उद्योग-धन्धों पर कहाँ तक अंग्रेजों का नियन्त्रण है, इसके प्रति वह सतर्क है। वह अंग्रेजों की दलाली करने वाले व्यापारियों और नये उद्योग स्थापित करने वाले व्यवसायियों में भेद करते है। वह जानते हैं कि ये व्यवसायी जहाँ तक उद्योग-धन्धो का विकास कर सके है, वह अंग्रेजों की कृपा का फल नही है वरन् स्वदेशी आन्दोलन का परिणाम है। भारत के औद्योगिक विकास में स्वदेशी आदोलन की भूमिका—इस बात को लेकर पहले महायुद्ध के बाद बहुत दिनो तक अनेक मार्क्सवादी विचारक उलझे रहे। सूत्ररूप मे उससे बहुत पहले राधामोहनजी ने बता दिया था कि अनुसंधान की दिशा कौन-सी है। भारतीय पूँजीपतियो के प्रति कौन-सा दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, इस बारे मे भी बरसों तक मार्क्सवादियों मे बहस होती रही। राधामोहनजी का कहना है कि देशी और विदेशी पूँजीपति, डाकू दोनों हैं, लेकिन जो डाकू देश का धन बाहर भेजता है वह ज्यादा खराब है, जो देश का धन देश मे ही रहने देता है वह उतना खराब नही है। जो देशी पूँजीपति विदेशी डाकू की दलाली करता है, वह अपना स्वतंत्र उद्योग चलाने वाले देशी पूँजीपति मे खराब है। देश परतन्त्र है और जब तक परतन्त्रता दूर न होगी, तब तक पूरी तरह औद्योगिक विकास न होगा। मशीनो से श्रम की उत्पादकता बढ़ती है। यदि सही ढंग मे समाज-व्यवस्था का संचालन किया जाये तो कारखानों मे काम करने वाले मजदूर थोड़े से समय मे आवश्यक माल बनाकर बाकी अवकाश का उपयोग अपने सांस्कृतिक विकास के लिए कर सकते है। चिन्तन की यह पृष्ठभूमि अनिवार्यतः लेखक को समाजवाद की ओर आगे बढ़ने की प्रेरणा देगी। समाजवादी विचारधारा की अनेक आधारभूत बातें १६०८ मे प्रकाशित **देश का धन** पुस्तिका मे विद्यमान है। और भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ये बातें भारत के तत्कालीन सन्दर्भ में सार्थक हैं।

### (ग) 'सम्पत्तिशास्त्र' और 'सरस्वती'

राधामोहन गोकुलजी ने जिसे जातीय ऋण कहा था, भारत के सन्दर्भ में वही 'होम चार्जेज' है। सम्पत्तिशास्त्र मे इसकी व्याख्या करते हुए महावीरप्रसाद द्विवेदी

ने लिखा था, "हिन्दुस्तान पराधीन देश है। यहाँ का राज्यसूत्र अंग्रेजों के हाथ में है। उसके प्रधान सूत्रधार इंग्लैण्ड में रहते हैं। उनके ओहदे का नाम है सेक्रेटरी आफ स्टेट। उनका दफ्तर लन्दन में है और वहीं उनके सलाहकारों की एक सभा भी है। इन सबकी तनख्वाह आदि हिन्दुस्तान के जिम्मे है। हिन्दुस्तान में जो हजारों अंग्रेज अफसर काम करते हैं, वे पेंशन लेकर जब इंग्लैण्ड जाते हैं, तब पेंशन भी उनको यहीं से दी जाती है। यहाँ के लिए बहुत-सी फौज भी इंग्लैण्ड को भेजनी पड़ती है। हिन्दुस्तान की रक्षा के लिए जहाज भी रखने पड़ते हैं। सरकार को न मालूम कितनी चीजें राजकीय कामों में खर्च करने के लिए विलायत से मँगानी पड़ती हैं। रेल आदि बनाने के लिए गवर्नमेण्ट ने बहुत-सा रुपया महाजनों से कर्ज लिया है; उसका सूद भी देना पड़ता है। इन सब खर्चों का सालाना टोटल कोई बीस करोड़ रुपया होता है। वह सब हिन्दुस्तान से लिया जाता है। इसे एक प्रकार का 'कर' समझना चाहिए। अंग्रेजी में इस कर का नाम है होम चार्जेज।" (पृष्ठ २८६)।

जिस वर्ष देश का धन पुस्तिका प्रकाशित हुई थी, उसी वर्ष सम्पत्तिशास्त्र पुस्तक का प्रकाशन हुआ था। द्विवेदी जी सरल भाषा में भारत की ठोस परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए हर बात की व्याख्या विस्तार से करते हैं। उन्होंने 'होम चार्जेज' के बारे में जो कुछ लिखा है, उससे भारत में अंग्रेजी राज्य-सत्ता की शोषण-प्रक्रिया का ज्ञान हो जाता है। भारत में उद्योग-धन्धे स्थापित हो रहे हैं, रेल मार्गों का निर्माण हुआ है, समाज में एक नये वर्ग, श्रमिक वर्ग का जन्म हुआ है। यह वर्ग अपने संघ बनाता है और अपने अधिकारों के लिए लड़ता है।

. . . . . . . .

करना पड़ता है और उजरत कम मिलने के कारण उन्हें खाने-पीने और पहनने को भी काफी नहीं मिलता। इससे लाचार होकर उन्हें अपने दुख मालिक को सुनाने पड़ते हैं, शिकायतें करनी पड़ती हैं, अर्जियाँ देनी पड़ती हैं। अपनी तकलीफों दूर करने की वे भरसक सब तरह कोशिश करते हैं। इस पर भी यदि उनकी मांग-फरियाद काम न करे तो वे हड़ताल न करें तो करें क्या? ऐसे मौकों पर हड़ताल करना अनुचित नहीं। वह एक प्रकार का अस्त्र है। यदि वह उचित रीति पर, योग्य समय में, दृढ़तापूर्वक चलाया जाये तो चलाने वालों को सफलता होती है।" (पृष्ठ २०३)।

मई १६०७ की सरस्वती में माधवराव सप्रे का लेख 'हड़ताल' प्रकाशित हुआ था। इसमें बताया गया है कि मजदूर किन परिस्थितियों में हड़ताल करते हैं। लिखा है, "जब किसी देश की सम्पत्ति थोड़े से पूंजीवालों के हाथ में चली जाती है और अन्य लोगों को मजदूरी से अपना निर्वाह करना पड़ता है, तब वे पूंजीवाले अपने व्यापार का सब नफा स्वयं आप ही ले लेते हैं, और जिन मजदूरों के परिश्रम से यह सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है, उनको वे पेट भर खाने को भी नहीं देते। ऐसी दशा में श्रम करने वाले मजदूरों को हड़ताल करनी पड़ती है।" समाज की विभिन्न

परिस्थिति यह है कि यहाँ का सबसे बड़ा पूंजीपति अंग्रेज है। यूरुप और हिन्दुस्तान की औद्योगिक दशा का भेद बताते हुए कहते है, "वहाँ के सब कारखाने स्वतन्त्र हैं, किन्तु यहाँ एक भी ऐसा कारखाना नही है जो किसी-न-किसी तरह सरकार की कृपा पर अवलम्बित न हो। यथार्थ में इस देश के सब कारखाने या तो खुद सरकार के हाथ मे है या सरकार के आश्रित है। जैसे रेलवे, टेलीग्राफ, पोस्ट आफिस, आवपाशी, अकाल-रक्षण आदि सब सरकार के ही अधीन हैं। यदि यह कहा जाये कि देश की गवर्नमेण्ट एक बडे भारी कारखाने की मालिक है तो अतिशयोक्ति न होगी।" इसका अर्थ यह है कि मजदूर अपनी दशा सुधारने के लिए जब हड़ताल करेंगे, तब वे सीधे सरकार से टकरायेंगे। मजदूरों का आर्थिक संघर्ष राजनीतिक संघर्ष का रूप ले लेगा।

जैसे भारत का सबसे बड़ा पूंजीपति अंग्रेज है, वैसे ही भारत का सबसे बड़ा जमींदार भी अंग्रेज है। सम्पत्तिशास्त्र में द्विवेदीजी ने लिखा था, "यहाँ की गवर्नमेण्ट ने जमीन पर अपना दखल कर लिया है। वह कहती है यहा की जमीन उसी की है—वही उसकी मालिक है।" (पृष्ठ १०६) और "हिन्दुस्तान की जमीन की मालिक रियाया नही अंग्रेजी गवर्नमेण्ट है। वही रियाया से लगान वसूल करती है।" (पृष्ठ ११६)। जैसे मजदूर का अस्त्र हड़ताल है, वैसे ही किसान का अस्त्र लगानबंदी है। जुलाई १६१४ की 'सरस्वती' मे 'देश की बात' शीर्षक टिप्पणी मे द्विवेदीजी ने लिखा था, "यदि कृषकों से लगान मिलना बद हो जाए तो बड़े-बडे राजा-महाराजो और ताल्लुकेदारों की दुर्गति का ठिकाना न रहे; सरकार के शासनचक्र का चलना बद हो जाए, वकीलों और बैरिस्टरों के गाड़ी-घोड़े बिक जाएँ और व्यापारियो तथा महाजनो को शीघ्र ही टाट उलटना पड़े।" लगानबंदी और हड़ताल को मिला दें तो स्वाधीनता-आन्दोलन कितना शक्तिशाली हो सकता है, इसकी कल्पना की जा सकती है। उसे शक्तिशाली बनाने की यह विचारभूमि नवम्बर, १६१७ से पहले हिन्दी मे विद्यमान है। जहाँ तक जमीन पर किसान के अधिकार की बात है, द्विवेदीजी सम्पत्तिशास्त्र मे ही लिख चुके थे, "प्रजा के हितचिन्तकों की राय है कि इस देश की जमीन प्रजा की है। न राजा की है, न जमींदारो की। जो जमीन जिस काश्तकार के कब्जे मे चली आती है, उसे उसकी मौरूसी जायदाद समझना चाहिये।" (पृष्ठ १३०)।

जून १६१४ की 'सरस्वती' में द्विवेदीजी ने जनार्दन भट्ट का लेख 'हमारे गरीब किसान और मजदूर' प्रकाशित किया था। इसमे बताया गया है कि जब तक किसान और मजदूर सगठित न होंगे तब तक उनकी दशा न सुधरेगी। संसार के प्रत्येक देश मे गरीब-अमीर का भेद है। भट्टजी का कहना है, "विचारपूर्वक देखा जाये तो संसार के हरेक देश मे, चाहे वह इंग्लैण्ड हो चाहे हिन्दुस्तान, दो जातियाँ दिखाई पड़ेंगी। एक ओर धनी हैं, जिनकी संख्या संसार मे बहुत थोड़ी है और जो हर तरह के ऐशो-आराम मे अपना जीवन बिताते हैं और दूसरी ओर एक बहुत बड़ी सख्या उन अभागों की है जो किसी तरह बड़े परिश्रम और कष्ट से अपने जीवन की रक्षा कर सकते हैं। इन गरीबों की हालत प्राचीन रोम के गुलामों से भी बदतर है।" गुलामो और गरीब किसानो और मजदूरो मे अन्तर यह है कि गुलामो

को भोजन-वस्त्र मिल जाते थे किन्तु इन्हें नही मिलते। कहने को गुलाम पराधीन थे और किसान-मजदूर स्वतन्त्र है। किसान और मजदूर अधिक स्वतन्त्र है, "तो यह स्वतन्त्रता इसलिए है कि वह स्वच्छन्दता के साथ बिना रोक-टोक भूखो मर सकें।" गरीब-अमीर के बीच मध्यम श्रेणी के पढ़े-लिखे लोग है। इनका कर्तव्य है कि अपने गरीब भाइयो को उनकी दुख और दरिद्रता का सच्चा कारण बतलायें; "जब वे उन्हे उनके अधिकारों का ज्ञान करावेंगे, जब वे उन्हें बतलावेंगे कि जो धन वे पैदा करते हैं कहाँ जाता है और उन्हे क्यो नही मिलता, तभी देश का सच्चा सुधार होगा।" कहना अनावश्यक है कि जिस दिशा मे काग्रेस और उसकी विचारधारा का विकास हो रहा था, उससे यह दिशा पूरी तरह भिन्न है। आगे चलकर कांग्रेस मे ऐसे लोग शामिल हुए जो वर्गगत समस्याएँ समझते थे, किसानो और मजदूरों के सगठन की आवश्यकता समझते थे, स्वाधीनता-आदोलन की सफलता के लिए किसानो और मजदूरो के संघर्ष को आवश्यक मानते थे। यह काग्रेस का वामपक्ष बना किन्तु वह कभी इस स्थिति मे नही हुआ कि अपनी विचारधारा के अनुसार स्पष्ट कार्यक्रम बनाकर उस सगठन की नीति निर्धारित कर सके।

विश्व-पूंजीवाद और महायुद्ध दोनों का गहरा सम्बन्ध है। 'सरस्वती' में इस सम्बन्ध की निरन्तर छानबीन की गयी है। जनवरी १९०८ की 'सरस्वती' में 'हेग की शाति सभा' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख मे पूंजीवादी राष्ट्रों द्वारा युद्ध की तैयारी के बारे मे कहा गया है, "कुछ वर्षों मे सभी शक्तिशाली देश अपनी-अपनी फौजें बढ़ाने, नई-नई तोपें बनाने, बडे-बडे भीषण लडाकू जहाज़ तैयार कराने की धुन मे डूब-से गये। करोड़ों रुपये बरबाद होने लगे। कर के रूप मे प्रजा से प्राप्त किया गया धन, उसके लिए सुख-सामग्री प्रस्तुत करने के बदले, जन-संहार के कामों में बेतरह खर्च होने लगा। प्रत्येक देश—विशेष करके इंगलैण्ड, फ्रास और जर्मनी—की यही आंतरिक इच्छा देख पड़ी कि बल में हम सबसे बढ़ जाएँ। जहाज़ों, तोपों और फौजों की इस अकारण वृद्धि को रोकने की भी ज़रूरत समझ पड़ी। इन्ही अनेक कारणो से गत वर्ष १९०७ मे फिर एक सभा हेग मे हुई।" किन्तु यह सभा स्थायी शाति के लिए कुछ भी न कर सकी। उसी लेख मे इस सभा के बारे मे कहा गया है, "इस १९०७ की सभा को शाति-सभा कहना ही व्यर्थ है। क्योंकि जब तक प्रत्येक देश अपनी सेना बढ़ाता जाता है, नये-नये युद्ध-जहाज बनाता जाता है, महाप्रलयकारी तोपें तैयार कराता जाता है, तब तक शाति की आशा नही। जिस देश को देखिए वह यही चाहता है कि सेना-सामग्री और बल-पराक्रम मे मैं अपने पडोसी से बढ़ जाऊँ।" पांच साल बाद नवम्बर, १९१३ की 'सरस्वती' मे इसी विषय पर फिर एक लेख प्रकाशित हुआ 'पश्चिम मे शाति मदिर की प्रतिष्ठा। हेग की शांति परिषद्।' लेखक ने बताया है कि शाति की पूजा करने और शाति-मदिर को सजाने के लिए पश्चिमी देशों ने अच्छी-अच्छी चीजे दी। मूर्तियाँ, चित्र, संगमरमर से लेकर लोहे का फाटक तक दिया। किन्तु यूरुप मे चालीस लाख सैनिक है जिन पर हर साल पेंतालीस करोड़ पाउण्ड से अधिक धन व्यय होता है। "संसार का इतना धन और श्रम किसी भी अर्थोत्पादक

कार्य मे नही लगाया जाता।" जब युद्ध होता है, तब प्रत्येक पूँजीवादी देश अपने को न्याय और जनतन्त्र का रक्षक बताता है। उक्त लेख मे प्रश्न किया गया है, "हाल ही मे जो बालकन युद्ध हुआ और खून की नदियाँ बहायी गयी, उसके लिए सचमुच अपराधी कौन है?"

हिन्दी के प्रगतिशील लेखक यह देख रहे थे कि यूरुप के पूँजीवादी देश ऊपर से शाति की बातें करते है, भीतर से एक-दूसरे पर आक्रमण की तैयारी करते हैं। पूँजीवादी देशो के शांतिप्रेम पर व्यग्य करते हुए अगस्त, १९१२ की 'सरस्वती' मे 'शाति का सार्वभौमिक राज्य' शीर्षक लेख में गणेशशंकर विद्यार्थी ने लिखा, "आज सारे संसार की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ शांति का मधुर राग अलाप रही हैं। जिधर देखो उधर शांति का साम्राज्य स्थापित करने की बड़ी-बड़ी कोशिशें हो रही है। सभी सभ्य देश पारस्परिक राष्ट्रीय नियमो के बन्धन मे बँधे हुए यह कह रहे है—'मनुष्य मात्र बराबर हैं; सबको स्वाधीनता का रस चखने का एक-सा अधिकार है।' बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रो को सान्त्वना देते हुए कह रहे हैं—'डरो मत, अब कोई किसी के ऊपर अत्याचार नही कर सकता। वह समय गया। अब जिसकी लाठी उसकी भैंस का जमाना नही'।" आगे विद्यार्थीजी पूछते हैं, "परन्तु क्या सचमुच शाति का सार्वभौमिक राज्य संसार पर हो गया अथवा हो जाएगा? क्या अब हमें जंगी अस्त्र-शस्त्रों की झकार न सुनायी पड़ेगी? क्या अब भीमकाय तोपें मनुष्यो का सहार करती हुई कानों के परदे न फाड़ेंगी?" साम्राज्यवादी युद्ध बद हो, नर-सहार बद हो, यह माँग साधारण मानवतावाद की थी और समाजवाद की भी। रूस मे समाजवादी क्रांति की सफलता का एक कारण युद्ध मे न मरने की रूसी किसान की सहज मानवीय आकाक्षा थी। इसलिए 'सरस्वती' मे युद्ध और शाति को लेकर जो कुछ लिखा गया है, वह समाजवाद से नितान्त असम्बद्ध नही है।

### (घ) 'मर्यादा'

साम्राज्यविरोधी चेतना से किस तरह घनिष्ठरूप मे समाजवादोन्मुख विचार-धारा जुड़ी हुई है, इसका बोध 'मर्यादा' की राजनीतिक टिप्पणियो से होता है। राजभक्ति की दुहाई देते हुए यह पत्रिका पाठकों को सावधान करती है कि युद्ध के बाद अंग्रेजो से कुछ भी मिलने वाला नही है; वे युद्ध तुम्हारे बल पर चला रहे हैं, उनसे निपटने की तैयारी अभी से करो। 'मर्यादा' अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति पर बराबर निगाह रखती हुई, भारत के स्वाधीनता आन्दोलन को इस परिस्थिति से जोड़ती है। स्वभावतः वह रूस की जारशाही-विरोधी फरवरी क्रान्ति का साम्राज्य-विरोधी महत्व पहचानने मे सबसे आगे है। अनेक टिप्पणियों मे वह मजदूरो के संगठन और संघर्ष का समर्थन भी करती है।

जनवरी १९१५ की 'मर्यादा' मे 'बजबज के दंगे की रिपोर्ट' शीर्षक सम्पाद-कीय टिप्पणी छपी है। इसका सम्बन्ध कोमागातामारू जहाज की घटना से है। इसमे बताया गया है कि उक्त जहाज पर सवार होकर कई सौ भारतीय मई १९१४ में कनाडा गये थे। इनमे अधिकतर सिक्ख थे। नियमविरुद्ध यात्रा करने

के कारण उन्हें वहाँ की जमीन पर पैर रखने की आज्ञा न मिली। कनाडा से जहाज जापान आया। जापान सरकार से लिखा-पढ़ी करके भारत सरकार ने उसे अपने खर्च से भारत बुलवा लिया। २६ सितबर १६१४ को कलकत्ते के पास बजबज मे "पुलिस के साथ उसका जिस तरह बखेड़ा हो गया और जिसमे कई सिक्खो की जानें गयी उसका वृत्तान्त यहाँ लिखने की आवश्यकता नही।" सरकार ने इसकी जाँच करायी और जाँच-समिति की रिपोर्ट सरकारी मन्तव्य सहित प्रकाशित हुई। बहुत-से गिरफ्तार लोगों को छोड़ दिया गया और कुछ को छोडने के बारे मे आश्वासन दिया गया किन्तु कुछ लोगो को सरकार छोडना न चाहती थी। 'मर्यादा' की राय मे सबको छोड देना चाहिए था, इसलिए उसने लिखा, "एक दगे के सम्बन्ध मे गिरफ्तार व्यक्तियो मे से कुछ को छोड़ देने और कुछ को जेलखाने में बंद रखने की नीति मे कौन-सा लाभ सरकार ने सोचा है, यह तो उसी को मालूम होगा। कम-से-कम यह स्पष्ट है कि पंजाब के देशी अखबार सरकार की इस नीति से सन्तुष्ट नही। जब सरकार ने उनके अधिकाश साथियो को छोड दिया है और उदारतापूर्वक उन पर मुकदमा चलाने का विचार भी त्याग दिया है तब साधारण बुद्धि के आदमी को तो यही उचित मालूम पडेगा कि शेष व्यक्ति भी तुरन्त मुक्त कर दिये जायें और यथासम्भव शीघ्र ही इस अप्रिय काण्ड की इतिश्री हो।"

इसके बाद की टिप्पणी है 'जर्मन भूत'। यह बहुत दिलचस्प है। भारत पर अपना निरकुश शासन बनाये रखने के लिए किसी भी विदेशी शक्ति के आक्रमण का भय दिखाना अग्रेज़ों की कूटनीति की विशेषता थी। उनकी इस कूटनीति की बखिया उधेडते हुए 'मर्यादा' ने लिखा, "लड़ाई तो यूरोप मे हो रही है परन्तु जान पडता है कि जर्मनभूत कई हजार मील की छलांग मारकर हिन्दुस्थान के कुछ ऐंग्लो-इण्डियन पत्रों के सिरो पर नाचने लगे है। इनका यह मर्ज अगर बढता गया तो हमे भय है कि भारत सरकार को इनके इलाज की फ़िक्र करनी पड़ेगी। जैसे सावन के अधे को सब चीजें हरी-भरी और सब्ज़ ही जान पडती हैं, वैसे ही कुछ ऐंग्लो-इण्डियन पत्रों को संसार के सब प्रकार के कुचक्रों की रचनाओं मे जर्मनो ही का हाथ नज़र आता है।" प्रमाणस्वरूप 'पायनियर' अखबार के कार्यालय से प्रकाशित एक पुस्तिका का उल्लेख है। इसके अनुसार भारतवर्ष में असतोष, अराजकता आदि फैलाने मे जर्मनों का हाथ है। दिल्ली मे जो बम फेंका गया था, उसमें जर्मनी का हाथ था। भारतवासियों की राजभक्ति पर कीचड़ फेंकने वालों की निन्दा करते हुए 'मर्यादा' ने उनके इस प्रचार का उल्लेख किया कि "जर्मनी ने रुपये से भारतीय काग्रेस कमेटी की सहायता की, उसे स्वराज्य के निमित्त खडे होने के लिए उत्तेजित किया। इतना ही नही, यह भी कहा गया है कि वंगविच्छेद और स्वदेशी आदोलन के लिए भी जर्मनी से सहायता मिली थी। साधु-साधु! शायद इससे अधिक दूर जाने मे कल्पनाशक्ति असमर्थ थी।"

'वग-विच्छेद' का आशय है वंग-विच्छेद का विरोध जिससे स्वदेशी आन्दोलन सम्बद्ध हुआ। कोमागातामारू के लिए स्टेट्समैन ने यह प्रचार किया था कि जर्मनो की साजिश से सिक्खो ने इस जहाज़ पर बैठकर कनाडा जाने की ठानी

थी। पर वजबज की घटना को लेकर जाँच-समिति ने जो रिपोर्ट प्रकाशित की, उसमे जर्मनों को दोषी नही ठहराया गया।

युद्धकाल मे भारत की देशी फौज पर किसी भी तरह राष्ट्रीय भावना का असर न पड़े, इसके बारे मे अंग्रेज अधिकारी बहुत चौकन्ने रहते थे। इसका एक उदाहरण 'अभ्युदय' पत्र से सरकार द्वारा जमानत माँगे जाने का है। इस पत्र में एक लेख छपा था जो 'अभ्युदय' प्रेस के स्वामी मदनमोहन मालवीय के अनुसार "ब्रिटिश एफ्रीकन या हिन्दुस्थानी सिपाही की शिक्षा और उसके साथ होने वाले वर्ताव को सुधारने की ओर ध्यान दिलाता है, जिससे कि वे साम्राज्य की सेवा करने के लिए उच्चतम वीरता, साहस और सूझ के गुणों का सग्रह कर सकें और जो ऐसी प्रणाली के अवलम्बन किये जाने की सलाह देता है जिससे नि.सन्देह सम्राट् और साम्राज्य के प्रति उन सैनिकों की राजभक्ति बढ़े और गाढ़ी हो।" किन्तु सरकार के अनुसार वह लेख "हिन्दुस्थानी सिपाहियों को उनकी राजभक्ति से डिगाने और सम्राट् या ब्रिटिश भारत में न्याय मे स्थापित गवर्नमेन्ट के प्रति अप्रीति उत्पन्न करने की सम्भावना रख सकता है।" अभ्युदय प्रेस से 'अभ्युदय' के अलावा 'मर्यादा' का प्रकाशन होता था और एक अग्रेज़ी पत्र 'क्रूसीबिल' निकलता था। मदनमोहन मालवीय ने अपना जो वक्तव्य प्रकाशित कराया, उसमें जमानत माँगने की सूचना के बारे मे कहा कि "वह बिल्कुल अन्याययुक्त है और मैं अपने साथ न्याय करते हुए उसका पालन नही कर सकता।" विरोध रूप में उन्होंने ज़िला मजिस्ट्रेट को सूचना दी कि अभ्युदय प्रेस बन्द कर दिया जायेगा। संयुक्त प्रांत की सरकार ने मालवीयजी का यह आश्वासन स्वीकार किया कि 'अभ्युदय' का सचालन वह अपनी देख-रेख मे होने देंगे और उसने जमानत की माँग वापस ले ली। 'मर्यादा' और 'अभ्युदय' दोनों के सम्पादक कृष्णकान्त मालवीय थे। 'मर्यादा' विलम्ब से निकली, सम्पादकीय टिप्पणी मे इसका कारण बताया कि "प्रेस ऐक्ट की चपेट में आकर वह मूर्च्छित हो गयी थी।" फिर 'मर्यादा'-सम्पादक इस बात का पता लगाने चलते हैं कि इसके लिए दोषी कौन है। सरकार ने 'अभ्युदय' से जमानत न माँगकर प्रेस से जमानत माँगी। प्रेस के स्वामी ने जमानत देने से प्रेस को बन्द कर देना अच्छा समझा। इस कारण 'मर्यादा' प्रकाशित न हो सकी। इसलिए पाठक 'मर्यादा' को दोषी नही कह सकते। कुछ लोग कहेंगे दोष प्रेस ऐक्ट का है "जिसके कारण एक निरपराधी भी अपराधी की भाँति सज़ा का अधिकारी हो सकता है।" सम्पादक संयुक्त प्रान्त की सरकार को दोष नही दे सकता क्योंकि "हम जानते है कि शक्ति का हाथ मे होना इस बात की अपेक्षा करता है कि वह काम मे लाई जाए।" अंत मे निष्कर्ष यह निकला कि अपराधी है "हम और आप जिन्होने प्रेस ऐक्ट को जन्म लेने दिया। यह सत्य है कि उसका जन्म हम लोग रोक नही सकते थे, यह भी सत्य है कि हमारे दो नेताओं ने उसका विरोध किया था किन्तु इसके साथ-ही-साथ यह भी सत्य है कि प्रेस ऐक्ट के पास हो जाने पर भी पत्र निकलते रहे। यदि उस समय समस्त पत्र एक साथ बन्द हो गये होते तो फिर अब एक-एक करके उनके बन्द होने की नौबत न आती।" यह कड़वी टिप्पणी अगस्त १९१५ की 'मर्यादा' मे

छपी है। भारतीय पत्रकारों को अपने विचार प्रकाशित करने की कितनी स्वाधीनता थी, इसका अनुमान टिप्पणी के अन्तिम अंश से हो जायेगा। और इसमे भी आश्चर्य न होना चाहिए कि अंग्रेज़ 'अभ्युदय' सम्पादक के राजभक्ति-प्रदर्शन से प्रभावित न हो रहे थे। वे समझते थे कि राजभक्ति का दिखावा [illegible]लिए है कि पत्रकार प्रेस ऐक्ट की चपेट मे आने से बचे रहें। 'मर्यादा' के इसी अंक मे सम्पादक ने अंग्रेजों को याद दिलाया कि युद्ध में अपनी स्थिति के लिए इंग्लैण्ड को भारत का कृतज्ञ होना चाहिए। कारण यह कि यदि भारत से सेना न भेजी जा सकती, "यदि भारत की स्थिति भयावह होती और यहाँ से सेना का हटाना युक्तिसंगत न होता", तो अंग्रेज जर्मनो का मुकावला न कर पाते। यहाँ संकेत यह है कि युद्ध अभी समाप्त नही हुआ, भारत की स्थिति भयावह हो सकती है, तब यहाँ से बाहर सेना भेजना युक्तिसंगत न होगा। फिर जर्मनों से लडेगा कौन ? सम्पादक ने देशवासियों से कहा कि अभी अंग्रेज हमारी खूब तारीफ कर रहे हैं किन्तु यह सम्भव है कि लडाई खत्म होने पर वे कहने लगें कि इनमें शासन की योग्यता नही है, "ये पूर्व देश के वासी है जहाँ प्रजासत्ताक शासन की प्रणाली कभी फूली नही, फली नही और बहुत सोच-समझकर, जाँचकर इन्हे कोई अधिकार देना ही उचित होगा।" सम्पादक की आशंका निराधार नही थी। उसने जनता को सावधान किया : "इन चालों की काट के लिए हमें तैयारी पहिले से करनी चाहिए। अभी आन्दोलन का समय नही किन्तु साथ-ही-साथ इसका अर्थ यह भी नही है कि हम जनता को उस समय के आन्दोलन के लिए न तैयार करे।" जो व्यक्ति जनता को आन्दोलन के लिए तैयार होने की सीख दे रहा था, उसकी राजभक्ति अंग्रेज़ो की निगाह मे संदिग्ध हो, तो आश्चर्य नही।

'मर्यादा' के राजनीतिक दृष्टिकोण की एक विशेषता यह है कि प्रथम महायुद्ध के दौरान वह भारतीय जन-जागरण को एशिया के जन-जागरण का अंग मानती है। जुलाई १९१५ की 'मर्यादा' में 'एक विनीत देशभक्त' के नाम से किसी ने 'भारत की राष्ट्रीय उन्नति तथा स्त्रीजाति' शीर्षक लेख लिखा है। जन-जागरण में स्त्रियों को आगे बढ़कर हिस्सा लेना चाहिए, इस स्थापना के अलावा इस लेख मे कहा गया है, "वास्तव में यह भारतीय जागृति की लहर उस वृहत् एशियाई जागृति का एक अंग है जिसने सबसे पहिले आज लगभग ४५ वर्ष पूर्व जापान मे अपना वेग दिखलाना आरम्भ किया था।" भारत के जन-जागरण पर अनेक प्रकार के प्रभाव थे। जापान निर्बल राष्ट्र था, वह उन्नत राष्ट्रों की श्रेणी मे आ गया। १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध में "मदोद्धत यूरोपियन राष्ट्रों को पहिली बार इस आश्चर्यजनक एशियाई जागृति के चमत्कार का बोध हुआ।" यह स्वाभाविक था कि इस घटना का प्रभाव भारत पर पड़े। इसके साथ धीरे-धीरे "इस एशियाई उन्नति की तरगो ने चीन के निश्चल जलाशयो को भी हिलाना आरम्भ किया।" वहाँ १९१२ मे राज्य-क्रान्ति हुई। 'मर्यादा' ने उसके नेता सुनयात-सेन के बारे मे काफी सामग्री प्रकाशित की। रूढ़िवाद भारत तक सीमित नहीं है, एशिया मे सर्वत्र पुरानी रूढ़ियाँ तोड़कर स्त्रियो को आगे बढ़ना है, यह भाव लेख मे स्पष्ट व्यक्त हुआ है। लिखा है, "आजकल की राष्ट्रीय उन्नति के लिए और विशेषकर प्राचीनत्व को

मायारूपी वेड़ियों में जकड़ी हुई एशियाई जातियों के उद्धार के लिए जाति के प्रत्येक व्यक्ति मे उसके व्यक्तित्व के विकास होने का अवसर देना सबसे बड़ी आवश्यकता है।"

### (ङ) 'विक्रम' और 'प्रताप'

'राष्ट्र की आशा' नाम का लेख गणेशशंकर विद्यार्थी ने १९१४ मे लिखा था और वह 'विक्रम' मे प्रकाशित हुआ था। इसे पढ़ने से पता चलता है कि वह भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को एशिया के स्वाधीनता आंदोलन का एक अंग समझते थे। सबसे पहले जापान मे नवजागरण आरम्भ हुआ। उन्होने लिखा कि पचास वर्ष का जापानी इतिहास हर देशभक्त एशिया-निवासी को पढना चाहिये। उसके बाद चीन मे आदोलन आरम्भ हुआ। भारत मे भी नये जीवन का संचार हुआ। "यद्यपि इस नयी लहर को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा, यद्यपि हमारे अनेक अदूरदर्शी शासकों ने भ्रम में पड़कर नयी लहर और राजद्रोह को एक तक समझ डाला, और इसी से सरकार ने उस दमननीति का प्रयोग किया जिसकी भयंकर लपेट में पड़कर अनेक ऐसे निर्दोष सज्जनो को बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़े जो निज मातृभूमि के सच्चे भक्त होने के साथ-साथ मनुष्य जाति के सच्चे प्रेमी थे, तथापि जिस किसी के नेत्र खुले हुए हैं, वह इस बात मे तनिक भी संदेह नही कर सकता कि इन सात वर्षों के भीतर ही राष्ट्रीयता ने भारतवासियो के हृदय पर अपना अखंड शासन जमा दिया है। आज प्रत्येक शिक्षित भारतवासी चाहे वह नैतिक निर्बलता के कारण अपने कर्त्तव्यपालन से विमुख हो, तथापि इस बात को भली प्रकार समझता है कि भारत मे एक स्वतन्त्र, समृद्ध तथा सुसंगठित राष्ट्र की रचना करना उसके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।" (गणेशशंकर विद्यार्थी के श्रेष्ठ निबन्ध, दिल्ली, पृष्ठ २२)। इस निबन्ध मे उन्होंने विशेष रूप से नवयुवकों का ध्यान किसानों की निर्धनता की तरफ आकर्षित किया। पूछा, "तुम मे से कितने है जिन्हें इस बात का पता हो कि आये दिन के दुष्कालों मे इस उर्वरा भूमि के सहस्रों तथा लाखो निर्धन किसानो को प्रतिवर्ष अपने बच्चों का पेट पालने के लिए अपने पशु तक वधिक के हाथ बेचने पड़ते है ?"(उप. पृष्ठ २३)। इसी निबन्ध मे उन्होंने अछूतों की दुर्दशा पर भी ध्यान केन्द्रित किया। सात करोड़ से अधिक अछूत। "शताब्दियों के घोर अन्याय के कारण घृणित पशुओं के समान अपने दिन बिताकर तुम्हारे राष्ट्र-संगठन के कार्य को और भी दुष्कर बना रहे हैं।"(उप.)। जो लोग केवल प्राचीन भारत के गौरव-गीत गाकर संतुष्ट हो जाते है, उन्हे लक्ष्य करके उन्होने लिखा, "हमारे अनेक युवकों को प्राचीन भारत के विषय में उचित से अधिक डीग मारने की भी आदत है। किन्तु यदि तुम्हारे पूर्वज महान् थे, और हम स्वीकार करते हैं कि वे अनेक अंशों मे महान् थे, तो तुम्हारे लिए और भी अधिक लज्जा की बात है और तुम्हें और भी अधिक परिश्रम के साथ अपने देश की दशा को सुधारने पर तत्पर हो जाना चाहिए।" (उप. पृष्ठ २४)।

२२ फरवरी १९१५ के 'प्रताप' में विद्यार्थीजी का एक लेख छपा 'चीन में .

[illegible]

[illegible]

[illegible]

कदम पड़ते थे, पर देश के लाखों गाँवों मे उन्ही की तूती बोलती थी, जो उन्ही के थे, और उन्हें पता ही न लगता था कि कौन आया और कौन गया। परन्तु अंग्रेज़ी राज्य के स्थापित होते ही गाँवों की स्वाधीनता लोप हो चली। उन्हें मालूम हुआ कि हमारे हल्के सिरों पर शासको का जबर्दस्त लोहा पड़ गया है। पंचायतें टूट चली, और गाँवों की कभी न टूटने वाली शान्ति ने अपना बोरिया-बँधना सँभाला। जहाँ प्रजा-सत्ता आनन्द से विचरती थी, वहाँ स्वेच्छाचारिता का राज्य हुआ। कोयल के घोसले मे काक का निवास हुआ। चौकीदारों और पुलिसवालो ने सबको एक ही डण्डे से हांकना आरम्भ कर दिया। जहाँ प्यार और आदर के सूत्र से सब बँधे हुए थे, वहाँ स्वेच्छाचारिता की छत्रछाया मे विरोध और कलह, उत्पात और नालिशबाज़ी ने अपना रंग जमाया। बनावनाया खेल विगड़ गया और इस टूटी हुई अट्टालिका के सुधार या उसकी नीव पर दूसरी अट्टालिका का विचार भी उनके हृदयो मे न पैदा हुआ जिनके हाथों में विगडे हुओं के भाग्य की डोरी थी।" (उप., पृष्ठ ३८-३९)। विद्यार्थीजी ने जिसे प्रजासत्ता कहा है वह वर्गभेद से मुक्त नही थी। गाँव मे जो अटूट शान्ति दिखाई देती थी, वह भूस्वामी और भूमिहीन ग्राम-वासी का भेद छिपाये हुए थी। पर यह वात सही है कि मुगल शासनकाल मे राज्य-सत्ता इतना संगठित नही थी कि वह प्रत्येक गाँव के किसानो का आसानी से शोषण कर सके। सत्ता की रक्षा के लिए फौज की आवश्यकता बराबर रहती थी किन्तु उस समय सभी किसान निहत्थे नही थे और वे मुगल सेना का मुकाबला भी करते थे। मुगलो की अपेक्षा अंग्रेज़ों की राज्य-सत्ता अधिक संगठित थी। अब प्रत्येक गाँव शोषण के इस नए केन्द्र अंग्रेज़ी सरकार से जुड़ गया। ज़मीदारों और ताल्लुकदारों के कारण शोषण मे और बढ़ती हुई। सचमुच किसान के सिर पर गाज गिरी। अंग्रेज़ों ने पुरानी इमारत का नाश कर दिया किन्तु उन्होंने नयी इमारत के लिए नीव रखने का विचार भी मन मे न आने दिया। यह स्थिति का सही वर्णन है। गाँव तबाह होते गये। इस तबाही के बाद नया जीवन बिताने के लिए कही नये औद्योगिक केन्द्रो मे किसानों को आश्रय मिले, इसकी व्यवस्था नही के बराबर थी।

विद्यार्थीजी ने अंग्रेज़ी राज के अतिरिक्त किसानों पर अत्याचार करनेवाले ज़मीदारो आदि पर भी ध्यान दिया। उन्होंने लिखा है, "स्वेच्छाचारी शक्तिमान लोग गाँववालों पर अत्याचार करने, उन्हें धूल के बराबर समझने, उन्हे लड़ा मारने, उनकी कलह और मुकदमेवाज़ी से लाभ उठाने के पूरे अभ्यर्थी हो चुके हैं।" (उप., पृष्ठ ३९)। स्वेच्छाचारी शब्द के अन्तर्गत उन्होने अधिकारियों को भी रखा है। इन्हे दवाना बहुत कठिन है क्योकि सरकार इन अधिकारियों का पक्ष लेती है। निष्कर्ष यह निकलता है कि "जब तक देश के शासन में देशवालों का हाथ बहुत कुछ नही होता" (उप.), तब तक गाँवों की दशा नही सुधर सकती।

१६ जून १९१६ के प्रताप मे उन्होने एक लेख लिखा 'क्या लड़ाइयाँ बन्द हो जायेंगी ?' इसमें उन्होंने विस्तार मे बताया कि विज्ञान का उपयोग युद्ध के लिए निरन्तर किया जाता रहा है। लडाई के हथियार पहले की अपेक्षा अधिक घातक हो गये हैं किन्तु ऐसे हथियारों के बनने पर भी लड़ाई रुकती नही है। दो

उद्देश्य से वह रही है, साथ ही साथ निरंकुश शासकों को यह सन्देश दे रहा है कि चेतो या न चेतो, समय तुम्हारे विरुद्ध है, विवेक, मानवी सभ्यता, मनुष्योचित अधिकार, स्वतन्त्रता और समता इन सब बातों के विचार के साथ-साथ तुम्हारी स्थिति असंगत है और विरोधाभास के अलंकार सदृश है। युद्ध के आरम्भ के समय हमने कहा था कि इस युद्ध का भौतिक फल चाहे जो हो किन्तु इसका नैतिक प्रभाव यह होगा कि मानव-स्वतन्त्रता का अधिक विस्तार होगा, राजाओं की कमी होगी, समस्त अधिकार धीरे-धीरे प्रजा के हाथ मे होंगे।"

यहाँ जितनी बातें कही गयी हैं, लगभग सब-की-सब नवम्बर की समाजवादी क्रान्ति के बारे मे भी कही जा सकती है। फरवरी क्रान्ति को संसार का अभूतपूर्व परिवर्तन कहा गया है, वह प्रजाशक्ति की महान् विजय है, निरंकुश शासन का अन्त होगा, क्रान्ति का यह सन्देश है। स्वतन्त्रता के साथ समता की भी विजय हुई है। ये सब बातें समाजवादी क्रान्ति के लिए और भी सार्थक हैं। फरवरी क्रान्ति के सन्दर्भ मे वे कही गयी, इसमे समझना यह चाहिए कि लेखक ऐसी क्रान्ति की आशा कर रहा है जो संसार के लिए अभूतपूर्व हो, जो समय की गति ही बदल दे और स्वतन्त्रता के साथ समता का विस्तार करे। 'मर्यादा' के सम्पादकीय अनेक लोग लिखते थे और सम्पादकीय टिप्पणियों मे कही-कही दृष्टिकोण की भिन्नता भी दिखायी देती है। यह सम्पादकीय टिप्पणी शायद कृष्णकान्त मालवीय की लिखी हुई है। युद्ध के प्रति यहाँ दृष्टिकोण यह है कि इसका संचालन न्याय और जनतन्त्र की स्थापना के लिए हो रहा था और इसीलिए रूस में विप्लव हुआ। लेखक का यह विचार भी है कि न्याय और प्रेम के आधार पर जब तक सारे संसार मे एक ही सरकार का शासन नही होता, तब तक संसार मे युद्ध होते रहेंगे। लेखक के लिए मुख्य समस्या यह है कि भारत स्वाधीन होगा या नही और उसके साथ अन्य समस्या यह है कि ससार मे शान्ति कायम होगी या नही। राजनीतिक परिस्थितियो के विश्लेषण मे अनेक भ्रान्तियाँ है पर इसमे सन्देह नही कि भारत स्वाधीन हो, युद्ध बन्द हो, विश्वशान्ति कायम हो, यह कामना लेखक को प्रेरित करती है कि वह रूसी क्रान्ति का स्वागत करे।

विश्व-सरकार कायम होने मे कई शताब्दियाँ लग सकती है किन्तु लेखक को आशा है कि आगे चलकर संसार की समस्त जातियो की एक पार्लियामेण्ट होगी और स्थानीय शासन के लिए प्रत्येक देश की जातीय महासभा होगी। लेखक को आशा है कि जर्मनी रूस से पीछे न रहेगा, युद्धकाल मे या युद्ध के बाद वहाँ भी परिवर्तन होगा। इसके बाद आस्ट्रिया-हंगरी और यूनान मे प्रजातन्त्र की विजय होगी। उसका विचार है कि रूसी जाति युद्ध से घबराई नही है, उसने सन्धि करने के लिए विप्लव नही किया। विप्लव के बाद वह युद्ध मे सारी शक्ति लगा देगी। विप्लव से युद्ध-संचालन मे बाधा पड़ सकती थी किन्तु जब रूसी देशभक्त विप्लव की तैयारी कर रहे थे और उन्हें लगा कि युद्ध समाप्त होने के पहले ही कही उनकी सरकार सन्धि न कर ले, तब उन्होंने अपना इरादा बदल दिया। इसके बाद विप्लव का कारण बताते हुए लिखा है, "विप्लव का असली कारण अत्याचार, अन्याय, निरंकुश शासन, प्रजा के हाथ मे शक्ति का न होना, सब कानून अफसरो

की मुट्ठी में होना, देशभक्तों का, प्रजा के वकीलों का जेलो मे सड़ना और हर प्रकार से जकड़े रहना था।" तात्कालिक कारणों मे बताया है कि ज़ार ने जातीय महासभा को स्थगित रखने की अवधि बढ़ा दी और प्रजा भयानक अन्नकष्ट से पीड़ित थी। लेखक ने ध्यान दिलाया है कि विप्लव मे जर्मनी के शासक कैसर का हाथ भी था। वह रूस से अकेले सन्धि करना चाहता था किन्तु कैसर अपनी नीति मे सफल न हुआ क्योंकि रूस ने सन्धि न की। रासपुटीन और ज़ार की रानी के आपसी सम्बन्ध के कारण राज्य-संचालन मे बड़ी अव्यवस्था पैदा हुई। अन्त मे रासपुटीन की हत्या की गयी, फिर विप्लव हुआ।

आगे लिखा है, "अन्याय और अत्याचार बढ़ा। प्रजा के प्रतिनिधि दबाये गये और फलस्वरूप विप्लव हो गया। प्रजा, फौज और नौसेनावाले सब एक हो गये, मार-काट शुरू हो गयी, सरकारी महलों पर कब्जा किया गया, देशभक्त जो जेलों में सड़ रहे थे, इज्जत के साथ लाये गये। जेलखानों के द्वार खोल दिये गये। ज़ार सकुटुम्ब अलग किये गये, प्रजातन्त्र स्थापित हो गया और इस तरह से अन्याय, अत्याचार और निरंकुश शासन के संसार से विदा होने की दुन्दुभी बजायी गयी। राष्ट्रीय सभा का शीघ्र ही संगठन होगा, प्रत्येक मनुष्य को राष्ट्रीय सभा के चुनाव में वोट देने का अधिकार होगा।" लेखक ने भारत के लिए यह निष्कर्ष निकाला है, "जो लोग कहते है कि भारत मे शिक्षा नही, यहाँ प्रत्येक मनुष्य इस योग्य नही कि उमे वोट देने का, शासन मे भाग लेने का अधिकार दिया जाये, ज़रा रूस की दशा देखें और आँख खोलें। हमारे जो अंग्रेज राजनीतिज्ञ और यूरोपीय कूट-नीतिज्ञ यह कहा करते थे कि रूस अधिकतर पूर्वीय है, वहाँ के लिए स्वेच्छाचार और निरंकुश शासन ही उपयुक्त है, वहाँ प्रजासत्तात्मक राज्य की स्थापना स्वप्न मात्र है, आज प्रजा की शक्ति के महत्व को भी देख लें।"

भारतीय जनता राजनीतिक स्वाधीनता चाहती थी, राजनीतिक स्वाधीनता के साथ वह यह भी चाहती थी कि शासन मे जन-साधारण को भाग लेने का अवसर मिले। स्वाधीनता और जनतन्त्र के लिए उसकी यह उत्कट कामना 'मर्यादा' की टिप्पणी मे व्यक्त हुई है। इसके साथ ही अंग्रेज़ों ने मुख्यतः, और यूरुप के अन्य शासकों ने अंशतः, यूरुप को एशिया से अलग करते हुए यह प्रचार ज़ोरो से किया था कि सामाजिक विकास के नियम जिस तरह यूरुप पर लागू होते है, उस तरह एशिया पर नही। एशियाई समाज के विकास के नियम अलग है। इसी कारण जनतन्त्र का विकास यूरुप मे हुआ और एशिया मे निरंकुश सम्राटों का बोलबाला रहा। पश्चिमी यूरुप और इंग्लैण्ड के लोग, उनके शासक वर्ग और पिछलगुए बुद्धिजीवी रूस को एशियाई कहकर उससे घृणा करते थे। इस तरह के प्रचार को ध्यान मे रखते हुए इस टिप्पणी मे कहा गया है कि रूस मे प्रजासत्ता स्थापित हुई, इसलिए एशिया के अन्य देशों में भी निरंकुश राज्यसत्ता खत्म होगी।

विप्लव के बाद जर्मनी ने यदि तुरत रूस पर चढ़ाई कर दी तो रूसी सेना के हाथ-पैर फूल जायेंगे और युद्ध का अन्त हो जायेगा। यदि रूस को संगठित होने का थोड़ा समय मिल गया तो रूसी सेना जर्मनी का अन्त कर देगी। दोनों ही स्थितियों मे युद्ध का शीघ्र अन्त होना निश्चित है। विप्लव से संसार को जो शिक्षा

मिलेगी, उसका विवरण पढ़ने से विदित हो जाता है कि संग्राम का अर्थ साम्राज्यवाद है। लिखा है : "जो 'हम' के भक्त हैं, जो स्वार्थ के लिए, शक्ति के लिए, *आत्मसम्मान के लिए, बलदर्पी हों, दूसरों के सत्वों को अपहरण करना*, उनको पैरों तले रौंदना अपना सहज सत्व समझते हैं, जो अधिकारी होने से दूसरे के अधिकारों की तनिक भी परवाह नहीं करते, जो इस मसले :

वजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो,
ज़ुबाने खल्क को नक्कार-ए-खुदा समझो।

की सत्यता में विश्वास नहीं करते, प्रजा की आवाज़ को ईश्वरीय आज्ञा न समझकर उसको दबाना चाहते हैं, जबान बंद करने के लिए कानून बनाते हैं, प्रजा के प्रतिनिधियों को ज़ार के समान जेल में सड़ाते हैं, उनके लिए यह विप्लव विशेष प्रकार से उपदेशप्रद है।" इन शब्दों से पता चलता है कि संसार में जहाँ भी अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष होता था, वहाँ की जनता से भारतवासियों को गहरी सहानुभूति होती थी। इसी तरह फरवरी क्रान्ति से उन्हें अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ने की प्रेरणा मिली। लम्पट महात्मा प्रजा के विरुद्ध होंगे तो वे कुत्ते की मौत मरेंगे, यह बताने के बाद 'मर्यादा'-संपादक जनता से कहते हैं, "प्रजा को इस अटल सिद्धान्त—अत्याचार स्थायी नहीं हो सकता, संसार में सर्वश्रेष्ठ शक्ति प्रजा के हाथ में है और अन्त में उसी की विजय होगी है—में सदा विश्वास होना चाहिए। देशभक्तों को इस विप्लव से यह शिक्षा मिलती है कि साइबेरिया की बर्फ़ में जिनके लिए वह दुख उठाता है वे उसे नहीं भूलते और अवसर आते ही वे उसका आदर करते हैं। राज्य के विभीषणों को यह शिक्षा मिलती है कि तुम कितने ही शक्तिशाली क्यों न हो, तुम्हारे पापों का फल तुम्हें भोगना पड़ेगा, देश और देशभाइयों का विरोध कर कोई सुखी नहीं रह सकता।" अन्त में क्रान्ति का स्वागत करते हुए लिखा है कि रूस में "सार्वजनिक प्रकाश और स्वतन्त्रता का बाल-सूर्य उदित हुआ है, हम इसका स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि संसार के घोर अन्धकार को यह शीघ्र ही छिन्न-भिन्न करेगा।" इस वाक्य से यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि लेखक के लिए विभिन्न देशों के स्वाधीनता-आन्दोलन परस्पर सम्बद्ध हैं और एक का प्रभाव दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहता।

जून, १९१७ की 'मर्यादा' में रूस पर फिर एक सम्पादकीय टिप्पणी है। लेखक का विचार है कि रूस सम्भवतः जर्मनी से अलग सन्धि न करेगा। पर इसमें *उलट-फेर भी हो सकता है। जिस चीज़ में उलट-फेर न होगा वह राष्ट्रीय सिद्धान्त* है। लेखक के लिए साम्राज्य-विरोधी नीति सही राष्ट्रीय सिद्धान्त है और उसे विश्वास है रूस इसी नीति का पालन करेगा। इसलिए लिखा है, "वह किसी *अन्य* राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अपहरण न करेगा, वह किसी की भूमि पर कब्ज़ा न करेगा, साथ ही वह अन्य राष्ट्रों को अपनी आवश्यकता और इच्छा के अनुसार उन्नति करने देगा। साराश यह है कि सत्यमेव वह स्वतन्त्रता का पुजारी होगा। सभी स्वतन्त्रता के प्रेमियों की यही इच्छा है कि अपने उद्योग में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हो और स्वतन्त्रता और समता का नाम ले-लेकर अन्याय और अत्याचार का प्रचार करनेवाले उससे शिक्षा ग्रहण करें।"

लेखक के सामने अभी यह स्पष्ट नही है कि जहाँ पूँजीवाद होगा, वहाँ स्वतन्त्रता और समता के नाम पर अन्याय और अत्याचार का प्रचार ही होगा। किन्तु यदि निरंकुश ज़ारशाही के साथ पूंजीवाद भी समाप्त किया जाये तो उसे आपत्ति क्यों होगी ? राष्ट्रों के बीच जिस नीति का चलन होना चाहिए, वह यह है कि एक राष्ट्र दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे, अन्य राष्ट्रो को अपनी आवश्यकता और इच्छा के अनुसार उन्नति करने का अवसर मिले। यदि समाजवाद इस नीति पर चले तो स्पष्ट है कि 'मर्यादा' के सम्पादकीय-लेखक के समान सभी स्वाधीनता-प्रेमी उसका स्वागत करेंगे।

अगस्त, १९१७ की 'मर्यादा' के सम्पादकीय मे यूरुप के अनेक देशों के राजनीतिक आन्दोलन का उल्लेख है। जर्मनी के लिए कहा गया है कि वहाँ प्रजातन्त्र की विजय हो रही है। यदि कैसर ने इसका विरोध किया तो उसका हाल वही होगा जो ज़ार का हुआ है। लेखक की कामना है: "संसार मे कोई भी देश किसी ग़ैर के अधीन नही रहेगा। मानव-समाज उस दिन को शीघ्र ही निकट लानेवाला है जिस दिन कोई मनुष्य किसी ग़ैर के अधीन न होगा, सब राष्ट्रो पर उनके पुत्रों का ही अधिकार होगा और उन पुत्रों को अपने ही राष्ट्रों मे इतना काम रहेगा कि वे दूसरे राष्ट्रों का हड़प करना उचित न समझेंगे।"

नवम्बर, १९१७ की 'मर्यादा' में युद्ध, भारत और ब्रिटिश साम्राज्य की चर्चा है। आगे चलकर जैसे कांग्रेसी नेता अंग्रेज़ों से कहने लगे कि भारत स्वाधीन होता तो अंग्रेज़ों को युद्ध के संकट से उबार लेता, वैसे ही तर्क का आभास देते हुए टिप्पणी में कहा गया है कि अंग्रेज़ो ने भारत को आजाद कर दिया होता तो जर्मनी को युद्ध करने का साहस न होता और यदि वह युद्ध छेड़ता तो वह जल्दी ही समाप्त हो जाता। किन्तु भारत पराधीन है। युद्ध समाप्त होने को है पर स्थायी शान्ति बहुत दूर है। दूसरा महायुद्ध इससे अधिक भयानक होगा, क्योकि अनेक राष्ट्र पराधीन है। इस सन्दर्भ मे लेखक का कहना है, "आठ ही दस वर्षों के बाद दूसरा महाभारत होगा। वह इस महाभारत से कही बडा होगा और उसमे वे जातियाँ या राष्ट्र भी जो आज नाम मात्र को सम्मिलित या तटस्थ है, सम्मिलित होगे। यदि जैसा लोग समझ रहे है दूसरा महाभारत हुआ तो उस समय संसार की दशा आज से अधिक हीन होगी और उस युद्ध मे सभी साम्राज्यो के साथ-ही-साथ ब्रिटिश साम्राज्य का प्रश्न और भी भीषणता से उठेगा। उस दिन के लिए भारत को आज से तैयार रखने का उद्योग करना चाहिए।" अतः इंग्लैण्ड का स्वार्थ इसमे है कि वह भारत को स्वाधीन करे। संसार में परिवर्तन हो रहे है। रूस मे ज़ारशाही समाप्त हो गयी। "रूस ने राह दिखलायी, पुर्तगाल हाथ-पैर चला रहा है। देखें जर्मनी और आस्ट्रिया मे क्या होता है।"

रूस में क्या होने जा रहा है, इसका आभास तो लेखक को नही है किन्तु उसे यह पता है कि वहाँ पर भीषण मतभेद फैल रहा है। वहाँ जो दल प्रधान हो रहा है और अधिकारीवर्ग बन रहा है, वह सन्धि के पक्ष में है। जनता सन्धि की दुहाई दे रही है और रूसी फौज पीछे हट रही है। जर्मनी के लिए लिखा है, "स्वतन्त्र विचार वहाँ पर फैल रहे है, साम्यवादी वहाँ धीरे-धीरे शक्ति-लाभ कर रहे हैं।"

ऐसा लगता है कि यह टिप्पणी नवम्बर क्रान्ति से पहले लिखी गयी है। साम्यवादी विचारधारा का उल्लेख सहानुभूति के साथ किया गया है। लेखक ज़ारशाही के पतन को संसार के साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन की महत्वपूर्ण घटना मानता है। साधारण जनवादी और साम्यवादी दोनों तरह के लोग यह बात अच्छी तरह समझ रहे थे कि साम्राज्यवाद का अन्त किये बिना दूसरा विश्वयुद्ध अनिवार्य है। अंग्रेज़ों ने न्याय और जनतन्त्र के प्रेम का जो डंका बरसों तक पीटा था, उससे भारत के प्रगतिशील बुद्धिजीवी प्रभावित नहीं हुए। 'मर्यादा' के सम्पादक ने संकेत किया है कि भावी महायुद्ध के समय भारत अपनी स्वाधीनता के लिए कारगर प्रयत्न करे, इसके लिए उसे अभी से तैयारी करनी चाहिए।

## २. रूसी क्रान्ति के बाद—कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना से पहले

### (क) 'मर्यादा' और 'सरस्वती'

जनवरी, १९१८ की 'मर्यादा' मार्च में प्रकाशित हुई। इस समय सम्पादकीय विभाग में लक्ष्मीशंकर अवस्थी काम कर रहे थे। जुलाई १९१८ की 'मर्यादा' में उनकी मृत्यु का समाचार छपा। सितम्बर १९१८ की 'मर्यादा' में कृष्णकान्त मालवीय ने अपनी बीमारी के बारे में सूचना प्रकाशित की और लिखा कि सम्भव है, कुछ अंको मे वह सम्पादकीय टिप्पणी न लिख सकें। इन बातों की चर्चा यहाँ इसलिए की गई है कि 'मर्यादा' की स्थिति के बारे में पाठकों को जानकारी हो जाये। जिस तत्परता से फरवरी क्रान्ति पर टिप्पणी छापी गयी है, उसी तत्परता से नवम्बर क्रान्ति पर टिप्पणी प्रकाशित नहीं की गयी। इसका कारण सम्पादकीय विभाग के लोगो का स्वास्थ्य हो सकता है। दूसरा कारण यह भी सम्भव है कि नवम्बर क्रान्ति के बारे मे आवश्यक सूचना आसानी से न मिली हो। फरवरी क्रान्ति के बारे मे जितनी आसानी से सामग्री मिल सकती थी, उतनी आसानी से नवम्बर क्रान्ति के बारे मे न मिल सकती थी। जनवरी १९१८ की 'मर्यादा' में युद्ध पर टिप्पणी है। युद्ध से रूस त्रस्त हो गया है। वहाँ मतभेद और गड़बड़ है। रूस ने जर्मनी से युद्ध-विराम-सन्धि कर ली है। फिनलैण्ड स्वाधीन राज्य बन गया है। जापान ने साइबेरिया पर हमला किया है। उसका उद्देश्य रूस मे जर्मनी के अभियान को रोकना है। स्पष्ट ही लेखक को तथ्यो की सही जानकारी नहीं है किन्तु उसका दृष्टिकोण सही है जो इस वाक्य से प्रकट होता है कि "संसार में इस समय रणक्षेत्रों को बढाने की आवश्यकता नहीं है।"

जुलाई, १९१८ की 'मर्यादा' मे ज़ारशाही पर टिप्पणी है। ज़ारशाही के पतन के बाद रूस मे एक और बड़ा परिवर्तन हो गया है, इसकी जानकारी इस टिप्पणी मे नहीं है। जो लोग स्वाधीन हुए है, वे युद्ध के कारण स्वाधीन हुए है या युद्ध-विरोधी राजनीतिक आन्दोलनो के कारण, यह भी लेखक के लिए स्पष्ट नहीं है। फिर भी उसका साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी दृष्टिकोण साफ दिखायी देता है। ज़ारशाही के खँडहरों मे प्रजातन्त्र के महल की नींव पड चुकी है। यह बात राजनीतिक उन्नति का प्रमाण है। रूस सदा ज़ार और बड़े-बड़े ज़मींदारों से शासित होता आया था। ये सब "प्रजा के सत्वो को कुचलते और उसके साथ भेड़-

बकरियों का-सा व्यवहार करते थे।" ज़ार बड़ी निर्दयता से प्रजा को सताता था। उसकी पाशविक शक्ति से अन्य राष्ट्र त्रस्त रहते थे। "इस युद्ध ने निरंकुश शासन की जड़ खोद डाली है और साथ ही साथ रूसी प्रजा को सुशासन के पथ में ला बैठाला है। पोलैण्ड, फिनलैण्ड स्वतन्त्र होंगे और साइबेरिया मे भी अब सभ्यता के सूर्य की किरणें पहुँच सकेंगी।"

नवम्बर, १६१८ की 'मर्यादा' मे युद्ध के समाप्त होने पर टिप्पणी छपी है। इसमे कहा गया है कि मित्र दल की विजय हुई है और आशा है कि "अब संसार मे गरीब को अमीर, निर्बल को बली न सता सकेंगे, समस्त राष्ट्रों को स्वभाग्य-निर्णय का अवसर प्राप्त होगा और अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार वे संसार मे अपना स्थान प्राप्त कर सकेंगे।" इस आशा के पूरा होने में अनेक बाधाएँ है। युद्ध के बाद सन्धि हो जायेगी किन्तु इससे संसार को लाभ होगा अथवा नही, लेखक के लिए यह विचारणीय है। "इतने धन और जन के नष्ट होने का मूल्य स्थायी शान्ति, संसार से युद्ध का नामोनिशान उठा देना है और जब तक यह नही होता हम इस युद्ध को व्यर्थ ही का समझेंगे। जिन लोगो ने अपना रक्त बहाया है, उनकी सन्तान इस बात की गारण्टी चाहती है कि भविष्य मे फिर कभी उनसे यह काम न लिया जायेगा।"

स्थायी शान्ति की समस्या अब सामाजिक न्याय की समस्या से जुड़ गयी है। स्पष्ट ही इस टिप्पणी का लेखक साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित है। उसने लिखा है, "गरीब कह रहे हैं कि राष्ट्रो की कूटनीति की सफलता के लिए या महाराजाओं और श्रीमानो की श्रीवृद्धि के लिए हम अपना खून न बहावेंगे। वे कह रहे हैं कि पेट की ज्वाला बुझाने को सेना में हम नौकरी करते थे, अपनी गरीबी के कारण अपने भाइयों की हम हत्या करते थे, पेट के कारण हम अपने दयालु पिता के पुत्रों का—अपने भाइयों का—हनन करते थे। भविष्य मे हम ऐसा न करेंगे और न किसी को करने देंगे। ऐसा करना असम्भव हो जाये इसलिए वे चाहते है कि संसार से गरीबी उठ जाये, कोई इतना अमीर न हो कि अपने अमीरी के बोझ से वह किसी को अपनी इच्छा के अनुसार चलने पर विवश कर सके, साथ ही कोई ऐसा शक्तिशाली न हो कि केवल पाशविक शक्ति मे वह किसी को दबा सके। वे कहते है कि भूमि सरकार की अर्थात् प्रजा-समुदाय की होनी चाहिए, अर्थात् कोई जमीदार न हो, गरीब से गरीब मनुष्य के रहने के लिए गृह स्वच्छ, सुथरा, हवादार और वाटिकायुक्त होना चाहिए। बीमारी तथा बुढ़ापे के लिए सरकार की ओर से प्रबन्ध होना चाहिए।" स्त्रियों के लिए कहा गया है कि युद्ध के कारण उन्हें अपने पतियों और पुत्रों का नाश देखना पड़ता है, गृहस्थी का सत्यानाश हो जाता है। इसलिए उनकी मांग है कि युद्ध छेड़ने मे उनका हाथ भी होना चाहिए।

'मर्यादा' की यह टिप्पणी उसकी युद्ध और शान्ति वाली अन्य टिप्पणियों से बिलकुल भिन्न है। इसमें गरीब-अमीर का सवाल उठाया गया है। धनी लोग अपने स्वार्थ के लिए युद्ध कराते है और उनकी स्वार्थसिद्धि के लिए मारे जाते हैं गरीब आदमी। इसीलिए अब ये सैनिक, किसान, निर्धन जन मांग कर रहे हैं कि

हम युद्धों में मरने को तैयार नहीं हैं। संसार के सम्पत्तिशाली वर्गों पर नियन्त्रण रखना जरूरी है जिससे कि वे किसी को दबा न सकें। मुख्य समस्या किसानों की है। किसान चाहते हैं कि कोई जमींदार न हो, भूमि सरकार की हो अर्थात् प्रजा की हो। भूमि पर किसान का अधिकार होना चाहिए, यह बात तो और लोग भी कहते आये थे। नयी बात यह है कि भूमि "सरकार की अर्थात् प्रजा-समुदाय की होनी चाहिए।" यह अर्थात् बता रहा है कि लेखक की निगाह में ब्रिटिश सरकार नहीं वरन् एक नये ढंग की सरकार है जो प्रजा की सरकार है। इसीलिए ज़मीन पर सरकार के अधिकार का वही अर्थ है जो प्रजा-समुदाय के अधिकार का है। व्यक्तिगत अधिकार की जगह समुदाय के अधिकार की बात फिर इस बात का प्रमाण है कि लेखक साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित है।

जनवरी, १९१९ की 'मर्यादा' में 'सत्येन्द्र' (बेनीप्रसाद) ने 'मजदूरों के आन्दोलन' शीर्षक निबन्ध लिखा है। इस निबन्ध में औद्योगिक क्रान्ति, मजदूर आन्दोलन, समाजवादी विचारधारा के प्रसार का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। बताया है कि पहले इंग्लैण्ड में जमींदारी प्रथा (फ़्यूडलिज्म) का चलन था। यह प्रथा वहाँ से उठ गयी। किसानों से खेत छीनकर भेड़ चराने के लिए चरागाह बना लिये गये। इसका परिणाम यह हुआ है कि इंग्लैण्ड में एक भूमिहीन और धनहीन वर्ग का निर्माण हुआ। वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से १८वीं सदी के अन्त में धनिकों ने अपना मूल धन (कैपिटल) लगाकर जहाज़ और रेल बनाने और चलानेवाली कम्पनियाँ खोलीं, सूत और ऊन, लकड़ी और लोहा तथा शीशा आदि की चीजें बनाने के लिए कारखाने खोले। "उन्होंने हजारों, नहीं लाखों, मजदूर रक्खे। उन्होंने लाखों नहीं, करोड़ों-अरबों रुपयों का लाभ उठाया। यदि उनको मजदूर न मिलते तो वे हाथ पर हाथ रखे बैठे रहते, कुछ भी न कर सकते। अर्थ-शास्त्री रिकार्डो ने कहा है कि सम्पत्ति की उत्पत्ति का कारण मजदूरी है।" इस निबन्ध में सोशलिस्ट के लिए साम्यवादी और कम्युनिस्ट के लिए समष्टिवादी शब्दों का प्रयोग किया गया है। इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी के साम्यवादियों का हवाला देते हुए मार्क्स और लासाल का भी उल्लेख है। इन सब लोगों ने "ऋषियों और कवियों के से आवेश और भावुकता के साथ घोषणा की है कि सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले मजदूर ही हैं और इसलिए सम्पत्ति पर उन्हीं का अधिकार है।" यहाँ कवियों के से आवेश और भावुकता के उल्लेख से प्रतीत होता है कि लेखक यूरप के समाजवादियों की कुछ रचनाओं से परिचित था, उसने केवल समाजवाद का इतिहास पढ़कर यह लेख नहीं लिखा। इस निबन्ध में कहीं तटस्थता का अभिनय नहीं है। मजदूरों का पक्ष लेकर सारी बात जोरदार ढंग से कही गयी है।

आगे लिखा है: रिकार्डो के समालोचकों और साम्यवाद के विरोधियों का कहना था कि सम्पत्ति की उत्पत्ति में मजदूरी (अर्थात् श्रम) के अलावा मूलधन (अर्थात् पूँजी) और संगठन-शक्ति तथा प्रबन्ध-शक्ति का भी भाग है। समष्टिवादी और साम्यवादी इसका यह उत्तर देते हैं कि "बहुत ज्यादा मूलधन रखने का किसी को अधिकार नहीं है और यथोचित शिक्षा एवं अवसर प्राप्त होने पर मज़दूर स्वयं संगठन और प्रबन्ध कर सकते हैं।" फिर लेखक ने अपनी राय दी है, "खैर, कोई

भी समझदार आदमी इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि सम्पत्ति की उत्पत्ति में—अथवा स्पष्टार्थ यों कहिये कि कारखानों से जो आर्थिक लाभ होता है उसकी सम्पत्ति में—बहुत बड़ा भाग मजदूरों का है।" कल-कारखानों के स्वामियों ने मजदूरों की सहायता से अरबों रुपया कमाया पर लगभग सारे धन के स्वामी वे स्वयं ही बन बैठे। मजदूरों को जितना कम दे सकते थे, उतना ही दिया। "मजदूरों के स्वास्थ्य से उनको केवल इतना ही प्रयोजन था कि वे जैसे-तैसे उनकी मजदूरी करने योग्य बने रहें।" १८वीं सदी के अन्त में और १९वीं सदी के आरम्भ में इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति हुई। औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ यह है कि "घर पर हाथ से चीजें तैयार करने की प्रथा के बदले बड़े-बड़े पुतलीघरों में मशीन से चीजें बनाने की प्रथा का प्रचार हुआ।" मजदूर गरीब और अशिक्षित थे। उनका कोई संगठन न था। कारखानों में मजदूरों की दुर्दशा का विवरण लेख में विस्तार से दिया गया है। काम के घण्टे बहुत ज्यादा थे। पुरुषों के अलावा स्त्रियों से भी बुरी तरह काम लिया जाता था। बच्चों को भी मजदूरी करने के लिए बाध्य किया जाता था। कोड़ों से उन्हें मारा भी जाता था। मशीन से कटने-मरने पर मजदूर के परिवार की देखभाल का कोई प्रबन्ध न था। लोग मजदूरी करने को इस कारण बाध्य थे कि खेती के लिए उनके पास जमीन न थी। पुराने ढंग के छोटे कारखाने स्थापित करना व्यर्थ था क्योंकि सस्ता माल तैयार करने वाली मशीनों के सामने वे ठहर न सकते थे। मजदूरों ने कई जगह पुतलीघर नष्ट-भ्रष्ट कर डाले पर इससे पुतलीघरों की स्थापना न रुकी। पुतलीघरों ने सस्ता माल तैयार करके छोटे-छोटे कारखानों को धूल में मिला दिया। कुछ गरीब आदमी अमरीका गये किन्तु उद्योगपति वहाँ भी पहुँचे। यूरुप की तरह वहाँ उन्होंने पुतलीघर बनाये और उसी तरह मजदूर रखे। "निर्धनता—सम्पत्तिहीनता—का राज्य यहाँ भी था, वहाँ भी था। वहाँ बहुत ज्यादा था, यहाँ कुछ कम था।" औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम यह हुआ कि "गरीब आदमी तो और भी गरीब हो गये, उनके अंधकारमय जीवन और दुःखपूर्ण और अंधकारमय हो गये और धनी पुरुष और भी धनी हो गये। उनके विलासी जीवन और भी अधिक विलासी हो गये।"

इस स्थिति के परिणामस्वरूप दो तरह के आन्दोलन हुए। पहला आन्दोलन सहृदय विद्वानों का था जो मजदूरों की दशा सुधारना चाहते थे। दूसरा आन्दोलन स्वयं मजदूरों का था। इंग्लैण्ड के अनेक विचारकों में गोडविन का उल्लेख है। उनकी पुस्तक राजनैतिक न्याय ('पोलीटिकल जस्टिस') का सिद्धान्त यह था कि सम्पत्ति-विभाग की वर्तमान प्रणाली समाज के सब दुखों की जड़ है। १८२५ में ग्रे ने ओजस्वी भाषा में घोषणा की कि सारी सम्पत्ति का आधार मजदूरी है। उन्होंने प्रतिस्पर्धामूलक पद्धति को निन्दनीय बताया। इसके स्थान पर "समष्टि-मूलक समाज (Communistic Society) की स्थापना करनी चाहिए, जिसमें सब लोग प्रेमपूर्वक रहें और अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार सम्पत्ति का भोग करें।" १८३९ में जान फ्रान्सिस ग्रे ने मजदूरों की शिकायतें और मजदूरों के उपाय नामक पुस्तक में प्रतिपादित किया कि "कारखानों के स्वामी जो ढेर के ढेर रुपए जमा कर लेते हैं, वह एक प्रकार से लूट का माल है—मजदूरों के हक

को लूटकर ही तो यह रुपया जमा किया गया है।"

अपनी दशा सुधारने के लिए मजदूरों ने अपनी समितियाँ बनायीं। उ

वहाँ मजदूरों के प्रतिनिधि न थे, मजदूरों को सम्मति देने का [वोट देने
अधिकार न था। "वहाँ तो धनिकों के ही अधिकांश प्रतिनिधि बैठते थे।" १
मे पार्लियामेण्ट ने कम्बीनेशन ऐक्ट नाम का कानून बनाया और मजदूर
संगठन पर रोक लगायी। "प्रकाश रूप से समितियाँ तोड़ दी गयीं पर
स्थान पर बीसों गुप्त समितियाँ बन गयीं। मजदूरों के बहुत से नेताओं को
दण्ड दिये गये, पर उनके स्थान पर अन्य बहुत से नेता प्रकट हो ग
औद्योगिक क्रान्ति के बाद नगरों की जनसंख्या बढ़ी, उद्योग के केन्द्रों
नये नगर बने। "नगरों में रहने से मजदूरों की बुद्धि तीव्र हो रही थी,
मस्तिष्क में नये विचार प्रवेश कर रहे थे, उनके हृदय में नयी तरंगें उठ
थी।" शिक्षा और क्रान्ति के सम्बन्ध में लेखक का मत है, "कोरी निर्धनत
बड़ी-२ हलचलें नहीं उठतीं; क्रान्तियाँ (Revolutions) नहीं होती।
जब निर्धनता का संयोग शिक्षा और नये विचारों से—नयी उमंगों और
आदर्शों से—हो जाता है, तब बड़ी-२ हलचलें, बड़े-२ आन्दोलन अनिवा
जाते हैं। यदि इनका संयोग दूसरी ओर से दमन नीति से हो जावे तो क्र
अनिवार्य है।" पार्लियामेण्ट ने अपनी नीति बदली, मजदूरों के संगठ
पाबन्दियाँ हटायीं, उनकी दशा में कुछ सुधार हुआ। पर मजदूर इससे शान्
हुए। "उन्होंने अनुभव किया कि जब तक हमें राजनैतिक स्वत्व न मिलेंगे, तब
हमारे दुःख दूर न होंगे। राजनैतिक अधिकार मिलने पर तो हम स्वयं ही अ
शिकायतें दूर कर लेंगे।" इस तरह के विचारों का प्रसार यूरुप के अन्य देश
हुआ। अब इस बात की आवश्यकता हुई कि इन विचारों के अनुसार एक कार्य
स्थिर करके सब लोग आन्दोलन करें और अधिकार प्राप्त करें। "यह महान्
फ्रांस में लूई ब्लोक [ब्लाक] ने, जर्मनी में कार्ल मार्क्स, लेसेल [लासाल]
एजेन्स [एङ्गेल्स] ने और इंग्लैण्ड में चार्टिस्ट आन्दोलन के नेताओं तथा उ
उत्तराधिकारियों ने किया। इन लोगों ने सिद्ध किया कि जमीन पर किसी व्या
विशेष का या किसी वर्ग विशेष का, जैसे जमींदार आदि का, कोई अधिकार नह
सारी जमीन राज्य को—पूर्ण जनसत्तात्मक राज्य को (Completely Den
cratic State को)—अपने हाथ में ले लेनी चाहिए और लोगों को बहुत
सम भागों में जोतने-बोने और भोगने को दे देनी चाहिए। साम्यवादी (Soc
lists) यह नहीं कहते कि व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति (Private Property
land) की प्रथा उठा दी जाये, वह तो कहते हैं कि इने-गिने लोगों के हाथ
लेकर सब लोगों के हाथ में देने से व्यक्ति-सम्पत्ति का आधार अधिक दृढ़
न्यायसंगत हो जायेगा, वर्तमान प्रथा अधिकांश जनों को, मजदूर इत्यादि
भूमि-सम्पत्ति के भोग से वास्तव में वंचित रखती है और एक निकम्मे, आल

जमीदार वर्ग को उसके वास्तव भोग का एकमात्र स्वत्व देती है। यह अन्याय है, अत्याचार है।"

कुछ साम्यवादी कहते हैं कि जमींदारों की जायदाद जब्त कर लेनी चाहिए। अन्य साम्यवादी कहते हैं कि बदले में कुछ रुपया दे देंगे। सभी साम्यवादी चाहते हैं कि भूमि को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाया जाये। इसी तरह वे जहाजों और रेलों को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाना चाहते हैं। पुतलीघरों और महाजनी कोठियों के विषय में भी यही नीति है। इन्हें व्यक्तियों, कम्पनियों, वर्गों के हाथ से लेकर राष्ट्र की सम्पत्ति बना लेना चाहिए। साम्यवादी लोग सरकार को पूर्णत: जनसत्तात्मक बनाना चाहते हैं। पाश्चात्य देशों में एक दल ऐसा भी है जो शासनप्रथा को ही उड़ा देना चाहता है। इस दल को अराजक (अनार्किस्ट) कहते हैं। पहले इस मत का मजदूरों में काफी जोर था, पर अब इस दल के अनुयायी बहुत कम हैं। एक अन्य आन्दोलन है जो केन्द्रीय शासन नहीं चाहता, वह बहुत-सी छोटी-बड़ी समितियाँ (कम्यून) बनाना चाहता है। इनका आधार स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्त हैं। लेखक के अनुसार इस आन्दोलन के पक्षपातियों को समष्टिवादी (कम्युनिस्ट) कहते हैं। विचारशील पुरुष अराजकता के समान इसे भी व्यवहार-विपरीत मानते हैं। यूरुप के अधिकांश मजदूर अब न तो अराजक हैं और न समष्टिवादी हैं किन्तु साम्यवादी हैं। १९वीं सदी के आरम्भ में और मध्यकाल में साम्यवादी कहते थे कि हम बलवा करके राज्य पर अपना अधिकार जमा लेंगे और अपने सिद्धान्तों के अनुसार समाज का उद्धार करेंगे। इंग्लैण्ड में और विशेषकर फ्रांस और जर्मनी में इस तरह के प्रयत्न १८४८ में किये गये पर निष्फल हुए। लेखक का विचार है कि क्रान्ति से शासन का रूप बदला जा सकता है किन्तु परम्परागत सामाजिक संस्थाओं में स्थायी परिवर्तन लोकमत में शनैः-शनैः परिवर्तन और आदर्श की ओर पग धीरे-धीरे बढ़ाने से ही हो सकता है। यहाँ डारविन का हवाला दिया है कि सारे जन्तु, यहाँ तक कि मनुष्य भी, हजारों वर्ष के क्रमिक विकास से वर्तमान अवस्था तक पहुँचे हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर आदि ने सिद्ध किया कि मनुष्य की वर्तमान सामाजिक संस्थाएँ धीरे-धीरे विकसित हुई हैं। इस चिन्तन का परिणाम यह हुआ कि क्रान्तिवादी साम्यवाद का प्रभाव कम हो गया और विकासवादी साम्यवाद का युग आरम्भ हुआ। इसके बाद ही लिखा है, "मार्क्स ने घोषणा की—समाज का विकास इस ढंग से स्वयं ही हो रहा है कि अब साम्यवाद का युग आने वाला है। मार्क्स की घोषणा सर्वथा सत्य न निकली तथापि साम्यवाद की ओर धीरे-धीरे संसार अवश्य चलने लगा।" मजदूरों के संगठन मजबूत हुए। फ्रांस आदि अनेक देशों में हड़तालों की नीति बहुत लोकप्रिय है। मजदूरों में अनेक प्रकार की विचारधारा के लोग हैं। इनमें एक संघवादी (सिण्डीकेलिस्ट) दल है। इनके आदर्श-समाज में राष्ट्र की अपेक्षा मजदूरों का प्रभाव अधिक होगा।

यद्यपि मार्क्स के चिन्तन के बारे में, मार्क्सवाद और अराजकतावाद के भेद के बारे में, लेखक को भ्रांतियाँ हैं, फिर भी उसने रूसी क्रान्ति का उल्लेख सहानुभूति से किया है और संसार-भर के मजदूरों का संगठन करने की आवश्यकता पर बल

देते हुए इस संदर्भ में मार्क्स के प्रयत्नों का उल्लेख किया है। लिखा है, "यों तो प्रत्येक देश की मजदूर संस्थाएँ स्वतन्त्र हैं, पर स्वभावत: सब ही देशों के समान दु:खभागी और समान आकांक्षापूर्ण मजदूरों में परस्पर घनिष्ठ सहानुभूति है। यदि सब देशों के मजदूर मिलकर आन्दोलन करें तो उनकी सफलता अधिक शीघ्रता और अधिक सुगमतापूर्वक होगी। इसी से कोई १८६० से मजदूर-आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय रहा है। १८४७ में ही मार्क्स ने घोषणा की थी—'सब देशों के मजदूरो, एक हो जाओ।' १८६२ में मजदूरों की अन्तर्राष्ट्रीय समिति (The International Workingmen's Association) की स्थापना हुई। १८६४ में मार्क्स ने इसकी नियमावली बना दी। १८७३ तक बराबर भिन्न देशों में समिति के अधिवेशन हुए। पर आन्तरिक फूट के कारण १८७३ से १८८१ तक कोई अधिवेशन न हो सका। १८८१ से १९१४ के युद्ध के समय तक बराबर अधिवेशन होते रहे।"

इसके बाद यूरप में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। "१९१७ में रूस में मजदूरों, सिपाहियों और किसानों ने राज्य-क्रान्ति की। १९१८ में आस्ट्रिया-हंगरी और जर्मनी के बहुत से स्थानों में मजदूरों और किसानों ने अपनी सत्ता सी स्थापित की।" इन देशों के साम्यवादी आन्दोलन के क्या परिणाम होंगे, यह कोई नहीं कह सकता। "इस अत्यन्त रोचक विषय पर विचार करने के लिए इस लेख में स्थान नहीं है।" इसी तरह 'एक और अत्यन्त रोचक' विषय है; वह यह कि इन यूरोपियन और अमेरिकन आन्दोलनों का भारतवर्ष पर क्या प्रभाव पड़ेगा। "क्या यहाँ भी मजदूरों के अथवा किसानों के आन्दोलन उत्पन्न होंगे? यदि उत्पन्न होंगे तो वह क्या रूप धारण करेंगे? उनका आदर्श क्या होगा? जमींदार, पुतलीघरों के स्वामी, बड़े-२ व्यापारी, सरकार, शिक्षित भारत और अन्य लोग उन आन्दोलनों को कैसे भावों से देखेंगे? यह विषय अत्यन्त रोचक है। इस लेख में इन पर कुछ कहने के लिए स्थान नहीं है। पाठक स्वयं विचार कर लें।"

लेखक के लिए दो विषय अत्यन्त रोचक हैं, पहला यूरप का क्रान्तिकारी आन्दोलन जिसमें रूस की राज्यक्रान्ति भी शामिल है, दूसरा भारत में मजदूरों और किसानों के आन्दोलन की सम्भावना। लिखने के ढंग से स्पष्ट है कि वह भारत में भी किसानों और मजदूरों के आन्दोलन के पक्ष में है और उसने यह भी संकेत कर दिया है कि जमींदार और पुतलीघरों के स्वामी ऐसे आन्दोलन के पक्ष में न होंगे। 'मर्यादा' में अन्य लेख भी प्रकाशित हुए जिनमें इस तरह के आन्दोलनों की आवश्यकता अधिक स्पष्ट रूप में बतायी गयी। इस लेख का महत्व यह है कि इसमें इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति, वहाँ के और यूरप के मजदूर-आन्दोलनों, तथा विभिन्न समाजवादी विचारधाराओं का परिचय दिया गया है और सारी दुनिया के मजदूरों की एकता पर बल देने के साथ, रूसी-क्रान्ति का उल्लेख करने के बाद, भारतवासियों के सामने सीधा प्रश्न उपस्थित किया गया है कि यहाँ भी मजदूर और किसान संगठित होंगे या नहीं। देश में उस समय तक नरम-दली और गरम-दली जो भी राजनीति थी, उससे इस लेख का विचार-क्षितिज अधिक विस्तृत है।

'मर्यादा' के इसी अक में एक लम्बी शीर्षकहीन टिप्पणी छपी है जिसका सम्बन्ध आधुनिक साम्राज्यवाद से है। लेखक ने इस युग को 'साम्राज्य-संगठन (इम्पिरीयलिज्म)' का युग कहा है। बताया है कि वर्त्तमान यूरुप की स्थिति को समझने के लिए और यूरुप के भविष्य का अन्दाजा लगाने के लिए पिछले ३० वर्षों के इतिहास पर दृष्टि डालना आवश्यक है। "कारण यह है कि इन वर्षों मे उन सब राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियों का विकास हुआ है जिनकी प्रेरणा से यूरोपीय महायुद्ध का आरम्भ हुआ और जिनका प्रभाव बहुत दिनो तक यूरुप तथा ससार पर रहने की सम्भावना है।" लेखक के अनुसार यूरुप के इस युग का आरम्भ १८८५ से होता है। इस वर्ष यूरुप के राष्ट्रो मे साम्राज्य-स्थापना की उत्कट आकाक्षा उत्पन्न हुई। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका "लुटेरो के हाथो के बाहर था।" 'लुटेरो' शब्द साम्राज्य स्थापित करने वालो के लिए प्रयुक्त हुआ है। अमरीका उनके हाथो के बाहर इसलिए था कि संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति मनरो ने इसकी रक्षा का विज्ञापन बहुत पहले कर दिया था। यूरुप मे किसी राष्ट्र का दूसरे के प्रान्तो पर कब्जा करना कठिन था। बल-साम्य (बैलेन्स आफ पावर) के घट-बढ़ जाने का भय सबको था। "आस्ट्रेलिया इंग्लैण्ड के अधीन हो ही चुका था, इस कारण पृथ्वी पर केवल एशिया और अफरीका के दो महाद्वीप और प्रशान्त महासागर ही बँटवारे के लिए बाकी थे। इन्ही के बाँट लेने के लिए ऐंचातानी आरम्भ हुई।" सबसे पहले अफरीका का विभाजन हुआ। वहाँ हब्शी जातियाँ रहती है और "वे यूरोपीय सभ्य जातियो के मुकाबले मे अपनी रक्षा मे असमर्थ हैं।" अंग्रेजो ने मिस्र पर अधिकार किया। फ्रास ने मोरक्को, ट्यूनीशिया, पश्चिमोत्तरी अफरीका और मडागास्कर पर अधिकार किया। जर्मनी ने अफरीका के पूर्वी और पश्चिमी भाग और कैमरून पर, इटली ने पूर्वोत्तरी भाग पर और बेल्जियम ने कांगो पर अधिकार जमाया और "समस्त महाद्वीप यूरोपीय राष्ट्रो में बँट गया। जो भाग बचे, उन पर इटली और रूस की आँख लगी रही। रूस को कुछ सफलता न प्राप्त हुई किन्तु इटली ने ट्रिपली को तुर्कों से छीन लिया।"

महाद्वीपों के इस विभाजन में अंग्रेजो की स्थिति यह थी : "एशिया मे अंग्रेज हिन्दुस्तान के मालिक थे। इस घबराहट मे कि कही रूस अथवा फ्रास निकट के देशो पर अधिकारी न हो जायें, उन्होंने अफगानिस्तान, बलोचिस्तान, अरब के तट और फ़ारस की खाड़ी को पश्चिम दिशा मे और बर्मा को पूर्व मे अपने अधीन किया।" उधर रूस की स्थिति यह थी कि वह "मध्य एशिया मे बढते-बढते अफगानिस्तान की सरहद पर और पूर्व की ओर चीन और कोरिया तक आ पहुँचा।" फ्रास ने अनाम और टोन्किन पर अधिकार किया। एशिया में बच रहे चीन, ईरान और तुर्की। "इन तीनों को बाँटने के लिए यूरोपीय राष्ट्रो मे पिछले तीस वर्षो से बड़े प्रयत्न हो रहे है और महायुद्ध के अन्य कारणों में इन देशों के विभाग का झगड़ा भी एक महत्त्वशाली कारण है।" यहाँ बहुत स्पष्ट शब्दो मे इस बात का उल्लेख है कि दुनिया का बँटवारा करने के लिए महायुद्ध छेड़ा गया था।

लेख के अन्त में रौलट बिलों का उल्लेख करने के बाद भारत को लक्ष्य करके सम्पादक ने लिखा है, "भारतवासियो को कमर कसकर आन्दोलन के लिए खड़ा हो जाना चाहिए, शहर-शहर में ग्राम-ग्राम में सभायें होनी चाहिए, मानवी स्वत्वों की पुकार झोंपड़ों से उठनी चाहिए। किसान सभाओं, तहसील सभाओ, होमरूल लीगों, कांग्रेस कमेटियों का यह काम है, और उन्होने यदि अपना काम किया तो नेता लड़ते भी रहें तो हमारी जय होगी, विजय होगी और हमारे सामने संसार शिर झुकायेगा।"

अगस्त, १९१९ की 'मर्यादा' में बुखारिन के एक लेख का अनुवाद छपा है 'कम्यूनिज्म (समसत्वता) की स्थापना कैसे हो?' मैं नहीं कह सकता कि इससे पहले किसी रूसी मार्क्सवादी का लेख हिन्दी मे छपा है या नहीं। जहाँ तक ज्ञात है, यह इस तरह का पहला लेख है जो हिन्दी मे प्रकाशित हुआ है। बुखारिन रूसी क्रान्ति के प्रमुख नेता और लेनिन के सहयोगी थे। आगे चलकर उन्होंने गलत राजनीति अपनायी और उन्हे मृत्युदण्ड दिया गया, इससे १९१७ में उनकी भूमिका का महत्व कम नहीं हो जाता। रूसी क्रान्ति को अभी दो वर्ष पूरे न हुए थे और उसके एक नेता का लेख हिन्दी मे छपा, यह घटना असाधारण महत्व की है। इससे विदित होता है कि 'मर्यादा' के सम्पादक और लेखक रूसी क्रान्ति और समाजवाद के बारे मे जानकारी प्राप्त करने के लिए कितने उत्सुक थे। बुखारिन के लेख की मान्यताओं की आवृत्ति यहाँ अनावश्यक है। इतना कहना पर्याप्त है कि इसमे श्रमिक जनता को राज्य-सत्ता पर अधिकार करना चाहिए, इस पर बल है। इसके साथ ही क्राति में बल-प्रयोग होता है, इसका यहाँ स्पष्ट प्रतिपादन है। अराजकवादियों, मैनशेविकों आदि से बोल्शेविक किस बात मे भिन्न थे, इसके बारे में भी जानकारी दी गयी है।

अगस्त, १९१९ की 'मर्यादा' में 'बोल्शेविज्म का प्रचार' शीर्षक टिप्पणी छपी है। अब तक भारत में रूस-सम्बन्धी काफी सामग्री मिलने लगी थी। रूस में गृह-युद्ध छिड़ा हुआ था। हिन्दी लेखक भारत के अन्य प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के समान इस बात की ओर ध्यान दे रहे थे कि रूस को नये समाज के निर्माण के लिए अवसर मिलता है या नहीं। भारत मे बोल्शेविक और बोल्शेविज्म शब्द काफी लोकप्रिय हो गये थे। लेखक ने बताया है कि बोल्शेविज्म का प्रचार बराबर बढ़ रहा है और रूस में इसकी जड़ भलीभाँति जम चुकी है। वहाँ का शासन और देश-प्रबन्ध बोल्शेविकों के हाथ मे है। जनरल कोल्चक और देनीकिन लगभग परास्त हो चुके है। ये लोग बोल्शेविकों से लड रहे थे और अंग्रेज उनकी मदद कर रहे थे। अंग्रेजों ने वहाँ से अपनी फौजें वापस बुलाने का निश्चय कर लिया है। यूरुप के अन्य देशों मे भी परिवर्तन हो रहे है। हँगरी मे लेनिन के शिष्य बेला कुन ने बोल्शेविक शासन स्थापित कर लिया है। समाचार मिला है कि हँगरी से बोल्शेविक फौजें आस्ट्रिया भेजी गयी हैं और ये वहाँ पर बोल्शेविक शासन स्थापित करेंगी। रूमानिया आदि मे बोल्शेविक शासन कायम हो रहा है, बालकन रियासतों में बोल्शेविज्म फैल रहा है। इटली मे किसानों और मजदूरों को सर्व-प्रधान बनाने का आन्दोलन आरम्भ हो गया है। बोल्शेविज्म के विश्वव्यापी

प्रभाव और प्रसार के बारे में लिखा है, "संसार के प्राय. सभी देशों में बोल्शेविज्म के प्रेमियों और सहायकों की संख्या बढ़ती जाती है। और वे वर्तमान सरकारों को उलट बोल्शेविक शासन प्रचलित करना चाहते हैं। इस काम में सबसे आगे जर्मनी है। आश्चर्य नहीं जो कुछ ही मास में वहाँ बोल्शेविक शासन स्थापित हो जाये। फ्रांस और इंग्लैण्ड में भी इसी उद्देश्य से बड़ी-बड़ी हड़तालें की जा रही हैं। अमरीका, जापान आदि में भी यही हवा पहुँच गयी है।"

विभिन्न देशों में नये राजनीतिक आन्दोलनों का विहंगावलोकन करने के बाद लेखक ने बोल्शेविज्म की सफलता को सम्भव माना है और यह विश्वास प्रकट किया है कि "अब सर्वसाधारण अन्याय, अत्याचार, असमानता, पराधीनता, स्वार्थपूर्ण युद्धों, राजनीतिक कूट चालों आदि बातों से बहुत ऊब गये हैं, और उनकी इच्छा है कि उनके स्थान में अब संसार में न्याय, समानता, स्वाधीनता, स्वतन्त्रता आदि का प्रचार हो।" स्थायी शान्ति और स्वाधीनता के साथ सामाजिक न्याय की माँग, जनशक्ति में विश्वास, उसकी विजय की सम्भावना की स्वीकृति, ये बातें इस टिप्पणी की विशेषता हैं।

सितम्बर, १९१९ की 'मर्यादा' में बोल्शेविज्म पर फिर एक टिप्पणी है। इसमें कहा गया है कि पश्चिमी संसार बोल्शेविकों और उनके विरोधियों में बँट गया है। बोल्शेविक समाजवादी क्रान्तिकारी (रिवौल्यूशनरी सोशल डेमोक्रैट) हैं। वे चाहते हैं कि राष्ट्र की सम्पत्ति पर जनता का अधिकार हो। राज्यसत्ता के बारे में उनका विचार यह है: "सरकार का संगठन किसानों और मजदूरों द्वारा किया जाना चाहिए, और शासन सम्बन्धी सम्पूर्ण सत्ता सामान्य लोगों के हाथ में होनी चाहिए।" पुराने ढंग के समाजवादी यह नहीं चाहते, वे धनी लोगों और बादशाहों की मदद करते थे। बोल्शेविक लोग धनीवर्गों द्वारा छेड़े हुए युद्ध का विरोध करते हैं। इस कारण "कानून, शान्ति, सम्पत्ति, प्रचलित नीति और धर्म की शक्तियाँ उसका [बोल्शेविज्म का] विरोध कर रही हैं। इस समय मनुष्य जाति प्रसवावस्था में है। एक बड़ा विचार उत्पन्न हुआ है और माँ को उसके फलस्वरूप अवश्य कष्ट उठाना पड़ेगा।" लेखक का कहना है कि किसी भी विचार को जड़ जमाने में समय लगता है। बोल्शेविज्म की जड़ जम चुकी है। उसके मार्ग में जो बाधाएँ हैं, उनसे निराश होने की जरूरत नहीं है। अभी उसका प्रसार केवल रूस में हुआ है, इसलिए उसकी रक्षा का भार भी रूस पर है। उसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि संसार सबके लिए है, जो उसके मालिक बने हुए हैं, उनके लिए नहीं है। थोड़े से आदमी अधिकांश जन-समुदाय पर शासन करें, यह अस्वाभाविक है। बोल्शेविज्म रंग, धर्म, जाति आदि के भेद नहीं मानता। उसके शत्रु "बड़ी-बड़ी जायदादों के मालिक, शक्तिशाली व्यक्ति, भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रचारक, निरंकुश शासक, सेठ-साहूकार और वेतनभोगी पादरी लोग हैं; कहते हैं कि बोल्शेविज्म एक प्रकार का राक्षस है।" यदि गरीब आदमी बोल्शेविज्म का विरोध करते हैं तो या तो वे अज्ञानी हैं या अपने शासकों को खुश करना चाहते हैं या वे पैसा लेकर ऐसा काम करते हैं। सभी देशों में इस सिद्धान्त का प्रचार हो रहा है कि शासनशक्ति सर्वसाधारण के हाथ में रहनी चाहिए। यही बोल्शेविज्म का मूल

सिद्धान्त है। लेखक को विश्वास है कि "इसकी उत्पत्ति संसार में कायम रहने, जीवित रहने, फलने-फूलने और दीर्घकाल तक शासन करने के लिए हुई है।"

एशिया और अफरीका की पराधीन जनता से लेखक ने विशेष प्रकार से प्रार्थना की है कि वे बोल्शेविक-विरोधी प्रचार से सावधान रहें। टिप्पणी समाप्त करते हुए उसने लिखा है, "अन्त मे अधिकाररहित, उत्तराधिकारशून्य, दीनहीन एशिया और अफरीका वालो से एक बात कहनी है। वह यह कि बोल्शेविज़्म के अभ्युदय, उन्नति से उनको किसी प्रकार की हानि नही पहुँच सकती चाहे वे इसके अनुसार चल सकने में असमर्थ हो, चाहे अपनी राजनैतिक स्थिति के कारण वे इससे लाभ उठा सकने के आयोग्य हों, पर उन लोगों के बहकाने में आकर—जिन्होने उनके समस्त मानवीय अधिकार छीन लिये है और जो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उनके अज्ञान और निर्बलता की वृद्धि करते रहे है —इसका विरोध करना कदापि समीचीन नही।" रोचक तथ्य यह है कि बीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे सोवियत संघ के सन्दर्भ मे मानवीय अधिकारों की चर्चा बहुत हुई है। यह चर्चा उतनी ही पुरानी है जितनी रूस की समाजवादी क्रान्ति। एशिया और अफरीका के लोग यह बात याद रखेंगे कि उनके मानवीय अधिकार छीनने का काम यूरुप और इंग्लैण्ड के साम्राज्यवादियो ने किया था।

उसी अंक मे रूसी किसानों पर रमाशकर अवस्थी की टिप्पणी है। रूस मे सारी भूमि सरकार की है, इसके साथ ही खेतों पर किसानों का निजी अधिकार भी है। इन दोनों बातों का उल्लेख साथ-साथ इस प्रकार किया गया है, "रूस के किसानों को अब अपनी शक्ति भर जोत या बो सकने योग्य भूमि रख सकने की पूरी स्वाधीनता है। सारे देश की भूमि पर राष्ट्रीय सरकार का कब्जा है।" रूसी किसानों में जो नया जागरण हुआ है, उसका परिणाम यह है कि "रूसी किसान ससार की नयी रचना में अपनी शक्तियाँ खर्च कर रहा है।"

उक्त लेख मे बताया गया है कि साम्यवाद को व्यावहारिक रूप देने वाले नेता का नाम लेनिन है। वह केवल मजदूरो के नेता नही, समस्त रूसी जनता के नेता हैं। लिखा है : "मोशिये लेनिन यद्यपि मजदूर दल का नेता था पर उसका प्रभाव समस्त रूसी जनता पर समान भाव से व्याप्त है। ससार के इतिहास मे उसका नाम सोने के अक्षरो मे लिखा जायेगा। 'साम्यवाद' को उसने अत्यन्त व्यापक तथा व्यावहारिक रूप दिया। और यह व्यापक रूप इस समय सारे संसार में 'बोल्शेविज़्म' के नाम से विख्यात है।" लेनिन के जीवन-काल में उनके बारे में इस तरह के उल्लेख यह सिद्ध करते है कि अग्रेजो का सोवियत-विरोधी प्रचार लगभग व्यर्थ हो रहा था।

सितम्बर, १९१९ की 'मर्यादा' मे 'मजदूर ससार' शीर्षक लेख 'प्रताप' से उद्धृत किया गया है। अमरीका के वाशिंगटन नगर मे श्रमजीवियों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होनेवाला था। उसका उल्लेख करते हुए भारत के मज़दूरो की दशा का वर्णन किया गया है। मजदूरों को बहुत ज्यादा समय काम करना पड़ता है, मजदूरी कम मिलती है। मज़दूर गन्दे और तंग स्थानों मे रहते है, बाल-बच्चों का पालन नही कर पाते, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध नहीं है, "पिस-पिसकर किसी प्रकार पेट पालते

है, और अन्त में अधिक परिश्रम से जर्जरित होकर विश्राम और
कमी से जल्दी कमजोर हो जाते, और वक्त के पहले ही मर जाते
और सरकार की नीति यह है, "धनी कहते है कि मजदूरों के साथ
हो तो काम न हो। सरकार उनकी हां मे हा मिलाती है।" इस प
व्यंग्य करते हुए लिखा, "हम भी कहते है कि हमारे मजदूर पशु है,
वने हुए आते है, कारखानो मे पिस-पिसकर वे पशु हो जाते हैं और
की स्वार्थपरता और सरकार की लापरवाही से उन्हे मनुष्य वनने
प्राप्त नही होता।" अन्त मे 'प्रताप' ने लिखा कि भारतीय पूंजीपति
कम करने का सवाल उठने पर चिन्तित हो जाते है किन्तु संसार भ
जिस समय अपनी दशा सुधारने के लिए आन्दोलन कर रहे है, "उस स
वर्ग के मजदूरों के साथ इस प्रकार का असभ्य व्यवहार वहुत दिनो तक
रह सकता।"

इसी अंक मे 'मर्यादा' ने अपनी ओर से टिप्पणी लिखी 'धनी और म
भीपण संघर्षण'। इसमे धनी वर्ग और मजदूरो के विश्वव्यापी संघर्ष का
किया गया है। सम्पादक के अनुसार "इस समय ससार के सामने एक वड
प्रश्न यह उपस्थित है कि सब तरह के कामो मे प्रधानता धनियों की रहे या
की, अथवा वर्तमान समय का धनी-निर्धन का भेद रहने दिया जाये या
मजदूर, निर्धन लोग चाहते है कि, संसार मे से धनी-निर्धन का भेद लोप हो
सब लोग एक समान हो जाये, और सब प्रकार के अधिकार साधारण, म
श्रेणीवालों के पास रहे।" धनी लोग चाहते है कि ससार की वर्तमान दशा
ही बनी रहे, जैसे अभी सारी शक्ति उनके हाथ मे है, वैसी ही बनी रहे। कु
समय पूर्व तक मजदूर लोग कुछ कर सकने मे असमर्थ थे, "पर रूस मे बोलशेविज
ने उत्पन्न होकर यह अवस्था एक प्रकार से बिल्कुल बदल दी।" अब वहाँ सेठ
साहूकारो से अधिकार छीनकर किसानो और मजदूरो को दिया गया। वड़े-वड़े
कारखाने, कम्पनियां, वैंक राष्ट्र की सम्पत्ति बना दिये गये। "यह सब देख अन्य
देशो के श्रमजीवियो की आँखें भी खुली और वे भी अपने यहाँ इस प्रकार के
सुधार करके सुखी रहने का विचार करने लगे। देखते-देखते यह आन्दोलन समस्त
यूरोप मे फैल गया, और वर्तमान लक्षणो से जान पड़ता है कि कुछ समय मे यह
सारे ससार मे फैल जायेगा।" यह दशा देखकर धनी वर्ग को चिन्ता हुई। शासन-
शक्ति मजदूरों के हाथ मे न जाये, इसके लिए उसने मजदूरो का विरोध करना
शुरू किया। इस विरोध का एक रूप यह है, "मित्र शक्तियों और उनके साथी
रोमानिया ने हंगरी की वोलशेविक सरकार उलट दी।" ब्रिटिश सरकार का
वोल्शेविको से विरोध है। ब्रिटिश सेना ने जल युद्ध किया। अफवाह है कि
वोल्शेविक सरकार परास्त कर दी गयी। पर दूसरा समाचार यह है कि
वोल्शेविक अभी खूब लड़ रहे हैं। इसलिए "रूस सम्बन्धी समाचार पूर्णरूप से सत्य
नही हैं।" इग्लैण्ड की सरकार ऊपर से कहती है कि रूस मे हस्तक्षेप न करेगी,
फिर भी वह वोल्शेविकों मे युद्ध करती जा रही है। वर्तमान स्थिति को देखकर
लगता है कि धनियो के हाथ से मजदूर अधिकार न ले पायेंगे, "पर सूक्ष्म दृष्टि से

देखने पर जान पड़ता है कि यह दशा सामयिक है। चाहे अभी कुछ समय तक धनी लोग ही प्रधान बने रहें, चाहे वे मजदूरों को, सर्वसाधारण को दवा दें, पर अन्त में न्याय, सत्य ही की विजय होगी।"

'मर्यादा' के इसी अंक में 'स्वदेश' पत्र से एक टिप्पणी उद्धृत की गयी है। इसमें मार्क्स के ग्रन्थ 'पूंजी' का परिचय देते हुए कहा गया है, "इतिहास के अध्ययन ने कार्ल मार्क्स को यह दिखलाया है कि संसार में लुटेरों और लूटे जानेवालों का

पर साधारण लोग सबसे उच्च स्थान पर हैं और अमीर गुलाम बना दिये गये हैं।"

अप्रैल, १९१९ की 'सरस्वती' में 'रूस का राष्ट्र विप्लव' नाम से श्यामाचरण राय का लेख प्रकाशित हुआ। श्यामाचरण राय इतिहास और राजनीति के विद्वान्, वृन्दावनलाल वर्मा के निकट सम्बन्धी थे; संभव है झांसी में द्विवेदीजी से कभी मिले हों। उनसे ऐसा लेख लिखा कर छापना द्विवेदीजी के सम्पादन-कौशल का नमूना है। इसमें सोवियतों का परिचय दिया गया है। मजदूरों और किसानों की सभाएँ सोवियत हैं। सैनिकों की सोवियतें भी हैं। इन सोवियत सभाओं ने सारा राज्य-कार्य अपने हाथ में ले लिया है। वहाँ प्रत्येक मनुष्य को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है, परन्तु "दूसरों की मेहनत पर लाभ उठानेवाले, ब्याज पर निर्वाह करनेवाले और राजघरानों के मनुष्य इस मत देने के अधिकार से वंचित किये गये हैं।" बोल्शेविकों का परिचय देते हुए लिखा है, "उनका कहना है कि सम्पत्ति किसी एक मनुष्य की नहीं है, किन्तु समाज की है। किसी भी मनुष्य को उसके उपभोग करने का कोई अधिकार नहीं है। मनुष्य केवल इतना ही पाने का अधिकारी है जितना कि वह समाजोन्नति के लिए कार्य करता है। यदि कोई मनुष्य समाज के लिए कोई काम नहीं करता तो उसे सम्पत्ति का उपभोग करने का भी अधिकार नहीं है।" युद्ध और शान्ति के बारे में बोल्शेविक नीति का परिचय देते हुए लिखा है, "बोल्शेविक लोग शान्ति करके रूस की आन्तरिक दशा सुधारना चाहते हैं। इससे उन्होंने सब लड़नेवाले देशों को सन्धि कर लेने और पराजित राष्ट्रों से हर्जा न लेने और उनका देश वापस कर देने की सलाह की। प्रत्येक देश से जनता को स्वभाग्यनिर्णय का अधिकार देने की प्रार्थना की।" रूस की तत्कालीन कठिनाइयों और भविष्य में उसके विकास के बारे में लिखा है, "देश की आर्थिक दशा अभी नहीं सुधरी है, राज्य-प्रबन्ध सुधरने से आर्थिक दशा भी अवश्य सुधर जायेगी। इस नयी शासन प्रथा में रूस में स्वतन्त्रता का राज्य है। प्रत्येक मनुष्य को स्वभाग्यनिर्णय का अधिकार है। आर्थिक दशा सुधर जाने पर विस्तीर्ण भूमि, बड़ी जनसंख्या और स्वाभाविक वैचित्र्यवाला रूस देश पृथ्वी के देशों में यदि सबसे अधिक बलवान और वैभवशाली हो जाये तो आश्चर्य नहीं।" उस समय जो लोग समाजवादी विचारधारा के समर्थक थे, रूस की समाजवादी क्रान्ति से जिन्हें गहरी सहानुभूति थी, वे भी रूस के भविष्य के बारे में इतने आश्वस्त न थे। १९१९ में श्यामाचरण राय ने जो भविष्यवाणी की थी, वह जनशक्ति में उनकी दृढ़ आस्था

है।

दिसम्बर, १९१९ की 'मर्यादा' मे रमाशंकर अवस्थी का लेख 'रूसी मज़दू आगामी आदर्श' प्रकाशित हुआ। इसमे बताया गया है कि रूसी क्रान्ति के तीन मु स्तम्भ थे : किसान, मज़दूर और सैनिक। रूसी मजदूरो ने केवल अपनी तनख्व बढ़वाने के लिए क्रान्ति मे भाग नही लिया। उनका लक्ष्य राजनीतिक था। इस प्रका संसार के इतिहास मे यह पहली घटना है जब मजदूरो ने "केवल राजनैतिक स्वत्वं के लिए इस विकट क्रान्ति में भाग लिया।" अन्य देशों के मज़दूर वेतन और घण्टो के ऊपर सिर खपाते रहे किन्तु रूसी मज़दूरो ने "सच्ची स्वाधीनता, लोकसत्ता और व्यावहारिक साम्यवाद की उपासना की है।" रूसी मज़दूर सदा से ऐसे नही रहे। उन्होने पहले वेतन और घण्टो के लिए हडताले की। उन्हें दबाया गया किन्तु वे बराबर बढ़ते गये। वर्तमान संसार की स्थिति यह है कि संसार मे दो दल बन गये है, एक तो पूंजीवाले और दूसरे मज़दूर। "पूंजीवाले या कोठीवाले अपने स्वार्थ के लिए मज़दूरों से खूब कसकर काम कराना चाहते है। उधर मज़दूर लोग मिलों के असीम मुनाफे से गुलछर्रे उड़ानेवाले, मोटरो और गाडियो पर निश्चिन्त रूप से मौजें मारनेवाले धनिकों की कठोरता से अपनी मुक्ति चाह रहे है। इसी मुक्ति का नाम लोकसत्ता, फैक्ट्री शासन, साम्यवाद, राष्ट्रीयकरण अथवा एक अंश मे बोल्शेविज़्म है।" रूस मे सैनिको को यह अधिकार मिला कि वे पलटनो मे स्वयं शासक-कमेटियाँ बना लें, किसानो मे भूमि बाँट दी गयी, मिलो पर राष्ट्रीय सरकार का कब्जा हो गया। १९१८ के पहले साम्यवाद एक काल्पनिक सिद्धान्त था किन्तु लेनिन ने "साम्यवाद को बोल्शेविज़्म के रूप मे व्यावहारिक क्रिया मे परिणित कर दिया।" रूसी मज़दूर अब निरकुश और अत्याचारी मालिकों के लिए काम नही करते। सब लोग अपनी सरकार के आप नौकर हैं। "गाड़ी चल निकली है। गति मे यथेष्ट सफलता दीख पड़ती है। जो लोग इस गति की खोज मे थे, वे आगे बढ़ रहे हैं। अब दो-चार धुरन्धर कूटनीतिज्ञों की शक्तियाँ इस गति को नही रोक सकती। रूसी मज़दूरों ने ससार के सामने जीता-जागता आदर्श रख दिया है और भविष्य बड़ी विकट हँसी हँसता हुआ यूरोप की तरफ देख रहा है।"

(ख) 'विक्रम' और 'प्रताप'

२१ जनवरी, १९१८ के 'प्रताप' मे 'गरीबो का कष्ट' शीर्षक लेख छपा। युद्ध के कारण दैनिक व्यवहार की चीजें महँगी होती जा रही हैं। महँगी सभी चीजें हुई है, पर अन्न, नमक, तेल और कपडा ऐसी चीजें हैं जिनके बिना किसी का गुजारा नही होता। बगाल मे कुछ लोगों ने लूटमार शुरू कर दी। विद्यार्थीजी इन्हें लुटेरों से अलग करते हुए कहते है, "जिनके पेट क्षुधा से जल रहे हो, और जिनके शरीर नंगे होंगे, उनकी छीना-झपटी कर बैठने पर सुख चैन से दिन बिताते हुए ईमानदारी का उपदेश देना एक ऐसी ज़बर्दस्त ठगी और बदमाशी है जिसको कभी माफ नहीं किया जा सकता।" (श्रेष्ठ निबन्ध, पृष्ठ ७०)। जिन चीजों को ढोने के लिए वाहन नही मिलते, उनका महँगा होना समझ में आता है, पर घरों के किराये भी बढ़ाये जा रहे हैं ? गरीब आदमी की मुसीबत बढ़ती जाती है। युद्ध के बाद भी

इस कष्ट का अन्त न होगा। "यूरोप के देश गला काटने के सामान बनाने में भिड़े हुए है, शरीर के पोषण के सामान बनाने की ओर ये ध्यान ही नही दे सकते। युद्ध के पश्चात् ही कुछ समय तक जब तक कि वे अपने घर को ठीक-ठीक सम्हाल न लेंगे तब तक बाहर ही के अन्न और अन्य सामग्रियों पर अपने दिन गुजारेंगे। इधर जब तक युद्ध है, तब तक भारत में अधिकाश लोग युद्ध के सामान के बनाने और जुटाने मे ही लगे रहेंगे और रेल और जहाज भी इन्हीं कामों मे लगे रहेंगे। और युद्ध के पश्चात् भी, उस समय तक, जब तक सेनायें और उनके लगुए-भगुए अपने-अपने स्थान पर नही पहुँचा दिये जाते, तब तक रेल और जहाज देश में सामग्रियों को उचित रूप से पहुँचाने में सहायक नही हो सकेंगे।"(उप., पृष्ठ ७१)।

अंग्रेज शान्ति और जनतन्त्र की रक्षा के लिए युद्ध कर रहे हैं, भारत के प्रगतिशील बुद्धिजीवियो पर इस प्रचार का कोई असर न हो रहा था। वे अपने लेखो मे बता रहे थे कि युद्ध के कारण निर्धन आदमियो का कष्ट बढ़ता जा रहा है। युद्ध का प्रभाव गरीबों पर ही सबसे ज्यादा पड़ता है, यूरुप के देश जो कष्ट उठा रहे हैं, उसकी तुलना में पराधीन देशो का कष्ट बहुत अधिक है। लिखा है, "यूरुपवाले कष्ट उठा रहे है परन्तु उनका कष्ट हमारे कष्ट के समान नही है। वे जानते थे कि यह कष्ट होगा। हम नही जानते थे कि हमारे सिर पर भी यह आफत आयेगी। वे अमीर है, बहुत कुछ सह सकते है। हम अत्यन्त गरीब है, तनिक-से-तनिक आर्थिक कष्ट से हमारे प्राणो पर आ बनती है।" (उप., पृष्ठ ७२)। युद्ध की यह आलोचना वास्तव मे साम्राज्यवादी व्यवस्था की आलोचना है। भारतीय जनता की स्वाधीन होने की आकाक्षा उसकी शान्ति कामना से जुडी हुई थी।

इसी वर्ष 'विक्रम' में 'कर्मक्षेत्र' नाम से उनका लेख प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने ससार में नयी चेतना की लहर का वर्णन किया है। "पुरानी जड़ें उखड़ गयी, नयी नीवों को पानी मिला। महल ढह गये। झोपड़ियों पर कगूरे लगे। सिरों पर चलनेवाले पैरो को पृथ्वी का परिचय प्राप्त करना पडा और धूल झाड़नेवाली शिखाओं ने स्वाधीन वायु का अभिवादन किया। पराधीनो को स्वाधीनता का सन्देश मिला और निरकुशो को सयम का। पददलित ऊपर उठे। स्वतन्त्र वायुमण्डल मे वे भी श्वास ले सके। (उप., पृष्ठ ७६)। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन किस प्रकार विश्वव्यापी क्रान्ति की लहर से जुड़ा हुआ था, इसका बहुत अच्छा निदर्शन इन वाक्यो मे है। राजनीतिक स्वाधीनता के अतिरिक्त यहाँ महलों के ढहने और झोपड़ियों पर कँगूरे लगने की बात कही गयी है। इससे सकेत मिलता है कि भारतीय लेखक स्वाधीनता के साथ सामाजिक न्याय की माँग भी कर रहे थे। विद्यार्थीजी ने लिखा था कि जनता चाहती है, व्यापारिक लूट बन्द हो, कोई किसी को पराधीन न बनाये, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रो पर अत्याचार न करे। विशेष रूप से किसानों को लक्ष्य करके कहते है, "करोडो आदमियो का मनुष्यत्व थोड़े से आदमियों की विलासिता की वेदी पर बलि हो रहा है। शताब्दियों तक दीन-हीन किसान विलासिता के इस मच के सामने बेदर्दी से कुर्बान होता रहा। अब ससार के अनेक अंचलों मे किसान, और सभी अंचलो में मजदूर, इस क्रूर सिंहासन

जबर्दस्ती और लूटमार, यही बोल्शेविकों के अस्त्र हैं।

बोल्शेविकों का समर्थन करनेवाला पक्ष दूसरी बातें कहता है। "विलायत के मज़दूर पक्ष के पत्र बहुधा उस पक्ष की बातें प्रकाशित करते रहते है। बोल्शेविको को धनवानों और ज़मीदारो के विरोधी होने से इंकार नही। वे कहते है कि समाज को इनकी आवश्यकता भी नही। जो लोग हाथ या दिमाग से मेहनत करके देश का उत्पादन नही बढ़ाते, उन्हें देश के शासन और सगठन के काम में कोई भी स्थान नहीं मिलना चाहिए। संसार की वर्तमान शासन प्रणाली को वे अत्यन्त दूषित कहते है। वे कहते हैं कि जो लोग अपने परिश्रम से देश को पालते-पोसते है, उनके पूरे विकास के लिए यह आवश्यक है कि देश के प्रवन्ध में उनका पूरा हक हो और यह तभी हो सकता है जब कि सोवियत शासन-प्रणाली से काम लिया जाये, अर्थात् जबकि मज़दूरो, किसानो आदि श्रमजीवी आदमियों की पंचायतें ही अपने-अपने स्थान का सब प्रकार का प्रबन्ध आप कर लें और देशभर का प्रबन्ध-सम्बन्धी काम इन पचायतों के प्रतिनिधियों की सभा करे। वे कहते हैं कि स्त्रियो और पुरुषो के समान हक है, स्त्रियाँ बाँटी नही जातीं, विरोधियों ने इस प्रकार की बातें फैलायी है। वे कहते है, रूस में अशान्ति नही, अत्याचार नही, रक्तपात नही, ज़ार के समय की अपेक्षा इस समय कही अच्छा प्रबन्ध है, दरिद्रता और अकाल है, परन्तु वह बोल्शेविज्म के कारण नही, वह इस कारण है कि मित्र राष्ट्र रूस को घेरे पडे है, उसे सामान नही मिलने देते; उसे भूखों मारना चाहते है।" (उप.)।

दोनो पक्षो की बातें प्रस्तुत करने के बाद विद्यार्थीजी कहते है कि उन जैसे लोग घटनास्थल मे बहुत दूर है, इसलिए निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि किस पक्ष की कितनी बातें ठीक है। "परन्तु इसमे किसी को कोई सन्देह नही हो सकता कि बोल्शेविज्म साधारण भावोद्रेक नही है, संसार के इतिहास मे उसका स्थान रहेगा और ससार के अनेक देश उसके भावी प्रभाव से किसी प्रकार भी न बच सकेंगे। जहाँ तक उसके सिद्धान्तों की बात है, वहाँ तक तो यह कहा जा सकता है कि वे बुरे नही हैं, और यद्यपि घटनाओं [धनवानो] और ज़मीदारों को विशेष स्थान नही देते, परन्तु अन्य आदमियो को, जिनकी सख्या प्रत्येक देश में बहुत अधिक होती है और जो दरिद्रता और कष्ट के शिकार हुआ करते है, कीडे के स्थान से उठाकर वे मनुष्य का स्थान देते है। व्यक्तिगत सम्पत्ति राष्ट्रीय सम्पत्ति का रूप पाती है और परिश्रम को सम्मान का पद मिलता है।" (उप., पृष्ठ ९९-१००)। विद्यार्थीजी कहते है कि इस तरह की बातें एकदम नयी नहीं है किन्तु पहले उनसे लोग इतना विचलित न होते थे। इसका एक कारण यह है कि "जो बाते पहले दार्शनिक ढग मे बहसो मे ही समाप्त हो जानेवाली समझी जाती थी, वे इस समय कार्य का रूप धारण कर रही है।" दूसरा कारण यह है कि ये बातें पूरी उग्रता से कार्यरूप धारण कर रही है; "यह बाढ आगे आनेवाले वृक्षों को जड से उखाड़-कर फेंकती जा रही है।" तीसरा कारण शासन-प्रणाली की विशेषता है और इस प्रणाली का प्रभाव अन्य देशों पर पड़ रहा है। "वर्तमान ससार के बड़े-बड़े धन-वानो और ज़मीदारों, व्यापारियों और कोठीवालो को उसमे कोई स्थान नही।

यदि रूस ही तक यह बात रहती तो भी यूरुप वाले शायद न बिगड़ते। बिगड़ा हुआ रूस तो अकेले यूरुप में ही नही, अमेरिका और एशिया तक में यह विष फैला रहा है। रूस के धनहीन लोग संसारभर के शक्तिशाली और धनवान आदमियो की श्री और सत्ता का अन्त कर देने के लिए कटिबद्ध है। ससार के शक्तिशाली समुदाय इस प्रकार अपना विनाश चुपचाप कैसे देखें? इसलिए बोल्शेविज्म रोकने की वडी तैयारियाँ हो रही है। हमारे खयाल से इन तैयारियों से कोई लाभ न होगा।" (उप.)।

विद्यार्थीजी बोल्शेविज्म के सिद्धान्तो के प्रति सहानुभूति प्रकट करते है। रूस मे हस्तक्षेप बन्द कर दिया जाये तो बोल्शेविक अपना घर सँभालने में लग जायेंगे। रूसी जनता सोवियत सरकार ही चाहती है तो भी हस्तक्षेप न करना चाहिए। अच्छी चीज है तो चल जायेगी, बुरी है तो टूट जायेगी। जो लोग बोल्शेविज्म का प्रसार रोकना चाहते है, उनके लिए उचित है कि संसार से गरीबी दूर करें; "एक ओर मुट्ठी भर आदमी बेतरह अमीर न हो और दूसरी ओर असख्यो आदमी खाने-पीने और ओढ़ने-पहनने के लिए न तरसें।" यदि ऐसा नही होता तो "ससार देखेगा कि मनुष्यों की रक्त की नदी मे बडी-बडी क्रान्तियाँ उतराती और बहती जा रही है।" (उप. पृष्ठ १०१)। इससे पूर्ण शान्ति स्थापित न होगी। वह हिंसात्मक क्रान्ति के पक्षधर नही है किन्तु शान्तिपूर्वक संसार की गरीबी दूर हो जायेगी, यह विश्वास भी उन्हें नही है।

९ फरवरी १९२० के 'प्रताप' मे उन्होने फिर एक लेख लिखा 'बोल्शेविक खतरा'। जो लोग बोल्शेविकों का विरोध करते हैं, कहते है कि उनका कोई ठीक संगठन नही है, वे भी मानते है कि उनके सिद्धान्तों मे आकर्षण का बड़ा भारी खतरा है, उनके मोहजाल में मध्य एशिया के पड़ जाने का भय है। सरकार कहती है कि वह भारतवर्ष में बोल्शेविज्म का प्रचार रोकने के लिए कुछ कर रही है। क्या कर रही है, उसने नही बताया। "हमारा अनुमान यह है कि इस विषय में सैनिक शक्ति दृढ की जा रही होगी और शायद उसे बढाया भी जा रहा हो। विलायत के 'टाइम्स' पत्र ने कहा भी था कि भारतीय सीमा पर सैनिक बल बढाया जा रहा है।" (उप. पृष्ठ १०३)। यह सम्भव है कि अंग्रेजों की सैनिक शक्ति बोल्शेविकों को रोक ले किन्तु बोल्शेविज्म के सिपाही भले कमजोर हों, उनका प्रचार बहुत आकर्षक है। "उसमें बल है और वह प्रत्येक देश के अगणित लोगो को अपनी ओर खींच लेने की प्रबल शक्ति रखता है। जो लोग जोश और पक्षपात छोड़कर संसार के इस उबाल पर विचार करेंगे, वे कदापि इस बात को स्वीकार न कर सकेंगे कि बोल्शेविज्म सत्वशून्य कालप्रवाह मात्र है। समाजो और देशो के वर्षों के संस्कारों और कुकृत्यों के कारण संसार की निम्न श्रेणियाँ अपने प्रति साधु और न्याययुक्त व्यवहार किये जाने की आशा से इतनी निराश हो गयी हैं कि उन्होंने जोर के साथ सिमटकर ऊपरवालो के विरोध के लिए उन्हें कुचल डालने के लिए, कमर कस ली है। इस समय वे अपना भीषण कटुता से भरा हुआ खेल खेल रही हैं। वे बुरी हैं या भली, यथार्थ में संसार के सामने यह प्रश्न नही है। प्रश्न तो यह है कि जो उलट-पुलट हो रही है, उसके

कारण गहरे है या थोथे ? यदि वे थोथे है तो कुछ काल के बाद ही चलने वाली हवा का चलचलाव हो जायेगा। यदि वे गहरे हैं तो पक्षपात और उत्तेजना को विसर्जित करके, काम करने वाली शक्तियों को चाहिए कि वे अपना दिल और दिमाग़ वर्तमान बातों के समझने और आगामी पहेलियां को शान्ति के साथ सुलझाने के लिए तैयार करें।" (उप. पृष्ठ १०३-०४)। वह चाहते है कि बोल्शेविज्म की छूत पवित्र भारत देश को न लगे किन्तु वह सावधान करते हैं कि सुन्दर अभिलाषाएँ केवल सुन्दर होने से सफल नही होती। "हमें सत्य बात से इकार न करना चाहिए कि हमारे देश मे विषमता का राज्य जोरों पर है।" (उप. पृष्ठ १०४)। बोल्शेविज्म मिट जायेगा इसकी सम्भावना कम है, पर यह आवश्यक है कि "इस देश में गोरे और काले का भेद कम पड़ जायें, ज़मीदार किसानो को अपना भक्ष्य न समझें, और व्यापारी व्यापार को केवल मोटे होने और नफाबाज़ी का साधन।" (उप.)। यदि यह सब हो जायं तो बोल्शेविज्म का प्रभाव भारत पर न पड़ेगा। किन्तु यदि न हुआ, तो लेख की ध्वनि यह है कि बोल्शेविज्म के प्रसार को कोई न रोक सकेगा।

स्वाधीनता आन्दोलन की प्रगति के साथ भारतीय समाज में अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध उभरकर सामने आये। जो लोग स्वराज्य चाहते थे किन्तु इसके लिए अंग्रेज़ों का भरोसा करते थे,वे एक ओर हो गए। दूसरी ओर वे लोग थे जो अंग्रेज़ो से संघर्ष करके अधिकार पाना चाहते थे। यद्यपि यह सघर्ष अहिंसात्मक था, फिर भी संघर्ष था। इन दोनों तरह के लोगों के बीच फासला बढ़ा। मुख्य बात यह थी कि देश की साधारण जनता के नजदीक कौन अधिक है। इस सदर्भ मे गणेशशकर विद्यार्थी ने लिखा, "आज वर्ष भर पहले स्वराजी लोग देश के साधारण आदमी के जितने पास थे, आज उससे कही अधिक दूर है। जो लक्षण है, उससे मालूम पड़ता है कि यह अन्तर बढ़ता ही जायेगा। वे जनता से दूर पड़ते जायेंगे। आज उनकी तादाद जितनी नज़र आती है, देश के शरीर से अलग कट जाने के कारण उनकी तादाद उतनी भी न रह जायेगी। अन्त मे स्वराज्य दल शिक्षितो और धनवानों का एक साधारण दल रह जायेगा। उस ओर उसका झुकाव भी स्पष्ट रूप से है। इस प्रकार के आदमी किसी बड़े परिवर्तन के लिए तैयार नही होते। बड़ी उथल-पुथल से वे डरते है। वे चाहते हैं कि वर्तमान शासन मे कोई गहरा धक्का न लगे क्योकि उन्हें यह डर लगता है कि यदि ऐसा हुआ तो हमारी छोटी-सी नैया की ख़ैरियत नही। स्वराजियो की यह अवस्था उनमे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट और अग्रेज़ जाति की ओर लौ लगाने की इच्छा को बढ़ायेगी और देश की अनन्त शक्तियों की ओर से उनका चित्त और भी हटायेगी।" (उप. पृष्ठ १२४)।

विद्यार्थीजो ने ये बाते 'स्वराज्य किसके लिए' शीर्षक निबन्ध मे लिखी थीं जो १४ जुलाई १९२४ के प्रताप में प्रकाशित हुआ था। इसमे उन्होने नरमदली नेताओं मे उथल-पुथल के प्रति जो भय दिखाया है, वह काग्रेस के भीतर भी काफ़ी बड़े पैमाने पर व्याप्त था। वर्तमान शासन को कोई गहरा धक्का न लगे, यह बात उस समय अंग्रेज़ी शासन के लिए कही गयी थी। अब वही बात पूंजीवादी शासन के सन्दर्भ में फिर कही जा सकती है। विद्यार्थीजी ने स्वराज्य की जो व्याख्या की

है, वह पूंजीवादी जनतन्त्र की सीमाओं को लांघ जाती है। वर्तमानकाल में उनका लेखन कितना प्रासंगिक है, यह इन वाक्यों से प्रकट होगा। "देश मे जो स्वराज्य होगा, वह होगा किसी छोटे-मोटे समुदाय का नही, धनवानों और शिक्षितों का नहीं, वह होगा साधारण से साधारण आदमी तक का। संसारभर की शासनपद्धति इस समय उलट-पुलट रही है। व्यक्ति को समान अधिकार कागजों पर दिये गये हैं, परन्तु कुलीनो, धनवानों और शिक्षितों के गुट करोडों आदमियों को दाबे बैठे हैं। साधारण व्यक्ति अपनी हीन अवस्था को अनुभव कर रहा है। वह कहता है कि कागज़ के इन अक्षरों का कोई मूल्य नही, समान अधिकार है तो आगे बढने के लिए भी समान अवसर दो। इस युग मे केवल भारतवर्ष के करोड़ों नर-नारियों के ललाट ही पर ये शब्द अकिन नही कि जब आज़ाद होगे, तब तुम्ही गुलाम बने रहोगे, तुम्हारे ही यहाँ मुट्ठी भर आदमी कभी गोरे और कभी भूरे—तुम्हारे भाग्य-विधाता बने रहेंगे, तुम्हारी राह मे रोड़े अटकायेंगे और तुम्हें अज्ञान और अंधकार मे रखेंगे। यदि सचमुच इस देश के भाग्य मे यही बदा है, तो हम यही कहेंगे, हमें स्वराज्य नही चाहिए, हमारे करोड़ो भाई यदि गुलामी के बन्धन में जकड़े हुए हैं, यदि वे अज्ञान और अन्धकार मे पड़े हैं, यदि उन्हें पेट भर खाने को नही मिलता और पहनने भर को कपड़ा, यदि उन्हें रहने के लिए जगह नही मिलती और चलने के लिए राह, तो उस दिशा की ओर, जिधर हमारे इने-गिने आदमी सुख से समय बिताते है और प्रभुता के अधिकारी बने हुए है, उधर हम अपना मुँह भी नही करना चाहते।" (उप. पृष्ठ १२४-२५)।

विद्यार्थीजी ने यहाँ पूंजीवादी जनतन्त्र की तीखी आलोचना की है। हिन्दी लेखकों में पूंजीवादी जनतन्त्र की ऐसी ही आलोचना आगे चलकर प्रेमचन्द ने की थी। ये दोनों लेखक स्वाधीन भारत में साँस लेने के लिए जीवित नही रहे। शायद जीवित रहते तो उनका दम घुटने लगता। जहाँ हमारे इने-गिने आदमी सुख से समय बिताते हों और प्रभुता के अधिकारी बने हुए हों, उधर हम अपना मुंह भी नही करना चाहते, यह भविष्यद्रष्टा की उक्ति है। होनहार बिरवान के होत चीकने पात। स्वाधीन भारत के चिकने पत्ते पराधीन भारत मे दिखायी देने लगे थे। विद्यार्थीजी पर यह समाजवादी विचारधारा का प्रभाव था कि वह स्वाधीनता आन्दोलन के दूरगामी लक्ष्य की ओर देख रहे थे। वह चाहते थे कि स्वाधीनता का अर्थ मुट्ठीभर धनी आदमियो का करोड़ों गरीबो पर शासन न हो। अधिकार केवल कागज़ों पर लिखे न हों; वास्तविक जनतन्त्र वह है जहाँ निर्धन व्यक्तियो को भी विकास का अवसर मिलता है।

राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति में सम्प्रदायवाद जितनी बड़ी बाधा बन सकता था, उससे बड़ी बाधा वह सामाजिक न्याय की प्राप्ति में बनता जा रहा है। विद्यार्थीजी ने स्वाधीनता आन्दोलन को इस साम्प्रदायिक विष से बचाने के लिए भरपूर प्रयत्न किये। धार्मिक अन्धविश्वासो से जनसाधारण की चेतना को मुक्त करना असाधारण रूप से कठिन होता है। विद्यार्थीजी एक व्यापक सामाजिक क्रान्ति का स्वप्न देख रहे थे, यह उनके सम्प्रदायवाद-सम्बन्धी अनेक निबन्धों से प्रकट होता है। २७ अक्तूबर १९२४ के 'प्रताप' में प्रकाशित 'धर्म की आड़'

शीर्षक लेख में उन्होंने कहा था, "साधारण से साधारण आदमी तक के दिल में यह बात अच्छी तरह बैठी हुई है कि धर्म और ईमान की रक्षा के लिए प्राण तक दे देना वाजिब है। बेचारा साधारण आदमी धर्म के तत्वों को क्या जाने ? लकीर पीटते रहना ही वह अपना धर्म समझता है। उसकी इस अवस्था से चालाक लोग इस समय बहुत बेजा फायदा उठा रहे हैं। पाश्चात्य देशों में धनी लोग गरीब मजदूरों के परिश्रम से बेजा लाभ उठाते हैं। उसी परिश्रम की बदौलत गरीब मज़दूर की झोंपड़ी का मजाक उड़ाती हुई उनकी अट्टालिकाएँ आकाश से बातें करती हैं ! गरीबों की ही कमाई से वे मोटे पड़ते हैं और उसी के बल से वे सदा इस बात का प्रयत्न करते हैं कि गरीब सदा चूसे जाते रहें। यह भयंकर अवस्था है! इसी के कारण साम्यवाद, बोल्शेविज़्म आदि का जन्म हुआ। हमारे देश में इस समय धनपतियों का इतना जोर नहीं है। यहाँ धर्म के नाम पर कुछ इने-गिने आदमी अपने हीन स्वार्थों की सिद्धि के लिए करोड़ों आदमियों की शक्ति का दुरुपयोग किया करते हैं।" (उप. पृष्ठ १४०)। भारत में पूंजीवाद का विकास बहुत कम हुआ था। साम्राज्यवादी देशों की तुलना में यहाँ धनपतियों का जोर नहीं था। धन की कमी धर्मान्धता ने पूरी कर दी थी। इसलिए लिखा, "यहाँ है बुद्धि पर परदा डालकर पहले ईश्वर और आत्मा का स्थान अपने लिए लेना, और फिर धर्म, ईमान, ईश्वर और आत्मा के नाम पर स्वार्थसिद्धि के लिए लोगों को लड़ाना-भिड़ाना। मूर्ख बेचारे धर्म की दुहाइयाँ देते और दीन-दीन चिल्लाते हैं, अपने प्राणों की बाजियाँ खेलते और थोड़े-से अनियन्त्रित और धूर्त आदमियों का आसन ऊँचा करते और उनका बल बढ़ाते हैं। धर्म और ईमान के नाम पर किये जानेवाले इस भीषण व्यापार को रोकने के लिए साहस और दृढ़ता के साथ उद्योग होना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक भारतवर्ष में नित्य प्रति बढ़ते जानेवाले झगड़े कम न होंगे।" (उप. पृष्ठ १४१)।

स्वाधीनता-आन्दोलन में जो अवसरवादी प्रवृत्तियाँ थीं, वे अप्रत्यक्ष रूप से और कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप से भी साम्प्रदायिक शक्तियों को बढ़ावा देती थीं। इस अवसरवाद की विशेषता यह थी कि जनसाधारण को संगठित करने के बदले वह साम्प्रदायिक नेताओं से सौदेबाजी करता था। ऊपर से देखने में १९२० का आन्दोलन हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता का भव्य उदाहरण था किन्तु इस भव्यता के नीचे साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से समझौता करने की नीति छिपी हुई थी। इस सन्दर्भ में विद्यार्थीजी की आलोचना उल्लेखनीय है, "देश की स्वाधीनता के लिए जो उद्योग किया जा रहा था, उसका वह दिन निस्सन्देह अत्यन्त बुरा था, जिस दिन स्वाधीनता के क्षेत्र में खिलाफत, मुल्ला, मौलवियों और धर्माचार्यों को स्थान दिया जाना आवश्यक समझा गया। एक प्रकार से उस दिन हमने स्वाधीनता के क्षेत्र में एक कदम पीछे हटकर रखा था। अपने उसी पाप का फल आज हमें भोगना पड़ रहा है। देश की स्वाधीनता के संग्राम ने ही मौलाना अब्दुल बारी और शंकराचार्य को देश के सामने दूसरे रूप में पेश किया, उन्हें अधिक शक्तिशाली बना दिया, और हमारे इस काम का फल यह हुआ है कि इस समय हमारे हाथों से ही बढ़ाई इनकी और इनके से लोगों की शक्तियाँ हमारी जड़ उखाड़ने और देश में

द्यो पागलपन, प्रपंच और उत्पात का राज्य स्थापित कर रही है।" (उप.)।
१६२४ में लेनिन की मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु पर गणेशशंकर विद्यार्थी ने
ा था, "अपने दायें और बायें, आगे और पीछे सब तरफ आग सुलगाकर, और
ी लपट से प्राचीन संस्थाओं के अस्थिपंजर को भस्म करके लेनिन प्रगाढ़ नींद
े रहा है। रूस के किसानों, मजदूरों, नीचे पड़े हुओं, बालकों और असहाय
ों का परम सहायक, साम्यवाद का परम प्रचारक, विप्लव संगीत का गायक,
रता की मूर्ति, दयानिधि लेनिन की आत्मा आज रूस पर मँडरा रही है।"
मंवीर', गणेशशंकर विद्यार्थी के लघु निबन्धों का संग्रह, दिल्ली, १६६७,
८८)। संसार के प्रतिक्रियावादियों ने लेनिन को जितना ही बदनाम किया, रूस
नता ने उन्हें उतना ही अपनाया। "शायद ही कोई एक आदमी अपने समय
ना निन्दाभाजन, घृणास्पद और भयावह समझा गया हो जितना कि लेनिन !
ही शायद ही किसी महापुरुष के हाथों उसके देशवासियों ने अपना सर्वस्व इस
निश्चिन्ततापूर्वक छोड़ दिया हो जितना कि रूसवासियों ने लेनिन के हाथों।"
.)। लेनिन का कार्य रूस तक सीमित नहीं था। उन्होंने जो क्रान्तिकारी
लन चलाया था, वह रूस से बाहर अनेक देशों में फैल रहा था। फेवी हर्स्ट
की अमरीकी महिला ने लेनिन का शव देखकर लिखा था कि लगता है, लेनिन
र सो गया है; उसे जगा दें तो वह विश्वक्रान्ति का अपना अधूरा ग्रन्थ फिर
ने लगेगा। फेवी हर्स्ट का हवाला देने के बाद विद्यार्थीजी ने लिखा, "लेनिन के
ग्रन्थ के पन्ने रूस ही में नहीं, सर्वत्र लिखे जा रहे हैं। दुनिया का दुखी अंग
ा स्मरण करता है। रूस का वह अंग जो मदियों से कुचला जा रहा था, आज
मस्तक ऊँचा करके दुनिया को रहने लायक स्थान समझने लगा है। विप्लव
। परिवर्तन की घटाएँ घुमड़ेंगी। पुराने आततायीपन पर गाज भी गिरेगी।"
., पृष्ठ ६०)। गाज गिरने से कुछ लोग मरेंगे किन्तु बहुसंख्यक पीड़ित जनता
ुक्ति मिले, तो यह हिंसा निन्दनीय नहीं। लेनिन ने जिस क्रान्ति का समर्थन
, उसमें अनेक लोग मारे गये। लेनिन के समर्थन में विद्यार्थीजी ने लिखा,
न खड्गहस्त था। पर उसकी तलवार रक्षा के लिए चमकी, आततायीपन
ए नहीं।" (उप.)।
विद्यार्थीजी के राजनीतिक लेखन का महत्व असन्दिग्ध है। हिन्दी प्रदेश में
के माध्यम से वह समाजवादी विचारधारा के आदिप्रचारकों में हैं। वह
त के नेता है, अहिंसा का सिद्धान्त मानते है। किन्तु भारत में जो नौजवान बम
पिस्तौल के सहारे क्रान्ति के मार्ग पर बढ़े थे, उनसे जितनी गहरी सहानुभूति
शंकर विद्यार्थी को थी, उतनी अन्य किसी कांग्रेसी नेता को नहीं। इसके साथ
नके लिए अहिंसा राजनीतिक सौदेबाजी की नीति नहीं थी। उन्होंने अपना
ान करके यह सिद्ध किया कि वह साहसी महापुरुष थे, और अन्य नेताओं के
उनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं था। 'प्रताप' के प्रथम अंक में
प्रताप को सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा था, "जो सिर स्वतन्त्रता देवी
मने झुका, याद रखो, उसे अधिकार नहीं कि संसार की किसी भी शक्ति के
ने झुके।" वह उन लोगों में नहीं थे जो राणा प्रताप के नाम का उपयोग अंग्रेजी

मज़दूर परन्तु सब नफ़ा ले जाते है कारखानों के मालिक। साम्यवादी कहते है कि "समस्त मूलधन समष्टि रूप से जनता की सम्पत्ति होनी चाहिए।" (पृष्ठ ७)। इसी प्रकार भूमि की स्वामी भी जनता होगी। जो पैदावार होगी, वह जनता मे बाँट दी जायेगी। बँटवारे का आधार यह होगा कि जो जितना परिश्रम करेगा, उसको उतना मिलेगा। लेखक को थोड़ा भ्रम है कि साम्यवादी पहले कहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार हिस्सा मिलेगा, फिर उन्होने अपना यह विचार बदल दिया। "आजकल के साम्यवादी आवश्यकतानुसार बँटवारा नही चाहते किन्तु परिश्रम के अनुसार चाहते हैं।" (उप०)। वास्तव में साम्यवादियो ने विचार नहो बदले; परिश्रम के अनुसार बँटवारा विकास की पहली मंजिल है, आवश्यकता के अनुसार बँटवारा विकास की दूसरी मंज़िल है।

सामाजिक विषमता दूर करने की बातें सुधारवादी भी करते हैं किन्तु वे धीरे-धीरे सुधार करने के पक्ष मे है; समाज से अन्याय दूर करने के लिए साम्यवादी "कोई उपाय बाकी नही छोडना चाहते।" (पृष्ठ ४)। उनके अनुसार उत्पत्ति के साधनो का प्रबन्ध समाज के हाथ मे होना चाहिए। वे उस शासन-प्रणाली को खत्म करना चाहते है, जिसमे "शासन की बागडोर बड़े-बड़े धनियो और महाजनों के हाथ में रहती है।" (पृष्ठ ६)। लेखक को पता है कि ऐसे शासन मे अधिकारी वर्ग इन महाजनो के हाथ की कठपुतली हो जाता है। इसके बदले सार्वजनिक मामलो का प्रबन्ध जनता द्वारा किया जाना चाहिए। लेखक ज़ोर देकर कहता है कि जनता शब्द मे स्त्रियाँ और पुरुष दोनो ही सम्मिलित है। साम्यवादी लोग सामाजिक संगठन तथा शासन-प्रणाली में 'क्रान्तिकारी परिवर्तन' चाहते है; सुधारवादियो के विपरीत वे चाहते हैं कि "आजकल के सामाजिक सगठन को बिल्कुल उलट दिया जाये।" (पृष्ठ १०)। वैसे खून-खच्चर या मारकाट करना उनका उद्देश्य नही है। अमरीका जैसे देशो के प्रजातन्त्र मे व्यक्ति को जिस तरह की स्वाधीनता प्राप्त है, उस तरह की स्वाधीनता साम्यवादी शासन मे नही है। किन्तु लेखक का विचार है कि "व्यक्तिगत स्वाधीनता की यह बलि एक परम पावन और आवश्यक उद्देश्य के लिए—समष्टि रूप से समाज के भले के लिए, जिसमे व्यक्तियों की भी वास्तविक भलाई सम्मिलित है—की जायेगी। इसलिये वह उतनी बुरी नही जितनी कि बतायी जाती है।" (पृष्ठ १२)।

समाज हमेशा एक-सी अवस्था मे नही रहा। एक समय ऐसा था जब मनुष्य असभ्य अवस्था मे रहते थे। लोग अपना जीवन-निर्वाह शिकार मारकर या मछली पकड़कर करते थे। तब धनी-निर्धन का भेद न था। जब लोगों ने पशुपालन सीख लिया और जब वे चरी की खोज मे इधर-उधर घूमते थे, तब भी धनी और निर्धन मे "अनुचित भेद' न था। (पृष्ठ १३)। जब मनुष्यों ने खेती करना सीखा और 'आपस में वस्तु-विनिमय करने लगे' तब यह अन्तर बढ़ने लगा। (पृष्ठ १३)। यूनानी दार्शनिक प्लैटो ने एक आदर्श समाज की कल्पना की किन्तु लेखक ने बड़े पते की बात लिखी है कि उसका आधार गुलामी थी। प्लैटो के समय मे गुलामी की प्रथा प्रचलित थी, वह आवश्यक मानी जाती थी और निन्दनीय न समझी जाती थी। साम्यवादियो का समाज प्लैटो के समाज से भिन्न है। यूरुप मे पांचवी

सदी से लेकर पन्द्रहवी सदी तक "जागीरदारी शासन प्रणाली (Feudalism) का दौर-दौरा था।" (पृष्ठ १४)। इस प्रथा के अन्तर्गत किसानों के हितो की हत्या की जाती थी, उनकी दशा गुलामो मे कुछ ही अच्छी थी। अंग्रेज लेखक सर टामस मोर ने 'युटोपिया' मे एक आदर्श समाज की कल्पना की। सामाजिक असन्तोष बढ़ने पर १७वी सदी मे इंग्लैण्ड मे गृहयुद्ध हुआ, १८वी सदी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में विप्लव हुआ। १७६० से १८५० के बीच इग्लैण्ड मे औद्योगिक क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति के बाद मजदूरो का शोषण जोरो से हुआ। १६वी सदी उन्नति का युग है, "और बातों के साथ-साथ दरिद्रता की भी उन्नति हुई।" (पृष्ठ २४)।

अर्थशास्त्र के विकास का सक्षेप में उल्लेख करते हुए लेखक ने बताया है कि रिकार्डो ने यह स्थापना की कि "समस्त सम्पत्ति श्रम मे ही उत्पन्न होती है, परन्तु बेचारे श्रमजीवियो को पेट भर अन्न के सिवाय और कुछ नही मिलता जबकि सारा नफा कारखानों के मालिक हड़प कर जाते हैं।" (पृष्ठ २५)। मार्क्स की पुस्तक 'मूल धन पर' (अर्थात् पूँजी) १८६७ मे प्रकाशित हुई। मार्क्स ने बताया कि "समस्त मूल्य श्रम से ही पैदा होना है परन्तु श्रमजीवियो को दिया केवल उतना ही जाता है जितने मे कि वे अपना गुजारा किसी तरह से कर सकें।" (उप०)। मार्क्स के ग्रन्थ ने साम्यवादियों पर गहरा प्रभाव डाला। ग्रन्थ लिखने के अलावा मार्क्स ने साम्यवाद के लिए आजन्म घोर आन्दोलन किया। (पृष्ठ ३६)। समाजवादी विचारधारा के विकास का उल्लेख करते हुए लेखक ने फ्रास के विचारक सेण्ट साइमन, इंग्लैण्ड के विचारक रौबर्ट ओवेन आदि का परिचय दिया है। इनसे भिन्न मार्क्स ने काल्पनिक स्वर्गों की सृष्टि करने में शक्ति नष्ट न की वरन् "कार्यक्षेत्र मे कूदकर कर्मवीर की भांति दुःखो के मूल कारणों का उन्मूलन करने के लिए कमर कसी।" (पृष्ठ ३८)। मार्क्स का विचार था कि सस्थाएँ ऐतिहासिक विकास का फल है। उन्हे अपने चारो ओर जो दुख दिखाई देता था, वह उनके विचार से सामाजिक परिवर्तन से ही मिट सकता था। इंग्लैण्ड मे मजदूरों का जो चार्टिस्ट आन्दोलन चला, वह ओवेन के आन्दोलन से आगे बढ़ा हुआ था। मार्क्स ने १८६४ मे सुप्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवियो का सम्मेलन स्थापित किया। जर्मनी और फ्रांस के अधिकारियो ने मार्क्स को अपने यहाँ रहने न दिया, "कोई चारा न देखकर यह महापुरुष लन्डन चला गया और वही जन्म भर रहा।" (पृष्ठ ३६)। वही मार्क्स ने "अतिरिक्त (मूल्य Surplus Value)" के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। लेखक ने मार्क्स के अलावा लासाल आदि अन्य समाजवादियों तथा समाजवाद-सम्बन्धी प्रवृत्तियो का परिचय दिया है, १८६० से १६१३ तक के समाजवादी आन्दोलन के प्रसार का सक्षिप्त विवरण दिया है। महायुद्ध के बाद जर्मनी मे साम्यवादियों की बढ़ती हुई शक्ति का उल्लेख है। फ्रास के साम्यवादियो के बारे में कहा है कि उनका झुकाव क्रान्ति की ओर अधिक है। (पृष्ठ ७५)।

इसके बाद रूसी क्रान्ति का उल्लेख है। वहाँ शासन की बागडोर बोल्शेविको के हाथ में है। वे चाहते हैं कि "शासन बड़े-बड़े लोगो और धनवानो के हाथ में न

रहे, किन्तु उनसे छीनकर अधिकांश जनता—गरीब किसानों, मजदूरों और मध्य श्रेणी के लोगों को सौंप दी जाये। स्वामित्व और शासन का अधिकार वे समस्त जनता को देना ठीक समझते है, किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय को देना ठीक नही समझते।" (पृष्ठ ८१)। इन बोल्शेविकों के नेता लेनिन हैं। वह जर्मन और अंग्रेजी भाषाओ के विद्वान् है। "अब तक रूसी राज्यक्रान्ति मे इतना विद्वान् पुरुष और कोई नही दीख पड़ा। उनके दुर्दमनीय साहस, दृढ़ निश्चय, और उनकी पूर्ण निस्पृहीयता के कारण उनके साथी उन्हें अत्यन्त पूज्य भाव से देखते है।" (पृष्ठ ८३)। उन्होने संसार में क्रान्ति का प्रसार करने में तनिक भी आगा-पीछा नही किया। उनका व्यक्तिगत जीवन निर्दोष है, वैवाहिक जीवन सुखमय है, "और उनके चरित्र पर कोई सन्देह नही करता। उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ तो बहुत ही परिमित हैं और वे अपने लिये जो खर्च करते है वह सब बोल्शेविको से कम है।" (उप०)। वे कठोर साधनों से भी काम लेते हैं पर किसी व्यक्तिगत बदले के भाव से प्रेरित होकर नही। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह हिंसा से काम लेने मे हिचकिचाते नही है। बोल्शेविको की सफलता का बहुत बड़ा कारण यह है कि उनके नेता लेनिन है। "उन्होंने कई बार अपने दल को घनघोर आपत्तियो से बचाया है। वाद-विवाद मे वे अद्वितीय हैं और अपने प्रतिपक्षी को, बिना उत्तेजित हुए, गम्भीर भाव से ऐसा उत्तर देते हैं जिससे उनके प्रतिपक्षी और भी अधिक चिढ़ते है। उद्दण्ड बोल्शेविकों की सभाओ को तो वे इस प्रकार खिलाते है जैसे स्कूल मे मास्टर अपने लड़कों को। जनता के हृदय पर अधिकार कर लेना तो उनके बाएँ हाथ का खेल है। यही लेनिन आज के बोल्शेविक शासन के सूत्रधार है।" (पृष्ठ ८४)।

यद्यपि पुस्तक के आरम्भ मे लेखक ने तटस्थ होने का दावा किया है किन्तु भारत में मजदूरो और किसानों की दशा उसे बराबर याद रहती है। क्रमशः वह तटस्थता का बाना उतार फेंकता है। उसने साम्यवाद का विवरण भारत की समस्याएँ हल करने के लिए प्रस्तुत किया है, इस बारे मे सन्देह नही रह जाता। दूसरे अध्याय के अन्त में उसने लिखा है: "पूर्वी देशो मे साम्यवाद का प्रत्यक्ष प्रचार और जोर नही दिखायी पड़ता। भारतवर्ष में गरीबों की दशा और अन्य देशो के गरीबों की दशा से कम बुरी नही है। यहां के मजदूरों और किसानों की दशा जिसमें कि सारे देश के अस्सी फीसदी के लगभग आदमी सम्मिलित हैं, और छः करोड़ अछूत कहलानेवाली जातियो की दशा अत्यन्त शोचनीय है। भिखारियो की संख्या यहां बावन लाख है और करोड़ों लोग ऐसे है जिन्हें भरपेट भोजन कभी नसीब नही होता है, इसलिए यहां साम्यवाद की भारी सामग्री उपस्थित है। परन्तु जनता को अपनी दशा का ज्ञान न होने से, उसमें कष्टों के अनुभव करने का भाव तीव्र न होने से तथा सबकुछ भाग्य के नाम पर सह लेने की आदत होने से यहां साम्यवाद का अभी तक प्रचार नही हुआ है।" (पृष्ठ ३५)। भारत में साम्यवाद की भारी सामग्री उपस्थित है, इस वाक्य का आशय यह है कि भारत की समस्या केवल राजनीतिक स्वाधीनता की समस्या नही है, वह सामाजिक न्याय की समस्या भी है। यह सामाजिक न्याय मजदूरो और किसानो को चाहिए और

छह करोड़ अछूत कहलानेवाली जातियों को चाहिए। लेखक का विचार है कि भारतीय जनता भाग्यवादी बन गयी है, निष्क्रिय होकर कष्ट सहती रहती है। उसे अपनी दशा का ज्ञान नहीं है। इस कारण यहाँ साम्यवाद का अभी तक प्रचार नही हुआ। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि उसे अपनी दशा का ज्ञान कराना चाहिए, साम्यवाद का प्रचार करना चाहिए, गरीबी की समस्या का अन्तिम और निर्णायक समाधान साम्यवाद के पास ही है।

### (ङ) साम्यवाद-२

रामचन्द्र वर्मा की पुस्तक 'साम्यवाद' सम्भवतः हिन्दी में समाजवाद पर पहली बड़ी पुस्तक है। यह दिसम्बर १९१९ में हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित की गयी थी। यह पुस्तक केवल मार्क्सवादी विचारधारा पर नही है; इसमे अनेक प्रकार के समाजवादो का विवेचन है। पुस्तक का नाम 'साम्यवाद' आज जितना भ्रामक लग सकता है, उतना सन् १९ में न लगता था। फिर भी लेखक ने अपनी भूमिका मे सावधान कर दिया है कि "इस पुस्तक में जिस सिद्धान्त का वर्णन किया गया है उसका नाम यद्यपि साम्यवाद" की अपेक्षा समष्टिवाद "ही अधिक उपयुक्त तथा युक्तियुक्त है परन्तु आरम्भ मे कुछ कारणों से इसका नाम साम्यवाद ही रखा गया था जिसका निर्वाह विवश होकर अन्त तक करना पड़ा है।" उस समय तक शायद समाजवाद शब्द का चलन न हुआ था।

साम्यवादी विचारधारा का विकास दिखाने के लिए लेखक ने भारत की प्राचीन सामाजिक विषमता का उल्लेख किया गया है। इस प्रसग में उसने गौतम बुद्ध की विचारधारा और भारत के वाहर ईसा मसीह की विचारधारा का उल्लेख किया है। अपेक्षाकृत आधुनिक काल मे फ्रांस के अराजकतावादी लेखक रूसो की भी चर्चा की है। आगे चलकर फ्रास, इग्लैण्ड, जर्मनी आदि देशो में समाजवादी विचारधारा के प्रसार का परिचय दिया है। समाजवादियो मे युटोपियन कहलाने वाले कल्पनाशील समाजवादी भी है। मार्क्स और उनके सिद्धान्तों का परिचय विस्तार से दिया गया है, उनकी राजनीतिक कार्यवाही का भी वर्णन है। एक अध्याय मे रूसी क्रान्ति और सोवियत राज्यसत्ता का विवरण है। यद्यपि पुस्तक का सीधा सम्बन्ध भारत से नही है, फिर भी अन्तिम अध्याय मे लेखक ने अपने देश के किसानों और मजदूरों की दशा का वर्णन किया है। मार्क्स के सिद्धान्त, सोवियत राज्यसत्ता का स्वरूप, भारत के किसान और मजदूर, पुस्तक के ये तीन सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। इन्ही की कुछ विस्तार मे यहाँ चर्चा करेंगे।

रामचन्द्र वर्मा को मार्क्स और एगेल्स की रचनाएँ सुलभ न थी, लेनिन या अन्य रूसी साम्यवादियों की पुस्तकें पाना और भी कठिन था। उनके ग्रन्थ का आधार अधिकतर ऐसी पुस्तकें हैं जिनके लेखकों का दृष्टिकोण मार्क्सवादी नही है। इस कारण पुस्तक में अनेक प्रकार के दोष आ गये हैं जिनमे कुछ का सम्बन्ध तथ्यों को गलत पेश करने से है और कुछ का विचारधारा सम्बन्धी भ्रान्तियों से। उल्लेखनीय है कि कलकत्ते के दैनिक 'भारत-मित्र' में लक्ष्मणनारायण गर्दे के अनेक लेख रूसी क्रान्ति और सोवियत राज्यसत्ता पर निकले थे। रामचन्द्र वर्मा ने

अपनी पुस्तक की भूमिका में उन लेखों से 'अपूर्व सहायता' मिलने की बात कही है। कलकत्ते में उदीयमान कवि निराला के साहित्यिक अभिभावकों में राधामोहन गोकुलजी के अतिरिक्त लक्ष्मणनारायण गर्दे भी थे।

वर्तमान समाज में पूंजीवादी व्यवस्था का विवरण देते हुए रामचन्द्र वर्मा कहते हैं कि पुराने जमाने में हर एक आदमी (अर्थात् उत्पादक) अपना छोटा कारखाना अलग रखता था। उस कारखाने मे वह अपनी सामग्री से, अपने औजारों से और अपने श्रम से चीजें तैयार करता था, उन पर उसका पूरा अधिकार होता था। अब पूंजीवादी प्रथा है। इस प्रथा का अन्तर्विरोध यह है कि "उत्पादन का काम तो ऐसे कारखानों में होता है जिनमें सब लोग मिलकर काम करते है; लेकिन उसमे जो कुछ उपज होती है वह व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाती है। कारखाने में पूंजी लगानेवाला उस उपज का मालिक बन बैठता है। उत्पादन तो समष्टि के द्वारा होता है पर उस पर अधिकार व्यष्टि का होता है।" (पृष्ठ ११७)। वर्माजी ने पूंजीवादी समाज के मुख्य अन्तर्विरोध का वर्णन बिलकुल ठीक किया है। उन्होंने इसे आधुनिक काल के समस्त दुखों और कष्टों का मूल कारण माना है और सावधान किया है कि "ज्यों-ज्यों ससार मे इस प्रथा का प्रसार होता जायेगा त्यो-त्यो यह विरोध और उसके साथ दुःख, कष्ट और दरिद्रता बढ़ती जायेगी।" (उप.)। यूरुप मे पूंजीवाद के प्रसार का परिणाम यह हुआ है कि "धन का अपहरण करनेवाले पूंजीदार तो अमीर होते जाते है और श्रमजीवी दरिद्र होते जाते है।" (उप.)। पूंजीपतियो की प्रतियोगिता अराजकता का रूप ले लेती है। पूंजीदार समाज की आवश्यकता के अनुसार चीजें नही बनाता, जिन चीजों की बिक्री से अधिक लाभ होता दिखायी देता है, उन्ही को बनाता है। हर तरह के दूषित उपायों से एक पूंजीदार दूसरे व्यापारियों को दबाने की चेष्टा करता है। वर्माजी के शब्दो में "इस प्रकार सदा एक ऐसा आर्थिक और व्यापारिक समर छिड़ा रहता है जो समाज के लिए बहुत ही हानिकारक होता है।" (पृष्ठ ११८)। मशीनों में सुधार होता है, मजदूर बेकार होते जाते हैं, माल अधिक तैयार होता है और बाजार में उसकी खपत नही होती। जिसे आजकल आर्थिक संकट कहते है, उसे वर्माजी ने हाहाकार कहा है।

इस हाहाकार की विशेषता यह है कि व्यापारिक संसार में वह बीच-बीच मे मचा करता है "और प्रत्येक बार का हाहाकार पहली बार के हाहाकार की अपेक्षा अधिक भीषण होता है। अब तो यह नौबत आ गयी है कि यह हाहाकार प्रायः स्थायी हो गया है।" (पृष्ठ १२०)। उत्पादन जनसमुदाय करता है, उसका लाभ एक विशिष्ट वर्ग उठाता है। ऐसी व्यवस्था में संसार सुखी नहीं हो सकता। इस विषमता से निकलने का उपाय यह है कि राजनीतिक सत्ता सर्वसाधारण के हाथ मे आ जाये और समाज अपने हित में उत्पादन की व्यवस्था करे।

पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति की विशेषता है मजदूर द्वारा अतिरिक्त मूल्य का [illegible] और पूंजीपति द्वारा उसका अपहरण। अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की [illegible] चीजें तैयार [illegible] कठिनता

न उनका निर्वाह होता है; और जब किसी चीज को तैयार करने में जितनी लागत लगती है उससे कहीं अधिक उसका दाम रखा जाता है। लागत तो मजदूरों के हिस्से में पड़ती है और मूल्य का बाकी अंश मुनाफे के रूप में पूंजी लगानेवाले कारखानेदार स्वयं ले लेते है। इस प्रकार वे दूसरों के श्रम और दरिद्रता का अनुचित रूप से लाभ उठाते हैं।" (पृष्ठ ११८)।

१८४७ में मार्क्स और एंगेल्स ने प्रसिद्ध कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। इसमें जिन साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था, उनका विरोध पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थकों ने किया। उनका एक आक्षेप यह था कि साम्यवादी लोग व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश कर देना चाहते हैं। वर्माजी कहते हैं कि साम्यवादियों की ओर से इसका उत्तर यह है कि वे व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश नहीं करना चाहते बल्कि उस प्रथा का नाश करना चाहते हैं जिसके अनुसार आजकल के पूंजीदार श्रमजीवियों के श्रम का अपहरण करते है। दूसरा आक्षेप यह है कि साम्यवादी लोग पारिवारिक व्यवस्था का नाश करना चाहते है। इसका उत्तर यह है कि कारखानों में काम करने के लिए स्त्रियों और बच्चों तक को ले जाकर और वेश्यावृत्ति तथा दुराचार आदि का प्रचार करके पूंजीपतियों ने पहले ही परिवार का अन्त कर दिया है। तीसरा आक्षेप यह है कि साम्यवादियों ने देश-हितैषिता के भाव नष्ट कर दिये हैं। इसका उत्तर यह है कि श्रमजीवियों का अब कोई अपना देश नहीं रह गया; अपनी जन्मभूमि में उन्हें किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं है और वे पेट पालने के लिए दूसरे देशों में मारे-मारे फिरते है।

क्रान्तिकारी परिवर्तनों का पूरी तरह समर्थन न करने पर भी रामचन्द्र वर्मा ने मार्क्स के सिद्धान्तों का वर्णन सहानुभूति से किया है। द्रव्य, पदार्थ या सामग्री क्या है, उपयोग मूल्य किसे कहते है, विनिमय मूल्य से वह किस प्रकार भिन्न है, इन प्रश्नों का उत्तर उनकी पुस्तक में है। मार्क्स ने मजदूरों का अन्तर्राष्ट्रीय संघ बनाया, उसका परिचय दिया है। संघ को अपने कार्यों में पूरी सफलता न मिली किन्तु उसने श्रमजीवियों में जागृति उत्पन्न की। उसकी आंशिक सफलता के बारे में वर्माजी ने लिखा है, "उसने संसार के सामने एक बहुत बड़ा उद्देश्य उपस्थित किया था। वह उद्देश्य था करोड़ों दरिद्र श्रमजीवियों का दुःख दूर करना। इस प्रकार उसने एक बहुत ही इतिहासप्रसिद्ध महत्व प्राप्त किया था और ऐसे कार्य किये थे कि जिनसे प्रत्येक राज्य और मनुष्य कुछ-न-कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकता है। उसी के प्रयत्नों का यह फल था कि मार्क्स और उसके साथियों के विचार सारे संसार में फैल गये।" (पृष्ठ १५१)। मार्क्स द्वारा चलाये हुए श्रमिक-आन्दोलन के भविष्य के बारे में वर्माजी कहते है, "यह एक ऐसा आन्दोलन है जो बिना अपना उद्देश्य सिद्ध किये कभी ठण्ढा नहीं पड़ेगा और बराबर संसार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता रहेगा।" (उप.)। वर्माजी ने जब यह लिखा था, तब श्रमिक-आन्दोलन काफी सीमित था। तब से अब तक उसका भारी प्रसार हुआ है। यह प्रसार सिद्ध करता है कि वर्माजी ने उसके भविष्य के बारे में जो कुछ कहा था, वह सही था और वह उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता का प्रमाण है। मार्क्स के अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ के उद्देश्यों से पूर्ण सहानुभूति प्रकट करते हुए

वर्माजी ने उन लोगों को सान्त्वना दी है जो संघ के टूटने से निराश हो गये थे। उन्होंने लिखा है, "यदि उसके आन्दोलन को, उसके महत्व का ध्यान रखते हुए, यथेष्ट सफलता प्राप्त न हुई हो तो हमें हतोत्साह न होना चाहिए", "एक पीढ़ी को जो विफलता होती है वही प्रायः दूसरी पीढ़ी को सफलता का मार्ग दिखलाती है", "हमे इस बात का दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि उसने श्रमजीवियों को जो शिक्षाएं दी है वे आगे चलकर उनके बड़े काम आवेगी।" (पृष्ठ १५२)।

साम्यवाद का विरोध करने के लिए धर्म की बराबर दुहाई दी जाती रही है। इस प्रसंग मे वर्माजी ने जो कुछ लिखा है, वह आज भी ध्यान देने योग्य है। मार्क्स ने धार्मिक संस्थाओं का विरोध इसलिए किया था कि इनके रक्षक "ऐसे उद्देश्यों का प्रचार करते है जिनसे अमीर-गरीब और सुखी-दुखी के भेद बने रहें।" (पृष्ठ ३५७)। दूसरी बात यह है कि "जब-जब क्रान्ति की कोई चेष्टा की जाती है तब-तब वे अपना सारा बल और प्रभाव उसको विफल करने मे खर्च करते है।" (उप.)। तीसरी बात यह कि उनके "विश्वास और शिक्षाएँ विज्ञान के विरुद्ध होती है, अतएव वैज्ञानिक आधार पर समाज के संगठन के लिए भारी विघ्नरूप हैं।" (उप.)।

यद्यपि रामचन्द्र वर्मा की पुस्तक में अनेक समाजवादों का विवरण है, फिर भी उनसे मार्क्स के सिद्धान्तों की तुलना की जाये तो विदित होगा कि उन सबमे मार्क्सवाद ही वैज्ञानिक समाजवाद कहलाने का अधिकारी है। उन्होंने लिखा भी है कि मार्क्स और एंगेल्स का उद्देश्य 'साम्यवाद को वैज्ञानिक स्वरूप देना' था (पृष्ठ १०६)। इस प्रकार यह पुस्तक मार्क्सवाद का परिचय देनेवाली एक प्रारम्भिक महत्वपूर्ण कृति मानी जायेगी।

रूसी क्रान्ति के बारे मे उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसमें तीन बातें मुख्य रूप से ध्यान देने योग्य है। पहली यह कि रूस एक पिछड़ा हुआ देश था और कुछ बातों में वहाँ की समाज-व्यवस्था भारत की समाज-व्यवस्था से मिलती-जुलती थी। क्रान्ति ऐसे पिछड़े हुए देश में हुई। दूसरी बात यह कि सोवियत राज्यसत्ता में किसानों और मजदूरो को जो अधिकार मिले, वे उन्हें पहले प्राप्त न थे। सोवियत राज्यसत्ता वास्तव में जनसत्ता थी। तीसरी बात यह कि सोवियत-सत्ता का विरोध करनेवाले निहित स्वार्थों के लोग थे। इनमें पहला नम्बर अंग्रेज साम्राज्यवादियो का था जिन्हें न केवल ब्रिटेन मे क्रान्ति का भय था वरन् यह डर भी था कि भारत जैसे पराधीन देश में रूसी क्रान्तिके प्रभाव से लोग उनके शासन का तख्ता उलट देंगे।

पिछड़े हुए देश मे क्रान्ति क्यों हुई, इस प्रश्न पर बहुत दिनों तक बहस होती रही और एक हद तक अब भी हो रही है। वर्माजी की पुस्तक में इस समस्या का निराकरण होगा, इसकी अपेक्षा न करनी चाहिए। किन्तु ऐसी एक समस्या है, इस बात का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा है, "यह एक बड़ी ही विलक्षण बात है कि जिस रूसी जाति का इस प्रकार का पुराने ढंग का संगठन था उसी रूसी जाति मे पश्चिमी युरोप के सबसे अधिक उन्नत क्रान्तिकारक विचारों का प्रचार हो गया।" (पृष्ठ १६८)।

रूसी समाज का पुरानापन जिस बात में था, वह उसकी ग्राम-व्यवस्था थी। वर्माजी ने लिखा है कि "रूस की अधिकांश प्रजा केवल खेतीबारी करके ही अपना पेट पालती और छोटे-छोटे गाँवों में ही रहकर अपने दिन बिताती थी।" (पृष्ठ १६६)। इसका अर्थ यह है कि क्रान्ति के समय रूस की बहुसंख्यक जनता किसान थी। भारत के ग्रामसमाजों का स्मरण करते हुए वर्माजी ने आगे लिखा है, "हमारे देश की पंचायतों से मिलती-जुलती एक संस्था रूस में भी है जिसे मीर कहते हैं। इसे हमारे हिन्दू संयुक्त परिवार का कुछ परिवर्तित और परिवर्धित रूप ही समझना चाहिए। रूसी गाँवों के समस्त निवासियों के हित और उत्तरदायित्व बिल्कुल एक होते थे। प्रत्येक गाँव में एक मुखिया होता था जो गाँव के आन्तरिक शासन का सारा काम करता था और उच्च कर्मचारियों आदि के सामने वही अपने गाँव के प्रतिनिधिस्वरूप उत्तरदायी होता था। गाँवों के आसपास जोतने-बोने अथवा पशुओं के चरने के लिए जितनी भूमि होती थी उस पर कुछ अंशों में गाँव के समस्त निवासियों का अधिकार होता था।" (उप.)। वर्माजी ने यह भी बताया है कि यह प्रथा बहुत प्राचीन है और जिस समय मनुष्य जाति केवल खेती-बारी करती थी, उस समय संसार के अधिकांश देशों में इस प्रथा का चलन था। भारत और रूस के सामाजिक विकास की अनेक समस्याएँ इस प्रथा के कायम रहने या टूटने से सम्बन्धित हैं। वर्माजी ने लिखा है कि रूस में मीरवाली प्रथा बड़े-बड़े जमींदारों और ज़ार के लिए लाभदायक थी। बाद में सरकार ने अपनी नीति बदल दी और "धनिक कृषकों का एक नया वर्ग खड़ा करने के उद्देश्य से उस संस्था को तोड़ने का बहुत कुछ प्रयत्न किया और व्यक्तिगत कृषकों को इस बात का अधिकार दे दिया कि वे गाँवों की पंचायती ज़मीनों में से अपनी अधिकृत भूमि अलग कर लें। लेकिन फिर भी इस नवीन अधिकार का बहुत प्रयोग न हो सका।" (पृष्ठ १६८)। यहाँ इस बात का बहुत हल्का-सा संकेत है कि रूसी क्रान्ति से पहले वहाँ की पुरानी ग्राम-व्यवस्था टूट रही थी।

इस पिछड़े हुए देश में क्रान्ति हुई। बोल्शेविक-पार्टी के नेतृत्व में सोवियत राज्यसत्ता कायम हुई। बोल्शेविक नाम क्यों पड़ा, इसके बारे में लिखा है कि पुराने साम्यलोकमतवादी दल में जिस पक्ष का बहुमत था, वह बोल्शेविक कहलाया। "रूसी भाषा में इस शब्द का अर्थ है—बहुमतवाला पक्ष या दल।" (पृष्ठ ३६२)। जो लोग दल में अल्पमत वाले थे, वे मेन्शेविक कहलाये। बोल्शेविक पार्टी के लिए लिखा है कि "आरम्भ से ही यह दल क्रान्तिवादी रहा है।" बोल्शेविक दल के नेता लेनिन के बारे में वर्माजी ने लिखा है, "बोल्शेविकों के नेताओं में लेनिन ही सर्वप्रधान है। मास्को में बोल्शेविकों की जो प्रधान कार्य-कारिणी सभा है, उसका वह सभापति है। वास्तव में बोल्शेविक आन्दोलन की जान लेनिन ही है। उसका जन्म १० अप्रैल १८७० को एक बहुत ही उच्च तथा

के कारण वह कज़न नगर से निर्वासित कर दिया गया था। लेनिन के कुल के कई आदमी क्रान्तिवादी और क्रान्तिकारक हो गये हैं। इसी अपराध में उसके एक भाई

को १८८७ में रूसी सरकार ने फांसी का दण्ड दिया था। उसका वास्तविक नाम ब्लैडेमिर इलिच उलियानाफ है। उसकी स्त्री भी एक बार देश से राज्य द्वारा निर्वासित हो चुकी है। वह कार्ल मार्क्स का बहुत बड़ा भक्त है परन्तु उसके सिद्धान्तो का निष्कर्ष वह स्वयं अपने मनमाने ढंग से निकालता है। आर्थिक विषयो पर उसने अनेक ग्रन्थ और लेख आदि लिखे है। उसने 'राज्य और राज्यक्रान्ति' (THE STATE AND REVOLUTION) नाम की एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है जिसमे उसने बोल्शेविज्म के सिद्धान्तो का वर्णन करते हुए बतलाया है कि आदर्श साम्यवादी राज्य स्थापित करने के लिए नियमानुमोदित रीति से आन्दोलन करना बिल्कुल निरर्थक है। रूस में इस समय उसका बड़ा आदर है और वर्तमान बोल्शेविक रूस का वही कर्त्ताधर्त्ता और विधाता है।" (पृष्ठ ४०१-४०२)।

नियमानुमोदित आन्दोलन का अर्थ है सन् १६ से पहले तक भारत के उदार-पन्थी पूंजीवादियों द्वारा अंग्रेजी राज्य से कुछ रियायतें मांगने का आन्दोलन। सरकारी नियमो के चौखटे को तोड़कर रूस का क्रान्तिकारी आन्दोलन सफल हुआ था। मार्क्स के सिद्धान्तों का निष्कर्ष लेनिन अपने मनमाने ढग से निकालते है, यह प्रचार बोल्शेविको के विरोधी मेन्शेविक करते थे। संसार के बहुत से क्रान्ति-विरोधी पूंजीवादी प्रचारक इस समय मार्क्सवादके बड़े हमदर्द बन गये थे और इस बात पर अफसोस जाहिर कर रहे थे कि लेनिन मार्क्स के सिद्धान्तों की व्याख्या मनमाने ढग से कर रहा था। उनके अनुसार मार्क्स के सिद्धान्तो की सही व्याख्या यह थी कि रूस जैसे पिछड़े देश मे क्रान्ति न होनी चाहिए लेकिन वहाँ क्रान्ति हो गयी। यदि लेनिन मार्क्स के सिद्धान्तों की व्याख्या मनमाने ढंग से न करते तो क्रान्ति भी न होती। पूंजीवादी प्रचारको के अफसोस का यही कारण था। उनके प्रचार की प्रतिध्वनि वर्माजी की टिप्पणी मे भी है। इसके साथ ही उन्होने यह भी लिखा है कि बोल्शेविक आन्दोलन की जान लेनिन है और रूस मे उनका बड़ा आदर है। वर्माजी की टिप्पणी से यह ध्वनि भी निकलती है कि लेनिन अपने युग के सबसे बड़े क्रान्तिकारी है। सोवियत राज्यसत्ता के बारे मे उन्होने जो कुछ लिखा है, उससे बोल्शेविक पार्टी और उसके नेता लेनिन का महत्व अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है।

सोवियत राज्यसत्ता के बारे मे लिखा है, "बोल्शेविक सरकार का सगठन किसानों, मजूरों और सिपाहियों की नित्यनैमित्तिक आवश्यकताओं के विचार से हुआ है। यह शासन-संगठन प्रजा की सत्ता की रक्षा करता है। देश के सर्व-साधारण प्रजाजनो के हाथ में रूस की शासनसत्ता रहे यही बोल्शेविक शासन-संगठन सिद्धान्त है। 'लिबरेटर' पत्र में प्रकाशित मि. जान रीड के लेख के अनुसार रूस का वर्तमान सगठन इस प्रकार का है कि रूस के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को १८ वर्ष की वयस होने पर शासन-प्रबन्ध में वोट देने का अधिकार मिलता है। परन्तु सबसे बड़े आश्चर्य की बात—ऐसी बात कि जिसका संसार मे किसी ने स्वप्न मे भी अनुभव न किया होगा—यह है कि जो लोग अपने फायदे के लिए मजूरो से काम कराते हैं, अर्थात् कारखानों के मालिक हैं, जो लोग बिना परिश्रम

किये धन भोग करते हैं और जो लोग व्यापारी हैं, उन्हें रूस के शासन-प्रबन्ध में मत देने का अधिकार नहीं है। इसका कारण यह मालूम होता है कि बोल्शेविक समार से अमीर-गरीब का भेद ही उठा देना चाहते हैं और धन की प्रतिष्ठा कम करके धन के असम वितरण की अवस्था को बदल देना चाहते हैं। मालूम होता है, बोल्शेविकों की दृष्टि में धन सभ्यता का माप नहीं है। यह बड़ी विचित्र बात है कि विषयसुख के साधनों का ही विस्तार करने को सभ्यता मानने वाले पाश्चात्य संसार में एक देश ऐसा भी है जहाँ धनी की कोई प्रतिष्ठा नहीं और गरीबों को सबकुछ है। संसार में इस तरह की अवस्था दीर्घ काल तक रह सकती है या नहीं यह स्वतन्त्र प्रश्न है पर यह भी एक सोचने की बात है कि जिन देशों में धन ही शासन-प्रबन्ध का अधिकार दिलाता है, धन ही वोट देने का अधिकार प्राप्त कराता है, क्या वहाँ गरीबों पर यह अन्याय नहीं हो रहा है कि विषयसुख भी धनी लूटें, अधिकार भी उन्हीं को हो, देश का शासन भी वे ही करें और गरीब किसी गिनती में न हों ? रूस में देश शासन का अधिकार गरीबों के ही हाथ में है। कारखानों के मालिकों के अतिरिक्त पहले की पुलिस और राज-रक्षक फौज को भी वोट देने का अधिकार नहीं; गूँगे, बहरे और अपराधी भी इस अधिकार से वंचित हैं।" (पृष्ठ ४११-४१३)।

जो लोग यह प्रचार करते थे कि रूस में क्रान्ति के बाद जनतन्त्र समाप्त कर दिया गया है, उनको यहाँ बहुत स्पष्ट उत्तर दिया गया है। जनतन्त्र नष्ट नहीं हुआ, उसका प्रसार हुआ है। पुराने जनतन्त्र की विशेषता यह है कि धन ही शासन-प्रबन्ध का अधिकार दिलाता है, धनी विषयसुख लूटते हैं और देश का शासन भी करते हैं। यह पूँजीवादी जनतन्त्र है जिसमें सत्ता पूँजीपति वर्ग के हाथ में रहती है। नये जनतन्त्र में शासन का अधिकार गरीबों के हाथ में है, पूँजीपतियों के हाथ से राजनीतिक और आर्थिक अधिकार छीन लिये गये हैं, कारखानों के मालिकों को वोट देने का अधिकार नहीं है, उनकी पुलिस और राज-रक्षक फौज को वोट देने का अधिकार नहीं है। स्पष्ट है कि रामचन्द्र वर्मा को इस नये जनतन्त्र से गहरी सहानुभूति है।

सोवियतसत्ता के प्रति सहानुभूति के कारण रामचन्द्र वर्मा सोवियतविरोधी प्रचार से प्रायः मुक्त रहे। जो पक्ष सोवियत राज्यसत्ता की निन्दा करता था, उसके लिए उन्होंने लिखा है कि इसमें प्रायः ऐसे लोग हैं "जो स्वार्थ अथवा किसी और कारण से दूर से बैठे-बैठे उनकी [बोल्शेविकों की] निन्दा किया करते हैं और आजकल युरोप में प्रायः ऐसे ही लोगों की अधिकता है।" (पृष्ठ ४४८)। इनसे भिन्न जहाँ भी उन्हें बोल्शेविकों के समर्थन में कही हुई कोई बात मिलती है, उसे वह उद्धृत करते हैं। उदाहरण के लिए **मैनचेस्टर गार्जियन** नाम के अंग्रेज़ी पत्र के एक संवाददाता का हवाला देते हैं; "बोल्शेविकों के सम्बन्ध में इनकी राय सरकारी राय से बिल्कुल भिन्न थी।" (पृष्ठ ४३२)। इंग्लैण्ड में ब्रिटिश सरकार की नीति के विरोध में वहाँ की श्रमिक जनता ने जो आन्दोलन चलाया, उसका वह विवरण देते हैं। कहते हैं, "अभी हाल में इंग्लैण्ड के स्वतन्त्र श्रमजीवी दल की अनेक ऐसी सभाएँ हुई हैं जिनमें प्रधानमन्त्री लायड जार्ज की रूस सम्बन्धी

नीति पर असन्तोष प्रकट किया गया है और बोल्शेविकों से तुरन्त सन्धि करने की प्रार्थना की गई है।" (पृष्ठ ४१०)।

वर्माजी के विचार से, आरम्भ में अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए, बोल्शेविकों ने रूसी प्रजा पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये जिनमें किसी समझदार को ज़रा भी सहानुभूति नहीं हो सकती। फिर कहते हैं कि राज्यक्रान्ति करने वाले नेताओं के विचार उत्तम हो सकते हैं किन्तु जो साधारण लोग उनके सहायक हो सकते हैं, वे उद्दण्ड होते हैं। आगे कहते हैं, "बोल्शेविकों ने केवल रूस की प्राचीन अत्याचारपूर्ण शासनप्रणाली पर ही विजय नहीं प्राप्त की थी बल्कि बहुत से अंशों में कुछ सार्वभौम अनुचित नियमों और सिद्धान्तों पर भी विजय प्राप्त की थी। ऐसी दशा में यदि उनके शासन काल के आरम्भ में कुछ अनुचित कृत्य अथवा अत्याचार हुए हों तो उनके लिए वे बहुत अधिक दोषी नहीं ठहराये जा सकते।" (पृष्ठ ४४६)।

पूंजीवादी देश राजनीतिक लाभ की दृष्टि से सोवियतविरोधी प्रचार करते हैं, यह बात वर्माजी से छिपी नहीं है। पूंजीवादी देशों की नीति के प्रसंग में कहते हैं, अब तक बोल्शेविक रूस के सम्बन्ध में जितने समाचार आये हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों ने और उन मित्र राष्ट्रों में से "केवल इंग्लैण्ड ने ही बोल्शेविकों के शत्रुओं की सबसे अधिक सहायता करके उन्हें परास्त करने का आयोजन किया है।" (पृष्ठ ४५०)। रूस के खनिज पदार्थों पर भी ब्रिटिश पूंजीपतियों की निगाह है। वर्माजी कहते हैं, "साईबेरिया में मूल्यवान धातुओं की कई खानें हैं जिन्हें कुछ ब्रिटिश व्यापारियों ने एडमिरल कोलचक की अस्थाई सरकार की सहायता से अपने हाथ में ले रखा है। यदि कोलचक की सरकार बनी रहे तो एक प्रभावशाली ब्रिटिश व्यापारी मण्डल का बहुत बड़ा लाभ हो सकता है।" (पृष्ठ ४५०-५१)। इस प्रकार ब्रिटिश पूंजीपतियों के आर्थिक और राजनीतिक हित मिले हुए थे। रूसी क्रान्ति के बाद बड़े-बड़े पूंजीवादी देशों की सरकारें इस भय से सहमी हुई थीं कि अभी जो रूस में हुआ है, कल वह उनके देश में भी हो सकता है। इस भय से मुक्ति पाना रूसी क्रान्ति को दबाने के प्रयत्नों का मुख्य उद्देश्य था। इस उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए वर्माजी कहते हैं, "यह ठीक है कि यदि इंग्लैण्ड इस समय रूस में बोल्शेविकों को दबा लेगा तो भविष्य में उसे वहाँ अपना व्यापार बढ़ाने का भी अच्छा अवसर मिल जायेगा। परन्तु इसके साथ ही उसका सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि इंग्लैण्ड के मज़दूरों आदि पर बोल्शेविक सत्ता की स्थापना का अब तक जो प्रभाव पड़ चुका है उसका नतीजा भुगतने से वह बच जायगा। इंग्लैण्ड के मज़दूर भी अब यह सिद्धान्त उपस्थित करने लग गये हैं कि देश के समस्त उद्योग-धन्धों पर राष्ट्र का अधिकार हो जाय। वे पूंजीवालों का प्रभुत्व नष्ट करके सम्पत्ति का उचित विभाग कराना चाहते हैं और अपने अधिकार तथा सुभीते बढ़ाना चाहते हैं।" (पृष्ठ ४६१)। अपने देश में क्रान्ति की सम्भावना को खत्म करना, जहाँ क्रान्ति हो चुकी है वहाँ की राज्यसत्ता का नाश करना, ब्रिटिश पूंजीपतियों की नीति का यह सार-तत्व था।

ब्रिटिश राजनीति की चर्चा करते हुए रामचन्द्र वर्मा ब्रिटिश साम्राज्य
पराधीन भारत को नही भूले। अंग्रेजों को केवल इंग्लैण्ड मे समाजवादी
होने का भय नही है, उन्हे भारत में साम्राज्य विरोधी क्रान्ति होने का भय भी
इसलिए वर्माजी ने लिखा है, "एक राजनीतिक कारण ब्रिटिश साम्राज्य-सम
भी है। अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ इस बात से डरते है कि कहीं इस नये आन्दोलन
प्रभाव भारत, अफगानिस्तान और मेसोपोटामिया आदि पर न पडे, नह
*ब्रिटिश साम्राज्य को भी धक्का पहुँच सकता है।*" (पृष्ठ ४५२-५३)।
ईरान-इराक युद्ध और अफगानिस्तान मे सोवियत सेना की स्थिति को लेकर
की (१९८१ की) ब्रिटिश नीति का अध्ययन करें तो विदित होगा कि १९
से लेकर १९८१ तक उस नीति मे कोई मौलिक परिवर्तन नही हुआ।

भारत का स्वाधीनता आन्दोलन रूसी क्रान्ति से किस प्रकार प्रभावित
रहा है या उसे किस प्रकार प्रभावित होना चाहिए, इसका विवेचन वर्माजी
पुस्तक मे नही है। किन्तु उन्होंने एक अध्याय भारत के किसानो और मजदूरों
लिखा है। 'बोल्शेविज़म' नाम के अध्याय के बाद अगला अध्याय है, 'भार
कृषक और मज़दूर'। यह अध्याय लिखने का अर्थ है, रूसी क्रान्ति को पृष्ठभूमि
रखकर भारत के किसानो और मज़दूरों की स्थिति पर विचार करना। भा
खेतिहर देश है। पुराने उद्योग-धन्धों का नाश होने के बाद खेती पर निर्भर र
वालो की सख्या और बढ़ गयी है। इसलिए भारत का अर्थ हुआ खेतिहर भार
किसानों का भारत।

वर्माजी ने किसानो को लक्ष्य करके लिखा है, "भारतीय कृषकों की कहा
मोटे हिसाब से सारे भारतवर्ष की कहानी है क्योकि भारत की जनसंख्या का ४
अंश देहातों में ही बसता है। पर इस कहानी का आदि, मध्य और अन्त सब
दुःखपूर्ण है।" (पृष्ठ ४५५)। संक्षेप में दुःखों की कहानी यह है: "जो सारे वर्ष
एक दिन भी नही जानता कि भरपेट खाना किसे कहते है, जिसने एक बार
अनुभव न किया हो कि शीत और लू से बचनेवालों को क्या सुख मिलता
जिसने जन्मभर मे एक बार भी न जाना हो कि निश्चिन्त और निर्भय जीवन कै
होता है; मानस हित जीवन का सुख जिसे कभी एक क्षण के लिए भी न मिल
अपमान जिसका भोजन, उपवास जिसका वस्त्र, भय और चिन्ता जिसके ओढ़
बिछाने के सामान हो, उसके दुःखों की किसके दुःख से तुलना की जाय? पशु क
भाँति खरीदे और बेचे जानेवाले दास भी कदाचित् उसके समान दुःखी न होंगे।"
(पृष्ठ ४५५-५६)।

खेती के उपकरण पुराने है, भूमि की उर्वराशक्ति घटती जाती है, (उस
समय के) भारत के बारह करोड़ आदमी चौबीस घण्टों में एक बार आधा पेट
भोजन पाते हैं। जमीदारी और रैयतवारी दोनों तरह की प्रथाओं में लगान और
टैक्स देते उनका कचूमर निकल जाता है। अकाल के मरनेवालों की गिनती नहीं।
भारतीय किसानों के शोषण की एक विशेषता जमींदारों का लगान बढ़ाना है।
वर्माजी कहते है कि "आजकल के जमींदार थोड़े समय में अधिक किसी विशेष खेत
पर एक कृपक का अधिकार रहने ही नहीं देते है।" (पृष्ठ ४६२)। पाँच

पहले ही बेदखल करके वही खेत दूसरे किसान को ज्यादा लगान पर उठा देते हैं। जमींदारी प्रथा के सबसे विकृत रूप हिन्दी-भाषी प्रदेश में रहे हैं। वर्माजी के अनुसार भारत के अस्सी फीसदी किसान 'कच्ची रिआया' हैं। इसका अर्थ यह है कि वे भूमिहीन हैं। जमींदार उन्हें कुछ समय के लिए खेत जोतने रहने की अनुमति देता है, यह अवधि समाप्त होने पर उन्हें "बेदखल" कर देने अथवा नये रूप में लगान लगाने का पूरा अधिकार जमींदार को होता है।" (पृष्ठ ४६२)। जमींदार के साथ महाजनों की फौज है। महाजनों से कर्ज लिए बिना किसान एक दिन भी जी नहीं सकता।

जो लोग भूल गये हों कि प्रेमचन्द ने किस भारत का चित्रण किया था, वे महाजनों के बारे में रामचन्द्र वर्मा का यह विवरण ध्यान से पढ़ें। लिखा है, "भारत में ऐसे बहुतेरे किसान मिलते हैं जो अपनी प्रत्येक फसल की सारी उपज पहले महाजन को सौंप देते हैं, फिर उसी से रुपये और अन्न लेकर लगान देते और पेट पालते हैं, जिनका सारा ठाट पसार ऋण पर है; महाजन की दया के बिना जो एक दिन भी जीने में असमर्थ है। अधिकतर भारतीय कृषक उधार बीज लाकर बोते, ऋण के रुपये से बैल खरीदते, ऋण से कर लगान देते और महाजन के ही भाण्डार के अन्न से पेट पालते हैं। इसका फल यह होता है कि महाजन की सत्ता उन पर जमींदार से भी बढ़-चढ़कर होती है। जमींदार की अप्रसन्नता का अनर्थ सहने के लिए वह एक बार तैयार भी हो सकता है, पर महाजन की टेढ़ी नजर देखने की उसमें शक्ति नहीं। जमींदार यदि उसके लिए देवता है तो महाजन साक्षात् स्थिति और नाश का अधिकारी ईश्वर।" (पृष्ठ ४६५)।

जमींदारी-महाजनी शोषण का रक्षक है अंग्रेजी राज। जहाँ भी जमींदारों-महाजनों के हित का नाश होता हो, जहाँ भी उनके शोषण के विरोध में किसान सिर उठाते हों, वहीं इन महाजनों और जमींदारों की रक्षा के लिए पुलिस और फौज आ पहुँचती है। कानून और अदालत इसी शोषक वर्ग की रक्षा के लिए हैं। वर्माजी ने यह सब नहीं लिखा किन्तु प्रेमचन्द ने यह सब लिखा है। इसीलिए महाजनों और जमींदारों के वंशज और उन वंशजों के चाकर आज भी प्रेमचन्द को क्षमा करने के लिए तैयार नहीं हैं।

लगान बढ़ाना जमींदारी शोषण का प्रमुख साधन है, एकमात्र साधन नहीं। रामचन्द्र वर्मा ने शोषण के जिन अन्य साधनों का वर्णन किया है, उनसे स्वाधीन भारत के बहुत से युवक अपरिचित होंगे। प्रेमचन्द ने प्रेमाश्रम में जिस ग्राम-समाज का चित्रण किया है, उसी की झलक रामचन्द्र वर्मा के निम्नलिखित विवरण में है।

"केवल अपने और खेत के सामर्थ्य से भी अधिक लगान देकर ही भारतीय कृषक अपने पूर्वजन्म के महाजनों के ऋण से निष्कृति नहीं पाता। पट्टा लिखने के समय जमींदार और उसके कारिन्दे को नजराना, पटवारी को तहरीर और प्यादे को दस्तूरी देना उसका कर्त्तव्य होता है। बेबाकी की रसीद प्राप्त करने के समय कारिन्दे की वार्षिक बलि चढ़ानी पड़ती है। तकाजे का डण्डा तनिक हल्के हाथ से लगाया करे, इस उद्देश्य से प्यादे की भी साल में दो-चार बार भेंट-पूजा करनी

पड़ती है। जमींदार के घर लड़के का ब्याह हो तो 'नचौना' और लड़की ब्याही जाय तो 'दायज' देना उसका अनिवार्य कर्त्तव्य है। जमींदार को यदि घोड़ा रखने का शौक चर्राया तो 'घोडौना' नामक टैक्स दे, उसके यहाँ ब्राह्मण-भोजन हो तो दवाई के लिए रखा हुआ घी समर्पित कर दे। किसी बड़े काम के लिए जब उसे धन की जरूरत हो तो उसके बैल या घोड़े की लाटरी का टिकट खरीदे। गाँव में किसी हाथी ऊँट वाले साधु-महन्त का अखाड़ा या किसी मुन्नी-मैनाजान का डेरा आ धमके और जमींदार महाशय की भक्ति या रसिकता में उबाल आ जाय तो यथासाध्य अन्न, तरकारी, घी आदि भेंट कर उसका मान रखना भी कृषक के लिए आवश्यक है। होली में एक कटोरी भंगमिश्रित शरबत (भंगरसा) के प्रसाद के लिए एक रुपया पूजा चढ़ाने की वसीयत उसके दड़दादा ही कर गये हैं।" (पृष्ठ ४६४)।

जो लोग प्रथम महायुद्ध के समय के भारत से परिचित नहीं हैं, उन्हें यह सब अतिरंजित प्रतीत होगा किन्तु वास्तविकता यही थी। अंग्रेजों ने पुराने सामन्तवाद में काफी परिवर्तन किया, उसके अवशेष वे बनाये रहे, साथ ही उन्होंने नये तरह के सामन्तों को जन्म दिया जो पुराने सामन्तों के अवशेष नहीं हैं वरन् अंग्रेजी राज की नयी सृष्टि हैं। यह सारा सामन्त-समुदाय अंग्रेजी राज द्वारा रक्षित था, साथ ही वह स्वयं प्रजा से अंग्रेजी राज की रक्षा करता था। इसी कारण भारत में साम्राज्यविरोधी क्रान्ति तब तक सफल न हो सकती थी जब तक वह सामन्त-विरोधी भी न हो। रामचन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक में ऐसी किसी क्रान्ति की ओर संकेत नहीं किया पर वह जानते अवश्य थे कि अंग्रेजों को ऐसी क्रान्ति से भय है।

बोल्शेविज्म वाले अध्याय में जहाँ वर्माजी ने लिखा है कि रूसी क्रान्ति के प्रभाव से ब्रिटिश साम्राज्य को भी धक्का पहुँच सकता है, वहाँ धक्का पहुँचाने-वाली कौन-सी शक्ति हो सकती है? स्पष्ट ही यह भारतीय जनता के ४/५ भाग की शक्ति होगी अर्थात् सामन्तविरोधी साम्राज्यविरोधी किसान-आन्दोलन की शक्ति होगी। वर्माजी अंग्रेजों को समझाते हैं कि भारत में क्रान्ति होगी ही नहीं, डरने की कोई बात नहीं है। उनका तर्क है कि यूरुप ने बहुत उन्नति कर ली थी, इसलिए वहाँ क्रान्ति हुई। भारत पिछड़ा हुआ देश है, यहाँ क्रान्ति क्यों होगी? लिखा है, "रूस के ढंग की राज्य-क्रान्ति सबसे पहले उन्हीं युरोपीय राष्ट्रों में हो सकती है जो सभ्यता के शिखर तक पहुँच गये है क्योंकि यह राज्यक्रान्ति आधुनिक युरोपीय सभ्यता का ही फल है।" (पृष्ठ ४५३)। वैसे वर्माजी स्वयं कह चुके हैं कि रूस एक पिछड़ा हुआ देश था और वहाँ की क्रान्ति की विलक्षणता यही थी कि वह ऐसे देश में हुई जो सभ्यता के शिखर तक न पहुँचा था। [illegible] तर्क से अंग्रेजों का भय न दूर हो सकता था।

उन्होंने दूसरा तर्क दिया कि और दूसरे देशों में चाहे जो हुआ हो, भारत में क्रान्ति नहीं हो सकती क्योंकि "बोल्शेविज्म हम भारतवासियों की प्रवृत्ति और प्रकृति के ही प्रतिकूल है।" (पृष्ठ ४५३)। यह तर्क आज भी [illegible] लोग देते हैं, इसलिए यह प्रश्न करना उचित होगा कि पूँजीवाद भारत की प्रकृति के अनुकूल है या नहीं। वर्माजी से छिपा न था कि भारत में [illegible] पनप रहा है

यहाँ एक नये वर्ग, मजदूर वर्ग, का जन्म हो रहा है। उन्होंने लिखा है, "भारत में यद्यपि अभी बहुत ही थोड़े कारखाने स्थापित हुए हैं तथापि उनका दुष्परिणाम यहाँ के श्रमजीवियों को भोगना ही पड़ रहा है।" (पृष्ठ २६०)। दुष्परिणाम यह है कि "उन्हें बहुत अधिक समय तक काम करना पड़ता है और बहुत ही थोड़ा वेतन मिलता है जिससे उनका पेट भी नहीं भरता और वे सदा कर्जदार बने रहते हैं।" (उप.)। मजदूरों का इस तरह जीवन बिताना भारतीय प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इनकी दशा में सुधार कैसे हो? वर्माजी भारतीय पूँजीपतियों की ओर देखते हैं और कहते हैं, "भारतीय पूंजीदार अन्यान्य भारतीय धनवानों की तरह दानशील होते हैं। अतः हम आशा करते हैं कि वे अपने इस गुण का उपयोग मजदूरों की दशा सुधारने में भी करेंगे।" (पृष्ठ २६१)।

पूंजीपतियों का तर्क यह था कि मजदूरों के काम का समय कम किया जाये, उनका वेतन बढ़ाया जाये तो जापान जैसे देशों से होड़ करके अपना माल बेचना असम्भव हो जायेगा। वर्माजी पूँजीपतियों के इस तर्क से परिचित हैं और उसका समर्थन भी करते हैं। श्रमिकों की दुर्दशा का वर्णन करने के बाद कहते हैं, "अभी हाल (दिसम्बर, १९१९) में भारत सरकार ने कपड़े के कारखानों में श्रमजीवियों के काम करने का समय घटाने के सम्बन्ध में कुछ सलाह माँगी थी। इसके उत्तर में कदाचित् बम्बई के कारखानेदारों ने कहा था कि जब तक हमें जापान के मिलों के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है तब तक इस विषय पर विचार न करना ही ठीक है। हाँ जिस समय जापान आदि देशों में भी, जिनके साथ हमें भीषण प्रतियोगिता करनी पड़ती है, मजदूरों से थोड़े समय तक काम लेने की व्यवस्था न हो जाये तब तक भारत में इस प्रकार की व्यवस्था करना बहुत ही हानिकारक है।" (पृष्ठ ४७०)।

जब मैनचेस्टर के मज़दूरों की दशा सुधारने का प्रश्न होता था, तब अंग्रेज़ों की सहानुभूति बम्बई के मज़दूरों के प्रति जागृत होती थी। जब बम्बई के मज़दूरों की दशा सुधारने का प्रश्न होता था तब भारतीय पूंजीपतियों की सहानुभूति मैनचेस्टर के मजदूरों के प्रति जागृत होती थी। प्रतियोगिता के बिना पूंजीवादी संसार का अस्तित्व सम्भव नहीं है। न जापानी प्रतियोगिता समाप्त होगी, न बम्बई के मज़दूरों की दशा सुधरेगी; पूँजीपतियों को अपनी दानशीलता का परिचय देने का अवसर ही न मिलेगा। इसीलिए भारतीय श्रमिकों ने सगठित होना सीखा, अपनी दशा सुधारने के लिए संघर्ष करना सीखा, और वे क्रमशः उस विचारधारा से प्रभावित होते गये जो उन्हें पूंजीवादी शोषण से मुक्त होने का मार्ग दिखाती थी।

क्या लोग स्वेच्छा से अपनी पूंजी राष्ट्र के चरणों में अर्पित कर देंगे? वर्माजी उत्तर देते हैं, "जो लोग अब तक अपनी पूँजियों ही की बदौलत दुग्धकुण्ड में स्नान करते और सैकड़ों सहस्रों को अपने से हीन देखकर अपने भाग्य या बुद्धिमत्ता पर गर्व करते रहे हैं, जिनमें से अधिकतर विलासिता ही में पले और विलासिता के लिए ही जीते हैं, उनके हृदयों में विश्व-मानव प्रेम का किसी दिन ऐसा ज्वार आ जायेगा कि अपने उसी गर्व, उसी विलासिता की सामग्री—अपनी पूंजी—को वे

राष्ट्र के चरणों में भेंट करके साधारण श्रमजीवी की श्रेणी मे आ जायँगे, यह आशा किसी आशावादी से आशावादी साम्यवादी के अन्त.करण मे भी उद्भूत नही हुई।" (पृष्ठ ३३१)। इसीलिए मार्क्सवादी विचारधारा का प्रसार अनिवार्य है। पूँजीपति स्वेच्छा से अपनी पूँजी राष्ट्र के चरणो मे अर्पित न कर देंगे। इसके लिए राष्ट्र जब उन्हें वाध्य करेगा, तभी वे अपना जीवन-क्रम बदलने को तैयार होंगे।

क्या यह सम्भव है कि राज्य अपने अधिकार का उपयोग करके पूँजीपतियों से जबरदस्ती उनकी पूँजी छीन ले या मूल्य देकर खरीद ले ? इन दो तरीकों के बारे मे वर्माजी कहते हैं, "इनमे से किसी की व्यवहार्यता असंदिग्ध नहीं है।" (उप.)। तब वर्ग-भेद और वर्ग-शोषण मिटाने का मार्ग कौन-सा है ?

पुस्तक के उपसंहार मे वर्माजी कहते हैं, "अब तक ससार मे जितने अर्थशास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्त प्रचलित है और जितनी आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं उन सबका साम्यवाद के सिद्धान्तों से बराबर खण्डन होता है परन्तु साम्यवाद के सिद्धान्त बहुत-से अशो मे अकाट्य और अखण्डनीय ही बने हुए है। इसका कारण यह है कि साम्यवाद के सिद्धान्त उक्त सिद्धान्तो की अपेक्षा बहुत उन्नत तथा आगे बढे हुए हैं। और यही कारण है कि इन सिद्धान्तो के माननेवालों की सख्या दिन दूनी और रात चौगुनी होती जाती है। जिस देश मे दो-चार साम्यवादी खड़े हो जाते हैं उस देश की प्रायः सारी प्रजा के विचार और मत बदल जाते हैं; प्रायः सारा देश का देश साम्यवाद के सिद्धान्त मानने लग जाता है। इसके विरोधी प्राय वे ही होते है जिनके स्वार्थ मे वह बाधक होता है; परन्तु वे ही विरोधी प्राय सब प्रकार का अधिकार अपने हाथ मे रखते है इसलिए और लोगो का बस नही चलता।" (पृष्ठ ४८७-८८)। लोगो का बस कैसे चले, जिनके पास सब प्रकार का अधिकार है, उनसे यह अधिकार छीनकर कैसे राष्ट्र को सौपा जाय, इन प्रश्नों का उत्तर मार्क्सवाद के पास है। जिस 'साम्यवाद' के सिद्धान्त अकाट्य और अखण्डनीय हैं, वह मार्क्सवाद है।

वर्माजी की पुस्तक में कुछ असगतियाँ विचारधारा मे उलझन के कारण हैं, कुछ गलत बातें उन्होंने उपयुक्त सामग्री न मिलने के कारण लिखी हैं। एक जगह उन्होंने लिखा है, "कार्ल मार्क्स की यह राय थी कि डाक्टर और भंगी को उजरत तो एक ही दीजिए, पर भगी को तीन ही चार घण्टे झाड़ू फटकार देने के बाद सारे दिन और रात के लिए छुट्टी मिल जाए और डाक्टर की ड्यूटी चौबीसों घण्टे रहे और इसके लिए उसे केवल धन ही के रूप मे नहीं बल्कि और भी किसी रूप मे भंगी से कुछ भी अधिक न दिया जाए।" (पृष्ठ ३४७)। ज़ारशाही का पतन होने के बाद रूस मे जो पूँजीवादी सरकार बनी, उसके प्रमुख सदस्य करेन्स्की के लिए लिखा है कि वह 'पक्का साम्यवादी' था। (पृष्ठ ३६०)। रूसी गृहयुद्ध के दौरान बोल्शेविक चारो ओर शत्रुओं मे घिर गये थे, "उस समय विवश होकर लेनिन को जर्मनों से धन तथा जन की सहायता लेनी पड़ी।" (पृष्ठ ४६०)।

असगतियों और अनेक प्रकार के दोषों के बावजूद पुस्तक मे विवेचन को मूल दिशा सही है। भूमिका मे उन्होने पुनः स्पष्ट किया है, "साम्यवाद का मुख्य उद्देश्य यह है कि आजकल समाज में बलवानो ने जो सामाजिक विषमता उत्पन्न कर दी

है और जिसके कारण समाज के थोड़े से लोग बहुत अधिक सुखी तथा बहुत से लोग दुखी हो रहे है वह दूर कर दी जाए; समाज के हित अथवा इच्छा के सामने व्यक्तिगत हित अथवा इच्छा प्रवल न हो सके।" इस मुख्य उद्देश्य को लोकप्रिय बनाने मे वर्माजी को सफलता मिली है। हिन्दी प्रदेश मे समाजवादी विचारधारा का प्रसार करनेवाली पुस्तको मे उनकी पुस्तक का स्थान भी महत्त्वपूर्ण माना जायेगा।

## (च) रूस की राज्यक्रान्ति

१९२० मे रमाशकर अवस्थी की लिखी **रूस की राज्यक्रान्ति** पुस्तक प्रकाशित हुई। पुस्तक मे फरवरी क्रान्ति की चर्चा अधिक है; अन्त मे समाजवादी क्रान्ति की चर्चा सक्षेप मे की गयी है। लेखक ने समाजवादी क्रान्ति के सन्दर्भ मे स्वय को तटस्थ रखने का भाव दिखाया है। उसका तर्क है कि क्रान्ति के बाद रूस ने शान्ति, सुख और समता की स्थापना के लिए जिन उपायो से काम लिया है, वे भले है या बुरे, यह हम नही कह सकते। "बिना परिणाम देखे, कैसे कहें। हाँ, यदि उसका इसमे कल्याण होता है, तो वह ऐसा ही करे।" आगे चलकर लेखक तटस्थ नही रह जाता। समाजवादी क्रान्ति के बारे मे सक्षेप में ही लिखा है पर जो लिखा है, वह महत्त्वपूर्ण है। कई जगह उसे तथ्यो की सही जानकारी नही है। 'नई दलबन्दियाँ' नाम के अध्याय मे दलों का परिचय देते हुए कहा है कि रूस में एक दल बोल्शेविकों का है और एक दल लेनिनिस्टों का है। इसी तरह करेन्स्की को रूसी क्रान्तिकारी नेताओ मे सबसे आश्चर्यजनक व्यक्तित्व बताया है। करेन्स्की युद्ध को उचित ढंग से समाप्त करना चाहते थे पर, "लेनिन के पट्राग मे पड़कर मजदूर सैनिक दल ने करेन्स्की को प्रधानमन्त्री के पद से उतार दिया।" आगे लेखक ने स्वय इस बात का खण्डन किया है और उन कारणो की चर्चा की है जिनसे करेन्स्की को हटाना आवश्यक हुआ।

रमाशंकर अवस्थी इस बात को ध्यानपूर्वक देख रहे थे कि जो अंग्रेज भारत को पराधीन बनाये है, वेही रूसी क्रान्ति का दमन करने की पूरी कोशिश कर रहे है। इंग्लैण्ड अमरीका आदि ने बोल्शेविक विरोधी सेनापति देनिकिन की धन और गोला-बारूद से बहुत बड़ी सहायता की पर नवम्बर-दिसम्बर १९१९ तथा जनवरी १९२० में बोल्शेविकों ने कियेव और ओदेसा पर अधिकार कर लिया और देनिकिन की सेनाएँ चकनाचूर होकर क्रीमिया की तरफ भाग गयी। (पृष्ठ २११)। रूस मे बोल्शेविक-विरोधी सेनापति कोल्चक की सहायता करके चर्चिल इंग्लैण्ड को बोल्शेविज्म के खतरे से बचाए रखना चाहते थे। रायटर ने इस सिल-सिले में जो खबरें सुनायी उन्हे पढने से सच्चाई और बनावट की खिचड़ी बड़ी दिलचस्प मालूम होती है। पहला समाचार—ऐडमिरल कोल्चक जीत रहे हैं। दूसरा समाचार—बोल्शेविकों ने पेत्रोग्राद खाली कर दिया। तीसरा समाचार—कोल्चक शीघ्र ही मास्को लेनेवाले है। चौथा समाचार—दक्षिण रूस मे जनरल देनिकिन ने अस्त्राखान ले लिया। ससार को पता नही कि ये समाचार कहाँ तक सत्य है किन्तु बाद को इतनी खबर जरूर मिली कि बोल्शेविकों ने शत्रु को एक

सौ बीस मील पीछे हटा दिया। साम्राज्यवादी समाचार-एजेन्सियाँ अपने प्रच
में असफल हो रही थी। उनकी मनगढ़न्त खबरों पर भारत के प्रबुद्ध लेखक ह
रहे थे।

गरीब और अमीर का भेद बहुत पुराना है पर वर्तमान सामाजिक विषमत औद्योगिक पूंजीवाद की देन है। "जब से कल-कारखानों ने जन्म लिया, पूंजीवालों ने बहुत बड़ी संख्या में आदमियों को नौकर रखकर अपने व्यक्तिगत लाभों के लिए सगठित उद्योग और व्यापार आरम्भ किया, तभी से विषमता में कटुता का अंश बढ़ने लगा।" (पृष्ठ २१६)। पुराने कारीगर तबाह हो गये। पूंजीपतियों की शर्तों पर उन्हें पुतलीघरों में काम करने पर मजबूर होना पड़ा। इसका फल यह हुआ कि समाज में कुछ लोग अमीर होते गये, शेष जनता दरिद्र बन गयी। पूंजी-पतियों और मज़दूरों की लड़ाई में बहुत दिन तक पूंजीवालों की विजय होती रही। ारण यह था कि "सरकारें उनके हाथों की कठपुतलियाँ थीं।" (पृष्ठ २१७)। स में ज़ारशाही समाप्त की गयी। करेन्स्की की सरकार बनी पर वह जनता समस्या न हल कर पायी। अवस्थीजी कहते हैं, करेन्स्की की सरकार धनी लोगों समर्थक हो गयी थी। उसने सैनिकों को सीमान्त पर युद्ध लड़ते रहने और न लड़ने पर प्राणदण्ड देने के नियम घोषित किये। हजारों मज़दूरों को कैद में डाल दिया।" (पृष्ठ २०४)। इस कारण पूंजीपतियों की समर्थक इस सरकार को हटाना आवश्यक हुआ।

नवम्बर १९१७ में समाजवादी क्रान्ति हुई। विभिन्न दलों की चालें पहचानने के बाद "जनता ने बड़े विकट साहस के साथ नवम्बर की क्रान्ति की रचना रची।"(पृष्ठ २०५)। इस क्रान्ति की विशेषता यह थी कि राज्यसत्ता पर श्रमिक जनता का अधिकार हुआ। "इस क्रान्ति ने ही जनता के हाथों में शक्ति और सगठन को सौंप दिया। इस अन्तर-क्रान्ति ने रूस में श्रमजीवियों और किसानों को उनकी असली सत्ता दी, और उन्होंने पंचायत शासन की रचना करके अपनी भूमि पर अपना कब्जा कर लिया और सच्ची स्वाधीनता प्राप्त कर ली।"(उप.)। पूंजीवादी देशों में जो जनतन्त्र कायम है, वह पार्लियामेण्टों में मज़दूरों के प्रति-निधियों को भी बैठने देता है पर वहाँ "पूंजीवालों की अभी वैसी ही चलती है जैसी कि पहले थी, अब भी वे अपने बाजार बनाने और कच्चा माल लाने के लिये भीषण संग्राम छेड़ देते हैं। उनका हाथ पकड़नेवाला कोई नहीं, उनका मुंह थामनेवाला कोई नहीं। वे स्वय सरकार हैं और सरकारें उन्हीं से बनी हैं। फिर भला गरीबों की सुने तो कौन ?" (पृष्ठ २१९)। करेन्स्की की सरकार इसी तरह की सरकार थी। इस सरकार का वर्ग-आधार स्पष्ट करते हुए लिखा है : "प्रजा-न्त्र अस्थायी सरकार (Provisional Government) के शुभ राज्य में भी मीर गरीबों के परिश्रम से अनुचित लाभ उठाते थे, और जमींदार किसानों का क्त चूसते थे। यही प्रश्न था, जिसके कारण रूसी जनता ने करेन्स्की की सरकार कुटिल नीति को ठुकराकर लेनिन को अपना नेता बनाया। उसने सोचा कि दि जनता पर अमीरों और जमींदारों का क्रूर शासन बना ही रहा तो क्रान्ति ल ही क्या निकला ? लेनिन ने शासन की बागडोर हाथ में लेते ही यह

घोषणा कर दी कि किसान जमीदारों से भूमि छीन लें और मजदूर मिलों के मालिक बन जाएँ।" (पृष्ठ २२३)।

यह स्वाभाविक था कि युद्ध और शान्ति के मामले मे बोल्शेविक सरकार की नीति करेन्स्की की सरकार की नीति से पूरी तरह अलग हो। रमाशंकर अवस्थी ने समाजवादी रूस की शान्ति-नीति का विवेचन इस प्रकार किया था : "युद्ध के सम्बन्ध मे बोल्शेविकों की यह निश्चित सम्मति है कि युद्ध केवल धनी समुदाय के लाभ के लिए लड़े जा रहे हैं। समस्त सम्पत्तिवादी देश नये बाजारों, कच्चे माल की प्राप्ति और नये लाभ के लिए यह युद्ध छेड़े हुए है। श्रमजीवियों के लिए युद्ध लाभप्रद तो हो ही नही सकता, उल्टा नाशकारक है। इसीलिए बोल्शेविकों ने युद्ध बन्द कर देने के लिए एक स्वर से घोर विरोध आरम्भ किया। संसार भर से युद्ध उठा देने के लिए बोल्शेविकों ने प्रयत्न किये। इसीलिए बोल्शेविकों ने गुप्त सन्धियो को प्रकट करके संसार के धनी समुदाय के स्वार्थों को प्रकट कर दिया। बोल्शेविकों का कहना यह था कि संसार भर के पूंजीवाले झूठमूठ ही संसार की स्थायी शान्ति का ढकोसला रच रहे है, और ससार की जनता को धोखा दे रहे हैं। करेन्स्की की सरकार भी इसीलिए उन गुप्त व्यापारिक और भौमिक शर्तों को प्रकट करना नही चाहती थी। ज़ार ने इंग्लैण्ड और फ्रास के साथ कुस्तुनतुनिया, आर्मीनिया और गलीशिया हड़प कर लेने के लिए ये गुप्त सन्धियाँ की थीं। करेन्स्की की सरकार ने भी इन सन्धियों का स्पष्ट रूप से समर्थन किया था। अब चूंकि शासन की सत्ता श्रमजीवियो के हाथ में आ गयी, इसलिए उन्होंने उन गुप्त सन्धियो को संसार पर प्रकट कर दिया।" (पृष्ठ २०६-२०७)।

अंग्रेज बराबर प्रचार कर रहे थे कि रूस भारत पर हमला करनेवाला है। इस बात से भारतवासियो को वैसे भी डर न था क्योकि अंग्रेज यहाँ पहले ही अधिकार किये बैठे थे। किन्तु अंग्रेजों ने युद्ध क्यों किया था, कच्चे माल के बाजारों से युद्ध का सम्बन्ध किस तरह का है, साम्राज्यवाद युद्ध के बिना रह नही सकता, साम्राज्यवाद के रहते स्थायी शान्ति की बातें करना व्यर्थ है, ये सारी बातें समाजवादी क्रान्ति के बाद अनेक भारतीय लेखको के सामने बहुत स्पष्ट हो गयी थी। विश्व साम्राज्यवाद मे भारत की स्थिति क्या है और यह साम्राज्यवाद समाजवादी रूस से कहाँ टकराता है, यह बात भी उनके सामने स्पष्ट थी।

भारत की मुख्य सामाजिक समस्या किसानो की थी। किसानों को संगठित किये बिना स्वाधीनता आन्दोलन को शक्तिशाली न बनाया जा सकता था। इसलिए कह सकते है कि किसानो के सगठन की समस्या भारत की मुख्य राजनीतिक समस्या भी थी। समाजवादी क्रान्ति से रूसी किसान किस तरह प्रभावित हुए, इस बात की ओर ध्यान देना भारतीय लेखको के लिए बहुत ही स्वाभाविक था। किसानो मे बोल्शेविकों ने जो काम किया था, उसके बारे में रमाशंकर अवस्थी ने लिखा, "बोल्शेविक लोग आरम्भ से ही भूमि-वितरण के लिए आन्दोलन उठाये हुए थे। इस 'नवम्बर क्रान्ति' के पूर्व ही बोल्शेविको ने किसानों से सोवियट अर्थात् अपनी पंचायतें स्थापित करने तथा भूमि पर अधिकार कर लेने के लिए कह दिया था। वैसा ही हुआ भी। किसानों ने अपनी भूमि पर कब्जा जमाकर देश

की उपज को उन्नत किया।" (पृष्ठ २०५)। किसानों ने लेनिन का स किया। ज़ारशाही के पतन से किसानों की समस्या हल न हुई, इसलिए वे करे सरकार के विरुद्ध हो गये। "रूस मे पहुँचकर लेनिन ने किसान-समुदाय बिल्कुल अपनी तरफ कर लिया और धीरे-धीरे सैनिक दल भी उनसे जा मिल इसका एक मुख्य कारण यह था कि लेनिन ज़मीदारों के हाथों से भूमि छीनक किसानो के बीच में बाँट देने का सिद्धान्त रखते थे। ज्यादा सख्या किसानों क थी, अतः लेनिन की शक्तियाँ बराबर बढ़ती गयी।" (पृष्ठ १७७)। किसानो अपनी पचायतो के माध्यम से धरती का बँटवारा किया। इन्ही के माध्यम से उन्होने देशद्रोहियो और शत्रुओं के प्रभाव से सर्वसाधारण की रक्षा की। उन्होने ज़मीदारों से अन्न छीनकर जनता का पालन-पोपण किया। रूस मे किसानो की स्थिति यह है: "किसानो को भूमि बाँट दी गयी, एक किसान जितनी भूमि जोत-बो सकता है उतनी भूमि का वह स्वामी बना दिया गया। अब न तो ज़मीदार रहे और न अनाज के व्यापारी। किसान अपनी ज़मीन जोत-बो लेता है। उसकी पैदावार राष्ट्र की सम्पत्ति है। उसी में से राष्ट्रीय सरकार किसानो का भी पालन-पोषण करती है, और उसी से अन्य प्रकार के काम करनेवाले लोगो का भी पेट पलता है।" (पृष्ठ २२०)। इसी प्रकार नगरो के श्रमिक अपने श्रमफल का एक भाग किसान को देते हैं। सामन्ती शोषण मे मुक्त होकर किसान अपने श्रम से देश की जनता को लाभ पहुँचाता है और स्वयं भी उससे लाभ उठाता है। रूसी क्रान्ति का यह सामन्त-विरोधी पक्ष भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के लिए विशेष रूप से प्रेरणादायक था।

### (छ) राष्ट्रीय मन्त्र

त्रिशूल का राष्ट्रीय मन्त्र कविता-संग्रह जनवरी १९२१ मे रमाशकर अवस्थी ने प्रकाशित किया। इसमे 'सत्याग्रह' और 'असहयोग' कविताएँ गांधीजी के नेतृत्व मे चलनेवाले आन्दोलन के समर्थन मे लिखी गयी है; त्रिशूल इस आन्दोलन का समर्थन करते हुए किस दिशा मे उसका प्रसार चाहते हैं, इसका ज्ञान उनकी 'जातीयता (राष्ट्रीयता)' कविता से होता है। जातीय एकता को सुदृढ करने के लिए वह वेदान्त का सहारा वैसे ही लेते है जैसे कुछ दिन बाद निराला लेनेवाले थे। कविता यों शुरू होती है:

प्राणिमात्र मे प्रेम ब्रह्म की तरह समाया;
घट-घट मे है देख पड़ रही इसकी माया।

वेदान्त की भूमि पर मनुष्य जब यह एकता पहचानता है, तब वह धर्म के बन्धन तोड़ डालता है:

बढी एकता, तोड़ धर्म बन्धन को डाला;
उर मे है स्वातन्त्र्य भाव धर लिया निराला।

रूस की समाजवादी क्रान्ति के बाद साम्यवाद से सम्बन्धित जनता मे जो प्रबल आकर्षण बढ़ा, उसका उपयोग त्रिशूल राष्ट्रीय एकता को दृढ करने के लिए करते है:

साम्यभाव बन्धुत्व एकता के साधन हैं।

इसका यह अर्थ नही है कि गरीब-अमीर सब बराबर हैं; इसका अर्थ यह है कि स्वाधीनता-संग्राम के साथ अब सामाजिक न्याय के लिए गरीब जनता की लड़ाई जुड़ गयी है। इसलिए :

राष्ट्र-पताका पर लिखा रहे 'न्याय स्वाधीनता'।
पराधीनता से नही बढ़कर कोई हीनता॥

यह न्याय सामाजिक न्याय है, इस न्याय का सम्बन्ध साम्यवाद से है, साम्यवाद गरीब अमीर का भेद मिटानेवाला है, ये सारी बातें त्रिशूल की 'साम्यवाद' कविता से स्पष्ट हो जाती है। सामाजिक विषमता और अन्याय के बारे मे त्रिशूल कहते हैं :

श्रम किसका है मगर मौज हैं कौन उड़ाते।
है खाने को कौन, कौन उपजाकर लाते॥
किसका बहता रुधिर पेट हैं कौन बढ़ाते।
किसकी सेवा और कौन है मेवा खाते॥
क्या से क्या यह देखिए रङ्ग हुआ संसार का।
युग विकास या ह्रास का सिरजन या संहार का॥

हिन्दी के लिए वर्गशोषण से सम्बन्धित ये विचार नये नही थे। ऐसे विचार जनार्दन भट्ट के लेख 'हमारे गरीब किसान और मजदूर' द्वारा जून १९१४ को 'सरस्वती' मे प्रकाशित हो चुके थे। त्रिशूल की कविता मे जो नई बात है, वह यह है कि ससार में साम्यवाद ने कही यह गरीब-अमीर का भेद मिटा दिया है :

समदर्शी फिर 'साम्य' रूप धर जग मे आया।
समता का सन्देश गया घर घर पहुँचाया॥
धनद रङ्क का ऊँच नीच का भेद मिटाया।
विचलित हो वैषम्य बहुत रोया चिल्लाया॥
काँटे बोये राह मे फूल वही बनते गये।
साम्यवाद के स्नेह मे सुजन सुधी सनते गये॥

त्रिशूल के चिन्तन में साम्यवाद, वेदान्त और क्रान्ति परस्पर सामंजस्य की स्थिति में है। कविता के आरम्भ में जिस—

समदर्शी ने सकल मनुज सम उपजाये थे,

वही समदर्शी फिर साम्यरूप धर कर जग मे आता है। अपने इस वेदान्त के कारण त्रिशूल आदिम साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद मे भेद नही कर पाते। उनके लिए आदिम साम्यवाद भारतीय सतयुग का दूसरा रूप है, जब—

पृथ्वी, पानी, पवन पर सबका सम अधिकार था।

उस समय न कोई प्रभु था, न कोई दास था। यह स्थिति फिर आने को है, यह बोध तो है किन्तु आदिम साम्यवाद मे मानव समाज बहुत पिछड़ा हुआ था, वर्गभेद के विना सामाजिक प्रगति असम्भव थी, सामन्ती उत्पादन पद्धति ने वह पिछड़ापन दूर किया, सामन्ती उत्पादन पद्धति के मुकाबले पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ने उत्पादक शक्तियो का, समाज की उत्पादन क्षमता का विराट प्रसार किया, इस प्रसार से मुट्ठी भर पूंजीपति लाभ उठाते हैं, समाजवादी व्यवस्था मे उत्पादनक्षमता का और भी

प्रसार होता है और तब जो साम्यवाद आता है (वास्तव मे वह कही आया नही है, समाजवाद के बाद वाली वह मंजिल अभी काफी दूर है), वह गुणात्मक रूप से आदिम साम्यवाद से भिन्न होता है, यह बोध मार्क्सवाद के अनेक विशेषज्ञों को दूसरे महायुद्ध के बाद भी नही हुआ, इसलिए आदिम साम्यवाद के प्रति त्रिशूल का दृष्टिकोण क्षम्य है। त्रिशूल समझते है कि सतयुग फिर आयेगा, किन्तु क्रान्ति के बाद आयेगा :

फैले हैं ये भाव नया युग लाने वाले;
घोर क्रान्ति कर उलट फेर करवाने वाले।

साम्यवाद का नाम लेकर उस पर लिखी हुई कविता सम्भवतः यह हिन्दी मे पहली है। अन्य भारतीय भाषाओ को देखते हुए यह निश्चय साम्यवाद पर लिखी प्राथमिक कविताओं मे ठहरेगी। त्रिशूल के चिन्तन का मूल्यवान पक्ष यह है कि उसमें वर्गभेद और सामाजिक असमानता पर बल है और सामाजिक न्याय पाने की आकाक्षा को वह सीधे स्वाधीनता आन्दोलन से जोडते है। उनके चिन्तन मे यह भी स्पष्ट है कि मानवसमाज मे शोषण और अन्याय क्रान्ति द्वारा मिटाया गया है।

नज़रुल इस्लाम की कविता 'साम्यवादी' 'लाङ्गल' पत्र के १६ दिसम्बर १९२५ के अक मे छपी थी। इस कविता मे वर्गभेद और सामाजिक विषमता का उल्लेख नही है, उन्हे मिटाने की आकाक्षा की अभिव्यक्ति नही है। इसमे हिन्दू, बौद्ध, मुस्लिम, क्रिश्चियन, सब धर्मों की एकता पर बल है। इस एकता का आधार यह है कि सभी धर्म सत्य है और उनके सस्थापको ने सत्य का साक्षात्कार अपने मन के भीतर किया था। इसलिए मनुष्य को जानना चाहिए कि सत्य को धर्मग्रन्थो मे खोजना बेकार है; उसका निवासस्थान मनुष्य का मन है :

एइ हृदयेर ध्यान-गुहा-माझे बसिया शाक्य मुनि
त्यजिल राज्य मानवेर महा-वेदनार डाक शुनि।
एइ कन्दरे आरब-दुलाल शुनितेन आह्वान
एइ खाने बसि गाहिलेन तिनि कोरानेर साम-गान।
मिथ्या शुनिनि भाइ,
एइ हृदयेर चेये बड कोनो मन्दिर काबा नाइ।

इस तरह के भाव रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी अनेक कविताओं मे व्यक्त कर चुके थे। जिस समाज मे प्रत्येक धर्म के नेता अपने धर्म को श्रेष्ठ मानकर दूसरे धर्म-वालों से लड़ने को तैयार हों, उसमें मनुष्य के मन को सत्य का एकमात्र स्रोत कहना ऐतिहासिक महत्व का कार्य है किन्तु १९२५ मे इतना कहना काफी नही था। त्रिशूल के 'साम्यवाद' से यह कविता भिन्न स्तर की है; इसमें साम्यवाद का सम्बन्ध सामाजिक न्याय की प्राप्ति से नही जोड़ा गया।

### (ज) संजीवनी

राष्ट्रीय मन्त्र के प्रकाशन के कुछ समय बाद संजीवनी कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमे प्रकाशन संवत् १९७८ दिया हुआ है। इसके प्रकाशक "गयाप्रसाद

शुक्ल (सनेही)" है; वह सस्ती-हिन्दी-पुस्तकमाला के व्यवस्थापक हैं। इसमें सनेहीजी ने 'त्रिशूल' के अलावा अन्य कवियों की रचनाएँ भी छापी हैं। क्रमशः सनेही उपनाम ने 'त्रिशूल' को पीछे ठेल दिया और गयाप्रसाद शुक्ल सनेही नाम से विख्यात हुए। कविताएँ राजनीतिक प्रचार के उद्देश्य से लिखी गयी हैं, इसलिए प्रकाशक के 'निवेदन' में पाठक को बता दिया गया है: "कविताओं में कवित्व की पूरी छटा हो या न हो, वे जिस विषय पर लिखी गयी हैं उसका ज्ञान पाठकों को अवश्य करा दें इसमें सन्देह नहीं। यही नहीं इस तुकबन्दी के युग में भी वे दर्शकों के मनोभावों को उत्तेजित करेंगी।"

इस संग्रह में 'स्वदेशीव्रत', 'अहिंसा संग्राम' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत अनेक कविताएँ दी गयी है। इनके साथ एक शीर्षक 'साम्यवाद' है। त्रिशूल की 'साम्यवाद' रचना के साथ यहाँ वागीश्वर और शिवदास गुप्त 'कुसुम' की कविताएँ भी दी गयी है। 'कुसुम' की कविता में कुछ बातें समाज-व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए बहुत स्पष्ट रूप में कही गयी हैं। पूंजीवाद बढ़ रहा है, छोटे धनिकों का दिवाला निकल रहा है। व्यापारिक संसार पूंजीपतियों के हाथ में है; जैसा चाहते हैं, उसे वैसा मोड़ देते है।

प्रजा का रक्त चूसकर राज्य बढ़े हैं। "रक्तपात पर राज्यवाद की नीव पड़ी है।" इसी कारण बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ी गयी हैं। "सत्तावाद" ही अशान्ति का हेतु है। पूंजीवादी शोषण के साथ यहाँ सामन्ती शोषण भी चालू है:

जोतें खेत किसान अन्न हो जमींदार का।
काम करें श्रम-शील माल हो साहुकार का।।
यही ढङ्ग है आज सभ्यता के बजार का।
खूब [खून] हो रहा न्याय धर्म का, सदाचार का।।
साम्यवाद के मूल पर होता वज्र प्रहार है।
इसीलिए तो सब तरफ़ हाहाकार प्रचार है।।

## (झ) भारतीय श्रमजीवियों को सन्देश

सत्यभक्त की पुस्तिका भारतीय श्रमजीवियों को सन्देश श्रमजीवी लेखमाला सं. १ (Proletariat Series No. 1) है। भारतीय श्रमजीवियों को सन्देश के नीचे छपा है:

(A message to the Indian Proletariat) 'Workers of all lands unite, you have nothing to loose [lose] but your chains, you have a world to win.'—Karl Marx)

'संसार भर के श्रमजीवियो, मिलकर उठ खड़े हो। तुम्हारे पास खोने के लिए सिवाय अपने बंधनों के कुछ नहीं है, और जीतने के लिए सारा संसार तुम्हारे सामने पड़ा है।' 'निवेदन' का स्थान नागपुर, ता. २१/५/२३ है।

लेखक ने श्रमजीवी पत्र का विज्ञापन किया, पर २०-२५ ग्राहक ही बने। अतः पत्र न निकाला। यहाँ श्रमजीवी सम्बन्धी विचार दे रहे हैं। मूल्य है २ पैसे, पृष्ठ संख्या है १४। लोग इसे कुछ भी अच्छा समझेंगे तो हर १५वें दिन या प्रति-

मारा ऐसे ट्रैक्ट प्रकाशित करेंगे।

पूछा है : श्रमजीवी कौन है ? उत्तर है : जो हाथ पैर से, दिमाग से मेहनत करके खाता है। मेहनत वह जिससे "कोई उपयोगी चीज़ पैदा हो या बने।" सेठ-साहूकार, ज़मींदार दूसरों की मेहनत की कमाई छीनते हैं।

श्रमजीवियों के अधिकार और वर्तमान दशा के बारे में कहते हैं : "संसार में सब चीज़ों पर वास्तव [में] श्रमजीवियों का अधिकार होना चाहिए। क्योंकि सब चीज़ें उनकी मिहनत से ही पैदा होती है या बनती है।"

मेहनत करनेवाले गरीब हैं। इसका कारण भाग्य का लेख नहीं है—"यह ईश्वर और भाग्य की बात इन मालदार और दूसरों की मिहनत पर बैठे-बैठे खानेवाले लोगों ने फैलाई है।" असली कारण यह है कि राज्य का कारबार मालदार लोगों के हाथ में है। गरीबों की मेहनत से बनी चीज़ें मालदारों के पास पहुँच जाती है। "इसका कारण सिवाय चालबाज़ी के, ठगी के और कुछ नहीं है।"

ज़मींदारों और किसानों के बारे में कहते है : ज़मींदार अपने गाँवों के लिए जितना रुपया सरकार को देता है, उससे चौगुना, अठगुना, दसगुना किसानों से वसूल करता है। ज़मीन उसकी नहीं। "हमारे शास्त्रों में तो स्पष्ट लिखा है कि ज़मीन उसी की है जो उसे जोतता-बोता है। इसलिए सच्ची बात यह है कि ज़मीन न तो ज़मींदार की है, न उसके बाप की।"

कारखानेवालों और मज़दूरों के बारे में यह विचार है : "कारखानों में काम करनेवाले मज़दूरों को प्राय. उतनी ही मज़दूरी दी जाती है जिससे वे किसी प्रकार अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट भर सकें।" मालिक ऐश करते हैं, मज़दूर गरीबी में दिन काटते हैं। "इसका सबब बहुत छुपा हुआ नहीं है। कारखाने में मज़दूर जब चार रुपये का काम कर देता है तो उसको एक रुपया मज़दूरी दी जाती है, बाकी तीन रुपये कारखानेवाले की जेब में आते है।" कारखाना खोलने में जो रुपया लगाया जाता है, वह "उन्हीं गरीब मज़दूरों की मज़दूरी से बचाया जाता है। ऐसी दशा में यदि यह कहा जाय कि मज़दूर ही कारखाने के असली मालिक हैं तो उसमें क्या झूठ है ?" कारखाने अपने आप माल पैदा नहीं करते। "रुपया आदमी की मिहनत से पैदा होता है[,] न कि मशीन और इंजिनों से। इसलिए जो कारखाने वाले मिलों के मालिक बैठे-बैठे लाखों रुपया पाते रहते हैं, उसको सिवाय लूटने या ठगने के और कुछ नहीं कहा जा सकता।" चोर-डाकू खुल्लमखुल्ला मार-पीटकर धन छीनते हैं। "पर ये मालदार लोग—सफेदपोश, सभ्य डाकू चालबाज़ी से, एक रुपये की चीज़ के चार रुपये लेकर, एक रुपये के काम के चार आने देकर, दूसरे का धन लूटते है।" मालवीयजी मारवाड़ी सेठों की प्रशंसा करेंगे, विद्यालय के लिए दस पांच लाख रुपये मिल जायें। गाधीजी तिलक स्वराज्य फण्ड के लिए "बम्बई के मालदार लोगों के सामने झुक जाते हैं।"

कानून और न्यायव्यवस्था का उपयोग पूँजीपतियों की लूटखसोट को कायम रखने के लिए होता है। पूँजीपतियों के शोषण को चाहे जिन शब्दों में घुमा-फिराकर जनता के सामने पेश किया जाय, उसका वास्तविक अन्यायपूर्ण रूप छिपाया नहीं जा सकता। सत्यभक्त इस प्रसंग में मज़दूरों से कहते हैं : "धनवानों

के लूटने को कोई बुरा नहीं कहता और उनकी रक्षा के लिए बड़े बड़े कायदे कानून बनाये जाते है, बड़े बड़े अच्छे शब्द ढूंढ़-ढूंढ़कर उन लोगों के ऐब-दोष को छुपाया जाता है। पर ये सब बातें धनवानों की असली भयंकरता को नहीं छुपा सकती। हम पूछते हैं कि यदि चार रुपये की कीमत के मुलम्मे के गहने को असली सोने का बतलाकर बीस रुपये में बेचनेवाला सजा पाने का हकदार है तो एक रुपये में तैयार किये गये धोती-जोड़े को चार रुपये मे बेचनेवाले मिल-मालिक को सजा क्यों न मिलनी चाहिए? अथवा यदि किसी के घर में से चोरी करनेवाला व्यक्ति जेलखाने भेजा जाता है, तो दस सेर का अनाज खरीदकर उसे ५ सेर के भाव से बेचनेवाले दुकानदार पर मुकद्दमा क्यों न चलाया जाय? यद्यपि ये बातें हजारों साल से होती चली आती हैं और इसलिए ये हमारे स्वभाव में इतनी मिल गई हैं कि हम सहज में उनकी बुराई नहीं समझ सकते, तो भी यदि विचार करके देखा जाय तो एक डाकू एक चोर और एक कारखाने के मालिक या दुकानदार में कोई विशेष अन्तर नहीं है। भेद केवल लूटने के ढंग का है।"

सारी दुनिया में पूंजीपतियों की लूट का ढंग मूलतः एक है, इसलिए उस लूट को रोकने के लिए दुनिया के मजदूरों का ढंग भी एक है। दुःख और गरीबी की जिन्दगी से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है कि "गरीब लोग—श्रमजीवी आपस में मिलकर, एक होकर मालदार लोगों के अन्याय का विरोध करें।" अन्य देशों के मजदूरों ने संगठित होकर अपनी दशा कैसे सुधारी है, इसका वर्णन करते हुए सत्यभक्त ने आगे लिखा है: "यूरोप व अमरीका में श्रमजीवियों ने यह उपाय काम में लाना शुरू कर दिया है। और इसी को सोशलिज्म (साम्यवाद), कम्यूनिज्म, बोल्शेविज्म आदि नामों से पुकारा जाता है। रूस के श्रमजीवियों को अपने उद्देश्य में सफलता भी प्राप्त हुई है। उन्होंने अपने यहां से बादशाह और मालदार लोगों की हुकूमत को उखाड़कर फेंक दिया है। अब वहां जमींदार नहीं हैं और किसान ही अपने खेतों के सोलह आने मालिक हैं। अब वहां कारखानों के मालिक मजदूर ही माने जाते हैं और कारखाने का तमाम मुनाफा उन्हीं को मिलता है। अब वहां ऐसी हालत नहीं है कि अमीरों के सामने तो बढ़िया बढ़िया भोजनों की बीसियों थाली रखी जाय, उनके कुत्ते बिल्ली भी दूध-मलाई खांय और गरीब लोग रोटी के टुकड़े को भी तरसें। अब वहां सबको प्रायः एक-सा और बराबर भोजन मिलता है।"

अन्त में भारत के श्रमजीवियों के बारे में कहते हैं: "अभी उनको अपनी दुर्दशा का भी पूरा ज्ञान नहीं है। वे दुःख अवश्य सहते हैं। पर उसका कारण उनको ज्ञात नहीं। इसलिए उनका कर्तव्य यही है कि वे अपने ऊपर होनेवाले मालदार और जमींदार लोगों के अन्यायों को समझें और उनसे बचने के लिए अपना संगठन करें। यह संगठन कैसे करना चाहिए और किस तरह से अन्याय का विरोध करना चाहिए, इसे अगले लेख में बतलायेंगे।"

यह अगला लेख नागपुर से प्रकाशित नहीं हुआ किन्तु सत्यभक्त उसमें क्या लिखते, इसका अनुमान हम कर सकते हैं। वह नागपुर से कानपुर मजदूरों का संगठन करने के लिए आये, वहां उन्होंने मजदूर-सभा में काम किया और भारत

तमाम दौलत गिनती के थोड़े-से आदमियों के पास इकट्ठी हो जाती है और बाकी सब लोग धन की कमी के कारण तकलीफ पाने लगते हैं। अन्त में यह झगड़ा युद्ध के रूप में बदल जाता है और तमाम संसार में मारकाट और रुपये-पैसे की गड़बड़ी फैल जाती है। इस तरह धनवान लोग अपने दोष से ही बर्बादी का सामान पैदा कर लेते हैं और संसार की बागडोर उनके हाथ से निकलकर मिहनतपेशा लोगों के हाथ में चली जाती है।"

धनवानों के हाथ से बागडोर अपने-आप निकलकर मेहनती लोगों के हाथ में नहीं पहुँच जाती। इसके लिए मजदूरों को अपना संगठन बनाना होता है, अपनी राजनीतिक पार्टी बनानी होती है, क्रान्ति करनी होती है। क्रान्ति पुरानी राज्य-सत्ता के पूरे तंत्र का ध्वंस करके सम्पन्न होती है, पुराने तन्त्र को कायम रखते हुए मजदूर नयी तरह की समाज-व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सकते। साम्यवादी विचारधारा के इस पक्ष पर, 'मिहनतपेशा लोगों को फतह कैसे हासिल हो सकती है' यह सिरनामा देकर, सत्यभक्त ने आगे लिखा है : "यूरोप के इतिहास और मिहनत-पेशा लोगों के आन्दोलन पर बहुत विचार करने के बाद मार्क्स ने यह नतीजा निकाला था कि जब तक मौजूदा हुकूमत को बिल्कुल खतम नहीं कर दिया जायेगा तब तक मिहनतपेशा लोगों को कामयाबी हासिल नहीं हो सकती। अगर मिहनत-पेशा लोग फतह पाने के बाद पुरानी हुकूमत (शासन-प्रणाली) को ज्यों-का-त्यों रहने दें तो उनको धोखा खाना पड़ेगा। सन् १८७१ में पेरिस में मजदूरों का जो राज्य कायम हुआ था, वह इसी कारण से सिर्फ़ दो महीने के भीतर नष्ट हो गया। इसलिए यह जरूरी है कि मिहनतपेशावाले वर्तमान हुकूमत पर फतह पाते ही उसे एकदम नष्ट कर दें और अपनी नये ढंग की हुकूमत कायम करें। इस हुकूमत में तमाम ताकत मजदूरों, किसानों और दूसरे नौकरीपेशावालों की कमेटियों या पंचायतों के हाथ में रहनी चाहिए।

"कम्यूनिस्ट यह भी समझते हैं कि धनवान सहज में या राजी से अपनी हुकूमत को नहीं छोड़ेंगे। पहिले जमाने में भी जब एक दल (class) ने दूसरे दल के हाथ से हुकूमत ली थी तो दुनिया में घोर युद्ध और बलवे हुए थे। इसलिए अब अगर मिहनतपेशा दल (Proletariat Class) धनवानों के दल (Capitalist Class) के हाथ से दुनिया की बागडोर लेना चाहता है तो इसके लिए आजकल की हुकूमत को जबर्दस्ती लौट देना पड़ेगा।"

मार्क्स ने १८६४ में मजदूरों का पहला अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाया। १८७२ में इसके टूटने के बाद १८८९ में दूसरी इण्टरनेशनल बनी। रूसी क्रान्ति के बाद १९१९ में तीसरी इण्टरनेशनल का जन्म हुआ। इस इण्टरनेशनल की कांग्रेस १९२० में हुई। सत्यभक्त ने इसका घोषणापत्र विस्तार से उद्धृत किया है। इस घोषणापत्र में कहा गया है कि पहला महायुद्ध समाप्त हो गया है पर सच्ची शान्ति अभी कोसों दूर है। यूरुप और अमरीका के देशों में लागडाट पहले से ज्यादा बढ़ती जाती है, दूसरे महायुद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं। "अगर संसार इस नाशकारी महायुद्ध से बचना चाहता है तो इसका एकमात्र रास्ता यही है कि दुनिया में से धन की प्रधानता—पूँजीवाद को खतम कर दिया जाय और गरीब लोगों को

उनका पूरा हक मिलने लगे।" पूंजीवाद की बुराइयों को पहले थोड़े-से साम्यवादी ही समझते थे, अब संसार के करोड़ों आदमी उन्हें देखने और समझने लगे है। मजदूरों का सगठन ही संसार को विनाश से बचा सकता है।

ससार के कम्युनिस्ट पूंजीवाद के विरुद्ध जो लड़ाई चला रहे है, वह स्वयं सत्ताधारी बनने, सत्ता में लाभ उठाने के लिए नही। सत्यभक्त कहते है : "कम्यूनिस्ट पार्टी तो आजकल ससार मे मची हुई मारकाट को जल्दी से खतम करने के लिए यह सब कोशिश कर रही है। क्योंकि अगर जल्दी ही मिहनतपेशावालों की हकूमत कायम नही की गयी और धनवान दलवालों (पूंजीवादियो) को नही दबाया गया तो यह लड़ाई-झगडे सैकड़ों वर्षो मे भी खतम नही होंगे। इसका फल यह होगा कि बार बार महायुद्ध होंगे; घेरा डालकर लोगो को भूखा मारा जायगा; अकाल और रोग फैलेंगे; आपस मे वैर-भाव बढ़ेगा और अन्त मे तमाम सभ्यता का नाश हो जायेगा।"

रूस मे कम्युनिस्ट पार्टी ने पूंजीवाद-विरोधी क्रान्ति की। यह एक नयी तरह की पार्टी थी। मजदूरों से उसका अभिन्न सम्बन्ध, कड़ा अनुशासन, दांवपेंच मे लचीलापन, हर हालत मे किताबी सिद्धान्तों से चिपके रहने की नीति का त्याग—इस पार्टी की ये विशेषताएँ हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के सगठन और उसकी भूमिका के बारे में सत्यभक्त ने लिखा है : "कम्यूनिस्ट पार्टी को अपने लिए हमेशा मिहनतपेशावालो का एक हिस्सा समझना चाहिए, सदा उनके सगठन की कोशिश करते रहना चाहिए, और मजदूर तथा किसानो की जो कमेटियां पहिले से बनी हों उनका काम चलाते जाना चाहिए। पर साथ ही इस बात का भी खयाल रखना चाहिए कि मिहनतपेशावालों को आगे बढ़ाया जाय और उनको लक्ष्य (निशाने) तक पहुँचने का रास्ता बतलाया जाय। इसलिए कम्यूनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं का फर्ज है कि वे खुद इन सिद्धान्तो की पूरी पाबन्दी करें, और अपनी पार्टी के नियमों को खूब कड़ा बनावें। अपनी भीतरी मजबूती के साथ मौके से लाभ उठाना भी बोल्शेविको का सिद्धान्त है, क्योंकि इसके बिना क्रान्ति मे सफलता नही हो सकती। जो लोग इस प्रकार की क्रान्ति (बलवे) में पुस्तकों मे लिखे हुए सिद्धान्तों से किसी भी दशा मे इधर उधर हटना नही चाहते और सदा दिखावटी सचाई तथा ईमानदारी का ढोल पीटते रहते है, उनसे कम्यूनिस्टो की राय नहीं मिलती।"

कम्युनिस्ट पार्टी की ये विशेषताएँ बताने के बाद विभिन्न देशो की कम्युनिस्ट पार्टियो के आपसी सम्बन्धो के बारे में सत्यभक्त ने लिखा है : "हर एक कम्यूनिस्ट पार्टी को अपना काम करने के साथ साथ दूसरे देशों की पार्टियों तथा सबकी प्रतिनिधि इण्टरनेशनल कांग्रेस की तरफ भी खयाल रखना चाहिए। क्योंकि कम्यूनिस्ट एक अन्तर्राष्ट्रीय (तमाम ससार मे सबन्ध रखनेवाला) आन्दोलन है और उसका उद्देश्य ससार के हर एक देश मे मिहनतपेशावालो का शासन कायम करना है। बिना इसके ससार का उद्धार कभी नही हो सकता।"

कम्युनिस्ट पार्टी जो शासनतन्त्र कायम करती है, वह जनतन्त्र-विरोधी होता है, इस आरोप का उत्तर देते हुए सत्यभक्त ने पूंजीवादी जनतन्त्र और समाजवादी

जनतन्त्र का भेद बताया है। उन्होंने लिखा है कि "आजकल प्रजातन्त्र के नाम से जो हकूमत की जाती है, वह कोरा ढोंग है और प्रजातन्त्र के असली सिद्धान्तों के खिलाफ है। आजकल के प्रजातन्त्र राज्य असल में खुदमुख्तार हकूमत है। यद्यपि दिखाने के लिए इनमें सर्वसाधारण को 'वोट' या राय देने का अधिकार दे रखा है, पर सच पूछा जाय तो वह धनवानों की निरंकुश हकूमत को ढकने का एक परदा है। गरीब लोग अपनी कंगाली और अशिक्षा के कारण वोट का अधिकार पाने पर भी उससे कुछ फायदा नहीं उठा सकते। इसके सिवाय जब मौका आता है तब मालदार लोग इस परदे को भी उतारकर फेंक देते हैं। बहुत से लोग कहते हैं कि सर्वसाधारण में शिक्षा फैलाई जाय, जिससे वे अपने हकों को जान सकें और 'वोट' के अधिकार का ठीक तरह से उपयोग कर सकें। पर वे यह बात भूल जाते हैं कि शिक्षा और आन्दोलन के साधन, जैसे स्कूल, प्रेस, अखबार, खबरों की एजेन्सियाँ आदि भी इस समय मालदारों के हाथ में हैं।"

शासन की बागडोर फौज के हाथ में सौंप दी जाय तो इससे समस्या हल न होगी। सत्यभक्त के अनुसार "बोल्शेविक यह भी समझते हैं कि मालदार लोग अपनी हकूमत और विशेष अधिकारों को कायम रखने के लिए सब तरह के राजनैतिक, आर्थिक और फौजी उपायों से काम लेंगे। इसलिए मालदारों और गरीबों का झगड़ा तब तक कभी खतम नहीं हो सकता जब तक कि दोनों दलों में एक बार खुल्लमखुल्ला खूब लड़ाई न हो लेगी।"

यहाँ तक की सारी बातें पुस्तिका के ग्यारह पृष्ठों में समझायी गयी हैं, शेष साढ़े पाँच पृष्ठों में सवाल जवाब हैं। सवाल इस तरह के हैं: कम्युनिज्म में सब बराबर हैं तो आप धनवानों को क्यों दबायेंगे, उन्हें नागरिक के हक क्यों न देंगे? इसका उत्तर है: "हम धनवानों को केवल उस समय तक दबायेंगे जब तक वे अपने हाथ से काम न करने लग जायें। दुनिया में किसी को बैठे बैठे खाने या हरामखोरी करने का हक नहीं।" सवाल है: सम्पत्ति पर आम लोगों का कब्जा होगा, हर आदमी को जितनी चीज वह चाहे, लेने की इजाजत होगी तो ज्यादातर काम करना छोड़ न देंगे, बैठे बैठे न खायेंगे? जवाब है: "आजकल आदमियों की जैसी आदत पड़ गई है, उससे यह शंका बहुत कुछ सच है। इसलिए शुरू में हर एक आदमी को काम करने पर ही खाने को मिलेगा, और बिना सबब बेकार रहनेवालों से जबर्दस्ती काम कराया जायगा।"

आखिरी सवाल यह है: "क्या आप हिन्दुस्तान में बोलशेविज्म की सब बातों को चलाना चाहते हैं। वे लोग तो धर्म कर्म कुछ नहीं मानते। इसके सिवाय उनकी हमारी मौजूदा हालत और रीति रवाजों, रहन सहन में भी बहुत फर्क है?"

जवाब: "नहीं, हिन्दुस्तान में बोलशेविज्म की तमाम बातों को चलाने की जरूरत नहीं है। कम्यूनिज्म के माननेवाले, पुराने खयाल के लोगों की तरह अन्धविश्वासी या लकीर के फकीर नहीं होते। हमारा मुख्य उद्देश्य तो गरीबों पर होनेवाले अन्यायों को दूर करना और सब लोगों को उनके असली हक दिलाना है। इस उद्देश्य को पूरा करने की कोशिश हम जरूर करेंगे, पर हिन्दुस्तान की हालत जैसी है उसके मुताबिक रास्ते से ही चलेंगे। अगर रूस के बोलशेविक नंगे होकर

घूमने लगें तो हम थोड़े ही नकल करेंगे।"

नीचे लेखनकाल दिया है : अक्टूबर, १९२४।

इस पुस्तिका के अन्तिम आवरण पृष्ठ पर कम्युनिस्ट पार्टी के नियम और उद्देश्य छपे है। इस प्रकार :

"इण्डियन कम्यूनिस्ट पार्टी

*इण्डियन कम्यूनिस्ट पार्टी के कायम करने का उद्देश्य है :*

(१) हर एक आदमी को भरपेट खाना कपड़ा मिले, किसी को भूखा नंगा न रहना पड़े।

(२) हर एक आदमी मिहनत करके रोटी पैदा करे, बैठा रहकर कोई न खा सके।

(३) हर एक आदमी की इच्छा और योग्यता के अनुसार काम करने का मौका दिया जाय। हर एक आदमी को तालीम हासिल करने का हर तरह का सुभीता मिले।

(४) कोई आदमी नीच या अछूत न समझा जाय। समाज में और राजकाज में सबको बराबर अधिकार हो।

(५) देश का शासन सर्वसाधारण के चुने हुए पचों के हाथ मे रहे; किसी निरंकुश शासक का उसमे दखल न हो।

अगर आप चाहते है कि देश मे सब तरह का अन्याय, अत्याचार, फूट, वैर और तरह तरह के पाप मिट जांय; और सिर्फ थोड़े से लोग नही, वरन् हर एक आदमी सुख और शान्ति के साथ रह सकें, तो आप इस पार्टी में शामिल होकर ऊपर लिखे उद्देश्यों के सफल बनाने मे सहायता कीजिये।

अधिक जानने के लिए नीचे लिखे पते पर पत्रव्यवहार करना चाहिए।

सत्यभक्त

*सेक्रेटरी, इण्डियन कम्यूनिस्ट पार्टी*

कानपुर"

तीसरे आवरण पृष्ठ पर "साम्यवादी लेखमाला" का विज्ञापन है। इसका उद्देश्य "सर्वसाधारण मे साम्यवाद और बोलशेविज्म—कम्यूनिज्म के सिद्धान्तों का प्रचार करना है। इसके सिवाय किसान और मजदूरों की दुर्दशा, अछूतों का उद्धार, स्त्रियों को समान अधिकार [,] संसार में होनेवाले नये नये परिवर्तन आदि के सम्बन्ध में भी ट्रैक्ट प्रकाशित किये जायगे।" हर ट्रैक्ट का मूल्य एक आना होगा। आवरण के दूसरे पृष्ठ पर इस लेखमाला मे आगे प्रकाशित होनेवाले ११ ट्रैक्टों की सूची दी हुई है :(१)स्वराज्य का सच्चा रास्ता; (२)मजदूर राज; (३) संसार में बलवा [अर्थात् विश्वक्रान्ति]; (४) पृथ्वी पर स्वर्ग; (५) धनवानों के पाप; (६) हिन्दुस्थानी मजदूरों की दुर्दशा; (७)बोल्शेविज्म की विजय; (८) सत्याग्रह या हड़ताल; (९) स्त्री जाति की दुर्दशा; (१०) नये जमाने की स्त्रियाँ; (११) हमारा प्रोग्राम।

इस लेखमाला मे विदेशी विद्वानों के लेखों के अनुवाद छापने की योजना

भी थी।

सन् २० के आन्दोलन की समाप्ति के बाद एक ओर जहाँ ब्रिटिश रिआयतों को स्वीकार करने की आतुरता थी और इन रिआयतों को देनेवाले अंग्रेज शासक साम्प्रदायिक विघटन को बढ़ावा दे रहे थे, वहाँ दूसरी ओर एक नया आशावाद लेकर मजदूर वर्ग में नयी चेतना फैलानेवाले समाजवादी प्रचारक राष्ट्रीय आन्दोलन को नयी दिशा की ओर बढने की प्रेरणा दे रहे थे। मजदूरों के लिए किस तरह की भाषा मे पुस्तिका लिखनी चाहिए, विषय का विवेचन किस तरह करना चाहिए, गद्य सरल हो, साथ ही सारगर्भित भी हो, इन सब बातों मे सत्यभक्त की दोनों पुस्तिकाएँ—श्रमजीवियों को सन्देश और बोल्शेविज्म क्या है ?—क्रान्तिकारी पत्रकारिता का श्रेष्ठ उदाहरण है। भारतेन्दुयुग की गद्यशैली में राजनीति और अर्थशास्त्र की समस्याओं पर यदि कोई लिखे तो उसका गद्य सत्यभक्त के गद्य जैसा होगा। हिन्दी मे समाजवादी चेतना का प्रसार भारतेन्दुयुग की गद्य शैली से जुडा हो, यह बात सिद्ध करती है कि वह प्रसार कितना स्वाभाविक और सहज था।

## (ट) कम्यूनिज्म क्या है ?

**कम्यूनिज्म क्या है ?** राधामोहन गोकुलजी की १९२५ मे लिखी हुई १५९ पृष्ठों की पुस्तक फरवरी सन् १९२७ मे प्रकाशित हुई थी। प्रकाशक स्वयं राधामोहन गोकुलजी थे, पुस्तक मिलने का पता था सोशलिस्ट बुकशाप, पटकापुर कानपुर। आवरण पृष्ठ पर हँसिया हथौड़े का चिह्न बना हुआ है। पुस्तक के मुखबन्ध मे लेखक ने बताया है कि देशवासियों ने या तो कम्युनिज्म का नाम भर सुना है या उसके बारे मे कुछ जाना है तो उसका आधार कम्युनिज्म के विरोधियों द्वारा फैलाई हुई बातें है। इसलिए लेखक ने अपना कर्तव्य समझा कि "कम्यूनिज्म का असली रूप बिना अपनी ओर से नमक मिर्च लगाये बिल्कुल विज्ञान इतिहास और वास्तविक घटनाओ के आधार पर" दिखला दे। इसके लिए उन्होंने मार्क्स, एङ्गेल्स, प्रूदों, लेनिन और ज़िनोविएव के "लेखों और छोटे मोटे ग्रंथों को पढ़ा है"; इस पुस्तक मे अधिकांश सहायता बुखारिन और दो एक अंग्रेज कम्युनिस्टों के लेखों से ली है।

पहले अध्याय में पूँजीवादी व्यवस्था का परिचय देते हुए कहते है: "कौन नही जानता कि भूमण्डल के निवासी जनसमुदाय मे सम्पन्नों की एक मुट्ठी सख्या है शेष पृथ्वी विपन्नों के आर्तनाद से गूँज रही है।" यह आर्तनाद मार्क्स ने सुना और दुनिया को बदलने का क्रान्तिकारी मार्ग दिखाया। दीन-दुखियो को देखकर "भगवान बुद्ध का हृदय पसीजा था" किन्तु "उन्होने अपना जीवन शाब्दिक अध्यात्मवाद मे बिताया।" इसके विपरीत मार्क्स ने "प्रत्यक्ष जगत मे जान डाली। दोनों के कारनामे और दिये [किये]हुए कामो के नमूने संसारके सामने है, विवेक दृष्टि से जो चाहे देख सकता है।"

यदि किसी देश के मुट्ठीभर लोगों के पास बहुत-सा धन इकट्ठा हो जाय तो इसका यह अर्थ नही है कि देश का धन बढ़ गया। देश मे गरीबो की सख्या बढ़

रही हो तो देश के धनवान होने की बात कैसे सही मानी जायगी ? मार्क्स ने कहा था कि "पूंजीपतित्व [अर्थात् पूंजीवाद] अपनी समाधि आप खोदता है, इसके कल-पुर्जे बिखरने ही वाले हैं और इनको श्रमजीवियों की बगावत बिखेरेगी और संसार को अभिनव सांचे में ढालेगी।"

मार्क्स के बताये मार्ग से हटकर भारत का उद्धार करने के लिए किस तरह के प्रयत्न हो रहे हैं ?

"हमारे वयोवृद्ध पूज्य नेता सर सुरेन्द्रनाथ महोदय तक को भारत का उद्धार वर्तमान कौंसलों [कौंसिलों] द्वारा दीखता था। भारत के प्रिय पूज्य नेता भगवान गांधी को भारत के कोटि २ भूखों का पेट एक मात्र चर्खे से ही भरता नजर आता है।"

पूंजीवादी व्यवस्था का आधार है मुनाफे के लिए माल बनाना और बेचना। कारखानों के मालिक बड़े पैमाने पर माल बनाकर कम माल बनानेवालों को तबाह कर देते हैं। ये तबाह लोग मजबूर होकर पूंजीपतियों के कारखाने में मजदूरी करते हैं। इनसे मेहनत इस तरह करायी जाती है : "जिस तरह लोग पशुओं को दाना चारा देकर उनसे मनमाना काम लेते हैं, उसी तरह इन बेचारे मजदूरों को भी जीवित रखने के लायक कुछ थोड़ा सा देकर रात दिन काम में जोते रहते हैं। यह सच है कि अब पहले की तरह दास बिकते नहीं, पर मजदूरों की दशा क्रीतदासों की सी ही है और कहीं २ रूपान्तर और नामान्तर से अब तक दास खरीदे और बेचे जाते हैं।" यहां राधामोहन गोकुलजी भारत की कुली प्रथा याद करते हैं। यहां के गरीब आदमियों को फुसलाकर दूर दूर के देशों में ले जाते थे और अंग्रेज पूंजीपति उनसे गुलामों की तरह मेहनत कराते थे। मजदूर खरीदे नहीं जाते पर उनकी श्रमशक्ति तो खरीदी जाती है। दो तरह की खरीद में क्या बहुत बड़ा अन्तर है ?

राधामोहन गोकुलजी तर्क करते हैं : "अब अगर मान लें कि मजूर खरीदे बेचे नहीं जाते तो उनकी काम करने की शक्ति खरीदी जाती है। एक आदमी को प्रभात से सायंकाल तक काम कराकर ।=) ।।) या ॥=) देने का यही तो अर्थ है।"

आठ दस आने में दिन भर के लिए मजदूर की श्रमशक्ति खरीदकर पूंजीपति उससे जो काम कराता है, उसमें वह आठ दस रुपये का मुनाफा कमाता है। गुलाम को अपनी मेहनत का फल नहीं मिलता, वह मेहनत करता है अपने मालिक के लिए। उसे खाने-पहनने को उतना ही दिया जाता है जितना उसे जिन्दा रखने और उसके मेहनत करते रहने के लिए जरूरी होता है। मूलतः यही स्थिति मजदूर की है। अन्तर यह है कि बाजार में जहां गुलाम स्वयं बिकता है, वहां मजदूर की श्रमशक्ति बिकती है। राधामोहनजी कहते हैं : पूंजीवादी व्यवस्था में धन सिमटकर थोड़े से आदमियों के हाथ में इकट्ठा होता है; बाकी जनता गरीबी में दिन काटती है। इस व्यवस्था को रूस में बदल दिया गया है।

दूसरे अध्याय में साम्यवादी व्यवस्था का परिचय देते हुए बताया है कि इसका आधार होता है "सामाजिक प्रभुत्व।" पैदावार के साधनों पर सामाजिक प्रभुत्व

कायम करने के लिए यह आवश्यक होता है कि पुरानी राज्यसत्ता के तन्त्र को ध्वस्त किया जाय। इसका कारण यह है: "राज्य शासक वर्ग का एक वर्गीय संगठन हुआ करता है। राज्य मे हमेशा एक वर्ग दूसरे के विरुद्ध चलता है। सम्पन्नो का शासन होगा तो वह श्रमिको (Proletariat) के विरुद्ध चलेगा और श्रमिकों का होगा तो वह संपन्नो के विरुद्ध [चलेगा]।"

समाजव्यवस्था पूरी तरह तभी वदल सकती है "जव प्रोलीटेरियट की पूर्ण विजय हो और पार्टी पूरी विकाशावस्था को पहुँच जाय। आरम्भ में तो प्रोलीटेरियट की विजय होने पर कुछ समय तक कठिनाइयो का सामना करना पड़ेगा। श्रमिकों को अपने शत्रुओं से लोहा लेना होगा और वहुत दिन की प्रचलित अशिष्ट [अवशिष्ट] रूढ़ियो के साथ भी युद्ध करना अनिवार्य होगा···इसलिए श्रमिक शासन मे भी राज्याधिकार की छाया कुछ काल तक रहेगी फिर इसका भी अन्त हो जायगा।"

श्रमिक शासन मे पैदावार की शक्ति बहुत जल्दी बढ़ेगी। जो शक्ति वर्ग-संघर्ष में खर्च होती है, वह पैदावार में लगेगी। पूंजीपतियो की होड़ और युद्धों में जो धन बल नष्ट होता है, वह समाज के हित मे काम आयेगा। शिक्षा और विज्ञान का उपयोग जनता के लिए होगा, इसलिए नई-नई मशीनो के द्वारा उत्पादन बढाया जायगा। श्रमिको को काम कम करना पड़ेगा, मनोविनोद के अलावा उन्हें बौद्धिक विकास के लिए अधिक समय मिलेगा। परिणाम यह होगा कि "पिछले समय से कही ज्यादा बुद्धि, कारीगरी, अन्वेषण और आविष्कार की वृद्धि होगी।"

शोषक वर्ग धर्म का उपयोग जनता को दबाये रखने, उसके श्रम से लाभ उठाने के लिए करते है। इस सन्दर्भ मे राधामोहन गोकुलजी कहते है: "यदि आज धर्म (religion) संसार में न होता तो धर्म के नाम पर लोग क्यो आपस मे लडते। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आपस मे केवल धर्म की कल्पना ही के कारण तो लड़ते है। इसलिए धन व धर्म के भेद से जो वर्ग स्थापित हुए है उनके हटा देने मे ही मनुष्यों का कल्याण है।" समाजवादी व्यवस्था मे धर्म को लेकर लड़ाई न होगी, इसलिए भी पैदावार मे बढ़ती होगी। और झगड़ों की तरह "जो तमाम धार्मिक झगड़े मिट जांय, बनावटी धर्म का ढकोसला शेष न रहे तो और भी वैर विरोध का अन्त हो जाय और दूसरे कामों में तन, मन लग सकें।"

साम्यवाद का लक्ष्य है कि सब लोग एक "कम्यून अर्थात् कुटुम्ब" मे मिल-जुलकर रहें, वे जो चीजें पैदा करेंगे, उन्हें एक भण्डार मे इकट्ठा करेंगे और कम्यून "अपने हरेक सदस्य को उसके [उसकी] जरूरत की सारी चीजें जितनी वह चाहेगा देगा।"

तीसरे अध्याय मे राधामोहन गोकुलजी ने पूंजी के केन्द्रीकरण की कैफियत समझायी है। पुरानी कम्पनियों की जगह सिण्डीकेट और ट्रस्ट कायम होते है। ये माल की पैदावार और बिक्री पर अपना इजारा कायम करते है। इसके साथ बैंक पूंजी की भूमिका महत्वपूर्ण होती जाती है। "सारे देश के ट्रस्टो, सिंडीकेटों और सम्मिलित उद्योगों का धन्धा संयुक्त होता है, यह सब बैंको से सम्मिलित रहते

हैं। प्रधान शासक और संचालक-मंडल एक छोटा सा दल महत्तम पूंजीप[ति]का होता है। राज्यशक्ति इन्ही के अभीष्टो की पूर्ति मे लगी रहती है। इसी देश के प्रधान शासक और स्वामी एक मुट्ठी पूंजीपति होते है, शेप जनता इनके लिए रात दिन कोल्हू के बैल की तरह पिसा करती है।" फिर कच्चा माल ले और तैयार माल बेचने के लिए बाजारो पर अधिकार जमाने के उद्देश्य से यु[द्ध] होते हैं।

चौथे अध्याय मे बताते है कि पूंजीपतियो के बडे-बडे सघ बनने से उनकी आपसी होड खत्म नही हो जाती। कच्चे माल के स्रोतों को हथियाने के लिए जो होड होती है, उसमे भारत जैसे देशो की भूमिका इस प्रकार है: "किसी ने रुई के लिए भारत और मिश्र पर दांत लगाया, तो दूसरे ने इसी अभिप्राय से तुर्किस्तान को जा दबाया। सभी चाहते है कि कच्चे माल के दाता देश मेरे राज्य मे मिल जायें, इसीलिए बड़े २ युद्ध होते है। पूंजीपति धन कुबेरो के लाभ के लिए उनकी प्रतिपालित सरकार मारकाट करती है और गरीब बेचारो को पुचकारकर देश-प्रेम के नाम पर बलि चढाया जाता है। यही असिनीति Imperialism का सारा दास्तान या कच्चा चिट्ठा है।"

महाजनी पूंजीवाद के प्रसारकाल मे यूरुप के पूंजीपतियो ने बहुत बड़े पैमाने पर दूसरे कमजोर देशो और जातियो की जमीन हडप ली। इसका विवरण प्रस्तुत करते हुए राधामोहन गोकुलजी कहते है "१८७६ से १९१४ तक मे महाशक्तियो ने एक करोड़ वर्गमील से अधिक धरती छोटे राज्यो या जातियों की छीनकर अपने राज्य मे मिलाई। यह धरती समस्त यूरुप के क्षेत्रफल से दूनी होती है जिसे बड़े २ डाकू राज्यों ने लूटकर आपस मे बांट लिया। अब इस धरती पर छीननेवालों का उपनिवेश है, या यह करद राज्य अथवा गुलाम है।"

अपने उपनिवेशों मे अंग्रेज मजदूरों से काम कराने के पूंजीवादी तरीके ही नही, जोर जबर्दस्ती के सामन्ती तरीके भी अपनाते है। भारतीय समाचारपत्र 'फारवर्ड' के १० मई सन् २५ के अंक से एक उद्धरण देकर बतलाते है कि उपनिवेशो मे किस तरह बेगार कराई जाती है। उपनिवेश मन्त्री एमेरी ने ब्रिटिश पार्लियामेन्ट मे मजूर किया कि उगान्डा रेलवे बनाने के लिए कीन्या के चार हजार मजदूरो की जबरिया भर्ती की गयी। मजदूरो को जितनी पगार सरकार दे, उतनी उन्हें लेनी पड़ेगी; उतनी पगार पर काम न करें तो उन्हें जेल मे बन्द कर दिया जायगा। इस समाचार पर टिप्पणी करते हुए राधामोहनजी कहते है: "पार्लियामेंट के मेम्बर आश्चर्य स्तम्भित तो हो गये पर उन्होने इस अमानुपी अत्याचार को हटाने का व्रत नही लिया। इस बात को जानकर भी अंग्रेज जाति सुख में सोती है और मज़े उड़ाती है। यदि धर्म सभ्यता कही होती तो लोग इस अत्याचार के मिटाने के लिए धरती आकाश हिला छोडते।" इससे उन्होने निष्कर्ष यह निकाला है कि "कानून सिवा स्वार्थपूर्ण षडन्त्र के और कोई अर्थ नही रखते। ला एण्ड आर्डर' ठगी के जाल का नाम है।" कानून के साथ पूंजीपति धर्म का पयोग भी श्रमिक जनता को ठगने के लिए करते है। यह स्थिति सभी पूंजीवादी शों मे है। "राज्य और सम्पन्न लोगों की मिली भगत है। धर्मयाजक अपने

दाताओं की जय मनाते है और धर्म की आड में ईश्वर की कल्पना को दृढ़ करते हुए जनता को लुटवाते हैं। यह पुरोहिती कैतव राज कैतव से कहीं अधिक घातक है। दोनों कैतव प्राय: हाथ में हाथ मिलाकर काम करते रहते है।"

पूंजीवादी देशों के बैंक पूंजीपतियों की सहायता के लिए हैं, गरीबों की सहायता के लिए नहीं। पूंजीपति धर्म की रक्षा के लिए लाखों खर्च कर देंगे, दरिद्र और दुखी जनों के उद्धार के लिए कुछ न करेंगे। कलकत्ते में मुफलिसों और अपाहिजों की भीड को लक्ष्य करके कहते है: "आज कलकत्ते आदि बड़े २ नगरों में जाकर देखें तो सहस्र दीन-दुखी, दरिद्र, अन्धे, लूले, लगड़े, बीमार, कोढी, भूख से मरे जाते हैं, रातों सड़कों के किनारे पड़े सर्दी गर्मी सहन करते हैं। परन्तु इनको कोई भी न मकान बनाकर देता है, न इनका इलाज करता है। लेकिन 'राज्य और पुरोहितों' की जड को मजबूत करने के लिए सम्पन्न लोग क्षण में लाख २ दो दो लाख रुपया एकत्र करके दे देते है। प्रत्युत राज को तो करोड़ो रुपया कई बार देते है। इससे हम गरीब मजूर समझ सकते है कि हमारा कर्तव्य क्या है।" यहां अन्तिम वाक्य में "हम गरीब मजदूर" लिखकर राधामोहन गोकुलजी ने मजदूरों से अपना पूरा एकात्मभाव दिखाया है।

अध्याय के अन्त में पूंजीवादी देशों की उक्त स्थिति से उन्होंने सोवियत समाज का भेद दिखाया है। वहां मुफलिसी खत्म कर दी गयी है; "वहां कोई भी भीख मांगता, अन्न-वस्त्र के लिए तरसता, दवा बिना दुख भोगता, मकान बिना सड़क पर पड़ा तड़फता नहीं मिलेगा।"

पांचवें अध्याय में बताते है कि पूंजीपतियों के महासंघों का गहरा सम्बन्ध युद्धनीति से है। हथियार बनानेवाले ट्रस्ट लड़ाई में भारी मुनाफा कमाते है। पहला विश्वयुद्ध इन पूंजीपति-संघों की होड़ का परिणाम था। रूसी क्रान्ति के बाद जो गुप्त सन्धियां प्रकाशित की गयी, उनसे साम्राज्यवादियों के असली उद्देश्यों का पता चल गया। इन्होंने अपने देशों की प्रजा को युद्ध में झोंकने के अलावा पराधीन देशों को भी अपनी युद्धनीति का अस्त्र बनाया। "बहुत से उपनिवेशों, और भारत सदृश देशों को भी अपना धन जन गुलाम बनकर गवांना पड़ा।"

यह सब हुआ देशप्रेम, स्वाधीनता, जनतन्त्र और शान्ति के नाम पर। साम्राज्यवादी प्रचार का पर्दाफाश करते हुए राधामोहन गोकुलजी कहते है: "लड़ाई के समय लड़ाके राज्यों ने अपनी प्रजा को जैसा सब्ज बाग दिखलाया" उससे अब "पैदायशी गधों" को छोड़कर शायद ही कोई शासक वर्ग का विश्वास करे। "सभ्य बननेवालों ने देशप्रेम और बहादुरी के पवित्र नाम पर दूसरों की धरा धाम धन हरने के लिए मनुष्य का मास खानेवालों तक को जहां मिल सके अपनी सेना भुक्त करने में चूक नहीं की।"

पहले विश्वयुद्ध को समाप्त होते देर नहीं हुई, दूसरे विश्वयुद्ध की तैयारी शुरू हो गयी। भावी युद्ध और साम्राज्यवादियों की लूट-खसोट को श्रमिक जनता का एका, उनका संगठन, उनका संघर्ष रोक सकता है।

"इसीलिए बहुत काल पहले महात्मा मार्क्स ने घोषणा की थी और अब भी

उनके अनुयायी पुकार-पुकारकर कह रहे है कि 'भूमण्डल के श्रमजीवियो ! मिलकर एक झंडे तले आ जाओ। भविष्यत् मे समराग्नि मे जलनेवाली करोडो जानो को बचा लो, अपने दुखो से छुटकारा पाकर सुख से रहो और औरो को भी सुख से रहने दो। मनुष्य मनुष्य भाई भाई की तरह रहें, वह कुत्तो की तरह लड़ने और एक दूसरे के मुंह का टुकड़ा छीनने के लिए नही बने।"

छठे अध्याय मे वह विनिमय के विकास और मुद्रा के चलन की व्याख्या करते है। मुद्रा के चलन के साथ बैंकों के धन्धे का प्रसार हुआ। इस प्रसंग मे राधामोहन गोकुलजी ने भारत के बारे मे जो कुछ लिखा है, वह अपनी व्यक्तिगत जानकारी और अपने अनुभव के आधार पर लिखा है। वह सब उन्हे साम्यवाद या अर्थशास्त्र पर लिखी हुई किसी विदेशी विद्वान् की पुस्तक मे न मिला था। सामन्ती अलगाव से व्यापार और उद्योगधन्धो की प्रगति मे कैसे बाधा पड़ती है, इसकी जानकारी इस विवरण से होती है.

"पहले जमाने मे बहुत तरह के सिक्के चलते थे। अभी कुछ दिन पहले रजवाड़ो के जुदे जुदे सिक्के थे। हर एक के यहां अपनी अपनी टकसाले थी। जुदा २ सिक्कों का मोल तोल धातु का खरापन अलग २ होता था। इससे बडी कठिनाई पड़ती थी। बिना सराफो के काम नही चलता था। जगह जगह परखने वालों और भाज देनेवालो की दुकानें होती थी। बहुतेरे फेरीवाले भी होते थे जो यह काम करते थे। लोग सराफो के यहां, बैंको मे अपना धन जमा कर देते थे, वह सिक्का चलन बाजार के हिसाब से जमा करके खाता खोल लेता था, उसी मे लिखकर जमा करनेवाले से लेना देना रहता था, जमा करनेवाले के पास एक सरखत होता था जिसमे जमा की हुई और ली हुई रकमे यथासमय लिख दी जाया करती थी।

"कभी २ जमा करनेवाला सराफ से रोकडी रुपया न लेकर उसके बदले मे एक पुर्जा लिखा लेता [।] यह पुर्जा सराफ की मातबरी पर, या लेन देन होने के कारण दूसरे सराफ लेकर रुपया दे देते थे और लिखनेवाले सराफ के खाते मे नाम लिख देते। इसी का एक रूपान्तर नोट है जो आजकल चलता है।"

सातवें अध्याय मे वह जातीय उत्पीडन का वर्णन करते है और इस बात पर जोर देते हैं कि मजदूरों की अन्तर्राष्ट्रीय एकता इस उत्पीड़न को समाप्त करके समस्त जातियो के लोगों को एक विशाल मानवजाति मे संगठित कर सकती है।

सबसे पहले वह जाति की व्याख्या करते है : "राष्ट्रीय जाति जनपद के उस समूह का नाम होता है जो एक निश्चित भूभाग मे रहने और एक भाषा के बोलने के कारण एक होकर रहते है। और भी राष्ट्रीयता के बोध करानेवाले लक्षण होते है परन्तु इन सबमे ये दो प्रधान है।"

जातीय उत्पीड़न से पूंजीपति लाभ उठाते है, दो जातियो के श्रमिकों मे वैर-भाव पैदा करके दोनों का शोषण करते है। इस उत्पीड़न की मिसालें देते हुए बताते है कि जार सरकार यहूदियों को सताती थी [यह वास्तव मे धर्म के नाम पर होनेवाला उत्पीड़न था], उक्रैन के लोगो को न अपनी भाषा पढने देती थी, न उसमे उन्हें अखबार निकालने देती थी। जर्मन सरकार ने पोलिश लोगो के

स्कूल बन्द करा दिये थे, हंगरी के लोगों को अपनी मगयार भाषा का व्यवहार करने की आज़ादी न थी। इसी तरह "ब्रिटिश सत्ताधारियों का जो घृणित व्यवहार अफरीका के असली बाशिन्दों और हिन्दुस्तानियों के साथ है, जो वर्ताव एशियावालों के साथ अमरीका आदि में है वह सब संसार भर जानता है। आसाम के चाय के बगीचों में और उपनिवेशों में भारतीय कुलियों की दशा कौन नहीं जानता।"

जातीय अत्याचार का रूप यह है कि "बलवान जाति दुर्बल जाति के गले विदेशी भाषा, विदेशी रीति रिवाज, चालढाल उसकी इच्छा के विरुद्ध बाँध देती है।" "इसी का नाम गुलामी है। भारत भी आज इंगलैण्ड का गुलाम है।" एशिया और अफ्रीका की जातियों पर यूरुप के साम्राज्यवादियों के जिस दमन और अत्याचार की तस्वीर राधामोहन गोकुलजी ने खींची है, उसमें यह सहज नतीजा निकलता है कि इन महाद्वीपों के निवासियों को मिलकर साम्राज्यवादियों का मुकाबला करना चाहिए। भारतीय जनता पड़ोसी चीन के साम्राज्य-विरोधी संघर्ष को सहानुभूति से और ध्यानपूर्वक देख रही थी। एशियाई जनता के साम्राज्य-विरोधी भाईचारे की झलक राधामोहन गोकुलजी की इस पुस्तक में भी है। चीन के बारे में उन्होंने लिखा है :

"इस समय चीन पर फ्रांस, इगलैण्ड, अमरीका और जापान मिलकर जो अत्याचार कर रहे है यह कहाँ का न्याय है ? इसके पहिले इन शक्तियों के साथ जर्मनी भी शामिल थी और पाँचों ने मिलकर इसे लूटा-खसोटा था। हांगकांग, शंघाई और काण्टन प्रभृति सब चीन के अंग है, इनमें चीन के श्रमिकों और किसानों को सुख से रहने और अपना प्रबन्ध आप करने का पूरा नैसर्गिक अधिकार है। इस उचित हक को छीनने के लिए बड़े बड़े बलशाली राज्यों ने बहुत काल से ढोंग रच रक्खा है और अब अपने विचारों को कार्यरूप में लाना चाहते है।"

एशिया की पीड़ित जातियों के संघर्ष में साम्राज्यवादी देशों के मज़दूरों को इन जातियों की सहायता करना चाहिए। दुनिया के मज़दूरो, एक हो, मार्क्स का यह आह्वान तभी सार्थक होता है जब उत्पीडक जातियों के मज़दूर अपने अधिकारों के लिए लड़ते हुए उपनिवेशों और पराधीन देशों की स्वाधीनता के लिए भी लड़ें। चीन के सन्दर्भ में राधामोहन गोकुलजी आगे लिखते है :

"इस समय जापान, फ्रांस, अमरीका और इंगलैण्ड के श्रमिकों, किसानों, कारीगरों का धर्म है कि चीन के श्रमिकों के साथ मिलकर, सम्पन्नों, सत्ताधारियों और अभिजातों के इस अत्याचार को अपने अपने देश में बलपूर्वक रोकें और चीनियों का साथ दें। जिस तरह भारत के लुट जाने से उपर्युक्त देशों के गरीबों को कोई लाभ नहीं हुआ केवल सम्पन्नों का ही जेब भरा है, वैसे ही चीन के लुटने से होगा।"

साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशिया और अफ्रीका की जनता का अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष तभी समाप्त हो सकता है जब इस जनता को पूर्ण स्वाधीनता मिले। किन्तु एशिया और अफ्रीका के पूँजीवादी नेता पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य स्पष्ट न करके,

राधामोहन गोकुलजी कहते है : "लाल सेना की पद्धति का सञ्चार पहिले पहल १८७१ मे पैरिस (फ्रांस) के श्रमिकों के बनाये हुए कम्यून ने किया था।" उसके बाद रूस मे लाल सेना का गठन हुआ। सिद्धान्त यह था : "लाल सेना मे वही अफसर और सिपाही होंगे जो श्रमिकों (कारीगरों, मजदूरों, किसानों) का माल मारनेवाले न होंगे। इसलिए सेना की जड दरिद्र ग्रामीण किसानों और नगरों के उद्योग के केन्द्रों, बडे २ कल-कारखानों मे काम करनेवालों को लेकर बनाई जायगी, दूसरे लोगों को प्रधान समराङ्गन मे दूर रहकर सहायता करनी होगी।"

समाजवादी क्रान्ति के सफल होने के बाद भी सेना की आवश्यकता बनी रहती है क्योकि यह क्रान्ति किसी एक देश मे अथवा कुछ देशों मे होती है, सभी देशो मे एक साथ नही होती। कहते है : "यह तो सम्भव नही कि सारे भू-मण्डल के देशों मे एक साथ साम्यवाद फैल जाय, कुछ स्थान इस दौड़ में पीछे रहेंगे। इनके साथ श्रमिकों को लडने की जरूरत पड़ेगी तो एक देश के श्रमिक दूसरे देश के श्रमिकों की सहायता, बिना सेना कैसे कर सकेंगे; सुतराम् जब तक सारे ससार मे साम्यवाद सुख शान्ति न स्थापित कर ले उसे सेना की जरूरत रहेगी।" अध्याय के अन्त मे फिर कहते है : "जब तक संसार में कही भी धनिक सरकार का अस्तित्व रहेगा, तब तक लाल सेना को भी रहना होगा। धनिक प्रधान शासन चाहे एकमुखी राजसत्ता (Monarchy) हो, चाहे प्रजातन्त्र (Republic) हो, सबमें ही धनिको का प्राधान्य होना है, सभी जगह श्रमिक दल पर धनिकों के खातिर अत्याचार होता है।"

नवें अध्याय मे पूंजीवादी व्यवस्था और समाजवादी व्यवस्था में कानून और कचहरी-अदालत का भेद बताते हुए कहते हैं : "श्रमिक समूहों को सताने, धोका देने के लिए जो धनिक-प्रधान समाज की अनेक संस्थाएँ है, उनमे एक न्याय विभाग भी है। यह उन कानून [कानूनों] के अधीन वर्तता है जो स्वार्थपरायण वर्ग की दृष्टि से बनाये जाते है। न्यायालयों (कोर्टो) की बनावट कैसी भी क्यों न हो, कानूनों के संग्रह मे पूंजीपतियो का प्राधान्य, पूंजी का सम्मान और अधिकार सर्वत्र रहता है, श्रमिको के अधिकारो की सर्वत्र अवहेला पाई जाती है।" इसके विपरीत "सोवियट शक्ति ने न्यायकार्य की पहली मशीनरी को विनष्ट करके नये न्यायालय खोले है जिनमे वर्गीय पक्षपात का रंग छल से नही छिपाया गया जैसे सम्पन्नों के अधिकारकाल मे होता था कि काम तो हो पूंजीपतियों के हित का और घोषणा की जाय कि सारी प्रजा के मत से यह किया गया है। पहले सम्पन्न समुदाय श्रमिको पर अपने बहुमत से फैसला देता था, अपने स्वार्थ से प्रचलित होकर आज्ञाएँ निकालता था, अब श्रमिक समुदाय अपने बहुमत से फैसला देता है, अपने हितो को नजर मे रखकर आज्ञाएँ निकालता है।"

दसवें अध्याय मे पूंजीवादी शिक्षापद्धति और समाजवादी शिक्षापद्धति का भेद बताते है। पूंजीवादी समाज मे जो शिक्षक पूंजीपतियों के गुलाम बनकर उनकी विचारधारा का प्रचार करते है, उनकी तीखी आलोचना करते हुए राधा-मोहन गोकुलजी कहते है :

"जितनी पाठ्यपुस्तकें शिक्षा विभाग से छपाई या नियत की जाती हैं, उन सबका आन्तरिक अभिप्राय साधारण प्रजा को सदा के लिए गुलाम बनाये रखने का होता है। लेखक भी टकापन्थी, खुशामदी, सांचे के ढले गुलाम, स्वार्थान्ध, हृदयहीन और अभद्र चित्त होते है। यह समझते है, धनिको का दौर-दौरा अभेद्य और अमिट है, सदा ही बना रहेगा। इनके हृदयो मे धन की प्रतिष्ठा, नामवरी का मान, थोथी उपाधियों की अर्चना और अभ्यर्थना की इच्छा भरी पडी रहती है। संसार मर जाय परवाह नही, इनको धनिकों के साथ मिलने से आराम मिलना चाहिए। जिस तरह धर्मयाजक धन के साथ बिके गुलाम होते है, वैसे ही यह बेचारे शिक्षा विभाग के महन्त भी होते है। इस प्रकार की शिक्षा और धर्म श्रमिकों को लूटने के लिए धनिक साम्राज्य के दो बलिष्ट हाथ है।"

यह स्वाभाविक है कि राज्यसत्ता पर अधिकार करने के बाद श्रमिक वर्ग शिक्षापद्धति को बदले, "जो धनिको ने स्कूलो को मजूरों को गुलाम बनाने का कारखाना बनाया तो अब श्रमिक लोग स्कूलो को अपनी स्वतन्त्रता का साधन बनावें और अपने बच्चो के मनों मे गुलामी के भावों का नामोनिशान बाकी न रहने दें। जहाँ सम्पन्नो ने श्रमिकों के बच्चों मे अपने भाव भरे थे, वहाँ अब श्रमिक लोग सम्पन्नो मे मेहनत करके खाने का पवित्र भाव भर दें। जनता के दिलो को नये सामाजिक सम्बन्धो के लिए पुष्ट और नीरोग बनाकर तय्यार करें।"

भारत में अंग्रेज़ सरकार शिक्षित जनो के दिमाग को अपने काबू मे रखने के लिए कैसे प्रयत्न करती थी, इसको एक मिसाल यह है: "रूस की अभिनव क्रान्ति के सम्बन्ध मे अनेकों पुस्तकें तो भारत में आ ही नही सकती।"

ग्यारहवें अध्याय मे बताते है कि धर्मसम्बन्धी कल्पनाओं का जन्म कैसे हुआ। सामाजिक विकासक्रम मे इनका जन्म होता है और उसी क्रम मे इनका अन्त होता है: "ईश्वर और अलौकिक शक्ति का भाव मनुष्य जाति के प्रारम्भिक अज्ञानावस्था मे पैदा होता है और प्रौढ़ता आने पर विलीन हो जाता है। बचपन के विचारो को जवानी के [की] व्यवहारिक अवस्था मे स्थान नही मिलता, न उस कशमकश मे ही इनका पता लगता है जो मनुष्य और प्रकृति मे चलती है।"

सम्प्रदायवाद और अन्धविश्वासो के विरुद्ध संघर्ष के बारे मे कहते हैं: "धर्म के साथ हमारे झगडे के दो पहलू है, हरेक कम्यूनिस्ट को चाहिए कि इन दोनों के भेद को खूब समझ ले। एक ओर तो हमें सम्प्रदायों के साथ झगड़ना है, क्योंकि इन्ही के द्वारा खासतौर पर संगठन करके धर्म का प्रचार होता है, और इनके प्रचार की असली गरज होती है जनता को अज्ञानान्धकार मे डाल रखना और धर्म का गुलाम बनाये रहना। दूसरी ओर हमें अधिकांश जनता के उन अन्धविश्वासों और पूर्व-कुसस्कारों से लडना है जो उसमे (जनता मे) गहरा घर कर गये हैं या उसके हृदय पर अंकित हो रहे है।"

धर्म-सम्बन्धी संगठनों और सम्पत्ति के सामन्ती रूपों, सामन्ती-पूंजीवादी शासनतन्त्रों मे गहरा नाता है। इसके बारे मे कहते है: "धर्मयाजक समूह ज़मींदारो व पूंजीपतियों के ही समान हैं जो शासनतन्त्र (State or Government) से मिले रहकर श्रमिकों को दुहा करते हैं। यह तीनो ही प्रकार के लोग

शासनतन्त्र के श्रमिकों के सताने में मदद देते है और शासनतन्त्र काम पड़ने पर, इनको मदद देता रहता है। धर्म और शासनतन्त्र की मिली भगत बहुत दिनों से है। मन्दिर, मठ, महन्तों की गद्दियाँ सभी के साथ जमीन, जागीर लगे है। तब यह स्वयं जमींदारों की गद्दी नही तो और क्या है। कई कई महन्त तो खासे महाराजाधिराज है।"

पूँजीवाद अपने विकासक्रम मे सम्पत्ति के सामन्ती रूपों को बदलता है, तब वह मठो के साथ लगी हुई जमींदारियाँ समाप्त करता है, इसके साथ विज्ञान के क्षेत्र मे उन्नति करते हुए वह पुराने अन्धविश्वासों को निर्मूल करता है। किन्तु पूँजीवाद सगत रूप से अपनी यह क्रान्तिकारी भूमिका पूरी नहीं करता, वह आर्थिक क्षेत्र में सामन्तवाद से समझौता करता है, वैसे ही सांस्कृतिक क्षेत्र में अन्धविश्वासो से समझौता करता है। इसी कारण उसका अधूरा काम मजदूर वर्ग पूरा करता है।

बारहवें अध्याय मे बताते है कि समाजवादी क्रान्ति होने पर मजदूरों के संगठन पूँजीपतियों को बेदखल कर देते है। बेदखल करने का कारण यह होता है: "हरामखोर चाहते है कि हम गरीबों मजूरों को मारकर खा जायँ, गरीब मजूर यह चाहते है कि हम हरामखोरो को अपना सा श्रमिक बनाकर हरामखोरी उनसे छुटा दें।" इसलिए समाजवादी क्रान्ति में पहला काम होता है पूँजीपतियों की बेदखली।

बेदखली की प्रक्रिया समझाते हुए राधामोहन गोकुलजी कहते है: "श्रमिक समुदाय का पहला काम होता है भोग्य पदार्थों की पैदावार का साधन अपने हाथ मे लेना। इसके लिए उन्हें जमींदारों को जमीन से, कोठीवालो और सौदागरो को कोठियो और बड़ी बडी सौदागरी की दुकानो से बेदखल करना पड़ता है। इस बेदखल करने का यह अर्थ नही है कि श्रमिक धनिकों को लूटकर सारी स्थावर जंगम सम्पत्ति आपस मे बांट ले और धनिकों की तरह रहने लग जायँ। इस तरह पर पहले मालिको को बेदखल करके जमीन धन सम्पत्ति सब श्रमिक प्रधान प्रजातन्त्र के पास खालसे मे रहती है। अर्थात् राष्ट्रीय सम्पत्ति बन जाती है।"

राधामोहन गोकुलजी ने इस बात पर जोर दिया है कि राष्ट्रीयकरण से मजदूर वर्ग को लाभ तभी होता है जब राज्यसत्ता पर उसका अधिकार होता है। दो तरह के राष्ट्रीयकरण का भेद बताते हुए कहते है: "राज्य या शासकवर्ग के हाथ मे सम्पत्ति का सौप देना एक बात है और देश के श्रमिक शासित प्रजातन्त्र के हाथ में सौंपना दूसरी बात है। ई. आर. रेलवे बृटिश सरकार के हाथ मे आ गई लेकिन आज तक उससे प्रजा को कोई भी लाभ नही पहुँचा, जो हाल पहले था वही अब भी है।"

राज्यसत्ता पर जब श्रमिक वर्ग का अधिकार होता है, तब पैदावार में पहले से चली आती पूँजीवादी अराजकता खत्म कर दी जाती है और पैदावार के साधनों का भरपूर उपयोग श्रमिक जनता के हित मे होता है।

तेरहवें अध्याय मे बताते है कि पूँजीपतियों के हाथ से राज्यसत्ता छीनने के बाद रूस के साम्यवादियों ने जमीन गरीब किसानों मे बाँट दी। जमीन के मामले

में बेदखली के साम इन किसानों को हुआ; "इन गरीब किसानों की खातिर ब
बड़े जमींदारों की जमीन ले ली गई, इसी तरह बड़े बड़े सौदागरों धनशाल
किसानों और कम्पनियों की जमीन भी बेदखली में आई।" धरती से "स्वामि
अधिकार" हटा दिये गये और जाति या ऊँचनीच का भेदभाव किये बिना वह
"काम करने वाले किसानों" में बाँट दी गई। राधामोहन गोकुलजी अपनी यह
पुस्तक अक्तूबर १९२५ में लिख रहे थे। उस समय तक वहाँ सामूहिक खेती का
चलन न हुआ था। इसलिए उन्होंने लिखा है : "जमींदारी के अधिकार उठाकर
छोटे बड़े धनी और निर्धन किसान एक श्रेणी युक्त होकर सुख से काम करते और
रहते हैं।" सामूहिक खेती का चलन न हुआ था पर जिन बड़े फार्मों पर मशीनों
से खेती होती थी, उन्हें "सोवियट सरकार ने लेकर सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयत्न
किया और कृषि शिक्षा के लिए वहाँ उपयुक्त स्कूल और कालेज बनवा दिये।
किसानों को प्रोत्साहित और जानकार करने के लिए सोवियट सरकार ने कृषि
कारखाने (फार्म्स) भी बड़े विस्तृत रूप में बनाकर सीधा राज की ओर से कृत-
कार्यता के साथ चलाये हैं।" इससे आगे का कदम सामूहिक खेती की ओर ही हो
सकता है। इसलिए राधामोहन गोकुलजी कहते हैं : "कम्युनिस्ट दल का काम है
कि बड़े २ कृषिकार्यों का विस्तार करें, छोटे कार्यालयों को समुन्नत करके बड़ा
बनावें लेकिन इस बात का ख्याल रखकर कि पड़ोस के छोटे किसानों को किसी
प्रकार की हानि या असुविधा न हो बल्कि उनको मदद मिले।"

खेती में जमींदारी प्रथा के खात्मे का नतीजा यह हुआ कि सोवियत संघ
पड़ोसी देशों को अन्न भेजकर भुखमरी के समय उनकी सहायता करने में सफल
हुआ। पूंजीवादी देशों की सहायता और सोवियत संघ की सहायता में मौलिक
भेद है, इस बात पर जोर देते हुए लिखा है : "अभी (अक्टूबर १९२५) पारस
(Persia) में अन्न यथेष्ट न पैदा होने के कारण भयानक दुर्भिक्ष हो रहा है, रूस
की सोविएट सरकार ने पारस को अन्न देने का वचन देकर प्रबन्ध आरम्भ कर
दिया है। यदि कोई दूसरी सरकार ऐसे महत् कार्य का सविधान हाथ में लेती तो
केवल यही सोचती कि पारस निगलकर कैसे पेट में धर सकूंगी या कम से कम
उसका सारा सोना-चाँदी लूटकर कैसे धनवान बन सकूंगी। पर रूस ने जो काम
हाथ में लिया है, [वह] केवल मनुष्य भक्ति से प्रेरित होकर, छल से नहीं, दगा के
लिए नहीं, ठगी की नियत से नहीं, चालबाजी से नहीं, किन्तु मानवप्रेम से। क्या
अच्छा होता जो योरोप अपने कपट को छोड़कर रूस का अनुकरण करता औरसारे
संसार को कराता।"

चौदहवें और अन्तिम अध्याय में राधामोहन गोकुलजी ने बताया है कि
सोवियत संघ में श्रमिकों की स्वास्थ्य रक्षा के लिए किस तरह काम करने के घण्टे
निश्चित किये गये हैं, छुट्टी की व्यवस्था की गयी है, स्त्रियों और लड़कों की
स्वास्थ्य रक्षा के लिए अलग नियम बनाये गये हैं। इन नियमों में कुछ परिवर्तन
कुछ समय के लिए किये गये थे जब रूस पर विदेशी ताकतें हमला कर रही थीं।
"ज्यों ज्यों बाहिरी साम्राज्यवादियों के आक्रमण और धींगाधींगी का भय जाता
रहेगा, रूस में श्रमिकों को अत्यन्त सुख मिलेगा और अस्थिर परिवर्तन जो नियमों

में हुए है, उन्हें रद्द करके मौलिक कानून के ही अनुसार सारे काम होंगे बल्कि और अधिक सुविधा की जायगी।"

राधामोहन गोकुलजी की यह पुस्तक साम्यवाद के सिद्धान्तों का परिचय देनेवाली सामान्य कृति नही है। इसके हर पृष्ठ पर अन्याय के प्रति लेखक की तीव्र घृणा, श्रमिक जनता के प्रति गहरा प्रेम, क्रान्ति के प्रति अडिग निष्ठा अकित है। साम्यवाद के मूल सिद्धान्तो का परिचय देते हुए वह समकालीन विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था और उसमे भारत जैसे पराधीन राष्ट्रो का चित्र खीच देते है। साम्राज्यवादी प्रचार को छिन्न-भिन्न करते हुए वह जोरदार शब्दों में सोवियत संघ की नयी समाजव्यवस्था का समर्थन करते है। पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त करने के साथ वह निरन्तर अपने अनुभव पर ध्यान देते है और अपनी बात इस ढंग से समझाते है कि भारतीय पाठक उसे आसानी से ग्रहण कर सकता है।

यह एक प्रारम्भिक पाठ्यपुस्तक है और इससे यह आशा नही की जा सकती कि भारतीय क्रान्ति की अनेक पेचीदा समस्याओं का वह निराकरण करे। इनमे एक समस्या यह है कि साम्राज्यवाद और भारतीय पूँजीवाद के आपसी सम्बन्धो की व्याख्या किस तरह की जाय और इन सम्बन्धों को ध्यान मे रखते हुए मजदूर वर्ग स्वाधीनता आन्दोलन मे किस तरह की नीति अपनाये। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन मे इस समस्या को लेकर जैसी समझ थी, उसी की झलक राधामोहन गोकुलजी के विवेचन में है। चौथे अध्याय मे उन्होने अंग्रेजों द्वारा भारतीय पूँजीपतियो को रियायतें देने के सन्दर्भ मे लिखा है :

"हिन्दुस्तान के मिलो को जब विलायती धोती ३) जोड़े बिकती थी, अपनी धोती भी ३) २॥।) मे बेचनी पड़ती थी, क्योंकि ग्राहक तो अच्छा और सस्ता माल लेता है। अब जब विलायत का माल बहुत ज्यादा कर लगाने के कारण आना बन्द हो गया तो हिन्दुस्तानी मिलों को विलायती माल के मुकाबले का डर बाकी न रह गया, इसलिए इन्होंने वही २॥।) की धोती ४) को बेचना शुरू कर दिया, देश को हारकर लेना ही पड़ेगा। इसलिए टेरिफ का अर्थ है गरीबों को लूटकर धनवानों का जेब भरना। भारत मे स्वदेशी आन्दोलन का भी यही फल हुआ, गरीब लुट गये और बम्बई आदि स्थानों के मिल वाले धन-कुबेर बन गये। जिस गरीब के मुंह का टुकड़ा छिन गया वह तो भूखा मरा, टुकडा छीनने वाला चाहे काला कौआ हो या सफेद चील। हमारे लिए लंकाशायर का मिलमालिक वैसा ही खबीस दिखलाई देता है जैसा बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर, देहली, आगरा इत्यादि स्थानों का मिलमालिक। जिस देशप्रेम के नाम पर गरीबों का बलिदान होता है, उस देशप्रेम के लिए किसी भी मिलमालिक ने १९०५ से आज १९२५ तक में कभी अपने नफे मे एक कौड़ी की कमी नही की, अवसर पाने पर अपना नफा चौगुनी दसगुनी जरूर की है। १९१४ मे १९१९ तक का कपड़े का व्यापार का इतिहास देखो, १९०६ मे १० तक के स्वदेशी आन्दोलन की कथा पढ़ो।"

स्वदेशी आन्दोलन भारतीय जनता का साम्राज्यविरोधी आन्दोलन था। उसने विदेशी माल का बहिष्कार करके भारत का औद्योगिक विकास सम्भव बनाया। यह विकास अंग्रेजों की कृपा का फल नहीं है, वह भारतीय जनता के

संघर्ष का फल है। सर्वहारा वर्ग के उद्भव, उसके सगठन के लिए उद्योग-धन
निर्माण आवश्यक है। इस प्रकार स्वदेशी आन्दोलन औद्योगिक पूंजीवाद के
औद्योगिक सर्वहारा वर्ग का भी जनक है। देशी पूंजीपति और विदेशी पूंज
दोनों शोषक है। देश का धन में राधामोहनजी ने बड़ी पते की बात लिखी
देश का चोर लुटेरा जो भी धन ले जाता है वह फिर हमारे पास आ जाता है,
हमारी घृणा का पात्र है पर जर्मनी अमरीका आदि के लुटेरों की अपेक्षा तो अच
ही है !

औसत कम्युनिस्ट समाजवाद के बारे मे जितनी बातें आजकल जानता है य
जितनी बातें उसे जाननी ही चाहिए, वे सब यहाँ मौजूद हैं। संसार के मनुष्य
पूंजीवादी शोपण के कारण घोर कष्ट मे है और वे अपने कष्ट का अन्त कर सकते
है, पुस्तक का यह मूल सूत्र है। केवल सर्वहारा वर्ग, उसके द्वारा चलाया जाने
वाला संघर्ष वर्गशोपण को पूरी तरह समाप्त कर सकता है। समाजव्यवस्था की
मूल विशेपताएँ, सोवियत समाज की रूपरेखा सरल भापा मे उन्होने प्रस्तुत कर
दी है। मजदूर अपनी श्रमशक्ति वेचता है, दास की श्रमशक्ति बिकती है और वह
स्वयं भी बिकता है। दोनो मे थोडा ही अन्तर है। मजदूर के श्रम से पूंजीपति
अतिरिक्त मूल्य कमाता है; श्रमशक्ति के लिए जितने पैसे देता है, उतने से ज्यादा
का काम करा लेता है। उसकी मुक्ति के लिए सर्वहारा वर्ग की पार्टी का निर्माण
और विकास आवश्यक है। साम्राज्यवाद मजदूरों के सामान्य शोपण के अलावा
बँधुआ मजदूरों का शोपण करता है। भारत जैसे देशो के सन्दर्भ में यह तथ्य
महत्वपूर्ण है। अनेक विचारक साम्राज्यवाद के प्रसंग मे इसे भूल जाते है। पूंजी के
केन्द्रीकरण से बड़े बड़े पूंजीपति सघ वनते है। साम्राज्यवाद और युद्ध से इनका
घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाजवादी क्रान्ति का अर्थ है केन्द्रीभूत सम्पत्ति से इनकी
'वेदखली'। किसानो के सन्दर्भ मे खालसा (सामूहिक सम्पत्ति) और पूंजीपतियों के
सन्दर्भ में बेदखली (सम्पत्ति का अधिग्रहण) शब्दो का प्रयोग राधामोहनजी की
भापा सम्बन्धी सूझबूझ का प्रमाण है। राज्यसत्ता, सेना, न्यायव्यवस्था, शिक्षा-
पद्धति आदि का वर्गआधार स्पष्ट करते हुए राधामोहनजी ने धार्मिक अन्ध-
विश्वासो, मठाधीशों और महन्तों पर करारी चोट की है। साम्यवाद का परिचय
देने के लिए यह पुस्तक आज भी उपयोगी है। यह पता लगाना दिलचस्प होगा
कि अंग्रेजी मे उस समय तक किसी भारतीय लेखक ने ऐसी पुस्तक लिखी थी या
नही। अन्य भारतीय भापाओ मे ऐसी पुस्तकें हो तो उनका भी पता लगाना
चाहिए।

## (ठ) 'मतवाला'

हिन्दी के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'मतवाला' से राधामोहन गोकुलजी का घनिष्ठ सम्बन्ध
था। जिन दिनों निराला और शिवपूजन सहाय 'मतवाला' का पूरा भार सँभाले
हुए थे, राधामोहनजी लगभग नित्य ही उस पत्र के कार्यालय पहुँचते थे। वही
निरालाजी से उनकी घनिष्ठता हुई। मैने उनके दर्शन लखनऊ मे निरालाजी के
ही यहाँ किये थे। आर्थिक राजनीतिक विपयो मे निराला की गति और रुचि का

कारण राधामोहनजी का प्रभाव था। सामाजिक विषयों में निराला का क्रान्तिकारी दृष्टिकोण राधामोहन गोकुलजी के दृष्टिकोण से मिलता जुलता है। 'माधुरी' में नास्तिक मत का समर्थन करते हुए राधामोहनजी ने 'प्रत्यक्षदर्शी' के नाम से लेख लिखे थे। इसी नाम से उन्होंने 'मतवाला' में रूसी क्रान्ति पर कई लेख लिखे थे। इन लेखों की एक विशेषता यह है कि राधामोहन गोकुलजी निरन्तर भारत के इतिहास और उसकी स्थिति पर ध्यान देते चलते हैं। १३ सितम्बर १९२४ के 'मतवाला' से उनकी 'रूस की अतिक्रान्ति' शीर्षक लेखमाला आरम्भ हुई। पहला लेख उन्होंने इस तरह शुरू किया था, "रूस को सैकड़ों बातों में हम भारत से पटतर दे सकते हैं, इसलिए रूस की अतिक्रान्ति का इतिहास पढ़नेवाले यदि ध्यान से पढ़कर विचारेंगे तो उन्हें भावी भारत के इतिहास का धुँधला मानचित्र दिखाई पड़ेगा। रूस भी भारत की तरह अपनी खास परिस्थितियों के कारण सोवीट सरकार की स्थापना के पहले और अनेक बातों में अब भी एक विचित्र देश है। गवर्नमेंट के अत्याचारों से पीड़ित रूस की प्रजा योरोप की अन्य जातियों की अपेक्षा सब प्रकार की उन्नति में सौ वर्ष से अधिक पीछे है, यद्यपि सोवीट सरकार के प्रसाद से वह अनुदिन उन्नत होती जा रही है। सन् १८५५ के पहले का रूसी इतिहास तो और भी कहीं अधिक राजकीय क्रूरता का अनुपम चित्र दिखलाता है—पर अनुपम वहीं तक जहाँ तक उसका सम्बन्ध योरोप से है, जब हम भारत की दुर्दशा को देखते हैं तो कहना पड़ता है कि केथरीन, अलक्षेन्द्र प्रथम और निकोलास का शासन अभागे भारत के वर्तमान शासन से लाख बार अच्छा था।" (रूस जैसे पिछड़े हुए देश में क्रान्ति हुई, यह बात भारतीय जनता के हृदय में आशा का संचार करनेवाली थी। ज़ारशाही रूस की तुलना में भारत की दशा कहीं ज्यादा खराब है, यह बात अंग्रेजी राज के समर्थकों के प्रचार का उत्तर थी।) रूस की ज़ारशाही राजशक्ति थी, "एक प्रधान बलप्रद केन्द्रिक शक्ति जिसके आश्रय से रूसी लोग तुर्कों, तातारों और पोलों से कृतकार्यता के साथ लोहा ले सकते थे। यह न होता तो सम्भव था कि योरोपवाले रूस देश को आपस में बाँट खाते या उसके रईस ही आपस में लड़कर उसे नष्ट कर डालते जैसा कि भारत में हुआ।" (भारतीय इतिहास से प्रमाणित है कि जब तक दिल्ली में शक्तिशाली केन्द्रीय राज्यसत्ता रही, तब तक अंग्रेज़ भारत को गुलाम नहीं बना सके। सामन्ती विघटन भारत की पराधीनता का मुख्य कारण था, इस सत्य की ओर राधामोहन गोकुलजी ने संकेत किया है।) नौकरशाही 'एकमुखी शासकों' (बादशाहों) की आँखों में धूल डालती थी। "आज भारत में भी यही हाल हम सगठनशील शासन में देख रहे हैं।"

अगले लेखों में राधामोहन गोकुलजी ने समाजवादी क्रान्ति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन किया है। रूस के अराजकतावादी क्रान्तिकारियों को सहानुभूति से याद करते हुए लिखा है कि जैसे भारत में असहयोगियों को राजविद्रोही कहकर ब्रिटिश गवर्मेन्ट ने २५,००० देशभक्तों को जेल में डाल दिया था, निहिलिस्टों के साथ भी ऐसा व्यवहार रूस में हुआ। वे शान्तिपूर्ण और अशान्तिपूर्ण उद्योग के झगड़े में पड़कर देश को कायर बनाने की चेष्टा को पाप समझते थे।

वे पृथ्वी पर सब मनुष्यों के समान अधिकार स्थापित करना चाहते थे। इसलिए की जगह उनमें सच्ची क्रांतिकारी शक्ति थी। राधामोहनजी के अनुसार इसी भूमि पर आगे चलकर महात्मा लेनिन का बीज पुष्पित हुआ। लेनिन और निहि-लिस्टों के संबंध में राधामोहनजी अत्यंत श्रद्धालु थे। उन्होंने अराजकतावादी बाकुनिन के बारे में लिखा है; बाकुनिन और मार्क्स के झगड़े में भी वह अराजकतावादी थे। मार्क्सवादी विचारधारा का प्रचार बोल्शेविक क्रान्ति के बाद हुआ, यह कहने के बाद लिखा है कि कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों पर विश्वास करनेवाला रूस में एक नया साम्यवादी जनतंत्र दल उत्पन्न हो गया। अन्यत्र लेनिन का उल्लेख करते हुए कहा है कि वह महात्मा गांधी की तरह आत्मनिष्ठ शक्ति के उपासक थे; इसके अलावा वे एक बड़े साहित्यकार भी थे।

इस लेखमाला में समाजवादी क्रान्ति से अधिक राधामोहनजी ने उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझाने का प्रयत्न किया है। सभी तरह के क्रान्तिकारियों के प्रति उनकी सहानुभूति है; क्रान्ति मार्क्सवादियों और लेनिन के नेतृत्व में सफल हुई, यह बात भी वह जानते हैं। इस लेखमाला से 'कम्यूनिज्म क्या है ?' की तुलना की जाय तो पता चलेगा कि वह राजनीतिक कार्रवाई के साथ-साथ अपना अध्ययन का काम भी बराबर करते जाते थे और उनकी विचारधारा लगातार परिपक्व होती रही थी।

'मतवाला' से राधामोहन गोकुलजी का सम्बन्ध किस तरह का है, जो व्यक्ति यह जानता होगा, वह इस बात पर आश्चर्य न करेगा कि कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के प्रयास की सूचना 'मतवाला' में प्रकाशित हुई। ६ सितम्बर १९२४ के 'मतवाला' में यह विज्ञप्ति छपी थी :

### भारतीय साम्यवादी दल

जिन बात की राह हम बहुत दिनों से देख रहे थे वह अब पूरी होती दिखलाई देती है। साम्यवाद के प्रेमी कुछ सज्जनों ने मिलकर निश्चय किया है कि हिन्दुस्थान में साम्यवाद के प्रचार के लिए 'इण्डियन कम्यूनिस्ट पार्टी' या 'भारतीय साम्यवादी दल' की स्थापना की जाय। अब इस दल के आरम्भिक (प्राविजनेरी) नियम और उद्देश्य आदि तैयार हो गये है और देश के बड़े-बड़े नेताओं और कार्यकर्त्ताओ ने इस काम में सहानुभूति प्रकट की है और सहायता का वचन दिया है।

बोलशेविज्म या कम्यूनिज्म का नाम हम पाँच छः वर्ष से बराबर सुन रहे है। शुरू में लोगों का खयाल था कि बोलशेविज्म कोई बड़ी बला है जिसका उद्देश्य तमाम संसार को बर्बाद और खराब करना है। जब इस सम्बन्ध की सच्ची बातें मालूम होने लगीं तब हमने समझा कि बोलशेविज्म या कम्यूनिज्म तो संसार के उद्धार का एकमात्र मार्ग है। केवल इसी के द्वारा संसार से वर्तमान दोष, बुराइयाँ दूर हो सकती है और भूखे, नंगे गरीब लोगों की दुर्दशा का अन्त हो सकता है।

कम्यूनिज्म की सचाई और लाभों को जान लेने पर भी इस समय तक हिन्दुस्तान में इसके प्रचार का कोई विशेष उद्योग नही हुआ है। इसका एक कारण

तो यह था कि यहाँ कम्यूनिज्म के सिद्धान्तों को अच्छी तरह जाननेवाले और मानने वाले लोगो की सख्या बहुत कम है। और दूसरी बात यह थी कि यहाँ की सरकार समय समय पर ऐसी पेचीली बातें कह दिया करती थी जिससे लोग समझते थे कि यह काम कानून के खिलाफ है और इसके करने से सरकार नाराज होगी।

पर अभी तीन चार महीने पहिले कानपुर में जो बोलशेविक कंसपिरेसी केस चला था, उससे यह बात साफ हो गयी कि कम्यूनिज्म के सिद्धान्तो को मानना और उनका प्रचार करना कोई जुर्म नही है। गत १४ अप्रैल को इंग्लैण्ड की पारलीमेण्ट मे मि. लेसवरी के सवाल करने पर होममेम्बर मि. हैंडरसन ने जवाब दिया था कि कम्यूनिज्म का प्रचार करना या इसके लिए किसी संस्था का सगठन करना जुर्म नही है। भारतमन्त्री ने भी मजदूर नेताओं के एक डिपुटेशन को जवाब देते हुए कहा था कि कानपुर मे चार शख्सों पर जो मुकद्दमा चलाया गया था, उसका कारण यह नही था कि वे लोग कम्यूनिज्म का प्रचार करते थे। वरन् उसका कारण यह था कि उन्होने सम्राट् के विरुद्ध षड्यन्त्र किया था।

इस तरह कम्यूनिज्म के सम्बन्ध में जो एक कानूनी भय था, वह दूर हो गया पर जिन लोगों ने कम्यूनिज्म का अध्ययन किया है, उनको सदा से अच्छी तरह मालूम है कि उसमें कानून के विरुद्ध कोई बात नही है। यह समाजसंगठन का एक स्वरूप है जिसमें समस्त सम्पत्ति का अधिकार कुछ व्यक्तियों के हाथ मे न रहकर तमाम समाज के अधिकार मे रहे। इसलिए जिस समय पुराने जमाने में (जमीन, कारखाने आदि) सम्पत्ति का अधिकार और शासन की सत्ता ज़मीदारों, सरदारों के हाथ मे थी, बाद मे राजा के हाथ में आ गयी और अब राजा से हटकर पारलीमेण्ट आदि प्रतिनिधि संस्थाओ के हाथ में है। अगर इन परिवर्तनों को गैर कानूनी काम नही समझा गया तो तमाम सम्पत्ति को समस्त समाज के अधिकार में करने का आन्दोलन भी गैरकानूनी नही है।

इन्ही सब बातों को लक्ष्य मे रखकर इण्डियन कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना की गयी। सम्भव है कि दस बीस धनकुबेर व्यक्ति इसके विरुद्ध हों, पर गरीब और मध्यम श्रेणी के व्यक्ति, केवल जिनसे ही तमाम समाज बनी हुई है, कभी इस आन्दोलन के विरुद्ध नही हो सकते। हमारे गरीब भाइयों को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उनकी मुक्ति का—दुखों से छूटने का एकमात्र मार्ग साम्यवाद या कम्यूनिज्म ही है। इसलिए उनका कर्तव्य है कि वे इस विषय को समझें और इसमे यथाशक्ति सहायता और सहयोग करें। इस सम्बन्ध मे जिन सज्जनों को जो कुछ जानना या पूछना हो वे मुझसे पूछ सकते हैं।

निवेदक
सत्यभक्त
सोशलिस्ट बुकशाप कानपुर

साम्यवाद गरीबों के लिए आवश्यक है, धनकुबेरों के लिए नही। ऊपर से देखने में लगेगा कि यह विज्ञप्ति कानून के दायरे के भीतर रहते हुए किसी सिद्धान्त के प्रचार मात्र से सम्बन्धित है, तत्कालीन राजनीति से इसका कोई सम्बन्ध न

[illegible]

[illegible]

## कम्युनिस्ट पार्टी क्या चाहती है ?

[illegible] (Communism) [illegible]

(१) [illegible]

(२) [illegible]

था। पेट के दुःख का तो पता ही न था।

इसी प्रकार अगर हम रेल को देखें, तो इसने सरायवालों, गाड़ीवालों, मज़दूरों और दूसरी सभी देशी सवारियों का नाश कर दिया। देश के कोने कोने से सारा धन समेट-समेट कर रेलवे कम्पनियों के हिस्सेदार करोड़पति बन गये—और बनते ही चले जाते हैं।

इस तरह की फैलती हुई अनुचित दरिद्रता को रोकने के लिए सभी कल-कारखाने और रेलवे लाइनें राष्ट्रीय सम्पत्ति बना ली जायें। किसी एक आदमी या कुछ आदमियों की कम्पनी को देश के लूटने का अधिकार नहीं है।

(३) स्वामी और सेवक तथा मालिक और मज़दूर के झूठे बनावटी भावों को एकदम मिटा दिया जाय। मनुष्य मात्र में बराबरी का प्रेमभाव स्थापित हो। मनुष्य, सभ्यता, चातुरी या धन का बहाना करके पशुओं की तरह एक दूसरे का रक्त पीना छोड़ दें।

(४) प्रत्येक मनुष्य अपने शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम से अपनी जीविका प्राप्त करे। स्वावलम्बी बनकर जिन्दगी बिताये। प्रत्यक्ष या परोक्षभाव से हरामखोरी न करके ईमानदारी के साथ समाज की भलाई करे।

यह उचित नहीं है कि जिस मजूर की दिनभर की मजूरी से हम ३) पैदा करें, उसे ।॥) या १) देकर टरका दें, और हराम के दो रुपये अपने जेब में डाल दें, बड़े-बड़े मकानों में रहें—मोटरें खरीदें—शराब पीयें, अपने उन्हीं अन्नदाता श्रमजीवियों की बहू-बहन-बेटियों की ओर कुदृष्टि से देखें—उनका सतीत्व नष्ट करें! अमीरों की बदमाशी और अनुचित स्वार्थपरता का अन्त हो। जो हाथ पैर चलाकर मेहनत से पदार्थ नहीं पैदा करता, वह हरामखोर है—उसको अन्न वस्त्र पाने का कोई अधिकार नहीं।

(५) हर एक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है कि जिस देश में वह पैदा हुआ है, वहाँ उसे पेटभर—तन्दुरुस्त रखनेवाला—भोजन, रहने के लिए एक नीरोग घर, पीने को अच्छा जल और पहनने के लिए काफी कपड़े मिलें। एक आदमी सड़क की पटरी पर पड़ा हुआ सर्दी से सिकुड़कर प्राण दे और दूसरा कई शाल-दुशाले ओढ़कर महलनुमा कोठियों में मौज उड़ावे! यह मनुष्यता नहीं। यह तो पशुता है। नीचता की पराकाष्ठा।

(६) इस बात का ऐसा कोई भी धर्मानुमोदित कारण नहीं हो सकता कि कुछ लोगों के लड़के तो सुखपूर्वक विद्याभ्यास करें, बड़े-बड़े पण्डित और वैज्ञानिक तथा दार्शनिक बनें, नये-नये आविष्कार करें, पर अन्य असंख्य लोगों के बालक होश सँभालने के पहले ही से पेट की चिन्ता में लग जायें—कुछ सीखने या लिखने-पढ़ने का सुयोग ही न पा सकें। देश के हर एक बच्चे की शिक्षा का भार सरकार पर होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति करने के लिए एक-सा सुअवसर मिलना चाहिए।

(७) जरूरत से ज्यादा जमीन, मकान, कपड़े और रुपये-पैसे आदि दबाकर बैठ जाना, तथा गृह-अन्न-वस्त्र-विहीनों को बेमौत मरने देना, मनुष्यता नहीं, शैतानी है। इसलिए इस प्रकार के अनुचित धरा-धाम-धन के मालिक बनाने के

सारे रास्तों को बन्द करना और सार्वजनिक सरकार को ही मालिक बनाना।

(८) कुटुम्बवत् एक सार्वजनिक सरकार कायम करना। इसी प्रकार की अनेक सरकारों का एक केन्द्र स्थापित करना और मनुष्यमात्र में प्रेम यथा भ्रातृ-भाव का संचार करना।

(९) जाति, वंश, वर्ण, धन और रूपरंगादि के कारण किसी का पक्षपात न करना। सबमें समता, दया, प्रेम और सद्भाव फैलाना। राजनीतिक और सामाजिक तथा धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक भेदभावो को एकदम मिटा देना। किसी आदमी को अछूत, नीच, अधर्मी, घृणित, गुलाम और काफिर समझना जड़ता और पशुता है।

(१०) सब प्रकार की कारीगरी, वैज्ञानिक उन्नति, कल कारखाने और कलाएँ रहे, पर उनसे जो द्रव्य और सुख-सुविधा प्राप्त हो, उसमे सबका समान अधिकार हो। किसी तरह का आविष्कार करनेवाला कोई भी विद्वान हाथ-पैरो से काम करनेवालों की सहायता के बिना कुछ नही कर सकता। हाथ और दिमाग का समान मूल्य है। कोई कसौटी या प्रमाण नही जो यह तय करे कि हाथ, पैर, कान, नाक, आँख, दिल और दिमाग मे से किसके काम का मूल्य कितना कम और ज्यादा है और अगर है, तो क्यो ? इसलिए कोई भी मनुष्य बल, बुद्धि, प्रतिष्ठा और धन के सबब कभी बड़ा नही माना जा सकता। धरती माता के सभी पुत्र उसके दिये हुए सुखो के समान अधिकारी है।

(११) ऐसे मार्गों का अवलम्बन करना जिनसे बड़े-बड़े धनी, जमीदार और राजा हो ही न सकें, क्योकि ये लोग बेचारे गरीबो का धन लूटकर अपनी पाशविक इच्छाओं की तृप्ति मे स्वाहा करते है, और ससार के सामने राक्षसी आदर्श उपस्थित करते है। इसलिए धनी, जमीदार और राजा-रईस बनने का साधन ही निर्मूल कर देना।

(१२) सूद, भाड़ा, नजर, सट्टा, फाटका और घुड़दौड़ आदि सब प्रकार के अधर्म कार्यों को निरुत्साह तथा निर्जीव कर देना—इनकी स्थिरता के मार्गों को बन्द कर देना।

(१३) स्त्री और पुरुषो के अधिकारो को एक समान रखना। दोनो में किसी एक को यह अधिकार प्राप्त नही कि दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्थापित करे।

बस, यही इतना साम्यवाद के सदुद्देश्यों का दिग्दर्शन है। कम्यूनिस्ट पार्टी (साम्यवादी दल) इन्ही उद्देशो की सिद्धि तथा प्रचार चाहती है। इनके बिना कदापि ससार मे स्थायी शान्ति न होगी—न होगी—न होगी।

—"एक प्रत्यक्षवादी"

यह जानना दिलचस्प होगा कि आज के कम्यूनिस्ट इनमें कौन-सी बातें नही चाहते। संसार ने साम्यवाद के भाव भारत से पाये हैं, जमीन ईश्वर की दी हुई है, धरती हमारी माता है, ऐसी उक्तियों पर उन्हें आपत्ति हो सकती है। पर ये धारणाएँ कार्यक्रम का अभिन्न अंग नही है। आधुनिक साम्यवाद को जो लोग

प्राचीन मानवतावाद का नवीन विकास मानते है, वे भारत के प्राचीन सामन्त विरोधी मानवतावाद से नये सर्वहारा मानवतावाद का सम्बन्ध जोड़ना अनुचि न समझेगे। जमीन ईश्वर की दी हुई है, इसकी जगह कहा जाय कि जमीन प्रकृ की दी हुई है तो इससे कार्यक्रम मे अन्तर न पड़ेगा। इस विज्ञप्ति का महत्व य है कि उसमे जनवादी क्रान्ति के मुख्य उद्देश्य समेट लिये गये है।

यह कार्यक्रम सामन्तविरोधी है और इस रूप मे साम्राज्यवाद का नाम लि बिना भी उसकी जड़ काटनेवाला है। साम्राज्यवाद का सामाजिक आधार जमीदार, राजा, सामन्ती अवशेष। हर एक खेतिहर अपनी भूमि का मालिक हो सबसे पहले यह माँग पेश करके राधामोहन गोकुलजी ने सामन्तविरोधी क्रान्ति का महत्व घोषित किया है। साम्यवादी आन्दोलन को अजेय बनाने का अचूक उपाय यह था कि वह किसानो की विराट शक्ति को अपने भीतर समेट ले और साम्राज्यवाद के सामन्ती आधार पर जमकर प्रहार करे। स्वाधीनता आन्दोलन में फूट डालने का मुख्य साम्राज्यवादी अस्त्र था सम्प्रदायवाद। राधामोहनजी ने उसको ध्वस्त करने का आह्वान किया है। सामन्ती व्यवस्था की विशेषता है जाति-बिरादरीवाला अलगाव, वंश और कुलीनता का मिथ्या गर्व, ऊँचनीच का भेदभाव। वह इस सारे असस्कृत प्रपच का नाश करना चाहते है। साम्राज्यवाद ने करोडों मनुष्यों को शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, मानवसस्कृति की मूल्यवान उपलब्धियों के परिचय से वंचित कर रखा है। राधामोहनजी निर्धन और अधिकारहीनो को नये प्रकाशपूर्ण संसार मे आने का मार्ग दिखाते है। वह अछूतों और स्त्रियो के प्रति घृणा और उपेक्षा के भाव को पशुता का चिह्न मानते है।

पूंजीवादी विकास से वह पुराने कारीगरो को तबाह होते देखते हैं किन्तु कार-खानों को खत्म करके चरखे-करघे के पुराने युग मे लौट चलने का स्वप्न नही देखते। वह कल-कारखानो के राष्ट्रीयकरण की माँग करते है जिससे उत्पादन के साधनों का उपयोग पूरे समाज के हित में हो सके। वह श्रम का महत्व घोषित करते है; जो मनुष्य श्रम न करे, वह अवकाशभोगी है और सामाजिक अनाचारों का स्रोत है। श्रम का महत्व समाज मे प्रतिष्ठित होगा, कर्मी को कमीन न कहा जायगा, तभी मनुष्यो मे वास्तविक भाईचारा पनपेगा, उनमे वास्तविक प्रेम का विकास होगा। राधामोहन गोकुलजी ने त्रिशूल की तरह सामाजिक न्याय की माँग को स्वाधीनता आन्दोलन से जोड़ दिया; इस सामाजिक न्याय का व्यावहारिक रूप क्या होगा, यह भी समझा दिया। उन्होंने सार्वजनिक सरकार की बात कही है। जिसे अब जनता की सरकार कहेगे, वही उनकी सार्वजनिक सरकार है। इस जनसत्ता के अनेक केन्द्र होगे क्योंकि यहाँ अनेक भाषाएँ बोलने-वाली जातियों के अपने क्षेत्र है, इस जनसत्ता का एक सर्वोपरि प्रधान केन्द्र होगा क्योकि ये सारी जातियाँ एक ही राष्ट्र मे निवास करती है। क्रान्ति के बाद राज्य-सत्ता, जनसत्ता के रूप मे, रहेगी, यह धारणा राधामोहनजी को अराजकता-वादियो मे अलग करती है।

१९२५ मे हिन्दी के प्रसिद्ध पत्र 'मतवाला' मे इस तरह की विज्ञप्ति छपी, यह तथ्य सिद्ध करता है, किस प्रकार १८५७ से आरम्भ होनेवाला सारा घटनाक्रम,

रतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय का सारा चिन्तन, हिन्दी
दश के क्रान्तिकारी विचारकों, पत्रकारों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं का सारा श्रम
र कर्म स्वतः स्फूर्त ढंग से एक ही दिशा की ओर प्रवाहित था। यह दिशा
ाम्यवाद की थी।

हिन्दी जनता की महान् सांस्कृतिक विरासत में राधामोहन गोकुलजी का
योगदान अत्यन्त मूल्यवान है।

## ५

# साम्राज्यविरोधी राष्ट्रीय मोर्चा और मज़दूर वर्ग

### १. कांग्रेस में दक्षिणवाम संघर्ष

१९३९ में एक महत्वपूर्ण घटना हुई। कांग्रेस ने गांधीजी की इच्छा के विरुद्ध सुभाषचन्द्र बोस को राष्ट्रपति चुना। कांग्रेस के इतिहास में अभी तक गांधीजी और गांधीवादियों ने ऐसी पराजय का मुंह न देखा था। इस पराजय के दो कारण थे। पहला कारण यह था कि कांग्रेस के नेताओं ने विभिन्न प्रान्तों में अपने मन्त्रि-मण्डल बनाकर अंग्रेज़ों के १९३५ के काले कानून को तोड़ने के बजाय उसे अमल में लाना शुरू किया था। इसे अमल में लाने का परिणाम यह हुआ कि जहाँ भी कांग्रेस के हाथ में सत्ता थी, वहाँ शासन की शक्ति उभरते हुए किसान-मज़दूर आन्दोलन के विरुद्ध इस्तेमाल की गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के दक्षिणपन्थी नेतृत्व की लोकप्रियता में भारी कटौती हुई। दूसरा कारण यह था कि इसी दौरान वामपक्षी दल अधिक संगठित हुए। इनमें कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी प्रमुख थे। ये दोनों पार्टियाँ कांग्रेस में शामिल थीं। इनके साथ कांग्रेस के अन्दर एक वामपक्ष उभर रहा था। इनमें कुछ जवाहरलाल नेहरू के अनुयायी थे और कुछ सुभाषचन्द्र बोस के। यदि नेहरूजी से गांधीजी की राय के विरुद्ध राष्ट्रपति बनने को कहा जाता तो वह कभी न बनते किन्तु सुभाषचन्द्र बोस ने यह चुनौती स्वीकार की। उनकी विजय कांग्रेस के संयुक्त वामपक्ष की विजय थी, कांग्रेस के दक्षिणपन्थ की पराजय थी। यह दक्षिणपन्थ १९३५ के कानून को अमल में ला रहा था, वह क्रान्तिकारी संघर्ष चलाये बिना सौदेबाज़ी के द्वारा स्वराज्य अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर डोमीनियन का दर्जा पाने के लिए प्रयत्नशील था, वह मज़दूरों की हड़तालों और किसानों के लगानबन्दी आन्दोलन का विरोधी था। यही नहीं, वह देशी रियासतों में प्रजामण्डलों के सामन्तविरोधी आन्दोलन का विरोधी भी था। कांग्रेस के भीतर उसने कभी जन-

तान्त्रिक तरीकों से काम न लिया था, त्रिपुरी कांग्रेस से यह और भी स्पष्ट हो गया। जीते सुभाषचन्द्र बोस किन्तु कांग्रेस की कार्यकारिणी के सदस्य नामजद करने का अधिकार दक्षिणपन्थ ने अपने हाथ में रखा। स्पष्ट ही वह कांग्रेस में अपनी तानाशाही के ज़रिये फूट डाल रहा था। इस परिस्थिति में दो बातें हो सकती थीं। या तो कांग्रेस का वामपक्ष सुभाषचन्द्र का साथ देकर दक्षिणपन्थियों को बाध्य करता कि वे बहुमत का आदर करें, या फिर दक्षिणपन्थियों द्वारा तानाशाही और फूट की नीति का समर्थन किये जाने पर उन्हें कांग्रेस से बाहर निकाल देता। वामपक्ष द्वारा क्रान्तिकारी नीति का पालन इस समय अत्यन्त आवश्यक इसलिए था कि दूसरा महायुद्ध छेड़ने की ज़ोरों से तैयारियां हो रही थीं। इस बात को दक्षिणपन्थी और वामपन्थी दोनों जानते थे। दक्षिणपन्थी सोचते थे कि युद्ध-काल में आन्दोलन का भय दिखाकर और रियायतें ले लेंगे। वामपन्थी सोचते थे कि युद्धकाल में साम्राज्यवाद कमज़ोर होगा और उस पर क्रान्तिकारी प्रहार करने के लिए यह अवसर अच्छा है। इसलिए त्रिपुरी कांग्रेस के समय और उसके बाद कांग्रेस का और भारत का वामपक्ष कौन-सी नीति अपनाता है, इस पर भारत के भावी विकास की दिशा निर्भर थी।

कम्युनिस्ट पार्टी इस समय 'नैशनल फ्रंट' नाम का अंग्रेज़ी साप्ताहिक निकाल

होने से रोकने के लिए गांधीजी के नेतृत्व का समर्थन करके सही काम किया या नहीं। कम्युनिस्ट तर्क यह था कि अविभाजित कांग्रेस ही राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व कर सकती है, इसलिए दक्षिणपन्थ की ढुलमुल नीति का विरोध करते हुए दक्षिण और वाम दोनों को मिलाकर चलना आवश्यक है। इस समय देश में मानवेन्द्रनाथ राय और उनका दल भी सक्रिय थे। वह बहुत दिनों से पूरी कांग्रेस को प्रतिक्रियावादी कहते आये थे और त्रिपुरी के अवसर पर उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उनकी स्थापना सही उतरी है। 'नैशनल फ्रंट' में अनेक लेख प्रकाशित हुए जिनमें रायवादी कार्यनीति की आलोचना की गयी। उससे आभास यह दिया गया कि रायवादी अति वामपन्थी नीति का समर्थन कर रहे हैं। कांग्रेस राष्ट्रीय पूंजीपतियों की संस्था है, साम्राज्यवाद से उसका अन्तर्विरोध है, इसलिए उसके साथ संयुक्त मोर्चा बनाना आवश्यक है।

जहां तक राय का सम्बन्ध है, वह आरम्भ से भारतीय पूंजीपतियों को प्रतिक्रियावादी मानते आये थे अर्थात् उन्हें साम्राज्यवाद से अभिन्न मानते आये थे। फिर उन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि भारत में साम्राज्यवाद समाप्त हो गया है, मुख्य शत्रु पूंजीपति वर्ग है। इस स्थापना के अनुसार १९३९ में राय के लिए साम्राज्य से लड़ने का प्रश्न ही नहीं था, उनके लिए प्रश्न था पूंजीवाद को समाप्त करने का अर्थात् पूंजीवाद से लड़ने के बहाने साम्राज्यवाद से लड़ाई रोक देने का। इंग्लैण्ड और जर्मनी की लड़ाई में वह इंग्लैण्ड का साथ देने के पक्ष में थे, तो यह कोई नयी बात न थी। ब्रिटिश साम्राज्य के समर्थन के लिए उन्होंने बहुत

से तरीके और बहुत से तर्क ढूंढ निकाले थे। या तो कांग्रेस के दक्षिणपन्थियों का समर्थन करो या फिर रायवाद के रास्ते पर चलो, ऐसे दो विकल्प १९३९ में वामपक्ष के सामने न थे। विकल्प ये थे : सवैधानिक तरीके से आन्दोलन चलाया जाये यानी आन्दोलन के नाम पर जहां-तहां शान्तिपूर्ण प्रदर्शन किये जायें, अंग्रेजों से सौदेबाजी का रास्ता खुला रखा जाये या अंग्रेजी राज्य के सामन्ती आधार को ध्वस्त किया जाये, देशी रियासतों मे प्रजामण्डलों का आन्दोलन तेज किया जाये, किसानों के लगानबन्दी आन्दोलन को आगे बढ़ाया जाये, मजदूरों के आन्दोलन को इस सामन्तविरोधी आन्दोलन से जोड़ा जाये। भारत में बहुत जगह ब्रिटिश पूंजी लगी हुई थी, इसलिए मजदूर जहां भी अपनी दशा सुधारने के लिए आन्दोलन करते थे वहां वे सीधे अंग्रेजी राज से टकराते थे। इसी कारण बहुत जगह मजदूर आन्दोलन सीधे साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन का हिस्सा बन गया था। ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों का भारत, दोनों में मुक्ति आन्दोलन को चलाने में जो भी बाधक हो, उसे हटाना जरूरी था। मुख्य बात व्यक्तियों की नहीं वर्गों की थी। कांग्रेस के प्रमुख नेतृत्व में पूंजीपति वर्ग और एक हद तक जमींदारों तथा मध्यवर्ग के प्रतिनिधि थे। मजदूर वर्ग के लिए यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि वह राष्ट्रीय पूंजीपतियों की साम्राज्यविरोधी भूमिका पहचानता है या नहीं। किन्तु इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह स्वाधीनता संग्राम के लिए किसानों के सामन्तविरोधी आन्दोलन की भूमिका पहचानता है या नहीं। यदि वह देश की जनता के बहुसंख्यक भाग अर्थात् किसानों की भूमिका के प्रति उदासीन रहता है, शब्दों में नहीं तो अमल में, पूरी तरह नहीं तो अंशतः उदासीन रहता है, तो पूंजीपति वर्ग की भूमिका को लेकर वह सही नीति अपनाये भी तो उससे कोई क्रान्तिकारी परिणाम न निकलेगा। इसके विपरीत यदि वह पूंजीपति वर्ग की भूमिका के बारे में गलती करता है, तो भी देश की बहुसंख्यक जनता को गोलबन्द करके वह अपनी गलती सुधार सकता है और एक क्रान्तिकारी परिणाम तक पहुंच सकता है। कांग्रेस सही या गलत, कितना सही कितना गलत, कौन दक्षिणपन्थी कौन वामपन्थी, कब किसके हाथ मजबूत करना उचित, कब अनुचित, इन बातों पर हजारों पृष्ठ लिखे गये हैं। अधिकांश बहस निरर्थक है। संयुक्त मोर्चे का प्रश्न सही तरीके से तभी हल किया जा सकता है जब व्यक्तियों और दलों के बदले वर्गों पर दृष्टि जमायी जाये, जब व्यक्तियों और पार्टियों की भूमिका वर्ग-सम्बन्धों के सन्दर्भ में परखी जाये। १९३९ में कम्युनिस्ट पार्टी चाहे गांधीजी का साथ देती चाहे सुभाषचन्द्र बोस का, वह दोनों को मिलाती चाहे अलग करती, असली सवाल यह था कि वह किस हद तक किसानों के सामन्तविरोधी आन्दोलन का संचालन कर सकती है। यहां उसकी स्वतन्त्र भूमिका दरकार थी। स्वतन्त्र भूमिका होने पर ही वह पूंजीपति वर्ग को आगे बढ़ने पर बाध्य कर सकती थी, न बढ़ने पर उसे रास्ते से हटा सकती थी। रियासतों का आन्दोलन मूलतः किसानों का सामन्त-विरोधी आन्दोलन ही था। ब्रिटिश भारत के किसान-आन्दोलन से मिलकर वह बहुत बड़ी शक्ति बन सकता था। तेलगाना का किसान-आन्दोलन एक देशी रियासत में चलाया गया था, यह स्मरणीय है।

१२ मार्च १९३९ के 'नेशनल फ्रंट' में सुभाष बोस तथा दूसरे वामपंथी नेताओं का वक्तव्य प्रकाशित हुआ। वक्तव्य के नीचे हस्ताक्षर करने वाले थे सज्जाद ज़हीर, अधिकारी, अशरफ, नम्बूदरीपाद, सुन्दरैया, बंकिम मुकर्जी आदि। इस वक्तव्य में कहा गया है कि हमारे सामने दो मार्ग हैं। एक है आगे और आगे बढ़ने का, दूसरा है विघटन और पराजय का। किसान और मजदूर वर्ग में अभूतपूर्व जागृति हुई है। किसानों के जन-आन्दोलन बढ़े हैं। किसान और मजदूरों के आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन को शक्तिशाली बना रहे हैं। कांग्रेस को चाहिए कि किसानों के जन-आन्दोलन का नेतृत्व करे। उसे चाहिए कि इन जन-सेवकों की सेना संगठित करे जो आगे चलकर राष्ट्रीय सेना का आधार बनेगी। कांग्रेस संयुक्त रहती है, उसका नेतृत्व संयुक्त रहता है तभी आगे संघर्ष में सफलता मिलेगी। समाजवादियों का आविर्भाव नये राष्ट्रीय उभार का अंग है; वे आन्दोलन के लिए उतना ही आवश्यक हैं जितना दूसरे लोग जो राष्ट्रीय संघर्षों में जनता का नेतृत्व कर चुके हैं। कांग्रेस को एकता बनाये रखनी चाहिए। यह भारतीय जनता का राष्ट्रीय मोर्चा है। संयुक्त कांग्रेस के झंडे के नीचे ही साम्राज्यवाद के ऊपर विजयी आक्रमण के लिए आगे बढ़ें। इस वक्तव्य में कांग्रेस के दक्षिण और वाम को बराबर कर दिया गया है। दक्षिणपंथियों की नीति की असफलता के साथ वामपंथ की सफलता की चर्चा स्पष्ट नहीं की गयी।

'नेशनल फ्रंट' के उसी अंक में राष्ट्रीय संकट और उससे निकलने का मार्ग, इस विषय पर अजय घोष का लेख है। उसमें उन्होंने कहा है कि सुभाषचन्द्र बोस का चुना जाना नये नेतृत्व का चुना जाना नहीं है। "कांग्रेस संगठन के जनवादीकरण और उसकी कार्यक्षमता की पहचान आवश्यक है किन्तु इससे यह नतीजा निकालना घातक है कि राष्ट्र ने नये नेतृत्व के लिए वोट दिया है और जनवाद इतना मजबूत हो गया है कि समझौता की नीति खत्म हो गयी। राष्ट्र ने जिस बात के लिए वोट दिया है वह आगे बढ़ने की नीति है, साम्राज्यवाद पर संयुक्त आक्रमण है। संयुक्त कांग्रेस ही इस नीति को अमल में ला सकती है, आक्रमण की तैयारी कर सकती है और फिर उसे शुरू कर सकती है।"

पत्र के उसी अंक में 'संगठनात्मक प्रश्न, कांग्रेस' इस पर यह शीर्षक देकर पूरनचन्द जोशी का लेख प्रकाशित है। इसमें कांग्रेस के आन्तरिक संगठन पर कुछ बहुत दिलचस्प बातें कही गयी हैं। १९३६ में कांग्रेस के छह लाख सदस्य थे, १९३७ में तीस लाख, १९३८ में चालीस लाख से। इससे पता चलता है कि साधारण सदस्यों की संख्या तेजी से बढ़ी थी। सदस्य बढ़ रहे थे किन्तु संगठन में उनकी कोई भूमिका न थी। संगठन का संचालन ऊपर से होता था। नीचे की समितियाँ या तो संगठित ही न की जाती थीं और संगठित होती थीं तो वे काम न करती थीं। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी (A.I.C.C.) का अधिवेशन मुश्किल से साल भर में एक बार होता है। सूबा कमेटियों का अधिवेशन साल में दो बार होता है। ज़िला समितियाँ सम्भव हो तो महीने में एक बार अपनी बैठक करती हैं। प्रारम्भिक सदस्यों को किसी बैठक में भाग लेने का मौका ही नहीं

मिलता। "एक ओर बड़े पैमाने पर सदस्य बनाये जायँ, दूसरी ओर जनतान्त्रिक तरीके से काम न हो, तो इससे किसी भी संगठन में अन्तर्विरोध पैदा होगा। पिछले दो वर्षों के जन-आन्दोलन के उभार से कांग्रेस के भीतर का यह बुनियादी अन्तर्विरोध सतह पर आ गया है और वर्तमान संगठनात्मक संकट उसका अनिवार्य परिणाम है।" जोशी ने संगठनात्मक संकट को वाम-दक्षिणपन्थी के विचार-धारात्मक संघर्ष से अलग करके देखा है। केवल संगठनात्मक संकट ही लिया जाये और जोशी की व्याख्या स्वीकार की जाये, तो भी उसका परिणाम यह निकलता है कि एक ओर कांग्रेस के चालीस लाख सदस्य हैं और दूसरी ओर उन्हें हाँकनेवाले मुट्ठी-भर दक्षिणपन्थी नेता हैं। कांग्रेस को जनतान्त्रिक संस्था बनाने का अनिवार्य परिणाम होगा इस दक्षिणपन्थ की शक्ति को कम करना। जोशी सुझाव देते हैं कि कांग्रेस की सबसे बड़ी और सबसे छोटी, सभी कमेटियों को क्रियाशील बनाया जाये, कार्यकर्ताओं के राजनीतिक प्रशिक्षण की व्यवस्था हो, मजदूर-सभाओं और किसान-सभाओं से कांग्रेस की एकता कायम की जाये। जोशी निष्कर्ष यह निकालते हैं कि आगे बढ़ने की नीति लागू करने के लिए हमें बहुमुखी एकता कायम रखनी चाहिए। अमल में इस एकता की नीति का परिणाम यह होता है कि चालीस लाख सदस्यों पर मुट्ठी-भर दक्षिणपन्थी नेता जनतन्त्रविरोधी तरीके से अपना प्रभुत्व बनाये रहते हैं। भविष्य दाँव पर था, इसमें सन्देह नहीं। एकता के नाम पर दक्षिणपन्थियों के पीछे चलने की जिस नीति का प्रतिपादन यहाँ किया गया है, वही नीति १९४७ में फूली-फली और उसका एक फल यह हुआ कि कम्युनिस्ट पार्टी की क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने की नीति कुन्द हो गयी।

'नैशनल फ्रंट' के उसी अंक में त्रिपुरी कांग्रेस के लिए कम्युनिस्ट प्रस्ताव प्रकाशित हुआ। यह प्रस्ताव रुद्रदत्त भारद्वाज, बंकिम मुकर्जी आदि ए. आई. सी. सी. के सदस्यों द्वारा तैयार किया हुआ दस्तावेज बताया गया है। इसमें संविधान सभा की बात कही गयी है। राष्ट्र उसी संविधान को स्वीकार करेगा जिसे स्वतन्त्र रूप से निर्वाचित संविधान सभा ने बनाया होगा। ब्रिटिश साम्राज्य-वाद भारतीय जनमत की निरन्तर उपेक्षा करता रहा है। जनता की शक्ति पहले से बहुत बढ़ गयी है। साम्राज्यवाद पर हमला करने का समय आ गया है। इसके लिए राष्ट्र की सभी शक्तियों को, मजदूरों, किसानों, रियासतों की जनता और सभी स्वाधीनताप्रेमी लोगों को एकजुट करना जरूरी है। इसलिए (प्रस्ताव के अनुसार) कांग्रेस माँग करती है कि अंग्रेजी फौज हटायी जाये; सुरक्षा, विदेश विभाग और वित्त विभाग भारतीय जनता को सौंपे जायें। अंग्रेज सरकार छह महीने में यह माँग स्वीकार न करेगी तो कांग्रेस परिस्थिति पर विचार करके उचित कदम उठायेगी। संघर्ष की तैयारी करने के लिए कांग्रेस के कार्यक्रम में मेहनतकश जनता की बुनियादी माँगें शामिल करना जरूरी है। कांग्रेस के भीतर से भ्रष्टाचार दूर करना और कांग्रेस कमेटियों को क्रियाशील बनाना जरूरी है। (यह मजेदार बात है कि स्वाधीनताप्राप्ति से पहले ही अनेक कम्युनिस्ट यह अनुभव करने लगे थे कि कांग्रेस में भ्रष्टाचार है और उसे दूर करना जरूरी है।)

नेतृत्व को चुनौती देने के लिए है; कार्यसमिति जिस नीति पर चलती आयी थी, उसे अब अचानक उलट दिया जायेगा। इसीलिए त्रिपुरी में उन्होंने ए. आई. सी. सी. के सामने एक प्रस्ताव लाकर सबको अचम्भे में डाल दिया। इसमें सीधे माँग की गयी थी कि कार्यसमिति और उसके काम में, गांधीजी की बुनियादी नीति में और स्वयं नेता गांधीजी में विश्वास प्रकट करने के लिए वोट दो। इस प्रस्ताव में सुभाषचन्द्र बोस को हल्की झिड़की दी गयी थी कि उन्होंने दूसरों पर 'दोष' लगाया है और 'उनसे कहा गया कि वे गांधीजी की इच्छा के अनुरूप कार्यसमिति का गठन करें।' प्रस्ताव का मुख्य उद्देश्य यह था कि दक्षिणपन्थ की इच्छा के विरुद्ध, और जिस कार्यक्रम से वह असहमत था, उसके आधार पर, सुभाषचन्द्र बोस के चुने जाने से दक्षिणपन्थ ने जो गौरव खो दिया था, उसे वह फिर पा जाये। बोस के विरुद्ध सीधे अविश्वास के लिए मतदान की माँग करके यह लक्ष्य सिद्ध करने का साहस उसमें नहीं था। इसीलिए दक्षिणपन्थ ने गांधीजी और उनके बुनियादी सिद्धान्तों पर मतदान करने के लिए माँग की।"

त्रिपुरी में जो कुछ हुआ, उसका प्रभाव महायुद्ध के दौरान देश की सारी राजनीति पर पड़ा और परोक्ष रूप से महायुद्ध के बाद की राजनीति पर पड़ा। राष्ट्रीय आन्दोलन में वामपक्ष इससे पहले कभी इतना शक्तिशाली न हुआ था जितना इस समय था। महायुद्ध छिड़नेवाला है, सब लोग अच्छी तरह जानते थे। महायुद्ध के दौरान साम्राज्यवाद कमजोर पड़ेगा, इसलिए उस पर आक्रमण करने के लिए यह उपयुक्त अवसर रहेगा, यह बात वे लोग जानते थे। इस स्थिति में यदि सुभाषचन्द्र बोस और वामपन्थी कांग्रेसजन, सोशलिस्ट तथा कम्युनिस्ट एकजुट होकर संघर्ष की राह पर आगे बढ़ते तो कोई भी उनकी प्रगति को रोकने में सफल न हो सकता था। गांधीजी सन् ३० के आन्दोलन की असफलता के बाद अपना प्रभाव बहुत कुछ खो चुके थे। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का समर्थन करने और साम्राज्य-विरोधी संघर्ष छेड़ने में संकोच के कारण उनकी लोकप्रियता में भारी कमी हुई थी। इससे पहले जवाहरलाल नेहरू विकल्प के रूप में उभरकर सामने आये थे किन्तु अमल में वह गांधीजी के अनुयायी सिद्ध हुए। सुभाषचन्द्र बोस दूसरे ढंग के विकल्प थे, वह गांधीजी का अनुसरण करने को तैयार न थे। कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा कांग्रेस की एकता पर बल वास्तव में संगठन की एकता नहीं, नेताओं की एकता पर बल था, और इस एकता का अर्थ था सुभाषचन्द्र बोस को बाध्य किया जाये कि वह गांधीजी का अनुसरण करें। स्थिति की विडम्बना यह है कि जो कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता बनाये रखने पर इतना जोर दे रही थी, वह युद्ध के दौरान उससे बिलकुल अलग जा पड़ी। कांग्रेस के दक्षिणपन्थी नेतृत्व से ही नहीं, वह सुभाषचन्द्र बोस और उनके अनुयायियों से भी दूर हो गयी, कांग्रेसी सोशलिस्ट उसके शत्रु हो गये। युद्धकाल में वामपक्ष का जो बिखराव हुआ, वह कांग्रेसी दक्षिणपन्थ के लिए वरदान सिद्ध हुआ और युद्ध के बाद साम्राज्यवाद से सौदेबाजी का मार्ग उनके लिए लगभग निष्कण्टक हो गया। लगभग; पूरी तरह नहीं।

'नैशनल फ्रंट' के उक्त सम्पादकीय लेख के अन्त में कहा गया है कि राष्ट्रपति-

१६३६ के 'नेशनल फंट' में पूरनचन्द जोशी ने अपने साथियों को सावधान किया कि सोशलिस्ट पार्टी की आलोचना करके सोशलिस्ट एकता भंग न करें। मतभेद हैं लेकिन उन्हें बातचीत के द्वारा इस तरह दूर करना चाहिए मानों हम दोनों एक ही पार्टी में हैं।

६ अप्रैल १६३६ के 'नेशनल फ्रंट' में पूरनचन्द जोशी की एक टिप्पणी छपी है। कुछ साथियों ने उन्हें लिखा था कि त्रिपुरी-सम्बन्धी विवरण में वह यह लिखना भूल गये कि बंकिम मुकर्जी का भाषण संगत रूप से 'वामपन्थी' नहीं था। उन्होंने कहा था कि गांधीजी के नेतृत्व को लेकर मतदान न करायें और उन्हें साठ फीसदी का ही नेता न बन जाने दें। आशय यह है कि जोशी ने वामपन्थी भटकाव की आलोचना की थी, कुछ साथियों ने उन्हें लिखा था कि यह भटकाव बंकिम मुकर्जी के भाषण में नहीं था। जोशी ने इसे स्वीकार किया। आगे लिखा, "मैं सब साथियों से निवेदन करता हूँ कि वे याद रखें कि नेशनल फ्रन्ट में जो आलोचना छपती है, वह किसी साथी को धूल चटाने के लिए नहीं। उसका उद्देश्य ईमानदारी से आत्मालोचना करना है। हममें आत्मविश्वास है और इसीलिए हम अपनी गलतियों की खुली आलोचना कर सकते हैं जिससे कि फिर वैसी गलतियाँ न दोहरायें, आत्मालोचना का परिणाम पार्टी सदस्य आत्मसात् कर लें और आन्दोलन अधिक शक्तिशाली बने।" यहाँ दिलचस्प बात यह है कि कम्युनिस्ट पार्टी का जो नेतृत्व सुधारवादी रुझान प्रकट कर रहा था, वह भिन्न मत रखनेवालों पर वामपन्थी भटकाव अर्थात् संकीर्णतावाद का आरोप लगा रहा था।

१६ अप्रैल १६३६ के 'नेशनल फ्रंट' में त्रिपुरी पर अजय घोष का एक और लेख प्रकाशित हुआ। पार्टी ने आत्मसमर्पण किया, इस आलोचना का उन्होंने उत्तर दिया। उन्होंने लिखा कि राष्ट्रीय शक्तियाँ पहले से बहुत ताकतवर हो चुकी थीं और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति इतनी नाजुक थी कि यदि सारा राष्ट्र मिलकर आगे बढ़े तो यह बिलकुल सम्भव था कि हम निकट भविष्य में स्वाधीनता प्राप्त कर लें। लेख में एक दिलचस्प बात यह बतायी गयी है, "सोशलिस्ट साथी राष्ट्रपति वाले संघर्ष के प्रति पहले बहुत उत्साहित नहीं थे। बाद को उन्होंने सुभाष बोस का हार्दिक समर्थन किया। रायवादियों और समूचे वामपक्ष ने भी यही किया।" इस समय रायवादी वामपक्ष का अंग माने जा रहे थे। अजय ने लिखा कि सुभाषचन्द्र बोस के दुबारा चुने जाने के बाद वामपक्ष के आपसी मतभेद उभरकर ऊपर आये। वामपक्ष के कुछ लोग यह समझे कि वैकल्पिक नेतृत्व का समय आ गया है, कम-से-कम कांग्रेस की कार्य-समिति में वामपन्थियों के बहुमत की माँग की जा सकती है। "उन्होंने बोस की जीत का यह मतलब निकाला कि गांधीवाद, गांधीवादी नेतृत्व और गांधीवादी कार्यनीति की हार हुई है। उन्होंने नये कार्यक्रम, नये नेतृत्व, नयी विचारधारा की आवाज लगायी।" इनके विपरीत कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं का मत था कि सुभाषचन्द्र बोस के लिए वोट देकर प्रतिनिधियों ने आगे बढ़ने की नीति का समर्थन किया। (यहाँ बड़ा सूक्ष्म भेद किया गया है। आगे बढ़ने का जो विरोध कर रहे थे, उनकी हार नहीं हुई, किन्तु जो आगे बढ़ने की बात कह रहे थे, उनका समर्थन हो गया।) इसमें सुभाषचन्द्र बोस का यह दोष

बताया गया है कि उन्होंने पन्त प्रस्ताव आने से पहले अपना वक्तव्य न दिया। इससे दक्षिणपन्थियों को अपना प्रस्ताव लाने का अवसर मिला। बोस के पक्ष में यह बात कही गयी है कि वह गम्भीर रूप से बीमार थे और इसलिए शायद उन्हें पता न था कि वक्तव्य न देने का परिणाम क्या होगा। "किन्तु यह बात रहस्य नहीं रह गयी कि 'वैकल्पिक नेतृत्व' वाले सिद्धान्त के समर्थक और थोड़े-से तथाकथित वामपन्थी नेता सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों द्वारा बोस को दी हुई सलाह का जोरों से विरोध कर रहे थे। ये नेता निजी स्वार्थसिद्धि के लिए पुन. एकता स्थापित करने का विरोध कर रहे थे। अजय घोष ने वामपन्थियों में भेद करते हुए बताया कि इनमें कुछ तो ईमानदार हैं और कुछ फूट डालनेवाले हैं। कम्युनिस्ट पार्टी की नीति थी कि कांग्रेस अंग्रेजों को छह महीने का अल्टीमेटम दे। इस अवधि में आजादी न देंगे तो आन्दोलन छेड़ा जायेगा। किन्तु यह अल्टीमेटम वाली बात कांग्रेसी नेतृत्व मानने को तैयार न था। यही नहीं, जो वामपन्थी कहलाते थे, वे भी उसे मानने को तैयार न थे। "त्रिपुरी में हमने देखा कि हम अल्टीमेटम का नारा लोकप्रिय नहीं बना पाये, उसके आधार पर समूचे वामपक्ष को भी एकजुट न किया जा सकता था।" इसलिए सोशलिस्टों के साथ मिलकर कम्युनिस्टों ने प्रस्ताव का जो मसौदा बनाया, उससे अल्टीमेटम वाली बात हटा दी गयी किन्तु सुभाषचन्द्र बोस की बीमारी के कारण उस प्रस्ताव के बारे में उनसे बात न की जा सकी और अन्य प्रस्तावों के पहले उसे पेश न किया जा सका। विषय-समिति में जवाहरलाल नेहरू ने जो प्रस्ताव पेश किया, उसमें कम्युनिस्ट प्रस्ताव के भूमिका भाग की बातें आ गयीं "किन्तु उसमें काम करने की कोई योजना नहीं थी, न उसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि ढुलमुलपन की नीति छोड़ी जाये और चौमुखी धावा बोला जाये।" अजय घोष की इस टिप्पणी से जाहिर है कि साम्राज्य-विरोधी संघर्ष के प्रश्न पर जवाहरलाल नेहरू गांधीजी और दक्षिणपन्थियों के साथ थे, वामपन्थियों के साथ नहीं थे। सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों ने जो संशोधन पेश किये, उन्होंने उनका एक अंश स्वीकार किया। इसके बाद संशोधन पेश करनेवाले साथी मेहर अली ने, अन्य साथियों से सलाह किये बिना, वह संशोधन वापस ले लिया जिसे वह पेश कर रहे थे। अधिवेशन समाप्त हो रहा था, प्रतिनिधि थके हुए थे। ऐसे वातावरण में पूरा संशोधन स्वीकार किया जाता, इसकी सम्भावना न थी। "फिर भी यह हमारा कर्त्तव्य था कि संशोधन को लेकर अड़ जाते और खुले अधिवेशन में उसे पेश करते। उससे प्रस्ताव न बदल जाता किन्तु कम से कम हम अपनी स्थिति स्पष्ट कर लेते, कांग्रेस के मंच से अपने काम करने की योजना का प्रचार करते और लोगों को समझाते कि अल्टीमेटम वाली बात हमने क्यों छोड़ दी थी।" डूबते को तिनके का सहारा। सही समय पर सही प्रस्ताव सही आदमी सही ढंग से पेश कर देते तो सबकुछ बदल जाता। कांग्रेस के भीतर और बाहर वर्ग-शक्तियों का जो अनुपात था, वह ऐसी नाजुक चालों से न बदल सकता था। यदि वामपक्ष किसानों को संगठित करने में सफल होता, सफल न होने पर भी यदि इस दिशा में वह दृढ़तापूर्वक बढ़ता, तो यह दयनीय स्थिति न होती। "कांग्रेस के किसी भी अधिवेशन में वामपक्ष ऐसा एकताबद्ध न हुआ था जैसा त्रिपुरी में हुआ

किन्तु त्रिपुरी में ही वामपक्ष के भीतर दरारें उभर आयीं और त्रिपुरी के बाद वामपक्ष का आन्तरिक संघर्ष और तेज हो गया है। उसका एक भाग असफलता के लिए दूसरे को दोषी कहता है। और आज वामपक्ष बिखराव और विघटन की हालत में दिखायी देता है।" स्थिति का यह मूल्यांकन बहुत कुछ सही था। कारण जो भी रहे हों, युद्ध छिड़ने के पहले, कांग्रेस में सुभाषचन्द्र बोस की भारी विजय के बाद, जो वामपक्ष एकजुट होने के बाद बिखराव की हालत में आ गया, वह युद्धकाल में कारगर भूमिका निबाहने के योग्य न था, युद्ध चाहे साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच हो और चाहे फासिस्टों और सोवियत संघ के बीच हो।

२३ अप्रैल १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' में जयप्रकाश नारायण और पूरनचन्द जोशी का संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित हुआ। ए. आई. सी. सी. की बैठक होने वाली थी और कांग्रेस की कार्यसमिति अभी तक गठित न की गयी थी। सुभाष-चन्द्र बोस और गांधीजी के बीच उसे गठित करने के बारे में बातचीत चलती रही थी। ऐसी बातचीत पत्र-व्यवहार से पूरी न हो सकती थी। वक्तव्य में इस बात पर जोर दिया गया कि राष्ट्रपति बोस और गांधीजी शीघ्र मिलें और ऐसी कार्यसमिति बनायें जिसमें दोनों तरह के लोग हों और वह संयुक्त नेतृत्व की प्रतीक हो। युद्ध का संकट यूरुप और एशिया पर तेजी से फैल रहा है। सारे देश को साम्राज्यवाद पर आक्रमण करने के लिए तैयार करने का प्रश्न सामने है। ए. आई. सी. सी. की बैठक को इस मामले में मार्गदर्शन करना होगा।

## २. वामपक्ष का आन्तरिक संघर्ष

२३ अप्रैल १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' में रायवाद की आलोचना करते हुए गंगाधर अधिकारी का महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ। उन्होंने लिखा कि राय ने कम्यु-निस्टों और सोशलिस्टों के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी है। राय के अनुसार इन लोगों ने क्रान्ति का झण्डा झुका दिया है और प्रतिक्रियावाद के सामने घुटने टेक दिये हैं। अधिकारी ने लिखा कि कम्युनिस्टों ने संयुक्त नेतृत्व का समर्थन किया, साम्राज्य-वाद के विरुद्ध तुरत देशव्यापी संघर्ष छेड़ने का आह्वान किया। पन्त-प्रस्ताव को लेकर उन्होंने गांधीवाद और गांधीवादी नेतृत्व पर हमला करना उचित न समझा। कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट दायें-बायें भटकावों से बचकर अपनी नीति पर चलते और राष्ट्रपति बोस सारी परिस्थिति को व्यक्तिगत मामला न बनाकर राजनीतिक दृष्टि से उस पर विचार करते तो दक्षिणपन्थ की ऐसी विजय न होती। दायाँ भटकाव यह था कि सोशलिस्ट पार्टी तटस्थ रही; बायाँ भटकाव कुछ कम्युनिस्टों के रुख में था। अधिकारी ने बताया कि राय से मुख्य मतभेद वैकल्पिक नेतृत्व को बात को लेकर था। राय की बात मानने का अर्थ था कि हम संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे की उस नीति को छोड़ दें जिसे तीन साल से सारा वामपक्ष मानता आया था। प्रतिनिधियों ने सुभाषचन्द्र बोस के पक्ष में जो मत दिया, वह अंग्रेजों के प्रस्तावित संघ के बारे में ढुलमुल कांग्रेसी नीति के विरुद्ध मत था। नागरिक अधिकारों का विस्तार करने में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने जो कार्य किया था, वह सन्तोषजनक नहीं था। यह मत उस कार्य के विरुद्ध था। रियासतों के बारे में जो

नरम नीति थी, उसके विरुद्ध मत था, वह नेतृत्व को हटाने के लिए नहीं था। "नेतृत्व जिस नीति पर चल रहा था, उससे असन्तोष इस हद तक न बढ़ गया था कि नेतृत्व अलगाव की हालत में पड़ गया हो और उसे बदलने की मांग की गयी हो। परिस्थिति की इस विशेषता के प्रति दक्षिणपन्थी नेतृत्व चौकन्ना था। इसीलिए उसने समान विचारवालों की कैबिनेट बनाने का नारा दिया था।" यह परिस्थिति का सही विश्लेषण है। गांधीवादी नेतृत्व से असन्तोष बढ़ा था, इतना बढ़ा था कि कांग्रेस में यह नेतृत्व पराजित हुआ था किन्तु इतना न बढ़ा था कि वह कांग्रेस के भीतर या बाहर अलग-थलग पड़ गया हो। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए था? यदि वह अलग-थलग पड़ गया होता तो अच्छा होता या नहीं? स्पष्ट ही साम्राज्यविरोधी संघर्ष चलाने के लिए वह स्थिति अच्छी होती। वह स्थिति नहीं थी, इस कारण उसके लिए काम करना चाहिए था। दक्षिणपन्थी नेतृत्व भारतीय पूंजीवाद का प्रतिनिधित्व कर रहा था। कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व मजदूर वर्ग का प्रतिनिधि था। यदि किसान कम्युनिस्ट पार्टी का साथ देते, तो पूंजीवादी नेतृत्व अलगाव की हालत में पड़ सकता था। ऐसा न होने पर यदि थोड़े किसान भी पूंजीवादी नेतृत्व का साथ दें, अधिकांश किसान तटस्थ रहें, तो पूंजीवादी नेतृत्व बहुत शक्तिशाली प्रतीत हो सकता था। किसानों के संगठित आन्दोलन के बिना कम्युनिस्ट पार्टी कभी भी दक्षिणपन्थी नेतृत्व को परास्त न कर सकती थी। यह स्थिति १९३९ में ही नहीं थी, १९८१ में भी है। कम्युनिस्ट पार्टी जोरों से वामपक्षी विकल्प की बात कहती है किन्तु किसान-शक्ति को अपने साथ ले चलने की समस्या उसके लिए अब भी बनी हुई है। वह इस समस्या के प्रति गाफिल नहीं है लेकिन जो काम बरसों से छूटा हुआ हो, वह जल्दी पूरा नहीं किया जा सकता।

अधिकारी के अनुसार महात्मा गांधी जानते थे कि जिस बहुमत ने सुभाषचन्द्र बोस को चुना है, वह कमजोर है। "जब साफ-साफ नेतृत्व बदलने का सवाल पेश किया जायेगा, तब यह बहुमत ध्वस्त हो जायेगा।" अधिकारी के इस तर्क का अर्थ यह है कि लोगों ने सुभाषचन्द्र बोस के लिए मतदान करके गांधीवादियों के नेतृत्व का विरोध नहीं किया, उनकी नीति का विरोध किया। कांग्रेस के भीतर नेतृत्व और नीति इन दोनों चीजों को अलग करना जरा मुश्किल था। नेतृत्व गांधीजी का रहे और नीति सुभाषचन्द्र बोस की चले, यह परिस्थिति कुछ विचित्र थी। अधिकारी के अनुसार राजनीतिक मसले पेश किये जाते तो सुभाष-समर्थक बहुमत अडिग बना रहता और वह दक्षिणपन्थी नेताओं को आगे बढ़ने के लिए धक्का दे सकता था। इन नेताओं ने गांधीजी के नेतृत्व का सवाल उठाकर मुख्य समस्या से ध्यान हटा दिया। कांग्रेस के बहुसंख्यक प्रतिनिधि मौजूदा नेतृत्व के प्रति वफादार थे। सुभाषचन्द्र बोस के चुनाव से पुरानी स्थिति डगमगा उठी थी। अधिकारी के अनुसार रायवादियों के दांवपेच ऐसे थे जिनसे दक्षिणपन्थियों को ही लाभ होता। "यदि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट राय के साथ मिलकर वामपन्थी नेतृत्व के नारे का समर्थन करते तो उसके फलस्वरूप दक्षिणपन्थ की विजय और भी तगड़ी होती और वामपक्ष धकिया दिया जाता। आम जनता की राजनीतिक

चेतना अभी इस स्तर तक न पहुँची थी कि 'मौजूदा नेतृत्व को हटाओ' यह नारा दिया जा सकता।"

अधिकारी के तर्क का सारतत्व यह है कि "वैकल्पिक नेतृत्व के सिद्धान्त को मान लेने का मतलब यह था कि संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे की नीति हम त्याग देते है।" तब तो राष्ट्रीय मोर्चा तभी कायम रह सकता है जब उसका नेतृत्व दक्षिणपन्थियों के हाथ में बना रहे। वास्तव मे संयुक्त मोर्चा जिस सामाजिक आधार पर बनता है, उसमें वर्गों की स्थिति पर यह निर्भर है कि नेतृत्व किसका होता है। यदि पूँजीपति और उनके सहायक अधिक शक्तिशाली है तो नेतृत्व उनका होगा, यदि मजदूर वर्ग और उसके सहायक शक्तिशाली है तो नेतृत्व इनका होगा। विभिन्न वर्गों के मिलने से सयुक्त मोर्चा बनता है। पूँजीपतिवर्ग का नेतृत्व माना जायेगा तभी सयुक्त मोर्चा बनेगा, यह शर्त मिथ्या है। समस्या यह थी कि इस सयुक्त मोर्चे मे मजदूरवर्ग और उसके साथियों को कैसे शक्तिशाली बनाया जाये जिससे देश की अधिकाश जनता साम्राज्य-विरोधी संघर्ष में भाग ले सके। इसके लिए आवश्यक था कि पूँजीवादी नेतृत्व ने संघर्ष के जो तरीके देश के सामने रखे थे, उनसे उबरकर कम्युनिस्ट पार्टी और उसके साथी संघर्ष के नये तरीके जनता के सामने रखें। जब तक संघर्ष पूँजीवादियों के निश्चित्त किये हुए मार्ग पर चल रहा था, तब तक उनका नेतृत्व भी अनिवार्य मालूम होता था। किसानों को अपना आधार बनाकर कम्युनिस्ट पार्टी ऐसी स्थिति पैदा कर सकती थी जिसमें पूँजीपति वर्ग बाध्य होकर किसानों का साथ देता, सयुक्त मोर्चे मे शामिल होता, या फिर संघर्ष के रास्ते से अलग हट जाता।

अधिकारी ने दक्षिणपन्थी नेतृत्व को समूचे पूँजीपति वर्ग से जोड़ते हुए लिखा, "मौजूदा (गांधीवादी) नेतृत्व को हटाने की माँग का मतलब है राष्ट्रीय मोर्चे से एक पूरे वर्ग को निकालने की माँग करना। वह वर्ग राष्ट्रवादी पूँजीपतियों और उनके अनुयायियों का है। यह वर्ग आज उस मोर्चे का अंग है जो साम्राज्यवाद का सामना कर रहा है, स्वाधीनता और जनतन्त्र की माँग कर रहा है और जो इन माँगों को पूरा करने के लिए जन-आन्दोलन छेडने की नीति से प्रतिबद्ध है। इसके हित साम्राज्यवाद के हितो से टकराते हैं, साथ ही वे आम जनता—किसानो, मजदूरों और नौकरीपेशा लोगों—के हितो से भी टकराते हैं। यही कारण है कि राष्ट्रीय सग्राम मे उसकी स्थिति ढुलमुल और दुतरफा होती है। लेकिन साम्राज्यवाद अभी परास्त नही हुआ। पूँजीपतियो और व्यापारियो का वर्ग, भारत की और सब जनता के साथ, एक पीड़ित वर्ग है। इसका राष्ट्रवादी भाग कांग्रेस का समर्थन करता है। हम यह आशा नही करते कि वह क्रान्तिकारी भूमिका निबाहेगा अर्थात् साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय संघर्ष को सुसंगत क्रान्तिकारी नेतृत्व प्रदान करेगा। किन्तु वह क्रान्तिविरोध के शिविर मे भी नही पहुँच गया, वह साम्राज्यवादी दूकान मे छोटा भागीदार नही बन गया।"

यह विश्लेषण बहुत अच्छा है। पूँजीपतियो और व्यापारियों का वर्ग एक पीड़ित वर्ग है। उसे पीड़ा देनेवाली शक्ति साम्राज्यवाद की है। किन्तु उसके हित

[illegible]

[illegible]

आयेगी, यह निश्चित था। साम्राज्यवाद पर हमला करने के लिए राष्ट्रीय मोर्चा आवश्यक था। पर इस राष्ट्रीय मोर्चे पर जिस ढुलमुल नेतृत्व का आधिपत्य था, वह आक्रमण की बात नहीं सोच रहा था, सौदेबाज़ी की बात सोच रहा था।

अधिकारी ने राष्ट्रीय पूंजीपतिवर्ग के बारे में प्रश्न किया है, क्या यह वर्ग क्रान्तिकारी हो गया है ? जनता के हितों की बलि देकर, स्वाधीनता, जनतन्त्र और सामन्ती शोषण को खत्म करने के लक्ष्य की बलि देकर अपने संकुचित वर्गहितों के लिए उसकी आत्मसमर्पण करने की प्रवृत्ति खत्म हो गयी है ? उत्तर में कहते हैं, यह सब नहीं हुआ। उनके अनुसार महत्वपूर्ण बात यह है कि उसके ढुलमुलपन को खत्म करना सम्भव है, नेतृत्व को संघर्ष की ओर ढकेलना सम्भव है। वह मानते हैं कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने में सवैधानिक प्रवृत्ति बढ़ी है (अर्थात् अंग्रेज़ों के बनाये संविधान पर अमल करके कुछ और रियायतें पाने की प्रवृत्ति बढ़ी है।) इसी तरह वह मानते हैं कि रियासतों की जनता के संघर्ष को सुलह-समझौते की ओर मोडने की प्रवृत्ति बढ़ी है। "लेकिन इसके साथ-साथ किसानों और औद्योगिक मज़दूरों के गैरपार्लियामेण्टरी संघर्ष की शक्तियाँ बढ़ी हैं, रियासतों में राजनीतिक और आर्थिक शोषण के पुरातनपन्थी रूपों के विरुद्ध जनता के विद्रोह बढ़े हैं।" यह बात भी सही है। कांग्रेस का एक भाग सवैधानिक ढांचे के भीतर काम कर रहा था, उस ढांचे को थोड़ा और चौड़ा करने की नीति पर चल रहा था। इस ढांचे के बाहर किसानों और मज़दूरों के संघर्ष चल रहे थे, रियासती जनता के सामन्त-विरोधी आन्दोलन आगे बढ़ रहे थे। इसलिए समझौतावादी नीति के रास्ते में भारी रुकावट पैदा हो गयी थी। यह रुकावट असवैधानिक जनसंघर्षों के रूप में थी। अधिकारी ने बिल्कुल ठीक लिखा था, "जिस हद तक रियासतों और ब्रिटिश प्रान्तों में किसानों और मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष आगे बढ़ते हैं, जिस हद तक इन विकसित होते हुए संघर्षों से कांग्रेस की इकाइयाँ सम्बद्ध होती हैं, जिस हद तक मज़दूर वर्ग राजनीतिक रूप में सक्रिय होता है, उस हद तक राष्ट्रीय मोर्चे के संयुक्त नेतृत्व में सन्तुलन बदलेगा और एक सुसंगत क्रान्तिकारी जनवादी नेतृत्व का पलड़ा भारी होगा।" बात बहुत साफ कही गयी है। रियासतों और ब्रिटिश प्रान्तों के आन्दोलनों को मिलाना ज़रूरी था, मज़दूर वर्ग के लिए अपनी स्वतन्त्र राजनीतिक भूमिका निबाहना ज़रूरी था। कांग्रेस कमेटियों का जनसंघर्षों से सम्बद्ध होना ज़रूरी था, तभी राष्ट्रीय मोर्चे के भीतर नेतृत्व-सम्बन्धी सन्तुलन बदल सकता था। साराश यह कि जनसंघर्षों द्वारा ही सन्तुलन बदला जा सकता था और इन जनसंघर्षों को वामपक्षी नेतृत्व ही सुसंगत रूप से आगे बढ़ा सकता था। यदि यह बात एक बार मान ली जाये कि राष्ट्रीय मोर्चे में नेतृत्व-सम्बन्धी सन्तुलन बदलना है, तो इससे आवश्यक कार्यनीति स्वयं निर्धारित हो जाती है।

राय के बारे में लिखा है कि वह व्यापक राष्ट्रीय एकता का मज़ाक उड़ाते हैं। वह क्रान्ति की शक्तियों की एकता की बात करते हैं। इसके लिए वह पहले वर्तमान नेतृत्व को परास्त करना ज़रूरी समझते हैं। ऐसा करने का साधन उनकी समझ में गांधीवाद की आलोचना है। "राष्ट्रीय संग्राम के विकास में किसानों और मज़दूरों के स्वतन्त्र वर्ग-संगठनों की भूमिका का वह मखौल करते हैं। किसान-

को भी कम करके आँकते हैं, उसके हटाने के काम को बहुत सरल करके पेश करते हैं। "गाधीवादी नेतृत्व कुछ पुरानपन्थी सामन्ती प्रतिक्रियावादियों के गुट का ही नेतृत्व नहीं है। यह एक ऐसा नेतृत्व है जिसका आधार पूंजीवादी वर्ग है। आम जनता पर उसका असर इसलिए है कि सरकार के, साम्राज्यवाद के, विरोधी के रूप में उसकी भूमिका अभी समाप्त नहीं हुई। वर्तमान परिस्थिति में, जैसा कि हम पहले कह आये है, इससे पहले कि वह कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन को विभाजित करने की हिम्मत करे, उसे काफी दूर तक आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। मुख्य कार्य यह नही है कि सारी लड़ाई इस नेतृत्व के खिलाफ चलायी जाये, मुख्य कार्य यह है कि आंशिक संघर्षों को फैलाने में जनता की पहल को बढ़ाया जाये और उनके द्वारा कांग्रेस कमेटियों को क्रियाशील बनाया जाये। मुख्य शत्रु साम्राज्यवाद है। राय की नीति के अनुसार दक्षिणपन्थ के खिलाफ लड़ाई पहले है, उसके बाद ही साम्राज्यवाद से संघर्ष किया जा सकता है। यह फूट की नीति है।" राय मौजूदा वामपन्थी शक्तियों को एक करने की बात नहीं कहते जिससे कि किसानों और मजदूरों और रियासती जनता के संघर्षों को आगे बढ़ाया जाये और सब मिलकर कांग्रेस के भीतर की जनतन्त्रविरोधी प्रवृत्तियों से लड़ सकें।

लेख के अन्त में कहा है कि युद्ध छिड़नेवाला है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही है। भारत में संघर्ष की शक्तियाँ बढ़ रही हैं। किन्तु इस संघर्ष में केवल किसानों और मजदूरों की शक्तियाँ देश की समस्त जनता का नेतृत्व नहीं कर सकती। समूची कांग्रेस की एकता आवश्यक है जिसमें राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग भी शामिल है। इस कांग्रेस को वामपक्ष अन्तिम युद्ध के लिए नहीं तो आक्रमण के लिए प्रेरित कर सकता है। यहाँ अधिकारी ने किसानों और मजदूरों की शक्ति की बात कही है। उनका आशय संगठित वामपक्ष से है। यह वामपक्ष अभी समस्त जनता का नेतृत्व नहीं कर सकता। इस समस्त जनता का सबसे बड़ा भाग किसान है। संगठित वामपक्ष अभी इन किसानों का नेतृत्व नहीं कर सकता। दरअसल वह समूचे मजदूरवर्ग को भी अभी संगठित नहीं कर पाया। यदि मजदूर और किसान संगठित होते, सभी किसानों और मजदूरों पर नहीं, उनके काफी बड़े हिस्से पर वामपक्ष का प्रभाव होता, तो पूँजीवादी नेतृत्व कोई भी अड़चन पैदा न कर सकता था। किसानों और मजदूरों की शक्ति अजेय थी, उन्हीं से जनता का बहुसंख्यक भाग बनता था। यह शक्ति मध्यवर्ग और प्रगतिशील पूँजीपतियों को अपने साथ संघर्ष में खींच सकती थी। अधिकारी के लेख का महत्व यह है कि इसमें उन्होंने कांग्रेस और राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग का सम्बन्ध स्पष्ट किया है, पूँजीपति वर्ग को क्रान्तिविरोधी नहीं कहा और उसे क्रान्तिकारी भी नहीं माना। संयुक्त राष्ट्रीय नेतृत्व में वर्ग-सन्तुलन के सवाल को उन्होंने जन-संघर्षों से जोड़ा। इसलिए लेख से नतीजा यह निकलता था कि वामपक्ष को, वामपक्ष में सर्वाधिक कम्युनिस्ट पार्टी को अपना संगठन मजबूत करना चाहिए, जन-संघर्षों का नेतृत्व करना चाहिए, और इन संघर्षों के प्रभाव से राष्ट्रीय मोर्चे में सन्तुलन इस तरह बदलना चाहिए कि ढुलमुल दक्षिणपन्थी नेता प्रभावशाली न

रहें और वामपक्ष सुसंगत साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी संघर्षों का संचालन कर सके।

३० अप्रैल १९३९ के 'नैशनल फ्रंट' में ऐम. एन. राय पर एक और महत्वपूर्ण लेख छपा। 'मार्क्सवादी या मदारी ?' ('मार्क्सिस्ट ऑर माउण्टीबैंक ?') शीर्षक लेख बी. टी. रणदिवे ने लिखा था। 'नैशनल फ्रंट' में अब तक राय पर जो लेख निकले थे, उनमें यह आभास हो सकता था कि कम्युनिस्ट पार्टी की तुलना में राय वामपक्षी नीति पेश कर रहे थे। किन्तु रणदिवे ने इस लेख में दिखाया कि राय वास्तव में दक्षिणपन्थियों के सामने घुटने टेकने की नीति पर चलते रहे थे। कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन के बाद जब उन्होंने देखा कि कम्युनिस्ट पार्टी की नीति से वामपन्थी विचार के लोगों में असन्तोष है, तब उन्होंने क्रान्तिकारी नीति अपनाने का अभिनय शुरू किया। राय के अनुसार कांग्रेस क्रान्ति-विरोधी थी, कम्युनिस्ट पार्टी ने संयुक्त नेतृत्व की धारणा का समर्थन करके मार्क्सवाद से दगा की थी। राय ने अपनी और अपने अनुयायियों की पीठ ठोंकते हुए लिखा था कि वे लोग ही क्रान्तिकारी थे और दक्षिणपन्थी हमले के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा ऊँचा किये रहे, उन्होंने बुनियादी राजनीतिक और संगठनात्मक समस्याएँ पेश कीं। रणदिवे ने लिखा : यदि मार्क्सवादी अपना कर्तव्य पालन न कर सके तो कम-से-कम राय अवसरवाद के शिकार न हुए होंगे और उन्होंने गांधीवादियों का मुकाबला जमकर किया होगा। किन्तु त्रिपुरी में राय इस तरह के संघर्ष से बिल्कुल दूर रहे। राय चाहते हैं कि दक्षिणपन्थी नेतृत्व खत्म किया जाये। क्या राय ने इसके लिए प्रयत्न किया ? रणदिवे कहते हैं, "नहीं, हजार बार नहीं। क्या उन्होंने एक शब्द भी यह संकेत करने के लिए कहा कि मौजूदा नेतृत्व लोगों का विश्वास खो चुका है, वह बेकार हो गया है ? जी नहीं। इसके विपरीत राष्ट्रीय मोर्चे वाले 'अवसरवादी' गुट की तरह, और उससे भी अधिक 'अवसरवादी' सोशलिस्टों की तरह, उन्होंने भी दक्षिणपन्थियों से सहयोग की अपील की। अपने संशोधन में उन्होंने महात्मा गांधी और कांग्रेस के सभी नेताओं से मार्मिक प्रार्थना की कि वे सुभाष बोस को पूर्ण सहयोग दें। यह प्रार्थना अधिकारवादी सरदार पटेल के प्रति भी थी।" अपने संशोधन पर बोलते हुए उन्होंने कहा था, "सुभाषचन्द्र बोस के चुनाव से कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों को बदलने का सवाल पैदा नहीं हुआ।" इस सुन्दर वाक्य के लिए राय को शाबाशी देने के बाद रणदिवे ने पूछा, फिर वैकल्पिक नेतृत्व का क्या हुआ ? और वे सच्चे क्रान्तिकारी क्या हुए जो क्रान्ति-विरोधी हमले का सामना कर रहे थे ? सुभाषचन्द्र बोस की तारीफ करते हुए राय ने यह भी कहा था, "सुभाष बाबू ने चुने जाने के बाद कोई बात ऐसी नहीं कही जिसका यह अर्थ लगाया जाये कि वह महात्मा गांधी का नेतृत्व अस्वीकार करते हैं।" राष्ट्रपति सभी, नेताओं का अर्थात् दक्षिणपन्थियों का सहयोग प्राप्त करेंगे।

रणदिवे ने बताया कि त्रिपुरी के बाद राय ने देखा कि वामपक्ष के भीतर भारी उलझन पैदा हो गयी है। उन्होंने तय किया कि वामपन्थियों को गुमराह करने के लिए इस स्थिति से फायदा उठाना चाहिए। उनका मुख्य उद्देश्य कम्यु-

निस्टों और सोशलिस्टों की एकता को तोड़ना था। कम्युनिस्टों का बढ़ता हुआ प्रभाव राय के मार्ग में बहुत बड़ा रोड़ा था। दस साल तक कम्युनिस्टों ने राय के खिलाफ जो विचारधारात्मक संघर्ष चलाया था, उससे उनकी असलियत खुल गयी थी। उन्होंने सोचा, बदला लेने का मौक़ा आ गया है। वह चाहते हैं कि लोग यह विश्वास करें कि वह त्रिपुरी में अपनी स्थापनाओं के लिए संघर्ष करते रहे थे। किन्तु उनके मुख-पत्र 'इण्डिपेण्डेन्ट इण्डिया' में उनके लेख और भाषण छपे थे। उनसे जाहिर हो जाता है कि राय जो कुछ आज कह रहे हैं, वह सब त्रिपुरी अधिवेशन के समय न कह रहे थे। १२ फरवरी को उन्होंने कहा था कि कांग्रेस की कार्यसमिति में पुराने नेता रहने चाहिए, उनके साथ नये विचारों और नयी नीति के प्रतिनिधि भी रहने चाहिए। उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया था कि जिस समय देश को अधिक-से-अधिक व्यापक आधार पर एकता की जरूरत है, उस समय यह दुःख की बात है कि गांधीजी कांग्रेस में अलग हटने की बात कह रहे हैं। देश में जो प्रगतिशील लोग हैं, वे प्रसन्न होंगे यदि संघर्ष में पुराने नेताओं के नेतृत्व का लाभ प्राप्त हो सकेगा। इसके बाद २६ फरवरी को राय ने पैंतरा बदला और उन्होंने माँग की कि कांग्रेस की कार्यसमिति में आमूल परिवर्तन होना चाहिए और उसे पुनर्गठित करना चाहिए। १६ अप्रैल के 'इण्डिपेण्डेन्ट इण्डिया' में उन्होंने लिखा था कि ऐसी परिस्थिति पैदा हो गयी है कि सचेत क्रान्तिकारियों को वैकल्पिक नेतृत्व की नींव डालने के लिए पहल करनी चाहिए। रणदिवे ने बताया कि राय के नारे सट्टाबाजार की अफवाहों की तरह हर हफ्ते बदलते रहते हैं। ऐसे 'मार्क्सवादी' की राजनीति का मूल्य ही क्या है? जो आदमी इस तरह बेशर्मी से पैंतरे बदलता है, वह ऐसा मदारी है जो उपद्रव करने पर तुला हुआ है और जिसका लक्ष्य अपने बड़प्पन की धाक जमाना है।

डा. अधिकारी ने यह दिखाया था कि रायवाद वास्तव में दक्षिणपन्थियों की मदद करता था। रणदिवे ने यह दिखाया कि राय अवसरवादी ढंग से, किसी

में यह बात प्रकट हो गयी कि राय का वास्तविक उद्देश्य राष्ट्रीय आन्दोलन में फूट डालकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की मदद करना था।

## ३. राष्ट्रीय एकता और वामपक्ष

घटनाक्रम इस तरह चला कि कलकत्ते की ए. आई. सी. सी में, सुभाषचन्द्र बोस ने त्यागपत्र दे दिया। १४ मई १६३६ के 'नेशनल फ्रंट' के सम्पादकीय लेख में सुभाषचन्द्र बोस के त्यागपत्र और दक्षिणपन्थ की विजय पर कम्युनिस्ट पार्टी के विचार प्रकट किये गये हैं। अदूरदर्शी राजनीतिज्ञ यह समझ बैठे हैं कि दक्षिणपन्थ की यह विजय वामपक्ष पर आक्रमण है। "किन्तु दक्षिणपन्थ की विजय वामपक्ष की बलि देकर ही नहीं वरन् राष्ट्रीय एकता की बलि देकर प्राप्त की गयी है।" इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय एकता का मुख्य आधार अब वामपक्ष था। वामपक्ष को अलग रखने का मतलब था राष्ट्रीय एकता को भंग करना। इस एकता को

भंग करने का उद्देश्य था साम्राज्यविरोधी लड़ाई को रोकना और सुलह-समझौते का रास्ता साफ करना। सम्पादकीय लेख में कहा गया है, "इस अस्थायी विजय का जो खतरनाक मतलब निकलता है, वह गांधी सेवासंघके सामने सरदार वल्लभ भाई के भाषण से स्पष्ट हो जाता है। 'यदि हम उचित अनुशासन कायम कर ले तो हम संघर्ष किये बिना सत्ता प्राप्त कर सकते है। ऐसा करने के बदले हम संघर्ष चला रहे है जैसे कि बकाश्त ज़मीन के लिए संघर्ष; इनसे मन्त्रिमण्डलों के लिए अड़चनें पैदा होती हैं।' सरदार के भाषण का यह सारांश है। इसका अर्थ स्पष्ट है। कलकत्ते में उस समझौतावादी प्रवृत्ति की विजय हुई है जो राष्ट्रीय संघर्ष में विद्यमान है।" यदि तुरत एकता कायम करके संघर्ष नही चलाया जाता तो आन्दोलन में फूट पड़ेगी और उसका अन्त समझौते में होगा। यदि वामपक्ष अपनी एकता मजबूत करे और फूट और समझौते का विरोध करे तो यह परिस्थिति बदल सकती है। बिना समझौते के संघर्ष चलाने की व्यापक इच्छा पर ध्यान देना चाहिए और उसके अनुरूप वामपक्षी एकता को व्यापक बनाना चाहिए। कांग्रेस से त्यागपत्र देकर सुभाषचन्द्र बोस ने फारवार्ड ब्लाक की स्थापना की थी। इस संगठन की ओर कम्युनिस्ट पार्टी का रुख क्या हो, इस बारे में सम्पादकीय लेखक ने बताया कि फारवार्ड ब्लाक की नीति जमकर संघर्ष करने की है। वह किसान सभा और मजदूर सभाओं से नजदीकी सम्बन्ध कायम करना चाहता है। '"गांधीवाद और अहिंसा के प्रति अपनी आस्था घोषित करके वह अपने को सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों से अलग रखता है, फिर भी हर महत्वपूर्ण मसले पर वह समय की पुकार सुनता है और सही जवाब देता है। उसका दृष्टिकोण वामपन्थी राष्ट्रवादी है; उसका उद्देश्य समझौताविहीन संघर्ष की राह पर कांग्रेस को ले चलना है। दक्षिणपन्थ की हठधर्मिता का प्रत्यक्ष फल है फारवार्ड ब्लाक। वह उन लोगों की भावना व्यक्त करता है जिनका मोह भंग हुआ है और जो संगठित और एकताबद्ध होकर काम करना चाहते है।" वामपक्ष को सावधान करते हुए सम्पादकीय लेख में कहा गया कि इस नये वामपन्थी गुट की ओर सही दृष्टिकोण न अपनाना, उसकी निराधार नुक्ताचीनी करना आत्महत्या के समान होगा, उससे फूटवादी शक्तियों के सामने पूरी तरह घुटने टेकने पड़ेंगे। "यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के मुखपत्र 'कांग्रेस सोशलिस्ट' ने इस गुट के संगठन में केवल 'सत्ता की राजनीति' (पावर पालिटिक्स) देखी है। यदि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी इस महत्वपूर्ण सवाल पर अपने मुखपत्र की नीति पर चलती है तो वामपन्थ की फूट और निराशा के अलावा उसके हाथ कुछ न लगेगा।" सम्पादकीय लेख में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट तुरत फारवार्ड ब्लाक से सम्बन्ध कायम करें, वामपक्षी एकता को बढ़ाने के लिए उसका उपयोग करें। पिछले सप्ताह के सम्पादकीय में यह सुझाव रखा गया था कि कम्युनिस्टों, सोशलिस्टों, वामपंथी कांग्रेसजनों और किसानसभाओं के कार्यकर्ताओं का सम्मेलन बुलाना चाहिए जो राजनीतिक परिस्थिति पर विचार करे। इस सम्मेलन में शामिल होने के लिए फारवार्ड ब्लाक को बुलाना चाहिए। "त्रिपुरी और कलकत्ते के बाद वामपक्षी असन्तोष बेहद बढ़ा है। उसे तुरत किसी एक ही पार्टी के भीतर

मेटा नही जा सकता। कोई भी पार्टी या गुट यह दावा नही कर सकता कि वाम-पंथी शक्तियों के नेतृत्व का इजारा उसके पास है। फिर भी यह प्रयत्न करना चाहिए कि विभिन्न गुटो के बीच सहयोग को और घनिष्ठ करके वामपथी एकता कायम की जाये। इससे कम कुछ भी किया गया तो ऐम.एन. राय जैसे लोगों के लिए फूट डालने का रास्ता साफ हो जायेगा। बदली हुई परिस्थिति मे सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट यदि वामपंथी एकता के सूत्रधार नही बनते, वामपंथी एकता के बारे मे अपनी पुरानी धारणाएँ छोड़कर फूट के विरुद्ध संघर्ष मे फारवार्ड ब्लाक को अपना सहयोगी मानकर उसका स्वागत नही करते, तो समूची कांग्रेस को संघर्ष की ओर ले चलने की बात बिलकुल बेकार होगी। राष्ट्रीय एकता का आधार है वामपंथी एकता। आत्मसमर्पणवाली प्रवृत्ति को खत्म करने के लिए, आत्मघाती समझौते की राह रोकने के लिए अनिवार्य शर्त है वामपंथी एकता।''

१४ मई के इस सम्पादकीय लेख का महत्व यह है कि इसमे वामपन्थी एकता को राष्ट्रीय एकता की आधारशिला माना गया है। यह स्वीकार किया गया है कि इस आधारशिला के बिना आत्मसमर्पणवादी प्रवृत्ति को रोका नही जा सकता। एक अन्तर्विरोध था समस्त भारतीय जनता और साम्राज्यवाद मे। यह मुख्य अन्तर्विरोध था। दूसरा अन्तर्विरोध था राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर सघर्ष की शक्तियों और समझौतावादियों के बीच। यह गौण अन्तर्विरोध था। उसके गौण होने का यह मतलब न था कि उसकी अनदेखी की जाये, उसे हल करने का प्रयत्न न किया जाये। दोनो अन्तर्विरोध एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। मुख्य अन्तर्विरोध का समाधान किस तरह होता है, वह इस पर निर्भर था कि गौण अन्तर्विरोध का समाधान किस तरह होता है। समझौतावादियों से संघर्ष करने का यह अर्थ नही था कि वे मुख्य शत्रु है। उनसे सघर्ष करने के लिए वे तरीके न अपनाये जा सकते थे जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनाये जा सकते थे। गौण अन्तर्विरोध को हल करना सकीर्णतावाद तब होता जब समझौतावादियो को मुख्य शत्रु माना जाता और उनके विरुद्ध सघर्ष के वे तरीके अपनाये जाते जो अंग्रेजी राज के विरुद्ध अपनाये जाते थे या अपनाये जा सकते थे। इस गौण अन्तर्विरोध की अनदेखी करने का मतलब था सुधारवादी रास्ते पर चलना और साम्राज्यविरोधी संघर्ष को कमजोर करना। वास्तव मे साम्राज्यविरोधी संघर्ष को तेज करके ही समझौता-वादियो की शक्ति कम की जा सकती थी अर्थात् मुख्य अन्तर्विरोध को हल करने के प्रयत्नो को तेज करते हुए ही गौण अन्तर्विरोध का सही समाधान प्राप्त हो सकता था।

१४ मई १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' में कलकत्ते के ए. आई. सी. सी. अधि-वेशन पर अजय घोष का लेख प्रकाशित हुआ। इसके आरम्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की गम्भीरता का उल्लेख किया गया है। यूरप मे घटनाचक्र तेजी से चला है और लगता है विश्वयुद्ध छिड़ने ही वाला है। गवरमेण्ट आफ इण्डिया ऐक्ट मे इस तरह सशोधन किया गया है कि भारत मे पक्की तानाशाही कायम की जा सके और जनता के विरोध के बावजूद भारत को युद्ध में घसीट लिया जाये। सयुक्त प्रान्त और बिहार मे साम्प्रदायिक दगे हुए है; इनका आयोजन इसलिए

किया गया था कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के मुहँ पर कालिख पोत दी जाये। कांग्रेस बाहरी संकट का सामना तब तक न कर सकती थी जब तक अपने नेतृत्व का भीतरी संकट हल न कर ले। सुनने में आया कि जवाहरलाल नेहरू समझौता कराने की कोशिश करा रहे हैं। वह पहले से ही दोनों गुटों की मिली-जुली कार्य-समिति बनाने के पक्ष में रहे हैं। जब अधिवेशन आरम्भ हुआ, तब राष्ट्रपति बोस ने अपने नाम लिखा हुआ गांधीजी का पत्र पढ़कर सुनाया। गांधीजी ने कहा था कि सदस्यों में बुनियादी बातों पर मतभेद है; इसलिए कार्यसमिति के सदस्यों के नाम देने का मतलब होगा तुम्हारे ऊपर उन्हें थोपना। इसलिए तुम अपनी कार्य-समिति अपनी इच्छा से बना सकते हो। अजय घोष ने लिखा कि बुनियादी मत-भेद के नाम पर गांधीजी ने राष्ट्रपति बोस को नामों के बारे में सलाह देने से इन्कार कर दिया था, त्रिपुरीवाले प्रस्ताव के अनुसार उन्हें जो काम करना था, उसे करने से उन्होंने इन्कार किया था।

सुभाषचन्द्र बोस ने कहा कि वे अपनी इच्छा से कार्यसमिति न बनायेंगे। पहले तो ऐसा करना पन्त-प्रस्ताव के विरुद्ध होगा, दूसरे मौजूदा नाजुक स्थिति में ऐसी मिली-जुली कार्यसमिति आवश्यक थी जिस पर ज्यादा-से-ज्यादा कांग्रेसजनों को भरोसा हो। उन्होंने गांधीजी से कहा था कि यद्यपि वह स्वयं (अर्थात् बोस) मिली-जुली कार्यसमिति चाहते हैं, फिर भी गांधीजी जैसी भी समिति बना देंगे, वह उसे स्वीकार करेंगे क्योंकि उन्होंने निश्चय कर लिया था कि वह पन्त-प्रस्ताव पर अमल करेंगे। आखिरकार उन्होंने यह कोशिश भी की कि कार्य-समिति के पुराने सदस्यों से मिलकर समझौता कर लें पर यह भी मुमकिन न हुआ। इस स्थिति में सुभाषचन्द्र बोस ने निर्णय किया कि ए. आई. सी. सी. यदि नया राष्ट्रपति चुन ले तो मामला शान्त हो जायेगा। इसलिए उन्होंने त्याग-पत्र देने का फैसला किया। अजय के अनुसार सभी पर उनके वक्तव्य का गहरा प्रभाव पड़ा। किसी की समझ में न आया कि क्या करें। तब जवाहरलाल नेहरू बोलने के लिए खड़े हुए। उन्होंने एकता के लिए ज़ोरदार अपील करते हुए कहा, हमें पुरानी बातें भुलाकर आगे की तरफ देखना चाहिए। लड़ाई किसी भी दिन छिड़ सकती है। हो सकता है कि ए. आई. सी. सी. की बैठक फिर न हो। दुश्मन हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठा है। अपने मतभेद भुलाकर इस संकट की घड़ी में हमें एक साथ खड़े होना चाहिए। जहाँ तक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, सुभाष बोस और महात्मा गांधी में कोई मत-भेद नहीं। कार्यसमिति में नये खून का आना जरूरी है। पुरानी कार्यसमिति के दो सदस्य अब काम नहीं कर पा रहे हैं। बोस पुरानी समिति फिर से नियुक्त कर दें; दो खाली जगहों में दो नये आदमी रख दिये जायेंगे। अन्त में उन्होंने बोस से अपना त्यागपत्र वापस लेने को कहा। लोगों ने इस पर खूब ज़ोर से तालियाँ बजायीं। इसके बाद सुभाषचन्द्र बोस ने सरोजिनी नायडू से सभापति का आसन ग्रहण करने को कहा।

अजय ने लिखा कि जवाहरलाल का सुझाव समझौते के लिए कतई नाकाफी था। "लोगों को यह बात मालूम थी कि पुराने नेताओं ने यही सुझाव बोस के सामने रखा था और स्वयं जवाहरलाल ने यह कहकर उसका तीव्र विरोध किया

था कि वह परिस्थिति की माँग के अनुरूप नहीं है। ऐसी कार्यसमिति पूरी कांग्रेस की आस्था न जगा सकती थी, बुनियादी स्तर पर जो सम्बन्ध थे, उन्हें प्रतिबिम्बित न कर सकती थी और गतिशील नेतृत्व न प्रदान कर सकती थी।" बुनियादी स्तर के सम्बन्धों का अर्थ यह था कि आम कांग्रेसजन संघर्ष की राह पर बढ़ना चाहते थे, इस स्थिति को पुराना नेतृत्व प्रतिबिम्बित न करता था। इसी कारण वह नेतृत्व समूची कांग्रेस की आस्था न जगा सकता था। अजय का विचार था कि यदि दक्षिणपन्थी नेता इस समय बोस से कहते कि वह त्यागपत्र न दें और उन्हें आश्वासन देते कि बोस यदि जवाहरलाल का सुझाव मान लेंगे, तो वे उनसे सहयोग करेंगे, तो वातावरण बदल जाता और एकता कायम करने में सहायता मिलती। "ऐसा नहीं हुआ। यद्यपि वैसा सुझाव पुराने नेताओं की तरफ से ही आया था और यद्यपि वामपक्ष उसे बिल्कुल नाकाफी समझता था, फिर भी पुराने नेताओं में एक भी उसके समर्थन के लिए आगे न आया।" रफ़ी अहमद किदवई ने राष्ट्रपति के चुनाव के समय सुभाषचन्द्र बोस का समर्थन किया था। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि बोस अपना त्यागपत्र वापस ले लें और अपनी नयी कार्यसमिति में पुरानी कार्यसमिति के सदस्यों को नियुक्त कर दें। इस पर अजय की टिप्पणी है, "नेहरू का सुझाव निराशाजनक था किन्तु यह प्रस्ताव उससे भी ख़राब था। इसमें इस बात का संकेत भी न था कि निकट भविष्य में कार्यसमिति के सदस्यों में कोई तब्दीली होगी। राष्ट्रपति का मत था कि संयुक्त नेतृत्व हो, मिलीजुली कार्यसमिति हो, उसमें नया खून आये, इस बारे में कोई भी रियायत प्रस्ताव में न की गई थी।" अजय घोष ने बताया कि सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों ने नेहरू का भाषण ध्यान से सुना था। वे यह मानते थे कि उनका सुझाव नाकाफी है किन्तु उन्होंने तय किया कि नाजुक स्थिति को देखते हुए एकता के हित में वे उसका समर्थन करेंगे। वे पुराने नेताओं की हठधर्मिता के लिए, ढुलमुल नीति के कारण आम कांग्रेसजनों के असन्तोष को न समझ पाने के लिए उनकी आलोचना करेंगे, इसके साथ ही बोस से त्यागपत्र वापस लेने और जवाहरलाल का सुझाव मान लेने को कहेंगे। किन्तु जो प्रस्ताव पेश किया गया था, उसमें कम-से-कम उतना संशोधन ज़रूरी था जितने से वह जवाहरलाल के सुझाव के अनुरूप हो जाता। कम्युनिस्ट प्रतिनिधियों के नेता रुद्रदत्त भारद्वाज थे। उन्होंने प्रस्ताव सुने बिना ही जयप्रकाश से उसका समर्थन करने को कहा। "वह समझ रहे थे कि कोई प्रस्ताव पेश नहीं किया गया और नेहरू ने जो अपील की थी, जयप्रकाश को उसका समर्थन करना था। कामरेड भारद्वाज से गम्भीर गलती हुई थी। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेता को उन्होंने अनजान में यह सुझाया था कि वह ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करें जिसका निश्चित रूप से विरोध हम तथा सोशलिस्टों का बहुमत करता था। इससे सोशलिस्टों के मन में कड़वाहट भर गयी और कुछ को यह कहने का अवसर मिला, 'कम्युनिस्टों का यही तरीका है। हर समझौता तोड़ते हैं। उन्होंने हमसे ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करा लिया जिसका विरोध आगे वे स्वयं करेंगे जिससे कि वे हमारे मुकाबले ज्यादा वामपंथी जाने जायें।' किन्तु कामरेड जयप्रकाश नारायण के भाषण का आधार जवाहरलाल का वक्तव्य था, न कि

[किदवई का] प्रस्ताव। उन्होंने उस सुझाव की तीखी आलोचना की। उन्होंने कहा कि ऐसा नेतृत्व चाहिए जो वास्तव में संयुक्त हो। उन्होंने बताया कि ऐसा नेतृत्व ही कांग्रेस को विघटन से बचा सकता है और आगामी संघर्ष के लिए राष्ट्र को तैयार कर सकता है। फिर भी उन्होंने राष्ट्रपति से अपील की कि वह अपना त्यागपत्र वापस ले लें और जवाहरलाल के सुझाव पर अमल करें।"

रायवादी भूपेन्द्र सान्याल ने त्यागपत्र देने पर सुभाष बोस को बधाई दी और राय जाहिर की कि ए. आई. सी. सी. में नई क्रान्तिकारी कार्यसमिति चुनी जाये। अजय ने इस पर टिप्पणी की कि यह भाषण लोगों की वाह-वाही लूटने के लिए किया गया था, परिस्थिति से उसका कोई सम्बन्ध न था।

जब दूसरे दिन अधिवेशन शुरू हुआ तो पता चला कि पुराने नेता रत्ती-भर परिवर्तन के लिए तैयार नहीं हैं। वे चाहते हैं कि किसी शर्त के बिना पुरानी कार्यसमिति सब की सब फिर से नियुक्त की जाये। "पूर्ण आत्मसमर्पण करो, यह उनकी मांग थी।" दूसरे दिन का अधिवेशन शुरू होने पर जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि वह राष्ट्रपति पर कोई बात थोपना नहीं चाहते। प्रस्ताव में कही हुई बातों के अनुसार वह त्यागपत्र वापस नहीं लेते तो उस प्रस्ताव को ही वापस लेने की अनुमति दी जानी चाहिए। यहां नेहरूजी की भूमिका पर अजय घोष की टिप्पणी महत्वपूर्ण है। "जवाहरलाल ने जो बात नहीं कही और ए. आई. सी. सी. के अनेक सदस्य जिसे जानते थे, वह यह थी कि दक्षिणपंथी नेताओं ने ही अड़ियल रवैया अपनाया था। वामपक्ष आशा करता था कि जवाहरलाल सदन को बतायेंगे कि वास्तव में हुआ क्या है और समझौता नहीं हुआ तो वास्तव में इसके लिए दोषी कौन है। यह आशा पूरी नहीं हुई। जवाहरलाल के वक्तव्य का यह प्रभाव पड़ा कि [लोग समझे,] समझौते की बातचीत तोड़ने के लिए बोस ज़िम्मेदार हैं।" आगे भी नेहरूजी ने जो कुछ किया, यह भूमिका उसके अनुरूप थी। (ए. आई. सी. सी. में बहस, प्रस्तावों से सम्बंधित कानूनी नुक्ते, संवैधानिक दांव-पेंच यह सब स्वाधीन भारत की संसदीय कार्यवाही का पूर्वाभास था।)

अजय ने सुभाषचन्द्र बोस के बारे में लिखा कि उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी। उन्होंने कहा था कि कार्यसमिति में विभिन्न विचारोंवाले लोगों के प्रतिनिधि होने चाहिए। बहुमत उनका होगा जिससे पुरानी नीति टूटे नहीं। कांग्रेस संगठन में काफी तब्दीली हुई है। वह तब्दीली कार्यसमिति में भी झलकनी चाहिए। यदि वे चाहते हैं कि वह राष्ट्रपति बने रहें तो थोड़ा ध्यान उनके विचारों पर भी देना होगा। संकट सामने है। उससे उबरने के लिए सारी शक्ति समेटना जरूरी है।

इसके बाद श्रीमती सरोजिनी नायडू ने एकता के लिए जोरदार अपील की, जवाहरलाल नेहरू के वक्तव्य का समर्थन करते हुए बोस से त्यागपत्र वापस लेने को कहा। बोस ने कहा कि ए. आई. सी. सी. किस तरह का प्रस्ताव स्वीकार करती है, इस पर उनका उत्तर निर्भर होगा। अजय घोष ने लिखा कि राष्ट्रपति बोस यही कर सकते थे; और कोई विकल्प उनके सामने न था। किसी भी दक्षिण-पन्थी नेता ने जवाहरलाल के सुझाव का समर्थन नहीं किया। नेहरूजी के वक्तव्य

के अनुसार भी प्रस्ताव पेश किया जाता तो उसमें कहा जाता कि वह राष्ट्रपति पर विश्वास प्रकट करता है, और ऐसा विश्वास-प्रस्ताव जरूरी था। वोस के बयान के बाद नेहरूजी ने प्रस्ताव वापस ले लिया। श्रीमती नायडू ने घोषणा की कि प्रस्ताव वापस ले लिया गया है, इसलिए नया राष्ट्रपति चुना जायेगा। कम्युनिस्टों ने प्रयत्न किया कि अब भी समझौता हो जाये। उन्होंने प्रस्ताव पेश किया: जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू और सुभाषचन्द्र वोस ने जो बयान दिये है, उन्हे ध्यान मे रखते हुए ए. आई. सी. सी. सुभाष वोस से प्रार्थना करती है कि वह अपना त्यागपत्र वापस ले ले।

अजय के अनुसार कम्युनिस्ट प्रस्ताव का आशय यह था: पुरानी कार्यसमिति ने वोस की यह बात न मानी थी कि मिलीजुली कार्यसमिति बननी चाहिए, इसलिए जवाहरलाल नेहरू और सरोजिनी नायडू के वक्तव्य, वोस की बात अशत: माननेवाले कहे जा सकते थे। अत: एकता के हित में वोस को अपना प्रस्ताव वापस ले लेना चाहिए था। इस प्रस्ताव को दत्त मजूमदार ने पेश किया और उसकी व्याख्या उन्होंने दूसरे ढग से की। उन्होंने कहा, पत-प्रस्ताव पर अमल नहीं किया गया, इसलिए राष्ट्रपति वोस को अपना अधिकार वापस मिल गया है और वह काग्रेस सविधान के अनुसार अपनी इच्छा से मिलीजुली कार्यसमिति बना सकते है। प्रस्ताव की भाषा ऐसी थी कि उसकी व्याख्या दोनों तरह से हो सकती थी। (स्पष्ट ही कम्युनिस्ट प्रतिनिधियो मे तीव्र मतभेद रहा होगा।) अजय ने दत्त-मजूमदार की व्याख्या को एकदम गलत और प्राणघाती बताया। उनका कहना था कि प्रस्ताव पेश करने का काम सरदेसाई का था किन्तु उनके बदले, "कामरेड दत्त मजूमदार प्रस्ताव पेश करने दौड़ पड़े।" (यदि दौड़ पड़ने की बात सही है, तो मानना होगा कि दत्त मजूमदार समझ गये थे कि सरदेसाई किस तरह की व्याख्या पेश करेंगे। उनकी चाल नाकाम करने के लिए वह प्रस्ताव पेश करने पहले ही पहुँच गये। इस तरह का व्यवहार और कम्युनिस्ट पार्टी के मुखपत्र मे उसकी खुली आलोचना, दोनो बातें पार्टी के आन्तरिक सघर्ष की ओर सकेत करती हैं।) अजय ने लिखा कि प्रस्ताव के पीछे जो भावना थी, दत्त मजूमदार की व्याख्या से उसका पूर्ण निषेध हुआ; कम्युनिस्टो ने जो दृष्टिकोण अपनाया था, यह व्याख्या उसके विपरीत थी। "अंतिम क्षणो मे ज्वार को उलटा मोड़ देने की जो भी सम्भावना थी वह दत्त मजूमदार के भाषण खत्म होने पर समाप्त हो गयी।" (यह सब पढ़कर ऐसा लगता है कि अंग्रेजों के बनाये सविधान के बदले काग्रेस के बनाये सविधान के भीतर जबर्दस्त लडाई चल रही थी। सारा घटनाक्रम एक निश्चित मंजिल की तरफ बढ़ रहा था। वह मंजिल थी काग्रेस में वामपन्थी प्रभाव को खत्म करने की, सुभाषचन्द्र वोस के चुनाव को रद्द करने की, दक्षिणपन्थी प्रभुत्व को पहले से भी ज्यादा दृढ़ता के साथ स्थापित करने की। यह दाँव न लगाकर वह दाँव लगाते तो शायद पूरी तरह धूल चाटने से बच जाते! दत्त-मजूमदार के बदले सरदेसाई प्रस्ताव पेश करते तो दक्षिणपन्थियों को उसका विरोध करने में कठिनाई होती! मानो इस तरह की कठिनाई से उन्हे कोई डर हो। पन्त-प्रस्ताव पास करने के बाद उस पर अमल करने से वे साफ मुकर गये।

जो प्रस्ताव उन्होंने खुद पास किया था, उसे नकारने मे उन्हें कठिनाई न हुई, तब कम्युनिस्टो का प्रस्ताव नकारने मे उन्हें क्या कठिनाई होती ?) यदि सरदेसाई प्रस्ताव पेश करते तो कांग्रेस सोशलिस्टों का यह सन्देह दूर हो जाता कि कम्युनिस्ट अपने को अधिक वामपन्थी सिद्ध करना चाहते हैं। जयप्रकाश नारायण ने जो कुछ कहा था, अजय के अनुसार उसका सारतत्व कम्युनिस्ट प्रस्ताव मे था। इस प्रस्ताव के बारे में कम्युनिस्टो को समय न मिला था कि वे सोशलिस्टों से सलाह कर लेते। किन्तु जब सोशलिस्टों ने उसे सुना तो वे उससे सहमत हुए। तब तक पहुँच गये प्रस्ताव पेश करने दत्त मजूमदार। "इसलिए कामरेड दत्त मजूमदार के भाषण से राष्ट्रीय और समाजवादी एकता के हित की अकथनीय क्षति हुई। कम्युनिस्टो ने पहले जो फैसला किया था, उससे ठीक उल्टी बात कहकर वह सीधे फूटपरस्तो के हाथ मे खेल गये।"

दत्त मजूमदार के बाद सरदेसाई ने भाषण दिया। उन्होंने कहा कि जवाहरलाल और सरोजिनी देवी ने जो आश्वासन दिया है, उसके आधार पर सुभाष बोस को त्यागपत्र वापस ले लेना चाहिए। यदि ए. आई. सी. सी. यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं करती तो इसका यह अर्थ होगा कि वे जवाहरलाल और सरोजिनी नायडू के बयानों का समर्थन नही करते और चाहते है कि बोस त्यागपत्र दे दें। "किन्तु दत्त मजूमदार पहले ही वातावरण बिगाड चुके थे। लोगों की सहानुभूति उनके साथ न थी। प्रस्ताव पहले ही गिर चुका था।" इसके बाद सुभाषचन्द्र बोस ने दत्त मजूमदार से कहा कि अपना प्रस्ताव वापस ले ले। प्रस्ताव वापस ले लिया गया और राजेन्द्रप्रसाद नये राष्ट्रपति चुने गये। "कलकत्ते मे गांधीजी के आने के बाद घटनाक्रम जिस तरह चला, उससे किसी के मन मे सदेह न रह गया कि दक्षिणपथी नेताओ का बहुमत यह दृढ निर्णय करके कलकत्ता पहुँचा था कि राष्ट्रपति बोस से सहयोग न करेंगे और त्यागपत्र देने के अलावा उनके सामने अन्य विकल्प न रहने दिया जायेगा।" यह बात बिलकुल सही है। इसीलिए कांग्रेसी सविधान के दायरे के भीतर रहकर दांव लगाने से दक्षिणपंथियो को सघर्ष की राह पर चलने के लिए मजबूर न किया जा सकता था। उस सविधान के दायरे से बाहर निकलकर अपनी पहलकदमी के भरोसे जनसघर्ष चलाकर ही उसे मजबूर किया जा सकता था।

दक्षिणपथियों ने अपनी कार्यसमिति बनायी। उसमें एक भी वामपंथी नेता न रखा गया। १९३६ के बाद से कांग्रेस सोशलिस्ट कार्यसमिति मे रहते आये थे। इस बार उनसे बात भी न पूछी गयी। "और सबसे महत्त्वपूर्ण यह बात कि जवाहरलाल ने कार्यसमिति मे शामिल होने से इंकार किया।" जवाहरलाल नेहरू ने युद्ध-सम्बन्धी प्रस्ताव पेश किया। अजय ने लिखा कि इसमें संघर्ष का कोई कार्यक्रम न था। इसका अर्थ यह है कि कार्यसमिति में शामिल न होने पर भी नेहरूजी वैसा ही प्रस्ताव पेश कर रहे थे जैसा कार्यसमिति चाहती थी। नेहरूजी के प्रस्ताव पर एक सशोधन रुद्रदत्त भारद्वाज ने पेश किया। संशोधन का आशय यह था कि सारा देश युद्ध में खीचे जाने का विरोध करे। "कामरेड भारद्वाज ने जिस बात पर जोर नही दिया, वह यह थी कि युद्ध छिड़ने ही वाला है और संकट का सामना करने

के लिए लोगों को अभी से तैयार करना है। संशोधन का पूरा आशय स्पष्ट नहीं किया गया। संशोधन में कहा गया था कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल विधान सभाओं में इस आशय का प्रस्ताव पास करें कि ब्रिटिश सरकार गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया ऐक्ट में जो संशोधन करनेवाली है, वे निन्दनीय हैं और कांग्रेसी सगठन उनका प्रतिक्रियावादी रूप जनता के सामने स्पष्ट करें। जवाहरलाल नेहरू ने आश्वासन दिया कि वह चाहते हैं कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ऐसे प्रस्ताव पास करें और शायद वे करेंगे भी किन्तु प्रस्ताव में यह सब शामिल करना जरूरी नहीं है; वह फालतू बात है। संशोधन वापस ले लिया गया।"

कलकत्ते के ए. आई. सी. सी. अधिवेशन के बाद कांग्रेस का भीतरी संघर्ष बढ़ा। अजय ने लिखा कि बोस का राष्ट्रपति चुना जाना अतिशय महत्व की घटना थी। इसका मतलब था, समझौते की नीति के विरुद्ध, और संघर्ष की नीति के पक्ष में, आम कांग्रेस-सदस्यों ने वोट दिया है। कांग्रेस संविधानवाद की तरफ बढ़ रही थी, किसान सभाओं और मजदूर सभाओं के प्रति शत्रुभाव दिखा रही थी, देशी रियासतों के आन्दोलन में भाग लेने का विरोध करती थी, अहिंसा के नाम पर नागरिक अधिकारों का दमन कर रही थी, वामपन्थ के खिलाफ अभियान चला रही थी। बोस का निर्वाचन इस नीति को बदलने के लिए था। कलकत्ते के अधिवेशन ने परिवर्तन के पक्ष में दिये हुए मतदान को उलट दिया। दक्षिणपन्थी नेताओं ने अपने ही आदमियों को कार्यसमिति में रखा। अजय ने इसका ठीक अर्थ लगाया कि कांग्रेस समझौते की नीति पर चली। "संघर्ष की शक्तियों का उपयोग साम्राज्यवाद से मोलभाव करने के लिए होगा, न कि उस पर, आक्रमण करने के लिए।" अजय ने बिल्कुल सही अर्थ लगाया और यह चेतावनी दी कि अब वामपन्थ के विरुद्ध साम्राज्य-विरोधी संघर्ष का समर्थन करनेवालों के विरुद्ध तेज अभियान चालू किया जायेगा। किन्तु उन्हें आशा थी कि ज्वार को अब भी उलटी दिशा में बहाया जा सकता है। बोस और नेहरू कार्यसमिति में नहीं हैं। कांग्रेस के आम सदस्यों से यह समिति दूर जा पड़ी है। सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, बोस, नेहरू और अन्य वामपन्थी मिलकर एक हो जायें, दक्षिणपन्थ से लड़ने के लिए नहीं वरन् समझौते की नीति से लड़ने के लिए, कांग्रेस को ऊपर से नीचे तक जनतान्त्रिक बनाने के लिए, तो कांग्रेस को विघटन से बचाया जा सकता है, संयुक्त राष्ट्रीय नेतृत्व की देखरेख में देशव्यापी संघर्ष चलाने का आधार कायम हो सकता है, और कलकत्ते की पराजय को विजय में बदला जा सकता है।

अजय घोष का विचार अब भी यह था कि समझौते की नीति से लड़ने के लिए दक्षिणपन्थ से लड़ना जरूरी न होगा।

अजय घोष के लेख में कांग्रेसी नेतृत्व की विशेषताएँ बताने के लिए 'अथॉरिटेरियनिज्म' शब्द का व्यवहार हुआ है। हिन्दी में इसे अधिकारवाद कह सकते हैं। तानाशाही शब्द का भाव कुछ अधिक कठोर है; इस शब्द का भाव कुछ कम कठोर है। बात एक ही है। अजय के अनुसार कांग्रेस के दक्षिणपन्थी नेतृत्व में अधिकारवादी प्रवृत्ति बढ़ रही थी। इस लेख से पहले इस शब्द का प्रयोग ऐम. एन. राय ने किया था। ३० अप्रैल १९३९ वाले अंक में राय की आलोचना

करते हुए रणदिवे ने जो लेख लिखा था, उसमे राय का एक लेख उद्धृत है, जिसमें कांग्रेस की अथौरिटेरियन लीडरशिप की वात कही गयी है। रणदिवे ने राय के मत का इस तरह उल्लेख किया है मानो वे उससे सहमत नही है। राय ने काग्रेसी नेताओं को अधिकारवादी वताया और अजय ने वही वात दोहरायी, इसी कारण अजय की बात गलत नही हो जाती। यह बात मैंने यहाँ इसलिए कही कि कभी-कभी मार्क्सवादी इस तरह का तर्क पेश करते है: तुमने जो वात कही उसे अमुक व्यक्ति भी कहता है या अमुक सगठन भी कहता है। वह व्यक्ति और सगठन बदनाम है, इसलिए तुम्हारी वात भी गलत होगी। वास्तव मे राय का उद्देश्य दूसरा था। वह देशी पूंजीवाद को प्रतिक्रियावादी मानते थे, उसकी साम्राज्य-विरोधी भूमिका अस्वीकार करते थे। इसके विपरीत कम्युनिस्ट उसे अधिकार-वादी कहते हुए भी उसके साथ सयुक्त मोर्चा वनाने को तैयार थे। इस शब्द का उल्लेख मैंने अन्य कारण से भी किया है। आपातकालीन स्थिति के घोषित किये जाने के वाद, और उसकी समाप्ति के वाद भी, कुछ कम्युनिस्ट नेता इस शब्द का प्रयोग इन्दिरा काग्रेस और इन्दिरा गाधी के लिए करते रहे है। काग्रेस मे यह कोई नयी प्रवृत्ति न थी, १९३९ मे जब केन्द्रीय सत्ता काग्रेस के हाथ मे न थी, तब भी यह प्रवृत्ति उसमे थी। वास्तव मे पूंजीवाद या पूंजीवादी जनतन्त्र के विकास की कोई ऐसी मजिल नही रही जिसमें यह तानाशाही रुझान न रहा हो। किन्तु रुझान होना एक वात है, फासिस्ट तानाशाही का कायम हो जाना दूसरी बात है। दोनों मे भेद करना जरूरी है।

११ जून १९३९ के 'नैशनल फ्रट' मे रायवाद का खण्डन करते हुए रणदिवे ने दूसरा लेख लिखा। 'मार्क्सवाद से खुला विलगाव' शीर्षक लेख में ठोस उदाहरण देते हुए रणदिवे ने वताया कि अपने उग्रपन्थी वातूनीपन के बावजूद खास मुद्दों पर ऐम. एन. राय दक्षिणपन्थियों के सामने आत्मसमर्पण कर सकते है। रणदिवे का मत था कि पिछले वर्षो मे दक्षिणपन्थी नेतृत्व ने काग्रेस के झण्डे के नीचे व्यापक राष्ट्रीय एकता कायम करने और मजदूर वर्ग को अपनी ओर करने में वरावर वाधा डाली है। काग्रेस ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र मे मजदूर वर्ग की आर्थिक माँगें दर्ज कर ली किन्तु इससे दक्षिणपन्थ की नीति नही वदल गयी। "मजदूरों के वढ़ते हुए संघर्षों की ओर उसने टेढी निगाह से देखा और अवसर शत्रुभाव अपनाया। इस रुख का तर्कसगत नतीजा ७ नवम्बर को वम्बई के मजदूरों पर गोली चलाया जाना था। चिराला और अन्य कई स्थानों मे गोलीवार, कारखाने के भीतर मजदूरों के काम रोकने पर पावन्दी लगाना, क्रिमिनल ला अमेन्डमेण्ट को अहमदावाद के हड़तालियों पर लागू करना, शोलापुर के नेताओं को जेल भेजना और हड़तालें रोकने के लिए वार-वार दफा-१४४ लागू करना" इस वात के उदाहरण है। रणदिवे ने जो मिसालें दी है, उनसे वहुत अच्छी तरह जाहिर हो जाता है कि पूंजीपति-मजदूर-सघर्ष मे काग्रेसी मन्त्रिमण्डल किस तरह पूंजी-पतियों का साथ दे रहे थे। यह सारी मजदूर-विरोधी नीति गांधीवादी नीति से जुड़ी हुई थी। हड़तालें न करो, लगानवन्दी का आन्दोलन न चलाओ, रियासतों मे राजाओं से न लड़ो, अंग्रेज़ों के वनाये कानून के अनुसार सविधानवादी तरीके

आवश्यक था। ऐसे स्वतन्त्र संगठनों के जरिये ही कांग्रेस के पूंजीवादी नेतृत्व को संघर्ष की राह पर चलने के लिए विवश किया जा सकता था। स्वाधीनता-संग्राम मे किसानो की भूमिका को लेकर रणदिवे ने ये महत्वपूर्ण बातें कही : "राष्ट्रीय संघर्ष ने देशव्यापी आन्दोलन का रूप लिया; इससे पहले ही किसानों का असन्तोष राष्ट्रीय राजनीति के ढाँचे से बाहर व्यक्त हुआ। असहयोग आन्दोलन मे ऐसा लगा कि दोनों मिलकर एक हो गये है। किसान कांग्रेस के झण्डे के नीचे आगे बढ़े। फिर भी राष्ट्रीय संघर्ष ने किसानों की भाषा का व्यवहार करना नही सीखा [अर्थात् किसानो की माँगें राष्ट्रीय आन्दोलन की माँगें नही बनी, किसान-संघर्ष के तरीके राष्ट्रीय आन्दोलन के तरीके नही बने।] १९३० का संघर्ष भी किसान-समुदाय से घुलमिल न पाया; राष्ट्रीय कार्यक्रम मे किसानों की थोड़ी-सी माँगें शामिल की गयी। कुछ दिन तक आत्मसमर्पणवादी नेताओं के पीछे किसान चलते रहे किन्तु जब लगानबन्दी आन्दोलन ने गाधी-इरविन समझौते को उलट दिया, तब किसान इस नेतृत्व को प्रायः छोड़कर अलग हो गये। यद्यपि उनके नेता कुछ कांग्रेसजन थे, फिर भी किसानों का असन्तोष समझौतावादी नीति का तंग चौखटा तोड़कर उसके बाहर फूट पडा। आगे जो कुछ हुआ, उसकी तैयारी इन घटनाओं से हुई। कुछ कांग्रेसजन किसानों की ओर मुडे और राष्ट्रीय संग्राम को समृद्ध करने के लिए उनका संगठन करने लगे। वे जानते थे कि भविष्य में कांग्रेस को, और राष्ट्रीय संग्राम को, ध्वस्त होने से शक्तिशाली किसान आन्दोलन ही बचा सकता है। किसानो के असन्तोष को आत्मसमर्पणवादी नेता दिशा-निर्देश न दे पाये। इसी के फलस्वरूप किसान सभाओं का अभ्युदय ऐतिहासिक रूप से निर्धारित हुआ। इस समय किसान सभाओं का अस्तित्व इस बात की सबसे बड़ी गारण्टी है कि राष्ट्रीय संग्राम पर किसानो के असंतोष की छाप रहेगी।"

यहाँ जो बातें किसानों के अपने-आप फूट पडनेवाले आन्दोलन और कांग्रेस से उसके सम्बन्ध के बारे में कही गयी है, वे राजनीति के अलावा साहित्य के विद्यार्थियों के लिए भी महत्वपूर्ण है। किसान आन्दोलन का एक प्रमुख क्षेत्र हिन्दी-भाषी प्रदेश था। उस समय की स्थिति को ध्यान मे रखने से ही प्रेमचन्द के कथा-साहित्य को समझने मे सुविधा हो सकती है। कांग्रेस-संचालित आन्दोलन बाद का है, किसानों का स्वतः फूट पड़नेवाला आन्दोलन पहले का है; इसलिए किसानो की निष्क्रियता के बारे में जो धारणा कुछ मार्क्सवादियों में प्रचलित रही है, वह मिथ्या सिद्ध होती है। किसान आन्दोलन को नयी गति देना तो दूर, पूंजीवादी नेता भरसक प्रयत्न करते रहे कि स्वाधीनता आन्दोलन को उससे दूर रखें। जो पूंजीवादी नेता समझौते की राह पर चल रहे थे, उनको बाध्य करने का, क्रान्तिकारी नीति की ओर उन्हें ठेलने का मुख्य साधन किसान सभाएँ थी। ऐम. एन. राय ने किसान सभाओं का विरोध करके सिद्ध कर दिया कि वह भारतीय क्रान्ति का विकासमान रूप समझने मे असमर्थ हैं। यह बात आकस्मिक नहीं थी कि दक्षिणपन्थी नेता निरन्तर किसान सभाओं की आलोचना कर रहे थे। रणदिवे ने लिखा, "राष्ट्रीय नेताओं की सुधारवादी प्रवृत्तियों के कारण किसान सभाओं का जन्म हुआ। दक्षिणपंथ उन पर लगातार प्रहार करता रहा है। वह इस बात से

क्षुब्ध है कि उसका मुख्य जन-आधार उसके पैरो तले से निकलता जा रहा है। वामपन्थियों के नेतृत्व मे किसान सभाएँ राष्ट्रीय सुधारवाद की जड पर प्रहार कर रही हैं। किन्तु इस प्रश्न पर भी 'मार्क्सवादी' राय दक्षिणपन्थियों के साथ कदम मिलाकर आगे बढ़ते है और किसान सभाओ पर धावा बोलने की नीति का समर्थन करते है। इस प्रकार हम देखते है कि एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर रायवाद व्यवहार में गाधीवाद के सामने घुटने टेकता है। गाधीवाद के विरुद्ध लडने की घोषणा करने पर भी मजदूर-किसान मोर्चो पर राय की स्थिति वही है जो गाधीवाद की है।" गाधीवाद के विरुद्ध जेहाद छेडने पर भी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर राय की नीति गाधीवाद के अनुरूप सिद्ध होती है। क्रान्तिकारी सघर्षो के समर्थन की बात कहने पर भी अनुशासन मानने के नाम पर रायवादी लोग मैदान से भाग खडे होते हैं। किसान सभाओ का विरोध करके वे निकट भविष्य मे किसानों का सगठन असम्भव बना देते हैं जबकि "किसान सभायें प्रभावशाली ढग से राष्ट्रीय सुधारवाद के मुख्य आधार को समाप्त कर रही हैं।"

इस लेख में रणदिवे ने कई जगह 'सुधारवाद' शब्द का प्रयोग किया है। जिस सुधारवाद की ओर वह सकेत कर रहे है, वह पूंजीवादी नेताओ का है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि जो वामपन्थी कार्यकर्ता इन नेताओ का अनुसरण करेगा, उनसे समझौता करने के लिए किसानो और मजदूरो के संघर्ष को कमजोर करेगा, वह भी सुधारवादी होगा। आगे चलकर सुधारवाद को लेकर कम्युनिस्ट पार्टी मे जो सघर्ष हुआ, उसका पूर्वाभास इस लेख मे है।

सुभाषचन्द्र बोस ने राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र देने के बाद जब फारवर्ड ब्लाक संगठित किया तो यह स्पष्ट हो गया कि काग्रेस के भीतर वामपन्थी विचारधारा के लोगों का काफी बड़ा समुदाय इसमे शामिल हुआ है। यह रोचक तथ्य है कि फारवर्ड ब्लाक की आलोचना एक ओर नये राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने की और दूसरी ओर ऐम. एन. राय ने। वामपन्थी एकता के प्रश्न को लेकर सोमनाथ लाहिडी ने २१ मई १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' मे फारवर्ड ब्लाक पर एक लेख लिखा। कलकत्ते से 'फारवर्ड' नाम का एक साप्ताहिक पत्र भी निकलता था। इसके सम्पादक ऐम. ऐन. राय ने उसी पत्र मे लिखा कि फारवर्ड ब्लाक स्वाधीनता के क्रान्तिकारी मार्ग मे रुकावट बनेगा। फारवर्ड ब्लाक के प्रति कांग्रेस सोशलिस्टों का रवैया भी विरोध का था। उनके मुखपत्र 'कांग्रेस सोशलिस्ट' ने ७ मई के अंक में लिखा था कि विचारधारा के आधार के बिना कोई भी ब्लाक बनाया जायेगा तो उससे विचारों में उलझाव और कार्यवाही मे अराजकता फैलेगी। विचारधारा-वाले आधार के बिना केवल राजनीतिक दुस्साहसिकता का जन्म होगा। लाहिड़ी ने आश्चर्य प्रकट किया कि काग्रेस की कार्यसमिति मे बोस को अलग रखते हुए दो-तीन वामपन्थी शामिल किये गये, इसे 'कांग्रेस सोशलिस्ट' ने सयुक्त नेतृत्ववाली नीति की विजय माना। कलकत्ते के बाद यह आवश्यक हो गया था कि केवल एक पार्टी के भीतर नही, अनेक पार्टियों को मिलाकर वामपन्थी एकता दृढ़ की जाये। कम्युनिस्टों, सोशलिस्टो और गैरपार्टी वामपन्थियों के बीच सहयोग-सम्पर्क कायम था। लाहिड़ी ने बताया कि ये गैरपार्टी वामपन्थी लोग ही फारवर्ड ब्लाक मे

सिमटकर आये है। जयप्रकाश नारायण ने अपने वक्तव्य में कहा कि वह फारवर्ड ब्लाक मे शामिल न होगे किन्तु उससे सहयोग करेंगे। लाहिड़ी ने इस पर टिप्पणी की कि वामपन्थी गुट के रूप मे फारवर्ड ब्लाक को मान्यता देनी चाहिये और उससे ऐसा संगठनात्मक सम्पर्क कायम करना चाहिये जिससे कि सोशलिस्ट उसे प्रभावित कर सकें और स्वय भी उससे प्रभावित हों। लाहिड़ी ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि फारवर्ड ब्लाक को अपने उद्देश्य में सफल होने के लिए किसान-मज़दूर सभाओं के साथ मिलकर काम करना होगा। इसके लिए सभी वामपन्थी एक सम्मेलन मे अपनी नीति निर्धारित करें तो वामपन्थी एकता दृढ़ करने मे सहायता मिलेगी। सोमनाथ लाहिड़ी के लेख से जिस बात का संकेत मिलता है, वह यह है कि वामपन्थी एकता अब राष्ट्रीय आन्दोलन की सबसे बड़ी आवश्यकता बन गयी है। इसके बिना साम्राज्यविरोधी मोर्चे में एकता कायम नही की जा सकती।

११ जून १६३६ के 'नैशनल फ्रण्ट' में अजयकुमार घोष ने रियासती जनता के संघर्ष का विवेचन करते हुए दक्षिणपन्थी नेताओं की तीखी आलोचना की। इन नेताओ ने रियासतों मे सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया था। गांधीजी ने सलाह दी थी कि रियासतों की प्रजा राजाओं से सम्मानपूर्ण समझौते का प्रयत्न करे। अजय घोष ने सकेत किया कि साम्राज्यवाद का मुख्य आधार देशी रियासतें हैं, वे प्रतिक्रियावाद का गढ़ है। वहाँ जन-आन्दोलन कमज़ोर होता है, तो इसका परिणाम यह होगा कि युद्ध के हित मे साम्राज्यवाद इन रियासतों का उपयोग करेगा। कुछ कांग्रेस-समितियाँ ऐसी थी जो इस समझौतावादी नीति पर चलने को तैयार नही थी। अजय ने मैसूर की कांग्रेस समिति की प्रशंसा की जिसने सघर्ष चलाने की बात कही थी। अजय ने आह्वान किया कि सारे देश को मैसूर की समिति का समर्थन करना चाहिये।

१८ जून १६३६ के 'नैशनल फ्रण्ट' मे रणदिवे ने दक्षिणपन्थी नेताओं की आलोचना की। कांग्रेस के संविधान मे सुधार करने के लिए इन लोगों ने एक उपसमिति बनायी थी। उसका उद्देश्य था कांग्रेस के भीतर से वामपन्थियों को निकालना। रणदिवे ने लिखा कि दक्षिणपन्थ चाहता है कि एक ही बार मे वह कांग्रेस को आम जनता से बाँधनेवाली कड़ियों से अलग कर दे। इन कड़ियों से उसे असुविधा होती है क्योंकि वे गैर-संवैधानिक सघर्ष की आग जलाये रहती हैं और मन्त्रियों को कांग्रेस के नाम पर किये हुए वादे भूलने नही देती। रणदिवे ने ए. आई. सी. सी. के सदस्यों से अपील की, वे इस नये प्रयत्न का विरोध करें और राष्ट्रीय संघर्ष को ध्वस्त होने से बचायें। इसी अंक में वामपक्षी एकता पर पूरनचन्द जोशी का लेख प्रकाशित हुआ है। जोशी ने दक्षिणपन्थ के विरुद्ध तेज़ी से बढ़ते हुए असन्तोष की चर्चा की। केवल वामपन्थी नही वरन् वे लोग भी जो कल तक दक्षिणपन्थ के प्रभाव मे थे, अब वामपन्थी बन रहे थे। इन लोगों की धारणा यह बनती जा रही थी कि साम्राज्यवाद से लड़ने के बदले दक्षिणपन्थ हमसे लड़ रहा है। इसलिए साम्राज्यविरोधी लड़ाई का रास्ता साफ करने के लिए पहले इनसे निपट लिया जाये। जोशी के अनुसार राष्ट्रीय मोर्चे के भीतर आपसी लड़ाई का वातावरण तैयार हो गया था। "वामपन्थी दल और गुट विभाजित हैं और

इन कारण [illegible] ने [illegible] और [illegible] हैं। वे साधारण नारों के [illegible] नहीं कर सकते। अगस्त के १९[illegible] अगस्त में ४९ [illegible] करने के अवसर हैं। इस प्रकार [illegible] के साथ उनके [illegible] के सम्बन्ध को [illegible] कि उनके दक्षिणपन्थ ने [illegible] का नारा [illegible] और [illegible] हैं। सितम्बर १९३९ में सी. एस. आई. सी. सी. के [illegible] अधिवेशन के समय जोशी के अनुसार वामपन्थी एकता को सुदृढ़ करने पर जोर दिया गया था। किन्तु [illegible] कि वामपन्थी एकता को सुदृढ़ करने में कांग्रेस के [illegible] रहेंगे। उस समय और बाद को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कई नेताओं का कहना था कि वामपन्थ का [illegible] 'विकल्प' [illegible] होगा, दक्षिणपन्थ [illegible] आक्रमण करेगा; यह वामपन्थ अनिवार्य रूप से दक्षिणपन्थ-विरोधी संयुक्त [illegible] बनेगा।' त्रिपुरी और बाद की घटनाओं से सिद्ध हुआ कि दक्षिणपन्थ [illegible] आक्रमण [illegible] हुए है और [illegible] वामपन्थ कांग्रेसजनों के बहुमत को [illegible] करने में असमर्थ है।

फारवर्ड ब्लाक के अभ्युदय का कारण बताते हुए जोशी ने लिखा, "संयुक्त वामपक्ष को एकजुट करने की आवश्यकता पर सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों की एक राय न हो सकी। इससे फारवर्ड ब्लाक का अभ्युदय हुआ। यह [illegible] राष्ट्रवादियों का संगठित होने का प्रयत्न था, सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों के साथ चलने बढ़ने का प्रयत्न था। हमने फारवर्ड ब्लाक का स्वागत किया [illegible] उसमें वामपन्थी राष्ट्रवादियों के एकजुट होने की इच्छा व्यक्त हुई है।" फारवर्ड ब्लाक ने जो कार्यक्रम रखा, जोशी को वह मान्य था, किन्तु कुछ लोग कांग्रेस के विभाजन की बात कर रहे थे। जोशी के अनुसार वामपन्थ की एकता इसलिए जरूरी थी कि स्वयं कांग्रेस की एकता की रक्षा की जाये। "आज केवल कांग्रेस साम्राज्य-विरोधी जनान्दोलन का साधन बन सकती है। कांग्रेस को विभाजित करने का अर्थ है आत्महत्या, साम्राज्यविरोधी संघर्ष को त्यागना। कांग्रेस को विभाजित करने और वामपक्ष को निकालने का प्रयत्न दक्षिणपन्थ कर रहा है। यदि वामपन्थ उसी राह पर चलता है तो राष्ट्रीय मोर्चे के भीतर लड़ाई छिड़ जायेगी और उसका विघटन होगा।"

जोशी ने यहाँ कांग्रेस से बाहर किसान सभाओं की भूमिका पर जोर नहीं दिया; कांग्रेस को एकमात्र संघर्ष का साधन माना है। दक्षिणपन्थ उसे विभाजित करने पर तुला हुआ था। इस विभाजन को रोकने का कारगर अस्त्र थीं किसान सभाएँ। जोशी की नीति का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि दक्षिणपन्थ कांग्रेस पर हावी रहा और उसने वामपन्थ को निष्क्रिय बना दिया। मजे की बात है कि फारवर्ड ब्लाक के कुछ नेता वैकल्पिक नेतृत्व की बात कह रहे थे। यह बात एम. एन. राय ने भी कही थी। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये नेता वामवादी हो गये थे। फारवर्ड ब्लाक के ये नेता कांग्रेस हाईकमान को फासिस्ट भी कहते थे। आपात्कालीन स्थिति के समय कांग्रेसी नेताओं को कुछ कम्युनिस्टों ने भी फासिस्ट कहा था। तानाशाही रुझान कांग्रेसी नेताओं में था, इसमें सन्देह नहीं। जोशी का

कहना था कि ऐसे बयानों में वर्तमान नेताओं के प्रति असन्तोष झलकता है पर इतना ही काफी नहीं है। गतिरोध को दूर करने का तरीका यह नहीं है कि दक्षिण-पन्थ पर जवाबी हमला किया जाये। तरीका यह है कि वामपन्थ स्वयं एकजुट हो और फिर अपने साथ बहुसंख्यक कांग्रेसजनों को साथ लेकर चले और विघटन तथा आत्मसमर्पण की नीति को परास्त करे। जोशी के लिए सारा संघर्ष कांग्रेस के भीतर है, रणदिवे के लिए सघर्ष का मुख्य मैदान कांग्रेस के बाहर है। कार्य-नीति को लेकर कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में तीव्र मतभेद था, यह 'नैशनल फ्रण्ट' मे छपे हुए लेखो से ही प्रकट हो जाता है।

जोशी ने बताया कि परिस्थिति की मांग है कि वैकल्पिक नेतृत्व की बात करने के बदले सयुक्त नेतृत्व पर बल दिया जाये। जोशी ने यह भी कहा, "जिन लोगो के विचार से कांग्रेस की एकता बनाये रखने के लिए संघर्ष करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य नहीं है, उनके साथ हम एकता कायम नहीं कर सकते। कांग्रेस की एकता का मतलब है संयुक्त नेतृत्व का सिद्धान्त मानना और उसके लिए काम करना। इस समय एकपक्षी नेतृत्व है। न इसकी जरूरत है और न वैकल्पिक नेतृत्व की।" कांग्रेस की एकता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताना इस समय सही नहीं था। सर्वाधिक महत्वपूर्ण था साम्राज्यविरोधी सग्राम। इस संग्राम को चलाने के लिए कांग्रेस एक साधन थी, वह स्वय कोई साध्य नही थी। दक्षिणपन्थी नेतृत्व को निष्क्रिय बनाने का परिणाम कांग्रेस का विघटन हो, यह अनिवार्य नहीं था। किन्हीं परिस्थितियो मे यह विघटन आवश्यक भी हो सकता था।

जोशी ने आगे बताया, "अभी तक कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेतृत्व का एक महत्वपूर्ण अश फारवर्ड ब्लाक का कटु विरोध करता आया था। अब कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी इस बात पर सहमत हो गयी है कि वामपन्थी एकता को सुदृढ करने की नीति निर्धारित करने के लिए एक वामपन्थी सम्मेलन बुलाया जाये और एक सम्पर्क-समिति बनायी जाये। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने कामरेड जयप्रकाश के और मेरे सयुक्त वक्तव्य द्वारा वामपन्थी एकता की ओर बड़ा कदम उठाया है। हम कम्युनिस्टों ने फारवर्ड ब्लाक के नेताओं से कहा था कि वे इस सयुक्त सोशलिस्ट पहल पर बातचीत करें किन्तु दुर्भाग्य से उन्होंने स्वीकार नहीं किया।" (जहाँ तक नेताओं का सम्बन्ध है, वामपन्थी एकता के मार्ग में रुकावटें साफ दिखायी दे रही थी। ऐसी स्थिति मे जनता के क्रान्तिकारी सघर्ष ही वामपन्थी एकता को सुदृढ़ करने मे सहायता दे सकते थे।)

२५ जून १६३६ के 'नैशनल फ्रंट' मे वामपन्थी नेताओं के एकता-प्रयासों का विवरण छपा। बम्बई मे फारवर्ड ब्लाक का सम्मेलन होने जा रहा था। उस समय वामपन्थी नेताओं ने आपस मे एकता के बारे में बातचीत चलायी। एक समस्या यह थी कि वामपन्थी संगठन का रूप क्या हो। सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट यह प्रस्ताव कर रहे थे कि एक अखिल भारतीय सम्पर्क समिति बनायी जाये और ऐसी ही समितियाँ प्रान्तों और जिलो मे बनायी जायें। फारवर्ड ब्लाक के नेताओं का कहना था कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट फारवर्ड ब्लाक मे शामिल हो जायें, वे आपस में सहमति से एक सामान्य कार्यक्रम बनायें, काम करते समय बहुमत का

निर्णय माना जाये। इस पर सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों का कहना यह था कि इस प्रकार फारवर्ड ब्लाक एक नयी वामपन्थी पार्टी बन जायेगा जिसका आधार होगा वामपन्थी राष्ट्रवाद। उनकी पार्टियो का आधार है समाजवाद और वे अपनी पार्टियां खत्म करने को तैयार नहीं हैं।

लेख मे बताया गया है कि इस परिस्थिति से निकलने के लिए सोशलिस्टों और कम्युनिस्टो ने कुछ अन्य प्रस्ताव रखे। एक प्रस्ताव यह भी था कि कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट और रायवादी लोग पार्टियो की हैसियत से शामिल होगे। कांग्रेस समितियों के निर्वाचित सदस्य निजी हैसियत से शामिल होंगे।

## ४. राष्ट्रीय आन्दोलन और श्रमिक वर्ग

कांग्रेस के साथ कम्युनिस्ट पार्टी के सम्बन्ध किस तरह के थे और किस तरह के होने चाहिए, इसका अच्छा उदाहरण कानपुर के मजदूर-आन्दोलन से मिलता है। उत्तरप्रदेश मे (उस समय के सयुक्त प्रान्त मे) कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने के बाद मजदूरों की लम्बी हड़ताल चली। इसमे कांग्रेस जनो, कम्युनिस्टो और सोशलिस्टो ने मिलकर काम किया। यदि मजदूर-आन्दोलन मे ऐसा व्यापक सयुक्त मोर्चा बन सकता था तो स्पष्ट ही साम्राज्यवाद के विरुद्ध भी ऐसा ही मोर्चा बन सकता था। कानपुर की हड़ताल मे कम्युनिस्ट पार्टी मे पूरनचन्द जोशी का नेतृत्व दृढ हुआ। सितम्बर १९३८ के 'न्यू एज' (मासिक) मे कानपुर पर पूरनचन्द जोशी का लेख प्रकाशित हुआ जिसमे सारे देश के श्रमिक आन्दोलन के लिए कानपुर के मजदूर आन्दोलन का महत्व स्वीकार किया गया।

१९३४ से कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट कानपुर के मजदूरों मे साथ-साथ काम करते रहे थे। इससे मजदूर-सभा मजबूत हुई। मजदूर कार्यकर्ताओं को शिक्षित करने की ओर कम्युनिस्टों ने विशेष ध्यान दिया। अंग्रेज सरकार ही ने नहीं, वरन् मिलमालिकों ने भी मजदूर-सभा की प्रगति को रोकने की भरपूर कोशिश की। इस समय लासतौर मे मुस्लिम लीग मजदूरो मे फूट डालने की कोशिश कर रही थी। लीग का प्रचार यह था कि मजदूर-सभा हिन्दू सगठन है और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल की कठपुतली है। मजदूरों ने अपना स्वयसेवक दल बनवाया। जोशी के अनुसार दो हजार स्वयंसेवकों मे साठ फीसदी मुसलमान थे। मुस्लिम लीग के प्रचार का यह अच्छा जवाब था। इससे यह सबक सीखा जा सकता था कि मुस्लिम लीग के प्रचार के बावजूद जैसे मजदूरो की हड़ताल चलायी जा सकती है, वैसे ही लीग के विरोध के बावजूद आजादी की लड़ाई चलाई जा सकती है। यह
[illegible] ो के लिए सबसे आसान
[illegible] न भारतीय नेता बनाने मे
कानपुर का बहुत बड़ा हाथ था।

मजदूरों की पहली हड़ताल १९३७ मे हुई और एक हफ्ता चली। दूसरी हड़ताल १९३८ मे हुई और ५० दिन चली। कानपुर कांग्रेस के अध्यक्ष बालकृष्ण शर्मा ने ऐलान किया था कि भुखमरी के कारण कोई भी मजदूर काम पर वापस न जायेगा। सन् ३८ वाली आम हड़ताल शुरू होने के दो हफ्ते बाद मजदूरों ने

भोजन-सामग्री बाँटी जाने लगी। जोशी ने लिखा है कि दो हफ्ते तो मजदूर अप ही साधनों से काट लेते हैं लेकिन मुस्लिम लीग पिछड़े हुए मज़दूरों को भड़का रह थी कि जल्दी मदद माँगें जिससे मजदूर-सभा बदनाम हो। शहर कांग्रेस कमेटी अपनी हर शाखा के लिए तय कर दिया कि वह कितना अन्न इकट्ठा करेगी। छोटे छोटे जत्थे बनाकर कांग्रेसी लोगों ने घर-घर जाकर सहायता-सामग्री एकत्रि की। जोशी ने लिखा है, "उन्होंने सहायता सामग्री (रिलीफ फण्ड) ही इकट्ठा नहीं किया वरन् फेरी लगाते समय लोगों को हड़ताल का राजनीतिक महत्व भी समझाया। केवल हड़तालियों की फौलादी एकता से नहीं वरन् इन कांग्रेसियों के जत्थों द्वारा मेहनत से किये हुए प्रचार के कारण भी हड़ताल के प्रति सारे शहर की सहानुभूति हो गयी।"

प्रान्तीय कांग्रेस ने सभी कांग्रेस समितियों से हड़ताल का समर्थन करने को कहा। हड़तालियों की सहायता के लिए उसने खुद दो हज़ार रुपये दिये। कानपुर में सहायता का काम कांग्रेसजनों के हाथ में था। १२ महीने के भीतर कानपुर में दो सफल आम हड़तालें हुईं। जोशी ने लिखा कि लोग अब कानपुर को प्रभावशाली मजदूर-सभाई केन्द्र, संयुक्त आन्दोलन के मोर्चे की अगली चौकी, काम करने के लिए अपना आदर्श (माडल) मानने लगे। इसके साथ जोशी ने यह भी लिखा कि बालकृष्ण शर्मा जैसे लोग कम्युनिस्टों का सम्मान करते हैं, फिर भी कांग्रेस के प्रति कम्युनिस्टों की वफादारी को वे शक की निगाह से देखते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि संयुक्त मोर्चा मजबूत करने के लिए कम्युनिस्टों को मुख्यतः अपनी स्वतन्त्र कार्यवाही का भरोसा करना था।

जोशी के लेख के साथ एक सम्पादकीय टिप्पणी भी छपी थी। उसमें बताया गया था, "साम्राज्यवाद और निहित स्वार्थ सबसे ज्यादा जिस बात से डरते हैं, वह कांग्रेस और मजदूर वर्ग की एकता है, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल और मजदूर-सभा की एकता है।" यहाँ जिस संयुक्त मोर्चे की कल्पना की गयी है, उसमें वामपन्थी कांग्रेसजन ही नहीं, दक्षिणपन्थी कांग्रेसजन और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल भी शामिल हैं। जो लोग मन्त्रिमण्डलों में थे, वे संघर्ष की राह छोड़कर सुलह-समझौते के द्वारा आज़ादी पाने का सपना देख रहे थे। उक्त टिप्पणी में यह भी कहा गया है कि कांग्रेस सोशलिस्टों ने कम्युनिस्टों पर यह लांछन लगाया है कि वे मुस्लिम लीग से मिले हुए हैं। इससे साबित हुआ कि संयुक्त-मोर्चे में सन्देह की कई दरारें थीं। मजदूरों में धैर्यपूर्वक काम करके ही कम्युनिस्ट एक लड़ाकू और प्रभावशाली मोर्चा बना सकते थे।

कानपुर की कांग्रेस पर गणेशशंकर विद्यार्थी की छाप थी। उन्होंने मजदूर-सभा के निर्माण में पहल की थी। राजनीति और साहित्य में बालकृष्ण शर्मा उनके सहयोगी थे। १९२४ में 'प्रभा' पत्रिका के अनेक अंकों में रासबिहारी बोस आदि क्रान्तिकारियों के चित्र छापकर, क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बन्धित सामग्री प्रकाशित करके उन्होंने अपने वामपन्थी रुझान का परिचय दिया था। संयुक्त-प्रान्त के सबसे प्रभावशाली नेता जवाहरलाल नेहरू ने १९३६ में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बनाने का विरोध किया था। जिस कानून के मातहत मन्त्रिमण्डल बने,

उसे काला कानून कहा जाता था। कांग्रेस में जो प्रमुख सुधारवादी थे, वे मन्त्रि-मण्डल बनाने के प्रबल समर्थक थे। जिस संयुक्त मोर्चे में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को शामिल किया गया था, उसका टूटना लाजमी था। उसे अटूट रखने का मतलब था सुधारवादियों का पिछलगुआ बनकर स्वाधीनता की लड़ाई को कमजोर करना।

दूसरा महायुद्ध शुरू होने के पहले तक कानपुर में कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी के सम्बन्ध अच्छे थे। ११ जून १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' में कम्युनिस्ट पार्टी ने कानपुर के सूती मिल मजदूरों पर बालकृष्ण शर्मा का लेख छापा। इस लेख के साथ एक सम्पादकीय टिप्पणी भी प्रकाशित है। उसमें कहा गया है कि कांग्रेस और मजदूरवर्ग की एकता के विचार से लोग उचित ही कानपुर को आदर्श मानते हैं। इसका काफी श्रेय शर्माजी को और उनके साथी कार्यकर्ताओं को है। टिप्पणी में यह बात सही कही गयी है। किन्तु शर्माजी के इस लेख से ही यह बात स्पष्ट होती है कि संघर्ष के आगे बढ़ने पर या तो वह अपनी नीति बदलेंगे, या न बदलेंगे तो मन्त्रिमण्डल से टक्कर होगी। बालकृष्ण शर्मा के पक्ष में यह उल्लेखनीय है कि वह कभी किसी मन्त्रिमण्डल में नहीं लिये गये, न सन् ४७ से पहले लखनऊ के मन्त्रिमण्डल में और न सन् ४७ के बाद दिल्ली के मन्त्रिमण्डल में।

अपने लेख में कानपुर कांग्रेस के अध्यक्ष बालकृष्ण शर्मा ने बताया है कि वह मई १९३९ में अन्य मजदूर नेताओं के साथ प्रान्त के मुख्यमन्त्री तथा उद्योगमन्त्री से मिले। उन्होंने विस्तार से मन्त्रियों को अपनी बात समझायी और मन्त्रियों ने धैर्य से उनकी बातें सुनीं। बातचीत की पृष्ठभूमि 'नैशनल फ्रंट' के पाठकों के लिए स्पष्ट करते हुए शर्माजी ने बताया कि मई १९३८ की ५० दिन वाली हड़ताल के दौरान समझौते की बातचीत बराबर चलती रही थी। ५०वें दिन लगा कि यह बातचीत टूट जायेगी और संघर्ष को तेज करने के लिए तैयारी होने लगी थी। मुख्यमन्त्री ने कानपुर जाकर बातचीत में स्वयं भाग लिया। इसके फलस्वरूप मिल-मालिकों और मजदूरों के बीच समझौता हुआ और हड़ताल समाप्त हुई। उसके बाद ग्यारह महीने बीत गये। जिन शर्तों पर समझौता हुआ था, मिल-मालिकों ने उनमें एक का भी पालन नहीं किया। एक शर्त यह थी कि मजदूरों को पगार माहवारी हिसाब से दी जायेगी और इसके लिए मजदूरी के २६ दिन पूरे महीने के बराबर माने जायेंगे। मिल-मालिकों ने इस शर्त का उल्लंघन किया। मजदूरों को कितनी पगार मिले, यह तय करने के लिए एक बोर्ड बनेगा जिसमें सरकार, मिलमालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधि होंगे। ग्यारह महीने बीतने पर भी उस बोर्ड के बनने की नौबत न आयी थी। काम की पारी के बारे में नियम बनने थे, वे नहीं बने। मजदूरों की भरती के लिए एक सरकारी लेबर एक्सचेंज नाम की संस्था बननेवाली थी। ऐसी संस्था बने, यह सिद्धान्त सरकार ने माना था पर वह न बनी। लेबर-एक्सचेंज के बनने या न बनने से प्रान्तीय सरकार का सीधा सम्बन्ध था क्योंकि मन्त्रिमण्डल ने स्वीकार किया था कि सरकारी लेबर एक्सचेंज बनेगा। उसके बनानेवाले मिलमालिक नहीं थे, उन्हें उससे केवल सहयोग करना था। मिलमालिकों ने मजदूरों के संगठन को मान्यता नहीं दी यद्यपि सरकार से उसे ऐसी मान्यता प्राप्त हो चुकी थी।

बालकृष्ण शर्मा ने बताया कि पिछली आम हड़ताल के बाद मिलमालिकों ने पूरी कोशिश की कि उनका एका खत्म कर दें। छँटनी या किसी अन्य बहाने से नौ महीने के भीतर उन्होंने एक हजार मजदूरों को बरखास्त कर दिया। ऐसी स्थिति में मजदूरों का उत्तेजित होना स्वाभाविक था और शर्माजी के अनुसार सभा के कार्यकर्ता मजदूरों को काबू रखने में बड़ी कठिनाई अनुभव कर रहे थे। मिलमालिकों ने नये मजदूरों की भर्ती के बारे में जो नीति अपनायी थी, उससे तनाव और बढ़ा था। वे मिस्त्रियों के चमचों को या हड़ताल तोड़नेवाले गुण्डों को भर्ती करते थे। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से भी काम लेते थे। इस नीति से घूसखोरी, चापलूसी और मजदूरसभाविरोधी रवैये का प्रसार हुआ। मजदूरों की बस्तियों में आकर मालिकों की तरफ से गुण्डे मजदूरों को डराते-धमकाते थे। मालिकों ने कम्पनी यूनियन बनाने की भी कोशिश की जो उनकी इच्छानुसार काम करे। पहले उन्होंने सोचा कि मुस्लिम मजदूरसभा बनाई जाये पर इस प्रयत्न में वे सफल न हुए। इसके बाद मजदूरसभा के समानान्तर एक मजदूर यूनियन बनाने का विचार किया पर इसमें भी कामयाब न हुए। तब उन्होंने अपने दलाल अछूत मजदूरों के बीच भेजे और एक दलितवर्ग की मजदूरसभा कायम हुई। इस सारी पैंतरेबाजी से मिलमालिकों का रौब बढ़ा नहीं, उलटा मजदूरों में और भी बेचैनी बढ़ गयी "और सुलह-समझौते की सारी कोशिशें मजाक की चीज बन गयी हैं।"

कानपुर में जो कुछ हुआ, वह बहुत बड़े पैमाने पर सारे भारत में हो रहा था। अंग्रेज स्वाधीनता आन्दोलन में फूट डालने के लिए मुसलमानों और अछूतों के संगठनों को बढ़ावा दे रहे थे। कानपुर के मिलमालिकों ने मजदूर आन्दोलन में फूट डालने के लिए यही नीति अपनायी थी। यदि कानपुर का मजदूर आन्दोलन इस नीति को विफल कर सकता था तो भारत का स्वाधीनता आन्दोलन भी उसे अवश्य विफल कर सकता था, पर यह तभी सम्भव था जब किसानों और मजदूरों के वर्गसंगठन मजबूत हों, वे स्वाधीनता आन्दोलन के आधार बनें और हर तरह के अलगाववादी दाँव-पेंच का काट करें। इसके विपरीत स्वाधीन भारत में पूँजीपतियों ने वे सब हथकण्डे अपनाये जिन्हें वे मजदूर आन्दोलन को दबाने के लिए १९३९ में आजमा चुके थे। इन हथकण्डों में गुण्डों के जरिये मजदूरों को आतंकित करने का स्थान ऊँचा था।

मिलमालिकों ने यह शर्त मानी थी कि मजदूरों के कार्य में कोई तब्दीली होगी तो १५ दिन का नोटिस दिया जायेगा। किन्तु नोटिस दिये बिना ऐसी तब्दीली की गयी। मजदूर पहले जितनी मशीनों पर काम करते थे, उससे ज्यादा मशीनों पर उन्हें काम करने को कहा गया। मिलमालिक पगार में कटौती की तैयारी कर रहे थे। न्यू-विक्टोरिया मिलों और जे. के. जूट मिलों ने लेबर कमिश्नर को सूचना दे दी थी कि पगार में कटौती होगी। एक-आध मिल ने सूचना के बिना ही कटौती कर दी थी। मजदूर सभा इसकी जाँच कर रही थी।

अपने लेख के अन्त में बालकृष्ण शर्मा ने 'नेशनल फ्रंट' के सम्पादक को सम्बोधित करते हुए कहा : आपने हमारे आन्दोलन में बड़ी दिलचस्पी दिखायी है। मैं आपसे सिर्फ यह पूछता हूँ कि वर्तमान समाज-व्यवस्था को ज्यादा हिमाय-

डुलाये बिना हम इस गोरख-धन्धे से बाहर कैसे निकलें ? आप जानते हैं कि मज़दूर मे काम करनेवाले हम लोग उद्योग-धन्धों को तबाह नहीं करना चाहते। हम नह चाहते कि हमारे आदमी भुखमरी और मुसीबतों के शिकार हों। हम अपन सीमाएँ पहचानते है। पूँजीवादी समाज हमारे सामने है। उससे सम्बन्धित सार सीमाओं को ध्यान मे रखना होगा। किन्तु यदि मिलमालिक इसी तरह बदहवार का सबूत देते रहे तो हम बगावत के देव को कब तक काबू मे रख सकेंगे ? (मू शब्दावली है फ्रेंकिस्टाइन मान्सटर; आशय वही है जो यहाँ दिया गया है।)

भारत अभी स्वाधीन नहीं हुआ था किन्तु कुछ कांग्रेसी नेता भी, दूसर महायुद्ध आरम्भ होने से पहले, यह अनुभव करने लगे थे कि मिलमालिक औ मज़दूर की समस्या पूँजीवादी व्यवस्था के रहते हल नहीं हो सकती। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद यह समस्या निरन्तर विकट रूप धारण करती गयी तो इसर आश्चर्य की बात नहीं है। शर्माजी के प्रश्न का आशय यह है कि वर्तमान व्यवस्थ में मज़दूरों को शान्त रखना सम्भव नहीं है। यह व्यवस्था अभी समाप्त नहीं ह सकती क्योंकि मुख्य लड़ाई साम्राज्यवाद से है। किन्तु साम्राज्यवाद से मुक्ति पा के बाद ? मुक्ति के बाद कांग्रेसी नेताओं ने यह नीति अपनायी कि पूँजीवादी व्यवस्थ भी खत्म न हो और समाजवाद का निर्माण भी होता जाये ! नतीजा यह कि ज इस गोरख-धन्धे मे फँसा, वह और भी उलझता चला गया। 'नैशनल फ्रण्ट' वे सम्पादक ने बालकृष्ण शर्मा को उत्तर देते हुए कहा : कानपुर की परम्परा कायम रखो। कांग्रेस-मज़दूर एकता मज़बूत करो। मिल-मालिक अपने उद्देश्य मे सफल न होंगे। संघर्ष कड़ा होगा, पर हमें विश्वास है, कानपुर अपनी ख्याति के अनुसा डटा रहेगा। जनता की संयुक्त शक्ति के आगे मालिकों को झुकना पड़ेगा कांग्रेस विजयी होगी।

'नैशनल फ्रण्ट' के सम्पादक का विश्वास अनुचित नहीं था। जनता की संयुक्त शक्ति के आगे मालिकों को अवश्य झुकना पड़ेगा। किन्तु कांग्रेस विजयी होगी यह आशा तभी प्रकट की जा सकती थी जब कांग्रेसी नेतृत्व पर इन मालिकों क प्रभाव समाप्त हो गया हो। पर ऐसी स्थिति थी नहीं।

२५ जून १६३६ के 'नैशनल फ्रण्ट' मे शर्माजी का एक और लेख छपा इसका सम्बन्ध प्रान्तीय सरकार और हड़तालों से था। कानपुर की मज़दूर-सभा के मन्त्री को प्रान्तीय सरकार के उद्योग-विभाग के सचिव का एक पत्र मिला था। इसमे कहा गया था कि कानपुर का औद्योगिक विकास सारे प्रान्त के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह विकास बराबर होता रहे, इसके लिए जरूरी है कि उद्योग-धन्धों में सामान्य स्थिति सुदृढ़ रहे और समय-समय पर यों ही हलचल न पैदा की जाये। शर्माजी ने इस सूचना के सिलसिले में कहा कि शहर के सभी उत्तरदायी श्रमिक नेता अनुभव करते हैं कि किसी भी विवाद का समाधान पूरी तरह खोज लेने से पहले हड़ताल न करनी चाहिए। कानपुर के मज़दूर नेताओं ने पूरी कोशिश की है कि मज़दूर अचानक हड़ताल न करें। मज़दूर सभा के प्रयत्नों से पिछले दो वर्षों मे कम-से-कम बीस हड़तालें टाली गयी हैं। फिर भी मिलमालिक मज़दूर नेताओं को उग्रपन्थी और गैरजिम्मेदार ठहराते हैं। किन्तु असली सवाल यह है

कि मजदूर अचानक हड़तालें करते क्यों हैं। वे अचानक हड़तालें इसलिए करते हैं कि मिलमालिक अचानक उनकी पगार में कटौती करते है, उनके काम करने की परिस्थितियों में अकस्मात् परिवर्तन करते हैं, मजदूरसभाई कार्यकर्त्ताओं को झूठे आरोप लगाकर बरखास्त करते है, मजदूरों की भर्ती साम्प्रदायिकता के आधार पर करते हैं, मिस्त्री और डिपार्टमेण्ट इन्चार्ज मजदूर सभा को गन्दी-गन्दी गालियाँ देते है, मिलमालिक गुण्डों को मदद देकर साम्प्रदायिकता फैलाने का प्रयत्न करते

भर से समस्या हल न होगी।

सरकार का कहना था कि लेबर जाँच समिति की जो सिफ़ारिशें अभी तक अमान्य रही हैं, वे लागू की जायेंगी। शर्माजी ने इस बात पर ज़ोर दिया कि मजदूरों की भर्ती के बारे में मिलमालिक किसी तरह का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते। लेबर एक्सचेंज के मामले में वे सरकार से सहयोग नहीं करना चाहते।

का मामला हो, वहाँ निजी अधिकारों पर कुछ निश्चित पाबन्दी लगानी ही होगी। अपने लाभ को ध्यान में रखते हुए मालिक अवश्य मजदूर भर्ती करे, लेकिन शरारत करने के लिए वह भर्ती करे, यह अधिकार किसी सुव्यवस्थित समाज में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए यह जरूरी था कि सरकार मजदूरों का भर्ती-केन्द्र (लेबर एक्सचेंज) स्थापित करे और मिलमालिक इसी के माध्यम से मजदूर भर्ती करें। उस समय श्रमसम्बन्धी विवाद निपटाने के बारे में एक कानून बनने वाला था। शर्माजी ने सुझाया कि इस कानून में लेबर एक्सचेंज कायम करने की बात भी हो। लेबर एक्सचेंज को कानूनी हैसियत प्राप्त होगी तो मिलमालिकों को सुधार करने के लिए अभी जो नाक रगड़नी पड़ती है "और तरह-तरह के काम करने पड़ते हैं जिनसे मनुष्यता का नाश करनेवाले साम्प्रदायिक दंगे होते हों", वे सब काम मजदूरों को न करने पड़ेंगे। यहाँ साम्प्रदायिक दंगों का उल्लेख इस बात की ओर इशारा करता है कि मजदूर आन्दोलन को दबाने के लिए, अपने मुनाफे में बढ़ती और मजदूर की पगार में कटौती करने के लिए, मिलमालिक हिन्दू-मुस्लिम दंगों का सहारा ले रहे थे। कानपुर उत्तर भारत में मजदूर आन्दोलन का सबसे बड़ा केन्द्र था। उस केन्द्र को ध्वस्त करने के लिए पूँजीपतियों के पास सबसे बड़ा हथियार था दंगे।

बालकृष्ण शर्मा ने श्रमविवाद-सम्बन्धी कानून के बारे में यह सुझाव भी दिया कि जब मजदूर आवश्यक समझें, तब उन्हें हड़ताल करने का अधिकार होना

...के लिए अवश्य विधान

...तो न करनी चाहिए जो बम्बई सरकार ने की है। उसने सुलह-समझौते की प्रक्रिया को इतना लम्बा बना दिया था कि मजदूर ठीक ही समझने लगे कि उनके हाथ से उनका आखिरी हथियार छीना जा रहा है।" यहाँ कांग्रेसी नेता बालकृष्ण शर्मा ने स्पष्ट शब्दों में

एक अन्य प्रान्त की कांग्रेसी सरकार की आलोचना की थी। इस आलोचना का सारतत्व यह था कि बम्बई सरकार ने पूंजीपतियों का पक्ष लिया है और मजदूर-विरोधी रुख अपनाया है। बम्बई और संयुक्त प्रान्त की सरकारों में बहुत ज्यादा अन्तर न था।

श्रमविवाद-सम्बन्धी प्रस्तावित कानून के बारे में शर्माजी ने चेतावनी दी कि उसमें ऐसी धाराएँ न होनी चाहिए जिनसे कम्पनी यूनियन सर्वोपरि हो जायें और वास्तविक मजदूर सभाओं को मिलमालिकों से मान्यता ही न मिले। मजदूरों की जिस सभा में भी मजदूरों की कुल संख्या के २० प्रतिशत सदस्य हों, उसे मान्यता मिलनी चाहिए। उन्होंने आशा प्रकट की कि संयुक्त प्रान्त की सरकार ऐसी कोई शर्त न रखेगी कि कुल मजदूरों में ५० या ५१ फीसदी किसी सभा के सदस्य बन जायें, तभी उसे मान्यता मिलेगी।

सरकार हड़तालों से कैसे निपटनेवाली थी, इसका स्पष्ट उल्लेख उस सरकारी पत्र में था जो कानपुर की मजदूर सभा के सचिव को मिला था। शर्माजी ने उसका आवश्यक अंश उद्धृत किया और फिर उस पर अपनी राय जाहिर की जो मजदूर आन्दोलन के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण है। सरकारी पत्र में कहा गया था कि हड़ताल से मजदूरों को जो मुसीबत उठानी पड़ती है, उसके अलावा उसमें बहुत से झमेले उठ खड़े होते हैं। उससे शहर में हलचल पैदा हो जाती है। ऐसी हालत में सरकार का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह सार्वजनिक शान्ति भंग न होने दे, कानून और व्यवस्था बनाये रखे और हड़ताली तथा गैर-हड़ताली, सभी लोग अपने नागरिक अधिकारों (सिविल लिबर्टीज) का उपयोग कर सकें। ऐसे अधिकारों में सार्वजनिक मार्गों पर किसी बाधा के बिना आना-जाना और व्यक्तिगत इमारतों में जिन्हें आने-जाने का हक है, उनका आना-जाना शामिल है।

नागरिक अधिकारों की दुहाई का मतलब यह था कि हड़ताल तोड़नेवाले लोग मिलों के भीतर जायें तो हड़ताली मजदूर किसी भी तरह उन्हें रोकें नहीं। शर्माजी ने हड़ताल-सम्बन्धी सरकारी नीति की आलोचना करते हुए कहा, "यह विचित्र बात है कि सरकार ने अपनी नीति का यह ऐलान ऐसे समय किया जब मालिकों के कुछ चमचे नागरिक अधिकारों के नाम पर गुण्डागर्दी करते देखे गये हैं। हड़तालें तोड़ने में मालिकों ने जो भूमिका निबाही है, उसे हम भूले नहीं है। कुछ मिसालें देता हूँ। कुछ ही दिन पहले तक यह आम बात थी कि मिलमालिक अपने मास्टरों और मिस्त्रियों के साथ लारियों में छँटे हुए गुण्डे भरकर उन्हें मजदूर बस्तियों में भेजते थे। ये इश्तिहारी गुण्डे (गजेटेड गुण्डाज) मजदूरों को धमकाते थे और उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें हड़ताल तोड़ने को मजबूर करते थे। कुछ मिलमालिक जिनका पुलिस से याराना था, ऐसे मौकों पर लारियों में पुलिस के सिपाहियों को भी भर ले जाते थे। एक तरफ पुलिस और गुण्डे, उनके साथ पैसा और पूँजीपति का प्रभाव, दूसरी तरफ खाली पेट, अधनंगे, गरीब मजदूर, यह कोई बराबरी का मुकाबला नहीं है। बहुत गम्भीर प्रश्न यह है : हम यह सबल और निर्बल की लड़ाई कैसे लड़ें जब लोकप्रिय सरकार न्याय, औचित्य और नागरिक स्वाधीनता के भव्य सिद्धान्तों को आधार बनाती है? वास्तविक हड़ताल

तोड़ने के लिए पूरी छूट मिले, इसके अलावा इन सिद्धान्तों का अर्थ और क्या है? सार्वजनिक मार्गों पर किसी बाधा के बिना आना-जाना और व्यक्तिगत इमारतों में आने-जाने का हक़, यह सब विशुद्ध बकवास है। मजदूर काम पर जाना चाहते है, यह दलील थोथी है क्योंकि यदि वे ऐसा चाहते तो हड़ताल होती ही नहीं। गुप्त मतदान आदि के सारे उपचार निबाहने के बाद जब हड़ताल का ऐलान किया जाता है, तब राज्य-सत्ता का यह स्पष्ट कर्त्तव्य हो जाता है कि गुण्डों और हड़ताल तोड़नेवालों की सहायता से मालिक हड़ताल खत्म करना चाहें तो वह उनसे हड़तालियों की रक्षा करे।"

एक ओर पूंजीपति और राज्य-सत्ता, दूसरी ओर जीवन की सामान्य सुविधाओं के लिए लड़नेवाला सर्वहारा वर्ग, इन दोनों का अन्तर्विरोध १९३९ में साफ उभरकर सामने आ रहा था। बालकृष्ण शर्मा काग्रेसी नेता होने के अतिरिक्त स्वच्छन्दतावादी हिन्दी कवि भी थे। उन्होंने यह अन्तर्विरोध देखा ही नहीं, मजदूर वर्ग का पक्ष लेकर उन्होंने राज्य-सत्ता की नुक्ताचीनी भी की। पूँजीवादी समाज में यदि कोई वास्तविक लोकप्रिय सरकार होगी तो वह मालिकों के विरुद्ध मजदूरों का पक्ष ही लेगी। नागरिक अधिकारों की रक्षा के नाम पर वह हड़ताल तोड़ने में मालिकों की सहायता न करेगी। शर्माजी ने जो मत प्रकट किया, उसका ऐतिहासिक महत्व यह है कि उसमें न्याय, कानून, व्यवस्था, नागरिक अधिकार आदि के प्रपञ्च की वास्तविकता प्रकट की गयी है। राज्य-सत्ता किस तरह के बहाने करके पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करती है, यह समझा दिया गया है। १९३९ में काग्रेस के भीतर ऐसे काफी लोग थे जो साहसपूर्वक कहते थे कि प्रान्तीय सरकार ने जो नागरिक अधिकारों की बात कही है, वह विशुद्ध बकवास है। मजदूरों में काम करनेवाले समाजवादी नेता ऐसे लोगों के साथ मिलकर ही शक्तिशाली साम्राज्यविरोधी मोर्चा बना सकते थे। अब काग्रेस में ऐसे लोगों की संख्या नगण्य है। १९३९ में पूरी काग्रेस के साथ कम्युनिस्ट पार्टी का संयुक्त मोर्चा बनाना यदि कठिन था, तो १९८१ में वैसा ही मोर्चा बनाना असम्भव है।

अपने लेख के अन्त में शर्माजी ने प्रान्तीय सरकार से कहा कि वह इस बात को समझे कि श्रमसम्बन्धी विवाद उठने पर नागरिक अधिकारों का मन्त्र जपने से अन्याय ही हाथ लगेगा। सारे देश के मजदूर आन्दोलन को लक्ष्य करके उन्होंने अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस से कहा कि वह उनके लेख की बातों पर ध्यान दे। मजदूर कार्यकर्त्ताओं को सारे भारत में ऐसी परिस्थितियों और तर्कों का सामना करना पड़ता है। जिन सिद्धान्तों के अनियन्त्रित प्रयोग से देश के ट्रेड-यूनियन आन्दोलन में रुकावट पैदा होती है, उनकी तर्कसंगत व्याख्या करना जरूरी है। "जब सार्वजनिक मार्गों को डाकू इस्तेमाल करते हैं, तब राज्य-सत्ता नागरिक अधिकारों की माला जपते हुए चुपचाप नहीं बैठी रहती। उसी तरह जब श्रम-सम्बन्धी विवाद उठ खड़ा हो, तब राज्यसत्ता का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे लोगों को राज-मार्गों का व्यवहार न करने दे जो फ़साद या साम्प्रदायिक दंगे कराना चाहते हों।"

लेख के अन्त में शर्माजी ने संयुक्त-प्रान्त की सरकार को सुझाव दिया कि

जैसे उसने मजदूर सभा को पत्र भेजा है, वैसे ही वह एक चिट्ठी मिलमालिकों के नाम भेजें और उन्हें बताये कि उन्होंने जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया, उससे नगर में औद्योगिक अशान्ति किस तरह फैली है। "कम्युनिस्ट प्रोपैगेंडा और उसी तरह की अन्य बेहूदा बातों की रट लगाने से काम बननेवाला नहीं है। अशान्ति एकपक्षी नहीं है। हिन्दी कहावत यहाँ पूरी तरह चरितार्थ होती है: ताली दोनों हाथ से बजती है।"

कम्युनिस्ट प्रोपैगेंडा का उल्लेख इसलिए है कि राज्य के अधिकारी और मिल-मालिक मजदूरों की माँगों को कम्युनिस्ट प्रचार मात्र कहकर छुट्टी पा लेना चाहते थे। मजदूरों की पगार में कटौती करने के लिए, अपने मुनाफे की ऊँची दर बनाये रखने के लिए, मिलमालिक एक ओर कम्युनिस्ट-विरोधी अभियान चला रहे थे, दूसरी ओर साम्प्रदायिक प्रचार के बाद दंगों की तैयारी कर रहे थे। कम्युनिस्ट-विरोधी प्रचार और हिन्दू-मुस्लिम दंगे, इनमें जो गहरा सम्बन्ध है, वह १९३९ में उजागर हो रहा था।

२ जुलाई १९३९ के 'नेशनल फ्रण्ट' में कानपुर की स्थिति पर पत्र के विशेष संवाददाता का लेख छपा। मिलमालिकों के आक्रमण और मजदूर सभा की कार्रवाई का विवरण देने के बाद संवाददाता ने लिखा, "जब हम अपने कार्यक्रम को अमल में लाते हुए पूरे वेग से आगे बढ़ रहे थे, तभी २० जून की शाम को साम्प्रदायिक दंगों के फिर फूट पड़ने से भारी धक्का लगा। मूलगंज में रथयात्रा के अवसर पर मस्जिद के आगे बाजा बजने के सवाल पर झगड़ा हुआ। कहते हैं कि पहले कुछ मुसलमानों ने ईंटें फेंकी, फिर दोनों तरफ से खुलकर ईंट और पत्थर-बाजी हुई। पुलिस ने गोली चलाई। चालीस आदमी घायल हुए। इनमें चार की मृत्यु हो गयी। गोली लगने से या छुरेबाजी से अब तक छह आदमियों की जानें जा चुकी हैं।" मजदूर सभा ने स्वयंसेवकों की लाल फौज बनायी। वह मजदूर बस्तियों में गश्त लगाती थी जिससे गुण्डे उपद्रव न कर सकें। मजदूर सभा ने मुहल्ला कमेटियाँ बनायी जो शान्ति रक्षा का काम करें। हिन्दू और मुसलमान मजदूर मिलों में काम करने साथ-साथ जाते रहे। प्रान्तीय सरकार ने सोचा कि दंगा करनेवालों को दबाने के साथ-साथ कम्युनिस्टों का दमन भी कर दिया जाये तो अच्छा रहेगा। इसकी तैयारी उसने पहले से कर रखी थी। संयुक्त प्रान्त की सरकार के मुख्य सचिव ने प्रान्त के सभी जिलाधीशों के नाम २ मई १९३९ को एक पत्र भेजा था। प्रान्त में जो साम्प्रदायिक तनाव है, उसे देखते हुए कानून तोड़नेवालों से कैसे निपटना चाहिए, यह बताने के बाद मुख्य सचिव ने लिखा था, "मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि ये आदेश वहाँ भी लागू होंगे जहाँ साम्प्रदायिक द्वेष के अलावा वर्ग-द्वेष का प्रचार किया जाता है, खास-तौर से जैसे वर्ग-द्वेष का प्रचार कम्युनिस्ट करते हैं जिससे उद्योग-धन्धों में हड़तालें होती हैं, मालिक और मजदूर के बीच झगड़ा होता है।" यह गश्ती पत्र 'नेशनल फ्रण्ट' के २५ जून १९३९ के अंक में छपा था। 'नेशनल फ्रण्ट' ने एक मास पहले यह समाचार प्रकाशित किया था जब मिलमालिकों के मंच से सरकार से अनुरोध किया था कि वह मजदूरों में कम्युनिस्ट प्रचार रोकने के लिए कदम उठाये।

सरकार ने जवाब दिया था कि राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में कम्युनिज्म को कोई कितना ही नापसन्द करे, केवल बलप्रयोग द्वारा उसका दमन नहीं किया जा सकता। सभ्य राज्यों में इस पर पाबन्दी नहीं है। ब्रिटेन में कम्युनिस्ट खुलेआम अपना प्रचार करते रहे हैं और कम्युनिस्ट टिकट पर चुनाव लड़ते रहे हैं। उद्योग (अर्थात् उद्योगपतियों) को चाहिए कि समझौते की शर्तों का ठीक-ठीक पालन करें और तालाबन्दी न होने दें। 'नैशनल फ्रण्ट' ने ध्यान दिलाया कि मिलमालिकों ने समझौते की सारी शर्तें तोड़ीं। फिर भी संयुक्त प्रान्त की सरकार ने साम्प्रदायिक प्रचार और कम्युनिस्ट प्रचार को एक जैसा मान लिया। कम्युनिस्ट पार्टी गैर-कानूनी थी। संयुक्त प्रान्त की कांग्रेस ने अपने हरदुआगज सम्मेलन में कम्युनिस्ट पार्टी को कानूनी करार देने की माँग की। यह माँग प्रान्तीय विधान सभा में भी की गयी थी। १९ मई को प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने कानपुर के मिलमालिकों द्वारा पगार में कटौती, मजदूरों की छटनी आदि पर चिन्ता प्रकट की थी। इस सबके विपरीत संयुक्त प्रान्त की सरकार अब मजदूरों के प्रति नयी नीति अपना रही थी "जो कानपुर के यूरोपियन और राष्ट्रविरोधी निहित स्वार्थों के सामने घुटने टेकने के अलावा और कुछ नहीं है।" 'नैशनल फ्रण्ट' ने अपनी टिप्पणी से

[illegible]

क्या वे जनता के मन्त्रियों (पीपुल्स मिनिस्टर्स) को निहित स्वार्थों के सामने घुटने टेकने देंगे और उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के सबसे शक्तिशाली अंग का दमन करने देंगे?

कांग्रेसजन इस प्रश्न का चाहे जो उत्तर देते, कांग्रेसी मन्त्री जनता के मन्त्री नहीं थे। वे १९३५ के उस काले कानून के मातहत मन्त्री बने थे जिसका विरोध समूचे राष्ट्रीय आन्दोलन ने, स्वयं कांग्रेसी नेताओं ने किया था। जो लोग मन्त्री बने, वे भी उस कानून का समर्थन न करते थे। उनका तर्क था कि विधान परिषदों में जाकर, मन्त्रिमण्डल बनाकर वे उस काले कानून का विरोध करेंगे। हुआ इससे ठीक उल्टा। मन्त्रिमण्डल बना लेने के बाद वे आराम से उसी कानून के अनुसार शासनतन्त्र चलाने लगे। इसी का परिणाम थी उनकी मजदूर-विरोधी नीति। वे जनता के मन्त्री कैसे हो सकते थे?

अप्रैल १९३९ में एक हड़ताल असम प्रान्त में हुई। असम तेल कम्पनी के १० हजार मजदूरों ने हड़ताल की। उनके साठ साथियों को झूठे दोष लगाकर निकाल दिया गया था। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल से पहले असम में सादुल्ला मन्त्रिमण्डल था। उसने एक जाँच कमेटी बनायी थी। सादुल्ला मन्त्रिमण्डल काफी प्रतिक्रियावादी माना जाता था। उसने जो जाँच कमेटी बनायी थी, उसकी सिफारिशें बहुत प्रगतिशील न रही होंगी पर कम्पनी के मालिकों ने उनकी भी अनदेखी की। इस कारण मजदूरों ने हड़ताल की। तेल कम्पनी यूरोपियन पूँजीपतियों की इजारेदार संस्था थी। यहाँ भारतीय मजदूरों की सीधी टक्कर विदेशी पूँजीपतियों से थी।

कम्पनी के क्लर्क, सफाई कर्मचारी, कम्पनी के अफसरों के नौकर-चाकर तक इस हड़ताल में शामिल हुए। दूकानदारों ने कहा कि वे मालिकों को खाने-पीने का सामान तब तक न बेचेंगे जब तक वे मजदूरों की माँगें न मान लेंगे। स्थानीय कांग्रेस-जनों ने हड़ताल का भरपूर समर्थन किया। ४ जून १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' में हड़ताल का विवरण देते हुए अजय घोष ने लिखा कि आम जनता के इस तरह एकजुट होने की और कम्पनी मालिकों के यों अलग-थलग पड़ जाने की मिसाल असम में अब तक न देखी गयी थी। "मजदूर संघ जनआन्दोलन का अगला दस्ता बन गया है।"

हड़ताल के समय असम में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल था। कांग्रेसी सरकार ने डिगबोई नगर में धारा १४४ लागू कर दी। उपद्रव की आशंका से पुलिस बुला ली गयी और पुलिस की मदद के लिए एक गुरखा पलटन भी तैनात की गयी। एक भी हिंसात्मक वारदात न हुई थी, न किसी ने किसी को डराया-धमकाया था। यह बल-प्रदर्शन किया गया था सत्ता की ओर से मजदूरों को डराने-धमकाने के लिए। कम्पनी मालिकों ने हड़ताल तोड़नेवालों को बटोरने की कोशिश की किन्तु हड़ताली मजदूरों ने यह दाँव बेकार कर दिया। सोलह दिन तक हड़ताल चली। तेल कम्पनी के मालिक असम के राजा बने हुए थे। ऐसा विरोध उन्होंने पहले कभी देखा न था। १८ अप्रैल की रात को मजदूरों पर गोली चलायी गयी। कम्पनी के अफसर तेल कारखाने से दूर बस्तियों में मजदूर ढूँढने गये थे जो हड़ताल तोड़ने का काम करें। किन्तु वहाँ हड़ताली मजदूर पहले से जमे हुए थे। इसलिए कम्पनी के अफसर हड़ताल तोड़नेवाले रंगरूट लाने में असफल हुए। तब सैनिकों ने मजदूरों पर गोली चलायी। तीन मजदूर वहीं मारे गये और एक की मृत्यु बाद को हुई। लोगों ने दूकानें बन्द कर दीं। हजारों आदमी शव-यात्रा में शामिल हुए। रेल कर्मचारियों ने तेल मजदूरों के समर्थन में एक दिन की हड़ताल की। कांग्रेसी सरकार ने माना था कि १८ अप्रैल की रात शुरू होने तक हड़ताल आमतौर से शान्तिपूर्ण थी। लेकिन उसका कहना था कि चोरी छिपे लोगों को डराया-धमकाया जा रहा था।

कम्पनी को डिगबोई शहर में हड़ताल-विरोधी मजदूर न मिले, तब उसने बाहर से मजदूर लाने का विचार किया। असम सरकार ने कहा कि बाहर से मजदूर लाने पर शांति भंग होने का खतरा है और यदि कम्पनी ने बाहर से मजदूर लाना शुरू किया तो इस तरह रंगरूट भरती करने पर पाबन्दी लगा दी जाएगी। इस पर गोरे मालिकों ने, स्टेट्समैन आदि अखबारों ने खूब हल्ला मचाया। कांग्रेसी सरकार झुक गयी। बाहर से रंगरूट भर्ती करने पर पाबन्दी लगाने की बात अंशतः वापस ले ली गयी। सरकार ने बाहर से घरेलू नौकर भर्ती करने पर पाबन्दी हटा ली जिसका मतलब था कि कम्पनी बाहर से मजदूर लायेगी और उन्हें कम्पनी के अफसरों का घरेलू नौकर बतायेगी। सरकार ने मजदूर संघ से अपील की कि वह कम्पनी अफसरों के घरेलू नौकरों को काम करने की अनुमति दे। कांग्रेसी सरकार तेल मजदूरों और विदेशी कम्पनी के मालिकों के बीच तटस्थ बने रहने का अभिनय कर रही थी। गुरखा पलटन को शहर से हटाया न गया।

न्यायिक जांच के नाम पर एक मजिस्ट्रेट ने जाँच का नाटक किया और अपनी रिपोर्ट में कहा कि सैनिकों ने हमलावर भीड़ से अपनी रक्षा करने के लिए गोली चलायी थी और तेल कम्पनी के अफसर सैनिकों के साथ नहीं थे।

अजय घोष ने लिखा कि हड़ताल को साठ दिन हो गये हैं। सरकार की तरफ से समझौते के लिए जो कोशिश हुई, वह तेल मालिकों के रवैये के कारण बेकार हुई। सरकारी आदेश की चिन्ता न करके स्थानीय नौकरशाही नये रंगरूट भर्ती करने में तेल मालिकों की मदद कर रही है। ये रंगरूट पलटन की निगरानी में रखे जाते हैं जिससे मज़दूर संघ के लोग उनसे सम्पर्क कायम न कर सकें। अजय घोष के अनुसार यह राष्ट्रीय महत्व की समस्या थी। "सारे देश में जो कुछ हो रहा है, डिगबोई की घटनाएँ उसी का ज्वलन्त उदाहरण हैं। जनता और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के विरुद्ध प्रतिक्रियावाद ने जमकर धावा किया है। इस आक्रमण को विफल करना होगा। जनता का जवाबी हमला असम प्रान्त से शुरू होना चाहिए।"

जवाबी हमला आवश्यक था किन्तु कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ऊपर से तटस्थ होने का अभिनय कर रहा था, पलटन, पुलिस और सरकारी अफसरों की सारी कार्रवाई उसकी इच्छा के विरुद्ध न हुई थी। जवाबी हमले की शुरुआत होनी चाहिए थी कांग्रेसी मन्त्रियों के त्यागपत्र से।

'नैशनल फ्रण्ट' के इसी अंक में बंगाल के मन्त्रिमण्डल पर सोमनाथ लाहिड़ी का लेख प्रकाशित हुआ। लेख का सारांश यह था कि मन्त्रिमण्डल नागरिक अधिकारों का दमन करता है और सुधार करने में झिझकता है। किसान कर्ज के बोझ से दबे हुए हैं। मजदूर भी इस बोझ से राहत चाहते हैं। लगान और कर्ज की अदायगी को लेकर जो भी आन्दोलन चला, उसे मन्त्रिमण्डल ने दबाया। सैकड़ों किसानों को बेदखल किया और जेल भेजा। बंगाल में फ़ज़लुल हक़ का मन्त्रिमण्डल था। वह "यूरोपियन मिलमालिकों, ज़मीदारों और महाजनों का एजेण्ट था।" इस मन्त्रिमण्डल के अन्य कारनामों में एक यह भी था कि डाकखाने को आदेश दिये गये थे कि जिस पते पर भी 'नैशनल फ्रण्ट' भेजा गया हो, उस तक उसे पहुँचने न दिया जाये।

६ अगस्त १६३६ के 'नैशनल फ्रण्ट' में बंगाल के किसान-आन्दोलन पर एक लेख छपा। मन्त्रिमण्डल कहता था कि किसान सभा का आन्दोलन मुट्ठी-भर प्रचारकों का खेल है जो बड़ी-बड़ी बातें करके किसानों को फँसा लेते हैं। कर्ज के भयानक बोझ का अनुमान इससे होगा कि किसानों को लगभग २० करोड़ रुपया महाजनों को देना था। इस पर जो ब्याज देना था और जो लगान बाकी था, उस सबको जोड़ देने से ऋण का परिमाण २०० करोड़ तक पहुँचता था। इसके विरुद्ध किसानों ने संघर्ष किया। इस समय बंगाल में लोकप्रिय सरकार थी। किसान सभा के कार्यकर्ताओं को जेल में मच्छरों से अपनी रक्षा करने के लिए मसहरी लगाने की अनुमति नहीं थी। इसके विरुद्ध उन्होंने भूख हड़ताल की थी। बंगाल की प्रान्तीय किसान सभा के महासचिव अब्दुल्ला रसूल का कहना था कि कोई भी आन्दोलन हो, भले ही वह सरकार के विरुद्ध न हो, सरकार उसे दबाने

के लिए दमन का सहारा लेती है। "सूबे में सरकार-समर्थक प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा किसान-आन्दोलन के विरुद्ध जो प्रचार किया जाता है, उसके बावजूद हिन्दू और मुसलमान किसानों का असन्तोष स्पष्ट रूप से बढ़ता जा रहा है। सरकार इन प्रतिक्रियावादी शक्तियो को पसन्द करती है। इस मन्त्रिमण्डल में जिन अधिकांश पार्टियों के लोग है, उन्होंने आसामी के हक और कर्ज सम्बन्धी कानून बनाने के बारे में चुनाव के समय बडे-बडे वादे किये थे। उन्होने उन वादों को पूरा नही किया। इसीलिए असन्तोष बढ़ रहा है।"

मद्रास में कांग्रेसी सरकार थी। आन्ध्र प्रदेश में ज़मीदारो के विरुद्ध किसान आन्दोलन चल रहा था। मुनगल रियासत मे पुलिस ने किसानों पर भारी अत्याचार किया। २५ जून १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' में इसका विवरण छपा। पुलिस ने किसान स्त्रियो को लाठी से मारा। जो लोग जेल भेजे गये, उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया गया। अखिल भारतीय किसान सभा के उपाध्यक्ष एन. जी. रंगा ने पुलिस-जुल्म की निन्दा की। कांग्रेसी मन्त्री प्रकाशम् ने रंगा तथा मुनगल के ज़मीदार से बातचीत करने के बाद सलाह दी कि किसान अपना संघर्ष बन्द कर दें। ९ जुलाई १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' मे मुनगल रियासत के किसानो के संघर्ष के बारे मे एक और विवरण छपा। इसमें कहा गया था, "कांग्रेसी या गैरकांग्रेसी कोई भी प्रगतिशील संगठन ऐसा नही था जिसने किसानों के समर्थन में प्रस्ताव पास न किये हों, पुलिस और ज़मीदार की निन्दा न की हो और कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल से अपील न की हो कि वह सत्याग्रहियो की सहायता करे और पीड़ित जनता का पक्ष ले। फिर भी चुनाव-घोषणा पत्र मे जनता से जो प्रतिज्ञा की गयी थी, उसके अनुसार मद्रास मन्त्रिमण्डल ने अपने कर्त्तव्य का पालन न किया, हज़ारों नागरिकों की आवाज़ उसने सुनी नहीं। ज़मीदार के शासन का उत्पीड़क रूप जानते हुए और किसानों के कष्टों को पूरी तरह समझते हुए भी वह टस से मस न हुआ यद्यपि वह यह भी पूरी तरह जानता था कि संघर्ष दरअसल शुरू कैसे हुआ है और उसका स्वरूप क्या है। मुख्यमन्त्री और मालमन्त्री दोनों ने किसानों और उनके प्रतिनिधियों से कहा है कि वे कानून अपने हाथ में न लें, अपनी माँगें मनवाने के लिए कचहरी जायें। ये वही कचहरियाँ हैं जिन तक जानेवाले किसानों को ज़मीदार ३० साल से आतंकित किये है।" वेंकटसुब्बैया नाम के कांग्रेसी नेता ने कहा कि किसानो की माँगें तो ठीक हैं लेकिन सत्याग्रह इसलिए किया जा रहा है *कि मन्त्रिमण्डल असमंजस में पड़ जाये।*

१८ जून १९३९ को राहुलजी ने छपरा मे किसानों की विराट सभा को सम्बोधित किया। ये किसान बाढ़-पीड़ित इलाकों से एकत्र हुए थे। राहुलजी ने किसानों से कहा कि वे मन्त्रियों पर भरपूर दबाव डालें जिससे उन्हें आवश्यक सहायता मिले। २० जून को वह एक गांव मे थे जब ज़मीदार के लठैतों ने दो किसान कार्यकर्त्ताओं को उनके सामने मारा। २४ जून को राहुलजी को ६ महीने की सख्त कैद की सज़ा दी गयी। ३० रुपये जुर्माना किया गया। जुर्माना न दें तो ३ महीने की कैद और। बिहार मन्त्रिमण्डल किसान कैदियों को राजनीतिक कैदी न मानता था। इसके विरोध में राहुलजी ने भूख-हड़ताल की। बिहार के प्रसिद्ध

किसान नेता कार्यानन्द शर्मा को इसी महीने किसान-सत्याग्रह के सिलसिले में एक साल की सज़ा हुई। बिहार मे लोकप्रिय काग्रेसी सरकार थी।

सयुक्त प्रान्त की सरकार कम लोकप्रिय नही थी। मज़दूर-आन्दोलन को दबाने के लिए उसके अधिकारी अन्य सरकारों के समान आगे बढ़ रहे थे। बनारस के जिलाधीश ने २४ जुलाई १९३९ को एक आदेशपत्र निकाला। इसमें दो कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ताओ एस. पी. त्रिपाठी और सत्यव्रत दासगुप्त को पेशेवर आन्दोलनकारी बताया गया। जिलाधीश के अनुसार बनारस और मुगलसराय में ये दोनो आदमी कई हफ्तो से मालिकों और मज़दूरों के बीच झगड़ा कराने की कोशिश कर रहे थे। जिले के अधिकारी मज़दूरों की उचित माँगों पर विचार करने के लिए सदा तैयार थे लेकिन वे मज़दूरो मे पेशेवर आन्दोलनकारियों के कामों को शक की निगाह मे देखते थे। जिलाधीश ने अपने मातहत अधिकारियों को आगाह किया कि वे इस बात का ध्यान रखें कि पेशेवर आन्दोलनकारी मज़दूरों से यूनियन के नाम पर चन्दा इकट्ठा न करें जब तक कि इस पैसे के हिसाब की जाँच न हो, चन्दा देनेवालो को हिसाब समझाया न जाये और जिस उद्देश्य से चन्दा दिया गया था, उसके अनुरूप वह खर्च न किया गया हो। जिलाधीश ने त्रिपाठी और दासगुप्त को चेतावनी दी कि वे सार्वजनिक सेवाओं मे अड़चनें डालनेवाला कोई काम न करे। जिलाधीश ने कहा कि इन लोगों ने खुलेआम घोषणा की है कि वे ऐसी चेतावनी की परवाह नही करते, और वे चेतावनी के विरुद्ध जुलूस निकालने और सभा करने जा रहे है। वे मज़दूरों की निगाह में जिले के अधिकारियों को क्षुद्र और अपने को बडा दिखाने के लिए ऐसा कर रहे हैं। ऐसे जुलूसों और सभाओ से शान्ति भंग होने का खतरा है। सार्वजनिक मार्गों पर जो लोग कानून के अनुसार आते-जाते है, उनके इस काम मे जुलूसों से बाधा पड़ती है। जिलाधीश ने बनारस और मुगलसराय मे मज़दूरो के जुलूस पर पाबन्दी लगायी। उन्होने त्रिपाठी और दासगुप्त को मज़दूरों की सभाओं मे भाषण करने, पर्चे आदि निकालने से मना किया।

उक्त आदेश दो महीने के लिए था। वह ६ अगस्त १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' मे उद्धृत हुआ। उसके साथ पूरनचन्द जोशी का लेख प्रकाशित हुआ "क्या गांधीजी यह जानते है?" जोशी ने मजिस्ट्रेट के आदेश के बारे मे पूछा, इसे पढ़ने पर कौन कह सकता है कि फ़ज़लुल हक़ का बगाल या सिकन्दर हयात का पंजाब कारगुज़ारी मे आगे है? "लेकिन बनारस संयुक्त प्रान्त मे है जो काग्रेसी प्रान्त है।" जोशी ने कहा कि संयुक्त प्रान्त की सरकार ने जो कम्युनिस्टविरोधी गश्ती चिट्ठी भेजी थी, बनारस के मजिस्ट्रेट का कारनामा उसी का नतीजा था। जिन यूनियनों से त्रिपाठी और दासगुप्त का सम्बन्ध था, वे रजिस्टर्ड यूनियन थे। इनके फण्ड की जाँच कानून के अनुसार की जाती है और सालाना हिसाब ट्रेड यूनियनों के रजिस्ट्रार के सामने पेश किया जाता है। मजिस्ट्रेट सार्वजनिक सेवाओ की सुरक्षा की बात करता है। श्रम-सम्बन्धी विवादवाले, कानून के अनुसार भी सार्वजनिक सेवाओं में हड़ताल करना गैरकानूनी काम नही था। [यह बात १९३९ के लिए सही थी किन्तु १९८१ मे स्वाधीन भारत की सरकार ने ऐसी हड़तालों को गैर-

कानूनी करार दे दिया है।] जोशी ने लिखा कि कांग्रेस जिन आदर्शों के लिए संघर्ष करती रही है, उक्त आदेश उन सबको चुनौती देता है।

बनारस मे त्रिपाठी और दासगुप्त के अलावा दो अन्य व्यक्ति भी जुलूस निकालने और सरकारी आदेश का उल्लघन करने के अपराध मे गिरफ्तार किये गये। उन्होने अपने बयान मे कहा कि आम जनता के समर्थन और सहानुभूति के बल पर हम मजदूरो के हितो और अधिकारो की रक्षा करेंगे, हमारा मार्ग स्पष्ट है।

२५ जून १९३९ के 'नेशनल फ्रण्ट' मे मजदूरो के सम्बन्ध में बी. टी. रणदिवे का लेख प्रकाशित हुआ। मिल-मालिको के आक्रमण के बारे मे उन्होने कहा कि यह किसी एक प्रान्त का मामला नही है वरन् अखिल भारतीय है और इसमे सन्देह नही है कि बम्बई और अहमदाबाद के मिल-मालिको के नेतृत्व मे योजनाबद्ध तरीके से यह आक्रमण किया जा रहा है। मिल-मालिको ने धन कैसे कमाया, यह बतलाते हुए, उन्होने अप्रत्यक्ष रूप से, भारत के औद्योगिक विकास का रहस्य भी उद्घाटित किया। इस लेख मे उन्होने अपना यह मत प्रकट किया, "सारे राष्ट्र ने स्वदेशी का जो व्रत लिया, उससे इन लोगों की जमात ने करोड़ो रुपये कमाये। अब ये लोग अपने हज़ारो देशवासियो और उनके परिवारो को भूखों मरने और तबाह होने को मजबूर कर रहे है। यह याद रखना चाहिए कि ब्रिटिश माल के बहिष्कार से किसी वर्ग को यदि वास्तविक लाभ हुआ है, तो वह केवल भारत के सूती मिल-मालिकों को हुआ है। कौन नही जानता कि युद्धकाल मे उन्होने बेहिसाब मुनाफा कमाया ? दो सविनय अवज्ञा आन्दोलनों के दौरान जब राष्ट्र जेल-जीवन और गिरफ्तारी का सामना कर रहा था, तब ये लोग करोड़ो बटोरने मे लगे थे। जिन्होने इन्हे खिलाया-पिलाया और पाला-पोसा, उन्ही पर अपने अतिरिक्त मुनाफे की रक्षा करने के लिए अब ये झपट रहे है। सभी निहित स्वार्थों का यही तरीका है। जब वेहिसाब मुनाफा कमा रहे थे, तब उन्होने ज़रा भी विचार न किया कि अपने कारखानो मे पिसनेवाले मजदूरो को भी अपनी खुशहाली मे शामिल करे। युद्धकाल मे जब मुनाफे की दर ३०० फीसदी तक पहुँच गयी थी, उस समय भी लगातार सघर्ष किये बिना मजदूर अपनी पगार मे बढ़ती न करा सके। दूसरी ओर जो भी अस्थायी सकट आता है, उसका भार वे मजदूरों पर डालने को आतुर रहते है, और इसके लिए ज़रा भी असमजस के बिना वे राज्यसत्ता के दमनतन्त्र को इस्तेमाल करते है। राष्ट्रीय असन्तोष के बल पर उनकी काया मोटी होती जाती है किन्तु राष्ट्र की प्रगति के भार को उठाने मे वे भागीदार होना नही चाहते। यह है उनकी राजनीति और नैतिकता।" यहाँ रणदिवे ने इस मत का खण्डन किया है कि भारत का औद्योगिक विकास अंग्रेजों की कृपा का फल है। १९वी सदी से ही स्वदेशी आन्दोलन जोर पकड़ने लगा था और जैसे-जैसे अंग्रेजों ने अपना तैयार माल भारत पर थोपना शुरू किया, वैसे-वैसे स्वदेशी आन्दोलन भी व्यापक तथा शक्तिशाली बना। सन् '२० और '३० में कांग्रेस ने जो आन्दोलन चलाये, वे देश के हित मे थे, और वे भारतीय पूँजीपतियों के हित मे भी थे। प्रथम महायुद्ध के बाद सूती उद्योग तेज़ी से विकसित हुआ और उसमे

तीय पूंजी का अनुपात बढ़ता गया, इसका कारण स्वदेशी आन्दोलन था। शी आन्दोलन के लिए त्याग और बलिदान का काम अन्य वर्गों ने किया, उससे म उठाने का काम देशी पूंजीपति वर्ग ने किया। रणदिवे का यह तर्क बिल्कुल ी था कि सारे देश के प्रयत्न से कपड़ा-उद्योग के सूत्रधार करोड़पति बने हैं, सलिए उन्हें अपनी खुशहाली में मजदूरों को भी शामिल करना चाहिए।

मिल-मालिकों के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए मजदूर पूरी तैयारी र रहे थे। बम्बई के गिरनी कामगार यूनियन ने १४ मई को सभा की और यह प्रस्ताव पास किया कि अखिल भारतीय सूती मजदूरों का सम्मेलन हो और वह मिल-मालिकों के हमले का जवाब देने के लिए एक साथ कदम उठाये। कानपुर की मजदूर सभा ने इस सम्मेलन के प्रस्ताव का स्वागत किया और आम हड़ताल की तैयारी का फैसला भी किया। नागपुर, शोलापुर, अहमदाबाद आदि नगरों के मजदूरों ने इसी तरह संघर्ष करने की इच्छा का परिचय दिया। अहमदाबाद के मजदूरों की घोषणा के बारे में रणदिवे ने टिप्पणी की कि वर्ग सहयोग का खास नगर है अहमदाबाद; अब पता लग गया है कि मजदूर अपना जवाबी हमला यहां भी करेंगे। मजदूरों में काम करनेवाले नरम और गरम सभी तरह के कार्यकर्त्ताओं ने मालिकों के हमले का मुकाबला करने का फैसला किया। कांग्रेस कमेटियां सहानुभूतिपूर्वक मजदूरों की मांगों का समर्थन कर रही हैं, इसके उदाहरणस्वरूप रणदिवे ने संयुक्त प्रान्त की कांग्रेस कमेटी के प्रस्ताव का उल्लेख किया। २० मई को अपने प्रस्ताव में इस कमेटी ने चिन्ता प्रकट की कि कई जगह छटनी और कटौती के जरिये मिल-मालिकों ने हमला शुरू कर दिया है। २० जून को बम्बई की कुछ वार्ड कांग्रेस कमेटियों ने प्रस्ताव पास करके कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों से कहा कि बड़ा संघर्ष अनिवार्य हो जाये, इससे पहले उन्हें दखल देना चाहिए। मजदूर केवल अपने वर्ग की लड़ाई न लड़ रहे थे, उनकी लड़ाई सारी जनता के हितों की लड़ाई थी। रणदिवे ने सावधान किया कि सभी कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेसजनों में एक-सी भावना नहीं थी। वे संकट की गम्भीरता न समझ रहे थे। "सूती उद्योग के संकट में बात केवल मजदूरों के जीवन-स्तर की न थी वरन् कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के राजनीतिक भविष्य की थी। मजदूरों की पगार पर हमला कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के पूरे कार्यक्रम पर हमला था; जनवादी कार्यक्रम के विरुद्ध निहित स्वार्थों की आम बगावत का एक हिस्सा यह हमला था। उसका उद्देश्य यह है कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को पूंजीपतियों और जमींदारों की जन-विरोधी नीति लागू करने का साधन बना दिया जाये।" कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के प्रति यह दृष्टिकोण कम्युनिस्ट पार्टी की घोषित नीति के अनुरूप था। रणदिवे ने तर्क दिया कि सूती उद्योग की जांच कमेटियों ने बड़ी जांच-पड़ताल के बाद पगार में बढ़ती करने का प्रस्ताव किया था। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने इस प्रस्ताव को अमली रूप दिया। इसलिए मिल-मालिकों का हमला जनवादी मन्त्रिमण्डलों के फैसले के विरुद्ध था। उन्होंने यह फैसला काफी सोच-विचार के बाद किया था। कपड़ा-उद्योग के संकट का कारण पगार में बढ़ती नहीं है। १९३८ और १९ जितने समय तक यह बढ़ती मजदूरों को सुलभ हुई, उतने समय तक कपड़

उद्योग ऐसा समृद्ध रहा जैसा पहले वह कभी न रहा था। बम्बई मिल-मालिक संघ के अध्यक्ष ने ही यह सत्य स्वीकार किया था। मिल-मालिक मज़दूरों की दशा सुधारने के लिए कुछ भी खर्च करना नही चाहते। मज़दूरों की दशा सुधारने के लिए जो भी कदम उठाया जाये, उसका वे विरोध करते है। केन्द्र की निरंकुश सरकार यह षड्यन्त्र करती रहती है कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो को साम्राज्यवादी कानून और व्यवस्था का रक्षक बना दिया जाये। भारत और ब्रिटेन की सरकारों के बीच जो समझौता हुआ है और कपास पर जो चुंगी लगायी गयी है, उससे भारतीय उद्योग को धक्का लगा है। मिल-मालिक चाहते हैं कि यह धक्का मज़दूर सहें और कांग्रेस का मज़दूरों से सम्बन्धित कार्यक्रम खटाई मे पड़ जाये। ऐसा होने से साम्राज्यवाद प्रसन्न होगा क्योंकि तब ये मन्त्रिमण्डल अपने लिए मज़दूरो के समर्थन की माँग न कर सकेंगे। केन्द्रीय सरकार चाहती है कि ब्रिटिश उद्योग को प्रोत्साहन मिले और इसका भार मज़दूर उठायें। "यह हमला साम्राज्यवाद तथा निहित स्वार्थों, दोनों की ओर से है।" [देशी पूँजीवाद और साम्राज्यवाद मिलकर मज़दूरों पर हमला कर सकते है, यह स्थापना यहाँ विद्यमान है। १९४७ के बाद इसी स्थापना के विकसित रूप पर काफी बहस हुई थी।]

बहुत कम कांग्रेसजन और कांग्रेस-संगठन यह सब अनुभव करते है। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल आँख मूँदकर साम्राज्यवादी जाल में फँसते जा रहे है। "एक भी मन्त्रिमण्डल ने मिलमालिको या केन्द्रीय सरकार को गम्भीर चेतावनी नही दी। वे उन्हे इस बात की छूट दे रहे है कि वे उनके [अर्थात् कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के] कार्यक्रम को धीरे-धीरे समाप्त करते जायें; इसके साथ पस्ती और फूट के बीज बोते जायें, वह अलग से।" रणदिवे ने संयुक्त प्रान्त की सरकार के आदेशों का उल्लेख किया है जिनमे मज़दूरो के सघर्ष मे काम करनेवाले कम्युनिस्टो के विरुद्ध कदम उठाने की बात कही गयी थी। कानपुर की मज़दूर सभा के नाम पत्र में अशान्ति के लिए मज़दूरों को दोषी ठहराया गया था। मज़दूर आन्दोलन को दबाने के लिए बम्बई में एक कानून बना हुआ था। उसी तरह का एक कानून श्रम-सम्बन्धी विवाद के बारे मे सयुक्त प्रान्त की सरकार बनाना चाहती थी। इसका उद्देश्य था कि मज़दूरों को ट्रेड यूनियन आन्दोलन के लिए जो अधिकार मिले हुए है, उन पर रोक लगायी जाये। मद्रास मे [भावी राष्ट्रपति] गिरि महोदय ने मिलमालिकों को चेतावनी देने के बदले मज़दूरों को फटकारा है कि वे लड़ाई की तैयारी कर रहे है। बम्बई की फ़िनिक्स मिल में मालिकों और मज़दूरों के बीच विवाद हुआ। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने मिलमालिकों पर दबाव न डाला कि वे गिरनी कामगार यूनियन से समझौते की वार्ता चलायें। इसके बदले उसने अश्रुगैस और हथियारबन्द पुलिस के ज़रिये मज़दूरो को धमकाया। रणदिवे ने असम के मन्त्रिमण्डल का भी उल्लेख किया जिसने एक विदेशी तेल-कम्पनी को हड़ताली मज़दूरो पर हमला करने का अवसर दिया। इस मन्त्रिमण्डल ने मज़दूरों की माँगें पूरी करने के लिए न तो कारगर कदम उठाए और न मज़दूरों को सघर्ष करने की आज़ादी दी। "इस तरह मन्त्रिमण्डल साम्राज्यवाद और निहित स्वार्थों के दोहरे आक्रमण के सामने घुटने टेकते जा रहे हैं। घुटने टेकते समय उन्होने

मजदूरों को निःशस्त्र कर दिया है; चेतावनी मजदूरों को दी है और उनके नेताओं के विरुद्ध कार्रवाई की है। सूती उद्योग के मसले पर यदि उन्होंने पूरी तरह घुटने टेक दिये तो उसका अर्थ होगा कांग्रेस के कार्यक्रम का पूरी तरह चौपट हो जाना। इसका अर्थ होगा कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल जन-विरोधी कार्यक्रम से बँध गये है; यही नहीं, इसका अर्थ होगा कि वे ऐसी नीति से बँध गये है जो भारतीय उद्योग और श्रमिक हितों की बलि देकर ब्रिटिश उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देना चाहती है। निहित स्वार्थ और साम्राज्यवाद कदम-ब-कदम चलते हुए आखिर उस मंजिल तक पहुँच गये हैं जहाँ वे अपनी बात खुले खजाने और ढिठाई से भारतीय जनता पर लादना चाहते है।" यहाँ निहित स्वार्थ भारतीय पूँजीपति हैं जो साम्राज्यवाद के साथ कदम मिलाकर चलते हुए बताये गये हैं। सूती उद्योग के सकट को रणदिवे ने इनकी सयुक्त चुनौती माना है। मजदूर अपना दायित्व निबाहने की तैयारी कर रहे है। ए. आई. सी. सी. को देखना है कि मुट्ठीभर निहित स्वार्थ कांग्रेस के कार्यक्रम को हवा मे न उड़ा दें। लकाशायर के हित मे भारतीय उद्योग और श्रमिक वर्ग का बलिदान नही किया जा सकता। ए. आई. सी. सी. को मजदूरों से कहना चाहिए कि उनकी पगार मे जो बढ़ती हुई है, वह कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के कायम रहते बनी रहेगी।

किन्तु बम्बई के अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी के अधिवेशन ने ऐसा कुछ न किया। इसके विपरीत उसने दो प्रस्ताव पास किये। एक प्रस्ताव से उसने काग्रेसजनों पर पाबन्दी लगायी कि वे किसी भी तरह के सत्याग्रह मे प्रान्तीय काग्रेस कमेटी से अनुमति लिये बिना भाग न लेंगे। दूसरे प्रस्ताव के अनुसार मन्त्रिमण्डलों को प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियो के नियन्त्रण से मुक्त करके एक ससदीय उपसमिति के नियन्त्रण मे रखा गया।

ये दोनों प्रस्ताव काग्रेसी सुधारवाद के अच्छे नमूने थे। भारतीय पूँजीवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्तर्विरोध बना हुआ था। इस अन्तर्विरोध को काग्रेस सुधारवादी तरीके से हल करना चाहती थी। वह आशा लगाये थी कि युद्ध छिड़ने पर अंग्रेजो को भारतीय सहायता और काग्रेस के सहयोग की आवश्यकता होगी, तब वह मोल-भाव करके नयी रियायतें प्राप्त कर सकेगी। अनेक छोटे-बड़े वामपन्थी गुट इस समय काग्रेस के भीतर थे। ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध सत्याग्रह मे वे अन्य काग्रेसजनो को अपने साथ खीच सकते थे। इससे यह सम्भावना पैदा होती थी कि साम्राज्यविरोधी लड़ाई का प्रसार होगा और वह दक्षिणपन्थी नेताओं के काबू मे न रहेगी। इसलिए प्रान्तीय कमेटियों की अनुमति के बिना काग्रेसजनो के सत्याग्रह पर पाबन्दी लगायी गयी थी। जैसे-जैसे युद्ध की तैयारियाँ होती थी, वैसे-वैसे जनता का असन्तोष बढ़ता जाता था। इस असन्तोष को दबा रखने के लिए साम्राज्यवाद के पास मुख्य साधन था काग्रेसी मन्त्रिमण्डल। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक था कि भारतीय जनता का असन्तोष काग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की ओर प्रेरित हो। ये मन्त्रिमण्डल लोकप्रिय सरकारे है, ये सरकारें किसानो और मजदूरो की दशा सुधारने के लिए कार्यक्रम लागू करनेवाली है, यह सब कहने से इस बात पर पर्दा न डाला जा सकता था कि मन्त्रिमण्डलो

का कायम रहना स्वयं ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित में था। उसे यह अवसर मिलता था कि अपनी ओर बढ़नेवाले जनता के असन्तोष को वह काग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की ओर मोड़ दे। क्रान्तिकारी उभार का मुकाबला करने मे उसे झिझक होती थी; इसके लिए वह लोकप्रिय सरकारो को अपना साधन बनाता था। कांग्रेस मे जो चरम दक्षिणपन्थी लोग थे, वे काग्रेसी मन्त्रिमण्डलों में शामिल थे। कांग्रेस मे ऐसे काफ़ी आदमी थे जो संघर्ष के पक्ष में थे और अपनी ही सरकारो द्वारा जनता का दमन होते देखकर क्षुब्ध होते थे। ऐसे लोगों की आलोचना से मन्त्रिमण्डलों को बचाना जरूरी हो गया। काग्रेस के केन्द्रीय नेतृत्व को प्रान्तीय कमेटियों पर इतना विश्वास तो था कि सत्याग्रह की अनुमति का अधिकार उनके हाथ मे रहने दे पर इतना विश्वास न था कि मन्त्रिमण्डलों के कामकाज को जाँचने-परखने का अधिकार भी उनके हाथ में बना रहने दे।

कांग्रेस के भीतर जो कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट, फारवर्ड ब्लाक और रायवादी गुट थे, उन सभी ने एक सयुक्त वक्तव्य द्वारा इन प्रस्तावों की आलोचना की। पहले प्रस्ताव के बारे मे कहा कि वह काग्रेस के बुनियादी सिद्धान्तों और उसकी परम्परा के विरुद्ध है। काग्रेस ने गरीबों और पीड़ित लोगो का पक्ष लिया, इसीलिए वह छोटी-सी जमात से बढ़कर एक शक्तिशाली संगठन बनी। अब इस प्रस्ताव से काग्रेसजनों के इस बुनियादी अधिकार को नकारा गया है कि वे जन-संघर्षों मे भाग लें। इसके साथ ही प्रान्तीय काग्रेस कमेटियों को उत्साहित किया गया है कि वे जन-संघर्षों को संगठित न करें और उनका नेतृत्व करने के अपने दायित्व का निर्वाह न करे।

मन्त्रिमण्डल बनने से इस नीति का क्या सम्बन्ध है, यह स्पष्ट करते हुए उस बयान में कहा गया था, "प्रान्तों में जब से काग्रेस-जनो ने मन्त्रि-पद स्वीकार किये, तब से, और विशेष रूप में पिछले साल से, हमारे मन्त्रिमण्डल और उनके साथ कुछ कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य भी उस जन-असन्तोष का विरोध करने की दिशा मे निरन्तर बढ़ते गये है जो सारे देश मे फैल रहा है। इसके साथ-साथ देश मे विद्यमान सामाजिक प्रतिक्रियावाद की शक्तियों से अक्सर समझौता करने में उन्होंने संकोच नही किया।" इस सुधारवादी रुझान का सही विवरण देते हुए बयान में काग्रेस के ससदीय कार्यक्रम को महत्वपूर्ण भी माना गया। इस कार्यक्रम के प्रति जनता मे जागृति फैल रही थी। उसे खत्म करने के लिए कार्यसमिति ने यह प्रस्ताव पास कराया है। किन्तु काग्रेस का संसदीय कार्यक्रम तब तक पूरा नही हो सकता "जब तक उसका उपयोग आम जनता के संघर्षों को विकसित करने के लिए न हो, जब तक इन सघर्षों से वह शक्ति प्राप्त न करे।" बयान में जन-संघर्षों और संसदीय कार्यक्रम का यह आपसी सम्बन्ध ठीक बताया गया था किन्तु वह ठीक था स्वतन्त्र पूंजीवादी देश के लिए। पराधीन देश मे संसदीय कार्यक्रम अत्यन्त संकुचित आधारवाली ससदीय प्रक्रिया पर निर्भर था। दूसरे महायुद्ध की पूर्ववेला में वह क्रान्तिकारी आन्दोलन को पथभ्रष्ट करने का साधन था। बयान में वामपन्थी नेताओं ने स्पष्ट कर दिया कि वे काग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को असमंजस में नही डालना चाहते किन्तु देश मे जो जन-संघर्ष चल रहे है, उन्हें

त्याग देना या नये सिरे से संगठित न करना उनके लिए असम्भव है।

दूसरे प्रस्ताव के बारे में बयान में ध्यान दिलाया गया कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल प्रान्तीय कमेटियों के नियन्त्रण से तो मुक्त होंगे ही, वे कांग्रेस कार्यसमिति के नियन्त्रण से भी मुक्त होंगे। उन पर केवल एक संसदीय उपसमिति का नियन्त्रण होगा। प्रस्ताव में कहा गया था कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के कार्य पर सार्वजनिक बहस न होगी। बयान के अनुसार प्रस्ताव का सबसे आपत्तिजनक भाग यही था। मन्त्रिमण्डलों की आलोचना करने का अधिकार कांग्रेसजनों को है और ऐसी आलोचना से लाभ होता है, यह बात अभी तक निर्विवाद थी। उसे निर्विवाद बने रहना चाहिए। दोस्ताना आलोचना से सरकार और जनता के बीच वह स्वस्थ सम्पर्क बना रहता है जो किसी भी लोकप्रिय सरकार को शक्तिशाली बनाता है।

१९३९ में तथाकथित लोकप्रिय सरकारों को शक्तिशाली बनाने का प्रश्न न था। ऐसी बात उन्हें कहनी चाहिए जिनके अनुसार १९३५ के क़ायदे-क़ानून ने भारत को लगभग स्वाधीन राष्ट्र बना दिया हो। भारत स्वाधीन नहीं था, इसलिए सरकार और जनता के बीच का सम्पर्क स्वस्थ न हो सकता था। वामपक्षी गुटों ने फैसला किया कि वे सभाओं और प्रदर्शनों द्वारा सारे देश में इन प्रस्तावों का विरोध करेंगे। यह बयान २ जुलाई १९३९ के 'नेशनल फ्रण्ट' में प्रकाशित हुआ था। विरोध प्रदर्शन के लिए ९ जुलाई का दिन निश्चित किया गया। ९ जुलाई से दो दिन पहले कांग्रेस के अध्यक्ष राजेन्द्रप्रसाद ने एक बयान जारी किया कि कांग्रेस कमेटियाँ और कांग्रेस के पदाधिकारी ९ जुलाई के प्रदर्शनों में भाग न लेंगे। १६ जुलाई के 'नेशनल फ्रण्ट' ने अपने सम्पादकीय में कहा, ऐसा लगता है कि यह पाबन्दी कांग्रेस के चवन्नी मेम्बरों पर भी लागू की गयी है। राजेन्द्रप्रसाद तो दक्षिणपन्थी नेता माने जाते थे। 'नेशनल फ्रण्ट' को आश्चर्य हुआ कि जवाहरलाल नेहरू ने विरोध-प्रदर्शन को कांग्रेस के खिलाफ बगावत कहा। संसार संकट के कगार पर है। ऐसे समय में विरोध-दिवस का आयोजन, नेहरूजी के अनुसार, भारी अदूरदर्शिता का परिचय देनेवाला था; यह न राष्ट्रीयता है न समाजवाद है। 'नेशनल फ्रण्ट' ने पूछा—गैर-संसदीय सभाएँ संसदीय कार्रवाई के मातहत हों, यह कांग्रेस का सिद्धान्त कब से बना? नेहरूजी के शब्द दोहराते हुए पत्र ने लिखा कि संसार संकट के कगार पर है, इसलिए सत्याग्रह-विरोधी प्रस्ताव पास करना भारी अदूरदर्शिता ही नहीं है वरन् राष्ट्रीय संग्राम के प्रति घोर अपराध है। औपचारिक अनुशासन के फेर में खतरनाक प्रस्तावों के विरुद्ध आन्दोलन करने के अधिकार से कांग्रेस-जनों को वंचित नहीं किया जा सकता। "अपने बयान में नेहरू उन दक्षिणपंथियों के हाथ में खेल गये हैं जो वामपक्ष को फूटपरस्त कहकर उसकी निन्दा करने पर तुले हुए थे और जिन्हें इस बात से गहरी दिलचस्पी है कि वामपक्ष को एकजुट करनेवाली जो समिति बनी है, वह टूट जाये।" जुलाई १९३९ के घटनाक्रम में कांग्रेस के भीतर वामपन्थ और दक्षिणपन्थ का भेद उभरकर सामने आया। साम्राज्यवाद के विरुद्ध सुसंगत रूप से लड़ने के लिए संयुक्त मोर्चे में कांग्रेस के समूचे नेतृत्व को रखना ही होगा, ऐसे हठ का कोई आधार न रह गया। जवाहरलाल नेहरू दक्षिणपन्थी नेताओं से कितनी दूर हैं और कितना उनके

पास, यह भी स्पष्ट हो गया।

१६ जुलाई १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' ने राजेन्द्र बाबू के आह्वान की तुलना बिन बादल के आकाश से गिरनेवाली बिजली से की। उसके बाद नेहरूजी ने जो बयान दिया, उसकी तुलना उसने पीठ मे छुरा भोकने से की। क्रान्तिकारी राष्ट्रीय मोर्चा बनाना कितना कठिन था, उसका आधार नेताओं और राजनीतिक गुटों की जोड़-तोड नही वरन् किसानो और मजदूरों के सुदृढ संगठन और उनकी एकता ही हो सकती है, यह स्पष्ट होता गया। ९ जुलाई के समाचारपत्रों मे ऐम. ऐन. राय की अपील भी छपी। अपील नेहरू से की गयी थी कि वह काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को उस दिन के प्रदर्शनों मे भाग लेने से रोकें। 'नैशनल फ्रण्ट' ने इस अपील को विश्वासघाती कहा। राय अपने को सुसंगत वामपंथी कहते थे किन्तु "राष्ट्रीय पैमाने पर एकताबद्ध होकर जब पहली बार वामपक्ष क्रियाशील हुआ तब वह उसे तोड रहे थे। तथाकथित वामपन्थी राय राष्ट्रीय एकता के विध्वंसक पहले ही थे, अब वह वामपक्ष की एकता के विध्वंसक भी बने। वैकल्पिक नेतृत्व की वकालत करनेवाले राय अमल मे यह सलाह दे रहे थे कि दक्षिणपन्थी विघटनकारी नीति के सामने घुटने टेक दो। जो विघटनकारी नीति शब्दाडम्बर द्वारा राजनीति मे अपने को सबसे ज्यादा वाम दिखलाती थी, वह परीक्षा की घड़ी आने पर बेनकाब हो गयी, और सिद्धान्तहीन अवसरवाद तथा खालिस फूटपरस्ती के रूप मे सामने आ गयी।" इस टिप्पणी से दो बातें सिद्ध होती हैं। पहली यह कि राष्ट्रीय मोर्चे की एकता के लिए वामपक्षी एकता जरूरी है; जो वामपक्षी एकता मे फूट डालता है, वह राष्ट्रीय एकता में भी फूट डालता है। दूसरी यह कि वामपक्ष मे अवसरवादियों से संघर्ष किये बिना स्वय वामपक्ष मजबूत नही हो सकता और वह राष्ट्रीय मोर्चे को भी मजबूत नही कर सकता। 'नैशनल फ्रण्ट' के अनुसार काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने दक्षिणपन्थी आक्रमण के प्रति तटस्थ रहने की नीति अपनायी थी। फिर भी सोशलिस्ट पार्टी की कार्यसमिति ने तै किया था कि लोग ९ जुलाई के प्रदर्शन

१६ जुलाई के उसी अंक मे सज्जाद ज़हीर ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी पर अपने लेख मे मसानी आदि के लेख की चर्चा की। उक्त चारों व्यक्तियो ने काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कार्यसमिति से इस्तीफा दे दिया था। इन्होने अपने बयान मे कहा था कि त्रिपुरी काग्रेस के बाद से कार्यसमिति मे मतभेद बढ़ता गया था। जब पार्टी ने वामपक्ष को एकजुट करनेवाली समिति में भाग लेने का फैसला किया, तब कार्यसमिति के बहुमत और इस गुट के बीच का फासला बढ़ गया। बयान में यह भी कहा गया था कि सोशलिस्टो के सहयोग के कारण काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी मे कम्युनिस्ट प्रभावशाली हो गये है। "बयान मे आगे कहा गया है कि यह बात अवांछनीय है क्योकि भारतीय कम्युनिस्ट सोवियत सरकार के ऐजेण्ट हैं और कांग्रेस, अहिसा, जनतन्त्र, सोवियत संघ, उपनिवेशों की जनता और युद्ध को लेकर उनसे काग्रेस सोशलिस्टों का मतभेद है।"

युद्ध में सोवियत संघ के शामिल होने से पहले, कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा लोक

युद्ध का नारा दिये जाने के पहले, दरअसल दूसरा महायुद्ध छिड़ने से पहले ही, कम्युनिस्ट-विरोध का झण्डा उठाकर सोशलिस्ट पार्टी का एक अंग सामने आ गया था। इस समय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में कम्युनिस्ट शामिल थे। सज्जाद ज़हीर उसकी राष्ट्रीय कार्यसमिति के सदस्य थे। आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण आदि अन्य सोशलिस्ट नेता अभी कम्युनिस्टों के साथ मिलकर काम कर रहे थे। जयप्रकाश नारायण ने तीन साल पहले सभी समाजवादियों के लिए मार्क्सवाद को मार्गदर्शक माना था। उस पुस्तिका में गांधीवाद की खरी आलोचना की गयी थी। सज्जाद ज़हीर ने उस पुस्तिका का हवाला देते हुए बताया कि पटवर्धन जैसे लोग मार्क्सवादी रास्ते से हटकर गांधीवाद का समर्थन कर रहे हैं। एक सप्ताह पहले ६ जुलाई के 'नेशनल फ्रण्ट' में इसी विषय पर सोमनाथ लाहिड़ी का लेख प्रकाशित हुआ था। उस लेख में उन्होंने मसानी, पटवर्धन, लोहिया और अशोक मेहता के बयान के उस पक्ष पर खासतौर से ध्यान दिया था जिसमें वामपक्षी एकता को सुदृढ़ करने की नीति की नुक्ताचीनी की गई थी। लाहिड़ी ने लिखा था कि ये लोग वामपक्ष को सुदृढ़ करने के विरुद्ध इसलिए हैं कि इससे कांग्रेस दो अलग-थलग गुटों में बँट जायेगी। इसके बदले सारी कांग्रेस को प्रभावित करके उसे गर्मदली बनाना चाहिए। कांग्रेस के इतिहास में अनेक बार जवाहरलाल नेहरू ने भी ऐसा ही तर्क दिया था और वह कांग्रेस के भीतर ही नहीं सारे देश के भीतर दक्षिणपन्थ और वामपन्थ का भेद मिटा देने की बात कहते थे। लाहिड़ी ने बड़ी पते की बात कही थी, "इन लोगों के लिए समूची कांग्रेस की एकता अपने आपमें एक हवाई लक्ष्य बनकर रह जाती है। किन्तु कांग्रेस की एकता जब तक साम्राज्य-वाद के खिलाफ संघर्ष के लिए एकता न हो, तब तक वह एकदम निरर्थक हो जाती है।" यह बात पते की इसलिए थी कि आगे चलकर सज्जाद ज़हीर ने जोशी, अधिकारी आदि नेताओं के साथ जब कांग्रेस और मुस्लिम लीग की एकता का नारा दिया, तब यह नारा भी एकदम निरर्थक था क्योंकि साम्राज्य-विरोधी लड़ाई से उसका कोई सम्बन्ध न था। लाहिड़ी ने लिखा कि दक्षिणपन्थ समझौते की राह पर चल रहा है और इस कारण जो लोग किसी समझौते के बिना लड़ाई चलाना चाहते हैं, उनसे उसका विरोध बढ़ता जाता है। जो लोग सारी कांग्रेस को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करना चाहते हैं, उनकी एकता जरूरी है। इन्हें मिलकर संघर्ष-विरोधी प्रवृत्ति से लड़ना चाहिए और जो लोग संघर्ष के रास्ते पर चलना चाहते हैं, उनका एका मजबूत करना चाहिए।

लाहिड़ी ने आगे लिखा, "समाजवादी आन्दोलन का आधार है मार्क्सवाद-लेनिनवाद। उससे हम क्या सीखते हैं? हम यह सीखते हैं कि किसी उपनिवेश में, पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति में भी, सर्वहारा को राष्ट्रीय संग्राम में पहल करनेवाला और उस संग्राम का संगठनकर्त्ता होना चाहिए; जो भी शक्तियां राष्ट्रीय संग्राम का समर्थन करती हों, उसे उनका नेता होना चाहिए। आज स्थिति क्या है? सारा संगठित किसान-आन्दोलन सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधियों, कम्युनिस्टों और सोशलिस्टों, के एकमात्र निर्देशन और नेतृत्व में बढ़ा है और अब भी बढ़ता जा रहा है। इससे हमें अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी करने के लिए ज़बर्दस्त साधन

...वामपक्ष को एकजुट करें ... सम्भावना पैदा होती है कि अपनी
एकजुट करें जो साम्राज्यवाद के खिलाफ तुरन्त लडाई चलाने के पक्ष मे हैं। इस
...ारी समर्थन के बल पर हम कांग्रेस के भीतर समझौते और ढुलमुलपनवाली
...वृत्तियो को खत्म करने मे सफल हो सकते है और सारी कांग्रेस को संघर्षपथ
... ओर मोड सकते हैं।"

लाहिडी ने कहा कि अभी तक वामपक्ष फूट और ढुलमुलपन के विरुद्ध संघर्ष
...ा रहा है। इस समय दक्षिणपन्थ ने और भी जोर से आक्रमण किया है। इस
...ण वामपक्ष की एकता पहले से भी अधिक आवश्यक है। इस एकता के अभाव
...ग्रेस की एकता भी कायम न रह सकेगी। मसानी आदि के रुझान को मार्क्स-
...राह से अलग हटने का नतीजा बतलाते हुए उन्होने कहा कि ये लोग राष्ट्रीय
...नता आन्दोलन मे सर्वहारा वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका स्वीकार नही
... सघर्ष के लिए एकता को आधार बनाये बिना समूची कांग्रेस को प्रेरित
...ी नीति का अर्थ होता है सघर्ष-विरोधी पूंजीपतिवर्ग के नेतृत्व के आगे
...र्पण। उसका तर्कसंगत परिणाम है शान्तिपूर्ण और वैध उपायो पर
...ा। गाधीजी की तरह इनके लिए भी साधन का महत्व साध्य मे बढकर
...। संघर्ष के रूप समाज की स्थिति से किस तरह जुडे हुए है, इसका
...करते हुए लाहिडी ने लिखा, "सघर्ष की मजिलो के अनुसार संघर्ष
...होते है। किन्ही मजिलो मे शान्तिपूर्ण और वैध उपाय सघर्ष को
...जीवन देते है। इस कारण उत्पीडित वर्ग इनका उपयोग करते है जैसा
...तः अभी वे भारत मे कर रहे है। किन्तु आधुनिक राज्यसत्ता का
...गठित हिसा। शान्तिपूर्ण और वैध उपायोवाला संघर्ष जितना ही तीव्र
...ा ही सत्ताधारियो द्वारा उत्पीड़ित जनो की आकाक्षाओ के विरुद्ध
...हार अनिवार्य होता जाता है। ऐसी स्थिति मे हिसा मे पूरी तरह
...ा मतलब होता है जालिमों की हिसा को मजूर करना। वर्गयुक्त
...श्व के इतिहास के विवेचन से यह साबित हो चुका है कि उत्पीडित
...ाओ को ध्वस्त करने के लिए साम्राज्यवाद और पूंजीवाद अपनी
...ा उपयोग करते रहे है और वे ऐसा करने को बाध्य हुए थे।
...को बलपूर्वक रोकने की बात न मानने का अर्थ है आम जनता
...की शक्तियो के आगे आत्मसमर्पण के लिए कहना। यह समाज-
...समाजवाद का निहायत घटिया विरोध है।" जो भी २०वी
...ण मे भारत की परिस्थितियो पर ध्यान देगा, वह मानेगा कि
...ी बातें आज भी प्रासगिक हैं। सत्ताधारी वर्ग उन्ही पुरानी
... जिन्हे वह चालीस साल पहले कहता था। मार्क्सवादियो ने
...र दिया था, उसका युक्तिपूर्ण खण्डन न तब किया गया था
...गया है। वामपक्ष की एकता राष्ट्रीय एकता के लिए क्यो
...ा की एकता कायम करना कितना कठिन कार्य है, ये दोनो
...र्क्सवादी लेखो से समझ मे आती हैं।

तमाम पाबन्दियाँ लगाने के बावजूद ६ जुलाई को जगह-जगह सभाएँ और प्रदर्शन हुए। बम्बई की एक सभा का विवरण इस प्रकार है: "कम्युनिस्टों की ओर से रणदिवे ने भाषण किया। बार-बार उनके भाषण का स्वागत जबर्दस्त करतल-ध्वनि से हुआ। उन्होंने मुख्य शत्रु ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर ध्यान केन्द्रित किया। इससे लड़ने के लिए कांग्रेस की एकता और जनता की जुझारू शक्ति को और मजबूत करना जरूरी था, न कि इन्हें विघटित करना जैसा कि राष्ट्रीय नेतृत्व करना चाह रहा था। क्या होना चाहिए? कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल जनता के आन्दोलन का समर्थन करें या मन्त्रिमण्डलों को बनाये रखने के लिए जनता अपना आन्दोलन बन्द कर दे? हमारे पास कांग्रेस एक बहुत बड़ा हथियार है। संघर्ष के लिए और संघर्ष के द्वारा उसे लगातार पैनाये रखना जरूरी है। यदि नेतृत्व को उसकी मौजूदा राह पर चलने दिया गया तो कांग्रेस महिलाओं की छतरी बनकर रह जायेगी।" ६ जुलाई की सभाओं और प्रदर्शनों के विवरण १६ जुलाई के 'नैशनल फ्रण्ट' में छपे। कानपुर में कम्युनिस्टों, सोशलिस्टों और रायवादियों ने मिलकर प्रदर्शन किये। उन्नाव की तहसीलों में तीन सभाएँ कांग्रेसी एम. एल. ए. लोगों ने सम्बोधित कीं। "संयुक्त वामपक्ष ने एक ही दल के समान आगरे में कार्य किया। कांग्रेस और छात्रों के झण्डे तथा लाल झण्डे जुलूस के ऊपर फहराते रहे और जोरदार नारे सुनायी दिये: एक हो जंग का ऐलान करो! पार्लियामेण्टरी जहनियत का खात्मा हो! रियासती आन्दोलन शुरू करो! ए. आई. सी. सी. रिजोल्यूशन वापस लो!" (ये नारे इसी रूप में 'नैशनल फ्रण्ट' में छपे हैं।)

३० जुलाई १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' में ६ जुलाई के प्रदर्शनों पर सोमनाथ लाहिड़ी का महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन प्रकाशित हुआ। उनका कहना था कि ६ जुलाई से भारतीय जनता के स्वाधीनता संग्राम में एक नया युग शुरू हुआ है। सामूहिक पैमाने पर वामपक्षी राष्ट्रवाद और सर्वहारा तथा किसानों की शक्तियों की एकता अमल में कायम होना शुरू हुई है। बम्बई, कलकत्ता, कानपुर आदि की सभाओं और प्रदर्शनों का हवाला देते हुए उन्होंने कहा कि वामपक्ष को एकजुट करनेवाली कमेटी अर्थात् समाजवादियों और वामपक्षी राष्ट्रवादियों को एकजुट करनेवाली कमेटी ने पहली बार यह राजनीतिक कदम उठाया था। पण्डित नेहरू के लिए और दक्षिणपन्थ के लिए यह सब कांग्रेस में फूट डालने की शुरूआत थी। वामपक्ष में भी कुछ अति उत्साही लोग हैं जिनकी समझ में अब दोनों के रास्ते अलग-अलग हैं। ए. आई. सी. सी. ने सत्याग्रह पर जो पाबन्दी लगायी, उससे कांग्रेस को आगे बढ़ानेवाली प्रेरक शक्ति ही खत्म होती है, जनता की निगाह में कांग्रेस का गौरव समाप्त होता है। "कांग्रेसजनों और प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों तक को कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के मातहत बना देने से ऐसा ही नुकसान होता है। कांग्रेस की पहलकदमी समाप्त होती है, जनता और उसके निर्वाचित प्रतिनिधियों की पहलकदमी समाप्त होती है। वे मन्त्रिमण्डलों के हाथ में खिलौने बनकर रह जाते हैं। सार्वजनिक आलोचना पर प्रतिबन्ध लगाने से उन सुधारवादी और नौकरशाही प्रवृत्तियों को बल मिलता है जो कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों में पनप रही हैं।"

अनुशासन तभी तक मान्य है जब तक वह किसी संस्था के उ
में सहायक हो, यह बताने के बाद जवाहरलाल नेहरू के बारे में लि
स्थिति दक्षिणपन्थ से भिन्न है। "उनमें निम्न पूंजीवादी ढुलमुलपन
और गरमदली प्रवृत्तियों के असर से वह जनता की माँगें स्वीकार
और एकता के लिए सकारात्मक नारे देते हैं। किन्तु जहाँ इनके
संघर्ष करने की नौबत आती है, वहाँ पुराने अटकाव उन्हें थाम लेते
पंथी आक्रमण के सामने वह पस्त हो जाते हैं और अनुशासन की रक्षा
उनके साथ खड़े हो जाते हैं।" युद्ध के दौरान और बाद को नेहरूजी की
मार्क्सवादियों ने जो कुछ लिखा, उसकी तुलना में यह विश्लेषण अधिक
किन्तु सन् '४७ से पहले, और उसके बाद विशेष रूप से, स्वयं नेहरू ने ऐसे
निर्धारित की जिसका परिणाम वही होता था जो दक्षिणपन्थी नीति का
किसी समय उन्हें निम्न पूंजीवादी कहना सार्थक रहा होगा; कुल मिलाक
भारतीय उद्योगपतियों के प्रमुख राजनीतिक प्रतिनिधि की भूमिका निबाह
है। उनका ढुलमुलपन, प्रगतिशील कदम अथवा प्रतिक्रियावादी रुझान, इन स
व्याख्या वर्गआधार पर सम्भव है और यह वर्ग निम्न पूंजीवादी नहीं बड़े
छोटे उद्योगपतियों का है।

लेख के अन्त में सोमनाथ लाहिड़ी ने ठीक लिखा है कि कांग्रेस में दक्षिण अ
वाम टूटकर अलग-अलग न हो जायें, यह इस पर निर्भर है कि हम स्वयं सा
राष्ट्र को अपने साथ कहाँ तक आगे ले जा सकते हैं। लाहिड़ी के इस लेख में वाम
पक्षी एकता के ऐतिहासिक महत्त्व का जोरदार समर्थन है। यह एकता कुछ नेताओं
और गुटों की एकता नहीं है, यह मूलतः किसानों और मजदूरों की एकता है। यदि
किसानों और मजदूरों की एकता उनके जनसंगठनों द्वारा सुदृढ़ नहीं होती, तो
वामपक्षी मोर्चा एक कागजी मोर्चा बनकर रह जायेगा, उसे किसी भी नाम से
पुकारा जाये। लाहिड़ी का कहना कि हम सारे देश को अपने साथ कहाँ तक आगे
ले जा सकते हैं, एक नयी रणनीति की सूचना देता है। यह रणनीति कांग्रेस के
प्रभावशाली नेतृत्व में अपीलें करने के बदले उसे जनता की कार्रवाई द्वारा झुकाने
पर जोर देती है, उसके ढुलमुलपन को खत्म करने का सही रास्ता बतलाती है।
इस रणनीति को लागू करने के लिए धैर्य और लगन के साथ किसानों और
मजदूरों में काम करना जरूरी था। मार्क्सवादी नेता सुसंगत रूप से संघर्ष चलाने
की बात करते थे किन्तु उनमें काफी लोग ऐसे थे जो धैर्य खोकर राष्ट्रीय एकता के
नाम पर दक्षिणपन्थी नेताओं के पीछे चलने को तैयार हो जाते थे। भारत आज
जिस स्थिति में है, उसका मूल कारण यही है।

६ अगस्त १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के बारे में
सम्पादकीय रूप से लिखा कि साम्राज्यवाद ने उनका उपयोग हमारी एकता को
तोड़ने के लिए किया है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने वामपक्षी आन्दोलन को दमन के
द्वारा समाप्त करने की बराबर कोशिश की पर वह सफल न हुआ। "साम्राज्य-
वाद ने हमारी एकता को तोड़ने और शक्ति को ध्वस्त करने के लिए नयी रणनीति
निकाली। उसने नया संविधान लागू किया जिसमें कि ये झूठे सुधार उसके विरुद्ध

साम्राज्यविरोधी ताकी

बढ़नेवाली कोटि-कोटि जनता का अभियान रोक दें और वह शत्रु को अपने बाहर देखने के बदले उसे अपने मोर्चे के भीतर ही खोजना शुरू कर दें। क्या हम इस जाल में फँस जायेंगे? पदग्रहण के बाद गाधीजी निरन्तर यह उपदेश देते रहे है कि संघर्ष के बारे मे चिल्लाने के बदले यदि हम शत्रु के हृदय-परिवर्तन की कोशिश करें तो हमे स्वराज मिल जायेगा और यह स्वराज जनता नही, मन्त्रिमण्डल हमे देंगे। जनता के लिए प्रायश्चित, शत्रु के लिए शान्ति। यही गाधीजी की नीति है।" गांधीजी रचनात्मक कार्यक्रम पर, साम्प्रदायिक एकता, अछूतोद्धार और नशाबन्दी पर जोर देते रहे हैं। कांग्रेस इस रचनात्मक कार्यक्रम की मंजिल से आगे बढ़ चुकी है। लखनऊ कांग्रेस के बाद से वह अधिक यथार्थवादी कार्यक्रम बनाने मे लगी रही है। उसने कांग्रेस को राष्ट्र की जुझारू शक्तियो का मोर्चा बनाने की बात कही है, मजदूरों और किसानो के आन्दोलन द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन को एकताबद्ध करने की बात कही है। यह बात उसके चुनाव घोषणा-पत्र मे है, उसके प्रस्तावो मे है, उसके अध्यक्ष नेहरू और बोस के भाषणो में है। साम्राज्यवाद किसानों और मजदूरों के जबर्दस्त उभार से आतंकित है। वह कांग्रेस से मीठी-मीठी बातें करता है; कहता है तुम अहिंसावादी हो, ये किसानों और मजदूरों के आन्दोलन हिंसावादी है, इनसे अलग हो जाओ। गांधीजी इससे सहमत हो जाते हैं। "राष्ट्रीय नेतृत्व कभी भी मन से कांग्रेस के नये कार्यक्रम पर विश्वास न करता था। वह समझौते की अपनी नीति पर अडिग रहा और कांग्रेस के प्रस्तावों को शब्दजाल मात्र समझता रहा। किन्तु जब जनआन्दोलन उस नीति को लेकर आगे बढ चुका है, जब उसके आधार पर राष्ट्रीय संग्राम की मांग हो रही है, जब संघ [फेडरेशन] को लादने का दिन नजदीक आ रहा है, तब राष्ट्रीय नेतृत्व अपना कदम उठाने का फैसला करता है, लेकिन उल्टा कदम उठाने का : कांग्रेस अपनी नीति को लागू करने मे थमी रहे और कांग्रेसजन चुप रहें, नही तो बाहर जायें।" विश्व-परिस्थितियो की ओर सकेत करते हुए सम्पादकीय टिप्पणी के लेखक ने कहा, "कांग्रेस ने जो संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे की नीति अपनायी, वह हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर विश्व समाजवादी आन्दोलन के प्रभाव का नतीजा थी और भारतीय समाजवादियों के प्रयत्न का फल थी। अब तक की सारी कमाई सकट में है। उसे बचाने के लिए आगे आना है किन्तु राष्ट्रीय एकता की रक्षा कैसे हो सकती है जब तक समाजवादी एकता कायम नही होती? हर गम्भीर समाजवादी को इसी बात की ओर तुरंत ध्यान देना है।"

## ५. साम्प्रदायिक समस्या और सुधारवादी रुझान

३१ दिसम्बर १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' मे संविधान सभा पर एक लेख छपा है। इसमे साम्प्रदायिक समस्या के बारे मे एक नये दृष्टिकोण का सकेत मिलता है। समस्या की पृष्ठभूमि यह है कि युद्ध छिड़ने से राष्ट्रीय नेताओं के मन में नयी आशा का सचार हुआ। उन्होंने सोचा कि युद्ध की कठिनाइयों से साम्राज्यवाद का दिमाग ठीक हुआ होगा और वह उनकी मांग कम-से-कम आंशिक रूप मे मान लेगा। "वह आशा फलवती न हुई। कांग्रेस की मांग अस्वीकार कर दी गयी।

कांग्रेस को ब्लैक-मेल करने के लिए साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादियों को इस्तेमाल किया गया, यह धमकी दी गयी कि यदि कांग्रेस अपनी माँग पर अड़ी रही तो दंगे होंगे। साम्प्रदायिक समस्या के समाधान का एक क्रान्तिकारी तरीका था। कांग्रेस साहसपूर्वक घोषणा करे कि वह मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक मांगें स्वीकार करती है, मुस्लिम लीग और मुस्लिम जनता का आह्वान करे कि वे राष्ट्रीय माँग को मनवाने के लिए कांग्रेस का साथ दें, युद्ध के जिन परिणामों से जनता के सभी स्तर पीडित हैं, हिन्दू और मुसलमान दोनो पीड़ित है, उनके विरुद्ध हक़ीकत में संघर्ष छेड़ दिया जाये, आर्थिक कठिनाइयो और राजनीतिक दमन के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा जाये। इससे साम्प्रदायिकता का खतरा जल्दी ही खत्म कर दिया जाता या कम से कम बहुत कमजोर बना दिया जाता। सामान्य संघर्ष मे हिन्दू-मुस्लिम जनता की जुझारू एकता सुदृढ़ होती। राष्ट्रीय नेतृत्व ने जानबूझकर यह तरीका ठुकरा दिया।"

१६२० से १६४० तक की अवधि में मुस्लिम लीग को भारत के राष्ट्रवादी आमतौर से साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी संगठन मानते थे, उनकी दृष्टि में वह राष्ट्रीय आन्दोलन में फूट डालने के लिए साम्राज्यवाद का साधन थी। यह दृष्टि केवल कांग्रेसजनों की ही नही थी, कम्युनिस्टों की भी थी। १६३७ में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने के बाद जनता मे जो असन्तोष बढ़ा, उससे लाभ उठाकर मुस्लिम लीग ने पिछड़े हुए मुसलमानों में अपने प्रभाव का विस्तार किया। इस प्रभाव-विस्तार का सीधा कारण कांग्रेसी नेताओं का सुधारवाद था। इसी सुधारवादी राजनीति के कारण कांग्रेस ने साम्राज्यवाद द्वारा दी हुई रियायतें स्वीकार करके मन्त्रिमण्डल बनाये। जिन प्रान्तों मे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने, उन्ही मे मुस्लिम लीग ने सबसे ज्यादा जोर पकड़ा। इस तथ्य से यह बात साबित होती है कि मुस्लिम लीग के प्रभाव के बढने का सीधा सम्बन्ध अंग्रेजों के बनाये हुए १६३५ के कानून के अन्तर्गत पदग्रहण से था। इससे यह नतीजा निकलता है कि मुस्लिम लीग का प्रभाव खत्म करने के लिए ब्रिटिश संविधानवाद के चौखटे से बाहर निकलना जरूरी था, उन रियायतों को ठुकराना जरूरी था जिनके ज़रिये अंग्रेज़ साम्प्रदायिकता को बढावा देकर राष्ट्रीय आन्दोलन में फूट डाल रहे थे। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का समर्थन अप्रत्यक्ष रूप से १६३५ के कानून का समर्थन था। दो बातें एक साथ न हो सकती थीं, मन्त्रिमण्डलों का समर्थन करना और मुस्लिम लीग के प्रभाव को कम करना। यह अनिवार्य था कि जो लोग अंग्रेज़ों के बनाये हुए संविधानवाद के मार्ग पर चल रहे थे, वे मुस्लिम लीग का प्रभाव खत्म करने में असफल हों और आगे चलकर उससे समझौता करें।

कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं में राष्ट्रीय-संयुक्त मोर्चे को लेकर तगड़ा सुधारवादी रुझान था। वे कांग्रेसी मन्त्रियों को जनता के मन्त्री कहने लगे थे, मन्त्रिमण्डल बनाने को साम्राज्यविरोधी रणनीति का कौशल समझने लगे थे। मन्त्रिमण्डलों का निर्माण कांग्रेसी सुधारवाद का फल था। इस सुधारवाद को जो लोग साम्राज्यविरोधी कौशल बता रहे थे, वे सुधारवाद का समर्थन करने के बदले और क्या कर रहे थे? कांग्रेसी नेता चतुर थे। उन्होंने ब्रिटिश सुधारों को ठुकराने

के बहाने उन्हें स्वीकार किया; उन्होने कहा, हम मन्त्रिमण्डल बनाकर सन् ३५ का काला कानून विधान सभाओ के भीतर घुसकर तोड़ेंगे। इस कानून मे साम्प्रदायिक आधार पर मुसलमानो को विशेष रियायतें दी गयी थी। उसमे राष्ट्रीय विघटन के बीज विद्यमान थे। इन बीजो को अंकुरित करने का काम मन्त्रिमण्डलो ने किया। मुस्लिम लीग ने कहा, अभी इनके हाथ मे पूरी सत्ता नही है, तब ये मुसलमानो को इतना सता रहे है; जब इनके हाथ मे पूरी सत्ता आ जायेगी, तब ये मुसलमानों को नेस्तानाबूद करके ही दम लेंगे। इसलिए मुसलमानो का अलग राज्य बनना चाहिए, वे हिन्दुओ के अधीन होकर एक ही राज्य मे कभी न रहेगे। १९३५ के कानून मे मुस्लिम सम्प्रदायवाद को जो विशेष रियायतें दी गयी थीं, उन्ही का तर्कसंगत विस्तार और प्रसार था १९४० का पाकिस्तान प्रस्ताव।

काग्रेस का प्रमुख गढ़ था सयुक्त प्रान्त। सिन्ध, बंगाल, पंजाब और सीमान्त प्रदेश मे मुसलमानों का अनुपात बहुत अधिक था, सयुक्त प्रान्त मे यह अनुपात बहुत कम था, किन्तु मुस्लिम लीग के आन्दोलन की मुख्य भूमि इसी सयुक्त प्रान्त की भूमि थी। कम्युनिस्ट नेता यह देख रहे थे कि उत्तर भारत में लीग का प्रभाव बढ़ रहा है। उन्होने परिस्थिति की छानबीन शुरू की और इस नतीजे पर पहुँचे कि काग्रेस ने मुस्लिम लीग के जनसमर्थन को समझने मे गलती की है। काग्रेसी नेता बराबर यह दिखाते रहे कि वे साम्प्रदायिकता के विरोधी है, मुस्लिम लीग के विरोधी है, काग्रेस ही मुसलमानों की प्रतिनिधि है, मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक मांगें वे कभी स्वीकार न करेंगे। इसके साथ ही वे अंग्रेजो के बनाये सविधानवादी रास्ते पर आगे बढते गये, सन् ३० या ४२ के से आन्दोलनों मे वे इस रास्ते से थोड़ा-सा हटते थे, लेकिन थोड़ी ही देर के लिए हटते थे, लौटकर फिर उसी पर आ जाते थे। पाकिस्तान बनने तक वे बराबर साम्प्रदायिकता और मुस्लिम लीग के विरोध का डका पीटते रहे लेकिन चलते रहे उस दूसरी सड़क पर जिसके अन्त मे अंग्रेजों से, और मुस्लिम लीग से, समझौता करना अनिवार्य था। यही उनकी चतुराई थी। कम्युनिस्ट नेता मुस्लिम लीग का बढता हुआ प्रभाव देखकर सोचने लगे कि कही न कहीं मुस्लिम लीग की मांगो मे सच्चाई है। लीग को जनसमर्थन मिल रहा है, इसलिए उसकी उचित मांगें स्वीकार करनी चाहिए। इस मुकाम से आगे बढते हुए ये मुसलमानों के आत्मनिर्णय के अधिकार और पाकिस्तान के समर्थन तक पहुँचे। कांग्रेसी नेताओं ने उनकी मूर्खता से लाभ उठाया, उन्हें मुस्लिम लीग का समर्थक कहकर देश के विभाजन के लिए जिम्मेदार ठहराया। किन्तु कम्युनिस्ट नेताओं की यह नीति काग्रेसी सुधारवाद के समर्थन का ही परिणाम थी; काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो का समर्थन करके उन्होने १९३५ के ब्रिटिश कानून का जो समर्थन किया, यह उसी का नतीजा था। बहुत से लोग समझते है कि सन् ४२ मे लोक-युद्ध का नारा देने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने मुस्लिम लीग का समर्थन करना शुरू किया। यह बात गलत है। सन् ४२ मे और उसके बाद कम्युनिस्ट नेताओ ने लीग का समर्थन करके जिस सुधार-वादी रुझान का परिचय दिया, उसकी शुरूआत युद्ध छिड़ने से पहले ही हो चुकी

थी। उसका कारण कांग्रेसी सुधारवाद का समर्थन था, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का समर्थन था। राष्ट्रीय सयुक्त मोर्चे के बारे मे कम्युनिस्ट नेताओ ने जिस गलत समझ का परिचय दिया था, वही जड है उनमे गहरे पैठे हुए सुधारवाद की। कांग्रेसी सुधारवाद के समर्थन का ही एक पहलू था मुस्लिम लीग का समर्थन। इसी का तर्कसंगत परिणाम था, युद्धकाल मे पूरनचन्द जोशी का नारा—कांग्रेस-लीग एक हो !

कम्युनिस्ट पार्टी के एक प्रमुख नेता थे महमूदुज्जफ़र। 'नैशनल फ्रण्ट' के सम्पादक-मण्डल में पांच नेता थे—जोशी, रणदिवे, डागे, अजय घोष और महमूदुज्जफ़र। इनमे रणदिवे और डागे अखिल भारतीय नेता होने के अलावा प्रादेशिक स्तर पर महाराष्ट्र के नेता थे, बाकी तीन प्रादेशिक स्तर पर सयुक्त प्रान्त के नेता थे। महमूदुज्जफर का कार्य-क्षेत्र जोशी और अजय की अपेक्षा संयुक्त-प्रान्त ही अधिक रहा था। उन्होने मुस्लिम लीग के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाने का सवाल उठाया था। उनका लेख 'साम्प्रदायिक अटकाव' ('द कम्यूनल बोल्डर') 'न्यू एज' मासिक (जून १६३६) मे प्रकाशित हुआ था। जिस अनुभव के आधार पर वह परिस्थिति का विवेचन कर रहे थे, वह सयुक्त प्रान्त की परिस्थिति थी और दो वर्षो तक कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने जो कुछ किया था, उसका परिणाम यह परिस्थिति थी। अपने लेख मे उन्होने बताया कि पिछले दो वर्षों में आम जनता के भीतर सगठन और राजनीतिक चेतना की आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय सगठन (कांग्रेस) की शक्ति और प्रभाव मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। कांग्रेसी सरकारो ने जनता को एक हद तक नागरिक अधिकार दिये, आर्थिक राहत दी। आगे बढने की इस प्रक्रिया से उसकी विरोधी प्रतिगामी शक्तियो को भी मैदान मे आने का मौका मिला है। इनमे शायद सबसे महत्वपूर्ण वह अलगाववादी आन्दोलन है जो इस देश के मुसलमानो मे इतनी तेजी से इस समय बढ़ रहा है।

मुस्लिम लीग इन अलगाववादी प्रवृत्तियो को बढ़ावा देनेवाला मुख्य संगठन है। पिछले वर्ष (अर्थात् १६३८ मे, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने के एक वर्ष बाद) कांग्रेस ने लीग से मतभेद दूर करने की कोशिश की किन्तु लीग चाहती है कि उसे मुसलमानो के एकमात्र राजनीतिक सगठन के रूप मे स्वीकार किया जाये। जब तक कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल नही बनाये, तब तक मुस्लिम लीग के नेताओं में राष्ट्रीय आन्दोलन ने कोई खास बेचैनी पैदा नही की। उनके जीवन और अधिकारों में अभी तक सीधा हस्तक्षेप न हुआ था। अब उनमे हलचल शुरू हुई। ये नेता ससदीय गुटबन्दी और ससदीय राजनीति के दायरे में सोच-विचार करते है। "नई सरकारो मे उनके ओहदे और उनकी जगहें अब उनके पास नहीं है। नये कांग्रेसी कानून से उन्हे अपनी जमीदारियों और ताल्लुकेदारियों के लिए खतरा पैदा होता दिखायी देने लगा है। वे डर रहे हैं कि आम जनता के शिक्षित और सगठित होने से उनके आसामी उनके खिलाफ उठ खड़े होंगे। जनमानस में इन्हें निम्न मध्यवर्ग पर उनका जो असर बना हुआ था, वह खत्म हो जायेगा, इन्हें ये भय है। इसलिए अब अपना जनसमर्थन बनाने के लिए ये मजहबी ...

अपना आधार बना रहे हैं।" आम मुसलमान जनता राजनीतिक दृष्टि से पिछड़ी हुई है, गरीब है, और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने उसे मुद्दत से दबा रखा है। इस-सबसे वे फायदा उठा रहे हैं। उनका कहना है, कांग्रेस हिन्दू पूंजीपतियों का संगठन है जो साम्राज्यवाद से अपने लिए ज्यादा-से-ज्यादा रियायतें पाने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मिलकर काम कर रहा है। कांग्रेस जनतान्त्रिक सरकार के लिए जोर लगाती है तो इसका असली उद्देश्य बहुसंख्यक हिन्दुओं के हाथ में हमेशा के लिए सत्ता बनाये रखना है। कांग्रेस राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्र भाषा और राष्ट्रीय शिक्षा के लिए जोर लगाती है। उसका असली उद्देश्य यह है कि वह मुसलमानों की अलग पहचान पूरी तरह मिटा दे और उन्हें अपने हिन्दू दायरे में घसीट ले। हिन्दू और मुसलमान, मजहब के विचार से ही नही, नस्ल के विचार से भी बिल्कुल अलग हैं। अंग्रेज मुसलमानों से दगा कर रहे हैं जैसे कि फिलिस्तीन मे दगा की है। उन्हें उनसे कोई सरोकार न रखना चाहिए। कांग्रेस हिन्दुओं का संगठन है; मुसलमानो का एकमात्र सगठन मुस्लिम लीग है।

लीगी नेताओं की इन बातों का हवाला देने के बाद महमूदुज्ज़फ़र ने लिखा, "इन सभी मे सत्य का अंश है पर उसके साथ असत्य का अंश भी है।" (इस स्थापना से सीधा निष्कर्ष यह निकलता है कि जो सत्य का अंश है, उसे मान लेना चाहिए, जो असत्य का अंश है, उसे छोड़ देना चाहिए अर्थात् आंशिक रूप से कांग्रेस के विरुद्ध मुस्लिम लीग का समर्थन करना चाहिए।) गोरखपुर मे मुस्लिम लीग का सम्मेलन हुआ, वह आंखें खोल देनेवाला था। हिन्दुओं की आलोचना, कांग्रेस की आलोचना और ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आलोचना, सभी का जोरों से तालियाँ बजाकर स्वागत किया गया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति मुस्लिम-लीग मे कोई सुसंगत विरोधभाव नही है। अंग्रेजों से रियायतें पाने के लिए जन-सघर्ष चलाने का कोई परिप्रेक्ष्य नही है। मुस्लिम लीग उन वर्गों के हाथ मे है जो लोकतन्त्र से डरते है। मुस्लिम लीग के प्रति अपने रवैये मे (अर्थात् राष्ट्रीय आन्दोलन और कम्युनिस्ट पार्टी के रवैये मे) सशोधन करना चाहिए। लीग के अनुयायियो की संख्या बढ़ी है, उसका प्रभाव बढ़ा है। अलगाववादी प्रवृत्तियाँ किसान और मजदूरों मे भी पनप रही हैं। लीग को प्रतिक्रियावादी कहना गलत है। इससे मुस्लिम जनता साम्राज्यविरोधी सघर्ष से दूर ठेल दी जायेगी। "*मुस्लिम लीग आज एक वास्तविक जन-सगठन है। आम मुसलमान जनता यह* विश्वास करती है कि उसे अपनी आजादी ब्रिटिश साम्राज्यवाद और हिन्दू पूंजी-वाद से प्राप्त करनी है। हमारा काम यह है कि हम उन्हें अपने संघर्ष मे खींच लायें और उनकी राजनीतिक स्थापनाओं को स्पष्ट करें। यह तब तक नही हो सकता जब तक हम मुसलमान जनता को प्रतिक्रियावादी और क्रान्तिविरोधी कहकर उसे अपमानित करते रहेंगे, उसका संगठित होने का अधिकार अस्वीकार करते रहेंगे, उसकी रोटी-रोजी, उसकी जबानो, उसकी शिक्षा और संस्कृति की उपेक्षा करते रहेंगे।" (महमूदुज्ज़फर ने यह सब दूसरा महायुद्ध शुरू होने से पहले, मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान का प्रस्ताव पास किये जाने से पहले, लिखा था। मुस्लिम लीग के नेता जमींदारियो और ताल्लुकदारियो के लिए चिन्तित थे, यह

बात वह मानते है। ये सामन्ती तत्व ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मुख्य सहायक थे, यह बात वह जानते थे यद्यपि यहाँ लिखी नही है। काग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने से पहले तक मुस्लिम लीग के नेता राष्ट्रीय आन्दोलन से बिल्कुल परेशान न रहे हो, ऐसा तो न था। हर आन्दोलन के बाद साम्प्रदायिक दगो की सख्या और परिमाण मे बढ़ती हुई। किन्तु सन् '३७ के बाद साम्प्रदायिकता मे विशेष बढ़ती हुई। इसका सम्बन्ध कही काग्रेसी सुधारवाद से है, काग्रेस द्वारा अग्रेज़ो के बनाये हुए काले कानून को मान लेने से है, इसकी ओर कोई हल्का-सा इशारा भी इस लेख मे नही है। कांग्रेस मे और उसके चलाये हुए स्वाधीनता-आन्दोलन मे कोई कमी है तो यह कि वह मुसलमानों की उपेक्षा करती है किन्तु वह साम्राज्यवाद से जो रियायतें लेती है, वह मुस्लिम लीग से समझौता करके ही ले पाती है, यह बात महमूदुज्ज़फर ने नही कही। कम्युनिस्ट पार्टी का जो नेता काग्रेसी सुधारवाद से बँधा हुआ है, वह बहुत जल्दी वर्ग-दृष्टिकोण खोकर, वर्ग सगठन बनाने और वर्ग-संघर्ष चलाने की मूल आवश्यकता भूलकर, प्रतिक्रियावादी नेताओ के पीछे छोटा-मोटा जनसमूह भी बढते हुए देखकर आतकित हो उठता है। जिन्हे उस समय लोग क्रान्ति-विरोधी और प्रतिक्रियावादी कहते थे, उन्हे वह मुसलमान जनता से अभिन्न मान लेता है। मुस्लिम लीग को प्रतिक्रियावादी कहना उसे मुसलमानो का अपमान प्रतीत होने लगता है। वह उनकी राजनीतिक स्थापनाओ को स्पष्ट करने का सुझाव देता है जिसका मतलब है साम्राज्यवाद के सहायक सगठनो की माँगो का ऐसा भाष्य करना कि वे, कम-से-कम आशिक रूप में, प्रगतिशील जान पडने लगें। महमूदुज्ज़फर का सारा चिन्तन सयुक्त प्रान्त की स्थिति से प्रभावित है, यह उनका लेख पढ़ने से बराबर स्पष्ट होता जाता है। लीग के जिस सम्मेलन ने उनकी आँखें खोल दी थी, वह सयुक्त प्रान्त के नगर गोरखपुर मे ही हुआ था।)

अलगाववादी प्रवृत्तियो मे जो बढ़ती हुई है, उसका मुख्य कारण यह है कि हम काग्रेस मे एक वास्तविक राष्ट्रीय, असाम्प्रदायिक भावना और विचारधारा का विकास नही कर सके, काग्रेस मे मुस्लिम जनता को खीच लाने मे असफल रहे, उसमे (काग्रेस के प्रति) विश्वास की भावना पैदा करने मे असफल रहे। काग्रेस अपना मुस्लिम जनसम्पर्क का कार्यक्रम अमल मे नही ला सकी।

यदि महमूदुज्ज़फर की ये सारी बातें मान भी ली जायें, तो उनसे यह नतीजा निकलेगा कि जो साम्प्रदायिकता काग्रेस के भीतर है, उसे निकालना चाहिए, न कि यह कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता से समझौता करना चाहिए। और मूल प्रश्न यह है कि काग्रेसी सुधारवाद के मुकाबले कम्युनिस्ट पार्टी अपनी स्वतन्त्र क्रान्तिकारी भूमिका कहाँ तक निबाहती है। लेख मे यह प्रश्न प्रस्तुत ही नही किया गया। लीगी नेताओ की स्थापना के बारे मे आगे महमूदुज्ज़फर ने लिखा कि काग्रेस हिन्दू पूँजीपतियो का संगठन है और अंग्रेजों से मिलकर अपने लिए रियायतें चाहती है, यह बात तब खत्म हो जायेगी जब काग्रेस मुसलमानो को पूँजीपतियों, ज़मींदारों, महाजनो, राजाओं और साम्राज्यवाद के खिलाफ आये दिन की लड़ाइयों मे खीच लायेगी। (यदि कांग्रेस ऐसा करने की स्थिति मे होती तो मुस्लिम लीग का जन्म ही न होता। अपने जन-आन्दोलन चलाने के बावजूद काग्रेस कभी

भी पूरी तरह ब्रिटिश संविधानवाद के चौखटे से बाहर नहीं निकली। भारतीय राजनीति में गांधीजी के आविर्भाव से पहले और उनके आविर्भाव के बाद भी कांग्रेस पर यह बात लागू होती है। अपने जन्म से लेकर अब तक, लगभग एक शताब्दी के जीवन मे, कांग्रेस की अटूट संविधानवादी परम्परा रही है। यह परम्परा पहले बहुत मजबूत थी और अनेक बार बहुत कमजोर दिखायी दी पर वह टूटी कभी नही। इसीलिए उसे अटूट कहा।) लीगी नेता कहते थे कि लोकतन्त्र के लिए जोर लगाकर कांग्रेस हमेशा के लिए हिन्दुओं के हाथ में सत्ता बनाये रखना चाहती है। यह बात तब खत्म हो जायेगी जब कांग्रेस न्यायपूर्ण ढंग से इस बात का ध्यान रखेगी कि "उसके नियन्त्रण में जो भी जनतान्त्रिक संगठन हैं, उनमें मुसलमानों का प्रतिनिधित्व बना हुआ है, जब यह सभी सेवाओं, सरकारी जगहों वगैरह में उनके उचित प्रतिनिधित्व के लिए संघर्ष करेगी।" (यहां वर्ग-संगठन बनाकर वर्ग-हितों के लिए लड़ने की बात छोड़ दी गयी है। उसके बदले मुसलमानों को साम्प्रदायिक आधार पर उचित प्रतिनिधित्व देने की बात कही गयी है और यह प्रतिनिधित्व सरकारी नौकरियों में भी होगा। वर्ग-संगठनों और वर्ग-संघर्ष के अभाव में साम्प्रदायिकता कैसे बढ़ती है, इसका उदाहरण यहां मौजूद है। मुसलमानों को उचित प्रतिनिधित्व मिलेगा तो मानी बात है, हिन्दू भी अपने लिए उचित प्रतिनिधित्व की मांग करेंगे। यदि महमूदुज्जफर से कहा जाता कि आपकी नीति से मुस्लिम साम्प्रदायिकता ही नही, हिन्दू साम्प्रदायिकता भी उभरेगी तो वे जरूर नाराज होते। पर एक सम्प्रदाय को वर्गआधार से हटकर साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व देने का मतलब ही होता है दूसरे सम्प्रदाय के प्रतिक्रियावादी नेताओं को आगे बढ़ने का अवसर देना। जब किसी जाति के लोग सम्प्रदायों के आधार पर संगठित होंगे, तो उनमें जातीयता का भाव क्षीण होगा, यह अनिवार्य है। वर्ग-संगठन और वर्ग-संघर्ष के बिना जातीयता सुदृढ नहीं होती वरन् भीतर से टूटती है। केवल पूंजीवादी विचारक कहते है कि वर्ग-संघर्ष चलाने से जातीय एकता खण्डित हो जायेगी। वास्तव में जातीय एकता को खण्डित करनेवाले ये पूंजीवादी विचारक है जो साम्प्रदायिकता से समझौता करते है। और वे ऐसा समझौता करने को बाध्य है क्योंकि उनकी रणनीति साम्राज्यवाद पर दबाव डालने के बावजूद उससे समझौता करने की ही है। और साम्राज्यवाद कहता है, हमसे समझौता करना है तो अमुक संगठन के नेताओं से समझौता करो; तुम्हारे राष्ट्रीय नेता होने का दावा हम नहीं मानते; तुम एक सम्प्रदाय के नेता हो, तुम्हारे विरोधी दूसरे सम्प्रदाय के नेता हैं। अकेले तुमको कैसे सत्ता सौंप दें? साम्राज्यवाद की इस नीति को विफल करने की शक्ति केवल जनता के क्रान्तिकारी वर्ग-संगठनों में है, साम्प्रदायिक संगठनों में नहीं, ये संगठन चाहे छोटे सम्प्रदाय के हों चाहे बड़े सम्प्रदाय के।)

लीगी नेता कहते थे कि कांग्रेस राष्ट्रीय संस्कृति आदि की जो चर्चा करती है, उसका उद्देश्य मुसलमानों की अलग पहचान मिटाना है। यह बात तब खत्म हो जायेगी, "जब कांग्रेस हकीकत में मुसलमानों के लिए बड़े पैमाने पर उर्दू के प्रसार और उसकी सुरक्षा का समर्थन करेगी और जनता के इस पिछड़े हुए भाग की

शिक्षा को प्रोत्साहन देगी। यदि मुसलमान जनता अपनी भाषा बनाये रखना चाहती है और उसका विकास सबसे अच्छी तरह उस भाषा के माध्यम से ही हो सकता है, तो इस पर हमारी ओर से कोई आपत्ति न होनी चाहिए।"

(यहाँ महमूदुज्ज़फ़र ने उर्दू के साथ हिन्दुस्तान के सारे मुसलमानों का सम्बन्ध जोड़ा है। कश्मीर, सिन्ध और बंगाल जैसे प्रदेशों में मुसलमानों की भारी संख्या है और उनकी भाषा उर्दू नहीं है. यह बात उनके दिमाग में आती ही नहीं है। इसका कारण यह है कि वह सारे देश के मुसलमानों की समस्या को संयुक्त प्रान्त की सीमाओं के भीतर से देख रहे हैं। यदि यह मान लिया जाये कि संयुक्त प्रान्त के मुसलमानों की भाषा उर्दू ही है अथवा समूचे हिन्दी प्रदेश के मुसलमानों की भाषा उर्दू है, तो भी वह सारे देश के मुसलमानों की भाषा कैसे होगी ? यदि कोई आदमी, वह मार्क्सवादी ही क्यों न हो, अपने ऊपर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को हावी होने देगा तो वह विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाली जातियों के अस्तित्व को अवश्य दरकिनार करेगा। यदि वह मान ले कि कश्मीरी, सिन्धी, बलूची, पठान, बंगाली मुसलमानों की अपनी-अपनी भाषाएँ है तो सारे देश के मुसलमानों के साथ किसी एक भाषा को जोड़नेवाला खेल ही खत्म हो जाये। यह स्वाभाविक है कि उर्दू को मुसलमानों की अपनी भाषा कहा जायेगा तो दूसरे सम्प्रदाय के नेता हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा कहेंगे। हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की, ये दो अलग-अलग भाषाएँ है, इस स्थापना को निखार-सँवारकर आगे सज्जाद ज़हीर ने प्रस्तुत किया किन्तु सबसे पहले, कम-से-कम बीज-रूप में, उसे प्रस्तुत करने का श्रेय महमूदुज्ज़फ़र को है।)

लीगी नेता चौथी बात यह कहते थे, हिन्दू और मुसलमान धर्म से ही नहीं नस्ल से भी अलग-अलग है। महमूदुज्ज़फर के अनुसार इससे देश दो साम्प्रदायिक भागों में बँट जायेगा। यह बात तब खत्म हो जायेगी जब दोनों सम्प्रदायों के बीच व्यवहार बढ़ेगा, एक-दूसरे के रीति-रिवाज के प्रति सहनशीलता होगी और ऐसी सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार होगा जिसमें विभिन्न जातीय गुटों के सामान्य उद्गम पर जोर दिया जायेगा, इस देश के विभिन्न साम्राज्यविरोधी वर्गों के सामान्य उद्देश्यों पर जोर दिया जायेगा जिससे अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम बढ़ेगा और उसके हर अंग को सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उन्नत करने की इच्छा पैदा होगी। हमें आम जनता को बताना चाहिए कि विभिन्न भागों में बाँटे जाने से उसके सिर पर आर्थिक बोझ और बढ़ जायेगा, पहले से भी ज्यादा शोषण होगा, "इसके अलावा साम्राज्यवादी प्रभुत्व पहले से भी अधिक सुदृढ़ हो जायेगा।" (इसमें सन्देह नहीं कि देश का विभाजन होने से आम जनता का शोषण बढ़ गया है, उसके सिर पर जो आर्थिक बोझ पहले था, वह और भारी हो गया है। यद्यपि मुस्लिम लीग ने अभी पाकिस्तान का प्रस्ताव पास न किया था किन्तु उसकी चर्चा होने लगी थी। इसीलिए महमूदुज्ज़फर ने विभाजन के परिणामों की बात लिखी थी। शोषण के बढ़ने का एक कारण यह था कि विभाजन से साम्राज्यवाद ने जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन में ज़बर्दस्त विघटन पैदा किया। देश के विभाजन को तीस साल से ऊपर हुए, पाकिस्तानी क्षेत्रों में जन-

वादी आन्दोलन अभी भी बहुत कमजोर है। इन क्षेत्रों पर साम्राज्यवादी प्रभुत्व और सुदृढ़ हुआ है। महमूदुज्जफ़र ने नस्लभेदवाली बात की सीधी आलोचना नहीं की। उन्होंने विभिन्न जातीय गुटों (एथ्नोलोजीकल ग्रुप्स) के सामान्य उद्गम (कौमन पैरेण्टहुड) की बात कही है। यदि यहाँ विभिन्न नस्लों के लोग रहते हैं, तो एक ही नस्ल उनका उद्गम नहीं हो सकती। सबसे पहले मुसलमानों को, और हिन्दुओं को भी, यह समझाने की जरूरत थी कि अरब, ईरानी और तुर्क, भाषा और संस्कृति के विचार से, तीन अलग समुदायों के लोग हैं। विभिन्न जातियों का धर्म एक होने से उनकी जातीय विभिन्नता खत्म नहीं हो जाती, वे एक कौम नहीं हो जाते। इसी तरह हिन्दुस्तान के सारे मुसलमान एक कौम नहीं हैं। महमूदुज्जफ़र ने, और उनके बाद अधिकांश मार्क्सवादियों ने, जातीयता की दृष्टि से मुसलमानों की समस्या पर विचार नहीं किया। जहाँ इस दृष्टि से इस समस्या पर विचार किया जायेगा, वहाँ जातीयता के स्तर पर अलगाव का विरोध करना जरूरी हो जायेगा। जातीय एकता का अर्थ दो धर्मों के भेद को मिटा देना नहीं है। विभिन्न जातियों का एक ही धर्म हो सकता है जैसे अधिकांश अंग्रेजों और जर्मनों का धर्म ईसाई है, वैसे ही एक ही जाति में अनेक धर्मों को माननेवाले रह सकते हैं जैसे कि अमरीकी जाति में ईसाइयों के अलावा यहूदियों का एक प्रभावशाली समुदाय है। महमूदुज्जफ़र ने देश के हर अंग को उन्नत करने की बात कही है। यहाँ उनका ध्यान भारत के विभिन्न प्रदेशों में रहनेवाली, विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाली जातियों की ओर नहीं है। उनका ध्यान सम्प्रदायों की ओर है। एक अंग है हिन्दू सम्प्रदाय, दूसरा अंग है मुस्लिम सम्प्रदाय, इसी तरह ईसाई, सिक्ख आदि अन्य अंग हैं। इन सबकी उन्नति होनी चाहिए। किन्तु ऐसे प्रत्येक अंग में, प्रत्येक सम्प्रदाय में, एक ओर राजा, जमींदार, महाजन और पूंजीपति हैं, दूसरी ओर शेष जनता है। पूरे सम्प्रदाय की उन्नति का अर्थ सम्पत्तिशाली वर्गों की उन्नति ही होगा, क्योंकि आम जनता की उन्नति उन शोषकों के विरुद्ध संघर्ष के बिना हो नहीं सकती जो उसके भीतर विद्यमान हैं। हिन्दू पूंजीपतियों से लड़ो, यह नारा इस बात को छिपाने के लिए था कि गरीब मुसलमानों पर नवाबों का प्रभुत्व बना रहे। ये नवाब साम्राज्यवाद के चमचे थे। उनका प्रभुत्व हिन्दू पूंजीपतियों के प्रभुत्व से भी ज्यादा खतरनाक था। और पूंजीपति मुसलमानों में भी थे। हिन्दू राजा और जमींदार मुसलमान नवाबों और जमींदारों के साथ, अपने वर्ग-संगठनों में एक-दूसरे का साथ देते हुए, 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' का उदाहरण पेश कर रहे थे, किन्तु वे साधारण जनता से अलग-अलग साम्प्रदायिक संगठनों में शामिल होने को कहते थे। उनकी हिन्दू-मुस्लिम एकता अंग्रेजी राज्य के समर्थक सामन्तवर्ग की एकता थी। वह एकता अंग्रेजों के हित में थी, इसलिए उसे तोड़ने के बदले वे उसे कायम रखने में सहायता करते थे।)

मुस्लिम लीग के नेता पाँचवीं बात यह कहते थे कि अंग्रेजों ने मुसलमानों से दगा की है जैसे कि फिलिस्तीन में और मुसलमान उनसे कोई सरोकार न रखेंगे। यदि इस बात को तर्कसंगत परिणाम तक पहुँचाया जाये तो कार्यक्रम यह बनेगा कि सबसे पहले मुस्लिम लीग को खत्म करना चाहिए क्योंकि उसके अधिकांश नेता

छोटे-बड़े राजा और नवाब हैं जो अंग्रेजों के सहयोगी के [illegible] बना रहे आये हुए थे। जो अन्य अंग्रेज-समर्थक लिबरल फेडरेशन के लोग थे, [illegible] के समर्थक, वे अंग्रेजी [illegible] को [illegible] हैं। और [illegible] काम कर सकने में [illegible] कांग्रेस से आगे [illegible] नहीं। किन्तु दोनों नेताओं का [illegible] [illegible] [illegible] में फिर [illegible] (जिन्होंने [illegible]) की तरफ से [illegible] के [illegible] शान्तिपूर्ण [illegible] या सब दलों के नेताओं का [illegible] करने के लिए कांग्रेस के अनुयायी [illegible] नेताओं के साथ राष्ट्रीय [illegible] करने के पक्ष में थे। इस एकता का [illegible] की [illegible] [illegible] की [illegible] से [illegible]। फिर [illegible] [illegible] [illegible] का आन्दोलन [illegible], [illegible] उनका [illegible] [illegible] रहा है उस कारण कुछ [illegible] [illegible] [illegible] का [illegible] हो चुका है। १९२८ में [illegible] बहुत [illegible] का [illegible] [illegible] [illegible] में फिर [illegible] का [illegible] उन [illegible] और [illegible] को [illegible] में [illegible] है।) दोनों नेताओं की पारस्परिक [illegible] के बारे में महमूदुज्जफर ने लिखा कि "हम [illegible] के (या किसी भी अन्य समुदाय के) इस अधिकार को [illegible] [illegible] [illegible] कि वे अपने राजनीतिक संगठनों का [illegible] कर सकें। इसके साथ हमें हर समय मुस्लिम लीग के साथ समझौते की बातचीत के लिए तैयार रहना चाहिए, कोई भी वास्तविक साम्राज्यविरोधी नेता, [illegible], आन्दोलन या [illegible] हो, तो हमें मुस्लिम लीग के साथ मिलकर काम करने को तैयार रहना चाहिए।" कांग्रेस के दरवाजे सभी धर्मों के लिए पहले ही की तरह खुले रहने चाहिए। [illegible] समस्या को लेकर राष्ट्रीय मोर्चे में गतिरोध पैदा हो गया है। सारे देश में [illegible] [illegible] शक्तियां सिर उठा रही हैं। इस [illegible] में ब्रिटिश साम्राज्यवाद, हिटलर और मुसोलिनी लाभ उठा रहे हैं। जब हमें स्वाधीनता के लिए [illegible] प्रहार करना हो, तब जनता सर्व और [illegible] भुला देना चाहिए। इस तरह के समझौते की कसौटी यह होनी चाहिए कि इससे आम जनता [illegible] में आयेगी या नहीं।

एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात महमूदुज्जफर ने दोनों नेताओं की पारस्परिक [illegible] के बारे में यह कही थी, "अपने साथ मिलकर काम कराने के लिए हमें मुस्लिम लीग के भीतर दबाव डालनेवाला गुट बनाना चाहिए। इसके साथ ही मुस्लिम लीग के साथ मिलकर काम कराने के लिए हमें कांग्रेस के भीतर दबाव डालनेवाला गुट बनाना चाहिए।" युद्धकाल में कम्युनिस्ट या कम्युनिस्ट पार्टी के समर्थक, कहीं कम कहीं ज्यादा, मुस्लिम लीग में शामिल हुए। वे समझते थे कि इस तरह वे मुस्लिम लीग की नीति को कुछ अधिक प्रगतिशील बना सकेंगे। यह नीति बहुत ही घातक सिद्ध हुई। लीग के भीतर काम करनेवाले ये लोग अलगाव को रोकने में बिलकुल असमर्थ साबित हुए। वे मुस्लिम लीग की [illegible] नीति स्वीकार करते थे, इसलिए उनके प्रगतिशीलता के नाम पर अलगाव को बढ़ावा मिला। यह घातक नीति पहली बार महमूदुज्जफर के उक्त लेख में प्रकाशित हुई थी। यद्यपि उन्होंने कहा था कि कांग्रेस के दरवाजे प्रत्येक धर्म के लिए खुले रहें पर वे मुसलमानों के लिए उनके अलग राजनीतिक संगठन बनाने की मांग का

समर्थन कर रहे थे। उनकी धारणा यह थी कि कांग्रेस राष्ट्रीय संगठन जरूर है किन्तु उसमें साम्प्रदायिक समस्या को लेकर गतिरोध पैदा हो गया है। इसका अर्थ यह है कि कांग्रेस मुसलमानों का प्रतिनिधित्व नहीं करती। इस कारण मुस्लिम लीग से कांग्रेस का समझौता करना और राष्ट्रीय मोर्चे को मजबूत करना बहुत जरूरी है। यदि कांग्रेस मुसलमानों का प्रतिनिधित्व नहीं करती तो निस्सन्देह वह मुख्यतः हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था मानी जायेगी। मुस्लिम लीग विशुद्ध मुस्लिम संगठन थी, कांग्रेस उसी तरह 'विशुद्ध' हिन्दू संगठन नहीं थी पर 'अशुद्ध' हिन्दू संगठन तो थी ही, इसलिए राष्ट्रीय मोर्चा बनेगा कांग्रेस और लीग को मिलाने से। इसके लिए लीगी नेताओं पर दबाव डालनेवाला एक प्रगतिशील गुट मुस्लिम लीग में होगा और इसी तरह मुस्लिम लीग के पक्ष में कांग्रेस को प्रेरित करने के लिए दबाव डालनेवाला एक प्रगतिशील गुट कांग्रेस में होगा। इस योजना के अनुसार युद्धकाल में कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने काम किया पर यह नीति युद्धकालीन परिस्थितियों द्वारा निर्धारित न हुई थी, वह निर्धारित हुई थी युद्ध से पहले की परिस्थितियों द्वारा, १९३५ के काले कानून को मानने और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाने से जो परिस्थितियाँ पैदा हुई थीं, उनके द्वारा निर्धारित हुई थी। यह नीति उस समझ से पैदा हुई थी जो कांग्रेस के साथ मिलकर काम करने का अर्थ यह लगाती थी कि उसकी समझौतावादी नीति का समर्थन किया जाये। कांग्रेसी नेताओं के सुधारवाद से संघर्ष करने में जो अवसरवादी झिझक थी, वह क्रमशः पुष्ट होती हुई उस सुधारवाद का समर्थन करनेवाली नीति बन गयी। इस अवसरवादी प्रवृत्ति का परिणाम था मुस्लिम लीग और साम्प्रदायिक समस्या का वह विश्लेषण जो महमूदुज्ज़फ़र के लेख में प्रस्तुत किया गया था। भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास को समझने का मतलब है उस अवसरवादी रुझान को समझना जो कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के दौरान पनपा था और युद्धकाल में जो एक विशाल वृक्ष बन गया था। इस वृक्ष की जड़ काटे बिना कम्युनिस्ट आन्दोलन सही दिशा में प्रगति नहीं कर सकता।

'न्यू एज' के जिस अंक में महमूदुज्जफर का उक्त लेख प्रकाशित हुआ था, उसी में अजय घोष का 'ऐम. ऐन. राय और वर्ग-संगठन' लेख छपा था। इसमें भी साम्प्रदायिक समस्या की चर्चा है। अजय ने यह दिखलाया है कि साम्प्रदायिकता को दूर करने का तरीका वर्ग-संगठनों के आधार पर जनता के संघर्ष चलाना है। ऐसा लगता है कि अजय महमूदुज्जफर के दृष्टिकोण से परिचित थे और यह दृष्टिकोण केवल महमूदुज्ज़फ़र का नहीं था, कुछ अन्य नेता भी उसी तरह के रुझान का परिचय दे रहे थे। जो भी हो, अजय और महमूदुज्जफर के लेख कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में दो भिन्न और परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के सूचक थे। महमूदुज्ज़फ़र का लेख सीधे मुस्लिम लीग पर है, अजय का लेख वर्ग-संगठनों और किसानों पर है। साम्प्रदायिकता का प्रभाव बढ़ रहा है, इससे कैसे निपटा जाये, यह समस्या दोनों लेखों में है। इसलिए अजय के लेख की चर्चा करना यहाँ युक्तिसंगत है।

अजय ने अपने लेख में बताया कि ऐम. ऐन. राय के लिए स्वतन्त्र किसान

सभाओं का अस्तित्व हानिकारक है, कांग्रेस को ही किसान-संस्था बना देना चाहिए, मजदूर सभाओं को केवल आर्थिक मांगों के लिए आन्दोलन करना चाहिए। राय की इन बातों का खण्डन करते हुए अजय ने लिखा कि कांग्रेस में किसानों की बहुतायत है, फिर भी उस पर आधिपत्य है पूंजीपति वर्ग का। "किसान आन्दोलन के द्वारा ग्रामीण कांग्रेस-संगठन परिवर्तित होकर किसान-विद्रोह के साम्राज्य-विरोधी साधन बन जायेंगे। इस आन्दोलन को विकसित करने के लिए किसान सभाओं की जरूरत है।" राय की नीति यह है कि कांग्रेस कमेटियों को समझाओ कि वे किसानों की लड़ाई में भाग लें। जब तुम्हारे समझाने से वे मान जायें कि ऐसी लड़ाई जरूरी है, तब उन कांग्रेस कमेटियों के द्वारा किसान-आन्दोलन शुरू करो। अजय ने बंगाल का हवाला देते हुए कहा कि वहां किसानों में कांग्रेस का प्रभाव बहुत कम है। किसानों में असन्तोष बढ़ रहा है। "अपने वर्गस्वरूप के कारण कांग्रेस इस असन्तोष का उपयोग करने और साम्राज्यविरोधी दिशा में उसे ले चलने में असमर्थ है। संगठित किसान सभा के अभाव में यह असन्तोष या तो छुटपुट हिंसात्मक वारदातों में खत्म हो जायेगा या फिर राष्ट्रविरोधी उद्देश्य के लिए साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादी उसका उपयोग करेंगे। पिछले समय में ठीक यही हुआ है। केवल पिछले दो वर्षों में गरमदली कांग्रेस जनों ने ज़ोरदार किसानसभाई काम करके एक हद तक किसानों को साम्प्रदायिक प्रभाव से मुक्त किया है और उन्हें राष्ट्रीय प्रभाव में ले आये हैं।" अजय ने दूरन्देशी की यह बात १९३९ में कही थी। उसकी सच्चाई १९८१ में और भी निखरी हुई दिखायी देती है। देश के विभिन्न भागों में क्रान्तिकारी किसान-आन्दोलन के नाम पर छुटपुट हिंसात्मक वारदातें हुई हैं और उनके साथ ही प्रतिक्रियावादियों की शक्ति बढ़ी है। सम्प्रदायवाद और अति उग्रवाद दोनों तरह के रुझान साथ-साथ बढ़े हैं। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि किसानों में, और उनके साथ जनता के अन्य स्तरों में भी, असन्तोष भयानक रूप से बढ़ा है। कांग्रेस अपने वर्गस्वरूप के कारण इस असन्तोष को सही दिशा में प्रेरित नहीं कर पाती। उसे सही दिशा में प्रेरित करने की ऐतिहासिक जिम्मेदारी किसान सभाओं की है, वामपन्थी आन्दोलन की है, कम्युनिस्ट पार्टी (पार्टियों) की है। वामपन्थी आन्दोलन बढ़ा है, कम्युनिस्ट आन्दोलन बढ़ा है और वह विघटित भी हुआ है। अखिल भारतीय पैमाने पर वह परिस्थिति में कारगर ढंग से हस्तक्षेप नहीं कर पाया। इसका बहुत बड़ा कारण यह है कि वह महमूदुज्जफ़र वाली नीति के प्रभाव से अपने को अभी तक पूरी तरह मुक्त नहीं कर सका। यह प्रभाव उन लोगों पर भी है जो कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर सुधारवाद के विरुद्ध अभियान चलाते रहे हैं।

महमूदुज्जफ़र के लेख से कुछ महीने पहले १२ मार्च १९३९ के 'नैशनल फ्रण्ट' में साम्प्रदायिक समस्या पर बी. टी. रणदिवे का लेख प्रकाशित हुआ था। इस लेख से पता चलता है कि साम्प्रदायिकता के बढ़ते हुए प्रभाव से अनेक कम्युनिस्ट नेता चिन्तित थे और वे इस समस्या पर नये सिरे से विचार करना आवश्यक समझते थे। रणदिवे के अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन प्रगति करता गया है और उसके सामने साम्प्रदायिक समस्या की चुनौती भी रही है। "पिछले कुछ

दी गयी। उसका बढ़ता हुआ असन्तोष सम्प्रदायवाद की ओर मोड़ दिया गया।

जनता के मिले-जुले संघर्ष न चलाना एक कारण है। किन्तु "केवल आर्थिक मामलों के समर्थन से साम्प्रदायिक दृष्टिकोण गायब न हो जाएगा। शताब्दियों से जनता के विभिन्न भाग हिन्दुओं या मुसलमानों के रूप में रहते आये हैं। उन्हें समझाया गया है कि भारत का इतिहास लगातार होनेवाले दंगों का इतिहास है। अल्पसंख्यक मुसलमानों के मन में बहुसंख्यक समुदायों के प्रति सन्देह बना हुआ है। जनवादी परम्परा के अभाव में मुस्लिम धर्म को लेकर विचित्र सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं। सम्प्रदायवाद को अपनी खुराक इन्हीं सन्देहों और परम्पराओं में मिलती है। यदि ये परम्परागत प्रभाव न होते तो साम्राज्यवाद को सफलता न मिलती। इन्हीं प्रभावों के कारण मुस्लिम जनता साम्प्रदायिक फूटपरस्तों को अकसर अपने हितों का वास्तविक रक्षक मान बैठती है। अलग निर्वाचन क्षेत्रों की माँग, सरकारी नौकरियों में आरक्षण की माँग, सांस्कृतिक और धार्मिक आजादी की माँग, इन माँगों को बल मिला है उस भय और सन्देह से जो उस जनता में ही हैं। इस सन्देह से ही समय-समय पर साम्प्रदायिक नेताओं से समझौते की बात करना जरूरी हो जाता है।" कांग्रेस ने इस सन्देह को मिटाने की भरसक कोशिश की है। नौकरियों और विधान-सभाओं में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व मान लेने को वह तैयार है, वह मुस्लिम संस्कृति और धर्म की सुरक्षा के लिए गारण्टी देती है। "उसने बदनाम साम्प्रदायिक फैसला (कम्यूनल अवार्ड) भी गले में नीचे उतार लिया है। फिर भी मुस्लिम जनता से वह और अच्छे सम्बन्ध न कायम कर सकी। साम्प्रदायिक तुष्टीकरण की वर्तमान नीति से विघटनकारी प्रवृत्तियों को केवल बढ़ावा मिलता है और अल्पसंख्यक जनता से सम्बन्ध जोड़ने का काम पहले की तरह दूर बना रहता है। इसका कारण यह है कि जनता से सीधा सम्पर्क कायम न करके साम्प्रदायिक नेताओं को बहुत महत्व दिया गया। ये नेता चाहते हैं कि संघर्ष किए बिना ही माल हाथ आ जाये और वे राजनीतिक संरक्षण के भूखे हैं।" कांग्रेस ने अल्पसंख्यकों की माँगें मानी हैं। इससे साम्प्रदायिक समस्या हल न होगी। इससे शुरुआत भर होगी, अच्छा वातावरण बनेगा। जनता की असली माँग उसकी गरीबी से पैदा होती है। कांग्रेस यह नहीं समझ पायी कि जनता को जोड़नेवाली धर्म से भी बढ़कर एक और कड़ी है भूख।

लेख के अन्त में रणदिवे ने कांग्रेस के तौर-तरीके बदलने की बात कही है। "बरसों तक मुस्लिम जनता से अलग रहने के कारण कांग्रेस में एक विचित्र हिन्दू वातावरण बन गया है। कांग्रेस के समारोह हिन्दू उत्सव जैसे हो जाते हैं। राज-

[illegible]

हुए—अल्पसंख्यक जनता पर उनका प्रभाव है—कांग्रेस को चाहिए कि वह उन्हें नागरिक मानकर, पददलित भाग मानकर, उनसे सीधा सम्पर्क कायम करे। नौकरियों को लेकर, प्रतिनिधित्व और संस्कृति-सम्बन्धी गारण्टी को लेकर जो भी उचित माँगें हैं, उन्हें मंजूर करना चाहिए।" किन्तु इसे शुरुआत भर मानना

चाहिए। समस्या का पूरा समाधान तब होगा जब आर्थिक माँगों का समर्थन किया जायेगा और इन माँगों के जरिये मुस्लिम जनता से सम्पर्क कायम किया जायेगा।

रणदिवे के इस लेख में परिस्थिति का जो विश्लेषण किया गया है, वह महमूदुज्जफ़र के विश्लेषण से मूलतः भिन्न नहीं है। कांग्रेस हिन्दू संगठन बनकर रह गयी, उसे राष्ट्रीय संगठन बनना है। मुसलमानों के असन्तोष को उसने समझा नहीं है। साम्प्रदायिक नेता फूट डालते है पर उनका प्रभाव इसलिए है कि भय और सन्देह आम मुस्लिम जनता मे है। इस भय और सन्देह को दूर करने के लिए साम्प्रदायिक संगठनो से समझौते की बातचीत करना जरूरी होगा, वाजिब साम्प्रदायिक माँगें मान लेना जरूरी होगा। इससे शुरुआत अच्छी होगी, वातावरण सुधरेगा और मिले-जुले आर्थिक सघर्ष चलाने मे सुविधा होगी। युद्धकाल मे कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने कांग्रेस लीग एकता का जो नारा दिया, वह क्यों दिया, इस सवाल का जवाब रणदिवे के इस लेख में है। क्या सारे भारत मे हिन्दू-मुस्लिम समस्या का रूप एक-सा था ? स्पष्ट है कि नही था। समस्या का एक रूप कश्मीर और हैदराबाद जैसी देशी रियासतों मे था। एक मे हिन्दू राजा और मुस्लिम प्रजा, दूसरे मे मुस्लिम राजा और हिन्दू प्रजा। और इन दोनों रियासतो मे १९३९ तक (और बाद को भी बहुत समय तक) हिन्दू-मुस्लिम दगे न हुए थे, यहाँ साम्प्रदायिक समस्या निर्जीव थी। यह समस्या ब्रिटिश-भारत की खास समस्या थी। ब्रिटिश-भारत मे भी वह दक्षिण-भारत की नही उत्तर-भारत की समस्या थी, और उत्तर-भारत मे भी यह उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश मे निर्जीव थी, सिन्ध, पजाब और बंगाल में वह साँस ले रही थी और वह पूरी ताकत से जीवित थी सयुक्त प्रान्त मे। भारत के जातीय प्रदेशों की स्थिति पर अलग-अलग विचार किये बिना साम्प्रदायिक समस्या का विवेचन हो ही नही सकता। बगालियों, पंजाबियों, सिन्धियों, पठानों, कश्मीरियों की जातीयता को अस्वीकार करके सारे देश के हिन्दुओं को एक जाति मानकर, सारे मुसलमानो को दूसरी जाति मानना अंग्रेजों की नीति थी। इस नीति पर चले बिना और दूसरों को चलाये बिना वे मुस्लिम लीग को सारे मुसलमानों का एकमात्र सगठन घोषित न कर सकते थे। ऐसे सगठन के बिना वे कांग्रेस को अपनी बनायी हुई सविधानवादी सड़क पर चलने को मजबूर न कर सकते थे। और इस सड़क पर चलने से ही कांग्रेस ने अपनी प्रान्तीय सरकारें बनायी थी। ऐसी एक सरकार कांग्रेस के गढ़ सयुक्त-प्रान्त में थी। यही सयुक्त-प्रान्त मुस्लिम लीग के विषैले प्रचार का मुख्य क्षेत्र था। सविधानवाद और सम्प्रदायवाद इन दोनों का आपसी सम्बन्ध ऐसा ही है।

इस लेख मे यह विचित्र बात कही गयी है कि मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक माँगें स्वीकार करने की घोषणा के बाद कांग्रेस राष्ट्रीय माँग स्वीकार कराने के लिए लीग और मुस्लिम जनता से सहयोग करे। यदि मुस्लिम लीग की माँगें साम्प्रदायिक है, इस अर्थ मे साम्प्रदायिक हैं कि वे हिन्दुओं और मुसलमानों मे भेदभाव बढ़ानेवाली हैं तो उन्हे स्वीकार करने का प्रश्न नही उठता। मुस्लिम लीग साम्प्रदायिक माँगें पेश करती ही इसलिए थी कि राष्ट्रीय माँग को लेकर

आम जनता की एकता स्थापित न हो सके। साम्प्रदायिकता से समझौता करने पर राष्ट्रीय आन्दोलन को मजबूत किया जा सकता है, इस नीति पर कांग्रेस ने अनेक बार अमल किया था। कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व उसी नीति को क्रान्तिकारी कहकर पेश कर रहा था, यह सुधारवादी कांग्रेस के पीछे चलने का परिणाम था। लेख में आगे कांग्रेसी नेतृत्व के बारे में ठीक कहा गया है कि वह ऐसा रास्ता ढूंढ़ता रहा है जिससे संघर्ष के बिना ही वह साम्राज्यवादियों पर ज्यादा-से-ज्यादा दबाव डाल सके। उसे साम्प्रदायिक एकता कायम करनी थी, मोल-भाव के लिए, न कि संघर्ष के लिए। यह बात सही है। मोलभाव के लिए जो एकता कायम की जायेगी, वह साम्प्रदायिकता से समझौता करेगी। जो एकता संघर्ष के लिए होगी, वह आर्थिक और राजनीतिक माँगों के लिए होगी। राजनीतिक माँगें पूरे राष्ट्र के हित में होंगी, विभिन्न प्रदेशों में रहनेवाली जातियों के हित में होंगी। साम्प्रदायिकता का वर्गआधार क्या था? इसका वर्गआधार वे सामन्ती अवशेष थे जिन्हें १८५७ के बाद अंग्रेज बड़े जतन से पालते-पोसते आये थे। साम्प्रदायिक माँगें मानने का मतलब साम्राज्यवाद के इस वर्गआधार से समझौता करना था।

कांग्रेस ने इस समय संविधान सभा बुलाने का नारा दिया था। लेख में बताया गया है कि यह नारा इस रूप में दिया गया है कि साम्राज्यवाद, राजा और सभी तरह के प्रतिक्रियावादी (इनमें सम्प्रदायवादी अवश्य होंगे) उसे स्वीकार कर लें। लेख में कन्हैयालाल माणकलाल मुंशी के बयान का हवाला दिया गया है जिसके अनुसार ब्रिटिश कामनवेल्थ में भी संविधान सभाएँ बनायी गयी हैं यद्यपि अनेक बार इनके सदस्य तत्कालीन औपनिवेशिक विधान सभाओं से चुने गये थे। लेख में मुंशी के संकेत की सही आलोचना की गयी है कि वह चाहते हैं कि मौजूदा मताधिकार के आधार पर संविधान सभा बुलायी जाये और कांग्रेस ब्रिटिश कामनवेल्थ की सदस्यता से सन्तुष्ट हो जायेगी। आगे चलकर यही हुआ। मताधिकार को व्यापक बनाने का सवाल जब भी अंग्रेजों के सामने आया, उन्होंने कहा कि इससे आजादी देने में बहुत देर हो जायेगी। मताधिकार को व्यापक बनाने का मतलब था अंग्रेजी राज के सहायक सामन्ती अवशेषों के प्रभाव पर हमला करना। अंग्रेज अपने बनाये हुए संविधानवाद के मार्ग पर कांग्रेस को ठेल रहे थे। कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेसी नेतृत्व की बहुत कुछ सही आलोचना कर रही थी। फिर भी वह राष्ट्रीय आन्दोलन को इस मार्ग से हटाने में असफल रही। इसका मुख्य कारण यह है कि आलोचना के बावजूद वह स्वयं कांग्रेस के साथ घिसटती हुई इसी मार्ग पर आगे बढ़ रही थी। उक्त लेख में कहा गया है, "संविधानसभा प्रभुता-सम्पन्न संस्था होनी चाहिए। लोकप्रिय जनतन्त्र का उच्चतम रूप होगी यह संस्था। उसका निर्माण तभी हो सकता है और वह संविधान तभी बना सकती है जब साम्राज्यवादी निरंकुशता निर्मूल कर दी गयी हो, साम्राज्यवाद की शक्ति ध्वस्त कर दी गयी हो, जब जनता पहले ही साम्राज्यवादी शक्तियों को परास्त कर चुकी हो और सत्ता पर अधिकार कर चुकी हो।" किन्तु यह सब नहीं हुआ। कांग्रेस संविधानवादी मार्ग पर चली और इसलिए साम्प्रदायिक शक्तियाँ कमजोर होने के बदले बराबर सुदृढ़ होती चली गयी।

'नैशनल फ्रण्ट' के इसी अंक मे जनता के क्रान्तिकारी उभार पर एक लेख छपा है। इसमे उभार का सही मूल्य आंकते हुए बताया गया है कि युद्ध छिड़े कुछ ही महीने हुए है किन्तु इसी अवधि मे एक विराट आन्दोलन अप्रतिहत वेग से बढ़ता गया है और उसमें जनता के बड़े-बड़े भाग खिचकर आते गये है। इस बात का राजनीतिक महत्व बहुत है। जो स्तर पिछड़े हुए थे, राजनीतिक आन्दोलन से प्रभावित न थे, अपने पिछड़ेपन के सबब से राजनीति के मैदान से बाहर थे, वे इस आन्दोलन की धारा के बीच मे आ गये है। उसमे भाग लेने से उनमे नई चेतना पैदा हो रही है। "जाति-बिरादरी और साम्प्रदायिकता की दीवारे लगातार ढह रही है।" साम्प्रदायिकता का नाश कैसे होगा, यह जानने के लिए भविष्य की छानबीन करना जरूरी न था। वर्तमान में जो कुछ हो रहा था, वह आंखे खोल देनेवाला था। युद्ध से पैदा होनेवाली परिस्थिति मे आर्थिक-राजनीतिक मांगो को लेकर जो विशाल जनआन्दोलन फैल रहा था, वह जाति-बिरादरी और साम्प्रदायिक भेदभाव की दीवारें गिरा रहा था। साम्प्रदायिकता के नाश का यही तरीका था। इस आन्दोलन के फैलने से पहले ऐसा न हुआ था कि साम्प्रदायिक मांगें स्वीकार कर ली गयी हो और मुस्लिम लीग के सहयोग के कारण यह जन-उभार शक्तिशाली बना हो। इस उभार से त्रस्त होकर अंग्रेज न केवल मुस्लिम-लीग को अपना जहरीला प्रचार करने की प्रेरणा दे रहे थे वरन् वे कांग्रेस पर निरन्तर दबाव डाल रहे थे कि वह मुस्लिम लीग से समझौता करे, उसके साथ मिलकर संविधान बनाये और अंग्रेजों से शान्तिपूर्वक आजादी प्राप्त करे।

'नैशनल फ्रण्ट' के उक्त लेख मे काग्रेस कमेटियो, किसान सभाओ और मजदूर सभाओ को लक्ष्य करके कहा गया है कि इस आन्दोलन को बिखरने से बचाना, उसे संगठित राष्ट्रीय आन्दोलन का अग बना देना उनका काम है। यह तभी हो सकता है जब काग्रेस कमेटियां मजदूरों और किसानों के सगठनो से घनिष्ठ सहयोग करें। सघर्ष मे अगुवाई करने से काग्रेस कमेटियां मध्यवर्ग को भी आन्दोलन मे खीच लायेंगी। "उनमे मुसलमानों और अछूतो से जो अलगाव बना हुआ है, वह दूर हो जायेगा। महँगाई से सभी लोग परेशान हैं। थोड़े से मुनाफाखोरों को ही उससे लाभ होता है। महँगाई के विरुद्ध संघर्ष चलाने से हिन्दू और मुस्लिम जनता को साथ बढ़ने का मौका मिलेगा, आपस मे जो अलगाव है वह दूर होगा। इस एकता से काफी हद तक सयुक्त राजनीतिक संघर्ष के लिए आधार निर्मित होगा।" यहाँ बिलकुल सही कार्यनीति प्रस्तुत की गयी है। साम्प्रदायिक मांगें मानने से महँगाई के विरुद्ध सघर्ष तेज नही होता, साम्राज्यवाद के विरुद्ध एकता मजबूत नही होती। संघर्ष को रोकने और साम्राज्यविरोधी एकता को तोड़ने के लिए ही साम्प्रदायिक मांगें पेश की जाती है। सविधानवाद से इन मांगों को जोड़ दिया जाये तो साफ दिखायी देगा कि साम्प्रदायिकता खत्म करने के लिए सविधानवाद को छोडना ही होगा। संघर्ष के भय से, अर्थात् साम्राज्यविरोधी सघर्ष के भय से, जो व्यक्ति भी और जितना भी संविधानवाद की ओर झुकेगा, वह उतना ही साम्प्रदायिकता के सामने असहाय सिद्ध होगा, चिल्लायेगा, छाती पीटेगा, कर कुछ भी न सकेगा।

६

# क्रान्ति का उभार और अंग्रेज़ों का जवाबी हमला

## १. नयी परिस्थिति और क्रिप्स-प्रस्ताव

दूसरा महायुद्ध समाप्त होने के बाद एशिया में साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन तेजी से बढ़ा। भारत में राजनीतिक परिस्थिति बदल रही थी और अंग्रेज जिन शक्तियों के सहारे भारत पर अब तक शासन करते आये थे, उनका भरोसा करना उनके लिए दिन-पर-दिन कठिन होता जा रहा था। इस परिस्थिति में उनकी नीति यह थी कि सन् ४२ में उन्होंने क्रिप्स के माध्यम से जो प्रस्ताव पेश किये थे, उनके अनुसार कार्य करें। आवश्यकता हो तो इनमें जहाँ-तहाँ थोड़ा-बहुत फेरबदल करें। इस नीति को अमल में लाने के लिए वे कांग्रेस के नरमदली नेताओं से सहयोग की आशा कर रहे थे। नरमदली नेताओं को काबू में रखने के लिए मुख्य हथियार के रूप में उनके पास मुस्लिम लीग थी। कांग्रेस की ओर से जैसे-जैसे पूर्ण स्वाधीनता की माँग ने जोर पकड़ा, वैसे-वैसे विशेष संरक्षण की माँग से आगे बढ़कर मुस्लिम लीग ने अलग राज्य बनाने का दावा पेश किया। इसके अलावा देशी रियासतों से पुरानी सन्धियों के नाम पर अंग्रेज इनकी स्वाधीन सत्ता स्थापित करना चाहते थे। इस तरह एक राज्य के स्थान पर तीन राज्य, *हिन्दू भारत, मुस्लिम भारत (पाकिस्तान)* और रियासती भारत स्थापित करने की योजना क्रमशः परिवर्धित होती रही। ऐसी परिस्थिति में जनता का क्रान्तिकारी आन्दोलन ही अंग्रेज़ों की योजनाओं को छिन्न-भिन्न कर सकता था। अंग्रेज भारत को पूर्ण स्वाधीनता देने को तैयार न थे। वह अधिक-से-अधिक भारत को कनाडा, आस्ट्रेलिया जैसे उपनिवेशों का दर्जा देने को तैयार थे। जब तक भारत को पूर्ण रूप से ब्रिटिश साम्राज्य में बनाये रखने की सम्भावना रही, तब तक वे पाकिस्तान को अव्यावहारिक बताते रहे। किन्तु जब क्रान्तिकारी उभार नियन्त्रण से बाहर जाता दिखायी दिया, तब अपने हितों की रक्षा का ध्यान रखते हुए उन्होंने राजनीतिक स्वाधीनता की

बात मान ली किन्तु इसके साथ ही पाकिस्तान की जो योजना पहले उनके लिए अव्यावहारिक थी, उसे उन्होने स्वीकार कर लिया। उसे उन्होने कांग्रेसी नेताओ से भी स्वीकार करा लिया क्योंकि ये नेता क्रान्तिकारी सघर्ष चलाने के लिए तैयार न थे। अनेक स्थानो पर कम्युनिस्ट पार्टी ने तथा अन्य वामपक्षी और जनवादी दलो ने संघर्षों का नेतृत्व किया। इन संघर्षों के फलस्वरूप अंग्रेजों को डोमीनियन स्टेटस से कुछ आगे बढकर राजनीतिक स्वाधीनता की माँग स्वीकार करनी पडी। किन्तु ये सब दल सगठित और सुसंगत रूप से क्रान्तिकारी सघर्ष नही चला पाये, इसलिए अंग्रेजों को कांग्रेस और लीग के नेताओं से समझौता करके भारत का विभाजन करने मे सफलता प्राप्त हुई। १८५७ मे क्रान्तिकारी शक्तियो के सामने मुख्य समस्या यह थी कि जो सामन्त ढुलमुल है या अंग्रेजों से मिले हुए है, उन्हे निष्क्रिय बनाकर अंग्रेज-विरोधी लडाई कैसे चलायी जाये। १९४६ मे मुख्य समस्या यह थी कि जो साम्प्रदायिक नेता साम्राज्यवादी योजनाएँ पूरी करने में अंग्रेजो की मदद कर रहे है, उन्हें कैसे ध्वस्त किया जाये। और जो पूंजीवादी नेता क्रान्ति से डरकर अंग्रेजों से समझौता करने को उत्सुक है, उन्हे कैसे निष्क्रिय किया जाये। १८५७ में भारतीय क्रान्तिकारी अभी मार्क्सवाद से अपरिचित थे; १९४६ मे भारतीय क्रान्तिकारी मार्क्सवाद से सुपरिचित थे। इन सुपरिचित जनो मे कम्युनिस्ट पार्टी के नेता ही नही, कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी के नेता जयप्रकाश नारायण और कांग्रेस के नेता जवाहरलाल नेहरू भी थे। इसलिए जो काम १८५७ मे मुश्किल था, वह १९४६ में आसान था। पर वह काम हुआ नही।

१९७६ में भारत और ब्रिटेन के सवैधानिक सम्बन्धो का विवरण देनेवाले ग्रन्थ 'सत्ता का हस्तान्तरण' ('दि ट्रांसफर आफ पावर' १९४२-७) का प्रकाशन हुआ। इसका सम्पादन निकोलस मैन्सेर्ग और पेंडेरल मून ने किया है। इस पर कापीराइट इंग्लैण्ड की सरकार का है। भारत में यू. बी. ऐस. पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स ने इसे दिल्ली तथा अन्य चार नगरों से प्रकाशित किया है। अंग्रेजो की नीति क्या थी, उनकी दृष्टि मे भारतीय परिस्थिति किस तरह की थी, इस परिस्थिति मे वे अपनी कार्य-नीति कैसे निर्धारित कर रहे थे, यह सब जानने के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है। ग्रन्थ कई खण्डो मे है। छठे खण्ड मे पहली अगस्त १९४५ से लेकर २२ मार्च १९४६ तक के दस्तावेज हैं। सबसे पहले इस खण्ड के आधार पर कुछ बातें नीचे दी जाती हैं।

अगस्त १९४५ मे भारतीय समाचारपत्रो के कुछ प्रतिनिधि इग्लैण्ड की सरकार के भारत सचिव पेथिक लारेंस से लन्दन मे मिले। उनसे भारत सचिव ने कहा कि हमारा लक्ष्य ब्रिटेन के साथ भारत और बर्मा दोनों की बराबर की साझेदारी (ईक्वल पार्टनरशिप) है। उन्होंने कहा कि हमारी सरकार और यहाँ-वहाँ की सारी जनता भी यही चाहती है। (पृष्ठ ४२)। बराबर की साझेदारी का मतलब था सन् ४२ में क्रिप्स प्रस्ताव के आधार पर समझौते की बात चलाना। क्रिप्स प्रस्ताव का एक अश तात्कालिक परिवर्तन से सम्बन्धित था, दूसरे अंश का सम्बन्ध दूरगामी परिवर्तनों से था। इस दूसरे अश के अनुसार पहले सूबों मे, युद्ध समाप्त होने के बाद, चुनाव कराये जायेंगे। प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्य

सानुपातिक प्रतिनिधित्व (प्रपोर्शनल रिप्रेजेंटेशन) के अनुसार कुल सदस्यों की संख्या का दस फीसदी अंश चुनेंगे। यह दस फीसदी अंश संविधान सभा का काम करेगा। देशी रियासतें अपनी कुल आबादी के अनुरूप, ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों की तरह, अपने प्रतिनिधि नियुक्त करेंगी। संविधान-सभा जो संविधान बनायेगी, उसे इंग्लैण्ड की सरकार स्वीकार करेगी और अमल में लायेगी, शर्त यह है कि ब्रिटिश भारत का कोई सूबा नया संविधान न स्वीकार करे तो उसकी वर्तमान संवैधानिक स्थिति कायम रहेगी; यदि आगे चलकर वह संविधान स्वीकार करना चाहे तो वह कर सकेगा। ऐसे सूबे चाहेंगे तो इंग्लैण्ड की सरकार उनके साथ, नये संविधान के आधार पर, समझौता कर सकती है और उन्हें वही दर्जा प्राप्त होगा जो भारतीय संघ का होगा। संविधान-सभा इंग्लैण्ड की सरकार से बातचीत करके सन्धि करेगी। अंग्रेजों के हाथ से भारतवासियों के हाथ में उत्तरदायित्व का पूर्ण हस्तान्तरण करने से सम्बन्धित जितने मामले होंगे, वे सब सन्धि मे बता दिये जायेंगे। इंग्लैण्ड की सरकार ने नस्ल और धर्मवाले अल्पसंख्यकों को संरक्षण का आश्वासन दिया है, सन्धि में उसका ध्यान रखा जायेगा। ब्रिटिश कामनवेल्थ के सदस्य राज्यों के साथ भारतीय संघ का सम्बन्ध किस तरह का होगा, इसे तय करने के उसके अधिकार पर कोई नियन्त्रण न होगा।

कांग्रेस ने आपत्ति की थी कि इस प्रस्ताव को मानने से भारतीय एकता को धारणा को गहरा धक्का लगेगा; इसके सिवा देशी रियासतों की जनता को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार न दिया गया था। मुस्लिम लीग का कहना था कि उसे संविधान-सभा के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्रों से प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए। कौन संविधान को स्वीकार करे और कौन न करे, यह अधिकार वर्तमान सूबों को दिया गया है। ये सूबे शासन की सुविधा के लिए बनाये गये हैं, किसी सिद्धान्त के आधार पर नहीं। क्रिप्स-प्रस्ताव में कहा गया था कि भारतीय संघ मे शामिल होने के लिए प्रान्तीय विधान परिषद् में साठ प्रतिशत बहुमत आवश्यक होगा। अल्पमत को अधिकार होगा कि वह बालिग पुरुषों के जनमत-संग्रह की मांग करे। मुस्लिम लीग का कहना था कि जिन सूबों मे मुसलमान बहुसंख्यक है, वहां उनका प्रतिनिधित्व पूरी तरह नहीं होता। जनमत-संग्रह में मुसलमानों के अलावा गैरमुसलमान भी होंगे, इसलिए मुसलमानों को आत्म-निर्णय के अधिकार से वंचित किया जायेगा।

क्रिप्स-प्रस्ताव और उस पर कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग की आपत्ति का सारांश देने के बाद अपनी सरकार के विचारार्थ प्रस्तुत किये जानेवाले दस्तावेज में भारत-सचिव पेथिक लारेन्स ने बताया कि प्रस्ताव पर बातचीत टूटी थी केन्द्रीय कार्यकारिणी (अर्थात् दिल्ली की शासन-समिति) के तत्काल पुनर्गठन को लेकर; इसलिए प्रस्ताव के दूरगामी अंश पर कांग्रेस और लीग की आपत्ति क्या होती, यह बताना असम्भव है। भारत के वाइसराय ने प्रस्ताव का दूरगामी अंश उठा रखा है। वह प्रयत्न कर रहा है कि नेताओं को केन्द्रीय सत्ता में शामिल कर लिया जाये, इससे शायद दूरगामी समस्याएँ हल करने में आसानी हो। "वाइसराय का यह प्रयत्न असफल हो गया है, अतः मेरा प्रस्ताव है कि कैबिनेट [अर्थात् इंग्लैण्ड

की सरकार] क्रिप्स-घोषणा के दूरगामी सुझावों को अमल में लाना शुरू करे। वाइसराय और सभी गवर्नर (पंजाब के गवर्नर को छोड़कर) चाहते है कि सूबाई चुनाव जल्दी से जल्दी करा लिये जायें। ये चुनाव अगले साल के प्रारम्भ में पूरे कराये जा सकते है। उसके बाद संविधान-सभा का गठन १९४२ की घोषणा के पैराग्राफ (ए) के अनुरूप होगा।" (पृष्ठ ८५-८७)।

इस मसौदे से स्पष्ट है कि १९४५ के उत्तरार्द्ध में अंग्रेज अभी १९४२ की क्रिप्स-घोषणा से आगे बढ़ने को तैयार न थे।

## २. साम्राज्यवाद का अभूतपूर्व संकट

दूसरे महायुद्ध के बाद अंग्रेज भारत मे जिस संकट का सामना कर रहे थे, वह साधारण आर्थिक या राजनीतिक संकट नही था। आर्थिक संकट तो युद्धकाल से चला आ रहा था, बंगाल के दुर्भिक्ष मे लाखो आदमियो की मृत्यु इस आर्थिक सकट का एक लक्षण थी। युद्ध के दौरान अंग्रेज़ों ने उन कांग्रेसी नेताओं को जेल मे डाला जिनसे वह समझौता करना चाहते थे, यह भी राजनीतिक संकट का लक्षण था। सीमान्त प्रदेश, पंजाब आदि मुस्लिमबहुल प्रान्तो मे मुस्लिम लीग का एक-छत्र प्रभाव न था। युद्ध के बाद प्रबल फासिस्ट शक्तियों की पराजय और सोवियत संघ की विजय के साथ एशिया मे स्वाधीनता-आन्दोलन ने अभूतपूर्व प्रगति की। भारत मे जनता का क्रान्तिकारी उभार इतने बड़े पैमाने पर आया कि अंग्रेज़ी राज का सामाजिक आधार नितान्त संकुचित हो गया। यह उभार राज्य-सत्ता के उन अगो को प्रभावित करने लगा जिनके भरोसे अंग्रेज़ यहाँ शासन करते थे। फौज में गोरो का अनुपात बहुत कम था; भारत मे अंग्रेज देशी सेना के सहारे ही शासन करते आये थे। दूसरे महायुद्ध के बाद अंग्रेज़ी राज के सकट की मुख्य विशेषता यह थी कि उन्हें अब देशी सेना का भरोसा न रह गया था। सुभाषचन्द्र बोस द्वारा गठित आज़ाद हिन्द फौज के सैनिकों पर अंग्रेज़ मुकद्दमा चलाना चाहते थे और अधिकाश को मृत्यु-दण्ड देना चाहते थे किन्तु भारत में इसकी जो प्रतिक्रिया होती, उससे वह भयभीत थे। आज़ाद हिन्द फौज के वीर अत्यन्त लोकप्रिय थे। उन्हे छुड़ाने के लिए देश में एक व्यापक राजनीतिक आन्दोलन चल पड़ा था। इनके प्रति सेना में गहरी सहानुभूति थी। फ्रांस और हालैण्ड की सहायता के लिए ब्रिटिश सेनापति माउण्टबाटन हिन्द-चीन और इण्डोनेशिया मे भारतीय फौजें इस्तेमाल कर रहा था। इससे भारतीय जनता मे भारी रोष था। इस परिस्थिति का प्रभाव सेना पर पड़ रहा था। सबसे बड़ी बात यह कि सेना और जनता के बीच अब पहले जैसा फासला न रह गया था। जनता मे जो क्रान्तिकारी चेतना फैल रही थी, उससे सेना को बचाकर रखना अंग्रेज़ो के लिए असम्भव हो गया था। इस स्थिति में कोई आश्चर्य नही कि समझदार अंग्रेज़ों को १८५७ की याद सताने लगी थी।

इन समझदार अंग्रेज़ों मे मध्यप्रदेश का गवर्नर ट्वाइनेम था। उसने नवम्बर १९४५ मे वाइसराय वेवल को लिखा था, "भीड़ पर गोली चलाने को कहा जाये तो हिन्दुस्तानी फौज का रुख क्या होगा, इसके बारे मे अपनी चिन्ता प्रकट किये

बिना मैं नहीं रह सकता। राजनीतिक वातावरण में तनाव होने पर अचानक रुख बदलने की प्रवृत्ति मेरी समझ मे वैसी ही है जैसी कि गदर के दिनों मे थी। पिछले दिनों चुने हुए राजकीय दस्तावेजों मे जो मूल रिपोर्ट छपी है, उन्हें मैं पढ़ता रहा हूँ। वे बहुत ही दिलचस्प है। बड़ी अजीब बात है कि जिन पल्टनों को निहायत वफ़ादार माना जाता था, उन्होंने अचानक फ़ैसला किया कि गदरवालों का साथ देना चाहिए। मेरा मतलब यह ज़रा भी नही है कि ऐसा कोई व्यापक रुझान मौजूद है लेकिन जब मैं इस सम्भावना पर विचार करता हूँ कि सूबे में ब्रिटिश फौज बिल्कुल न रह जायेगी तो मेरे मन में थोड़ी बेचैनी होती है।" (पृष्ठ ५४२-४३)। जिस दिन (२६ नवम्बर १९४५) को मध्यप्रदेश के गवर्नर ने वेवल को यह चिट्ठी लिखी थी, उसी दिन सेनाध्यक्ष ऑकिनलेक ने इतिहास का स्मरण करते हुए वेवल को यह लिखा था, "हिन्दुस्तानी फौजों के साथ अपने लम्बे तजरुबे के आधार पर मैं जानता हूँ कि अच्छे से अच्छे और खूब हमदर्दी रखनेवाले ब्रिटिश अफसर के लिए भी हिन्दुस्तानी सिपाही के मन की बात जानना कितना मुश्किल है और मेरी इस राय का समर्थन इतिहास करता है। [यहाँ इतिहास का मतलब है १८५७ का इतिहास]। मैं नही समझता कि कोई भी वरिष्ठ ब्रिटिश अफसर आज़ाद हिन्द फौज के बारे मे हिन्दुस्तानी सिपाहियों की सच्ची भावना जानता है। मैं बहुत कुछ अपने सहज बोध से, साथ ही अनेक सूत्रों से मिलनेवाली सूचना के आधार पर महसूस करता हूँ कि आज़ाद हिन्द फौज के लिए हमदर्दी बढ़ रही है। उसके कुछ सदस्यों ने जो वहशीपन किया है और अपनी मूल वफ़ादारी से जो दग़ा की है, उसे अनदेखा करने का रुझान बढ़ रहा है। इस समस्या को लेकर हमारी अपनी नैतिकता के मानदण्डों के अनुसार काम करना कठिन है। आज़ाद हिन्द फौज के लोग हमारी ही नस्ल के होते तो हम अपनी नीति जैसे निर्धारित करते, वैसे यहाँ निर्धारित करना असम्भव है।" (पृष्ठ ५४४-४५)। जब तक भारतीय फौजें साम्राज्यवाद के हित में लड़ती है, तब तक उनके कार्य अंग्रेज़ो की नैतिकता के मानदण्ड के अनुरूप होते है। जैसे ही वे अपने देश के लिए, अंग्रेजी राज से मुक्ति पाने के लिए, संघर्ष करती है, वैसे ही नस्ल का सवाल उठ खड़ा होता है। गोरी नस्ल की नैतिकता का मानदण्ड ऊँचा हो जाता है, एशिया के लोग बेवफ़ा और दग़ाबाज दिखाई देने लगते हैं।

वेवल को भय था कि कांग्रेस के नेता आज़ाद हिन्द फौज के सहारे विद्रोह फैलाने की कोशिश करेंगे और उनसे बन पड़ेगा तो हिन्दुस्तानी फौज को तोड़ लेंगे। उत्तर प्रदेश मे जैसी स्थिति थी, उससे वेवल को भय था कि कांग्रेसी नेताओं के चाहने से पहले ही सरकारविरोधी उपद्रव शुरू हो जायेंगे। नेता सार्वजनिक रूप से चाहे जो कहें, रेलवे और सार्वजनिक प्रतिष्ठानों पर संगठित हमले होंगे, खज़ाने लूटे जायेंगे और सरकारी दस्तावेज बरबाद किये जायगे। कांग्रेसी लोग १९४२ की तरह शासन का काम ठप्प कर देंगे। वे अंग्रेज और देशी हाकिमों पर हमला करेंगे। वेवल की राय थी कि कांग्रेस बलपूर्वक मौजूदा शासन व्यवस्था को खत्म करने की कोशिश करेगी, इसलिए आन्दोलन को दबाने के लिए पूरी तरह तैयार रहना चाहिए। भारतीय परिस्थिति पर अपने इस दस्तावेज में वेवल ने

खतरे को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया था क्योंकि इंग्लैण्ड की लेबर सरकार सीधे बल-प्रयोग का परिणाम जानती थी। किन्तु भारत को क्या देना है, और क्या नहीं देना, इस बारे में वेवल और लेबर सरकार दोनों की राय एक थी। नवम्बर १९४५ के इस दस्तावेज़ में वेवल ने लिखा था, "मेरी समझ में कांग्रेस की मुख्य माँग यह होगी कि भारत को कांग्रेस हाई कमान द्वारा चुनी हुई सरकार के मातहत तुरंत आज़ादी दी जाये। बरसों से कांग्रेस की यही नीति रही है और ज़ाहिर है कि नेहरू और पटेल को इससे कम से सन्तोष न होगा। मैं नहीं समझता कि बादशाह सलामत की सरकार बल-प्रयोग या उसकी धमकी के आगे झुक जायेगी; न अल्पसंख्यकों के प्रति हम आसानी से अपना उत्तरदायित्व छोड़ सकते हैं। इसलिए मैं मानता हूँ कि कांग्रेसी अल्टिमेटम को स्वीकार करने का प्रश्न न होगा।" (पृष्ठ ४५१-५३)।

भारत-सचिव पेथिक लारेन्स ने वेवल को सलाह दी कि वातावरण में जो गरमी आ गयी है, उसे कम करने की कोशिश करो और चुनाव तथा संविधान-सभा बुलाने की कार्रवाई आगे बढ़ाओ। इसके साथ ही भारत-सचिव ने एक दस्तावेज़ में सरकार की ओर से बल-प्रयोग की सम्भावना भी स्वीकार की। अपने इस दस्तावेज़ में पेथिक लारेन्स ने लिखा कि इंग्लैण्ड से पार्लियामेण्ट के सदस्यों का एक दल भारत जायेगा और वहाँ के लोगों को बतायेगा कि यहाँ की जनता चाहती है कि "ब्रिटिश कामनवेल्थ में आज़ाद साझेदार राज्य के रूप में शीघ्र ही भारत अपना पूर्ण और उचित स्थान ग्रहण कर ले।" (पृष्ठ ५३७)। इंग्लैण्ड में एक एम्पायर पार्लियामेण्ट्री एसोसिएशन था। इसी की ओर से पार्लियामेण्ट के सदस्यों का दल भारत आनेवाला था। इस दस्तावेज़ में पेथिक लारेन्स ने लिखा था कि स्वशासित भारत के लिए सबसे पहली आवश्यकता योग्य और वफ़ादार शासन चलानेवाले कार्यकर्ताओं की होगी जो नयी भारत सरकार की नीति अमल में लायेंगे। भावी स्वशासित भारत के लिए अहितकर होगा यदि नयी सरकार बनने से पहले राज्यसत्ता की नींव कमज़ोर होने दी जायेगी और अधिकारियों के प्रति उनके सेवकों की वफ़ादारी ख़त्म कर दी जायेगी। "कानून और व्यवस्था बनाये रखने की और संवैधानिक समस्या को बलपूर्वक हल करने के प्रयत्न को रोकने की जो ज़िम्मेदारी भारत सरकार पर है और सभी प्रान्तीय सरकारों पर है, उससे वह अपने को बरी नहीं कर सकती। पूर्ण स्वायत्त प्रशासन (सेल्फ़ गवरन्मेण्ट) तभी प्राप्त हो सकता है जब राज्यसत्ता की मशीनरी विशुद्ध भारतीय अधिकारियों के हाथ में व्यवस्थित और शान्तिपूर्ण ढंग से पहुँच जाये। बादशाह सलामत की सरकार भारतीय सेना या प्रशासनिक सेवाओं की वफ़ादारी ख़त्म करने की इजाज़त न देगी। वह भारत में सरकारों [प्रान्तीय सरकारों] को पूरा समर्थन देगी जिससे कि उनके सेवक अपने कर्त्तव्य-पालन के समय सुरक्षित रहें और भारत का भावी संविधान बल-प्रयोग द्वारा या उसकी धमकी के ज़रिये नहीं, वरन् संवैधानिक तरीके से ही निर्मित किया जाये।" (पृष्ठ ५३७-३८)।

इंग्लैण्ड की सरकार चाहती थी कि शासन की जो मशीनरी उसने यहाँ बनायी

थी, उसमें कोई परिवर्तन न हो। कानून और व्यवस्था बनाये रखने का मतलब यह था कि राज्यसत्ता के ढांचे मे कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन न हो। यद्यपि कांग्रेसी नेता विद्रोह और क्रान्ति की बातें करते थे किन्तु वे भी पुराने ढांचे में मौलिक परिवर्तन न चाहते थे। अंग्रेज यह बात जानते थे। भारत में अंग्रेजी राज और उसके प्रभाव को जड़ से खत्म करने के लिए अंग्रेजों की बनायी हुई राज्य-सत्ता का नाश करके नया जनवादी शासनतन्त्र, नयी जनवादी राज्यसत्ता कायम करना आवश्यक था।

नवम्बर १९४५ के अन्त मे भारत सचिव ने वाइसराय को लिखा, "यह जानकर खुशी हुई कि बिड़ला ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' से कह दिया है कि अपने स्वर की तेजी जरा कम कर दे। ऐसा लगता है कि कांग्रेस के अमीर हिमायती सोचने लग गये है कि काफ़िला जा किधर रहा है।" (पृष्ठ ५७४)। उसी महीने के अन्त मे भारत के सेनाध्यक्ष ने राजनीतिक परिस्थिति का मूल्यांकन इस प्रकार किया, "बड़े पैमाने पर सरकारविरोधी उपद्रव चुनाव खत्म होने से पहले, यानी अप्रैल से पहले, शायद शुरू न होगे क्योंकि ऐसे उपद्रव कांग्रेस के हित मे न होंगे। इसके अलावा ऐसा लगता है कि ज्यादातर राजनीतिक नेता और बड़े व्यवसायी इस समय हिंसात्मक तरीको के खिलाफ हैं।" (पृष्ठ ५७७)। इसी समय वित्त विभाग के अधिकारी शूस्टर के नाम विदेश विभाग के अधिकारी विन्ट ने यह सूचना भेजी, "मैं नही समझता कि चुनाव खत्म होने से पहले कोई गड़बड़ होगी क्योकि ऐसी गड़बड़ कांग्रेस-हितो के विरुद्ध होगी। पिछले कुछ दिनो में तनाव कम हुआ है। अतिवाद को ठण्डा करने के लिए बिड़ला अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर रहे है।" (पृष्ठ ५९५)। दिसम्बर के आरम्भ मे वाइसराय ने भारत-सचिव को बताया, पिछले दिनो ऐसे संकेत मिले हैं कि कांग्रेसी नेता, चुनाव खत्म होने से पहले कोई जनआन्दोलन न होगा, यह स्पष्ट करके तनाव कम करना चाहते हैं। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के अनुसार नेहरू ने कहा है कि चुनाव खत्म होने मे पहले राजनीति में कोई बड़ी बात नही होने जा रही। गांधी ने कहा है कि शान्ति और व्यवस्था बनाये रखकर भावी अहिंसात्मक आजादी की लड़ाई के लिए अपनी शक्ति बचाये रखो। अबुलकलाम आजाद ने कहा है कि कांग्रेस की मौजूदा नीति देश में शान्ति बनाये रखना है और अपने घोषणा-पत्र के अनुसार चुनाव लड़ना है। कलकत्ते मे जो उपद्रव [सरकारविरोधी प्रदर्शन] हुए, उनके लिए शरत्चन्द्र बोस ने अपने बयान मे कम्युनिस्टो को दोषी ठहराया है। ऐसा लगता है कि कलकत्ते के उपद्रवो से कांग्रेसी नेता समझ गये हैं कि चुनाव जीतने के लिए वे जिस गरम भाषा का प्रयोग कर रहे है, उससे वक्त से पहले ही बलवा हो सकता है। सही मौके पर, अपनी योजना के अनुसार, जन-आन्दोलन का हथियार इस्तेमाल करने के बदले वे ऐसा माहौल पैदा करेंगे कि किसी भी जगह और किसी भी समय उपद्रव शुरू हो सकता है। "कांग्रेस के साथ जो तगड़े पूंजीपति लोग हैं, वे चिन्तित हो उठे हैं कि उनकी सम्पत्ति सुरक्षित रहेगी या नहीं।" (पृष्ठ ६०२-०३)। ६ दिसम्बर १९४५ को स्वयं घनश्यामदास बिड़ला ने भारत से सम्बद्ध इंग्लैण्ड की सरकार के एक अधिकारी हेन्डरसन के नाम पत्र लिखा। इसमें उन्होने आजाद

हिन्द फौज के मुकद्दमे, इण्डोनीशिया में भारतीय फौजों, मुकद्दमा
जेल में डाले हुए सैकड़ों कैदियों आदि की तरफ ध्यान आकर्षित कि
अनुसार इंग्लैण्ड का वातावरण भिन्न था; लेबर पार्टी जो कह रही थ
मन से कह रही थी। किन्तु भारत मे अंग्रेज़ो का रवैया ऐसा था कि
दूषित था। देश के नेता अपने चारो तरफ पुरानी हवा चलते देखते है
अपनी भाषा मे नर्मी लाना-उनके लिए मुश्किल है। यह दुख की बा
अपने लक्ष्य के इतने नजदीक पहुँच गये है, फिर भी आपसी विश्वास
की इतनी कमी है।" भारत सचिव ने देश को ब्रिटिश कामनवेल्थ मे
का दर्जा देने की बात कही थी, उसके बारे में बिड़ला के एक मित्र की
वही पुराना किस्सा है, उसमे नया कुछ नही है। बिड़ला ने सुझाया कि
व्यवस्था पर इतना ज़ोर न दिया जाता तो अच्छा था। बगाल के
और गांधीजी मे भेंट हुई है। इससे भी वातावरण सुधरेगा। "मेरा
विचार है कि गरम भाषणों का दौर अब समाप्त होगा।" पत्र के अन्त
ने लिखा कि धीरज और होशियारी से काम करना होगा। उन्हों
दिलाया, "जवाहरलाल समेत कोई भी ऐसा राजनीतिक नेता नही है
हो कि हिंसा हो या संकट पैदा हो जाये। वे कहते कुछ भी रहें, हर को
के लिए उत्सुक है, और उनसे असहमत होने पर भी इन गरम भाषणो
समझना चाहिए। चारो तरफ जो वातावरण है और जनता मे जो
उसके फलस्वरूप भाषण गरम होते है। कभी-कभी नेता भी दूसरो के
है। लेकिन मेरा विचार है कि अनियन्त्रित भाषा भविष्य में कम सुनी
मुझे विश्वास है कि आप इसे भारत-सचिव को दिखा देंगे। सर स्टैफोर्ड
भारत की बात सुनने और मदद करने को तैयार रहते है; चाहे तो उन्हें
दे।" (पृष्ठ ६१२-१५)।

इस प्रकार अंग्रेज आश्वस्त थे कि उनका बनाया हुआ राज्य-सत्ता
बरकरार रहेगा। एक स्तर पर यह समझौते की बात चल रही थी, दूसरे
राजनीतिक परिस्थिति क्रान्तिकारी रूप लेती जा रही थी। अंग्रेज़ो ने
को अपना राज कायम करने का हथियार बना रखा था किन्तु देश की रा
परिस्थिति इस फौज को प्रभावित कर रही थी और अंग्रेज जानते थे
बनाया हुआ हथियार उनके खिलाफ इस्तेमाल किया जा सकता है।
औकिनलेक ने वाइसराय वेवल को बड़ी पते की बात लिखी थी, "मौज़
मे भारत के सभी हिस्सों से और सभी वर्गों से लोग भरती किये गये हैं।
जो आधुनिक साधन हैं उनके कारण और देश में जो राष्ट्रवादी भावना
हुई है, उसके कारण फौज को बाकी देश मे अलग करके रखना बिल्कुल ना
है।" (पृष्ठ ५३२)।

जबलपुर से आज़ाद हिन्द फौज के कुछ कैदी छूटकर इलाहाबाद पहुँ
बमरौली, कानपुर और इलाहाबाद के हवाई फौज के कुछ लोगो ने उनका
किया और बाकी कैदियो को छुड़ाने के लिए चन्दा दिया। (पृष्ठ ५०७
केन्द्रीय सरकार के गुप्तचर-विभाग ने अखबारों मे छपी खबरो का उल्ले

कि फौज के क्लर्क और हवाई बेड़े के लोग कैदियों के बचाव फण्ड में पैसा दे रहे है। अंग्रेजो को अपनी योजनाएँ अमल मे लाने के लिए मुस्लिम लीग का बड़ा भरोसा था लेकिन आजाद हिन्द फौज मे मुसलमान काफी थे। गुप्तचर विभाग ने सूचित किया कि आजाद हिन्द फौज के मुसलमानो पर मुकद्मा चलाया गया तो इसका असर मुसलमान जनता और मुस्लिम लीग दोनो पर पड़ेगा। (पृष्ठ ५१३-१५)। अंग्रेज इस बात से चिन्तित थे कि जो लोग अंग्रेजो के समर्थक थे, खिताब पाये हुए लोग, हाई कोर्ट के अवकाशप्राप्त जज, वे भी आजाद हिन्द फौज के कैदियो के बचाव मे खुलकर हाथ बँटाने लगे है। (पृष्ठ ५१४)। सन् ४२ के आन्दोलन में कांग्रेस ने किसान-आन्दोलन की ओर ध्यान न दिया था। अब उन्हें डर था कि देहात मे भी उपद्रव फैल सकता है। सेनाध्यक्ष का विचार था कि बिना लाइसेंसवाले हथियार काफी सख्या में फैले हुए है। लड़ाई के बाद फौज से छूटे हुए सिपाही और आजाद हिन्द फौज के सैनिक इन हथियारों का उपयोग कर सकते है। सेनाध्यक्ष के अनुसार "खतरे के मुख्य इलाके संयुक्त प्रान्त, बिहार और बगाल हो सकते है लेकिन पजाब, मध्यप्रदेश और बम्बई के सूबों मे भी गड़बड हो सकती है। मद्रास मे इसकी सम्भावना कम है।" (पृष्ठ ५७८)। यह १८५७ का युद्धक्षेत्र है जो अब विस्तृत होता जा रहा है।

२० नवम्बर १९४५ को सुधारवादी श्रमिक नेता बी. शिवराव ने अंग्रेजो को सावधान करते हुए इंग्लैण्ड-स्थित बोर्ड आफ ट्रेड के प्रेसिडेण्ट को लिखा था कि आजाद हिन्द फौज के मुकद्मों का असर भारतीय सेना पर पड़ रहा है। "भारत मे यात्रा करते समय मैंने उन लोगों से बात की है जो फौजी वर्दी मे थे। उन्होने इस बात के महत्व की ओर ध्यान दिलाया कि बर्मा और मलय मे इतने हिन्दुस्तानी सिपाही दूसरे पक्ष से मिल गये थे। अंग्रेज अफसरो और सैनिको के साथ व्यवहार और भत्ते मे जो भेद किया जाता है, उसकी वे जोरों से शिकायत कर रहे थे। यह बात फौज और हवाई बेड़ा, दोनों के लिए सही है। जिन पर मुकद्मा चल रहा है या चलनेवाला है, उन्हें अपने भाग्य के बारे में जरा भी चिन्ता नही है। इनमे हिन्दू और मुसलमान का भेदभाव जरा भी नही है। उन्होने कल हमे बताया कि उन्होंने अपनी फौज में इस तरह का सारा भेदभाव खत्म कर दिया था। जो लोग मुसलमानो के लिए खाना बनाते थे, वही हिन्दुओं के लिए खाना बनाते थे, जो खाना हिन्दू खाते थे, वही मुसलमान खाते थे। इस बारे में कोई पूछताछ न होती थी। इस बात का खूब प्रचार हुआ है। लाल किले में जिन पर मुकद्मा चलनेवाला है, उनमे ज्यादा संख्या मुसलमानों की है। इनमे से कुछ को जिन्ना से सख्त शिकायत है कि वह पाकिस्तान का बखेड़ा खड़ा किये है।" और अन्त मे "भारत के सार्वजनिक जीवन मे अब ऐसा एक भी तत्व नही रह गया अंग्रेज सरकार जिसका भरोसा कर सके।" (पृष्ठ ५६४-६५)।

१५ दिसम्बर १९४५ के पत्र मे इन्ही शिवराव ने क्रिप्स को लिखा कि भारत मे चारों तरफ आक्रोश फैला हुआ है, यह आक्रोश फौज और हवाई बेड़े मे भी है। अभी भी गोरे-काले का भेद बरता जाता है। आप जितनी कल्पना करते होंगे, उससे कही ज्यादा सहानुभूति आजाद हिन्द फौज के प्रति है। (पृष्ठ ७०७)।

अगले साल जनवरी मे आजाद हिन्द फौज के तीन वीरों का स्वागत लाहौर मे हुआ। इस तरह के समारोहों मे ब्रिटिश फौज के भारतीय सिपाही अपनी वर्दी पहने हुए मौजूद रहते थे। इसने पंजाब के गवर्नर को चिन्ता होना स्वाभाविक था। (पृष्ठ ८०७)। अंग्रेज जानते थे कि भारत मे उनका सामाजिक आधार लगभग नष्ट हो चुका है। यदि देशी फौज उनका साथ न देगी तो भारत पर अधिकार बनाये रखना असम्भव होगा। अंग्रेज फौजें थोडी थी, उनकी आवश्यकता अन्य क्षेत्रों मे थी। भारत मे विद्रोह होने पर अंग्रेजों के लिए एक ही चारा रहेगा कि नयी गोरी फौज लाकर इस देश को फिर से जीते। नवम्बर १९४५ मे सेनाध्यक्ष ने अपना यह मत प्रकट किया, "यदि कुल मिलाकर देशी फौज भरोसा करने लायक न रह जाये, तो यहाँ जितनी ब्रिटिश फौज है, वह शायद आन्तरिक परिस्थिति पर काबू न पा सकेगी और न आवश्यक संचार-साधनों की रक्षा कर सकेगी। थोड़ी-थोड़ी ब्रिटिश फौज मदद के लिए भेजी जाये तो उससे भी काम न चलेगा। परिस्थिति पर फिर से काबू पाने के लिए और देश मे आवश्यक संचार-साधनों को बहाल करने के लिए एक संगठित मुहीम भारत को फिर से जीतने के लिए चलानी पड़ेगी। इससे कम से काम न चलेगा। ऐसी मुहीम के लिए कितनी स्थलसेना और वायुसेना दरकार होगी, इसका हिसाब लगाना अभी मुमकिन नही है पर लाजमी तौर से बहुत बडी सैनिक-शक्ति दरकार होगी। यदि भारतीय फौज सरकार का समर्थन करने को तैयार न होगी तो लाजमी तौर से वह सक्रिय होकर उसका विरोध करेगी। इसके अलावा ऐसा सक्रिय विरोध भारत तक सीमित न रहेगा। समुद्रपार के क्षेत्रों मे, जैसे कि बर्मा, मलाया, जावा और मध्यपूर्व में, जहाँ बादशाह सलामत की सरकार भारतीय फौजों को इस्तेमाल कर रही है, असन्तोष फैलेगा और इसका गहरा असर उन देशों की जनता के दल पर पडेगा। हो सकता है कि अफगानिस्तान भी सीमान्त प्रदेश के कबीलो और उत्तर-पश्चिमी भारत के मुसलमानो का साथ देने की ठान ले।" (पृष्ठ ५८२-८३)।

भारतीय सेना अंग्रेज सरकार का समर्थन न करेगी तो उसका विरोध करेगी, यह सम्भावना १९४५ के अन्त मे बहुत स्पष्ट हो चुकी थी। इसका मतलब यह था कि भारतीय इतिहास मे १८५७ की आवृत्ति हो सकती थी और यह आवृत्ति पहले की अपेक्षा और बड़े पैमाने पर होती। दूसरे महायुद्ध के दौरान ब्रिटिश साम्राज्यवाद कमजोर पड़ चुका था। उसकी काफी सैनिक शक्ति नष्ट हो चुकी थी। भारतीय फौज भारत के अलावा एशिया के अन्य देशो मे साम्राज्यवादी हितों की रक्षा कर रही थी। भारत में विद्रोह का अर्थ होता एशिया के अन्य क्षेत्रों मे विद्रोह। क्रान्तिकारी उभार ऐसा व्यापक रूप ले सकता था कि भारतीय सेना का सहयोग मिलने पर वह एशिया मे सारी साम्राज्यवादी व्यवस्था को ध्वस्त कर दे। इसीलिए भारत-स्थित अंग्रेज सेनाध्यक्ष चिन्तित था।

उसी दस्तावेज़ में सेनाध्यक्ष ने लिखा, "भारत मे परिस्थिति बहुत ही नाजुक है यदि सरकार के खिलाफ व्यापक रूप से विद्रोह हो तो सारा दारोमदार भारतीय फौज की वफादारी पर होगा। यह सब फौजी ने अधिक राजनीतिक स्थिति पर निर्भर है। यह जरूरी है कि भारत मे, और जहाँ भारतीय फौजें है ऐसे

पड़ोसी देशों में, हम कोई ऐसा राजनीतिक काम न करें जिससे कि सरकार के प्रति भारतीय फौज की वफादारी खत्म करने के लिए लोगों को राजनीतिक आन्दोलन करने का अवसर मिले।" (पृष्ठ ५८३)। सेना घनिष्ठ रूप में राजनीतिक परिस्थिति से जुड़ी हुई थी, यह तथ्य यहाँ स्वीकार किया गया है। भारतीय जनता के साथ भारतीय सैनिक भी अपने देश की स्वाधीनता के प्रति सजग थे; यही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे की भावना से प्रेरित होकर वे पड़ोसी देशों की स्वाधीनता के प्रति भी सजग थे। १९१४-१५ में गदर पार्टी के वीरों ने जो प्रयत्न किया था कि भारतीय फौज दूसरे देशों को दबाने के लिए इस्तेमाल न की जाये, वह प्रयत्न अब नयी राजनीतिक चेतना के प्रसार से सफल होता दिखायी दे रहा था। सेनाध्यक्ष ने लिखा, "अभी भी जावा, फ्रांसीसी हिन्द-चीन में हमारी कार्रवाई के लिए कहा जाता है कि पूरब के लोगों के राष्ट्रीय विद्रोह को यूरपवाले दबा रहे हैं। यदि यह मुख्य राजनीतिक समस्या बन गयी, जैसी कि सम्भावना है, तो भारतीय फौज की वफादारी पर इसका गहरा असर पड़ सकता है। अवश्य ही इन देशों या ऐसे अन्य देशों को भारतीय फौज भेजना बहुत ही अवांछनीय है।" (पृष्ठ ५८३)।

किन्तु खतरे की सम्भावनामात्र से अंग्रेज भाग खड़े होनेवाले न थे। वे इसकी तैयारी भी कर रहे थे कि बड़े पैमाने पर विद्रोह हो तो उसके दमन के लिए यहाँ काफी गोरी फौजें मौजूद हों। आम जनता बगावत शुरू कर दे, उसके बाद ब्रिटिश कुमक का आना लाभकारी न होगा क्योंकि देशी फौज समझ जायेगी कि उसका भरोसा नहीं किया जा रहा। इसलिए ब्रिटिश फौज पहले से ही बुला लेनी चाहिए और उसे यहाँ किसी बहाने से भेजना चाहिए। बहाना यह हो सकता है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में जो हिन्दुस्तानी फौज है, उसकी जगह अंग्रेजी फौज रखी जायेगी। वहाँ पहुँचने के पहले उस ब्रिटिश फौज का पहला पड़ाव भारत में होगा। भारतीय फौज में ब्रिटिश अफसर कम रह गये थे। देशी अफसरों का भरोसा न किया जा सकता था, इसलिए सेनाध्यक्ष की निगाह में उस समय सबसे जरूरी काम यह था कि काफी संख्या में अनुभवी ब्रिटिश अफसर देशी सेना में रखे जायें।

२२ दिसम्बर १९४५ को सेनाध्यक्ष औकिनलेक ने उच्च सेनाधिकारियों को सूचित किया कि आजाद हिन्द फौज के सैनिकों को कांग्रेस सच्चे देशभक्त कहती है और खूब बढ़ा-चढ़ाकर सरकारविरोधी प्रचार करती है। इसका असर फौजियों पर पड़ता है। वे गैरफौजियों से मिलते हैं, तब उन पर यह प्रभाव पड़ता है। उन पर यह प्रभाव सीधे-सीधे भी पड़ता है। भारत में जहाँ भी पल्टनें हैं, वहाँ से खबर यह मिलती है कि लोगों को इस प्रचार की जानकारी है। अभी तक ऐसा कोई संकेत नहीं मिला कि सैनिक अपने अफसरों का हुक्म न मानेंगे या सरकार के प्रति [illegible] करें।" (पृष्ठ ६७४)। हो सकता है, कुछ पल्टनें सरकार के लिए अपनी ही जनता के खिलाफ लड़ें पर यह बताना असम्भव है कि ऐसी पल्टनें कौन-सी हैं और

कहाँ-कहाँ हैं। गुरखा पल्टनों के अफ़सर अंग्रेज हैं और सम्भव है उन पर इस सब-का असर कम हो पर वे भी हिन्दू हैं और यह नहीं कहा जा सकता कि उन पर कांग्रेसी प्रचार का असर न होगा। (पृष्ठ ६७४)। १८५७ में अंग्रेजों ने नेपाल के राणा की सहायता से अवध में अपनी मुहीम चलाने के लिए गुरखा सैनिकों का उपयोग किया था। तब से अब तक परिस्थिति बहुत बदल गयी थी। कुछ गुरखा सैनिक आज़ाद हिन्द फौज में शामिल हो गये थे, यह उल्लेखनीय है। (पृष्ठ ५७९)। इस स्थिति में गोरी फौजों के अलावा अंग्रेज और किसी फौज का भरोसा न कर सकते थे। किन्तु वे जानते थे कि कांग्रेसी नेता स्वयं देशी फौजों की बगावत पसन्द न करेंगे। २२ दिसम्बर १९४५ के उसी दस्तावेज़ में सेनाध्यक्ष ने लिखा, "इस बात के संकेत मिलते हैं कि कांग्रेस महसूस करने लगी है कि भारतीय फौज में अनुशासन ढीला होगा और अधिकारियों की आज्ञा न मानी जायेगी तो कांग्रेस के सत्तारूढ़ होने पर यह सब स्वयं उसके हित में न होगा, उसके लिए ज्यादा अच्छा होगा कि विद्रोह के बदले वह पहले संवैधानिक तरीके से उस सत्ता को प्राप्त कर लेने की कोशिश करे।" (पृष्ठ ६७४-७५)।

औकिनलेक ने आज़ाद हिन्द फौज के सैनिकों के प्रति जो नीति अपनायी थी, वह बहुत से अंग्रेज फौजी अफ़सरों की निगाह में बेहद नरम थी और उससे अनुशासन बिगड़ता था। इस नीति को लेकर उन्होंने जो बातें कही थीं, उनका उत्तर देते हुए औकिनलेक ने सेना-नायकों के लिए एक दस्तावेज़ तैयार किया। अंग्रेजों की तात्कालिक और पूर्वकालिक नीति समझने के लिए यह दस्तावेज़ बहुत महत्व-पूर्ण है। राष्ट्रीय भावना के प्रसार को ध्यान में रखते हुए औकिनलेक ने लिखा कि जो भी आदमी भारतीय कहलाने के योग्य है, वह राष्ट्रवादी है, यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अंग्रेज़विरोधी भी है। जहाँ तक भारत और उसकी स्वाधीनता का प्रश्न है, अब कोई अंग्रेजों का पक्ष लेनेवाला भारतीय नहीं है। हर हिन्दुस्तानी कमीशण्ड अफ़सर राष्ट्रवादी है और उसका ऐसा होना उचित है, "शर्त यह है कि वह भारत की आज़ादी संवैधानिक तरीके से प्राप्त करना चाहता हो।" (पृष्ठ ९४०)। जब अंग्रेजों ने तय कर लिया था कि भारत छोड़ना है, तब संवैधानिक तरीके पर इतना ज़ोर क्यों दे रहे थे? क्या सम्मानपूर्वक विदा होने के लिए? अंग्रेज जानते थे कि उनके हितों की रक्षा उसी तरीके से हो सकती है, जिसे वे संवैधानिक कहते हैं। इसलिए वे संवैधानिकता की सीमाओं में बन्द रहने-वाले राष्ट्रवाद को ही उचित मानते थे।

भारतीय फौज के अंग्रेज अफ़सरों को लक्ष्य करके सेनाध्यक्ष ने लिखा कि देशी अफ़सरों के प्रति इनका व्यवहार भेदभाव बरतनेवाला होता था और अपमानजनक होता था। इससे अनेक भारतीय अफ़सरों के मन में आक्रोश भर गया था। (पृष्ठ ९४१)। हिन्दुस्तानी अफ़सरों की तनख्वाह को लेकर, सेवा-सम्बन्धी शर्तों को लेकर भेदभाव बरता गया था। हिन्दुस्तानी अफ़सरों को अलग टुकड़ियों में रखने की नीति अपनायी गयी थी। इनमें जो सबसे बुद्धिमान और प्रगतिशील थे, उनके मन में काले-गोरे के भेदभाववाली कटु भावना बहुत गहरे पैठ गयी थी। ये लोग स्वभावतः राष्ट्रवादी थे। वे चाहते थे कि भारत अपने पैरों खड़ा हो। "किसी भी

भारतीय अफसर को शक की निगाह से न देखना चाहिए, उसकी वफादारी पर सन्देह न करना चाहिए, केवल इसलिए कि वह राष्ट्रवादी है, इसलिए कि, दूसरे शब्दों में, वह अच्छा भारतीय है।" (पृष्ठ ९४३)।

औकिनलेक की नीति के कुछ आलोचकों का कहना था कि आजाद हिन्द फौज के सैनिक भारत से बाहर जहाँ पकड़े गये थे, वहीं उनका मामला निपटा देना चाहिए था यानी उन्हें मौत के घाट उतार देना चाहिए था। इस बारे में औकिनलेक का कहना था कि बात दो-चार आदमियों की नहीं, पैंतालीस हजार आदमियों की थी और इतने आदमियों को मोर्चे पर सजा देना व्यावहारिक नहीं था। औकिनलेक ने अंग्रेजी पक्ष छोड़नेवाले सैनिकों की जो संख्या बतायी है, वह ध्यान देने योग्य है। विदेशियों से लड़ते हुए हजारों भारतीय सैनिकों ने अंग्रेजों का साथ छोड़ दिया था। यदि भारतीय फौज से अपने देशवासियों से लड़ने को कहा जाता तो उनमें कितने अंग्रेजों का साथ देते, इसकी कल्पना की जा सकती है। १८५७ अंग्रेजों को याद था और भारतवासियों को भी। दिसम्बर १९४५ में बंगाल के गवर्नर से मिलने के बाद महात्मा गांधी ने बंगाल क्षेत्र के सेनापति जनरल आर्थर-स्मिथ से बातें करते हुए "अंग्रेजों और उनके कारनामों के खिलाफ लम्बा व्याख्यान दिया; गदर और उससे पहले की घटनाओं से शुरुआत की और शिमला-सम्मेलन पर बात खत्म की।" (पृष्ठ ६५६)।

१८५७ की तुलना में १९४५-४६ की स्थिति अंग्रेजों के लिए अधिक पेचीदा इसलिए थी कि वे भारत के अलावा भारत से बाहर अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीय फौज पर निर्भर थे और भारत से बाहर पराधीन देशों की जनता विद्रोह करने पर तुल गयी थी। जनवरी १९४६ में वाइसराय ने भारत-सचिव को सावधान किया, "जिसे राष्ट्रीय स्वाधीनता-आन्दोलन कहा जा सकता है, उसे दबाने के लिए यदि भारतीय फौज को इस्तेमाल किया गया तो इसके भयानक परिणाम हो सकते हैं। बादशाह सलामत की सरकार को यह बात महसूस करनी चाहिए, महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है। औकिनलेक की राय है कि ऐसी कार्रवाई का गहरा असर सारी हिन्दुस्तानी फौज के मनोबल पर पड़ सकता है और भारत में राजनीतिक समझौते पर भी पड़ सकता है। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि बादशाह सलामत की सरकार बर्मा में इस तरह अपनी नीति चलाये कि वहाँ विद्रोह की सम्भावना न रहे।" (पृष्ठ ८०८)। जो परिस्थिति भारत की थी, उससे मिलती-जुलती परिस्थिति बर्मा की थी। दोनों जगह विद्रोह का खतरा था और इस विद्रोह को दबाने के लिए भारतीय फौज का भरोसा न किया जा सकता था।

अपने साम्राज्य के अलावा अंग्रेजों ने दूसरे साम्राज्यवादियों के हितों की रक्षा का भार उठा रखा था। इनमें जावा द्वीप समूह पर शासन करनेवाले हालैण्ड के साम्राज्यवादी भी थे। इस कारण भारत के अंग्रेज अधिकारी इंग्लैण्ड की सरकार पर बराबर जोर डाल रहे थे कि इंडोनीशिया से भारतीय फौज तुरत वापस बुलायी जाये। दिसम्बर १९४५ में इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री ने सहयोगी मन्त्रियों की बैठक में कहा कि हालैण्ड और इंडोनीशियन लोगों के बीच समझौता कराने के लिए

कोशिश हो रही है। ऐसी हालत मेंभारतीय फौज की वापसी के बारे में वाइसराय कोई निश्चित बयान नहीं दे सकते। विदेश सचिव ने बताया कि मास्को-स्थित अंग्रेज राजदूत को समझौते की बातचीत में मदद लेने के लिए जावा भेजा जा रहा है। समझौते की बातचीत कैसे आगे बढती है, इसकी जानकारी हफ्ते भर में हो जायेगी। तब तक वाइसराय को कोई घोषणा न करनी चाहिए। (पृष्ठ ७६४)। समझौते की बातचीत भारत में चल रही थी, अंग्रेजों की प्रेरणा से ऐसी ही बातचीत जावा में चल रही थी। यदि जावा, वर्मा और भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन सुलह-समझौते का रास्ता छोडकर क्रान्तिकारी ढंग से साम्राज्यवाद का मुकाबला करते तो इसमें सन्देह नही कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की स्थिति बिल्कुल बदल जाती।

## ३. नाविक-विद्रोह

१८ फरवरी १९४६ को जल-सेनापति रैटरे ने वम्बई के गवर्नर को सूचित किया कि 'तलवार' नाम के जहाज में नाविकों ने हड़ताल कर दी है। इन्हें अपने नायक के व्यवहार से शिकायत थी। विरोधस्वरूप उन्होंने खाना न खाया। रात में 'तलवार' के नाविक अपनी वारिकों से निकलकर कैसल और फोर्ट वारिकों में पहुँचे। वे चाहते थे कि वहाँ के नाविक सहानुभूति में निकल आयें। इन सब स्थानों से नाविक निकल आये और वम्बई के फोर्ट इलाके में फैल गये। इनमें कुछ के हाथ में हाकियाँ थी। कई जगह उपद्रव हुए लेकिन दो घण्टे में पुलिस ने शान्ति-व्यवस्था कायम कर ली। नाविकों ने कई फौजी ट्रकों पर सवार होकर नारे लगाते हुए शहर का चक्कर लगाया। दो ट्रकें गवर्नर ने खुद देखी। इनमें बैठे हुए नाविक हँस रहे थे और लोगों की तरफ देखकर हाथ हिला रहे थे। १९ तारीख को जल-सेनापति रैटरे ने गवर्नर से कहा कि नाविकों ने अपने अफसरों के प्रति हिंसा का व्यवहार नहीं किया लेकिन वे उनकी आज्ञा मानने को तैयार नहीं है। उनके साथ बहुत से छोटे अफसर और कुछ बड़े अफसर भी थे। जल-सेनापति के पास परिस्थिति से निपटने के लिए पर्याप्त साधन न थे। गवर्नर ने वाइसराय को सूचित किया, "स्पष्ट था कि काफी बड़े पैमाने पर बगावत (म्युटिनी) हुई है। शहर में जो नाविक-संस्थान हैं, उनके अलावा बन्दरगाह में जो बाईस जहाज है, वे भी शामिल है और वम्बई के बाहर समुद्रतटवर्ती संस्थान शामिल है। हम लोगों ने परिस्थिति पर विचार किया और तय किया कि इस मामले को फौज अपने हाथ में ले और जरूरत हो तो हथियारवन्द पुलिस की मदद ले।" (पृष्ठ १०८०)।

२० तारीख को एक मराठा बटालियन और हथियारवन्द पुलिस की मदद से विद्रोही नागरिकों को घेर लिया गया और उन्हें वारिकों में वापस भेजा गया। जल-सेनापति ने शहर में घोषणा की कि जो भी नाविक बाहर हों, अपनी वारिकों में वापस चले जायें। अधिकांश चले गये; लगभग सौ नाविक शहर में गिरफ्तार किये गये। कैसल वारिक से विद्रोही नाविकों ने रात में बाहर निकलने का प्रयत्न किया और अगले दिन सवेरे उन्होंने फिर यही कोशिश की। जहाज के आदमियों ने उन्हें हथियार भेज दिये थे। इस बार नाविकों और फौजी पहरेदारों के बीच

गोली चली। जो लोग जहाजों पर थे, ये माँग कर रहे थे कि फौजी पहरेदार हटाये जायें, वर्ना वे जहाजों की तोपों से गोलाबारी शुरू कर देंगे। अंग्रेजों ने तय किया कि पहरेदार न हटायेंगे। उन्होंने सान्ताक्रूज हवाई अड्डे पर बमवर्षक हवाई जहाज बुला लिए, ब्रिटिश पैदल सैनिकों की दो बटालियन, एक तोपखाना, एक हथियारबन्द गाड़ी वगैरह की भी व्यवस्था की। कुछ जंगी जहाजों के भी दो-तीन दिन मे आने की व्यवस्था की।

बम्बई के गवर्नर को वल्लभभाई पटेल का संदेश मिला कि विद्रोह से कांग्रेसी नेताओ का कोई सम्बन्ध नही है और उन्होंने जनता मे शान्ति बनाये रखने को कहा है। रक्तपात रोकने के लिए वे जो भी बन पड़े, करने को तैयार हैं। गवर्नर के अनुसार अरुणा आसफ अली लोगों को भड़काना चाहती थी किन्तु वल्लभभाई पटेल से उन्हे कोई प्रोत्साहन न मिला। सार्वजनिक सभाओं में उनके व्याख्यानों पर सरकार ने पाबन्दी लगा दी थी। "लेकिन पुलिस ने सूचना दी कि कांग्रेस सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट आग भड़काने मे लगे हुए हैं और स्पष्ट ही विद्रोहियों से उन्हे हमदर्दी है। सप्ताह का अन्त होते-होते हड़तालें और उपद्रव होने की सम्भावना है। बृहस्पतिवार २१ तारीख को काफी रात गये उपद्रव शुरू हुआ और हुल्लडबाज हमदर्दों ने खिड़कियाँ तोड़ दी और गाड़ियाँ जला दी। उन्हें तितर-बितर करने के लिए पुलिस को गोली चलानी पड़ी। शुक्रवार २२ तारीख के सबेरे बडे पैमाने पर उपद्रव फैल गया। ऊपर से लगता था कि यह सब नाविको से सहानुभूति जताने के लिए हो रहा है, हालांकि वह कांग्रेस और लीग दोनों के ही नेताओं की सलाह के खिलाफ हो रहा था। कम्युनिस्टो और विद्यार्थियों ने हड़ताल कराई। हर उपद्रव से लाभ उठानेवाले बलवाई शामिल हो गये और इससे एक ही समय पर शहर के कई भागो मे स्थिति को सँभालना पुलिस के लिए बहुत कठिन हो गया। लगभग सभी मिलों के मजदूर निकल आये। आगजनी और लूटपाट सब तरफ होने लगी। पुलिस को गोली चलानी पड़ी और उसने सहायता के लिए फौज को बुलाया। दिन के साढ़े ग्यारह बजे एक बटालियन उनकी मदद के लिए आई और शाम तक दो बटालियनें मदद करती रही। कई स्थानों पर भीड ने जमकर मुकाबला किया। उसने सड़क पर अवरोध खड़े कर दिये और पड़ोस की इमारतो से वह उनकी निगरानी करती रही। जो भी अवरोध हटाने की कोशिश करता था, उसे वह पत्थर मारती थी। शहर के यूरोपियन भाग में काम-काज ठप्प हो गया। दोपहर तक बैंक बन्द हो गया। द्वीप के [अर्थात् बम्बई के] घनी आबादी वाले केन्द्रीय भाग मे उपद्रव फैल गया और, उससे थोड़ा कम, उत्तर के मिल वाले इलाके में फैला। काफ़ी बड़े क्षेत्र पर कर्फ्यू लागू किया गया किन्तु रात मे एक से अधिक भागो मे उपद्रव हुआ।" (पृष्ठ १०८१-८२)।

उस दिन मुस्लिम लीग के सूबाई नेता चुन्द्रीगर और बम्बई प्रदेश कांग्रेस कमेटी के सचिव सादोबा पाटिल ने गवर्नर को आश्वासन दिया कि वे उपद्रव शान्त करने को उत्सुक है और "पुलिस की सहायता करने के लिए स्वयसेवक भेजने को तैयार है। अगले दिनो इनमे से कई स्वयसेवक मैंने देखे। उनका काम

उपयोगी था, यद्यपि सीमित था। बौखलाई भीड़ से निपटना उनके लिए सम्भव न था। उससे केवल बल-प्रयोग द्वारा निपटा जा सकता है। लेकिन जब उपद्रव की तेजी धीमी हो जाये तो वे लोगों को शान्त कर सकते हैं।" (पृष्ठ १०८२)

२२ तारीख को विद्रोही नाविक घिरे हुए थे पर उन्होंने आत्मसमर्पण न किया था। २३ तारीख शनिवार को काफी बलवा हुआ, "खासतौर से शहर के उत्तरी भाग में, मिलों वाले इलाके में।" तीन बटालियनें शासन की मदद कर रही थीं और उन्होंने कई जगह गोली चलायी। एक हजार आदमी गिरफ्तार किये गये। २२८ नागरिक मारे गये और १०४६ घायल हुए। २४ पुलिस अफसरों और ६६ सिपाहियों को चोटें आयी। ३ कानिस्टेबल मारे गये। २३ तारीख को विद्रोही नाविकों ने आत्मसमर्पण कर दिया।

२६ तारीख को चौपाटी की सभा में जवाहरलाल नेहरू और वल्लभभाई पटेल ने व्याख्यान दिये। "ऐसा करने से पहले उन्होंने अनुमति माँगी क्योंकि हमने सभाओं पर पाबन्दी लगा रखी थी। उन्होंने संकेत किया था कि उनका मुख्य उद्देश्य हिंसा की निन्दा करना है और जिन लोगों ने उपद्रव किया है, उन्हें फटकारना है।" (पृष्ठ १०८३)। गवर्नर ने वाइसराय को सूचित किया कि कुछ बातें ऐसी कही गयी जिनसे हमारा काम आसान न होगा पर कुल मिलाकर दोनों वक्ताओं ने, विशेष रूप से पटेल ने, उपद्रव और हिंसा की व्यर्थता पर जोर दिया। सभा में काफी लोग आये थे और पाबन्दी लगाना उचित न होता। गवर्नर ने वाइसराय को यह भी सूचना दी कि वल्लभभाई पटेल का सन्देश लेकर गादोबा पाटिल मिलने आये। उन्होंने आशा व्यक्त की कि विद्रोही नाविकों से नर्मी का व्यवहार किया जायेगा। "उन्होंने आगे कहा कि कांग्रेस के गरम सदस्यों के बुलावे पर, और वल्लभभाई पटेल की सलाह के खिलाफ, नेहरू बम्बई आये थे। लेकिन उन्हें आग भड़काने से रोक दिया गया था। यहाँ पहुँचने पर उन्हें समझा दिया गया था कि हिंसा का जो भयानक विस्फोट हुआ है, उस पर काबू पाना जरूरी है।" (पृष्ठ १०८४)। निष्कर्ष रूप में गवर्नर ने लिखा, "मेरे लिए यह बात साफ है कि स्थानीय कांग्रेसी नेता स्पष्ट ही परिस्थिति के बारे में चिन्तित हैं, और उन्हें विश्वास है कि कम्युनिस्ट अराजकता फैलाने पर तुले हुए हैं। भविष्य में जमकर आन्दोलन चलाने की कांग्रेसी योजना जो भी हो, मुझे विश्वास है कि वे इस समय गड़बड़ नहीं चाहते। मुझे खतरा इस बात का दिखायी देता है कि उनका वामपक्ष उनके काबू से बाहर हो सकता है।" (उप.)।

अगले महीने झाँसी की एक सभा में जवाहरलाल नेहरू ने बम्बई के नाविक-विद्रोह के बारे में कहा, "इस हड़ताल का बड़ा राजनीतिक महत्व है। हमारे जवानों ने जोश में कुछ ऐसे काम किये हों जिन में हम सहमत न हों, यह सम्भव है, किन्तु इससे उसका महत्व कम नहीं होता; देश में इस घटना की जो जबर-दस्त प्रतिक्रिया हुई है, उस पर पानी नहीं फेरा जा सकता। इसने दिखा दिया है कि हिन्दुस्तानी फौज का दिमाग किस तरह काम कर रहा है। उसने यह भी दिखा दिया है कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी फौज और भारतीय जनता के बीच जो लोहे की दीवार खड़ी की थी, वह ढह गयी है। भारतीय सैनिक अधिकतर किसानों में से

आये है। राजनीतिक और आर्थिक शोषण के बारे में वे उतने ही सचेत हैं जितने खेतो और कारखानो मे काम करनेवाले उनके भाई है।" (पृष्ठ ११११७)।

बम्बई के अलावा नाविक-विद्रोह कराची मे भी हुआ। अंग्रेजों के लिए बम्बई के विद्रोह से कराची का विद्रोह और भी खतरनाक था। बम्बई मे नगर की जनता ने नागरिकों का साथ दिया और सैकडो आदमी मारे गये; यदि कराची की जनता भी नाविकों का साथ देती तो पाकिस्तान की सारी योजना खटाई में पड़ जाती। पाकिस्तान मे जो एक प्रदेश निश्चित रूप से शामिल किया जानेवाला था, वह सिन्ध था। यहाँ नाविकों और फौजियों के बीच गोली चली। इसमे गवर्नर मूडी के अनुसार चार नाविक मारे गये। जनता के प्रदर्शन पर पुलिस ने गोली चलायी जिसमे आठ आदमी मारे गये। नाविकों के पास छोटी तोपें थी जिनसे विशेष क्षति नही हुई लेकिन कुछ गोले बलूची पल्टनों की बारिकों के पास गिरे। रात मे कई सरकारी इमारतों पर और दो पुलिस-थानों पर भीड़ ने हमला किया। पुलिस और ब्रिटिश फौज की गाड़ियों पर हमले हुए। कुछ गाड़ियाँ अमरीकी फौज की थी। उन पर भी पत्थर फेंके गये। सडक पर जो अंग्रेजी पोशाक पहने निकलता था, लोग उसका हैट और टाई छीनकर जला देते थे। अधिकारियों के अनुसार बलवा करनेवाले ज्यादातर हिन्दू छात्र थे लेकिन उनके साथ कुछ मुसलमान भी थे। कांग्रेस के बडे नेता किसी सम्मेलन में भाग लेने कराची गये हुए थे। बलवा किसने कराया, इस बारे में मूडी ने राय जाहिर की, "व्यक्तिगत रूप से मुझे सन्देह नही है कि सारे फसाद की जड़ कम्युनिस्ट थे। 'हिन्दुस्तान' जहाज की चार इंची वाली तोपो ने शायद दूसरी पार्टियों के नेताओं को विश्वास करा दिया कि यहाँ मामला गरम है।" (पृष्ठ १०७२)।

उपद्रव के लिए प्रत्यक्ष रूप से कोई जिम्मेदार हो, मूडी ने वाइसराय को लिखा कि अप्रत्यक्ष जिम्मेदारी जवाहरलाल नेहरू, अरुणा आसफ अली आदि की है जो आजाद हिन्द फौज का यश गाकर हिंसा को बढावा देते रहे हैं। जवाहरलाल नेहरू का प्रभाव सिन्ध की जनता पर भी था; वहाँ की जनता भी अंग्रेजी राज को खत्म करके स्वाधीन होना चाहती थी। यह तथ्य मूडी के इस बयान से स्पष्ट होता है, "वातावरण ऐसा है कि सरकार के ऊपर कोई भी हमला हो, लोग समझते है, यह देशभक्ति का काम है, भले ही उसका उद्देश्य केवल बरबादी हो। नेहरू को पश्चिम से नफरत का रोग लगा है; वह सब जनता के मन में उन्होने सफलतापूर्वक भर दिया है, अपने काम के नतीजे की बिल्कुल चिन्ता नही है। २५ फरवरी १९४६ के 'स्टेट्समैन' मे उनका ताजा बयान छपा है। उनका कहना है कि दूसरे मसले हल करने से पहले, और इनमे शायद पाकिस्तान का मसला भी है, केन्द्र में एक कार्यकारिणी स्थापित कर दी जाये जिसके हाथ मे पूरी ताकत हो और उसके प्रधानमन्त्री शायद वह खुद होंगे। और उनका सुझाव है कि साल खत्म होने से पहले एक नया संविधान बना दिया जायेगा और लागू कर दिया जायेगा। इससे मेरी शंका पुष्ट होती है। ऐसा कार्यक्रम बुरी तरह असफल होगा और तब परिस्थिति बहुत ही गम्भीर होगी। शहर की भीडो को सिखा दिया गया है कि वे हमें साल के भीतर निकाल बाहर करें। जहाँ तक मुझे मालूम है,

यह कार्यक्रम मुस्लिम लीग का नही है। दरअसल सुर्रो चाहता है कि सिंचाई विभाग मे ब्रिटिश इंजिनियर भर्ती किये जायें। लेकिन कांग्रेस हवाई सपने देख रही है और मुझे लगता है कि जब सपने टूटेंगे तो नतीजा बहुत बुरा होगा।" (पृष्ठ १०७३)।

मूडी के कथन से स्पष्ट है कि सिन्ध की जनता पर मुस्लिम लीग का एकछत्र प्रभाव नही था। यदि कांग्रेस प्रयत्न करती तो वह अंग्रेजों को अपनी नीति बदलने पर बाध्य कर सकती थी। जिस दिन मूडी अपना पत्र लिख रहे थे, उसी दिन 'सिंध आबज़र्वर' मे खबर छपी कि भारतीय सेना के कुछ जवानों ने विद्रोही-नाविकों के खिलाफ कार्रवाई करने से इन्कार कर दिया है और वे गिरफ्तार कर लिये गये है। मूडी ने लिखा कि यह खबर सरासर झूठ है और सम्पादक को मालूम है कि झूठ है। फिर खबर क्यों छापी? या तो वह चाहता है, ऐसा हो, या जान-बूझकर सनसनी पैदा करने के लिए उसने ऐसा किया, या "हिन्दुस्तानी फौज मे जो लोग ऐसा करना चाहते हों, उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए उसने ऐसा किया।" (पृष्ठ १०७४)। हर हालत में जाहिर यह होता है कि सिन्ध मे भी ऐसे लोग थे जो चाहते थे कि फौज विद्रोह करे, और नाविकों ने विद्रोह कर दिया है, तो वह उनका साथ दें। भारतीय फौज पर पूरी तरह भरोसा करना किसी भी प्रदेश मे सम्भव न था। उच्च अधिकारियों की कठिनाई इस बात से और बढ़ गयी थी कि ब्रिटिश अफसर खुलकर अपने मातहत [illegible] के बारे मे सूचना न देते थे। मूडी ने लिखा कि सैनिकों की [illegible] पर [illegible] को शक भी होता है तो वे उसे कहते नही हैं। स्वाभाविक है कि वे [illegible] करते हैं कि उनका सन्देह निराधार होगा। "लेकिन मौजूदा [illegible] मालूम है कि पूरी तरह खुलकर बात करना जरूरी मालूम होता है।" (पृष्ठ १०३५)।

अंग्रेजों का अनुमान था कि विद्रोह होगा [illegible] भारत में होगा। किन्तु नवम्बर १९४५ में आजाद हिन्द फौज के [illegible] के खिलाफ मे मदुरा नगर मे प्रदर्शन हुआ। आजाद हिन्द फौज [illegible] शुरू हुआ, वैसे ही सारे भारत मे प्रदर्शन हुए, किन्तु [illegible] के अनुसार प्रदर्शनकारियों और पुलिस मे गम्भीर टक्कर केवल एक जगह हुई—मदुरा मे। (पृष्ठ ११०६)। बम्बई मे नाविक-विद्रोह होने पर [illegible] के लिए मद्रास में प्रदर्शन हुए। (पृष्ठ ११३०)। [illegible] ब्राह्मण-अब्राह्मणवाला सम्प्रदायवाद [illegible] भारत की लहर से बचाये रखने का [illegible]। [illegible] दिखायी दे रही थी। आजाद हिन्द फौज के [illegible] प्रदर्शन, [illegible] विद्रोह और उससे सम्बन्धित [illegible] और [illegible] रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल [illegible] (पृष्ठ ११११)। सेना में [illegible] खतरा था। (उप.)। [illegible] खतरे का जिक्र किया [illegible] लिखा। देवदास [illegible]

[illegible]

अन्तर्राष्ट्रीय पंच फैसले की व्यवस्था हो सकती है। वाइसराय ने पूछा कि इस फैसले को लागू कौन करेगा; क्या वह चाहते हैं कि इस मामले में रूस टाँग अड़ाये? "उन्होने [देवदास गाधी ने] कहा कि उन्हें आशा है कि ब्रिटिश सम्बन्ध बना रहेगा; अन्तर्राष्ट्रीय फैसले से इतना ही मतलब था कि उसमे शायद हमे [अर्थात् अंग्रेजों को] 'नैतिक समर्थन' मिल जायेगा। मैंने कहा, इधर कई अन्तर्राष्ट्रीय बच्चे हमें सँभालने पडे है और मैं समझता हूँ, अब एक और बच्चे की जरूरत नहीं है। परिवार के झगड़े परिवार मे ही तै कर लेने चाहिए।" (पृष्ठ ११११२)। वाइसराय के लिए सारा झगड़ा परिवार के दो सदस्यों के बीच था। झगड़ा इस तरह हल करना था कि परिवार टूटने से बचा रहे। देवदास गांधी इस दृष्टिकोण से सहमत जान पड़ते थे। किन्तु बात केवल देवदास की न थी। भारत-सचिव को अपना उक्त पत्र भेजते हुए वाइसराय ने ३ मार्च १९४६ के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की कतरन भेजी। इसमें काग्रेस के सभापति अबुल कलाम आज़ाद ने कहा था, "सत्ता और प्रभुत्व का वास्तविक आधार जनता है। विदेशी हाथों से भारतीय हाथो में सत्ता पहुँचने ही वाली है। यह सत्ता जनता को प्राप्त होनेवाली सत्ता होगी। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सब लोग बड़ी सावधानी से कदम उठायें, ऐसी परिस्थिति पैदा करने मे बचें जिसमे वे लोग फायदा उठा सकते हैं जो भारत की आकाक्षा के शीघ्र पूरा होने मे बाधा डालेंगे। वर्तमान परिस्थिति की यह अनिवार्य माँग है कि हम बडे आत्मसंयम से काम लें। देश के अस्थाई शासन का विरोध करना, हड़तालें करना, यह सब वर्तमान परिस्थिति मे अनावश्यक है। विदेशी शासक इस समय अस्थाई रखवाले (केयरटेकर) की तरह काम कर रहे हैं। ऐसा कोई मसला पैदा नही हुआ कि उनसे भिड़ने की जरूरत हो। जब वे सत्ता सौंपने से इन्कार करेंगे, और इसका फैसला थोड़े ही दिनो मे हो जायेगा, तब हम देखेंगे, क्या करना चाहिए। जब वक्त आयेगा, तब काग्रेस बिगुल बजाने से चूकेगी नही। तब तक अपनी सारी शक्ति सँजोकर रखनी चाहिए और पूरी सावधानी से हर तरह की टक्कर से बचना चाहिए।" (पृष्ठ १११६)।

अंग्रेज आज़ादी देने ही वाले है और हर तरह की टक्कर से बचना चाहिए, यह नीति केवल अबुल कलाम आज़ाद की न थी। वाइसराय ने एक कतरन ४ मार्च १९४६ के 'स्टेट्समैन' की भी भेजी थी। झाँसी की जिस सभा मे जवाहर लाल नेहरू ने बम्बई के नाविक-विद्रोह के राजनीतिक महत्व पर प्रकाश डाला था, उसी में उन्होंने, 'स्टेट्समैन' की रिपोर्ट के अनुसार, कहा था, "काग्रेस कोशिश करेगी कि जरूरी और बुनियादी मसले वह बातचीत और समझौते के ज़रिये हल करे क्योंकि हम नही चाहते कि देश को बार-बार अग्नि-परीक्षा तब देनी पड़े जब उससे बचना सम्भव हो। लेकिन जो बात मैं बिल्कुल साफ कर देना चाहता हूँ, वह यह है कि पूर्ण स्वाधीनता की अपनी माँग से एक इंच भी पीछे हटने को काग्रेस तैयार नही है।" (पृष्ठ १११७)।

### ४. जातीय और राष्ट्रीय एकता तथा साम्राज्यवाद

अंग्रेजो का विचार था कि भारत की सुरक्षा-व्यवस्था और विदेश-नीति उनके हाथ

में रहे तो इस देश की एकता कायम रखी जा सकती है। संयुक्त भारत का केन्द्रीय शासन कमज़ोर होगा क्योंकि बहुसंख्यक मुसलमानों के प्रान्त बहुसंख्यक हिन्दुओं के प्रान्तों से खींचतान करते रहेंगे। इन दो हिन्दू-मुस्लिम समुदायों के अलावा तीसरा समुदाय देशी रियासतों का होगा जो स्वाधीन भारत में ब्रिटिश शक्ति का समर्थक बना रहेगा। यदि सुरक्षा और विदेश-नीति उनके हाथ में न रहें तो वे भारत का विभाजन पसन्द करेंगे जिससे कि एक राज्य में उनका प्रभाव बना रहे। वुड्रो वायट ब्रिटिश पार्लिमेण्ट के सदस्य थे और स्टैफोर्ड क्रिप्स के सहायक थे। ८ जनवरी १९४६ को उन्होंने मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना से बात-चीत की। कैबिनेट मिशन भारत में आया था; ब्रिटिश पार्लिमेण्ट के कुछ सदस्य आये थे। उन्हीं में वायट थे। जिन्ना से उनकी मुलाकात का हाल मेजर रैंकिन् ने लिखा। उसके अनुसार जिन्ना ने यह आश्वासन दिया, "पाकिस्तान साम्राज्य में रहेगा और उसका गवर्नर जनरल ब्रिटिश होगा। पाकिस्तान आर्थिक दृष्टि से हिन्दुस्तान के बहुत पीछे होगा; इस कारण उसके विकास के लिए ब्रिटिश उद्योग-धन्धों और व्यापार को प्रोत्साहन दिया जायेगा।" (पृष्ठ ७९९)।

जब से मुस्लिम लीग का जन्म हुआ, तब से निरन्तर धीरे-धीरे, किन्तु निश्चित गति से, अंग्रेज इसी विकल्प की ओर बढ़ रहे थे। वे कांग्रेस से इसी आधार पर बातें कर रहे थे कि मुसलमानों का प्रतिनिधित्व मुस्लिम लीग करती है और हिन्दुओं का कांग्रेस। कांग्रेस के नेता यह स्थिति स्वीकार न करते थे किन्तु अंग्रेज़ों से सुलह-समझौते की बात इसी आधार पर होती थी। कांग्रेस के सामने दो रास्ते थे। पहला रास्ता यह कि समझौते की बातचीत छोड़कर राष्ट्रीय एकता की समस्या का क्रान्तिकारी समाधान अंग्रेज़ों पर लाद दें, उन्हें उस समाधान को मानने के लिए बाध्य करें। इसके लिए सन् ४२ की अपेक्षा ४५-४६ में परिस्थिति कहीं अधिक अनुकूल थी। राष्ट्रीय परिस्थिति के साथ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी क्रान्ति के लिए अनुकूल थी। किन्तु कांग्रेस के सुधारवादी नेता क्रान्ति के पक्ष में न थे। वे अंग्रेज़ों पर उतना ही दबाव डालना चाहते थे जितना सुलह-समझौते के लिए ज़रूरी हो। क्रान्तिकारी आन्दोलन चले और उसकी बागडोर उनके हाथ से निकल जाये, यह वे कभी न चाहते थे। दूसरा रास्ता यह था कि अंग्रेज़ों के बनाये हुए चौखटे के भीतर वे समझौते की बात करें, ऊपर से कहते रहें कि वे सारे राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं लेकिन व्यवहार में स्वीकार करें कि वे हिन्दुओं के प्रतिनिधि हैं, और मुसलमानों के प्रतिनिधियों, मुस्लिम लीग के नेताओं, से बातचीत करने को तैयार हैं। अंग्रेज़ जिस भूमि पर समझौते की बातचीत चला रहे थे, वह एकताबद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन की भूमि थी ही नहीं। अंग्रेज़ों की बनायी हुई समझौते की राह छोड़े बिना राष्ट्रीय एकता की भूमि पर शासकों को सत्ता छोड़ने के लिए बाध्य करना असम्भव था।

उल्लेखनीय है कि १९३७ में जब कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने, तब मुस्लिम लीग उन प्रान्तों में तेज़ी से शक्तिशाली बनी जिनमें मुसलमान अल्पसंख्यक थे। अल्प-संख्यक मुसलमानों के आन्दोलन को अंग्रेज़ों ने बहुसंख्यक मुसलमानों का आन्दोलन बना दिया। पाकिस्तान के लिए सबसे जोरदार आन्दोलन कर रहे थे संयुक्त प्रान्त

के मुसलमान, न कि सीमा प्रान्त या सिन्ध के मुसलमान। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल १९३५ के जिस ब्रिटिश कानून के आधार पर बने थे, उसमें विभाजन के बीज मौजूद थे। कांग्रेसी नेता स्वीकार करते थे कि सन् ३५ के कानून से वास्तविक अधिकार उन्हे न मिलेगे। कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू, सम्पूर्णानन्द आदि ने उस कानून के मातहत मन्त्रिमण्डल बनाने का विरोध किया था किन्तु सुधारवादियो का कहना था कि वे विधानसभाओं में घुसकर भीतर से कानून तोड़ेंगे। कुछ समय बाद स्वयं सम्पूर्णानन्द संयुक्त प्रान्त के मन्त्रिमण्डल मे शामिल हुए। जो लोग मन्त्रिमण्डल बनाने के विरोधी थे, उनके पास क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने का कोई वैकल्पिक कार्यक्रम न था। इसलिए उनका विरोध निर्जीव था, कांग्रेसी नीति पर उसका कुछ भी असर न हुआ। सन् ४२ मे जब क्रिप्स आये, तब कांग्रेस ने यह सिद्धान्त मान लिया था कि भारतीय संघ मे जो प्रान्त शामिल न होना चाहें, उन्हें अलग रहने का अधिकार होगा। इसलिए १९४६ में जो समझौते की बातचीत चल रही थी, उसकी आधारभूमि अंग्रेजों ने पहले से ही काफी मज़बूत कर रखी थी। दूसरा महायुद्ध छिड़ने से पहले कांग्रेस-शासित प्रान्तों में जहाँ भी किसान और मज़दूर संगठित हुए और अपने अधिकारों के लिए लड़े, वहाँ कांग्रेसी सरकारों ने उनका दमन किया। इस प्रकार कांग्रेसी सरकारें जन-साधारण मे बदनाम हुई। इससे लाभ उठाकर मुस्लिम लीग के नेताओ ने पिछड़े हुए मुसलमानों को उभारा, अंग्रेज़ी राज को दोष न देकर उन्होंने कांग्रेस को दोष देना शुरू किया और साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारा। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने से पहले मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान बनाने की माँग न की थी। सर मुहम्मद इक़बाल पाकिस्तान की चर्चा शुरू कर चुके थे किन्तु मुस्लिम लीग भी उस समय उनका प्रस्ताव मानने को तैयार न थी। कांग्रेस ने मन्त्रिपद स्वीकार करके साबित कर दिया कि अंग्रेज़ो के बनाये कानून को मान लेने का मतलब है सम्प्रदायवाद का प्रसार। सन् ४० मे पाकिस्तान का प्रस्ताव पास हुआ और सन् ४७ में पाकिस्तान नाम का राज्य बन गया।

भारत मे ऐसे अंग्रेज थे जो यह जानते थे कि आत्मनिर्णय के अधिकार से पाकिस्तान की माँग का कोई सम्बन्ध नही है, पाकिस्तान बनने से मुसलमानो का अहित सबसे पहले होगा, और पाकिस्तान की माँग को उभारने मे स्वयं अंग्रेज़ों का हाथ है। सर ऐन्ड्रू क्लाउ, आई. सी. ऐस., असम प्रान्त के गवर्नर थे। उन्होंने सर डेविड कोलविल को पाकिस्तान-सम्बन्धी अपना दस्तावेज भेजा था। कोलविल बम्बई प्रान्त के गवर्नर थे; १९४५ मे जब-जब वेवल इग्लैण्ड जाते थे, तब वह गवर्नर जनरल का काम सँभालते थे। असम के गवर्नर ने अपना दस्तावेज वेवल के लिए तैयार किया था, उनकी अनुपस्थिति मे उसे कोलविल के पास भेजा था। इस दस्तावेज मे उन्होंने कहा था: जैसे लड़के पटाका दागते है, वैसे पाकिस्तान की शुरूआत हुई। अब उसने जोर पकड़ लिया है और वह संगठित मुस्लिम समुदाय की घोषित नीति बन गया है। १९३७-३९ मे अधिकांश प्रान्तो मे कांग्रेस-शासन कायम हुआ, इसी से पाकिस्तान की माँग ने जोर पकड़ा। उस समय मुसलमानो के प्रतिनिधि मिले-जुले मन्त्रिमण्डलो मे शामिल होने को तैयार थे लेकिन कांग्रेस

ने मुस्लिमलीगियों को लिया नहीं, उनकी जगह कांग्रेसी मुसलमानों को लिया जिनका मुसलमानों पर असर न था। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का स्वरूप या दृष्टि-कोण मूलतः सवर्ण हिन्दुओं का था। मुस्लिम लीग ने जो अत्याचार की बातें कही, वैसा कहीं कुछ न था, लेकिन बहुत तरह से मुसलमानों को महसूस कराया गया कि वे अल्पसंख्यक हैं और उनका कोई प्रतिनिधि नहीं है। "यह ध्यान देने की बात है कि पाकिस्तान की माँग सबसे जोरदार उन प्रान्तों में रही है जिनमें मुसलमान अल्प-संख्यक हैं, न कि उन प्रान्तों में जिनसे पाकिस्तान बनेगा। हालांकि मजहबी प्रचार से दूसरे प्रान्तों के मुसलमान पाकिस्तान की माँग का साथ देने को मजबूर हुए हैं, फिर भी उनमें बहुत से (शायद अधिकांश) इस मांग के बहुत नरम समर्थक रहे हैं।"

इसके आगे क्लाउ ने लिखा, "पर इस बात से इन्कार करना मुश्किल जान पड़ता है कि पाकिस्तान की मांग को जीवन्त समस्या बना देने में एक हद तक हमारा योगदान भी रहा है। मेरी समझ में यह सच है कि दो भारत-सचिवों ने इसे निराश मन की पुकार कहा है और वाइसराय ने ऐसे शब्दों में उसका उल्लेख किया है कि उनसे अंग-विच्छेद की ध्वनि निकलती है और उसके विरुद्ध अन्य संकेत भी किये हैं। किन्तु क्रिप्स-प्रस्ताव में उसे इस तरह माना गया था कि कुछ लोगों को लगता था कि अंग्रेज अपनी ईमानदारी जताना चाहते थे, न कि वे भारत की वास्तविक स्थिति पर ध्यान दे रहे थे। इसमें भी अधिक गम्भीर बात यह है कि जनता को, खासतौर से मुसलमानों को यह समझाने का प्रयत्न बिल्कुल नहीं किया गया कि पाकिस्तान से कौन-सी व्यावहारिक कठिनाइयां पैदा होंगी।"

क्लाउ ने आगे जिन्ना के बारे में लिखा कि उन्होंने पाकिस्तान की व्याख्या नहीं की। अपनी बात अस्पष्ट रखने से वह पाकिस्तान के लिए समर्थन प्राप्त कर सके। संवैधानिक स्थिति क्या होगी, उसमें कौन-सा इलाका होगा, पहले इसकी व्याख्या करने को वह तैयार ही न होते थे लेकिन धीरे-धीरे उन्हें मजबूर होकर स्पष्ट करना पड़ा कि भारत का विभाजन होगा, पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दो स्वतन्त्र राज्य बनेंगे, पश्चिमोत्तर प्रान्त, बलूचिस्तान, सिन्ध, पंजाब, बंगाल और असम प्रभुतासम्पन्न मुस्लिम इलाके होंगे। यह सब पाकिस्तान की मूल धारणा में बुनियादी तब्दीली करना था। मूल धारणा यह थी कि मुसलमान जहां दरअसल बहुसंख्यक हैं, वहां अलग राज्य बनेगा। यह राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत तक सीमित होगा। अब इस राज्य में ऐसे इलाके मिलाने की बात है जिनमें बहुसंख्यक जनता गैरमुसलमान है। यह परिवर्तन इसलिए किया गया कि केवल बहुसंख्यक मुसलमानोंवाले इलाके से जो पाकिस्तान बनेगा, वह अपने पैरों खड़ा न हो पायेगा। उसमें पश्चिमोत्तर भारत के कम उपजाऊ प्रदेश और पूर्वी बंगाल के दलदल रह जायेंगे। साधनों की कमी होगी और सुरक्षा की समस्या हल करना असम्भव हो जायेगा।

१ क्लाउ ने अन्य समस्याओं के बारे में लिखा कि उन पर यहां विचार करना आवश्यक नहीं है पर एक समस्या को दरकिनार किया गया है, उस पर ध्यान देना जरूरी है। वह कश्मीर की समस्या है। यदि मुसलमान कहें कि वहां ज्यादा

आबादी मुसलमानों की है, इसे पाकिस्तान में मिलाना चाहिए तो हिन्दू कहेंगे, हैदराबाद हमारा है। बंगाल भारत का सबसे धनी प्रान्त है। अभी वहाँ अधिकांश सत्ता मुसलमानों के हाथों में है। लेकिन बँटवारा होने पर मुसलमानों को बंगाल का सबसे घटिया इलाका मिलेगा और कलकत्ता उसमें न होगा।

(मुस्लिम लीग के नेता आत्म-निर्णय के अधिकार की दुहाई देकर पाकिस्तान की माँग कर रहे थे किन्तु आत्म-निर्णय जातियों का होता है, सम्प्रदायों का नहीं। जिन्ना मुसलमानों की कौम की बात करते थे लेकिन यह कौम बंगाल में बँगला, सिन्ध में सिन्धी, कश्मीर में कश्मीरी भाषाएँ बोलती थी। अनेक प्रदेशों में अनेक भाषाएँ बोलनेवाले लोग एक जाति के नहीं हो सकते। जर्मनी और अमरीका के ईसाई एक कौम नहीं है।) क्लाउ ने जातीय आत्म-निर्णय की बात चलाकर साम्प्रदायिक विभाजन की अवैज्ञानिकता स्पष्ट की। उन्होंने लिखा, "यह बात काफी साफ है कि सम्बद्ध प्रदेशों की बहुसंख्यक जनता शुरू में पाकिस्तान के लिए मत देगी, यह विश्वास जिन्ना तक को नहीं है। इसलिए उनकी माँग है, केवल मुसलमान मतदान करेंगे। यह आत्म-निर्णय के अधिकार को पूरी तरह अस्वीकार करना है। पाकिस्तान के प्रस्ताव का आधार यही आत्म-निर्णय का अधिकार है। लेकिन बादशाह सलामत की सरकार में किसी ने इस प्रस्ताव पर टिप्पणी नहीं की।" (पृष्ठ १५०)। क्लाउ जानते थे कि भारत अपनी एकता के बल पर ही वास्तविक प्रगति कर सकता है और राष्ट्रों में ऊँची जगह पा सकता है। "धार्मिक आधार पर उसका विभाजन पाकिस्तान तक सीमित न रहेगा। उससे विचारों में प्रतिक्रियावाद का जन्म होगा और हर क्षेत्र में कमजोरी आयेगी।" (पृष्ठ १५१)। अगस्त १९४५ में कही हुई यह बात पिछले समूचे अनुभव से सही साबित हुई है। विभाजन का परिणाम क्या होगा, इसे कांग्रेसी नेता बहुत अच्छी तरह जानते थे। हम ब्रिटिश गवर्नर से आशा नहीं करते कि वह इंग्लैण्ड की सरकार को अपनी रणनीति बदलने के लिए बाध्य करेगा किन्तु राष्ट्रीय नेताओं से यह अपेक्षा की जा सकती थी कि वे इस जाल से बाहर निकलेंगे। भारत की एकता बनाये रखने में भारतीय पूँजीपतियों का हित था। वे पश्चिमी उद्योगपतियों से सफलतापूर्वक होड़ कर सकते थे। किन्तु जैसे उद्योगपति, वैसे ही उनके प्रतिनिधि; क्रान्ति के भय से दोनों ही पीड़ित थे। शायद अंग्रेजों को भी क्रान्ति से इतना भय न था जितना भारतीय पूँजीपतियों और पूँजीवादी नेताओं को था।

पंजाब के गवर्नर सर बर्ट्रेण्ड ग्लान्सी, आई. सी. ऐस., क्लाउ की तरह आत्म-निर्णय और जातीयता के आपसी सम्बन्ध से परिचित थे। उन्होंने १६ अगस्त १९४५ के दस्तावेज में वेवल को सावधान किया था कि मुस्लिम लीग के प्रचार का परिणाम भयानक हो सकता है। मोटे तौर से जिसे पाकिस्तान कहा जाता है, वह तर्क-बुद्धि से एकदम उल्टा हो सकता है, उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, और वह "भारत के लिए, खासतौर से मुसलमानों के लिए, विनाशकारी हो सकता है, लेकिन राजनीतिक नारे के रूप में इस कारण वह कम प्रभावशाली नहीं हो जाता। जिन मुसलमानों को जानकारी नहीं है, उनसे कहा जायेगा कि वोट देते समय तुम्हें एक ही सवाल का जवाब देना है—तुम सच्चे मुसलमान हो या काफिर

और गद्दार हो ?" (पृष्ठ ७१)। ग्लान्सी ने वाइसराय को सूचित किया कि वह सरकारी और गैरसरकारी, देशी और विलायती, हर तरह के लोगों से मिल चुके है। आम राय यह है कि पाकिस्तान के बनने की नौबत आयेगी तो बड़े पैमाने पर रक्तपात का सामना करना पड़ेगा। गैरमुस्लिम, खासतौर से सिक्ख, कोरी घुड़की नही दे रहे। जिस सरकार को मुसलमानो का राज कहा जाता है, उसे वे चुपचाप स्वीकार न कर लेंगे। "इसलिए बहुत विलम्ब हो जाने से पहले ही मेरी समझ में ऐसा कदम उठाना बहुत जरूरी है जिससे पाकिस्तान के सिद्धान्त की हवा निकाल दी जाये।" दस्तावेज के अन्त मे पजाबी जातीयता की पहचान ग्लान्सी के इन शब्दों में है, "पजाब—इस शब्द का सम्मान लोग पिछले दो हजार वर्ष से करते आये हैं। कोई भी पजाबी कितना भी अनजान क्यों न हो, शान्त चित्त से पंजाब के भयकर विघटन की बात नही सोच सकता जिससे कि वास्तव मे पंजाब शब्द का ही लोप हो जायेगा।" (पृष्ठ ७२)।

ब्रिटिश कूटनीति यह थी कि भारत की बड़ी-बड़ी जातियों को साम्प्रदायिक आधार पर विघटित किया जाये। साम्प्रदायिक एकता दृढ होने पर जातियाँ वास्तविक आत्मनिर्णय के लिए, अग्रेजी राज से मुक्ति पाने के लिए, सघर्ष करती। साम्प्रदायिक आत्मनिर्णय के आधार पर प्रत्येक जाति विभाजित होती है तो उसके सम्प्रदाय आपस मे लडते है, अग्रेजों के विरुद्ध जातियो का मुक्ति-सघर्ष पथभ्रष्ट होता है और सारा देश विभाजित होता है। यह बात अग्रेज जानते थे और हिन्दुओं तथा मुसलमानो को दो कौमें कहनेवाले सम्प्रदायवादी जानते थे। ये सम्प्रदायवादी तब तक आपस में लड़ते है, जब तक अग्रेजों का हित होता है, किन्तु जब वे देखते है कि जनता के क्रान्तिकारी उभार से अग्रेजों का अहित होनेवाला है, तब वे साम्प्रदायिक सद्भाव का झण्डा उठा लेते है, दोनो मिलकर जनता के क्रान्तिकारी उभार का सामना करते है। अंग्रेज और अन्य साम्राज्यवादी तथा उनके पिछलगुए कश्मीर के आत्मनिर्णय की बात बहुत कहते रहे है। उन्हें आत्मनिर्णय से ऐसा प्रेम था तो उन्हें हैदराबाद में इस अधिकार को अमल मे लाने की व्यवस्था करनी चाहिए थी। किन्तु उन्होने साम्प्रदायिक आधार पर देश के बँटवारे की योजना बनायी, दूसरी ओर उन्होंने देशी रियासतो का अलग गुट बनाने की योजना भी तैयार की। इस रियासती गुट मे हिन्दू और मुसलमान दोनो तरह की कठपुतलियाँ थीं; यहाँ आत्मनिर्णय के अधिकार की चर्चा ही न थी; यहाँ आत्मनिर्णय के साम्प्रदायिक आधार की बात भी अग्रेज न करते थे। इससे उनकी छल-कपट की नीति स्पष्ट हो जाती है। इस कूटनीति मे ऐसी चतुराई भी न थी कि राष्ट्रीय नेता उसे समझ न पाते। समझते सबकुछ थे किन्तु परिस्थिति के बेकाबू हो जाने का भय जो सता रहा था। करते क्या ?

आत्मनिर्णय के अधिकार को लागू ही करना था तो इसके लिए दो बातें जरूरी थी। पहली यह कि जातीय इलाके, भाषा के आधार पर, पुनर्गठित किये जाते। अग्रेज इसके लिए तैयार न थे क्योकि उन्होने भारत का मानचित्र बनाया ही इस ढंग से था कि यहाँ की प्रत्येक बडी जाति एक से अधिक प्रान्तों मे विभाजित हो, इसके साथ ही उसका कुछ इलाका देशी रियासतों मे बँटा हुआ हो। अंग्रेज

भारतीय नरेशों के संरक्षक बने हुए थे; वे आत्मनिर्णय के लिए अपना राजनीतिक नक्शा बिगाड़ने को तैयार न थे। दूसरी बात यह थी कि बालिग मताधिकार के आधार पर आत्मनिर्णय का सिद्धान्त अमल में लाया जाता। जनतन्त्र के प्रेमी अंग्रेज जब तक भारत में रहे, तब तक बालिग मताधिकार से बचते रहे। चाहे आत्मनिर्णय का प्रश्न हो, चाहे प्रान्तीय विधान-सभाएँ बनाने का प्रश्न हो, चाहे अखिल भारतीय संविधान-सभा बनाने का प्रश्न हो, अंग्रेज़ों ने आम जनता को मतदान के अधिकार से हमेशा दूर रखा। जिन इलाकों से पाकिस्तान बना, उनमें भी सभी बालिग मुसलमानों को वोट देने का अधिकार न मिला था। मुस्लिम लीग के नेता भारत के सभी मुसलमानों के प्रतिनिधि हैं, यह दावा परखने की नौबत ही न आयी; अंग्रेज़ों के रहते आ ही न सकती थी!

भारत की समस्या हल करने के लिए १९३१ में कुछ अंग्रेज़ों ने इण्डिया कन्सीलिएशन ग्रुप बनाया था। इसके सभापति कार्ल हीथ ने जनवरी १९४६ में भारत-सचिव को पाकिस्तान के बारे में अपने विचारों से परिचित कराते हुए लिखा था कि मुसलमानों में यह भय फैला हुआ है कि हिन्दुओं की प्रधानतावाले एकताबद्ध राज्य में वे दब जायेंगे। हीथ ने यहाँ आयरलैण्ड के प्रोटेस्टेण्ट और कैथलिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया। उन्होंने आगे कहा कि मुसलमानों का भय स्वीकार करना चाहिए लेकिन इसके साथ भारत की एकता बनाये रखने के लिए जो गैरमुसलमानों की माँग है, उसमें बट्टा न लगना चाहिए। १५ साल पहले इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री बाल्डविन ने यूनाइटेड स्टेट्स आफ इण्डिया की बात कही थी। [इससे और पहले यह बात लाला हरदयाल ने कही थी।] इसके लिए जरूरी है कि उसके सदस्य (अर्थात् भारतीय-संघ के सदस्य-राज्य) पहले स्वायत्त राज्य बनें। मूल अधिकार इन राज्यों के होंगे, केन्द्रीय सरकार के नहीं। भारत में जो सूबे हैं, उनकी सीमाओं में थोड़ी-बहुत तब्दीली करके स्वायत्त राज्य बनाये जा सकते हैं। इससे मुसलमानों का भय दूर हो जायेगा कि केन्द्र में हिन्दुओं की प्रधानता होने से उनके अधिकार मारे जायेंगे। अपने पत्र में ये बातें लिखने के अलावा हीथ ने पत्र के साथ एक दस्तावेज भेजा। इसमें उन्होंने कहा, "यूनाइटेड स्टेट्स आफ इण्डिया बने, इसके लिए जरूरी है कि पहले अलग-अलग स्वतन्त्र राज्य हों जो संघबद्ध होना चाहें।" (पृष्ठ ७६१)।

हीथ का विचार था कि राज्यों को स्वायत्त इकाई मानकर उन्हें सत्ता सौंप देनी चाहिए, इसके बाद वे संघबद्ध हो जायेंगे। ये राज्य अपने प्रादेशिक संघ भी बना सकेंगे। पाकिस्तान योजना में इसी की माँग है। किन्तु ये प्रादेशिक संघ यूनाइटेड स्टेट्स आफ इण्डिया के विरोधी न होंगे। हीथ का विचार था कि राज्यों को अधिकार देने से राष्ट्रीय एकता बनी रहेगी। जो प्रादेशिक संघ बनेंगे, वे केन्द्र के मातहत होंगे। हीथ की योजना में एक ओर जातीय राज्यों की कल्पना है, दूसरी ओर साम्प्रदायिक आधार पर राज्य बनाने की बात भी है। उन्होंने एक ओर कहा है कि भारत के प्रान्त (राज्य) बहुत कुछ जातियाँ (नेशन्स) हैं, दूसरी ओर उन्होंने यह भी कहा है कि मुस्लिम राज्यों और हिन्दू राज्यों के साथ सम्भवतः एक मिश्र राज्य भी होगा।

मुस्लिम-हिन्दू या सिक्ख राज्य बनने से पंजाब की जातीय एकता टूटेगी। इसी प्रकार साम्प्रदायिक राज्य बनने से बंगाल की जातीय एकता टूटनी थी। जातियों का आत्मनिर्णय और सम्प्रदायों का आत्मनिर्णय, ये दो परस्पर विरोधी कल्पनाएँ थी और दोनों मे सन्तुलन स्थापित करना असम्भव था। वास्तव मे साम्प्रदायिकता को उभारा ही इसलिए गया था कि बंगाल और पंजाब जैसे प्रदेशो मे रहनेवाली जातियों की एकता टूट जाये और उसके साथ सारे राष्ट्र की एकता टूटे। केवल किसानो और मजदूरों का क्रान्तिकारी आन्दोलन संवैधानिक नागपाश तोड़कर जातियो की एकता के साथ राष्ट्रीय एकता की रक्षा कर सकता था। जैसे यहाँ हिन्दू-मुस्लिम-सिक्ख राज्यो की बात कही गयी है, वैसे ही एक समय जातीय आत्मनिर्णय के नाम पर कम्युनिस्ट नेता गंगाधर अधिकारी ने मुस्लिम और सिक्ख राज्यो की बात कही थी। किन्तु अप्रैल १६४६ मे जब कम्युनिस्ट नेता पूरनचन्द जोशी कैबिनेट मिशन के दो सदस्यों स्टैफर्ड क्रिप्स और अलेक्जाण्डर से मिले तो उन्होने कहा कि वह मुस्लिम लीग द्वारा आत्मनिर्णय की माँग मे विश्वास करते है किन्तु इसके लिए विभाजन करना उचित न होगा। भारत के स्वाधीन होते ही यहाँ की मुख्य राजनीतिक पार्टियों को अस्थायी सरकार बनानी होगी। यह सरकार एक आयोग गठित करेगी जिसका काम होगा प्राचीन प्रदेशो के आधार पर नये सिरे से सीमाएँ निर्धारित करना। इसका परिणाम होगा १७ जातीय इकाइयों का निर्माण। इनमे प्रत्येक इकाई की जनता को आत्मनिर्णय का पूर्ण अधिकार होगा; वह चाहेगी तो भारतीय संघ में शामिल होगी, न चाहेगी तो स्वतन्त्र राज्य या अन्य संघ बनाने का अधिकार उसे होगा। इस पर क्रिप्स ने कहा कि प्रान्तों की सीमाएँ निर्धारित करने का काम पेचीदा और लम्बा है। इसके अलावा कम्युनिस्ट पार्टी चाहती थी कि संविधान सभा बालिग मताधिकार से चुनी जाये। इसमे और भी देर लगेगी और दो साल से पहले संविधान सभा न चुनी जा सकेगी। इस प्रकार अंग्रेजों ने जातीय प्रदेशो की सीमाएँ निर्धारित करने की माँग अस्वीकार की और उसके साथ बालिग मताधिकार की माँग भी अस्वीकार कर दी। क्रिप्स का एक दिलचस्प तर्क यह था कि ज्यादा लोग मत देंगे, तो भी कांग्रेस और मुस्लिम लीग के आदमी ही तो चुने जायेंगे, और इनका जो अनुपात सीमित मताधिकार से निश्चित होगा, वही विस्तृत मताधिकार से प्राप्त होगा। इसलिए विलम्ब करने से कोई लाभ नहीं। यह तर्क दिलचस्प इसलिए था कि अंग्रेज जानते थे कि सुलह-समझौता करनेवाली मुख्य पार्टियाँ दो है। इनके अनुयाइयो का अनुपात बदलनेवाला नही है। जब तक संवैधानिक तरीके से आजादी मिलने की बात होगी, तब तक कोई भी तीसरी पार्टी इनकी जगह न ले सकेगी।

## ५. साम्राज्यवाद का मुख्य अस्त्र—मुस्लिम सम्प्रदायवाद

### (क) अंग्रेजों की तटस्थता

२६ अक्तूबर १६४५ को भारत-सचिव पेथिक लारेन्स ने वाइसराय वेवल को लिखा कि ऐसा लगता है कि मुस्लिम लीग चुनाव की सरगर्मी ठीक से बरदाश्त नही कर पा रही है। "यदि वे [लीगी नेता]-स्थानीय झगडों मे फँस गये तो मेरी

समझ में यह सम्भव है कि मुस्लिम निर्वाचन-क्षेत्रों से यह स्पष्ट प्रमाण न मिले कि मुसलमानों का सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करनेवाला संगठन मुस्लिम लीग का है। यदि ऐसा होता है तो इससे हमारे लिए और कठिनाइयाँ पैदा होंगी क्योंकि स्थानीय समस्याओं को लेकर मुसलमानो मे मतभेद हो सकता है। किन्तु मेरा विचार है कि बड़ी अखिल भारतीय समस्याओं पर उनमें ज्यादा एका है। यह दुर्भाग्य की बात होगी यदि चुनाव के परिणाम इन समस्याओं के बारे मे मुसलमानों के दृष्टिकोण को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित न करेंगे।" (पृष्ठ ४११)। अंग्रेज तटस्थ होने का जो अभिनय करते थे, वह अभिनय वे आपसी बातचीत में त्याग देते थे। वे चाहते थे कि मुस्लिम लीग को मुसलमानों के एकमात्र संगठन के रूप में मान्यता मिले। चुनाव परिणामों से मुस्लिम लीग की स्थिति मजबूत होनी चाहिए। अखिल भारतीय समस्याओं को लेकर, अर्थात् पाकिस्तान के प्रश्न को लेकर, मुसलमानों का वही मत होना चाहिए जो मुस्लिम लीग का है। यदि ऐसा नहीं होता तो भारत-सचिव और इंग्लैण्ड की सरकार के लिए नयी कठिनाइयाँ पैदा हो जायेंगी।

२३ नवम्बर १९४५ को भारत-सचिव ने वाइसराय को फिर लिखा कि ऐसा लगता है कि मुस्लिम नेता वर्तमान परिस्थिति में प्रभावशाली रूप नहीं धारण कर रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन प्रान्तों मे उनका बहुमत है, वहाँ उनके अनुयायी बुरी तरह विभाजित हो जायेंगे। "यदि ऐसा होता है तो मेरी समझ मे चुनाव के बाद वार्तालाप मे जिन्ना के हाथ बहुत कमज़ोर हो जायेंगे। कारण यह कि इससे किसी भी ऐसे मत संग्रह की सम्भावना सन्दिग्ध हो जायेगी जो अलगाव के लिए मत देनेवाले मुस्लिम मतदाताओ तक सीमित न हो।" (पृष्ठ ५२६)। अंग्रेजों को आशंका है कि चुनाव के परिणामों से जिन्ना के हाथ मजबूत न होंगे। तब कुछ प्रदेशों को भारत से अलग करने का, अर्थात् पाकिस्तान बनाने का, मामला भी खटाई मे पड जायेगा।

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में बहुसंख्यक जनता मुसलमान थी। यहाँ के गवर्नर ने ९ अक्तूबर १९४५ को वाइसराय को सूचित किया कि शिक्षित मुसलमान अफसर कट्टर हिन्दू-विरोधी होते जा रहे है; इस कारण वे मुस्लिम लीग के समर्थक है। "इसके साथ ही मुझे सन्देह है कि चुनाव के मामले मे मुस्लिम लीग को उतनी सफलता मिली है जितनी की वह कल्पना करती है। साधारण लोगो मे लीग की अपेक्षा कांग्रेस का चुनाव-आन्दोलन अभी तक ज्यादा प्रभावशाली हुआ है। कांग्रेस का संगठन ज्यादा अच्छा है, उसके पास ज्यादा पैसा है। इसके अलावा नेतागीरी के सवाल पर, उम्मीदवारों की नामज़दगी के सवाल पर, लीग विभाजित है। जब औरंगजेब सत्ता सँभाले था, तब अपना समर्थन बनाये रखने के लिए उसने घटिया तरीके अपनाये। इससे उसकी साख गिर गयी है। उसकी पार्टी का एक तगड़ा हिस्सा उसे नेतागीरी से हटाना चाहता है। स्थानीय संगठन को सुधारने के लिए लीग का केन्द्रीय नेतृत्व जो प्रयत्न कर रहा है, उस पर चुनाव मे लीग की सफलता निर्भर है।" (पृष्ठ ३१९)। पश्चिमोत्तर प्रदेश में कांग्रेस सरकार बन चुकी थी। मुसलमानों के इस प्रदेश मे कांग्रेस सरकार का बनना मुस्लिम लीग के इस दावे

का खण्डन करता था कि वह मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है। इसलिए इस प्रदेश के गवर्नर को चिन्ता हो रही थी कि नये चुनाव मे मुस्लिम लीग को मनचाही सफलता न मिली, तो इससे अंग्रेजों को भारत मे अपनी नीति लागू करने मे कठिनाई पैदा होगी।

२७ फरवरी १९४६ को, चुनाव हो जाने के बाद, इसी गवर्नर ने वाइसराय को सूचित किया कि पचास सदस्यो के सदन मे काग्रेस के तीस सदस्य चुने गये हैं। एक-दो स्वतन्त्र मुस्लिम सदस्य भी उनका साथ देंगे। उनका बहुमत निश्चित है। दरअसल मुसलमान सीटों मे काग्रेस को पचास फीसदी से ज्यादा सीटें मिली है; काग्रेस टिकट पर उन्नीस सीटें मिली, दो स्वतन्त्र सदस्य है जो सम्भवतः कांग्रेस का साथ देंगे। इसके मुकाबले मुस्लिम लीग को सत्रह सीटें ही मिली। मुस्लिम लीग क्यों असफल हुई? कुछ लोगो का कहना था कि सत्ता काग्रेस के हाथ मे थी। उसने कपडा, शक्कर वगैरह बाँटकर लोगो को खुश कर दिया। गवर्नर का कहना था कि यह सिर्फ एक बहाना है। बात सही हो तो भी इसके साथ यह देखना चाहिए कि ज्यादातर ऊँचे दर्जे के अफसर मुस्लिम लीग के समर्थक थे। डाक्टर खान साहब का कहना था कि इन अफसरों ने चुनाव पर अनुचित प्रभाव डाला। गवर्नर ने यह आरोप स्वीकार न किया किन्तु उसने यह माना कि लोगो की आर्थिक दशा सुधारने के लिए काग्रेस ने जो प्रचार किया, वह लीग के प्रचार से अधिक लोकप्रिय था। गवर्नर की राय मे मुस्लिम लीग की असफलता का कारण गुटबन्दी के अलावा घटिया सगठन था। काग्रेस ने यह प्रचार भी किया कि लीग की पीठ पर ब्रिटिश सरकार का हाथ है। "इसके अलावा काग्रेस ने ऐसे लोगों से अपील की जिनकी आर्थिक हालत अच्छी न थी। इन लोगों पर बड़े-बड़े खान [जमीदार] अधिकाश इलाकों मे अपना प्रभाव खोते जा रहे है। (इनमे अधिकाश मुस्लिम लीग के समर्थक है।) केवल हजारा जिले में आसामियो पर बडे जमीदारो का प्रभाव अभी बना हुआ है। वहां मुस्लिम लीग ने नौ में से आठ सीटें जीती।" (पृष्ठ १०८५)।

पश्चिमोत्तर प्रान्त के गवर्नर ने बड़े जमीदारो के बारे मे जो कुछ लिखा, उससे मुस्लिम लीग के सम्प्रदायवाद का वर्ग-आधार स्पष्ट हो गया। अंग्रेजों ने सामन्ती अवशेष इसीलिए कायम रखे थे, और नये सामन्त इसीलिए तैयार किये थे कि वे उनके राज को सहारा देते रहे। सहारा देने का अर्थ यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में फूट डालते रहें। फूट डालने का उपाय था सम्प्रदायवाद। यदि सम्प्रदायवाद को खत्म करना था तो उसके आधार सामन्तवाद से लड़ना चाहिए था। किन्तु काग्रेस सामन्तविरोधी आन्दोलन चलाने के लिए तैयार न थी। इसलिए पश्चिमोत्तर प्रदेश मे बहुमत प्राप्त करने के बाद भी वह ब्रिटिश कूटनीति से परास्त होकर बाध्य हुई कि बादशाह खान का प्रदेश मुहम्मद अली जिन्ना को सौंप दे। उसी पत्र में गवर्नर ने वाइसराय को लिखा था, "दूसरी तरफ मुस्लिम लीग सिर्फ पाकिस्तान की रट लगाये रही। लड़ाई का यह नारा दरअसल यहाँ के नब्बे फीसदी लोगों की समझ में नहीं आता। यहाँ के औसत देहाती पठान के लिए हिन्दू राज की बात सिर्फ हँसी की बात हो सकती है।" (पृष्ठ १०८५-८६)।

मुस्लिम लीग भारत के बहुसंख्यक मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था है, यह दावा सरासर झूठा है, यह बात अंग्रेज़ों से ज्यादा अच्छी तरह और कोई न जानता था। बहुसंख्यक मुसलमानो के प्रदेशो से जो पाकिस्तान बनेगा, वह अर्थतन्त्र की दृष्टि से बहुत ही कमज़ोर होगा, सुरक्षा की दृष्टि से भारत और पाकिस्तान दोनो राज्य कमजोर होगे और दोनो को, विशेषरूप से पाकिस्तान को, अंग्रेज़ों पर निर्भर रहना होगा, यह बात भी वे जानते थे। भारत मे यदि क्रान्तिकारी आन्दोलन शुरू हुआ तो वे उसे दबा न पायेंगे, भारतीय फौज क्रान्ति का साथ देगी और उसकी जगह लेने लायक गोरी फौज उनके पास है नही। इस पर भी वे अपना कूटनीतिक समाधान भारत पर लादने मे सफल हुए। कारण यह कि क्रान्ति से उन्हे ही नही कांग्रेस को भी भय था। मुस्लिम लीग को तो था ही।

### (ख) नेहरू द्वारा मुस्लिम लीग की आलोचना

२७ जनवरी १९४६ को जवाहरलाल नेहरू ने स्टैफोर्ड क्रिप्स को एक बहुत जोरदार पत्र लिखा था। इसमें उन्होने अंग्रेज़ो की कूटनीति का विश्लेषण किया था और इस कूटनीति में मुस्लिम लीग की भूमिका का विवेचन किया था। उन्होने लिखा कि ब्रिटिश नीति इस देश मे अंग्रेज़ी राज कायम रखने के लिए प्रतिक्रियावादी तत्वों को संरक्षण देती रही है और उन्हे सुदृढ़ करती रही है। [अंग्रेज़ों की 'प्रगतिशील' भूमिका का सारतत्व यही है।] अंग्रेज़ों का पुराना तरीका यह रहा है कि देश मे जो कुछ जीवन्त और प्रगतिशील है, उसका विरोध करें, जो कुछ प्रतिक्रियावादी और पुरानपन्थी है, उसे प्रोत्साहन दें। भारत की ज्वलन्त समस्याएँ हल करने मे असमर्थ होकर वे अधिकाधिक ऐसे व्यक्तियो और गुटों पर निर्भर रहने लगे जो प्रायः भ्रष्ट थे और जिन्हे इस बात से विशेष दिलचस्पी थी कि परिवर्तन न होने पाये। "इस नीति का अनुसरण करते हुए अलग निर्वाचन-क्षेत्रो की शुरुआत की गयी। इस बीज से वह विष-वृक्ष पनपा जो अब इतना बड़ा हो गया है कि उसने हमारे सारे राष्ट्रीय जीवन मे विष घोल दिया है और प्रगति की राह रोक दी है। राष्ट्रीय आन्दोलन की बढती के साथ अंग्रेज़ सरकार और उसके कारिन्दों ने अलगाववाली प्रवृत्तियों को और भी शह देना आरम्भ किया। खासतौर से मुस्लिम लीग की बढ़ती को उन्होने प्रोत्साहन दिया। और दूसरे संगठनों को कांग्रेस ने बहुत कुछ हटा दिया; *सिर्फ लीग रह गयी।* इसलिए उन्होने तरह-तरह से लीग की मदद की। आज भी चुनावो मे बहुत से सरकारी अफसर सक्रिय रूप से लीगी उम्मीदवारों की सहायता कर रहे हैं। मतदाताओं की सूचियाँ इस तरह कतरब्योंत करके तैयार की कि लीग को फ़ायदा हो। बड़ी तादाद मे फ़र्ज़ी नाम जोड दिये गये। बनारस मे यह करिश्मा हुआ कि शहर मे जितने मुसलमान हैं, उनसे ज्यादा के नाम मुस्लिम सूची मे हैं।" (पृष्ठ ८५२)।

जो बात डाक्टर खान साहब ने पश्चिमोत्तर प्रदेश के लिए कही थी, वही बात नेहरूजी ने उत्तर प्रदेश के लिए कही। अंग्रेज यह मानने को तैयार न थे कि सरकारी अफसर चुनावों मे मुस्लिम लीग की सहायता करते थे किन्तु वे मुस्लिम लीग की जीत चाहते थे, उसके लिए प्रयत्न कर रहे थे, यह उनके दस्तावेज़ों से

साबित होता है।

दूसरे महायुद्ध के दौरान लिनलिथगो और उनके साथियों ने लीग की मदद की। क्रिप्स पर सीधे प्रहार करते हुए नेहरूजी ने लिखा, "युद्धकालीन कैबिनेट की ओर से अलगाव का अधिकार मानते हुए आपने १९४२ में जो प्रस्ताव पेश किये, उनसे लीग की पाकिस्तानवाली माँग को भारी ताकत पहुँची और उसका मर्तबा बढ़ गया। पिछले साल शिमला-सम्मेलन असफल हुआ क्योंकि वाइसराय ने जिन्ना का वीटो मान लिया; इससे भी मुसलमान सोचने लगे कि अंग्रेज सरकार लीग की सरपरस्त है, इसलिए वह इतनी ताकतवर है कि वे उसका विरोध नहीं कर सकते।" (पृष्ठ ८५३)।

मुस्लिम लीग के काम करने के तरीके वैसे ही थे जैसे फासिस्टों के होते हैं। नेहरूजी ने कहा कि मुस्लिम लीग के नेता खुल्लम-खुल्ला नफरत फैलाते हैं, राजनीतिक विरोधियों को दबाने के लिए गुण्डागर्दी और हिंसा से काम लेते हैं। नेहरूजी का विश्वास था कि मुस्लिम लीग के विरुद्ध नयी चेतना फैल रही है। उन्होंने जुलाहों का उदाहरण दिया। ये जुलाहे "अब निश्चित रूप से वर्ग-आधार पर सोचने लगे हैं और ये मुस्लिम लीग का उच्चवर्गीय नेतृत्व नापसन्द करते हैं।" (उप.)। आवश्यकता इस बात की थी कि इस वर्ग-चेतना को और विकसित किया जाये, ऐसा संघर्ष चलाया जाये कि उच्चवर्गीय नेतृत्व का प्रतिक्रियावादी स्वरूप श्रमिक जनता के सामने स्पष्ट हो जाये। कांग्रेस यह न कर सकती थी किन्तु मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी नेताओं से आशा की जा सकती थी कि वे ऐसा करेंगे।

नेहरूजी ने इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया कि युद्ध के दौरान कांग्रेसी नेता जेल में थे। मुसलमान जनता से उनका सम्पर्क टूटा हुआ था। लीग और सरकारी प्रचारकों ने मुसलमानों के बीच जमकर झूठी बातें फैलायी। चुनाव हो रहे थे, किस प्रदेश में कांग्रेस सरकार बनायेगी और किसमें मुस्लिम लीग के साथ मिली-जुली सरकार बनेगी, इसकी चर्चा करने के बाद नेहरूजी ने इस देश में फैले हुए तनाव का उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि चुनाव और उनका नतीजा दर-किनार, देश में बेहद तनाव है, केन्द्र और सूबों में मौजूदा सरकार बदलने के लिए लोगों में जबरदस्त आकांक्षा है। "चुनाव से किसी हद तक लोग रुके हुए हैं लेकिन जैसे ही ये खत्म होंगे, घटनाक्रम अपनी ही गति से तेजी से बढ़ चलेगा। इस घटनाक्रम को ऐसी निश्चित नीति से काबू में रखा जा सकता है जिसका उद्देश्य शीघ्र परिवर्तन करना हो और जिस पर अमल किया जाये। विलम्ब के घातक परिणाम हो सकते हैं। कलकत्ते में दो महीने पहले जो कुछ हुआ और बम्बई में जो कुछ इस समय हो रहा है, उससे पता चल जाता है कि सतह के नीचे किस तरह की आग छिपी हुई है। एक चिनगारी से वह आग भभक उठेगी। एक तरह से कांग्रेस इस शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है पर यह शक्ति किसी भी संगठन से अधिक शक्तिशाली है; उसे एक सीमा तक ही नियन्त्रित किया जा सकता है और यह भी तब जब परिस्थिति अनुकूल हो।" (पृष्ठ ८५४)। जिस आग और शक्ति की बात नेहरूजी ने की है, वह कोई रहस्यमय शक्ति नहीं है, प्रकृति में व्याप्त

आदिशक्ति नही है। यह क्रान्ति की आग है, क्रान्ति की शक्ति है जो चुनाव से रुकी हुई है। देश में जो तनाव है, क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए जनता में जो उत्साह है, उससे एक चिनगारी छिपी हुई आग को ज्वालामुखी बना सकती है। कांग्रेस इस आग के साथ वहीं तक है जहाँ तक वह ज्वालामुखी नही बनती। अनुकूल परिस्थिति में कांग्रेस उसे नियन्त्रित रख सकती है किन्तु वह शक्ति कांग्रेस से बड़ी है। नेहरूजी क्रिप्स को समझा रहे हैं कि समय रहते अधिकार न दिये तो चाहते हुए भी कांग्रेस देशव्यापी क्रान्ति को रोक न पायेगी।

तब पाकिस्तान का क्या होगा? मुस्लिम लीग ने सीधी कार्यवाही की धमकी दी थी। नेहरूजी ने कहा कि सम्भव है, दंगे हों, लेकिन इस कारण प्रगति को रोक रखना ठीक नही है। जिस रूप में जिन्ना पाकिस्तान माँग रहे है, उससे गृहयुद्ध छिड़ जायेगा। जिन्ना ने अपने पाकिस्तान मे असम, दिल्ली, पूरा पजाब और बंगाल, पश्चिमोत्तर प्रदेश, सिन्ध और बलूचिस्तान शामिल किये है।

मुस्लिम लीग के वर्ग आधार, अंग्रेज सरकार से साँठ-गाँठ और भारत की क्रान्तिकारी परिस्थिति का सही विश्लेषण करने के बाद जवाहरलाल नेहरू ने स्टैफर्ड क्रिप्स को सूचित कर दिया कि कांग्रेस भारत का विभाजन स्वीकार कर लेगी। तर्क यह था कि मुस्लिम लीग पाकिस्तान में गैर-मुस्लिम इलाके शामिल करना चाहती है, यह माँग बेजा है। यदि पाकिस्तान मे केवल मुस्लिम इलाके शामिल किये जायें तो इसमें कुछ भी बेजा न होगा। उन्होने क्रिप्स को लिखा, जिस रूप में जिन्ना पाकिस्तान माँग रहे है, उस रूप मे ब्रिटिश सरकार उसे भारत पर थोप नही सकती। उससे अवश्य ही गृह-युद्ध छिड़ जायेगा। जिन्ना की माँग में असम, दिल्ली, पूरे के पूरे पजाब और बंगाल, उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, सिन्ध, बलूचिस्तान शामिल है। किसी भी तर्क से असम, दिल्ली और पंजाब तथा बंगाल के विशाल भाग जहाँ गैरमुसलमानों की बहुतायत है, पाकिस्तान में शामिल नही किये जा सकते। शायद इन चुनावों मे भी पश्चिमोत्तर प्रदेश लीग को अस्वीकार करेगा। यदि सारे मुसलमान लीग और पाकिस्तान का समर्थन करें, तो भी उसका अर्थ होगा पंजाब और बंगाल, दोनों का बँटवारा। जिन्ना ने नाराज़ होकर इसे मानने से इन्कार किया है। तब क्या होगा? दूसरे इलाकों को मजबूर किया जाये कि पाकिस्तान मे शामिल हों? यह असम्भव है और इसकी कल्पना भी नही की जा सकती। इस प्रकार पाकिस्तान समस्या का खास मुद्दा यह है: या तो ऐसा पाकिस्तान हो कि उसमें केवल पंजाब और बंगाल के हिस्से हों, या फिर अलगाव हो ही नही।

जवाहरलाल नेहरू ने आगे बताया कि सुरक्षा-व्यवस्था तथा सम्बन्धित विषयों को अलग रखकर पाकिस्तान के सवाल पर विचार नही किया जा सकता। मध्य-पूर्व में उथल-पुथल के आसार है। दो अलग राज्य बन जायें तो भी सुरक्षा के लिए उन्हें संयुक्त योजना बनानी होगी। सुरक्षा मे विदेश नीति, संचार-व्यवस्था आदि भी सिमट आती है। सुरक्षा के विचार से कोई वास्तविक पाकिस्तान नहीं हो सकता अर्थात् स्वतन्त्र राज्य नही हो सकता। अलग होने पर भी वह स्वतन्त्र बना नही रह सकता। उसके पक्ष में व्यापक भावना है और भावनाओं की हमेशा अनदेखी नही की जा

सकती। भावना गहरी नहीं है और उसके परिणाम क्या होंगे, लोग जानते नही है। जो प्रान्त पाकिस्तान मे कभी शामिल नहीं किये जायेंगे, उन्हीं मे पाकिस्तानवाली भावना सबसे अधिक है। सीमान्त प्रदेशों के निकट वह भावना निर्बल है, पंजाब और बंगाल में भी निर्बल है। कांग्रेस ने कई बार यह प्रस्ताव किया है कि स्वायत्तशासी इकाइयों का संघ बने और इन सब इकाइयों के लिए कुछ सामान्य अनिवार्य विषयों की अल्पतम सूची बने। इन अनिवार्य विषयों में सुरक्षा, विदेश नीति आदि विषय शामिल किये जा सकते हैं। अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए विशेष नियम बनाये जा सकते हैं और सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार दिया जा सकता है कि वह अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करे। "अन्त में यह कि यदि कोई निश्चित क्षेत्र स्पष्ट रूप से अलगाव के पक्ष में अपनी इच्छा प्रकट करता है और ऐसा अलगाव अमल में लाया जा सकता है तो संघ या यूनियन में रहने के लिए उसे बलपूर्वक बाध्य न किया जायेगा। किन्तु वह अन्य क्षेत्रों को उनकी इच्छा के विरुद्ध अपने साथ नहीं ले जा सकता। उस क्षेत्र के सभी बालिग मतदाताओं के मत-संग्रह द्वारा स्पष्ट निर्णय दरकार होगा। मैं कल्पना नहीं कर सकता कि इससे अधिक उदार और दूरगामी कोई दूसरा प्रस्ताव हो सकता है। फिर भी जिन्ना न तो जनमत संग्रह की बात मानते है और न क्षेत्र के निवासियों की इच्छाओं के अनुसार सीमा-निर्धारण की बात मानते हैं।" (पृष्ठ ८५५)।

मुस्लिम लीग का समर्थन करनेवाले बड़े-बड़े जमींदार हैं। अंग्रेजों के बढ़ावा देने से वह मजबूत हुई है। वह प्रतिक्रियावादी संगठन है जिसका उद्देश्य देश की प्रगति में बाधा डालना है। नेहरू के पत्र का यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि जिन प्रदेशों में मुसलमान बहुसंख्यक हैं, वे यदि वहाँ अलग राज्य बनाने की इच्छा प्रकट करें, तो कांग्रेस उसे स्वीकार करेगी। इस दूसरे पक्ष से पहला पक्ष कट जाता है। जो संगठन प्रतिक्रियावादी है और देश की प्रगति में बाधक है, जिसे सामन्तों और अंग्रेजों का समर्थन प्राप्त है, उससे लड़ने का कोई तरीका निकालना चाहिए था। नेहरूजी के पास यह तरीका नहीं था, इसलिए उन्होंने लीग की जो भी उग्र आलोचना की थी, वह व्यर्थ थी। लोगों में यह भ्रम फैलाया गया था कि लीग मुसलमानों की प्रतिनिधि-संस्था है, इसलिए लीग से लड़ने का मतलब होगा मुसलमानों से लड़ना। वास्तव में असली लड़ाई न मुसलमानों से थी, न मुस्लिम लीग से; असली लड़ाई थी अंग्रेजों से और उनके समर्थक जमींदारों और राजाओं से। यदि स्वाधीनता-आन्दोलन को साम्राज्य-विरोधी सामन्त-विरोधी आन्दोलन के रूप में चलाया जाता तो मुस्लिम लीग और उसके अलगाववादी समर्थक ध्वस्त हो जाते। किन्तु दूसरा महायुद्ध आरम्भ होने के पहले से कांग्रेसी नेता आशा लगाए थे कि क्रान्तिकारी संघर्ष के बिना अंग्रेजों से सत्ता प्राप्त हो जायेगी। युद्ध के बाद अंग्रेज सत्ता सौंपने को तैयार थे और इसके लिए वे कांग्रेस को बाध्य कर रहे थे कि वह मुस्लिम लीग से समझौता करे। जिन्ना का दाँव यह था कि एक बार कांग्रेस और अंग्रेज अलग राज्य बनाने की बात मान लें, उसके बाद सीमा-निर्धारण का काम पूरा कर दिया जायेगा। पाकिस्तान में पूरा पंजाब, पूरा बंगाल और असम प्रान्त रहे, यह माँग केवल मोल-भाव के लिए थी।

यह बात अंग्रेज जानते थे और जिन्ना जानते थे। जवाहरलाल नेहरू जैसे बुद्धिमान राजनीतिज्ञ से भी यह बात छिपी न रही होगी।

क्रिप्स को लिखे हुए उस पत्र में नेहरूजी ने सुझाया कि ब्रिटिश सरकार स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दे कि वह भारत की स्वाधीनता स्वीकार करती है और स्वाधीन भारत का संविधान बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के भारत के निर्वाचित प्रतिनिधि बनायेंगे। संविधान बनाने का काम व्यापक मताधिकार द्वारा चुनी हुई संस्था करेगी और उसका अधिकार सर्वोपरि होगा। भविष्य में भारत और इंग्लैण्ड के सम्बन्ध निर्धारित करने का काम यही संस्था करेगी। सत्ता के हस्तान्तरण से जो समस्याएँ पैदा होंगी, उन्हें हल करने के लिए इस संस्था के तथा ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि मिलकर बातचीत करेंगे। यदि किसी बात पर समझौता न हुआ तो वह किसी निष्पक्ष पंचायत के सामने रखी जा सकती है। "इसके अलावा ब्रिटिश सरकार को यह भी घोषित करना चाहिये कि वह भारत के विभाजन को देश के लिए, और किसी भी पार्टी या धार्मिक गुट के लिए, अहितकर मानती है। और यह भी कि उससे भारत की सुरक्षा ऐसे समय कमजोर हो जायगी जब सुरक्षा की आवश्यकता सर्वोपरि है।" अंग्रेजों के समर्थन से ही लीग एक अलगाववादी संगठन के रूप में पनप सकी थी। अंग्रेजों से अपील करना कि वे भारत के विभाजन को हानिकर बताएँ और स्वयं नेहरूजी अलगाव का सिद्धान्त मानते जाएँ, यह लचर नीति क्रान्ति से मुहँ मोड़ने का परिणाम थी। नेहरूजी ने भारतीय संघ की इकाइयों को पूर्ण स्वायत्तता दिये जाने के साथ, अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए हर तरह के सुझाव के साथ, फिर कहा कि "यदि किसी क्षेत्र के निवासी अलग होना चाहें और किसी निश्चित समस्या पर मत-संग्रह द्वारा उनकी राय जान ली जाये, तो उन्हें ऐसा करने का अधिकार होगा, शर्त केवल यह होगी कि अलगाव को अमल में लाना सम्भव हो, और किसी निश्चित क्षेत्र में यदि कोई समुदाय अलग न होना चाहे, तो उसे अलग होने को बाध्य न किया जाए।" (पृष्ठ ८५६-५७)। सीमा-निर्धारण इस तरह किया जायेगा कि यथासम्भव अलगाववादी और उनके विरोधी, एक-दूसरे से अलग रहेंगे। यह बात विशेष रूप से बंगाल और पंजाब पर लागू होगी। यदि उत्तरी पंजाब अलग होना चाहता है और पश्चिमोत्तर प्रदेश अलग नहीं होना चाहता, तो कठिनाई पैदा होगी। पाकिस्तान का निर्माण असम्भव हो जायेगा। नेहरूजी ने फिर विश्वास प्रकट किया कि ब्रिटिश सरकार पाकिस्तान को प्रोत्साहन न देगी तो यह आन्दोलन बहुत जल्दी अशक्त हो जायेगा। उनके ऐसा कहने से ही बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्रिटिश सरकार से लड़े बिना पाकिस्तान का आन्दोलन समाप्त न किया जा सकता था। ब्रिटिश सरकार से लड़ने के लिए भारतीय जनता तैयार थी, यह बात भी नेहरूजी ने उस पत्र में स्पष्ट कर दी थी। उन्होंने लिखा था, "मेरे सभी साथी ठीक इसी तरह नहीं सोचते जिस तरह मैं सोचता हूँ लेकिन मेरा विचार है कि हमारे मुख्य निष्कर्ष एक-से हैं। दरअसल मैं कह सकता हूँ कि राजनीतिक रूप से चिन्तनशील भारत, कांग्रेसी या गैरकांग्रेसी (मुस्लिम लीग को छोड़कर), बहुत कुछ इसी ढंग से सोचता है। इसमें एक बड़ा अपवाद है। वह अपवाद नौजवानों

का है, उन स्त्रियों और पुरुषों का है जिन्हें दृढ़ विश्वास है कि बड़ी लड़ाई के जरिये ही कोई मूल्यवान वस्तु प्राप्त की जा सकती है। ऐसे लोगों की संख्या काफी है। ये लोग मजबूत हो गये हैं और भारतीय जनता में जो भावना फैली हुई है, उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए यदि कोई अनहोनी हो जाती है तो तुरत आग भड़क सकती है। यदि स्वाधीनता की बात मान ली जाती है, निकट भविष्य में उस तक पहुँचने का मार्ग खुल जाता है, और इस समय उस दिशा में बढ़ने का काम शुरू हो जाता है, तो यह संभव है कि भारत में परिस्थिति को काबू में रखा जाये, और शान्तिपूर्वक, सहयोगपूर्वक, आगे बढ़ा जाये। वरना घटनाएँ बागडोर अपने हाथ में ले लेंगी और वे किस दिशा में ले जाएँगी, मैं कह नहीं सकता।" (पृष्ठ ८५८)।

भारत के नौजवान अपाहिज नहीं थे। उनकी क्रान्तिकारी साम्राज्यविरोधी चेतना सो न गयी थी। तरुणों के हृदय-सम्राट् जवाहरलाल नेहरू इन नौजवानों के हृदय की धड़कन बहुत साफ सुन रहे थे। वह जानते थे कि भारतीय जनता में जो भावना व्यापक रूप में फैली हुई है, उसके प्रतिनिधि ये नौजवान हैं। ये लोग समझते हैं कि बड़ी लड़ाई के बिना कोई मूल्यवान वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। यदि अनहोनी हो गयी, यानी कांग्रेस, लीग और अंग्रेजों में समझौता न हुआ, तो आग भड़क उठेगी। विस्फोटक परिस्थिति से खेलना और उसे नियन्त्रण में रखना, अर्थात् जनता के आन्दोलन को क्रान्तिकारी रूप धारण करने से बचाये रहना, इस कौशल के विशेषज्ञ थे पण्डित जवाहरलाल नेहरू। वह क्रिप्स को समझा रहे थे कि क्रान्ति शुरू हो सकती है। शुरू हो गयी तो मैं भी जनता के साथ रहूँगा, इसलिए रहूँगा कि वह न्याय के लिए लड़ती होगी और कठिनाइयों में मैं उसे छोड़ नहीं सकता, "लेकिन मैं संघर्ष बचाना चाहता हूँ क्योंकि इसमें राष्ट्रीय शक्ति भयानक रूप से नष्ट होती है और विरासत में उसके बुरे नतीजे हाथ लगते हैं। मेरा काफी जीवन संघर्ष में बीता है और जो समय बचा है, उसमें मैं नाश नहीं, निर्माण करना चाहता हूँ। भारत रचनात्मक प्रयत्न के लिए पुकार रहा है किन्तु उसका मार्ग बन्द है। एक बार वह खुल गया, और वह स्वाधीनता से ही खुल सकता है, तो हम छलाँग मारकर आगे बढ़ेंगे।" (पृष्ठ ८५८-५९)। नेहरूजी क्रिप्स को सम्भावित क्रान्ति के प्रति सचेत कर रहे थे। क्रिप्स पहले से ही सचेत थे। उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई होगी कि भारत में ऐसे नेता हैं जो यह मानते हैं कि क्रान्ति से राष्ट्रीय शक्ति भयानक रूप में नष्ट होती है और विरासत में उसके बुरे नतीजे हाथ लगते हैं। रचनात्मक प्रयत्न के लिए ही वह भारत आये थे। रचनात्मक प्रयत्न का अर्थ था क्रान्तिकारी संघर्ष का त्याग, अंग्रेजों के बनाये हुए दायरे में मुस्लिम लीग के साथ समझौता। स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर जानेवाला मार्ग बेशक बन्द था। उसे क्रान्ति का धक्का देकर खोला जा सकता था। दूसरा तरीका था समझौते का जिसके बाद छलाँग मारकर आगे बढ़ने का अवसर कांग्रेसी नेताओं को मिलता। यह विकल्प अंग्रेजों को भी पसन्द था।

"भारत में जो कुछ हो रहा है, उसके अलावा इण्डोनेशिया और इण्डोचाइना ने बेहद कटुता पैदा कर दी है। लोगों में यह विश्वास जम गया है कि ब्रिटिश

सरकार से किसी चीज की आशा न करनी चाहिए। हमारे बीच की खाई कभी इतनी चौड़ी न थी जितनी अब है और उसे पाटना आसान न होगा। लेकिन शायद अब भी बहुत कोशिश करने पर वह पाट दी जाये।" (पृष्ठ ८५८)। बिलकुल सही बात कही है कि भारत और अंग्रेजों के बीच की खाई जितनी चौड़ी सन् '४५ के अन्त और सन् '४६ के आरम्भ में थी, उतनी चौड़ी वह पहले कभी नहीं थी। यह खाई इतनी चौड़ी सन् '४२ में नहीं थी। भारत में जो कुछ हुआ, उसके अलावा इण्डोनीशिया और हिन्द-चीन की घटनाओं ने जनता के मन में बेहद कड़वाहट भर दी थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया की परिस्थिति भारत को जितना १९४५-४६ में प्रभावित कर रही थी, उतना वह १९४२ में न कर सकी थी। किन्तु जो लोग सन् '४२ की क्रान्ति का श्रेय लेते थे, वे सन् '४६ में क्रान्ति को अनावश्यक मानते थे। वे खाई को पाटने की बात सोच रहे थे। मानना होगा कि खाई को पाटने की बात उनके मन में १९४२ में भी रही होगी; जो कुछ हुआ उसका श्रेय लेने की बात अलग है। निष्कर्ष यह है कि १९४५-४६ में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भारतीय क्रान्ति के अनुकूल थी और यह अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति सुदूर यूरुप की नहीं, एशिया के पड़ोसी देशों की थी। भारतीय जनता अंग्रेजों पर बिलकुल विश्वास न करती थी और देश के नौजवान लड़ने-मरने को तैयार थे। फिर भी क्रान्ति न हुई। इसका कारण यह है कि भारत में ऐसी क्रान्तिकारी पार्टी का अभाव था जो अंग्रेजी राज, कांग्रेस और मुस्लिम लीग की संवैधानिक वार्ताओं का जाल तोड़कर जनता का सही नेतृत्व करते हुए उसे संघर्ष के मार्ग पर आगे ले जा सके। भारत के भावी इतिहास के लिए यह तथ्य महत्वपूर्ण है।

### (ग) मिसेज विन्ट, एडवर्ड मून और ब्रिटिश नीति

१९४५ में मिसेज गाई विन्ट नाम की महिला ने क्रिप्स के सुझाव पर अपनी भारत यात्रा के सम्बन्ध में एक दस्तावेज तैयार किया। इस दस्तावेज की विशेषता यह है कि भारत की क्रान्तिकारी परिस्थिति का जैसा मूल्यांकन अन्य बुद्धिमान कर रहे थे, वैसा ही मूल्यांकन इन्होंने किया है। मुस्लिम लीग से ब्रिटिश कूटनीति का सम्बन्ध इन्होंने भी जोड़ा है। उनका सुझाव यह है कि परिस्थिति काबू से बाहर न हो जाये, इसके लिए अंग्रेजों को खुद पहलकदमी करनी चाहिए यानी भारतीय नेताओं से तुरन्त समझौता करना चाहिए और पाकिस्तान बनेगा, यह मानकर अपने दाँव-पेंच तय करने चाहिए।

जिन्ना के बारे में उनका विचार था कि उन्हें अपने वरिष्ठ सहयोगियों पर विश्वास नहीं रह गया। जहाँ-जहाँ मुस्लिम लीग के मन्त्रिमण्डल बने, वहाँ उसके नेता ऊँची तनख्वाहों और पदों के लालच में पड़ गये। मुस्लिम लीग में जो नौजवान शामिल हुए हैं, वे पाकिस्तान के प्रबल समर्थक हैं। कांग्रेस ने प्रयत्न किया है कि मुस्लिम लीग से उनका मतभेद दूर हो जाये। किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। कांग्रेस किसी-न-किसी रूप में पाकिस्तान स्वीकार करेगी, इसकी सम्भावना है। "किन्तु इस बीच भारत का राजनीतिक वातावरण बराबर गर्म होता गया है। १९४२ की गिरफ्तारियों के बाद जो निराशा और राजनीतिक गतिरोध का दौर

१९४६ के वसन्त तक वातावरण की यह गर्मी भयानक रूप धारण कर लेगी।" (पृष्ठ ७६९)। भारतवासियों के बारे में उनका विचार था कि ये लोग बादशाह सलामत की सरकार को शक की निगाह से देखते है और समझते है कि वह गतिरोध दूर करने के लिए कुछ न करेगी। वाइसराय ने रेडियो पर कहा कि क्रिप्स-योजना के अनुसार आगे बढ़ेंगे या फिर भारत खुद इससे और अच्छी योजना बनाये। इसका अर्थ लोगों ने यह लगाया कि अंग्रेज टालमटूली कर रहे हैं। कांग्रेस को अब सत्ता चाहिए। १९४२ मे क्रिप्स मिशन के प्रति उसने जो रुख अपनाया था, उसके आधार पर कोई सन्देह पैदा होता हो तो उसे अब दूर कर देना चाहिए। उसे सत्ता चाहिए, वह सत्ता पाने के योग्य है (कुछ बातों मे वह चीन की संस्था कुओमिन्ताग से अधिक योग्य है) और उसे पाने की अधिकारी है। बहुत देर तक इन्तजार करना उसके हित में न होगा।" (उप.)। अंग्रेजों के बारे में श्रीमती विन्ट का कहना था कि वे देर लगा रहे है किन्तु "उनकी स्थिति अपराजेय नहीं है। यदि दृढ़तापूर्वक सत्ता-परिवर्तन का प्रयत्न हो, तो अंग्रेज शायद उसे न तो बलपूर्वक दबाना चाहेंगे और न दबा सकेंगे। कांग्रेस ने तय किया है कि चुनाव लड़ना है। जब तक नतीजा नहीं निकलता, तब तक परिस्थिति काबू में रहेगी। उसके तुरत बाद क्रान्ति का अवसर पैदा होगा।" (पृष्ठ ७७०)। अंग्रेज जिस सत्ता-परिवर्तन को दबा न सकेंगे, उसके लिए श्रीमती विन्ट ने 'कूदेता' शब्दों का प्रयोग किया है। 'कूदेता' क्रान्ति से भिन्न कोटि के सत्ता ग्रहण के लिए प्रयुक्त होनेवाले शब्द है। श्रीमती विन्ट का आशय क्रान्ति से है, यह बात अन्तिम वाक्य से स्पष्ट हो जाती है जहाँ उन्होंने 'रेवोल्यूशन' शब्द का प्रयोग किया है। वह मानती है कि क्रान्ति को बलपूर्वक दबाया जा सकता है किन्तु उनके विचार से भारत मे दमन नीति लागू करना अधिकाधिक कठिन होता जायेगा। इस परिस्थिति में बहुत से भारतवासी और अंग्रेज दोनों यह चाहते है कि "भारत मे रक्तपात न हो और दोनों देश एक सुदृढ़ गठबन्धन मे आगे के लिए बँधे रहें, और ब्रिटेन इस ढंग से चले कि समाधान मिल जाये; इसके लिए न तो जरूरत से ज्यादा देर हुई है, न यह काम जरूरत से ज्यादा कठिन है।" (उप.)।

परिस्थिति से निपटने के लिए श्रीमती विन्ट ने तीन बातों की ओर ध्यान दिलाया। पहली यह कि "अगले साल के सम्भावित गम्भीर विद्रोह को रोकने के लिए हमे बड़ी शीघ्रता से काम करना होगा।" (उप.)। दूसरी यह कि अन्तरिम सरकार मे सभी पार्टियो का सहयोग न मिला तो यह सरकार सन्तोषजनक न होगी; सबका सहयोग मिलने की सम्भावना कम है। तीसरा यह कि "पाकिस्तान के बिना अन्तिम समझौता असम्भव है।" (उप.)। इन तीनों बातों को एक साथ रखने से यह समझ मे आ जाता है कि अंग्रेज अन्तरिम सरकार बनाने को ऐसे आतुर क्यों हो रहे थे। क्रान्तिकारी परिस्थिति को विस्फोटक बनने से रोकने के लिए उनकी कूटनीति के जाल का पहला फन्दा यह अन्तरिम सरकार थी। एक बार नेता लोग दिल्ली की सरकार में शामिल हो गये, तो जनता का क्रान्तिकारी उत्साह धीमा हो जायेगा। वह समझने लगेगी कि अब थोड़े ही समय में उसे पूर्ण

स्वाधीनता मिल जायेगी। अन्तरिम सरकार में शामिल होने के बाद पाकिस्तान का निर्माण आसान होगा। अंग्रेजों की कूटनीति का यह दूसरा फन्दा था। यदि वे निश्चय कर लेंगे कि पाकिस्तान के बिना अन्तिम समझौता न हो, तो जो भी समझौता करना चाहेंगे, वह पाकिस्तान का निर्माण स्वीकार करेगा ही।

श्रीमती विन्ट का मत था कि मुस्लिम लीग क्रिप्स-प्रस्ताव से सन्तुष्ट नहीं है। लीग का कहना है कि क्रिप्स-प्रस्ताव में पाकिस्तान की माँग पूरी नहीं होती। इसके बाद श्रीमती विन्ट कहती है, "यदि बादशाह सलामत की सरकार यह तय कर ले कि किसी-न-किसी रूप में पाकिस्तान बनेगा ही, तो वह पंजाब और बंगाल की सीमाएँ बदलने की जिम्मेदारी, जिससे कि दक्षिणी पंजाब और पश्चिमी बंगाल के हिन्दू इलाके अलग कर दिये जायेंगे, अपने ऊपर ले सकती है। तब पाकिस्तान की समस्या लोगों के वोट लेकर हल की जा सकेगी और कांग्रेस के पास असहमत होने के लिए कोई बहाना न रह जायेगा। पाकिस्तान के प्रति कांग्रेस का विरोध अडिग बना रहेगा, इसकी सम्भावना कम है (बशर्ते कि अंग्रेज होशियारी और दृढ़ता से काम लें)। कांग्रेस हमेशा के लिए मुस्लिम समस्या से उलझी रहना नहीं चाहती, इसके काफी प्रमाण हैं। उधर मुसलमान (जो अंग्रेजों द्वारा नियन्त्रित हैं और समर्थित भी हैं) भारत से पूरी तरह नाता न तोड़ना चाहेंगे।" (उप.)। श्रीमती विन्ट यह जानती थी कि अंग्रेज मुस्लिम लीग का समर्थन कर रहे हैं। अंग्रेजों का हित इस बात में था कि संयुक्त भारत पर उनका नियन्त्रण न हो, तो पाकिस्तान भारत से अलग हो जाये।

पाकिस्तान के बारे में एडवर्ड पेन्डेरेल मून आई. सी. ऐस. की राय श्रीमती विन्ट के मत से मिलती-जुलती थी। १९४५ के उत्तरार्द्ध पर ध्यान देने के बाद उन्होंने अगले साल के लिए कल्पना की कि चुनाव के बाद मुस्लिम लीग की ताकत और उसके रुतबे में भारी बढ़ती होगी। थोड़े से तुच्छ अपवाद छोड़कर सारे मुसलमान एक होकर पाकिस्तान का समर्थन करेंगे। "इन पूर्वानुमानों को हमें अपने चिन्तन और नीति का आधार इस समय बनाना चाहिए।" (पृष्ठ ७७१)। यद्यपि अभी चुनाव न हुए थे किन्तु अनेक अंग्रेज अधिकारी यह मानकर चल रहे थे कि बहुसंख्यक मुसलमान पाकिस्तान का समर्थन करेंगे। उन्होंने आगे कहा कि संयुक्त भारत की बात अब छोड़ देनी चाहिए। आदर्श रूप में एकता की बात अच्छी है किन्तु वह अमल में नहीं लायी जा सकती। कुछ लोग कह सकते थे कि पाकिस्तान के बारे में अंग्रेजों को तटस्थ रहना चाहिए, हिन्दू और मुसलमान यह समस्या खुद हल करें। किन्तु श्रीमती विन्ट के समान मून का भी मत था कि अंग्रेजों को ही पहल करना चाहिए। इस पहल के बिना हिन्दू और मुसलमान खुद समस्या को हल न कर सकेंगे। "यदि हम पक्ष या विपक्ष में मत दिये बिना तटस्थ बने रहे तो वर्तमान हिन्दू-मुस्लिम गतिरोध, बहुत सम्भव है, अनिश्चित काल तक रहे। इसका अर्थ यह होगा कि हमने जिस देश को स्वतन्त्रता देने का वादा किया है, उस पर शासन करने का भार अनिश्चित काल तक हमारे ऊपर बना रहेगा और हमें अधिकाधिक दमन के सहारे शासन चलाना पड़ेगा। तटस्थता के रुख का परिणाम होगा सुनिश्चित सर्वनाश।" (पृष्ठ ७७२)।

इन परिस्थिति में मून के अनुसार पाकिस्तान के पक्ष में अपनी नीति घोषित करना अंग्रेजों के लिए सही निर्णय होगा। अपनी नीति घोषित करने के बाद उन्हें यह देखना चाहिए कि सबसे ज्यादा विरोध किस तरफ से होता है। यह सब देख और परखकर यदि इस बात की पुष्टि हो कि निर्णय सही है तो जरूरत पड़ने पर "हमें अपनी सारी शक्ति, सारा प्रभाव पाकिस्तान के पक्ष में लगा देना चाहिए।" (उप.)। मून का विचार था कि मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त और मध्यप्रदेश के हिन्दू हाय-हाय करेंगे कि बंगाल और पंजाब में उनके भाई भारतमाता की गोद से अलग कर दिये गये किन्तु उन क्षेत्रों के लिए धर्मयुद्ध करने की शक्ति या साहस उनमें न होगा। पाकिस्तान का सिद्धान्त मान लिया जाये तो जिन्ना हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच सहयोग का समर्थन करेंगे। पाकिस्तान बन जाने से दर-असल हम संयुक्त भारत के और अधिक नजदीक पहुँचेंगे। देश के विभाजन का विरोध हिन्दू-महासभा, कांग्रेस और सिक्खों की ओर से हो सकता है। हिन्दू-महा-सभा का विरोध नगण्य है। कांग्रेस और सिक्खों का सम्मिलित विरोध बहुत शक्तिशाली हो सकता है किन्तु इसकी सम्भावना है कि ये दोनों सहमत हो जायेंगे। "जहाँ तक सिक्खों का सम्बन्ध है, इतना कहना काफी है कि उनके नेताओं ने १९४३ के आरम्भ में पाकिस्तान को लेकर जिन्ना के साथ सचमुच ही समझौता करने की कोशिश की थी। उसका नतीजा कुछ न निकला—क्योंकि उनकी माँगें हास्यास्पद रूप से ऊँची थीं। लेकिन इससे यह पता चलता है कि उनकी सहमति खरीदी जा सकती है। सवाल भाव तय करने का है।" (पृष्ठ ७७३-७४)।

कांग्रेसी नेताओं के बारे में मून का मत था कि सिद्धान्त रूप से वे पाकिस्तान का विरोध कर सकते हैं लेकिन उनमें से कुछ अपना रुख बदल भी सकते हैं। आगे ब्रिटिश हितों की चर्चा करते हुए मून ने लिखा कि पाकिस्तान के पक्ष में जो तर्क यहाँ दिये गये हैं, वे पाकिस्तान की स्वीकृति के लिए काफी हैं और इन तर्कों का ब्रिटिश हितों से कोई सम्बन्ध नहीं है। "फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि सीधे ब्रिटिश हितों का ही विचार किया जाये तो नतीजा वही निकलेगा। कारण यह हमने पाकिस्तान न म ाकिस्तान की माँग मान व है, वह मजबूत होगा और शायद हिन्दू भी यह मान जायेंगे कि पाकिस्तान के रूप में उन्हें स्वाधीनता का आवश्यक मूल्य चुकाना है।" (पृष्ठ ७७४)। मून ने सुझाव दिया कि सिक्ख और कांग्रेसी नेताओं से बात चलायी जाये और उनके सम्भावित विरोध को कम किया जाये। व्यक्तिगत स्तर पर बातचीत चलाने के बाद एक मुकाम ऐसा आयेगा जब ब्रिटिश सरकार को पाकिस्तान के पक्ष या विपक्ष में अपना सारा जोर लगा देना होगा। (पृष्ठ ७७५)।

### (घ) सीमा-निर्धारण और जातीय प्रदेशों का विभाजन

१२ दिसम्बर १९४५ के 'स्टेट्समैन' में जिन्ना का एक वक्तव्य छपा। इसमें उन्होंने कहा कि कनाडा और यूनाइटेड स्टेट्स साथ-साथ रहते हैं। हिन्दू और

मुसलमान साथ-साथ क्यों नहीं रह सकते ?"हो सकता है कि आबादी की अदला-बदली करनी पड़े बशर्ते कि यह बिल्कुल रज़ामन्दी से हो। बेशक सरहदों को लेकर कुछ तब्दीली जरूरी होगी। यह तब्दीली वहाँ होगी जहाँ हिन्दू और मुसलमान ज़मीन हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के पड़ोस में होगी। यह सब आगे होता रहेगा। अभी जरूरत इस बात की है कि मौजूदा सूबाई सरहदें भावी पाकिस्तान की सरहदें मान ली जायें।" (पृष्ठ ६५६)। यहाँ मोल-भाव की बात स्पष्ट है। वर्तमान प्रान्तों के आधार पर विभाजन की बात मान लो, काट-छाँट का काम बाद में होता रहेगा। अंग्रेज़ों ने इस वक्तव्य को इसी रूप में ग्रहण किया था। वेवल ने भारत-सचिव को जिन्ना का वक्तव्य भेजते हुए लिखा था कि उन्होंने महत्वपूर्ण बात यह कही है कि पाकिस्तान की बात मान लेने के बाद सरहदों को लेकर तब्दीली होती रहेगी। जिन्ना वैसी तब्दीली की बात नहीं सोच रहे जैसी कांग्रेस चाहेगी। कांग्रेस के लिए तब्दीली का मतलब होगा आधे-आधे सूबे। "लेकिन जिन्ना के इस बयान से यह संकेत मिलता है कि वह बातचीत से इन्कार न करेंगे। कम से कम इतना तो सन्तोषजनक है।" (पृष्ठ ६५५)।

जिन्ना के वक्तव्य देने के बाद एक सप्ताह में वाइसराय के निजी सचिव एबेल ने वेवल को पाकिस्तान-समस्या के बारे में लिखा कि दो सैद्धान्तिक बातें ध्यान में रखनी चाहिए। पहली यह कि यदि वास्तविक मुस्लिम इलाकों में मुसलमान आत्मनिर्णय चाहते हैं तो उनकी यह माँग मान लेनी चाहिए। दूसरी यह कि भारी संख्यावाली गैरमुस्लिम आबादी को उसकी इच्छा के विरुद्ध पाकिस्तान में रहने को बाध्य नहीं किया जा सकता। (पृष्ठ ६५०)। अंग्रेज विभाजन की माँग स्वीकार कर रहे थे। जिन्ना मोल-भाव कर रहे थे और अंग्रेज यह दिखा रहे थे कि वे जिन्ना की अनुचित माँग स्वीकार न करेंगे। पर उचित माँग तो माननी ही होगी। जिन्ना ने अपना बयान १० दिसम्बर १९४५ को दिया। एबेल ने अपना दस्तावेज १७ दिसम्बर १९४५ को भेजा था। इन दोनों से पहले उचित माँगें मानने की बात बिड़लाजी ६ दिसम्बर १९४५ को लिख चुके थे। इससे प्रतीत होता है कि चुनाव का नाटक करने से बहुत पहले मुख्य अभिनेता विभाजन की योजना स्वीकार कर चुके थे। २७ दिसम्बर १९४५ को वाइसराय ने भारत-सचिव को अपनी योजना भेजी। इस योजना में उन्होंने बताया कि कांग्रेस और लीग में समझौता नहीं होता तो भारत सरकार क्या करेगी। उन्होंने एबेल की दोनों बातें दोहरायी कि मुसलमानों की बहुसंख्या के इलाकों में आत्मनिर्णय का अधिकार माना जायेगा और बड़ी संख्यावाली गैर-मुस्लिम आबादी को पाकिस्तान में शामिल होने के लिए बाध्य न किया जायेगा। इन सिद्धान्तों को मानने का नतीजा यह होगा कि पंजाब के लगभग दो डिवीज़न और कलकत्ता समेत प्रायः समूचे पश्चिमी बंगाल को भारतीय संघ में शामिल होने की अनुमति देनी होगी। सम्भव है जिन्ना कहें कि वास्तविक मुस्लिम इलाके कौन से हैं, सरकार यह बताये। "मेरी समझ में ऐसी माँग का जवाब देने के लिए विस्तृत निर्धारण (डिटेल्ड डिमार्केशन) के साथ हमें तैयार रहना चाहिए।" (पृष्ठ ७०१)। यह मानकर कि जिन्ना मुस्लिम इलाकों वाला पाकिस्तान स्वीकार करेंगे और उनकी

यह 'वाजिब' मांग कांग्रेसी नेता भी मान जायेंगे, अंग्रेज दिसम्बर १९४५ में विभाजन का ब्योरा तैयार करने लगे थे।

इंग्लैण्ड की सरकार ने वाइसराय की योजना पर विचार किया। उसने एवेल वाली सिद्धान्त की दोनों बातें मान ली। सीमा-निर्धारण के बारे में ब्रिटिश सरकार की भारत-बर्मा समिति की राय थी कि संविधान-सभा बनने से पहले लोगों को यह बताना ठीक न होगा कि हम किस तरह के सीमा-निर्धारण का प्रस्ताव कर रहे हैं। संविधान-सभा में पहले भारत के लोगों को आपस में समझौता करने का मौका मिलना चाहिए। "संविधान-सभा की कार्यवाही शुरू होने से पहले ही हम यह आभास नहीं देना चाहते कि हम पाकिस्तान की सीमाएँ निर्धारित करना चाहते हैं। इससे संविधान-सभा केवल हिन्दुस्तान के लिए संविधान बनानेवाली सभा रह जायेगी।" (पृष्ठ ७८१)। अंग्रेजों की नीति यह थी कि हिन्दू और मुसलमान, अर्थात् कांग्रेस और मुस्लिम लीग, पहले समझौते की कोशिश करें। जब सीमा-निर्धारण की बात आये, तब दोनों ही अंग्रेजों से कहें, आप ही यह काम कर दें, जो सीमाएँ निर्धारित कर देंगे, उन्हें हम मान लेंगे।

### (ङ) समझौते की राह और दंगे

सितम्बर १९४५ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन बम्बई में हुआ। इसके बाद बम्बई शहर में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। स्थानापन्न वाइसराय कोलविल ने इसका विवरण १९ अक्तूबर १९४५ के दस्तावेज में दिया है। दंगे में ३९ आदमी मारे गये, १७७ घायल हुए, १०७२ पकड़े गये। ऊपर से देखने में कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन से दंगों का कोई सम्बन्ध नहीं था। कोलविल ने अपने दस्तावेज में लिखा था, "अपनी पिछली रिपोर्ट में मैं बहुत जल्दी यह कह गया था कि किसी की खोपड़ी टूटे बिना ए. आई. सी. सी. का अधिवेशन समाप्त हो गया। बम्बई में अब फिर शान्ति है यद्यपि परिस्थिति पर बराबर निगाह रखना जरूरी है।" (पृष्ठ ३६१)। यहाँ ए. आई. सी. सी. और दंगों का एक साथ उल्लेख आकस्मिक-सा प्रतीत होगा। किन्तु नवम्बर में वाइसराय वेवल ने जवाहरलाल नेहरू से मुलाकात की। इस मुलाकात में दंगों का जिस तरह हवाला दिया गया, उससे यह निश्चित परिणाम निकलता है कि अंग्रेज दंगों का उपयोग कांग्रेसी नेताओं पर दबाव डालने के लिए कर रहे थे। वाइसराय ने मुलाकात का जो हाल लिखा, उसके अनुसार नेहरू ने मुस्लिम लीग को प्रतिक्रियावादी संगठन बताया, कहा कि उसका नेतृत्व और नीति हिटलरी है, उसके नेता हर किसी को धमकाना चाहते हैं। इस नीति और नेतृत्व के रहते मुस्लिम लीग से कांग्रेस कोई भी समझौता नहीं कर सकती। "उन्होंने [ नेहरू ने] कुछ आश्चर्यजनक-सा दावा किया कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच आम सम्बन्ध इस समय जितने अच्छे हैं, उतने अच्छे वे बहुत दिनों से नहीं थे। दोनों सम्प्रदाय समझ गये हैं कि भीड़ हिंसात्मक काम करती है तो इससे लाभ नहीं होता। मैंने बम्बई के दंगों की चर्चा की। उन्होंने कहा कि ये दंगे बाकी बम्बई में नहीं फैले, इससे उनकी बात सही साबित होती है। मैंने सुझाया कि हताहतों की संख्या में जो ४० आदमी मारे गये और अन्य बहुत से

घायल हुए थे, वह सब साम्प्रदायिक उपद्रव का प्रमाण है। किन्तु उनका कहना था यह सब सिर्फ कुछ बदमाशों का काम है। बाद को जब मैंने तर्क किया कि अगर राजनीतिक समझौता करना है तो मुख्य सम्प्रदायों के बीच कुछ समझौता होना ही चाहिए, तब उन्होंने कहा कि कांग्रेसी नेताओं के प्रति जिन्ना का व्यवहार अभद्र है, इसलिए वे फिर कभी मुस्लिम लीग से बातें करने न पहुँचेंगे किन्तु यदि मुस्लिम लीग उनके पास आये तो वे बातचीत करने को तैयार हो जायेंगे।" (पृष्ठ ४४०)।

हो सकता है कि बम्बई के दंगे अंग्रेजों ने न कराये हों पर वे कांग्रेस पर दबाव डालने के लिए इन दंगों का राजनीतिक उपयोग कर रहे थे, इसमें सन्देह की गुजाइश नहीं है। वाइसराय मानते हैं कि नेहरू के बातचीत करने का ढंग मैत्रीपूर्ण था और वे उन्हें अच्छे भी लगे। "किन्तु मुझे लगता है कि उनका मन कट्टरपन्थी का मन हो गया है; जिसकी राय उनकी राय से न मिले, उसके विचारों के बारे में कुछ सोचने में वह असमर्थ हो गये हैं। मुझे आशंका है कि उनकी यह मनोदशा शान्ति के लिए खतरनाक है और मेरी समझ में वे स्वयं भी यह अनुभव करते हैं कि संघर्ष अब बहुत कुछ अनिवार्य हो गया है।" (पृष्ठ ४४१)। वाइसराय ने जिस संघर्ष की बात कही है, वह भारतीय जनता और अंग्रेजी राज के बीच का संघर्ष है। नेहरूजी की बातचीत मैत्रीपूर्ण है, फिर भी वह कट्टरपन्थी हैं क्योंकि वह बम्बई के दंगों को थोड़े से बदमाशों का काम मानते हैं। वेवल इन दंगों की याद दिलाकर जोर लगाते हैं कि राजनीतिक समझौते के लिए कांग्रेस आगे बढ़कर मुस्लिम लीग से बातचीत करे। एक तरफ दंगे और समझौता, दूसरी तरफ अंग्रेजी राज के विरुद्ध संघर्ष, यह स्थिति १९४५ के अन्त में थी। नेहरूजी ने अपनी ओर से मुस्लिम लीग से वार्ता करना अस्वीकार किया था किन्तु बातचीत का दरवाजा खुला रखा था, यह स्पष्ट है।

नेहरूजी से वाइसराय की भेंट ३ नवम्बर १९४५ को हुई थी। इसके तीन दिन बाद ६ नवम्बर को वाइसराय ने भारत-सचिव को एक दस्तावेज भेजा। इसमें संयुक्त प्रान्त और बिहार की राजनीतिक स्थिति का उल्लेख है और उसी के सन्दर्भ में साम्प्रदायिक दंगों की सम्भावना का भी जिक्र है। "यह सम्भव है कि प्रान्तीय चुनाव होने से पहले ही बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक उपद्रव हो। यह भी हो सकता है कि संयुक्त प्रान्त और बिहार जैसे प्रान्तों में कांग्रेसी नेताओं के चाहने से पहले ही सरकार-विरोधी उपद्रव शुरू हो जायें।" (पृष्ठ ४५२)। दो तरह के उपद्रव हैं, साम्प्रदायिक और सरकार-विरोधी। अंग्रेजों को वास्तविक भय है सरकार-विरोधी उपद्रवों से। ऐसे उपद्रवों का काट हैं साम्प्रदायिक उपद्रव।

अंग्रेज कांग्रेस और लीग की मिली-जुली सरकार बनाने पर इस तरह जोर दे रहे थे मानो हिन्दू-मुस्लिम एकता के सबसे बड़े समर्थक वही थे। जहाँ भी हिन्दू और मुसलमान मिलकर अंग्रेजों का विरोध करते थे, वहाँ वे इस साम्राज्यविरोधी एकता से घबरा उठते थे। कांग्रेस-लीग एकता का वास्तविक उद्देश्य हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच फूट डालना था। मार्च १९४६ में बंगाल के गवर्नर बरोज ने भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर एक दस्तावेज तैयार किया था। उसमें

हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता से पैदा होनेवाले भय बहुत साफ ढंग से व्यक्त हुआ है; इसके साथ ही अंग्रेजों को बराबर कोशिश करनी चाहिए कि हिन्दुओं के विरुद्ध वे मुसलमानों को मिलाये रहें, यह नीति भी स्पष्ट कर दी गयी है। सत्ता-परिवर्तन के लिए अंग्रेज जो बातचीत चलानेवाले है, वह टूट जाती है तो क्या होगा ? वरोज़ कहते हैं कि भारत पर से अंग्रेजों का नियन्त्रण हटाने के लिए हिन्दू कोई भी समाधान स्वीकार कर लेंगे, पाकिस्तान का कोई रूप भी मान लेंगे। इसके साथ ही बातचीत टूट जाये तो मुसलमानों पर कोई 'हिन्दू' समाधान, जैसे कि भारत का एकताबद्ध संघ, लादना और इसके लिए हिन्दुओं के समर्थन का भरोसा करना बहुत बड़ी गलती होगी। "यदि हम गम्भीर रूप से मुसलमानों में शत्रुभाव पैदा कर देते है (इस हद तक कि वे बगावत कर बैठें), तो मुझे पूरा विश्वास है कि इस बगावत को दबाने में हिन्दू सहायता न करेंगे। बहुत हुआ तो कहेंगे, हम अहिंसा-वादी हैं। इससे उल्टी और सबसे खराब हालत यह हो सकती है कि उनमें जो हिंसावादी है (और हो सकता है कि उनमें अधिक संख्या ऐसे ही लोगों की हो), तो वे 'अंग्रेजों को बाहर खदेड़ने के लिए' मुसलमानों का साथ देंगे (जैसा कि आजाद हिन्द फौज के शाहनवाज और मिसेज़ आसफ अली खुलेआम प्रचार कर रहे है)।" (खण्ड ७, पृष्ठ ६७)।

वरोज़ आगे कहते है, अभी तक जब-जब ऐसे उपद्रव हुए, तब-तब हम मुसलमानों की सक्रिय सहायता नहीं तो उनकी तटस्थता पर निर्भर होते आये हैं। एक बार यदि हमारे हाथ से वह निकल गयी तो हिन्दू समझेंगे कि हमला करने का यह सुनहला अवसर है, इनका साथ देनेवाला कोई दोस्त नहीं रह गया। "दूसरी ओर मुसलमान जानते है कि किसी भी तरह के पाकिस्तान के लिए उन्हें सहायता की जरूरत होगी और मुझे विश्वास है कि हिन्दुओं के अड़ियलपन से बातचीत टूट जाती है तो वे हमारा साथ देंगे।" (उप.)।

### (ब) अंग्रेजों और मुसलमानों द्वारा अलगाववादी प्रवृत्ति की आलोचना

भारत के अंग्रेज शासक वर्ग में ऐसे लोग भी थे जो यह साफ-साफ देख रहे थे कि अंग्रेजी राज का आधार बहुत ही संकुचित है। जिस समय वरोज़ ने अपना दस्ता-वेज़ तैयार किया था, उसी समय उत्तर प्रदेश के गवर्नर वाइली ने परिस्थिति का जायजा लेते हुए अपने दस्तावेज़ में कहा था कि पिछले सौ साल में भारत में अंग्रेजी राज का आधार जनता की जन्मजात निष्क्रियता है, भूस्वामी वर्गों और सम्पत्तिशालियों का समर्थन है, मुसलमानों का भय और पिछले दिनों उनकी [illegible] ों का समर्थन बदलती [illegible] राजाओं से समझौता करना जरूरी है। "अखाड़े में अंग्रेज तीसरे दल के रूप में मौजूद है। उनकी [illegible] ो संवैधानिक समस्या के [illegible] भारतीय राजनीति की यह बात सभी लोग जानते है।" (उप., पृष्ठ ६९)। इसलिए सबसे जरूरी यह है कि इंग्लैण्ड की सरकार पाकिस्तान के बारे में अपनी राय खुलकर जाहिर करे। "मेरी

समक्ष में यदि ब्रिटिश सरकार देश के विभाजन की मुस्लिम लीगी माँग का समर्थन करती है तो यह राजनीतिक ईमानदारी को छोड़ देना होगा।" (उप.)। अमरीकी प्रेसिडेण्ट विल्सन का हवाला देते हुए गवर्नर ने लिखा कि आत्मनिर्णय का अधिकार कोई ऐसा अधिकार नहीं है जिसे किसी भी शर्त के बिना लागू किया जाये। "भारत भौगोलिक, सामरिक और आर्थिक दृष्टि से एक ही देश है। दूसरी ओर आधुनिक संसार की यह प्रवृत्ति भी है कि छोटे वालकन राज्यों के समान विघटित होने के बदले और भी बड़ी-बड़ी राजनीतिक इकाइयाँ निर्मित हों। राजनीतिक मानचित्र में अब छोटे राज्यों के लिए जगह नहीं है। यन्त्रीकरण आदि से ऐसा हो रहा है और शायद यह अच्छा ही है। इसलिए यदि ब्रिटेन ने सिद्धान्ततः भारत के विभाजन में हाथ बँटाया तो यह अव्वल दर्जे का प्रतिगामी कदम होगा।" (उप., पृष्ठ ६९-७०)। लेकिन वाट्ली ने यह भी कहा कि विभाजन के आधार पर भारतवासी आपस में समझौता कर लें तो ब्रिटिश सरकार उसे मंजूर कर लेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले अंग्रेज मुस्लिम लीग को मुसलमानों के एकमात्र प्रतिनिधि-संगठन के रूप में प्रतिष्ठित करेंगे, फिर शान्तिपूर्ण ढंग से सत्ता देने के नाम पर कांग्रेस पर दबाव डालेंगे कि वह मुस्लिम लीग से समझौता करे और देश का विभाजन स्वीकार करे। जो मुसलमान मुस्लिम लीग और पाकिस्तान का समर्थन न करते थे, उनसे अंग्रेजों के व्यवहार का एक नमूना आगे है।

अप्रैल १९४६ में राष्ट्रवादी मुसलमानों के कुछ प्रतिनिधि कैबिनेट मिशन से मिलने गये। मिशन की ओर से क्रिप्स ने उनसे पूछा कि वे किसके प्रतिनिधि हैं। मौलाना हुसैन अहमद मदनी ने कहा कि वह आल इण्डिया मुस्लिम पार्लियामेण्ट्री बोर्ड के प्रेसिडेण्ट हैं। इसमें जो संगठन शामिल हैं, उनकी सदस्य संख्या कई लाख है। जहीरुद्दीन ने कहा कि वे आल इण्डिया मोमिन कान्फ्रेंस के प्रेसिडेण्ट हैं और मोमिनों की संख्या चार करोड़ है जो कुल मुस्लिम आबादी का लगभग आधा हिस्सा है। उनके संगठन में चार लाख बाकायदा सदस्य हैं। हिसामुद्दीन आल इण्डिया अहरार सभा के प्रेसिडेण्ट थे; उनके संगठन की सदस्यता एक लाख से ऊपर थी। अब्दुल मजीद ख्वाजा आल इण्डिया मुस्लिम मजलिस के प्रेसिडेण्ट थे; इसके सदस्य राष्ट्रवादी मुसलमान थे; उनकी संख्या का उन्हें पता न था। शिया मुसलमानों के संगठन आल पार्टीज शिया कान्फ्रेंस के प्रेसिडेण्ट हुसेनी भाई लालजी थे। ब्रिटिश भारत में ढाई करोड़ और देशी रियासतों में पचास लाख शिया थे।

हुसेनी भाई का कहना था कि पिछले अक्तूबर में आल पार्टी शिया कान्फ्रेंस हुई; उसने पाकिस्तान की मुस्लिम लीगी माँग का अनुमोदन नहीं किया। दो कौमों का सिद्धान्त अव्यावहारिक है। छोटे राज्यों की रक्षा-व्यवस्था में कठिनाई होगी, उनकी अपनी कोई प्राकृतिक सीमाएँ न होंगी। वह प्रान्तों को अधिक से अधिक स्वायत्तता देने के पक्ष में थे। मोमिन नेता जहीरुद्दीन ने कहा कि असली लड़ाई तो आर्थिक है, राजनीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। लीग कुछ वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है और धर्म का बेजा उपयोग करती है। उच्चवर्गों ने मोमिन समाज का शोषण किया है। अलेक्जाण्डर ने पूछा कि मुस्लिम लीग को

आम जनता में इतना कम समर्थन प्राप्त है तो चुनाव में उसे उतनी सफलता कैसे मिली। ज़हीरुद्दीन ने कहा कि अधिकांश मोमिनों को वोट देने का अधिकार नहीं है; वे बहुत ही गरीब और पीड़ित हैं। लोग धार्मिक वृत्ति के हैं, उनकी धार्मिक भावनाओं को उभारा गया है। मुस्लिम अवाम पाकिस्तान के खिलाफ है; देश का बँटवारा होने पर उनकी हालत और भी खराब हो जायेगी।

क्रिप्स ने कहा कि मिशन का काम यह है कि लोगों में समझौता कराये। सत्ता देने के लिए जो सबसे कारगर तरीका है, उसका पता लगाये। मौलाना मदनी ने कहा कि ब्रिटिश शक्ति का यहाँ से हटना जरूरी है। प्रान्तों को अलगाव का अधिकार होना चाहिए लेकिन सात साल तक इसे लागू न करना चाहिए। उसके बाद जनमत संग्रह से अलगाव का फैसला हो तो उसे लागू किया जाये। हिसामुद्दीन ने कहा कि यह बालिग मताधिकार के पक्ष में है। मुस्लिम लीग ने अवैध उपायों से सीटें जीती हैं। आर्थिक दृष्टि से पाकिस्तान अव्यावहारिक है। अब्दुल मजीद ख्वाजा ने कहा कि वह क्रिप्स के इस फार्मूले का समर्थन करते हैं कि संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों से चुनाव होगा और एक ही विधानसभा चुनी जायेगी। क्रिप्स ने कहा कि यह सब अन्तरिम सरकार तय करेगी। ज़हीरुद्दीन इस बात से सहमत थे कि केन्द्रीय सरकार में हिन्दुओं और मुसलमानों का अनुपात बराबर होना चाहिए।

पाकिस्तान के विरोध में यहाँ जो बातें कही गयी हैं, ये बातें कभी-कभी अंग्रेज भी कहते थे। धार्मिक भावों को उभारना, छोटे राज्यों की सुरक्षा-व्यवस्था का कमजोर होना आदि बातें अनेक अंग्रेज मानते थे। मुस्लिम लीग नहीं मानती तो क्या करें, इसका जवाब था बालिग मताधिकार से चुनाव कराइये। अंग्रेज यह जनतान्त्रिक माँग पूरी करने को तैयार न थे। साथ ही मुस्लिम लीग का वर्ग-आधार संकुचित और प्रतिक्रियावादी है, यह बात भी वे जानते थे। संयुक्त प्रान्त में वहाँ के गवर्नर के अनुसार मुस्लिम लीग की स्थिति यह थी, "यहाँ मुस्लिम लीग का नेतृत्व ताल्लुकदारों और ज़मींदारों के हाथ में है। वे कुछ काम करने चलेंगे तो बहुत अनमने ढंग से, होशियारी से। कठिनाई यह है कि नेतृत्व प्रभावशाली नहीं है। अधिकांश मुस्लिम जनता शहरों में रहती है और ज़मींदार गाँवों में जमे हुए हैं जहाँ उनका प्रभाव है। यह बात दरकिनार कि वह विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग है और हिंसा से बिदकता है। यदि मुसलमानों की सीधी कार्रवाई ने हिंसात्मक रूप लिया, मैं आशा कर रहा हूँ कि ऐसा न होगा, तो मेरा अनुमान है कि मुस्लिम नेतृत्व बहुत जल्दी दूसरों के हाथ में पहुँच जायेगा और ये मौजूदा ज़मींदारी नेतृत्व आँखों से ओझल हो जायेगा।" (खण्ड आठ, पृष्ठ २४७)। इसी तरह पश्चिमोत्तर प्रदेश में लीग का प्रभाव वहीं था जहाँ बड़े-बड़े ज़मींदार थे। बहुसंख्यक मुसलमानों के उस प्रदेश में लीग के हारने का यही कारण था जिसे वहाँ के गवर्नर ने स्वीकार किया था।

ब्रिटिश कैबिनेट की भारत-बर्मा समिति की बैठक १४ जनवरी १९४६ को हुई थी। उसमें भारत-सचिव के अलावा ब्रिटिश प्रधानमन्त्री भी थे। इस समिति के सामने यह स्पष्ट था कि बहुसंख्यक मुसलमानोंवाले इलाकों में आत्मनिर्णय का

सिद्धान्त लागू किया गया तो एक की जगह दो पाकिस्तान बनेंगे। आर्थिक दृष्टि से इसके परिणाम क्या होंगे, ब्रिटिश सरकार बहुत अच्छी तरह जानती थी। "आर्थिक दृष्टि से दोनों पाकिस्तान घाटेवाले क्षेत्र होंगे और इस कारण कठिनाई में पड़ सकते हैं। उनके और हिन्दुस्तान के बीच जो सरहदें बनेंगी, वे सम्भवत: दो ऐसे क्षेत्रों को अलग करेंगी जो आर्थिक रूप से परस्पर निर्भर हैं। उदाहरण के लिए वे एक ही सिंचाई-व्यवस्था पर निर्भर हो सकते है। चुंगी, डाक, तार, रेल तथा अन्य सेवाओं मे बँटवारा आर्थिक रूप से हानिकारक होगा।" (खण्ड ६, पृष्ठ ७८८)।

आर्थिक कठिनाइयों के अलावा सुरक्षा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी थीं। इनके बारे में समिति की राय यह थी : "सुरक्षा के विचार से हिन्दुस्तान और [दोनों] पाकिस्तानों के बीच स्पष्ट विभाजन नहीं है। जिन सीमान्त क्षेत्रों से हमले की सम्भावना है, वे सभी पाकिस्तान में होंगे। उनकी उचित सुरक्षा तभी हो सकती है जब सीमा पार भीतर तक (इन डेप्थ) इस सुरक्षा की व्यवस्था हो। और यह व्यवस्था कारगर तभी हो सकती है जब उसमें हिन्दुस्तान भी सिमट आये। इसलिए पाकिस्तानी क्षेत्रों का हित इसमें है कि हिन्दुस्तान के साथ मिलजुलकर काम करें। ठीक ऐसे ही हिन्दुस्तान को सरहदों की उचित सुरक्षा से काफी दिलचस्पी होगी। अहिंसात्मक आन्दोलन की बड़ी शक्ति के बावजूद उसे इस बात से सन्तोष न होगा कि सुरक्षा का काम पूरी तरह मुसलमानों के हाथ में रहे जो भविष्य में किसी समय अपनी सैनिक शक्ति का उपयोग उत्तरी सीमान्तों की रक्षा के बदले स्वयं हिन्दुस्तान के ऊपर हमला करने के लिए कर सकते है।" (उप., पृष्ठ ७८८)। अंग्रेज़ों के सामने यह स्पष्ट था कि देश का बँटवारा होने पर दोनों राज्य सैनिक दृष्टि से कमज़ोर होंगे। पाकिस्तान अपनी सुरक्षा के लिए भीतर दूर तक व्यवस्था नहीं कर सकता। दूसरी ओर भारत का उत्तर-पश्चिमी सीमान्त सदा असुरक्षित रहेगा क्योंकि पाकिस्तान सैनिक दृष्टि से कमज़ोर था, मजबूत होगा तो दूसरों की सहायता से, और भारत की सुरक्षा को मज़बूत करने के बदले वह उस पर आक्रमण भी कर सकता था। कांग्रेस और लीग में जैसे सम्बन्ध थे, और पाकिस्तान जिन परिस्थितियों मे बननेवाला था, उनसे इस तरह के आक्रमण की सम्भावना काफी बढ़ जाती थी। किन्तु अंग्रेज दृढतापूर्वक अपनी नीति पर चल रहे थे और इस देश को ऐसी स्थिति की ओर ठेल रहे थे जिसमें आर्थिक और सैनिक, दोनों तरह से यहाँ की जनता को भारी हानि सहनी पड़े। इस हानि का प्रभाव मुसलमानों पर ही सबसे ज्यादा पड़नेवाला था।

### (छ) व्यवसायी दृष्टिकोण और विभाजन

कांग्रेस का पूंजीवादी नेतृत्व ढुलमुल और कमज़ोर था। वह साम्राज्यविरोधी था लेकिन क्रान्तिकारी ढंग से नहीं। उसकी निगाह समझौते पर लगी थी। वह अंग्रेज़ों पर जन-आन्दोलन का दबाव डालता था। इसके जवाब में अंग्रेज जन-आन्दोलन पर साम्प्रदायिक तनाव और हिंसा का दबाव डालते थे। पहले महायुद्ध के बाद, फिर दूसरे महायुद्ध के बाद से अगस्त १६४७ तक यदि हम भारत में जनआन्दोलन

और क्रान्तिकारी उभार का अध्ययन करें तो देखेंगे कि जिस दौर मे यह आन्दोलन, यह उभार शक्तिशाली होता है, उस दौर में साम्प्रदायिक हिंसा और तनाव मे भी बढ़ती होती है। क्रान्तिकारी आन्दोलन का मुकाबला करने के लिए साम्राज्यवाद के पास यह साम्प्रदायिकतावाला मुख्य अस्त्र काफी कारगर साबित हुआ। इस अस्त्र के द्वारा अंग्रेज़ो ने कांग्रेसी नेतृत्व को ही नही झुकाया, जनआन्दोलन मे जो गैरकांग्रेसी नेतृत्व उभर रहा था, उसे भी कमजोर बनाने के लिए उन्होने इस अस्त्र का प्रयोग किया। कांग्रेस और अंग्रेज़ी राज मे बुनियादी विरोध था; मुस्लिम लीग और अंग्रेज़ी राज मे बुनियादी मेल था। इस मेल के सहारे अंग्रेज़ो ने कांग्रेस को झुकाया।

६ दिसम्बर १९४५ को घनश्यामदास बिड़ला ने हेण्डरसन को लिखा कि जिन्ना ऐसा पाकिस्तान चाहते हैं जिसमे बंगाल, पंजाब और असम हो। असम मे मुसलमान अल्पसंख्यक है। बंगाल और पंजाब मे मुसलमान बहुसंख्यक है लेकिन सभी ज़िलो मे नही है। "हिन्दुओं को चाहिए कि [मुसलमानो के] आत्मनिर्णय की बात मान लें। किन्तु जिन इलाको मे ये [हिन्दू] बहुसंख्यक हैं, उनमे वे भी आत्मनिर्णय की माँग करेंगे। उन्हें इससे वंचित नही किया जा सकता। और आत्मनिर्णय की व्याख्या भी करनी होगी।" (खण्ड ६, पृष्ठ ६१४)। बिड़लाजी ने जो सुझाव दिये थे, उनसे आत्मनिर्णय के अधिकार की आवश्यक व्याख्या हो जाती है।

युद्धकाल मे लड़ाई का सामान तैयार करने के लिए कई कारखाने चालू किये गये। अगस्त १९४५ में वेवल के सामने समस्या थी कि युद्ध समाप्त होने पर ये कारखाने बन्द हो जायेंगे और मजदूरों की बहुत बड़ी संख्या बेकार हो जायेगी। कुछ निजी उद्योग भी लड़ाई के लिए काम कर रहे थे। इनमे कपड़ा मिले भी थी। वेवल का विचार था कि इनमें काम करनेवाले मजदूर भी बेकार हो जायेंगे लेकिन सूती मिलें नागरिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए काम की पाली बढ़ा सकती हैं। (उप., पृष्ठ १८)। यहाँ ध्यान देने की एक बात तो यह है कि अंग्रेज मजदूरों की ओर से आशंकित थे। कारखाने बन्द होगे, मजदूरो मे बेकारी बढ़ेगी, मजदूर आन्दोलन तेज होगा। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि निजी उद्योग-धन्धे भी अंग्रेज़ों से सहयोग कर रहे थे, लड़ाई के लिए सामान तैयार कर रहे थे, और इनमें कपड़ा मिलें भी थी। वेवल ने आगे यह भी लिखा है कि कच्चा माल और अध-कच्चा माल सप्लाई करने के लिए ठेके दिये गये थे। ऐसे ठेके समाप्त करने में कठिनाई हो सकती थी। मतलब यह कि कच्चा माल सप्लाई करनेवाले व्यापारियों के अलावा यहाँ ऐसे व्यवसायी भी थे जो अधकच्चा माल सप्लाई करते थे। अध-कच्चे माल का अर्थ यह है कि वे कच्चे माल को पूरी तरह तैयार माल न बनाते थे, उसे आधा तैयार करते थे। बाकी काम अंग्रेज अपने कारखानों मे करते थे। इस तरह देश के व्यवसायियों से अनेक स्तरों पर अंग्रेज़ों ने आर्थिक सम्बन्ध कायम कर रखे थे। स्वयं अंग्रेज व्यवसायी सस्ती मजदूरी और कच्चे मालकी बहुतायत से लाभ उठाकर यहाँ पर अपना धन्धा चला रहे थे। भारत स्वाधीन होगा तो भारत के इन अंग्रेज़ व्यवसायियो का क्या होगा, यह भी एक समस्या थी।

जिन क्षेत्रों से पाकिस्तान बननेवाला था, उनमें शेष भारत की अपेक्षा सामन्तों का प्रभाव अधिक था। यह सम्भव है कि उनमें औद्योगिक विकास हुआ होता तो मुसलमान उद्योगपति अपने वर्ग-हित में विभाजन का विरोध करते। मिर्ज़ा अबुल-हसन इस्पहानी एक प्रसिद्ध व्यवसायी घराने के थे और वह अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की कार्यकारिणी के सदस्य थे। २ जनवरी १९४६ को उन्होंने बंगाल के गवर्नर केसी से मुलाकात की। इसका हाल केसी ने अपनी डायरी में लिखा। "मैंने इस्पहानी से पूछा, क्या मुस्लिम लीग अभी पाकिस्तान पर अड़ी हुई है, पाकिस्तान के अलावा और कुछ न लेगी? उन्होंने कहा कि जहाँ तक उनका [इस्पहानी का] सम्बन्ध है, वह पाकिस्तान पर अड़े हुए नहीं हैं। उनकी समझ में समस्या आर्थिक है; मुसलमानों के लिए जरूरी है कि प्रशासन में और अलग से भी उन्हें आगे बढ़ने का मौका मिले। मुझे यह निश्चित आभास हुआ कि पाकिस्तान के बदले आरक्षण के पर्याप्त अधिकार (ऐडिक्वेट सेफ़गार्ड्स) मुसलमानों को स्वीकार होंगे।" (उप., पृष्ठ ७३२)। इस्पहानी को कांग्रेस से कोई प्रेम न था। उनकी समझ में कांग्रेसी नेता बनिये हैं; वे बस लेना जानते हैं, देना नहीं जानते। कांग्रेस का दबाव सहने के बदले मुसलमान लड़ना पसन्द करेंगे। अभी लड़ेंगे तो मैदान में डटे रहेंगे; १०-१५ साल में हिन्दुओं ने युद्ध-सम्बन्धी उद्योग विकसित कर लिया, तब डटे रहना सम्भव न होगा। "वह (इस्पहानी) बहुत अच्छी तरह महसूस करते थे कि अब छोटे राज्यों का ज़माना नहीं रहा। उन्होंने विश्वास दिलाया कि मुसलमान अंग्रेज़ों से सहयोग करना चाहते हैं। उन्होंने कहा कि मुसलमान अपने लिए पर्याप्त अधिकार कांग्रेस से नहीं पा सकते लेकिन अंग्रेज़ों से पा सकते हैं। उनकी राय थी कि भारत पर अन्तरिम सरकार थोप दी जाये, और मुसलमानों के लिए पर्याप्त आरक्षण हो, तो वह सरकार स्वीकार कर ली जायेगी [अर्थात् मुस्लिम लीग उसे स्वीकार कर लेगी]। जहाँ तक भविष्य का सम्बन्ध है, उनका कहना था कि मुस्लिम लीग ब्रिटेन के साथ उचित समझौता करना चाहती है। जिसमें दोनों का भला हो, भविष्य के लिए ऐसी कोई 'वास्तविक साझेदारी' होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि मुसलमानों का आर्थिक उद्धार हिन्दुओं के हाथों हो, यह असम्भव है।" (उप.)।

इस्पहानी का दृष्टिकोण उस व्यवसायी का दृष्टिकोण है जो अंग्रेज़ों के साथ मिलकर धन्धा करता है और भविष्य में वास्तविक साझेदार बनकर उनके साथ धन्धा करते रहना चाहता है। उसके आगे हिन्दुओं और मुसलमानों का सम्मिलित पूँजीपति वर्ग नहीं है, वह केवल हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदाय देखता है। पर वह पाकिस्तान का कट्टर समर्थक नहीं है। वह ज़िद नहीं करता कि पाकिस्तान से कम कुछ न लेंगे। वह जानता है कि छोटे राज्यों का ज़माना नहीं है। अंग्रेज यहाँ से जाने के पहले मुसलमानों के लिए आरक्षण की व्यवस्था कर जायें तो वह सन्तुष्ट हो जायेगा। वह मुसलमानों के आर्थिक उद्धार की बात करता है। यह आर्थिक उद्धार तभी सम्भव होगा जब मुसलमान जनता राजाओं और ज़मींदारों के प्रभुत्व से मुक्त होगी। आर्थिक उद्धार के लिए पूँजीपतियों के प्रभुत्व से मुक्त होना भी ज़रूरी है, यह बात उसके दिमाग में नहीं है। मुसलमानों को सबसे पहले अंग्रेज़ों की गुलामी

से छुटकारा पाना है, यह बात वह जानता है पर वह इन्ही अंग्रेजो के साथ साझेदारी में धन्धा करना चाहता है। उसके लिए मुसलमानों के आर्थिक उद्धार का मतलब है, बिड़ला जैसे पूंजीपतियों के मुकाबले मुसलमान व्यवसाइयों का प्रगति करना। इस प्रगति के लिए पाकिस्तान का बनना, एक बड़े बाजार की जगह छोटे बाजार में बन्द हो जाना हानिकर था। बहुसंख्यक मुसलमानों वाले प्रदेशों को औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ रखना अंग्रेजों की सुनिर्धारित नीति का अंग था।

## ६. पूर्ण स्वाधीनता और साम्राज्यवादी हितों की सुरक्षा

### (क) पूर्ण स्वाधीनता और डोमीनियन स्टेटस

१४ जनवरी १९४६ को भारत की ब्रिटिश सरकार ने 'सुदूर पूर्व में ब्रिटिश विदेश नीति' शीर्षक एक दस्तावेज तैयार कराया। यह दस्तावेज ब्रिटेन की सरकार के विचारार्थ भेजा गया। इसमें बताया गया कि सुदूर पूर्व में भारत की भूमिका यह होगी कि या तो वह स्वयं हिन्दमहासागर पर नियन्त्रण रखे या किसी गठबन्धन में शामिल हो जिससे कि ऐसा नियन्त्रण रखना सम्भव हो। हिन्दमहासागर पर नियन्त्रण रखने के लिए भारत के पास इतनी जलसेना और वायुसेना होनी चाहिए जितनी किसी हमलावर की हो सकती हो। भारत के लिए इतनी सेना रखना सम्भव नहीं है। तब उसे किसी ऐसे गठबन्धन या अन्तरराष्ट्रीय सुरक्षा-व्यवस्था से जोड़ना होगा कि उससे सम्बद्ध जलसेना और वायुसेना भारत की सुरक्षा-व्यवस्था की कमजोरियाँ दूर कर दें। रणनीति का यह दायित्व अभी ब्रिटेन का है। अपनी नीति की रूपरेखा बनाते समय भारत की ब्रिटिश सरकार यह मानकर चली है कि "अपनी सुरक्षा के लिए भारत युनाइटेड किंगडम पर निर्भर रहेगा।" (खण्ड ६; पृष्ठ ७८०)।

इसके साथ ही भारत की ब्रिटिश सरकार मानती थी कि ब्रिटेन से भारत का सम्बन्ध बदलेगा। बदलने के बारे में उसका विचार यह था कि वह ब्रिटिश कामनवेल्थ के भीतर स्वायत्तशासी राज्य बनेगा। इस राजनीतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप भारत की ब्रिटिश सरकार ने विदेशनीति के लिए जो मार्गदर्शक सिद्धान्त निश्चित किये थे, उनमें पहला और मुख्य यह था: "भारत अपनी सुरक्षा के लिए युनाइटेड किंगडम पर निर्भर बना रहेगा और विदेशनीति की सभी प्रमुख समस्याओं पर युनाइटेड किंगडम के दिशा-निर्देश का अनुसरण करेगा।" (उप., पृष्ठ ७८१)। ब्रिटिश कैबिनेट के लिए दस्तावेज तैयार करनेवालों ने इस पर यह टिप्पणी की: "रणनीति की आधारभूमि सही जान पड़ती है। अपनी सुरक्षासेना में बढ़ोतरी करने के लिए भारत या तो किसी विदेशी स्रोत की ओर देखेगा या फिर असुरक्षा की स्थिति में हो जायेगा। निकट भविष्य में भारत के संरक्षक (गार्जियन आफ इंडिया) का स्थान युनाइटेड किंगडम के अलावा कोई अन्य शक्ति या शक्तियाँ ले सकेंगी या लेना चाहेंगी, इसकी सम्भावना प्रतीत नहीं होती, भले ही हम यह कल्पना कर लें कि युनाइटेड किंगडम अपना वह स्थान छोड़ने को तैयार है। इसलिए सुरक्षा की बात निर्णायक हो, तो अगले कुछ वर्षों तक भारत को युनाइटेड किंगडम के साथ किसी-न-किसी तरह सम्बद्ध रहना होगा।" (उप.)। दस्तावेज में आगे

कहा गया है कि भारत ब्रिटिश कामनवेल्थ में रहेगा तो उसकी स्वाधीनता की आकांक्षा और सुरक्षा की आवश्यकता, दोनों की पूर्ति हो जायेगी। भारत की ब्रिटिश सरकार यह मानकर चलती है कि बुद्धिमानी के इसी मार्ग का अनुसरण किया जायेगा। किन्तु यह सम्भव है कि भारत को स्वेच्छा से काम करने दिया जाये तो वह वास्तविकता कीअनदेखी करके, सुरक्षा को खतरे में डालकर, स्वाधीन बनना चाहे। जापान का खतरा भारत को सुरक्षा की भ्रान्ति से शायद जगा नहीं सका। शायद वहाँ के राजनीतिज्ञ समझते है कि ब्रिटिश सहायता हटा ली जायेगी, तब भी ब्रिटेन भारत की रक्षा करेगा मानो 'पैक्स ब्रिटानिका' प्रकृति का नियम हो (अर्थात् ब्रिटेन अपने प्रभावक्षेत्र का रक्षक बना रहेगा)। भारत चाहे कामनवेल्थ के भीतर रहे चाहे बाहर, उसकी राजनीतिक स्थिति निर्धारित करेगी कि विदेशी मामलों मे उसकी भूमिका क्या होती है। "भारतीय जनमत इसे स्वीकार करे चाहे न करे, सुरक्षा के लिए बाहरी सहायता पर भारत की निर्भरता ऐसा तथ्य है, जो विदेशनीति की विशद समस्याओं पर उसके निर्णय की स्वाधीनता को सीमित करता है। भारत की सुरक्षा-स्थिति जितना ही कमज़ोर होगी, उतना ही संसार में उसकी आवाज के सुने जाने की सम्भावना कम होगी। ब्रिटिश कामनवेल्थ के स्वायत्त सदस्य के रूप मे भारत को अपनी नीति विकसित करने का सर्वाधिक अवसर मिलेगा और तब वह जिन मामलों से दिलचस्पी रखता है, उन पर अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालने में वह समर्थ होगा।" (उप., पृष्ठ ७८२)।

अंग्रेज भारतीय राजनीतिज्ञों को यह समझाना चाहते थे कि उन्हें देश की सुरक्षा के लिए अंग्रेजों पर निर्भर रहना होगा। वे कामनवेल्थ में रहे चाहे बाहर, यदि सुरक्षा के लिए अंग्रेजो पर निर्भर रहेंगे, तो उनकी विदेशनीति भी वैसी होगी जैसी ब्रिटेन चाहेगा। यदि एक राज्य की जगह दो राज्य बनते हैं तो वे और भी कमज़ोर होंगे। कोई विदेशी शक्ति जब हमला करेगी, तब की तब देखी जायेगी, पहले तो ये आपस मे लड़ेंगे और दोनो ही अपनी सुरक्षा के लिए ब्रिटेन से सहायता चाहेंगे।

दस्तावेज के अन्त मे कहा गया है कि भारत की राजनीतिक स्थिति मे चाहे जो तब्दीली हो, उसकी भौगोलिक स्थिति तो बदल नहीं सकती। इसलिए सम्भावना यह है कि भारत की ब्रिटिश सरकार ने विदेशनीति के जो मार्गदर्शक सिद्धान्त स्थिर किये हैं, अगले कई साल तक उन्हीं का अनुसरण किया जायेगा। सुदूर पूर्व मे ब्रिटेन, अमरीका, चीन और रूस की जो नीति होगी, उससे भारत को अवश्य दिलचस्पी होगी किन्तु उसका ध्यान मुख्यतः अपने नज़दीकी पड़ोसियों की ओर होगा। उसका हित इस बात में होगा कि ये पड़ोसी किसी ऐसी शक्ति के हाथ मे न आ जायें जो शत्रु हो या आगे जिसके शत्रु बन जाने की सम्भावना हो।

### (ख) सुरक्षा-व्यवस्था और विदेशनीति

भारत जब स्वाधीन होगा, तब ब्रिटेन की सरकार से सन्धि करेगा। भारत-सचिव ने ब्रिटेन की कैबिनेट के लिए एक दस्तावेज तैयार कराया जिसमें सन्धि के मसौदे

की मुख्य बातों का समावेश था। विदेशनीति के बारे मे बताया गया कि दोनों देशों मे सदा शान्ति और मैत्री का सम्बन्ध रहेगा। विदेशनीति की जिन बातों से दोनों के हितों का सम्बन्ध हो, उनके बारे मे दोनो देश खुलकर परामर्श करेंगे। अन्य देशों मे वे ऐसा रुख न अपनायेंगे जिससे उनकी मैत्री पर आँच आये और दोनो में किसी के लिए कठिनाई पैदा हो। दोनो के हाई-कमिश्नर एक-दूसरे की राजधानी मे रहेंगे। "कूटनीति-सम्बन्धी कार्यवाही अथवा वार्ता के सिलसिले मे ब्रिटिश हाईकमिश्नर भारत सरकार को हरसम्भव सहायता देगा। भारत के विदेश विभाग और ब्रिटिश हाईकमिश्नर के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहेंगे।" (उप.; १०५१)। भारत की विदेशनीति निर्धारित करने मे ब्रिटिश हाईकमिश्नर की भूमिका निर्णायक होगी, यह आकाक्षा प्रस्तावित सन्धि की इस शर्त द्वारा व्यक्त हुई है, "भारत सरकार विदेशी शक्तियों से कोई ऐसी राजनीतिक सन्धि न करेगी जो इस मौजूदा सन्धि की शर्तों के विपरीत हो; ब्रिटिश हाईकमिश्नर के माध्यम से बादशाह सलामत की सरकार से सलाह किये बिना भारत सरकार किसी राजनीतिक समझौते के लिए बातचीत न चलायेगी।" (उप.)। सुरक्षा के बारे मे कहा गया है कि बादशाह सलामत की सरकार किसी बडी शक्ति के हमला करने पर भारत की सुरक्षा का अपना दायित्व निबाहती रहेगी। दोनो देश किसी अन्य शक्ति से युद्ध मे संलग्न होने पर एक-दूसरे की सहायता करेंगे। भारत सरकार ब्रिटेन की सहायता किस प्रकार करेगी, वह भी स्पष्ट कर दिया गया है: "युद्ध अथवा आपातकाल की स्थिति मे भारत सरकार की सहायता इस रूप मे होगी कि वह भारतीय धरती पर, युनाइटेड किंगडम के लिए शक्तिभर, हर सुविधा और सहायता प्रदान करेगी; इसमे बन्दरगाहों, हवाई अड्डों और संचार-साधनों का उपयोग शामिल है।" (उप.; पृष्ठ १०१२)। अंग्रेजों के मनसूबे क्या थे, वे किस तरह की स्वाधीनता देना चाहते थे, यह सन्धि के उक्त मसौदे से समझ मे आ जाता है।

भारतीय राजनीतिज्ञों से बातचीत करने के लिए जब ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य भारत आनेवाले थे, तब उनके लिए भारत-सचिव ने निर्देश-पत्र तैयार किया था। उसमें कहा गया था कि मन्त्रिमण्डल के सदस्य स्वाधीनता-सम्बन्धी किसी भी संवैधानिक बन्दोबस्त की सिफारिश कर सकते हैं कि पार्लियामेण्ट उसे स्वीकार करे बशर्ते कि "भारत और हिन्दमहासागर क्षेत्र की सुरक्षा के लिए उसमे सन्तोषजनक प्रावधान हो।" (उप.; पृष्ठ ११२६)। भारत को स्वाधीनता देने के लिए जो शर्तें रखी जाने को थीं, उनमें यह शर्त सबसे महत्वपूर्ण थी। मेजर जनरल लेस्ली चेजमोर होलिस ब्रिटेन की वार-कैबिनेट (ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की युद्ध-समिति) के वरिष्ठ सहायक सचिव थे। उन्होंने भारत और बर्मा से सम्बन्धित स्थाई उपसचिव डेविड टेलर मोन्टीथ के नाम १३ मार्च १९४६ को एक दस्तावेज भेजा था जिसमे जल-थल-वायु-सेनाध्यक्षों के विचार दिये गये थे। इस दस्तावेज मे भारत के सैनिक महत्व के बारे मे कहा गया है कि भारत चालीस करोड़ की आबादीवाला देश है और यह आबादी अब भी बढ़ रही है। अधिकांश लोग जुझारू वंश के नही हैं, फिर भी "साम्राज्य की सैन्यशक्ति मे भारत का

योगदान महत्वपूर्ण हो सकता है। पिछले युद्ध में भारत ने बीस लाख आदमी दिये थे। स्पष्ट है कि भारत जैसे उन स्रोतों पर हमें और भी अधिक निर्भर होना पड़ेगा जिनसे सैनिक बल (मैनपावर) प्राप्त हो सके।" (उप.; पृष्ठ ११६८) यह तो हुई आबादी की बात। भौगोलिक दृष्टि से भारत का महत्व यह है "अरब सागर और फारस की खाड़ी पर कारगर नियन्त्रण रखने के लिए भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर बन्दरगाह और हवाई अड्डे अत्यन्त आवश्यक है।" (उप.) उल्लेखनीय है कि अभी सोवियत फौजें अफगानिस्तान में न थी पर अंग्रेज़ फ़ारस की खाडी और अरब सागर पर कारगर नियन्त्रण बनाये रखने की बात सोच रहे थे। दस्तावेज़ मे आगे कहा गया है कि भारत से बाहर हमारे पास ऐसे अड्डे है जहाँ से बगाल की खाडी और हिन्द महासागर पर नियन्त्रण रखा जा सकता है किन्तु समुद्र तटवर्ती हवाई बेड़े का उपयोग भली प्रकार तब होगा जब भारत के अन्दर हवाई अड्डे काम मे लाये जायेंगे। "फारस की खाड़ी या दक्षिण पूर्वी एशिया (बर्मा, थाईदेश, फ्रेन्च इडोचाइना [अर्थात् वियतनाम, कम्पूचिया और लाओस] और मलाया) मे कार्यशील ब्रिटिश सेनाओं के लिए भारत स्वाभाविक सहायक आधार है। इसके अलावा वह सुदूर पूर्व में हमारी वायु सचार-व्यवस्था की महत्वपूर्ण कड़ी है। इसके अतिरिक्त यूराल पर्वत और पश्चिमी साइबेरिया के औद्योगिक क्षेत्रो के सबसे नजदीक हमारे पास पश्चिमोत्तर भारत के हवाई अड्डे है।" (उप.)। अंग्रेजों की दूरदर्शिता का जवाब नही। उन्हें ऐसे हवाई अड्डे चाहिए जहां से यूराल और साइबेरिया के औद्योगिक इलाकों पर आसानी से हमला किया जा सके। ऐसे हवाई अड्डे पश्चिमोत्तर भारत मे हैं। यदि संयुक्त भारत मे ये अड्डे उन्हे सुलभ होते हैं तो संयुक्त भारत ठीक है। यदि नही होते तो विभाजित भारत ठीक है बशर्ते कि विभाजन के बाद ये अड्डे सुलभ होते रहें। इधर दक्षिण पूर्वी एशिया मे फ़ारस की खाड़ी के अलावा बर्मा, थाईदेश, वियतनाम और मलाया तक ब्रिटिश सेनाओ का कार्यक्षेत्र फैला हुआ है। इस सारे प्रपञ्च मे भारत को अपनी सुरक्षा के नाम पर अंग्रेज़ो का साथ देना है। मनसूबा यही था, पूरा न हुआ हो, वह बात अलग है।

कांग्रेस की ओर से पूर्ण स्वाधीनता की मांग हो रही थी। अंग्रेज़ इससे ज़रा भी विचलित न थे। उन्होने तय कर लिया था कि भारत को ब्रिटिश साम्राज्य मे रखना है, तो न साम्राज्य की बात करनी चाहिए न कामनवेल्थ की। जिस बात से वे चिन्तित थे, वह था जन-आन्दोलन। जब तक सुलह-समझौते की बात चलती रहती है, तब तक वे समझते थे कि साम्राज्य के लिए कोई खतरा नही है। भारत-सचिव ने बादशाह सलामत के सचिव ऐलेन लसेलेस को ७ मार्च १९४६ के पत्र मे लिखा था, "हम समझते है कि साम्राज्य मे भारत के रहने की अधिक सम्भावना तब होगी जब इसके बारे मे पूछे जाने पर हम कहे कि यदि वे आरम्भ से ही स्वाधीन होना चाहते हैं तो वे हो सकते हैं।" (उप., पृष्ठ ११२३)। भारत-सचिव बादशाह सलामत को उनके निजी सचिव के माध्यम से बता रहे थे कि कैबिनेट मिशन भारत पहुँचेगा तो उसे किन समस्याओ का सामना करना पड़ेगा। उन्होंने बताया कि पहली समस्या स्वाधीनता की है और भारतीय नेता इसे अतिशय महत्वपूर्ण मानते हैं। सन् ४२

था जिसमें साम्राज्य के भीतर रहते हुए भारत को नया संविधान बनाना था, साथ ही यह भी कहा गया था कि भारत साम्राज्य से अलग होना चाहे तो नया संविधान लागू करने के तुरत बाद वह ऐसा कर सकता है। यह सवाल फिर सामने आयेगा, इसलिए यदि इस बात से बाधा पड़ती हो तो कामनवेल्थ के भीतर रहने पर जोर देना गलत होगा। इस सन्दर्भ में भारत-सचिव ने उक्त वाक्य लिखा था। उससे स्पष्ट है कि पूर्ण स्वाधीनता की बात स्वीकार करते हुए भी इंग्लैण्ड-सरकार की नीति यह थी कि भारत को साम्राज्य से अलग न होने दिया जाये।

१५ मार्च १९४६ को कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि डोमीनियनों के प्रधान मन्त्रियों तथा वहाँ के ब्रिटिश हाईकमिश्नरों को इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री ऐटली ने भारत में समझौते की बातचीत के बारे में सूचना देते हुए लिखा, "भारत में यह व्यापक किन्तु निराधार विचार फैला हुआ है कि डोमीनियन स्टेटस कोई ऐसी चीज है जो स्वतन्त्र जातीय सम्मिलन के अन्तर्गत मिलनेवाली प्रभुत्वसम्पन्न स्वाधीनता से घटकर है। भारत के राजनीतिक नेताओं ने आमतौर से इस बात पर ज़ोर दिया है कि किसी भी समझौते के लिए यह घोषणा करना जरूरी होगा कि उन्हें स्वाधीनता मिलेगी। १९४२ में हम जो कुछ देने को तैयार थे, स्पष्ट ही उससे कुछ कम देने की बात अब हो न सकती थी। उस समय भी पूरी तरह स्वशासित हो जाने के तुरत बाद भारत दरअसल कामनवेल्थ से अलग हो सकता था। इसलिए हमारी समझ में इस बात पर जोर देना गलत होगा कि जिस भारत का नया संविधान बने, उसे ब्रिटिश कामनवेल्थ में रहना ही होगा। इसलिए हमने शुरू में ही भारतीय नेताओं के सामने यह बात साफ कर देने का फैसला किया है कि भारत का नया संविधान कामनवेल्थ के अन्तर्गत होगा या नहीं, यह तय करने का अधिकार भारत को होगा।" (उप., पृष्ठ १२०१)। इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री की इस व्याख्या के अनुसार डोमीनियन स्टेटस और पूर्ण स्वाधीनता में कोई अन्तर न था। कांग्रेसी नेता चाहते थे कि अंग्रेज कहें कि वे पूर्ण स्वतन्त्रता देंगे। अंग्रेज़ों ने कहा, हम तैयार हैं। असली समस्या यह थी कि भारत की रक्षा-व्यवस्था भारत के हाथ में होगी या अंग्रेज़ों के हाथ में, और भारतीय फौज केवल भारत की रक्षा करेगी या अंग्रेज़ों के साथ मिलकर समूचे ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र की रक्षा करेगी। स्पष्ट था कि भारत में अंग्रेज़ों की जो भी नीति होगी, उसे निर्धारित करने में उनकी सुरक्षा-सम्बन्धी सैनिक नीति की भूमिका महत्वपूर्ण होगी।

### (ग) व्यावसायिक हित

जैसे ब्रिटेन के कूटनीतिज्ञों ने भारत के अंग्रेज अधिकारियों को सलाह दी थी कि इस देश को ब्रिटिश साम्राज्य में रखना हो तो पूर्ण स्वाधीनता की बात मान लो, वैसे ही उन्होंने भारत के अंग्रेज व्यवसायियों को सलाह दी कि यहाँ धन्धा करना है तो कानूनी अधिकार पाने के लिए जिद न करो। वाइसराय ने २४ अक्तूबर, १९४५ के पत्र में भारत-सचिव को बताया कि कानून के अनुसार ब्रिटिश व्यवसायी भारतीय सहयोग के बिना अपने धन्धे का प्रसार कर सकते हैं और नये धन्धे कायम

कर सकते हैं। किन्तु ब्रिटिश व्यवसायी जानबूझकर भारतीय भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते। उन्हें यह बता देना होगा कि ऐसी उपेक्षा के जो परिणाम होंगे, उनके लिए बादशाह सलामत की सरकार जिम्मेदार न होगी। "हमारी समझ में यदि महत्वपूर्ण ब्रिटिश फर्में अभी अपने पूरे कानूनी अधिकारों के लिए जिद करेंगी, तो वह व्यवसाय-सम्बन्धी समझौता (ट्रीटी) खटाई में पड़ सकता है जो बादशाह सलामत की सरकार और भारत की भावी सरकार के बीच होगा। अभी ज्यादा वाजिब नीति अपनाने से भारत की भावी सरकार के मातहत उन्हें जो धन्धे की सुविधाएँ मिल सकती हैं, उन्हें वे गँवा सकते हैं। कार्यकारिणी समिति [अर्थात् वाइसराय की समिति] ने जो नीति स्वीकार की है वह केन्द्रीय सभा (सेन्ट्रल असेम्बली) के लिए शायद काफी नहीं है। उसके अनुसार जहाँ तक बन पड़े, सब बुनियादी उद्योगों में वित्तीय और प्रशासनिक नियन्त्रण हिन्दुस्तानियों के हाथ में होगा। इन्हीं उद्योगों के दायरे में इस समय भेदभाव बरतने का सवाल उठता है। कानून की स्थिति इस समय यह है कि भारत सरकार वित्तीय और प्रशासनिक नियन्त्रण के बारे में अपनी राय के अनुसार उन ब्रिटिश फर्मों को सलाह भर दे सकती है जिन्हें इन बुनियादी उद्योगों से दिलचस्पी है। जो ब्रिटिश फर्में यह सलाह न मानें, उनके रास्ते में भारत सरकार कोई रुकावट नहीं डाल सकती; वह केवल उन सम्भावित परिणामों की ओर ध्यान दिला सकती है जो सलाह न मानने से निकलेंगे।" (उप.; पृष्ठ ३९०)।

भारत-सचिव का मत था कि ब्रिटिश व्यवसाय को जो आरक्षण प्रदान किया गया है, उससे भारत की औद्योगिक प्रगति में बाधा नहीं पड़ती। उद्योगीकरण के बारे में उनकी धारणा यह थी कि ब्रिटिश पूँजी को छूट मिले तो यह काम तेजी से होगा। "दरअसल यदि भारत के उद्योगीकरण की बात है, और इसके अलावा दूसरी बातों पर ध्यान नहीं देना तो निःसंदेह इस विकास में ब्रिटिश हितों को भाग लेने के लिए भरपूर अवसर देने पर यह कार्य और काफी तेजी से होगा।" (उप., पृष्ठ ४०६; वाइसराय के नाम २५ अक्तूबर १९४५ का पत्र)। भारत की औद्योगिक प्रगति में जो विलम्ब हो रहा था, वह भारत-सचिव के अनुसार इसलिए हो रहा था कि उद्योगपति मशीनें मँगाने में ढील डाले हुए थे। वे सोच रहे थे कि कुछ दिन में सस्ती दर पर और अच्छा माल मिल जायेगा। ब्रिटेन और अमरीका के उद्योगपतियों की आर्डर बुकें भरती जा रही हैं और इनमें भारत के आर्डर बहुत ही कम हैं। भारत सरकार औद्योगिक विकास की योजनाओं पर तगड़ा नियन्त्रण रखती है। उद्योगपति जो योजनाएँ पेश करते हैं, उन्हें प्रशासन द्वारा स्वीकृति मिलने में काफी समय लग जाता है। भारत सरकार को ६१ करोड़ रुपये की मशीनें मँगाने के लिए आवेदन-पत्र मिले हैं किन्तु अभी ३५ करोड़ रुपये के सामान की ही स्वीकृति दी गयी है। भारत के राजनीतिक भविष्य के बारे में सन्देह होने से ब्रिटेन और अमरीका के उद्योगपति वहाँ अकेले, या भारतीय व्यवसाइयों के साथ मिलकर, नया धन्धा शुरू करने से पहले दस बार सोचते हैं। भारत सरकार के सदस्य, दलाल, ने व्यावसायिक आरक्षण के विरुद्ध जो आन्दोलन छेड़ा है, उससे ब्रिटेन के उद्योगपति चौकन्ने हो गये हैं। उन्हें भय हो

गया है कि स्वाधीन भारत की सरकार उनके साथ उचित व्यवहार न करेगी। (उप.; पृष्ठ-४१०)।

सर आर्देशिर रुस्तमजी दलाल आई. सी. ऐस. वाइसराय की कार्यकारिणी में योजना और विकास की देखभाल करनेवाले सदस्य थे। वह उन व्यवसाइयों के प्रतिनिधि थे जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध ब्रिटिश पूंजीपतियों से था। अंग्रेज़ों को अपने व्यवसाय के आरक्षण को लेकर जो सुविधाएँ मिली हुई थीं, वे अब दलाल जैसे लोगों को भी क्षुब्ध कर रही थीं। दूसरे उद्योगपति तो उनसे असन्तुष्ट थे ही। एक तरफ़ ब्रिटिश पूंजीपति अनेक भारतीय व्यवसाइयों को अपने साथ बाँधे हुए थे, दूसरी ओर उनके अन्तर्विरोध भी बढ़ रहे थे। दलाल के आन्दोलन से वेवल और भारत-सचिव दोनों चिन्तित थे। अंग्रेज़ों के लिए जैसे पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ था भारत का ब्रिटिश साम्राज्य में बने रहना, वैसे ही भारत के उद्योगीकरण का अर्थ उनके लिए था यहाँ ब्रिटिश पूंजी का और भी अधिक निवेश; हो सके तो केवल ब्रिटिश पूंजी से व्यवसाय शुरू किया जाये, और न हो सके तो भारतीय पूंजीपतियों के साथ मिलकर धन्धा शुरू करें। मशीनें बनानेवाले बड़े उद्योग उन्होंने ब्रिटिश पूंजी लगाकर भी भारत में कायम न किये थे। उत्पादन के साधनों को पैदा करनेवाली मशीनें, अंग्रेज चाहते थे, सबसे पहले इंग्लैण्ड से मँगायी जायें, उसके बाद अमरीका से।

१४ मार्च, १९४६ को भारतस्थित ब्रिटिश व्यवसाइयों का प्रतिनिधि-मण्डल यहाँ भारत-सचिव पेथिक लारेन्स से मिला। इनके नेता का कहना था कि वे जिन बातों की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं, उनका सम्बन्ध समूचे ब्रिटेन से है। मण्डल के सदस्य हेनरी रिचार्डसन ने भारत-सचिव से कहा कि स्वाधीन भारत से जो सन्धि की जाएगी, उसमें ब्रिटिश हितों की सुरक्षा के लिए कुछ बातों को ध्यान में रखना होगा। भारत-सचिव इन बातों की चर्चा भारतीय नेताओं से कर सकते हैं। ब्रिटिश व्यवसाइयों की यह समिति चाहती थी कि ब्रिटेन की फर्में और वहाँ के निवासी भारत में अपना धन्धा उन्हीं शर्तों पर कर सकें जिन शर्तों पर भारत की फर्में और यहाँ के निवासी धन्धा करते हैं; भारत में ब्रिटिश हितों को अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ दी जायें (मोस्ट फेवर्ड नेशन ट्रीटमेन्ट); भारत से अपना पैसा बाहर भेजने की सुविधा हो; भारत और ब्रिटेन के व्यवसाइयों और उनकी फर्मों पर एक ही ढंग से टैक्स लगाये जाएँ; उन्हें भारत और ब्रिटेन में दो बार टैक्स न देना पड़े; फौज या अन्य किसी सेवा के लिए ब्रिटिश नागरिकों को बाध्य न किया जाये; ब्रिटिश नागरिकों को तकनीकी और पेशेवर काम करने का, विशेष रूप से वकालत करने का, अधिकार हो। (उप., पृष्ठ १२०२)।

अंग्रेज़ों ने १८वीं सदी में जब भारतीय उद्योग-धन्धों को तबाह करना शुरू किया था, ब्रिटेन में भारतीय माल के आयात पर उन्होंने जो भारी चुंगी लगायी थी और इस तरह इंग्लैण्ड के उद्योग-धन्धों को तेज़ी से विकसित किया था, उस नीति से बिलकुल उलटी नीति अब वे भारत के लिए निर्धारित करना चाहते थे। वे ब्रिटिश नागरिक बने रहकर भारतीय नागरिकों के सारे अधिकार अपने लिये चाहते थे। जहाँ तक व्यवसाय का सम्बन्ध है, वे भारतीय पूंजीपतियों के बराबर अपने

धन्धे के लिए अधिकार चाहते थे, और फौजी सेवा आदि नागरिकों के कर्त्तव्य अपने को अलग भी रखना चाहते थे। ब्रिटेन औद्योगिक प्रगति की जिस मंजिल था, भारतीय उद्योगपति उससे बहुत पीछे थे। जब एक बलवान और दूसरा निर्बल अखाड़े मे बराबरी का दावा करें, तब यह अनिवार्य है कि बलवान निर्बल को दबोच लेगा। भारतीय व्यवसायी बलवान के साथ सहयोग तो करना चाहते पर दबोचे जाने से डरते भी थे। यह बात रिचार्डसन के बयान में ही प्रकट हो जाती है। उन्होंने कहा कि भारतीय व्यवसायी यह सुझाव पेश करते रहे हैं कि भारत में जो ब्रिटिश व्यवसाय है, उसे भारत ले ले। इस तरह भारत का जो पैसा इंग्लैण्ड में जमा है, वह स्टर्लिंग बैलेन्स अशतः काम में आ जाएगा। "किन्तु उनकी वास्तविक इच्छा ब्रिटिश हितो पर अधिकार करने की है, न कि स्टर्लिंग बैलेन्स को काम में लाने की। ब्रिटेन भारत से जो व्यापार करता है, उस पर इससे विपरीत प्रभाव पड़ेगा। कारण यह है कि भारत में जो ब्रिटिश फर्में है, और जो अन्य फर्में ऐसी हैं कि उनकी प्रबन्ध-व्यवस्था ब्रिटिश है, इनका रुझान यह है कि ये माल मँगाने के लिए ब्रिटेन को अपना आर्डर भेजती हैं। सम्भवतः ब्रिटिश हितों को अपने हाथ में लेते समय बदले में पैसा दिया जायेगा किन्तु उनका मूल्य आँकने में कठिनाई पैदा होगी। भारत के पास जितने साधन हैं, भारत के आर्थिक विकास के लिए उनमें भारी खीच पड़ेगी और ब्रिटिश फर्मों की सहायता दरकार होगी। (उप., पृष्ठ १२०३)। अंग्रेज व्यवसायी यह चाहते थे कि पैसा देकर भी उनके व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण न हो। उन्होंने भारत को जिस तरह लूटा था, उसे देखते हुए उचित तो यह था कि इनके सारे व्यवसाय जब्त कर लिए जायें और इन्हें एक पैसा भी न दिया जाये किन्तु उनका हौसला यह था कि पैसा देने पर भी राष्ट्रीयकरण न होने पाये, भारत के पूँजीवादी शोषण में अपना बड़ा हिस्सा ब्रिटेन को बराबर मिलता रहे।

इस वार्ता के दौरान भारत-सचिव ने कहा कि जब तक नया संविधान लागू नही होता और भारत से सन्धि नही हो जाती, तब तक मौजूदा कानून लागू होगा। इसकी धारा १११-१२१ में व्यवसाय-सम्बन्धी आरक्षण का विधान है। "किन्तु यदि भारत सरकार चाहे तो वह तरकीब से कन्नी काट सकती है और शाब्दिक रूप में धाराएँ न तोड़ते हुए भी उनसे बच सकती है, यद्यपि निस्सन्देह वह ऐसा भारत-सचिव की सहमति से न करेगी। इसलिए हिन्दुस्तानियों की सद्भावना प्राप्त करने के भरोसे हमारा काम ज्यादा अच्छी तरह चलेगा बजाय इसके कि हम कानूनी धाराओं का सहारा लें और शाब्दिक रूप से इन धाराओं का पालन किया जाये लेकिन साररूप में उन्हें धता बतायी जाये।" (उप.; पृष्ठ १२८१)। भारत-सचिव जिस सरकार की बात कर रहे है, वह अभी स्वाधीन भारत की सरकार नही है, किन्तु वह चाहते है कि स्वाधीनताप्राप्ति से पहले ही अंग्रेज व्यवसायी अपने दाँव-पेंच बदल दें। कानून का सहारा लेने के बदले उन्हें हिन्दुस्तानियो की सद्भावना अर्थात् भारतीय पूँजीपतियो की सद्भावनाओं का सहारा लेना चाहिए। ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ जिस तरह भारत से राजनीतिक सम्बन्ध कायम रखना चाहते थे, उसी तरह वे भारत से अपने आर्थिक सम्बन्ध बनाये रखना

चाहते थे। आर्थिक और राजनीतिक, दोनों क्षेत्रों में वे अपने मसूबे काफी हद तक पूरे कर सके, इसका श्रेय उनकी कूटनीति के अलावा भारतीय पूंजीवाद की समझौतावादी नीति को है।

## (घ) भारत छोड़ने से हानि-लाभ

अंग्रेज़ों के भारत छोड़ने के बाद अनेक राजनीति-विशारदों ने लिखा है कि भारत को पराधीन बनाये रखने से अंग्रेजों को कोई लाभ न हो रहा था। भारत जैसा देश छोड़ने के बाद इंग्लैण्ड को हानि के बदले लाभ हुआ, उसकी आर्थिक प्रगति में तेज़ी आयी। पुराना साम्राज्यवाद तो कभी का मर चुका था। भारत छोड़कर अंग्रेज़ों ने औपचारिकता ही निबाही। भारत और इंग्लैण्ड के आपसी सम्बन्धों से इंग्लैण्ड की अपेक्षा अधिक लाभ भारत को ही था। इस तरह के प्रचार का उत्तर स्वयं अंग्रेज़ दे गये है। भारत के वाइसराय ने एक दस्तावेज तैयार कराया था जिसमें इस बात का अध्ययन किया गया था कि भारत में सत्ता सौंपने के बाद ब्रिटिश कामनवेल्थ के लिए उसके परिणाम क्या होंगे। यह दस्तावेज भारत-सचिव के पास १३ जुलाई १९४६ को भेजा गया। इससे बहुत स्पष्ट हो जाता है कि भारत को पराधीन बनाये रखने से ब्रिटिश साम्राज्य को कितना लाभ हो रहा था।

ब्रिटेन और कामनवेल्थ को सबसे बड़ा लाभ भारत को नियन्त्रण में रखने से सामरिक महत्व का है। भारत के पास भारी जनशक्ति है। "१९३९-४५ के युद्ध में विजय पाना कठिन होता यदि भारत ने २० लाख सैनिकों का योगदान न किया होता। इससे ब्रिटिश साम्राज्य वहाँ मजबूत हुआ जहाँ वह सबसे कमज़ोर था।" (खण्ड ८, पृष्ठ ५०)। युद्धकाल में भारत महत्वपूर्ण सामरिक आधार था। युद्ध-सामग्री जुटाने में उसने काफी सहायता की; औद्योगिक विकास होने पर उसकी यह क्षमता और भी बढ़ेगी। भारत और श्रीलंका में जलसेना के अड्डे होने से ब्रिटिश जलसेना को सारे हिन्द महासागर पर अपनी प्रभुता बनाये रखने में सहायता मिली। "यह अड्डे ईरान तथा ईरान की खाड़ी से तेल की आपूर्ति की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण है।" (उप.)। कामनवेल्थ की हवाई यातायात-व्यवस्था के लिए भारत अपरिहार्य कड़ी है। युद्ध से पहले ६० हज़ार अंग्रेज सैनिक भारत में प्रशिक्षित हुए थे और उनका खर्च भारत सरकार ने दिया था। ब्रिटेन की सुरक्षा के लिए भारत का यह महत्वपूर्ण आर्थिक योगदान था। ब्रिटेन में जनशक्ति की कमी है और नौजवान विदेश में सेवा के लिए नहीं जाना चाहते, इसलिए भारत में उन्हें प्रशिक्षित करने से जो लाभ होता था, वह कम हो जायेगा और उसके बदले ब्रिटेन को अपनी जनशक्ति सुलभ होगी।

भारत और ब्रिटेन के बीच व्यापार-सम्बन्ध महत्वपूर्ण है। ब्रिटेन से जो देश आयात-निर्यात व्यापार सबसे अधिक करते है, १९४४ में भारत उनमें एक था। पिछले समय में भारतीय उद्योग में ब्रिटिश व्यवसाय का काफी हिस्सा रहा है, विशेष रूप से पटसन और चाय के उद्योग में। पिछले दिनों भारी कीमत लेकर ब्रिटिश व्यवसाय को भारतीय पूंजीपतियों के हाथ बेचने का रुझान रहा है किन्तु भारतीय उद्योग में अंग्रेज़ों का हिस्सा अब भी बड़ा है। जैसे-जैसे भारत का उद्योग

और व्यापार विकसित होंगे, वैसे-वैसे भारत और ब्रिटेन दोनों जगह के ब्रिटिश व्यवसाय को अधिकाधिक लाभ होगा, इसकी पूर्ण सम्भावना है। भारतीय आयात-कर्ताओं के लिए अपनी जरूरत की चीजें खरीदने को सबसे स्वाभाविक बाजार ब्रिटेन में सुलभ है। भारत का जो स्टर्लिंग पावना जमा है, उससे यह सम्बन्ध बहुत मजबूत होगा। भारत में ब्रिटिश तकनीकी कौशल को बहुत मूल्यवान माना जाता है। जैसे-जैसे भारत समृद्ध होगा, वैसे-वैसे उपभोक्ता-सामग्री के लिए वह बहुत अच्छा बाजार बनेगा और इस व्यवसाय में ब्रिटेन को बड़ा हिस्सा मिल सकता है। ब्रिटेन और भारत के जलमार्गों पर अभी ब्रिटेन की जहाजरानी की स्थिति सर्वोपरि है। आगे चलकर यह स्थिति बदल सकती है किन्तु अपना जहाजरानी का उद्योग निर्मित करने में भारत को काफी समय लगेगा।

भारत में राजनीतिक शक्ति त्यागने से यहाँ के प्रशासन और तकनीकी सेवाओं में पेशेवर वर्गों को जो काम मिलता था, वह काम न मिलेगा। उनके लिए भारत एक महत्वपूर्ण क्षेत्र था। अनुमान है कि इन सेवाओं में ब्रिटिश कर्मचारी प्रतिवर्ष २० लाख पौण्ड कमाते थे; ब्रिटेन में रहनेवाले अवकाशप्राप्त नागरिक अधिकारियों को जो पेंशन भारत से मिलती है, वह प्रतिवर्ष ३० लाख पौण्ड है। सम्भावना यह है कि ब्रिटेन यह सारी धनराशि न खो देगा क्योंकि तकनीकी तथा अन्य प्रकार के ब्रिटिश विशेषज्ञों की माँग भारत में सम्भवतः बनी रहेगी।

यदि सत्ता का हस्तान्तरण इस तरह होता है कि भारत एक सुव्यवस्थित मित्र देश बना रहता है, तो कुल मिलाकर ब्रिटेन का अन्तर्राष्ट्रीय गौरव बढ़ेगा। मित्र और संयुक्त भारत को सुव्यवस्थित ढंग से सत्ता सौंप दी जाये और सुरक्षा-सम्बन्धी सहयोग के लिए सन्तोषजनक सन्धि हो जाये तो ब्रिटेन के गौरव में ही नहीं, उसकी शक्ति में भी वृद्धि हो सकती है। यदि भारत में अराजकता फैलती है, तो ब्रिटेन व्यापार, सामरिक लाभ और गौरव खो देगा और विश्वशान्ति के लिए खतरा पैदा हो जायेगा। "ब्रिटेन के दृष्टिकोण से भारत में जो सबसे बुरा नतीजा हो सकता है, वह यह कि उत्तरदायी सरकार के अभाव में, या कम्युनिस्ट क्रान्ति द्वारा, या जानबूझकर, भारत रूस के नियन्त्रण में आ जाये। उस हालत में ब्रिटेन अपनी स्थिति का बलिदान कर चुका होगा और भारत को उसने कुछ न दिया होगा।" (उप., पृष्ठ ५१)।

भारत की स्वाधीनता का सामरिक परिणाम महत्वपूर्ण होगा। भारत से सुरक्षा सहयोग की सन्धि का महत्व ब्रिटेन के लिए बहुत है। ऐसी सहयोग-सन्धि स्वाधीन भारत पर थोपी नहीं जा सकती लेकिन होशियारी से काम लिया जाय तो सम्भावना यह है कि भारत स्वयं ऐसी सन्धि करना चाहेगा। "इससे हिन्द महासागर और ईरान की खाड़ी में हमारे समुद्री बेड़े की स्थिति सुदृढ़ बनी रहेगी, हवाई यातायात-व्यवस्था में भारत एक कड़ी बना रहेगा और जहाँ तक सम्भव होगा, हम भारत की जनशक्ति का भी उपयोग कर सकेंगे। ऐसी सहयोग-सन्धि के बिना भारत छोड़ने पर ब्रिटेन को भारी क्षति उठानी पड़ेगी।" (उप., पृष्ठ ५२)।

भारत पर रूस का आधिपत्य हो सकता है, इसकी चर्चा फिर की गयी है।

यह आधिपत्य किस तरह कायम होगा, इसका अनुमान करना, दस्तावेज-लेखकों के अनुसार, कठिन है। स्वाधीन भारत-सरकार अपने समुद्र-तट की लम्बाई के प्रति बेखबर नही हो सकती, न यह भूल सकती है कि उसका नब्बे फीसदी व्यापार समुद्री मार्गों से होता है। भारत की सुरक्षा समुद्र की अपेक्षा स्थल पर अधिक सुदृढ है। इसलिए स्वभावतः भारत समुद्री बेड़े को लेकर सहयोग-सन्धि करना चाहेगा, विशेष रूप से ऐसे समय जब आयात होनेवाले माल का निश्चित गति से प्राप्त होना देश के विकास के लिए बहुत जरूरी है। "और निस्सन्देह रूस हिन्द महासागर मे जबर्दस्त जलशक्ति बने, इसमे अभी बहुत साल लगेंगे। इसके अतिरिक्त रूस से स्थलवाली सचार-व्यवस्था इतनी खराब है कि देश के विकास मे ब्रिटिश या अमरीकी सहायताकी जगह रूसी सहायता न ली जा सकेगी। इससे प्रतीत होता है कि भारत की भावी सरकार स्वेच्छा से रूसी सरक्षण प्राप्त करना न चाहेगी।" (उप.; पृष्ठ ५२)।

किन्तु यदि भारत मे क्रान्ति होती है तो रूसी प्रभाव बढ़ सकता है। इस सम्भावना के बारे में लिखा है, "किन्तु किसी क्रान्तिकारी दल को समर्थन देने की अपनी आम कार्यनीति रूस यहाँ काम में ला सकता है। भारत की परिस्थिति प्रतिकूल नही है। थोडे से पूंजीपति और राजा है जिनके पास अपार सम्पत्ति है। मजदूर अभी शोषित है, उनकी शिकायतें वाजिब है, वे अपनी शक्ति पहचानने लगे है। बुरे शासन-प्रबन्ध से कुछ स्थानों में खाद्य-सामग्री की कमी और भुखमरी की नौबत आ सकती है। कम्युनिस्ट-संगठन का केन्द्र मौजूद है और वह अपने अस्तित्व को महसूस करा रहा है। यदि सरकार कमजोर हुई और अफगानिस्तान का दरवाजा मजबूती से बन्द न किया गया, तो रूस के लिए यह कठिन न होगा कि अपने आम तरीके काम मे लाकर वह देश में पैर जमा ले।" (उप.)।

भारतीय सरकार कमजोर हो सकती है, इस सम्भावना पर विचार करते हुए कहा कि भारत जैसे विशाल देश का शासन सँभाल लेना बहुत बड़ा कार्य है। इसके लिए आवश्यक राजनीतिक या प्रशासनिक क्षमता विद्यमान है, इसका कोई प्रमाण नही है। भारत सरकार कमजोर हुई तो देश में अव्यवस्था फैल सकती है। "वैसी हालत मे सामरिक स्थिति, जनशक्ति के स्रोतों, संचार-व्यवस्था और व्यापार की दृष्टि से ब्रिटेन को गम्भीर क्षति सहनी होगी, भले ही रूस हस्तक्षेप न करे।" (उप.)।

इस दस्तावेज में जो कम्युनिस्ट क्रान्ति की बात कही गयी है, उसका अर्थ है साम्राज्यविरोधी, सामन्तविरोधी क्रान्ति। व्यापार से लेकर जनशक्ति के स्रोतों तक ब्रिटेन का हित भारत को अपने प्रभाव मे रखने से सिद्ध होता है। इस हित का विनाश अंग्रेजों के लिए कम्युनिस्ट क्रान्ति है। वे मानते हैं कि मजदूरों का शोषण होता है और उनकी शिकायतें सही है। मजदूर वर्ग शक्तिशाली हो रहा है, यह भी वे जानते है। किन्तु मजदूर वर्ग साम्राज्यविरोधी क्रान्ति मे अगुआई करे, तो उनके लिए यह देश मे अराजकता फैलाना होगा। ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए वे भारत को अपने साथ सैनिक गठबन्धन में शामिल करना चाहते हैं किन्तु यदि भारत सोवियत संघ से सुरक्षा सन्धि कर ले, तो यह भारत पर रूस की

प्रभुता स्थापित करना होगा। स्वभावतः अंग्रेज बहुत उत्सुक थे कि अफगानिस्तान उनके प्रभाव में रहे, तभी वे वहाँ का दरवाजा बन्द रख सकते थे। तेल की आपूर्ति के लिए हिन्द महासागर और ईरान की खाड़ी पर उनका प्रभुत्व कायम रहना जरूरी था। इसका अर्थ यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए भारत का ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र में रहना जरूरी था। यदि भारत सरकार इस ब्रिटिश प्रभाव को पूरी तरह कायम नहीं रहने देती, यह सोवियत संघ से मैत्री-सम्बन्ध कायम करती है, तो इससे ब्रिटेन को भारी क्षति होगी, भले ही रूस ने हस्तक्षेप न किया हो। इस विवेचन से एक अनिवार्य निष्कर्ष यह निकलता है कि भारत को अपने प्रभाव-क्षेत्र में बनाये रखने के लिए ब्रिटेन स्वाधीन भारत की सरकार पर हर तरह से दबाव डालता रहेगा।

भारत में अन्तरिम सरकार बननेवाली थी। ब्रिटेन के विदेश-सचिव और भारत-सचिव ने वैदेशिक मामलों से सम्बन्धित इस सरकार की नीति पर ३० अगस्त को एक स्मरण-पत्र तैयार किया। ब्रिटिश साम्राज्य के लिए भारत की स्थिति कितनी महत्वपूर्ण थी, इसका अनुमान उक्त स्मरणपत्र से हो जायेगा। भारत में जो भी सरकार हो, वह ब्रिटेन का विरोध करनेवाली न हो अर्थात् सुसंगत रूप से साम्राज्यविरोधी न हो, यह प्रबल आकांक्षा यहाँ व्यक्त हुई है। लिखा है, "ईरान की खाड़ी के अरब तट पर बादशाह सलामत की सरकार के हित इतने विशाल हैं और उनका स्वरूप ऐसा है कि यह आवश्यक हो जाता है कि उन हितों की रक्षा का भार विश्वसनीय हाथों में हो और बादशाह सलामत की सरकार के सीधे नियन्त्रण में हो (इन हितों का सम्बन्ध मुख्यतः तेल की आपूर्ति से है; जैसे-जैसे ईरान पर रूसी दबाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वायु और जल सचार-व्यवस्था का महत्व बढ़ता है। उन हितों का सम्बन्ध इस सचार-व्यवस्था के तथा तेल स्रोतों के विकास से है)। इस क्षेत्र में हमारे बुनियादी हितों में भारत किसी तरह हस्तक्षेप करे, यह खतरा मोल न लेना चाहिए। देशों की रियासतों के शासकों से जो सन्धियाँ की गयी हैं, वे बादशाह सलामत की सरकार की ओर से की गयी हैं। इन सन्धियों के अनुसार उनकी भूमि पर समुद्री हमला हो तो उनकी रक्षा की जायेगी और विदेश-सम्बन्ध ब्रिटिश नियन्त्रण में रहेंगे।" (उप.; पृष्ठ ३६४)। स्पष्ट है कि अंग्रेजों को बहुत भरोसा नहीं था कि ईरान की खाड़ी में स्वाधीन भारत की सरकार उनके हितों की रक्षा करेगी। इसीलिए वे वहाँ अपना सीधा नियन्त्रण बनाये रखना चाहते थे। इस नियन्त्रण को बनाये रखने में अब तक भारतीय सेना का उपयोग होता आया था।

५ सितम्बर १९४६ के एक नोट में भारत के ब्रिटिश सेनाध्यक्ष औकिनलेक ने भारतीय सेना के बारे में आँकड़े दिये हैं जिनसे पता चलता है कि दक्षिण एशिया और मध्यपूर्व पर अपना नियन्त्रण बनाये रखने के लिए अंग्रेज भारतीय सेना पर कितना निर्भर रहते आये थे। युद्ध समाप्त होने के साल-भर बाद दक्षिण एशिया और मध्यपूर्व में २,३४,५०० भारतीय सैनिक बिखरे हुए थे। इनमें सबसे अधिक बर्मा में ७८,५००; उसके बाद मलय में ५६,००; इण्डोनेशिया में ४४,५००; इराक में १६,०००; मिस्र, फिलिस्तीन आदि में १२,३००; जापान में ११,४००;

थाईलैण्ड में ४,०००; हांगकांग में ५,८००; श्रीलंका में १,५०० और बोर्नियो में १,००० थे। सेनापति का अनुमान था कि बहुत-सी फौज वापस बुला लेने पर भी १ जनवरी १६४७ को लगभग डेढ़ लाख भारतीय फौज देश के बाहर होगी। (उप.; पृष्ठ ४६५)।

भारतीय नेता अंग्रेजों पर बराबर दबाव डाल रहे थे कि अन्य देशों से हिन्दुस्तानी फौज वापस बुलाई जाये। ब्रिटिश कैबिनेट की सुरक्षा समिति ने भारत-सचिव के माध्यम से सुझाया कि भारतीय नेताओं को समझाने-बुझाने के लिए इस तरह के तर्क पेश किये जायें। ईरान और इराक भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त की महत्वपूर्ण चौकियाँ है। भारत के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि कोई भी ऐसी शक्ति इस क्षेत्र में अपनी प्रधानता कायम न कर पाये जिसके भविष्य में शत्रु बनने की सम्भावना हो। इस क्षेत्र में मुख्य जल और वायु सेना का प्रबन्ध ब्रिटेन कर रहा है। भारतीय अर्थतन्त्र के लिए दक्षिणी ईरान और इराक का तेल अत्यन्त आवश्यक है। दक्षिणी ईरान में इस समय अव्यवस्था है। इसलिए बसरा में फौज रहने से ही यह बात सुनिश्चित होती है कि तेल की आपूर्ति अबाध रूप से होती रहेगी। वहाँ के तेलक्षेत्रों में लगभग साढ़े तीन हजार भारतवासी है; वहाँ गम्भीर उपद्रव होता है तो इनका जीवन सकट में पड़ जायेगा। (भारतीय हितो के नाम पर दूसरे देशों के जन-आन्दोलन को दबाने के लिए भारतीय सेना का उपयोग, यह थी ब्रिटेन की कूटनीति।) बर्मा और मलय से जल्दी फौजें बुला ली गयी तो इन देशों में अराजकता फैल जायेगी। भारत इन देशो से रबड और चावल का आयात करता है। वर्तमान परिस्थिति में भारत के लिए इस क्षेत्र से निरन्तर चावल प्राप्त करते रहना बहुत जरूरी है। बर्मा और मलय में भारतीयो की काफी बडी सख्या है। वहाँ अव्यवस्था फैलने में वे मुसीबत में पड़ सकते है। "यदि इन दलीलों से भारत सरकार आश्वस्त नही होती कि विदेश में उसकी फौज का रहना जरूरी है तो हम उसे बता सकते है कि अभी भारत में जो अंग्रेजी फौज है, उसे वहाँ से विदेश भेजे बिना, भारतीय सेना के अभाव में, हम अन्यत्र अपने आवश्यक वादे पूरे नही कर सकते। यह विश्वास किया जाता है कि भारतीय मन्त्रिगण इस बात का महत्व समझते है कि फिलहाल उनके देश में अंग्रेजी फौज बनी रहे। यह न भूलना चाहिए कि वहाँ अंग्रेजी फौज का रहना हमारे हित में भी है। इसलिए इस दलील को बहुत होशियारी से इस्तेमाल करना चाहिए वरना वह खतरनाक साबित हो सकती है।" (उप.; पृ. ६०१)।

यह सब स्वाधीन भारत के तीन दशक बीत जाने के बाद भी अत्यन्त शिक्षाप्रद है। साम्राज्यवादियों को जहाँ भी अपने हितों की रक्षा करनी होती है, वे दिखाते यह है कि वे भारत-जैसे देशों की हित-रक्षा में तल्लीन है। उन्हें तेल की आपूर्ति की रक्षा करनी है, दिखायेंगे कि वह भारतीय अर्थतन्त्र की रक्षा कर रहे हैं। भारतीय फौज के द्वारा अन्य देशों के स्वाधीनता-आन्दोलन को दबायेंगे, अपने साम्राज्य की रक्षा करेंगे, और कहेंगे, साम्राज्यवाद तो जाने कब का समाप्त हो गया, भारत के पड़ोसी देशों में कानून और व्यवस्था कायम रहे, इसमें भारत का हित है। उनका विचार था कि कांग्रेसी नेता चाहते है कि भारत में अंग्रेजी फौज

कुछ समय तक बनी रहे। यदि भारत के लिए अंग्रेजी फौज जरूरी है तो वह दूसरे देशों के लिए भी जरूरी हो सकती है।

## ७. क्रान्तिकारी उभार और क्रान्तिविरोधी अभियान

### (क) भारत में क्रान्ति हो तो पाकिस्तान में जमें

भारत सरकार के गृह विभाग के लिए थौर्न ने एक दस्तावेज तैयार करके ५ अप्रैल १९४६ को एवेल के पास भेजा। इसमें उन्होंने यह मत प्रकट किया था कि कांग्रेस ने यदि उपद्रव शुरू किया और सरकारी कामकाज ठप्प करने की कोशिश की तो स्थिति १९४२ की अपेक्षा बहुत अधिक गम्भीर हो जायेगी। "साम्प्रदायिक उपद्रव गम्भीर रूप धारण कर सकते हैं किन्तु सरकार के लिए मुसलमानों की सहायता बेकार होगी।" (खण्ड ७, पृष्ठ १५०)। यहाँ भारत सरकार के गृह विभाग की निगाह सरकार-विरोधी उपद्रवों के साथ साम्प्रदायिक उपद्रवों पर भी है। थौर्न ने आगे कहा कि जो लोग भी उपद्रव से लाभ उठाना चाहते हैं, वे कांग्रेस की सहायता करेंगे। यह मान भी लें कि पुलिस, फौज, डाक-तार-रेल विभाग और मैजिस्ट्रेट सरकार के प्रति वफादार बने रहेंगे, तो भी सरकारी काम-काज और संचार-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने में कांग्रेस को बहुत बड़ी सफलता मिलेगी। जिन प्रान्तों में अपेक्षाकृत शान्ति रहती है, उनमें भी लगानबन्दी का आन्दोलन बहुत हद तक सफल होगा। १९४२ के उपद्रव में पुलिस, फौज आदि पूरी तरह वफादार बने रहे थे। भविष्य में ऐसा न होगा। फौज के सभी दस्तों पर पूरी तरह भरोसा नहीं किया जा सकता। हवाई सेना और जलसेना तथा सिग्नल टुकड़ियों में बहुत असन्तोष बढ़ेगा और सीधे विद्रोह की नौबत आयेगी। फौज की अपेक्षा पुलिस में असन्तोष कम होगा किन्तु कुछ असन्तोष तो होगा और विद्रोह हो सकता है। कई प्रान्तों में साधारण सिपाहियों के बीच असन्तोष फैला हुआ है। कहा जाता है कि यह असन्तोष आर्थिक कारणों से है "किन्तु कम्युनिस्ट और कांग्रेस आसानी से इसका लाभ उठायेंगे। यदि विद्रोह फैलता गया तो बहुत बड़े क्षेत्र में पुलिस के टूट जाने की सम्भावना है।" (उप.)। थौर्न ने डाक-तार-रेल विभागों के कर्मचारियों में असन्तोष का उल्लेख किया और कहा कि इसका भी फायदा उठाया जायेगा। बहुत बड़े क्षेत्र में हड़तालें हो सकती हैं। शान्ति-व्यवस्था के भंग होने पर ये सेवाएँ अपना काम चालू नहीं रख सकतीं। ब्रिटिश अफसर उदास और थके हुए हैं। बहुत से भारतीय अफसर आगा-पीछा सोच रहे हैं; उनमें साम्प्रदायिक विद्वेष बढ़ रहा है। अधिकांश ज़िले भारतीय अफसरों के अधीन हैं। बहुत बड़े क्षेत्र में ज़िलों के ये अफसर कसौटी पर खरे न उतरेंगे। "मजदूर अधिकतर कम्युनिस्ट और कांग्रेसी नेताओं के कहने में है। आम हड़ताल का आह्वान किया गया तो उसे भारी समर्थन मिलेगा।" (उप.; पृष्ठ १५१)। कांग्रेस को आज़ाद हिन्द फौज के आदमियों से बड़ी मदद मिल सकती है। इनके पास कुछ आधुनिक हथियार भी हो सकते हैं। "कुल मिलाकर मुझे इसमें सन्देह है कि कांग्रेस-प्रेरित विद्रोह को दबाया जा सकेगा। उपद्रव का दमन हो सकता है जैसे कि दक्षिण में; दूसरे प्रदेशों में, जैसे कि बिहार और संयुक्त प्रान्त में, वह काबू से

बाहर हो जायेगा। जहाँ भारी उपद्रव न भी होगा, वहाँ 'अहिंसात्मक' कार्रवाई से प्रशासन ठप्प हो जायेगा। बहुत खराब हालत हुई तो अधिकाश ब्रिटिश भारत मे विद्रोह फैलेगा जिस पर हम काबू न पा सकेंगे। बहुत अच्छी हालत हुई, तो भी मुझे सन्देह है कि व्यवस्थित शासन का काम आमतौर से फिर चालू किया जा सकेगा।" (उप.)। थौर्न ने इस सम्भावना पर भी विचार किया कि विद्रोह का दमन कर देने के बाद अंग्रेज भारत को काबू मे रखेंगे। बादशाह सलामत की सरकार कांग्रेस के आगे घुटने नही टेकती तो भारत पर अधिकार बनाये रखने के लिए बहुत बड़ी तादाद मे अंग्रेजी फौज आवश्यक होगी। नागरिक प्रशासन के लिए सभी जिम्मेदार पदों पर ब्रिटिश अफसर रखने होगे। इसके लिए इतने बड़े पैमाने पर ब्रिटिश अफसरो की भर्ती करनी होगी जितने बड़े पैमाने पर पहले कभी की न गयी थी। (उप.)।

भारत सरकार के गृह सदस्य थौर्न के दस्तावेज से नीति-सम्बन्धी जो निष्कर्ष निकलते थे, उनसे वाइसराय के सचिव एबेल सहमत न थे। उन्होने अपने ७ अप्रैल के दस्तावेज मे प्रश्न किया कि मान लीजिए कि कांग्रेस-प्रेरित जनआन्दोलन को दबाया न जा सका, तो क्या इसका यह अर्थ है कि कांग्रेस के सामने आत्मसमर्पण किया जाये? उनका उत्तर था, नही। एबेल के इस दस्तावेज का महत्व यह है कि *क्रान्तिकारी परिस्थिति से निपटने के लिए अंग्रेज किस तरह क्रान्तिविरोधी* शक्तियो का उपयोग करनेवाले थे, इसका बहुत स्पष्ट उल्लेख यहाँ किया गया है। पहले उन्होंने कांग्रेस की रणनीति का विश्लेषण किया। कांग्रेस तुरत स्वाधीनता चाहती है और अन्तरिम अवधि मे बहुमत का शासन चाहती है। यह उसका एक बाजू से आक्रमण हुआ। दूसरे बाजू से उसकी यह मांग है कि भारत मे सर्वोपरि स्थान भारत सरकार को मिले (अर्थात् देशी रियासतें जैसे अंग्रेज सरकार को सर्वोपरि सत्ता मानती थी, वैसे ही वे नई भारत सरकार को सर्वोपरि सत्ता मानें।) कैबिनेट मिशन पर इस बात के लिए भी जोर डाला जा रहा है कि वह अन्तरिम अवधि के लिए सत्ता पर अधिकार करने की मांग स्वीकार कर ले। जोर डालने के तरीके मे ये मांगें है: गांधी द्वारा नमक-कर को हटाने की मांग, डा. अम्बेदकर को बरखास्त करने की मांग और राजनीतिक कैदियो को छोड़ने की मांग, भले ही ये कैदी प्रान्तीय सरकारों के अधीन हो। अन्तरिम अवधि मे कांग्रेस को सत्ता सौंपने से काम न बनेगा। "यदि हम ऐसा करते है तो हम अनिवार्य रूप से इस बात से बँध जाते है कि गैरजिम्मेदार हिन्दू सरकार मुसलमानों के दमन के लिए ब्रिटिश सेना का उपयोग करे।" (उप.; पृष्ठ १६०)। (यहाँ मजेदार बात यह है कि भारतीय जनमत अंग्रेजी फौज को यहाँ से तुरत हटाने की मांग कर रहा था। स्वाधीनता की घोषणा करने तक अंग्रेज यहाँ अपनी फौज बनाये रखना चाहते थे तो यह उनकी अपनी नीति थी, स्वाधीनता आन्दोलन की मांग नही थी।) किन्तु एक अंग्रेज कूटनीतिज्ञ अपनी बिरादरी के दूसरे कूटनीतिज्ञ से कह रहा था कि हिन्दू सरकार गोरी फौज का उपयोग मुसलमानों को दबाने के लिए करेगी। यह तर्क कितना लचर था, इसका अनुमान इस बात से होगा कि कन्जरवेटिव सरकार के भूतपूर्व भारत-सचिव एमेरी ने खुलेआम यह मत प्रकट किया था कि अन्तरिम

सरकार को पूर्ण सत्ता सौंपी जा सकती है। इसकी चर्चा आगे करेंगे।)

एवेल ने आगे विचार किया कि कांग्रेस ने यदि जन-आन्दोलन शुरू किया तो स्थिति क्या होगी। उनका सुझाव था कि कांग्रेस ने हिन्दू-प्रान्तों में ऐसा आन्दोलन शुरू किया तो इसका नतीजा होगा पूरी तरह अराजकता का प्रसार। कांग्रेस को समझा देना चाहिए कि अंग्रेज इस स्थिति में कुछ न करेंगे, इन प्रान्तों से अपनी फौज और ब्रिटिश नागरिक हटा लेंगे। यह बड़ा विकट निर्णय होगा लेकिन ऐसा निर्णय करने पर सारी जिम्मेदारी कांग्रेस कार्यसमिति की हो जायेगी और जिम्मेदारी से ही उसकी बुद्धि ठिकाने आयेगी। "सुझाव यह है कि कांग्रेस जन-आन्दोलन शुरू करे तो बादशाह सलामत की सरकार का जवाब यह होना चाहिए कि पाकिस्तान में उठ चलें (ऐसे पाकिस्तान में जो जिन्ना की माँगी हुई सीमाओं के अनुरूप हो) (ए विदड्रावल टु पाकिस्तान विद दि फुल जिन्ना बाउन्ड्रीज़)।" (उप.; पृष्ठ १६१)। स्वयं एवेल ने यह सिद्धान्त बनाया था कि मुसलमानों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जायेगा तो उन्ही क्षेत्रों में दिया जायेगा जिनमे वे बहुसंख्यक है किन्तु यहाँ बड़ी उदारता से वह जिन्ना को वे क्षेत्र देने को तैयार थे जिनमे हिन्दू बहुसंख्यक थे। कांग्रेस विद्रोह शुरू करे तो उसका जवाब यह होगा कि अंग्रेज जिन्ना की पूरी माँग स्वीकार कर लें और भारत छोड़कर पाकिस्तान में अड्डा बनायें। यदि कांग्रेस विद्रोह नही करती तो सिद्धान्त की बात मानी जायेगी; जिन्ना को केवल वे क्षेत्र दिये जायेंगे जिनमे मुसलमान बहुसंख्यक हों। एवेल ने माना कि उनकी योजना के विरोध मे कई तरह की बातें कही जा सकती हैं पर उनके विचार से उसको अमल मे लाना असम्भव नही था।

भारत में क्रान्तिकारी परिस्थिति और उससे निपटने के लिए क्रान्ति-विरोधी दाँव-पेंच एवेल के अगले वाक्य में बहुत साफ दिखायी देते हैं। "अन्तरिम अवधि के लिए पूरी सत्ता पाने पर कांग्रेस जो बराबर ज़ोर दे रही है, उसका परिणाम अभूतपूर्व पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे हो सकते है। हिन्दुस्तान के शहरों में ऐसी फिज़ा है कि इस तरह के दंगे हों। गुण्डा-तत्व बेकाबू है। कम्युनिस्टों का रवैया जैसा इस समय है, उससे लगता है कि उपद्रव करने का अवसर मिलने पर वे प्रसन्न होगे। यदि ऐसे दंगे शुरू होते है तो बेशक हमे उनसे निपटना होगा किन्तु हिन्दुस्तानी फौज और पुलिस पर इसका प्रभाव सर्वनाशी हो सकता है। हो सकता है कि परिस्थिति काबू से बाहर हो जाये। इस खतरे से बचने का और कोई उपाय मेरी समझ में नही है सिवा इसके कि अन्तरिम अवधि के मामले मे कांग्रेस से दृढ़तापूर्वक पेश आया जाये। हमे कोशिश करनी चाहिए कि जब तक कांग्रेस और लीग के बीच दीर्घ अवधि वाली समस्या [अर्थात् पाकिस्तान की समस्या] हल न हो जाये, तब तक अन्तरिम अवधि के बारे में बातचीत करने से बचना चाहिए।" (उप. पृष्ठ १६१)। इस प्रकार एक प्रमुख अंग्रेज़ अधिकारी ने सम्भावित क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए साम्प्रदायिक दंगों के रूप मे अपनी जवाबी आक्रमणी वाली नीति निर्धारित कर ली थी।

## (ख) क्रान्तिकारी उभार और दमननीति के खतरे

३० अप्रैल १९४६ को संयुक्त प्रान्त के गवर्नर वाइली ने वाइसराय को प्रान्त की स्थिति के बारे में लिखा कि आज़मगढ़ में जलियानवालाबाग दिवस पर एक वक्ता ने स्टैफोर्ड क्रिप्स की धुआंधार आलोचना की और कहा कि १९४२ के अत्याचारों के लिए दरअसल वही ज़िम्मेदार हैं। लखनऊ में एक महिला ने अपने भाषण में कहा कि वह चाहती है कि वाइसराय पर मुकदमा चले और उन्हें हथकड़ियाँ पहनाकर हिन्दुस्तानी जूरी के सामने खड़ा किया जाये। बलिया ज़िले में एक वक्ता ने कहा कि थाने पर हथियारबन्द सन्तरी देखकर मन में आता है कि बन्दूक छीनकर उसका काम तमाम कर दें। "इस तरह की व्याख्यानबाज़ी पर जल्दी ही रोक लगानी होगी, वरना आगे चलकर हमें इसका फल भुगतना पड़ेगा।" (उप., पृष्ठ ३६२)। इसी रिपोर्ट में गवर्नर ने लिखा कि साम्प्रदायिक स्थिति बिगड़ती जा रही है। तनाव बढ़ रहा है और शहरों में लोग लाठियां और छुरे जमा कर रहे हैं। "अगर कैबिनेट मिशन को लेकर मामला गड़बड़ हुआ तो बहुत गम्भीर साम्प्रदायिक उपद्रव अनिवार्य सा हो जायेगा।" (उप.)। यहाँ भी एक ओर अंग्रेज़ों को खुलेआम फटकारा जा रहा है, दूसरी ओर दंगों की तैयारियां हो रही हैं। जो लोग दंगों की तैयारियां कर रहे थे, उन्हें पकड़ने के लिए अंग्रेज ज़रा भी प्रयत्न न कर रहे थे। इसके विपरीत कहीं किसी क्रान्तिकारी के पास बम या पिस्तौल होने की खबर मिल जाये, तो उसे पकड़ने के लिए वे एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देते थे।

२ मई १९४६ को पंजाब के गवर्नर जेन्किन्स ने वाइसराय को खबर भेजी कि मज़दूरों में असन्तोष है और कम्युनिस्ट तथा कांग्रेसी सोशलिस्ट इसका भरपूर लाभ उठा रहे हैं। लायलपुर और मांटगुमरी ज़िले की मिलों में हड़तालें हुई हैं। पहली मई को रेलवे हड़ताल हुई। मुलतान और कराची की लाइनों पर चार घण्टे तक गाड़ियों का चलना बन्द रहा। कुछ उपद्रव भी हुआ। हड़ताली जिन गाड़ियों को रोकना चाहते थे, उनकी वैकुअम ब्रेक-व्यवस्था में तोड़-फोड़ की। अखबारों का रवैया भी अच्छा नहीं है। इसके साथ ही अमृतसर, मुलतान और जलन्धर ज़िले में छोटे-मोटे साम्प्रदायिक दंगे हुए। सभी सम्प्रदायों के बारे में खबर है कि वे अपनी-अपनी सेनाएँ संगठित कर रहे हैं और बड़े पैमाने पर दंगे करने की तैयारी में हैं। "यदि नयी शिमला कान्फ्रेन्स से शीघ्र ही तनाव में कमी नहीं आती तो मुझे भय है कि बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे और श्रमिक उपद्रव होने की भारी सम्भावना है। रेल और फौज के अधिकारियों के साथ पुलिस के इन्स्पेक्टर जनरल इस बारे में बात कर रहे हैं कि आम रेलवे हड़ताल हुई तो कौन से कदम उठाने होंगे।" (उप., पृष्ठ ४०१)। श्रमिक-उपद्रव और साम्प्रदायिक दंगों का एक साथ उल्लेख ध्यान देने योग्य है।

२१ मई १९४६ को वाइसराय ने ब्रिटिश अधिकारी हेन्डरसन को लिखा कि रेलवे हड़तालों का खतरा है। खाद्यसामग्री एक जगह से दूसरी जगह भेजना ज़रूरी है। रेलों का ठप होना हानिकर होगा। बहुत ज़्यादा रियायतें दें तो नयी सरकार

[अर्थात् अन्तरिम सरकार] भारी असमंजस में पड़ जायेगी। यदि मजदूरों की माँगें मान ली जायँ तो रेल भाड़े में ४० प्रतिशत तक वृद्धि करनी पड़ सकती है। बहुत जगह साम्प्रदायिक तनाव खूब बढ़ा हुआ है। "यदि मुस्लिम लीग ने बयान में [कैबिनेट मिशन के बयान में] प्रस्तावित योजना अस्वीकार कर दी तो निस्सन्देह बड़े पैमाने पर दंगे होंगे।" (खण्ड ७., पृष्ठ ६५५)।

भारत में विद्रोह होने पर अंग्रेज हिन्दू प्रान्तों से उठकर पाकिस्तान चले जायें, एवेल के इस प्रस्ताव पर कैबिनेट मिशन और वाइसराय ने १६ मई १९४६ को विचार किया। सेनाध्यक्ष की राय यह थी कि ब्रिटेन के लिए यह नीति घातक होगी। पाकिस्तान की सुरक्षा के लिए उतनी बड़ी सेना आवश्यक होगी जितनी पूरे भारत के लिए जरूरी होती है। पाकिस्तान के दोनों भागों के बीच शत्रु प्रान्त होगा। बंगाल और असम की सुरक्षा बहुत कठिन होगी। उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र सैनिक दृष्टि से कमजोर होगा "और सुरक्षा का अधिकांश व्यय बादशाह सलामत की सरकार को वहन करना पड़ेगा। इसके सिवा यदि पाकिस्तान ब्रिटिश संरक्षण में रहता है तो हिन्दुस्तान रूस से सहयोग-सम्बन्ध कायम कर सकता है। पाकिस्तान में अल्पसंख्यक बड़ी तादाद में होंगे। वे कम्युनिस्टों के साथ मिलकर आसानी से पाँचवाँ दस्ता बन जायेंगे।" (उप., पृष्ठ ५९६)। सेनाध्यक्ष के इस मत के बावजूद पाकिस्तान को ब्रिटिश संरक्षण मिला और रूस तथा भारत में सहयोग-सम्बन्ध भी कायम हुआ।

२२ मई १९४६ को कैबिनेट मिशन के साथ वाइसराय की बातचीत हुई। राजनीतिक परिस्थिति के बारे में वाइसराय ने कहा कि कांग्रेसी मन्त्री प्रान्तों में अपने पदों पर अभी बने रहना चाहते हैं किन्तु खतरा है कि गांधी अपने प्रभाव का उपयोग समझौते के खिलाफ करें। [illegible] बिगड़ती जा रही है। [illegible] की ओर से फरीदकोट में आन्दोलन के लिए बाहर के आदमी भेजे जा रहे हैं। इस समय कश्मीर में भी उपद्रव की आशंका है। [illegible] और उनके अनुयायी किसी भी समय उपद्रव खड़ा कर सकते हैं। आजाद हिन्द फौज से भी खतरा था लेकिन कांग्रेस के [illegible] लोग अब उसके खिलाफ हो गए हैं। जब तक बने तब तक शान्ति-व्यवस्था कायम रखनी चाहिए, जब न बन सके तब टूट जाना चाहिए। इस पर भारत-सचिव ने कहा कि वह चाहते हैं कि समझौते के बारे में जो [illegible] परिस्थिति की [illegible] वाइसराय ने कहा कि मेरा आग्रह यह था कि [illegible] (उप., पृष्ठ ६२७)। [illegible]

[illegible]

जब तक शान्ति कायम न हो जाये और कामचलाऊ व्यवस्था अमल में न आ जाये, तब तक उन क्षेत्रो मे हम.रा बने रहना अव्यावहारिक होगा।" (उप.)।

वाइसराय ने आगे कहा कि सम्भव है कुछ रियासतें हमसे सहायता माँगें और अपने यहाँ बने रहने को कहे। यह भी सम्भव है कि दक्षिण भारत—मद्रास, मैसूर कोचीन—अपना एक संघ बना लें, हमसे व्यवस्थित रूप मे हटने को कहे और हमारे खिलाफ विद्रोह की स्थिति मे न हो। बम्बई की सरकार से शायद कोई उचित समझौता किया जा सके। "गम्भीर उपद्रव होगा उत्तर भारत मे, विशेष-रूप से संयुक्त प्रान्त और बिहार में। पजाब और बगाल अपेक्षाकृत शान्त रह सकते है।" (उप., पृष्ठ ६५८)। यहाँ वाइसराय ने अपने निजी सचिव का यह सुझाव अशत: मान लिया कि उत्तर भारत मे विद्रोह हो तो कम से कम कुछ समय के लिए पाकिस्तान मे अड्डा बनाया जा सकता है। बीज रूप में यह विचार भी अंग्रेज़ों के सामने विद्यमान है कि दक्षिण भारत को उत्तर भारत से अलग किया जाये।

३१ जुलाई १९४६ को वाइसराय ने भारत-सचिव को डाक-तार व्यवस्था के बारे में सूचना दी कि डाकखानों मे तो हालत सुधर गयी है लेकिन तारघरों में हालत बिगड़ गयी है। आशंका है कि इनमे तीसरी अगस्त को काम-काज पूरी तरह बन्द हो जाये। "यूनियनो के जो नेता अधिक ज़िम्मेदार है, वे महसूस करते हैं कि कलकत्ता जैसे बड़े केन्द्रों मे बागडोर उनके हाथ से निकलकर कम्युनिस्टों के हाथ में पहुँच गयी है और ये लोग जब तक परिस्थिति अनुकूल रहे, तब तक उससे भरपूर लाभ उठाना चाहते हैं।" (खण्ड ८, पृष्ठ १५९)। वाइसराय ने हड़ताल समाप्त करने की सम्भावना पर विचार किया। उनकी राय थी कि "हड़ताल वापस लेना अब शायद नेताओ के भी वश में नही है। कलकत्ते की ट्रेड यूनियन कौंसिल में कम्युनिस्ट छाये हुए है। इस हफ्ते उन्होंने डाकियों की हड़ताल के समर्थन मे सभी मज़दूरों से एक दिन की हड़ताल करने का आह्वान किया। इन मज़दूरों में परिवहन-व्यवस्था के मज़दूर भी हैं। यह हड़ताल लगभग पूरी तरह शान्त रही। यह बात स्थानीय प्रशासन के लिए गौरव की है।" (उप., पृष्ठ १६०)।

### (ग) अंग्रेज़ों का जवाबी हमला

इसके बाद कलकत्ते में दगे हुए। मज़दूर वर्ग अपनी क्रान्तिकारी भूमिका निबाह रहा था, इसका प्रमाण कलकत्ते की शान्तिपूर्ण आम हड़ताल थी। डाक-तार विभाग के कर्मचारी अपनी लड़ाई अलग-थलग लड़ें, यह स्थिति बदल रही थी। उनके समर्थन में और सभी मज़दूर एकजुट हो रहे थे। १६ अगस्त को बगाल के गवर्नर ने भारत-सचिव को सूचित किया कि कलकत्ता और उपनगरों मे लगभग पूरी तरह हड़ताल है। एक दिन के लिए सड़क पर परिवहन सेवाएँ बन्द है। प्रमुख हिन्दू इलाकों की कुछ दुकानें छोड़कर सभी फर्में और दफ्तर बन्द हैं। रेलों के आने-जाने मे कोई खास गड़बड़ी नही हुई। पानी और बिजली की सेवाओं में किसी ने दखल नही दिया। उत्तर-पूर्वी कलकत्ते में सबेरे दगे शुरू हुए और शाम

तक पूरे शहर में फैलते गये। फौज से कहा गया कि पुलिस से जहाँ न बन पड़े, वहाँ कुछ रास्ते चालू रखनेके लिए गश्त लगाये। "अभी तक जो उपद्रव हुए हैं वे स्पष्टतः साम्प्रदायिक है और वे सरकार-विरोधी या ब्रिटिश-विरोधी नही हैं, मैं दोहराता हूँ कि वे सरकार-विरोधी या ब्रिटिश-विरोधी नही है।" (उप., पृष्ठ २४०)।

इन्ही घटनाओ का अधिक विस्तृत विवरण बंगाल के गवर्नर ने २३ अगस्त १९४६ को वाइसराय के पास भेजा। इस विवरण मे गवर्नर बरोज़ ने दो तरह की हड़तालो की भिन्नता दिखायी है। २९ जुलाई की हड़ताल मजदूरों ने की थी; १६ अगस्त की हड़ताल मुस्लिम लीग और उसकी सरकार ने करायी थी। दोनों मे बडा अन्तर था। बरोज़ ने लिखा,"२९ जुलाई को जो आम हड़ताल सफल हुई थी, उसकी मिसाल नही दी जा सकती। श्रम-सम्बन्धी विवाद में वह हड़ताल एक पक्ष के समर्थन मे की गयी थी। मजदूर होने के नाते हिन्दुओ और मुसलमानों, दोनो को उससे दिलचस्पी थी। खूब जोरदार पिकेटिंग के द्वारा हड़ताल करायी गयी लेकिन एक सामान्य उद्देश्य के लिए [औद्योगिक, न कि साम्प्रदायिक उद्देश्य के लिए] दोनो सम्प्रदायों के लोगों ने पिकेटिंग में भाग लिया था। उस दिन कही भी उपद्रव न हुआ क्योंकि कोई भी पिकेटिंग करनेवालों का विरोध न करता था। जब एक सम्प्रदाय दूसरे के खिलाफ पिकेटिंग करता है, तब संघर्ष होना अनिवार्य है।" (उप.; पृष्ठ २९४)। बंगाल के गवर्नर के अनुसार ही कलकत्ते के मजदूरों ने दिखा दिया था कि शान्तिपूर्ण हड़ताल कैसे की जाती है। बरोज ने हड़ताल के शान्तिपूर्ण होने का श्रेय अधिकारियो को दिया था किन्तु यहाँ उन्होने स्वीकार किया है कि पिकेटिंग करनेवालों का विरोध करनेवाला कोई था ही नहीं। कलकत्ते में हिन्दू-मुस्लिम एकता का दृढ आधार मौजूद था। जिस दिन कलकत्ते में यह शान्तिपूर्ण हड़ताल हुई, उसी दिन २९ जुलाई को आल इण्डिया मुस्लिम लीग ने बम्बई में प्रस्ताव पास किया कि पाकिस्तान हासिल करने के लिए मुसलमान कौम सीधी कारंवाई करे। इसके लिए उसने १६ अगस्त का दिन निश्चित किया। उस दिन बंगाल मे मुस्लिम लीग की सरकार ने, गवर्नर की जानकारी मे और उनकी सहमति से, छुट्टी का दिन घोषित कर दिया। १६ अगस्त को यूरोपियन लोगों की जितनी दूकानें थी, वे बन्द रही और उनमे से कोई भी लूटी न गयी। कलकत्ते के मैदान मे मुस्लिम लीग की सभा हुई। इसमे मुख्यमन्त्री ने कहा कि उन्होंने बन्दोबस्त कर लिया है कि पुलिस और फौज दखल न देगी। (उप.; पृष्ठ २९७)। (He had seen to police and military arrangements who would not interfere. यह वाक्य केन्द्रीय गुप्तचर विभाग के अफसर की रिपोर्ट मे था; कलकत्ते की पुलिस ने अपनी रिपोर्ट में यह वाक्य न लिखा था!) गवर्नर के विवरण के अनुसार सभा के समाप्त होते ही वहाँ आये हुए बहुत से लोगों ने हिन्दू दूकानो को लूटना और हिन्दुओं पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। लाल बाजार मे पुलिस का वह थाना था जहाँ से सारे शहर की व्यवस्था पर नियन्त्रण रखा जाता था। लाल बाजार के कन्ट्रोल-रूम मे मुख्यमन्त्री अधिक समय तक बने रहे। उनकी उपस्थिति का परिणाम यह था कि मैदान की सभा में वह जो आश्वासन दे

आये थे कि पुलिस दखल न देगी, वह अमल में लाया गया। सभा में बहुत से लोग लाठियाँ और लोहे की छड़ें लेकर पहुँचे थे। तीसरे पहर स्थिति इतनी खराब हो गयी कि अधिकारियों ने सेना बुलाने का निश्चय किया। पुलिस कमिश्नर ने गवर्नर को सूचित किया कि सेना की सहायता लेने के बारे मे मुख्यमन्त्री सहमत हो गये हैं। इसके बाद कुछ पुलिस और सैनिक अधिकारियों के साथ गवर्नर शहर की हालत देखने निकले। उस समय उन्होंने लूटपाट का चिह्न नही देखा और उन्होंने फैसला किया कि परिस्थिति उतनी खराब नही है जितनी उन्होने समझी थी। सेना की सहायता लेने के बारे मे प्रस्ताव यह था कि दो-दो तीन-तीन सैनिक गलियों और सड़को के मुहाने पर खड़े होकर राहें रोक लें। सैनिक अधिकारी इससे सहमत न थे। तै हुआ कि सैनिक दस्ते तैयार रखे जायें और जरूरत हो तब गश्त लगाने के लिए बुला लिए जायें। "वे शाम के पाँच बजे सियालदा पहुँच गये लेकिन करफ्यू लागू होने के बाद परिस्थिति मे शायद सुधार होने के कारण उन्हें लगभग आधी रात तक गश्त लगाने के लिए नही बुलाया गया।" (उप.; पृष्ठ २९६)।

इस विवरण से स्पष्ट है कि पुलिस को मुख्यमन्त्री ने सँभाला और फौज को गवर्नर ने, और दोनों ने इस बात का ध्यान रखा कि १६ अगस्त की आधी रात तक इनमें कोई भी दगाइयों से निपटने का प्रयत्न न करे। मुख्यमन्त्री ने पुलिस के बारे मे अपनी ओर से बात कही होगी किन्तु फौज दखल न देगी, यह आश्वासन वह गवर्नर की तरफ से कोई इशारा मिले बिना न दे सकते थे। करफ्यू लगा देने के बाद भी लूटपाट, आगजनी और छुरेबाज़ी की घटनाएँ होती रही। कुछ क्षेत्रो में १६ अगस्त की रात को, आधी रात के बाद अर्थात् १७ अगस्त के सवेरे, फौज की टुकड़ियों ने गश्त लगायी। उस दिन गवर्नर फिर शहर देखने निकले। "इस बार शहर को देखने से मुझे विश्वास हो गया कि परिस्थिति की गम्भीरता के बारे में जो रिपोर्टें पहले मिली थी, उनमे गम्भीरता को कम करके आँकने की गलती की गयी थी। मैंने देखा कि सम्पत्ति का भारी नाश हुआ है और सड़कें मुर्दों से पटी पड़ी हैं।" (पृष्ठ २९८)। गवर्नर को फ्रांस का युद्ध-क्षेत्र याद आ गया। उन्होंने नोट किया कि दगा करनेवाले सरकार-विरोधी नही है, पुलिस-विरोधी नही है। पुलिस की गाड़ी पहुँचनेपर लोग गलियो मे गायब हो जाते थे। गाड़ी के जाते ही फिर आ जाते थे। तीन आदमी कुछ दूरी पर गवर्नर की आँखो के सामने मारे गये। बहुत-सी लाशों के कपड़े उतार लिये गये थेऔर उन्हे क्षत-विक्षत किया गया था। इसके बाद गवर्नर ने लिखा है, "जो पुलिस दल मेरे साथ चल रहा था, किले का सैनिक कमाण्डर, और मुख्य सचिव (चीफ सेक्रेटरी), इन सबका रवैया असन्तोष-जनक था। उससे इन आरोपों की पुष्टि होती है कि उपद्रव के प्रारम्भिक दौर मे सारे का सारा पुलिस-दल गोली चलाने मे आनाकानी करता था।" (उप.; पृष्ठ २९८)। दूसरों की हत्या करनेवालों पर पुलिस गोली चलाने मे क्यों आनाकानी करती थी, इसके लिए गवर्नर ने राजनीतिज्ञो को दोष दिया है जो पुलिस को निरन्तर गाली देते रहे थे। कारण कुछ भी रहा हो, पुलिस ने दगा रोकने का प्रयत्न नही किया। किले के सैनिक कमाण्डर का रवैया भी असन्तोषजनक था।

उसके लिए तो राजनीतिज्ञों को दोष नहीं दिया जा सकता। सड़क पर इतनी लाशें थी कि अन्तिम क्रिया के लिए फौज की सहायता लेनी पड़ी; प्रति शव के लिए सैनिक स्वयसेवकों को पाँच रुपये दिये गये। उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश सरकार ने दो हजार व्यक्तियों को गुण्डा होने के अपराध मे बन्दी बना रखा था। जुलाई से दिसम्बर १९४५ तक ये लोग छोड़ दिये गये थे। गवर्नर के शब्दों में इनका छोडा जाना "बहुत महत्त्वपूर्ण था।" गवर्नर ने नोट किया कि सीधी कार्रवाई कहने को अंग्रेजों के खिलाफ थी किन्तु "जहाँ तक मुझे मालूम है, ऐसी एक भी घटना नही हुई जिसमे किसी यूरोपियन या ऐंग्लोइण्डियन पर हमला किया गया हो। फरवरी में यूरोपियन दूकानें तबाह की गयी थी (और जो भीड़ ऑक्टर लोनी मोनूमेण्टवाली सभा में मौजूद थी, उसके लिए ये दूकानें बहुत अच्छा निशाना थी), उन्हें एकदम छोड़ दिया गया था। काफी अचरज की बात है कि यूरोपियन दूकानो के बाजारों में केवल हिन्दुस्तानी दूकानें तबाही के लिए चुनी गयी थी।" (उप. ३०२)।

१६ अगस्त के दंगे ने सिद्ध कर दिया कि क्रान्तिविरोधी शक्तियाँ प्रबल हैं। सरकार को पता न था कि इस परिस्थिति में कम्युनिस्ट पार्टी क्या करेगी। "आखिरी समय तक यह पता न था कि कम्युनिस्ट पार्टी और मजदूर सभाओं का रुख क्या होगा। ट्रामवे-मजदूर-सभा पर कम्युनिस्टों का नियन्त्रण था। यह पता न था कि ऐसे उपद्रवकारियों का रुख क्या होगा। आखिरी क्षण में ट्रामवे मजदूरों और बसों के मालिकों ने तय किया कि वे अपने वाहन न चलायेंगे। इससे मुझे थोड़ी शान्ति मिली। वाहन चलाने का परिणाम यह होता कि इससे तुरत ही हर तरह के वाहनों पर हमले शुरू हो जाते। अनुभव ने सिखा दिया था कि आज के कलकत्ते मे एक बार हिंसा शुरू हो जाये तो वह बहुत जल्दी फैलती है।" (उप.; पृष्ठ २९५)। क्रान्तिकारी शक्तियाँ परिस्थिति से निपटने के लिए तैयार न थी। दंगा रोकने मे उनकी भूमिका कारगर न हुई। साम्प्रदायिक दगे साम्राज्यवाद का अस्त्र हैं, वे सीधी क्रान्ति-विरोधी कार्यवाही है, यह कलकत्ते के दगे से सिद्ध हो गया।

कलकत्ते मे जब दगे हुए तब फ्रेण्ड्स ऐम्बुलेन्स यूनिट के कार्यकर्ता हौरेस अलेग्जाण्डर कलकत्ते मे थे। उन्होने २२ अगस्त १९४६ को भारत-सचिव के नाम एक पत्र मे अपनी आँखोदेखी और कानोंसुनी बातें लिखी। रेडक्रास की एक गाड़ी में बैठकर वह अपने साथ कुछ आदमी लेकर १७ अगस्त के सवेरे कई क्षेत्रों में गये जहाँ दंगों से स्थिति सबसे खराब थी। रेडक्रास मे हिन्दू और मुसलमान दोनों तरह के कर्मचारी थे और खूब मिल-जुलकर काम कर रहे थे। अलेग्जाण्डर ने पुलिस के लिए लिखा कि पिछले जाड़े मे उसकी आलोचना इसलिए की गयी कि उसने जल्दबाजी की थी और इस बार आलोचना इसलिए हो रही थी कि उसने बहुत देर लगा दी। "लेकिन मैं यह बात नोट कर देना चाहता हूँ कि पूरे शुक्रवार और शनिवार के दो दिनों मे पुलिस ने कही भी कारगर ढग से दखल दिया हो, इसका एक उदाहरण भी सुनने मे नही आया। पुलिस खड़ी देखती रही या उसने दखल देने से इन्कार किया, इसके कई उदाहरण सुनने मे आये। शनिवार के सवेरे (यानी १७ अगस्त

को) जब हम एक दंगों से बुरी तरह प्रभावित क्षेत्र में थे और एक परिवार को खतरे से बचा रहे थे, तब एक पुलिस-दस्ता आया, उसके पीछे एक लारी थी। कभी-कभी वे हवा मे फायर कर देते थे। फायरिंग की आवाज़ से हथियारबन्द गुण्डों और लुटेरो को कुछ क्षण पहले से चेतावनी मिल जाती थी और वे जल्दी से भाग जाते थे या गलियों में ग़ायब हो जाते थे। कुछ मिनटो मे पुलिस चली जाती थी और गुण्डे फिर आ जाते थे। उस समय सड़कों मे खतरनाक हथियार लिए हुए नौजवानों का हुजूम था। स्पष्ट ही किसी को गिरफ़्तार न किया जा रहा था। शनिवार के तीसरे पहर तक सहायता के लिए फौज को नही बुलाया गया, मेरी समझ में इसकी सख्त आलोचना होनी चाहिए। फौज के आने से स्थिति मे तुरत सुधार हुआ।" (उप.; पृष्ठ २८८)।

फौज बुलाने के बारे में जो कठिनाई होती है, अलेग्ज़ाण्डर ने उसका भी उल्लेख किया। जल्दी बुलायी जाये तो सरकार की आलोचना होगी। सरकार की तरफ से कुछ लोग अवश्य कहेंगे कि पिछले जाड़े में जो लोग फौजी कार्यवाही की आलोचना कर रहे थे, वही अब उसकी मांग कर रहे थे। "लेकिन स्पष्ट ही मुख्य बात यह नही है कि कोई पार्टी-लीडर क्या कह रहा है। साधारण नागरिक की सुरक्षा के लिए क्या ज़रूरी है, मुख्य बात यह है। और मुझे अभी तक कलकत्ते का कोई ऐसा नागरिक नही मिला जो यह समझता हो कि पुलिस का खुला निकम्मापन देखते हुए फौज को बुलाने मे इतनी देर क्यों की गयी।" (उप.)। अंग्रेज़ों को इस बात से सन्तोष हुआ कि दोनो सम्प्रदाय के लोग उन्हें अपना मित्र और संरक्षक मानते है। एक हिन्दू परिवार को एक मुसलमान ने बचाया। उस मुसलमान की गाड़ी मुसलमान गुण्डो ने जला दी। इस तरह की घटनाएँ दोनो ओर काफी हुई जो दोनो सम्प्रदायों के लिए गौरवपूर्ण हैं। उस हिन्दू परिवार के लोगों ने कहा कि हथियारबन्द दस्ते के बिना वे सड़क पर न जा सकेंगे। "लेकिन जैसे ही उन्होने मेरा गोरा चेहरा देखा, तो स्पष्ट ही उन्होंने तय कर लिया कि उनकी रक्षा के लिए मैं काफी हूँ। उन्होने यह नही पूछा कि मेरे पास कौन-से हथियार हैं। शायद वे समझे हो कि हर अंग्रेज हथियार लेकर चलता है! लेकिन मुझे विश्वास नही है कि अंग्रेज़ों के प्रति यह दोस्ती का भाव बना रहेगा। ज़ाहिर है, कुछ और सोच-विचार के बाद कुछ लोग आपस मे कहने लगे है: 'हो सकता है कि इस सबकी योजना मुस्लिम लीग या उसके कुछ आन्दोलनकारियों ने बनायी हो, लेकिन देखो तो ज़रा, यह सब ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की योजना में कितनी खूबसूरती से फिट हो जाता है। आखिर यहाँ एक ब्रिटिश गवर्नर है, उसके ब्रिटिश सलाहकार है। वह सारी जिम्मेदारी से बच नही सकता, खासतौर से कानून और व्यवस्था के बुनियादी मामलो में। उन्होने पहले दखल क्यों नही दिया? शायद इसलिए कि वे दुनिया को दिखाना चाहते थे कि हम अपना शासन चलाने के कितने अयोग्य हैं'।" (उप.; पृष्ठ २८९)।

अलेग्ज़ाण्डर ने भारत-सचिव को स्पष्ट लिखा कि उक्त दृष्टिकोण से वह सहमत नही है किन्तु पिछले दिनों उस तरह की बातें उन्होने कई जगह सुनी। अंग्रेज गवर्नर वैसी हालत में संविधान के अनुसार काम करे, यह स्थिति असह्य

थी। जब तक यह कानून नही बन जाता जिससे भारत स्वाधीन होगा और वह अमल में नही आ जाता, तब तक भारत की आम जनता के प्रति ब्रिटिश अधिकारी अपने नैतिक दायित्व से पूरी तरह बच नही सकते। कानून और व्यवस्था की जिम्मेदारी हिन्दुस्तानी मन्त्रियों की है, यह कहने मे काम न चलेगा। इस अत्यन्त गम्भीर परिस्थिति में नैतिक समस्याओं का सीधे सामना करना होगा। जो कुछ हुआ है, उसके लिए भारत-सचिव और पार्लियामेण्ट जिम्मेदार नही है, यह कहने से भी काम न चलेगा। (उप.)।

बरोज के विवरण से जो मुख्य निष्कर्ष निकलते है, उनकी पुष्टि अलेग्जाण्डर के विवरण से होती है। पुलिस और फौज, विशेष रूप से पुलिस, समय से दंगा रोकने मे असफल रही, यह तथ्य स्पष्ट होता है। फौज को देर से बुलाने के लिए सीधी जिम्मेदारी गवर्नर की थी और अलेग्जाण्डर ने इसकी सख्त नुक्ताचीनी की है। दंगा संगठित ढंग से कराया गया था और उसमें पुलिस का हाथ था, यह भी अलेग्जाण्डर के पत्र से स्पष्ट हो जाता है। दंगे की भीषण परिस्थिति में भी कलकत्ते के साधारण लोग यह बात समझ रहे थे और कह रहे थे कि मुस्लिम लीग ने जो कुछ किया, वह सब ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की योजना के अनुकूल था। आम जनता की साम्राज्यविरोधी चेतना निर्जीव न हुई थी। इस चेतना को आधार बनाकर साम्राज्यवादी योजना विफल करने के लिए कार्य-नीति निश्चित की जा सकती थी। जनता के नेता, क्रान्तिकारी और गैरक्रान्तिकारी, इस तरह की कार्यनीति निश्चित नही कर पाये, तो इसका कारण यह नही था कि जनता मे साम्राज्यविरोधी चेतना का अभाव था। कारण यह था कि साम्राज्यवादियों ने समझौते के द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करने का जो जाल फैलाया था, ये नेता उसमे फँस गये थे, निकलने की कोशिश की तो निकल न पाये।

दगे क्यों हुए, इसकी जाँच के लिए एक कमीशन बैठाया गया। जाँच होने से मुस्लिम लीग का मन्त्रिमण्डल बदनाम न हो जाये, वाइसराय की यह चिन्ता देखने योग्य है। २८ अगस्त १९४६ को वेवल ने भारत-सचिव को लिखा कि सभी लोग सहमत है कि जाँच कमीशन मे हाईकोर्ट के जज होंगे और उसका अध्यक्ष अंग्रेज होगा। "मुझे इसमे शक है कि मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध कमीशन को कोई प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा, सिवा इसके कि शुक्रवार, १६ अगस्त की सीधी कार्रवाई दिवस-वाली मैदान की सभा मे सुहरावर्दी (मुख्यमन्त्री) ने एक मूर्खतापूर्ण भाषण किया था। उन्होने वहाँ दरअसल क्या कहा था, इसके बारे मे काफी बहस होगी।" (उप.; पृष्ठ ३१३-१४)। पुलिस की आलोचना होगी, वाइसराय वेवल जानते थे। उसके बचाव के लिए उन्होंने कहा कि पहले जब उसने [illegible] काम लिया, तब उसे गालियाँ दी गयी। इस[illegible] उसने वि[illegible]या। लेकिन वाइसराय ने यह माना कि [illegible] और [illegible]तः बहुत छूट दी गयी थी।

अंग्रेज अधिकारी दगो के [illegible] दबाव [illegible] तरह [illegible] कर रहे थे, इसके [illegible]क उदाह[illegible] १६ [illegible] सीधी कार्[illegible]या। [illegible]

मुलाकात हुई। वाइसराय के अनुसार "मुलाकात के अधिक भाग में इस सम्भावना पर बातें हुई कि जिन्ना से एक बार फिर बातचीत शुरू की जाए। मैंने यह तर्क दिया कि इधर जो घटनाएँ हुई हैं, शायद उनकी वजह से जिन्ना बात मान जायें। उनका सहयोग पाने के लिए हमने हर सम्भव प्रयत्न न किया तो हमारे ऊपर अत्यन्त गम्भीर जिम्मेदारी आ पड़ेगी। नेहरू ने स्वय ही कहा था कि जिन्ना सोच रहे हैं कि [समझौते का] कोई रास्ता निकल आये। नेहरू ने कहा कि पिछले ४८ घण्टों में जो कुछ हुआ है, उससे जिन्ना से बात चलाना और भी कठिन हो गया है। वह उनके [अर्थात् जिन्ना के] सहमत होने की सम्भावना नही देखते; कांग्रेस [अन्तरिम सरकार के लिए] गैर-लीगी मुसलमान को नामजद करना न छोड़ेगी। इसका अर्थ होगा और भी अधिक विलम्ब। हमने कुछ देर और इस बारे में बातचीत की। आखिर तय पाया कि नेहरू दिल्ली में स्थित [वर्किंग] कमेटी के अन्य सदस्यों से सलाह करेंगे और कल मुझे पत्र लिखेंगे। मैंने भरसक उन पर दबाव डाला लेकिन लगता है कि कोई असर न हुआ। (I pressed him as strongly as possible but do not think I made much impression)। मैंने विशेष रूप से इस खतरे की ओर ध्यान दिलाया कि फौज टूट सकती है [अर्थात् साम्प्रदायिक रूप से विभाजित हो सकती है]।" (उप., पृष्ठ २५३)।

यहाँ वाइसराय बहुत स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि उन्होंने नेहरू पर दबाव डाला कि वे मुस्लिम लीग से समझौता करें। समझौते में पहली अड़चन यह थी कि मुस्लिम लीग स्वयं को सभी मुसलमानों का प्रतिनिधि मानती थी। कांग्रेस में जो मुसलमान थे, उन्हें वह हिन्दुओं का दलाल कहती थी। अंग्रेजों को जल्दी थी कि केन्द्र में अन्तरिम सरकार बने। क्रान्तिकारी परिस्थिति को ठण्डा करना उसका काम होगा। अन्तरिम सरकार बनने में जितनी ही देर होगी, वातावरण उतना ही गरम होगा। कांग्रेस भी अन्तरिम सरकार बनाने को उत्सुक थी। राष्ट्रीय

के बाद संविधान-सभा में काम करने की बारी आयेगी। यदि एक बार खुद को सभी मुसलमानों का नेता मनवा लिया, तो पाकिस्तान की माँग स्वीकार कराने में आसानी होगी, वरना दिक्कत पेश आएगी। मुस्लिम लीग की ओर से अंग्रेज़ अधिकारी कांग्रेस पर हर तरह का दबाव डाल रहे थे। वे जानते थे कि प्रश्न अन्तरिम सरकार का नही, मूल प्रश्न पाकिस्तान का है। जिन्ना भी जानते थे कि मूल प्रश्न अन्तरिम सरकार में कांग्रेस से सहयोग करने का नही है, मूल प्रश्न देश के विभाजन का है।

वाइसराय ने जो फौज के टूटने की बात कही थी, उसकी ध्वनि यह थी कि बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगों से बचाव के लिए केवल फौज का भरोसा है। यदि वह टूट गयी तो सहायता के लिए किसे बुलाओगे?

१६ अगस्त को वाइसराय ने मौलाना अबुल कलाम आज़ाद से मुलाकात की। वाइसराय के विवरण के अनुसार आज़ाद ने कहा कि सुहरावर्दी ने कलकत्ते के गुण्डों

को अपने समर्थन में संगठित किया था। १६ अगस्त की सार्वजनिक छुट्टी कर देने से गुण्डे समझे कि सरकार ने उन्हें मनमानी करने की छूट दे दी है। उन्होंने कहा कि शुक्रवार के हताहतों में हिन्दू ज्यादा थे, बाद को मुसलमानों की संख्या अधिक थी। उन्हें भय था, संयुक्त प्रान्त और बिहार में मुसलमान अल्पसंख्यक हैं; उन पर क्या बीतेगी? "उन्होंने बंगाल के मन्त्रिमण्डल की सख्त आलोचना की। यह जानते हुए कि उपद्रव होगा, उसने पहले से बचाव की यथेष्ट कार्यवाही नहीं की। दफ़ा १४४ और पूरी तरह करफ़्यू लागू करने में बहुत देर की गयी। उन्होंने कहा कि फौज काफी जल्दी नहीं बुलायी गयी।" (उप., पृष्ठ २६१)। कांग्रेस यह माँग करती रही थी कि ब्रिटिश फौजें भारत से हटायी जायें। वेवल ने व्यंग्य किया कि सभी ब्रिटिश फौजें हटाने की कांग्रेसी माँग मान ली गयी होती, तो परिस्थिति और भी अधिक खराब होती। इसके बाद अन्तरिम सरकार में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का सवाल उठाया। वाइसराय ने सुझाया कि गैरवाजिब स्तर के मुसलमानों के नाम देने के बदले कुछ स्थान खाली रखना अच्छा होगा। आज़ाद ने कहा कि कांग्रेस नामों की सूची अगले दिन भेजेगी। अन्तरिम सरकार के सदस्यों की कोई बात वाइसराय को ठीक न लगे तो वह उसे निरस्त कर सकता था, यह बात वेवल ने आज़ाद के सामने स्पष्ट कर दी। जवाहरलाल नेहरू ने अन्तरिम सरकार के सदस्यों की जो सूची बनायी, उसमें आसफ़अली, फ़ज़लुलहक़, शफ़ात अहमद खाँ, सैयद अली ज़हीर के नाम थे और एक मुस्लिम सदस्य के लिए जगह खाली छोड़ दी गयी थी। इनमें वेवल के कहने से फ़ज़लुलहक़ को शामिल न किया गया। अली ज़हीर के बारे में वेवल की धारणा थी कि वह कम्युनिस्ट बुद्धिजीवी है यद्यपि कांग्रेस के सदस्य हैं। (उप., पृष्ठ २७२)। आसफ़अली और शफ़ात अहमद खाँ के बारे में वेवल की राय थी कि इनमें न योग्यता है और न चरित्र की दृढ़ता। फ़ज़लुलहक़ उनकी समझ में अत्यन्त भ्रष्ट था लेकिन मुख्य कारण यह था कि "और किसी नाम से लीग इतना न चिढ़ेगी जितना इस नाम से।" (उप.)। २१ अगस्त को वाइसराय ने भारत-सचिव को बताया, "मैंने नेहरू पर ज़ोर डाला कि जिन्ना को शामिल करने के लिए एक बार फिर कोशिश करें लेकिन कांग्रेस की पार्लियामेन्ट्री कमेटी बहुत अनिच्छुक है।" जिन्ना ने अखबारों में एक बहुत ही अड़ियल बयान जारी किया है। उससे लगता है कि सफलता की सम्भावना शून्य के बराबर है।

२२ अगस्त १९४६ को घनश्यामदास बिड़ला ने दंगों का मूल्यांकन करते हुए क्रिप्स को लिखा कि परिस्थिति सुधर रही है और इस दंगे के बाद किसी बड़े उपद्रव की आशंका नहीं है। "मुसलमान समझ गये हैं कि इस तरह की चीजों से किसी को लाभ न होगा। मुझे विश्वास है कि भविष्य में दूसरी बार कदम उठाने के पहले वे बहुत सावधानी बरतेंगे।" (उप., पृष्ठ २७८)। शरत्‌चन्द्र बोस ने गवर्नर की आलोचना की थी। बिड़लाजी गवर्नर से दो बार मिले थे। उसकी बुद्धिमानी और चुस्ती की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा कि उनके पद-ग्रहण के बाद हालत पहले से अच्छी है। उन्होंने मन्त्रिमण्डल की आलोचना की और कहा कि हर आदमी चाहता है कि इसे बर्खास्त किया जाये।

बिड़लाजी गवर्नर की प्रशंसा इसलिए कर रहे थे कि वह किसी भी कांग्रेसी नेता की अपेक्षा अंग्रेजों से समझौता करने को अधिक लालायित थे। गवर्नर और मन्त्रिमण्डल की मिली भगत थी, यह अनेक बयानों से स्पष्ट है। उसी दिन बिड़लाजी ने हेण्डरसन को एक पत्र लिखा जिसमें दंगों की चर्चा अधिक विस्तार से की। यह पत्र भी क्रिप्स के देखने के लिए भेज दिया। कितने मारे गये ? कुछ लोगों का कहना था ६०००, दूसरों का कहना था १५०००। "बहुत-सी लाशें सड़कों के मैनहोलों में और नदी में फेंक दी गयी थी, इसलिए सही हिसाब लगाना कठिन था। सड़कें लाशों से प्रायः पटी हुई थीं। ६ दिन तक लाशें उठायी न जा सकी।" (उप., पृष्ठ २७६)। बिड़लाजी ने १९२६ के दंगे देखे थे किन्तु ये दंगे उनके विचार में भारतीय इतिहास में अभूतपूर्व थे। जो अभी तक अभूतपूर्व था, वह निकट भविष्य में सामान्य बनने जा रहा था। कारण यह था कि १८५७ के बाद से अब तक ऐसी क्रान्तिकारी परिस्थिति पैदा न हुई थी। १८५७ में अंग्रेज दंगे कराने में असफल हुए थे, इस बार उन्हें आशातीत सफलता मिल रही थी।

बिड़लाजी ने अपने पत्र में इस समाचार का उल्लेख किया कि दंगा शुरू होने के पहले मुस्लिम लीगी कर्मचारी बंगाल सरकार की मोटरलारियों में सड़कों पर गश्त लगाते और भीड़ की अगुवाई करते देखे गये। जब कैबिनेट-मिशन भारत आया था, तब बिड़लाजी के अनुसार इस प्रश्न पर काफी चर्चा हुई थी कि यदि मुस्लिम लीग निराश हुई तो गृहयुद्ध छिड़ेगा या नहीं। यह सवाल क्रिप्स ने किया था और बिड़लाजी ने उत्तर दिया था कि गृहयुद्ध की कोई सम्भावना नहीं है, जहाँ-तहाँ दंगे हो सकते हैं। उनके विचार से पंजाब में खतरा नहीं था। केवल बंगाल में, खासतौर से कलकत्ते में दंगे हो सकते थे, और बंगाल में भी, उन्हें आशा थी, जब तक लीगी मन्त्रिमण्डल न चाहेगा, तब तक दंगे न होंगे। क्रिप्स ने आश्वासन दिया था कि यदि मन्त्रिमण्डल कानून और व्यवस्था कायम न रख सका तो धारा ९३ लागू कर दी जायेगी। बिड़लाजी ने हेण्डरसन को याद दिलाया कि मन्त्रिमण्डल की अक्षमता पूरी तरह सिद्ध हो चुकी है। पुलिस पूरी तरह असफल हुई है। आम धारणा यह है कि मन्त्रिमण्डल न चाहता तो दंगे न होते। अन्तरिम सरकार बननेवाली थी। बिड़लाजी को आशा थी कि अन्तरिम सरकार बनने पर कोई फ़साद न होगा। बिड़लाजी ने यह पत्र भारत-सचिव को भी दिखा देने के लिए कहा।

प्रश्न यह था कि दंगों के बाद कांग्रेस मुस्लिम लीग से समझौता करेगी या नहीं। नेहरूजी ने २२ अगस्त १९४६ को अन्य समस्याओं के साथ साम्प्रदायिक समस्या हल करने के लिए केन्द्र में मजबूत अस्थायी सरकार बनाने पर ज़ोर देते हुए वेवल को पत्र लिखा। कलकत्ते की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि वहाँ की घटनाओं का जो महत्व हमारे लिए है, वह वाइसराय के लिए नहीं हो सकता। हमारे सगे-सम्बन्धी इस हत्याकाण्ड की लपेट में आ गये हैं, हमारे बच्चों और प्रिय-जनों को किसी भी समय हत्यारे के छुरों का सामना करना पड़ सकता है। "हमारे सामने यह भयानक यथार्थ है। हल्ला मचाये बिना हम उसका सामना करेंगे लेकिन हम हत्याकाण्ड से हाथ न मिलायेंगे, हम उसे देश का भविष्य निर्धा-

रित न करने देंगे। हम हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों और दूसरे लोगों को समझाते-बुझाते रहेंगे और कोशिश करेंगे कि वे दोस्ताना सहयोग की राह पर चलें। भारत की प्रगति के लिए और दूसरी राह नहीं है। लेकिन हम नहीं समझते कि गलत काम करनेवालों के तुष्टीकरण से सहयोग प्राप्त हो जायेगा।" (उप., पृष्ठ २८६)। दूसरे दिन वाइसराय से नेहरूजी की मुलाकात हुई। नेहरू के पत्र की चर्चा करते हुए वाइसराय ने कहा कि मजबूत सरकार जरूरी है, कानून और व्यवस्था बनाये रखना जरूरी है, "लेकिन मुसलमानों के प्रति ऐसी नीति न होनी चाहिए जिससे वे भड़क उठें। मैं हरगिज ऐसे किसी काम में साथ न दूंगा जिसका उद्देश्य मुस्लिम लीग को तोड़ देना हो।"(उप., पृष्ठ २९०)। वाइसराय नेहरूजी को समझा रहे थे कि मुस्लिम लीग को मुसलमानों की एकमात्र संस्था न मानोगे तो इसका मतलब होगा कि अन्तरिम सरकार बनाकर मुस्लिम लीग को बलपूर्वक तोड़ना चाहते हो।

वाइसराय ने कहा कि "उन्हें दृढ़ विश्वास है कि मुस्लिम लीग के सहयोग के बिना भारत के सयुक्त बने रहने की, अथवा सत्ता के शान्तिपूर्ण हस्तान्तरण की, कोई सम्भावना नहीं है। एक पार्टी की सरकार से देशी रियासतें भी शायद स्वतन्त्रतापूर्वक सन्धिवार्त्ता न कर सकेंगी। नेहरू ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की और लगता था कि वे यह बात स्वीकार कर रहे हैं।" (उप., पृष्ठ २९०-९१)। वाइसराय ने सारा मामला बहुत साफ शब्दों में पेश कर दिया था। मुख्य बात थी सत्ता पर अधिकार करने की। शान्तिपूर्ण ढंग से सत्ता हथियाना है तो मुस्लिम लीग से समझौता करो। इस समय क्रान्ति का प्रश्न राष्ट्रीय एकता के प्रश्न से जुड़ गया था। भारत-विभाजन की माँग मुस्लिम लीग की बुनियादी माँग थी। वाइसराय कह रहे थे कि मुस्लिम लीग के सहयोग से ही भारत सयुक्त बना रह सकता है। अब मुस्लिम लीग अपनी बुनियादी माँग मनवाये बिना सहयोग न दे, तो वाइसराय बेचारा क्या करे? उसने यह भी चेता दिया कि देशी रियासतों के विलयन की समस्या कांग्रेस-लीग समझौते पर निर्भर है। अन्तरिम सरकार में किसे कौन-सा विभाग दिया जायेगा, संविधान-सभा की बैठक कब होगी, आदि अन्य बातों पर बातचीत हुई। मुलाकात में वाइसराय ने नेहरू की मनोदशा पर ध्यान दिया। "उनका रुख दोस्ताना था लेकिन कुछ गुमसुम और उदास से लगते थे।" (उप., पृष्ठ २९२)।

## ८. अन्तरिम सरकार—ब्रिटिश कूटनीति का मजबूत फन्दा

### (क) स्वाधीनताप्राप्ति का संघर्षविहीन मार्ग

अंग्रेज एक ओर मुस्लिम लीग से समझौता करने पर जोर दे रहे थे, दूसरी ओर वह कांग्रेस को अकेले ही अन्तरिम सरकार बनाने का अवसर दे रहे थे। उनकी कार्यनीति के इन दोनों पक्षों में कोई आन्तरिक विरोध न था। अन्तरिम सरकार का बनना क्रान्तिकारी उभार को ठण्डा करने के लिए तुरत जरूरी था। आखिरी फैसला आगे चलकर चाहे जब हो, एक बार केन्द्र में ऐसी सरकार बनने पर, जिसके नेता जवाहरलाल नेहरू हों, जनता मान लेगी कि अब शान्तिपूर्ण ढंग से

पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो जायेगी। मुस्लिम लीग अभी बाहर थी। एक-आध जगह और दंगे हुए तो कांग्रेस और झुक जायेगी। आगे-पीछे जब भी मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार में शामिल होगी, बहुत जल्दी सभी को पता लग जायेगा कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग जैसी दो विरोधी पार्टियों का मिलकर काम करना असम्भव है। पाकिस्तान बनने का मार्ग और सुगम हो जायेगा, यह स्पष्ट हो जायेगा कि अन्तरिम सरकार के बाद दो स्वतन्त्र राज्यों की सरकारें ही यहाँ काम कर सकती हैं।

२४ अगस्त १९४६ को वेवल ने रेडियो से अपना भाषण प्रसारित किया। अन्तरिम सरकार में ६ सदस्य कांग्रेस द्वारा नामजद किये जायेंगे, तीन प्रतिनिधि अल्पसंख्यकों के होंगे। मुस्लिम लीग अपनी ओर से पांच नाम प्रस्तावित कर सकती है। किसी भी महत्वपूर्ण समस्या पर बहुमत का फैसला मुस्लिम लीग पर लादा न जायेगा। दो दलों की सरकार तभी चल सकती है जब दोनों दलों को सन्तोष हो। कलकत्ते की घटनाओं पर नियन्त्रण कायम करने में फौज की भूमिका की चर्चा करते हुए वेवल ने कहा कि नागरिक उपद्रव का दमन फौज का सामान्य कर्तव्य नहीं है। अन्तरिम सरकार में कोई भारतीय रक्षामन्त्री होगा। किन्तु फौज बादशाह सलामत के प्रति वफादार रहेगी। जिस दिन लीग तय करेगी कि उसे शामिल होना है, अन्तरिम सरकार का गठन नये सिरे से कर दिया जायेगा। (खण्ड ८, पृष्ठ ३०६-७)।

२७ अगस्त के दस्तावेज में वाइसराय ने भारत-सचिव को बताया कि केन्द्र में यदि समझौता नहीं होता तो कलकत्ते में तथा भारत में अन्यत्र और भी गम्भीर दंगों से बचना असम्भव होगा। (उप., पृष्ठ ३११)। २७ अगस्त को नेहरूजी और गांधीजी से वाइसराय की भेंट हुई। "मैंने कहा कि मैं अभी कलकत्ते से लौटा हूँ, इसलिए उन्हें मिलने के लिए बुलाया है। मैंने कलकत्ते में जो कुछ देखा था, उसका हाल उन्हें सुना दिया। मैंने कहा कि इससे भी बड़े पैमाने पर सारे भारत में ऐसा उपद्रव हो सकता है। उससे बचने का एक ही तरीका है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में समझौता हो और साम्प्रदायिक तनाव में कुछ कमी आये। मैंने बंगाल में और केन्द्र में दोनों जगह मिली-जुली सरकारें बनाने के महत्व पर जोर दिया।" (उप., पृष्ठ ३१२)। वाइसराय ने माना कि मुस्लिम लीग से फिर बातचीत करने में कठिनाई है लेकिन कलकत्ते में जो कुछ हुआ था, उसे देखते देश यही चाहता था कि बातचीत फिर से शुरू हो। झगड़े की जड़ यह थी कि संविधान सभा में सूबों के जो गुट बनेंगे, उनके बारे में कांग्रेस की व्याख्या एक थी और वाइसराय की दूसरी। कांग्रेस यदि मान ले और यह बात साफ-साफ कह दे कि सूबे अपने निर्धारित विभागों में रहेंगे तो सत्ता का शान्तिपूर्ण हस्तान्तरण सम्भव होगा। वाइसराय ने गांधीजी और नेहरूजी को बयान देने के लिए एक मसौदा भी पेश कर दिया। काफी देर बहस हुई और कोई प्रगति न हुई। "एक बार नेहरू बहुत ही गरम हो उठे और बोले कि यह मुस्लिम लीग की धमकी और धुड़की-वाली नीति है। गांधी ने कहा कि रक्तपात होना होगा तो अहिंसा के बावजूद होगा। मैंने कहा कि उनसे ऐसे शब्द सुनकर मुझे भारी धक्का लगा है। अन्त में वे

मेरा फारमूला [अर्थात् बयान का मसौदा] लेकर चले गये लेकिन मैं नही समझत कि वे उसे मान लेंगे, इसकी विशेष आशा है।" (उप., पृष्ठ ३१३)। जैसी वि वेवल को आशंका थी, कांग्रेस ने उनका मसौदा अस्वीकार कर दिया। नेहरू ने वेवल को लिखा कि हम सब लोग साम्प्रदायिक सद्भाव कायम करने के लि बहुत उत्सुक है, "पर आप जो रास्ता सुझा रहे हैं, उससे हमारी समझ में उल्ट नतीजा निकलेगा। हमारी घोषित नीति आमतौर से सही मानी जाती है। उसे डराने-धमकाने से हम बदल दें तो इससे किसी तरह शान्ति कायम न होगी, उल्ट और भी अधिक डराने-धमकाने और हिंसा करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा इसलिए हम आपका प्रस्ताव स्वीकार करने मे असमर्थ हैं।" (उप., पृष्ठ ३२७)

२ सितम्बर १९४६ को अन्तरिम सरकार बनी। उस दिन नयी दिल्ली के प्रार्थना सभा मे गांधीजी ने कहा, पूर्ण स्वराज का द्वार आखिर खुल गया है। सार भारत इसी दिन के लिए मुसीबतें सहता आया था, बरसों तक इसी दिन की राह देखता आया था। ब्रिटिश सरकार से जो भी पुरानी लड़ाई रही हो, अब तो सरकार को धन्यवाद देना चाहिए कि उसने खुशी से भारतीय नेताओं के साथ समझौता किया है। अभी पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त नही हुई। यह तब प्राप्त होगी जब अन्तरिम सरकार का भार सँभालनेवाले बिन ताज के बादशाह जवाहरलाल और उनके सहयोगी जनता की वास्तविक सेवा करेंगे। मुस्लिम लीग अभी अन्तरिम सरकार मे शामिल नही हुई। कांग्रेस का एक ही उद्देश्य है कि अन्तरिम सरकार में शामिल होने पर सारे भारत के लिए स्वाधीनता प्राप्त करे; इसमे मुस्लिम लीग भी शामिल है। (उप., पृष्ठ ३८६)। अंग्रेज चाहते थे कि अन्तरिम सरकार मे कांग्रेस शामिल हो तो क्रान्तिकारी उभार ठण्डा हो जाये। भारत-सचिव ने वाइसराय को सावधान किया कि वह अन्तरिम सरकार बनने से पहले कोई ऐसा काम न करे जिससे कांग्रेस से बातचीत टूट जाये। कांग्रेस यदि लीग से समझौता नही करती तो यह खतरा है कि बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक उपद्रव होगा। "इसके साथ ही हमे आपसे यह कहना है कि कोई ऐसा कदम न उठायें जिससे कांग्रेस से बिगाड़ हो जाये। हमसे पहले पूछे बिना ऐसा कोई कदम न उठायें क्योंकि इस बिगाड़ के बड़े गम्भीर परिणाम होंगे।" (उप., पृष्ठ ३३२)। भारत-सचिव का यह दस्तावेज २८ अगस्त का है। उसी दिन के अन्य दस्तावेज मे भारत-सचिव ने प्रसन्नता प्रकट की कि वाइसराय को अन्तरिम सरकार के निर्माण में सफलता मिली है। उसमे खामियाँ है और आगे चलकर उनका नतीजा सामने आयेगा [मुस्लिम लीग शामिल नही हुई, यह खामी है। और दंगे होंगे, यह नतीजा सामने आयेगा] लेकिन उसका चमकीला पक्ष भी है। "आखिर ऐसी कार्यपरिषद बन गयी जो पूरी तरह भारतीय है। इसके मुख्य सदस्य ऐसे लोग है जिन्हे न केवल भारत का बहुत बड़ा भाग, वरन् संसार का बहुत बड़ा भाग सम्मान की दृष्टि से देखेगा। यह बहुत बड़ी बात है कि कांग्रेस ने अपने चोटी के आदमी कैबिनेट में रखे हैं। एक समय लगता था कि वे उन्हें कैबिनेट से बाहर रखेंगे, वैसा नही हुआ।" (उप., पृष्ठ ३३३)।

नेहरूजी अन्तरिम सरकार में शामिल हुए। उन्होने वाइसराय को लिखा कि

राजनीतिक विभाग और रियासतों के बीच जो भी महत्वपूर्ण पत्र-व्यवहार हो, उसकी जानकारी उनको मिलती रहनी चाहिए। २५ सितम्बर को वेवल ने इस सन्दर्भ मे पेथिक लारेन्स को लिखा, "जो सयुक्त प्रशासनिक हितवाले मामले है, उनकी जानकारी हम उन्हें अवश्य दे सकते है। वातचीत के लिए जो प्रस्तावित समिति (कन्सल्टेटिव कमिटी) है, वहाँ उनको ऐसी जानकारी मिलेगी। किन्तु राजनीतिक विभाग और रियासतो के बीच हर महत्वपूर्ण पत्राचार की जानकारी मैं उन्हें देने नही जा रहा हूँ। वैसा करने से नरेशो के साथ बड़ी कठिनाई पैदा होगी और यह मांग बिल्कुल गैरवाजिब इसलिये भी है कि केन्द्रीय सरकार सर्वोपरि सत्ता का स्थान उत्तराधिकार मे न पायेगी।" (उप., पृष्ठ ५८६)। ब्रिटिश सत्ता रियासतो के सन्दर्भ मे सर्वोपरि थी; वह नेहरू-पटेल की अन्तरिम सरकार के सन्दर्भ मे भी सर्वोपरि थी। रियासतों से अंग्रेज सरकार मिलकर कब कौन-सी कार्रवाई करेगी, इसकी सूचना वाइसराय नेहरू को न देना चाहते थे। रियासतो मे किस तरह के परिवर्तन होगे और कब होगे, इस बारे मे अंग्रेज पहल करने का अवसर अपने हाथ से न जाने देना चाहते थे।

## (ख) अन्तरिम सरकार के अधिकारों की सीमाएँ

अन्तरिम सरकार को कितना अधिकार हो, उसके कार्य मे वाइसराय किस हद तक दखल दे, इस बारे मे संविधान विशेषज्ञ तरह-तरह के मत प्रकट करते थे। १८ मई १९४६ के 'टाइम्स' समाचार पत्र मे भूतपूर्व भारत-सचिव एमेरी का एक पत्र छपा। इसमे उन्होंने कैबिनेट मिशन के १६ मई वाले बयान की प्रशसा की और कहा कि इस समय महत्व की बात अस्थायी भारतीय सरकार का बनना है। "ऐसी सरकार को अवश्य भारत के मौजूदा कानूनी विधान के अन्तर्गत काम करना होगा। लेकिन उस विधान मे ऐसा कुछ नही है जिससे वाइसराय, अपने निजी विवेक के आधार पर, अपनी शक्ति का उपयोग करने को बाध्य हो (पिछले वर्षों मे दर हकीकत इस शक्ति का उपयोग किया ही नही गया), और अपनी कार्यकारिणी के बहुमत के फैसले को अस्वीकार कर दे, जब तक कि वास्तविक भारतीय हितों की रक्षा के लिए अथवा मिशन के प्रस्तावों मे बतायी हुई संवैधानिक स्थिति की रक्षा के लिए ऐसा करना जरूरी न हो। इस देश [ब्रिटेन] की सरकार या पार्लियामेण्ट के लिए यह बाध्यता और भी कम है कि वह उस विवेक के उपयोग में हस्तक्षेप करे। अन्तरिम सरकार के निर्माण मे और उस सरकार को अपने महान् दायित्व के निर्वाह में बहुत बड़ी सहायता मिलेगी यदि ब्रिटिश सरकार यह बात बिल्कुल साफ कर दे। मेरी समझ मे ऐसा कोई कारण नही है कि हम यहाँ और अभी यह घोषित न कर दें कि कामनवेल्थ के अन्य किसी सदस्य देश की सरकार से, या कहिये कामनवेल्थ के बाहर भी किसी राष्ट्र की सरकार से, हमारे जैसे सम्बन्ध है, उनसे इस सरकार से [भारत की अन्तरिम सरकार से] हमारे सम्बन्ध जरा भी भिन्न न होगे।" (खण्ड ७, पृष्ठ ६३२)।

जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य कांग्रेसी नेता यही मांग कर रहे थे कि अन्तरिम सरकार बने, तो उसे स्वाधीन देश की अस्थायी सरकार माना जाये। एमेरी

कन्सर्वेटिव मन्त्रिमण्डल में भारत-सचिव रह चुके थे। इस समय वह अत्यन्त उदार हो रहे थे। उदारता का कारण यह था कि ब्रिटेन में विरोधी लेबर पार्टी की सरकार थी। एमेरी ने विरोधी दल को असमंजस में डालने के लिए लन्दन के 'टाइम्स' में यह पत्र छपाया होगा। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में कन्सर्वेटिव पार्टी ने इस पत्र में बतायी नीति को अमल में लाने के लिए लेबर पार्टी पर ज़ोर डाला हो, ऐसा कुछ नहीं हुआ किन्तु ब्रिटिश अधिकारी परेशान अवश्य हुए। नयी दिल्ली से १९ मई को भारत-सचिव को सन्देसा भेजा गया कि वह अपनी ओर से एमेरी को पत्र लिखकर समझाएँ (और पत्र डाक से नहीं किसी आदमी के हाथ भेजा जाय) कि इस समय वाइसराय वार्तालाप के बड़े नाज़ुक दौर में है; अन्तरिम सरकार किस आधार पर बने, यह मुख्य समस्या है। "यदि आप मामले के इस पहलू पर टिप्पणी करने से फिलहाल बाज आयेंगे तो हमें बड़ी सहायता मिलेगी। दरपेश मसलों की गम्भीरता को देखते हुए मुझे आशा है कि इस मामले में मेरे अपील करने का आप बुरा न मानेंगे।" (उप.)। वाइसराय की तरफ से सन्देसा भेजा गया कि भारत-सचिव, मजदूर दल के नेता, लार्ड पेथिक लारेन्स टोरी दल के नेता एमेरी से प्रार्थना करें कि ज्यादा असमंजस में न डालिए, आखिर हमारी आपकी नीति एक ही है। एमेरी ने फिर वैसी कोई टिप्पणी नहीं की। बालमुकुन्द गुप्त की बात सही थी : जैसे लिबरल वैसे टोरी, जैसे नाली वैसे मोरी। लिबरल की जगह लेबर पढ़ा जाये तो भी मात्राएँ बराबर रहेंगी।

असमंजस की बात दरकिनार, लेबर पार्टी की सरकार को वास्तव में चिन्ता यह थी कि वाइसराय कहीं इस तरह हस्तक्षेप न करें कि अन्तरिम सरकार का खेल ही बिगड़ जाये। ६ सितम्बर को, अन्तरिम सरकार बन जाने के बाद, भारत-सचिव ने वाइसराय को लिखा कि कैबिनेट मिशन जब भारत में था, तब कांग्रेस से जो बातचीत हुई और अन्तरिम सरकार के स्वरूप के बारे में नेहरू ने जो बयान दिये हैं, उनसे स्पष्ट है कि कांग्रेस आशा करती है कि मौजूदा संविधान को बहुत उदारतापूर्वक लागू किया जाये। वाइसराय ने ३० मई को जो पत्र मौलाना आज़ाद को लिखा था, उसमें व्यवहारतः बहुत बड़ी स्वच्छन्दता का वादा किया गया था। "इस समय हम यथासम्भव शीघ्र पूर्ण स्वाधीनता स्थापित करने की नीति पर चल रहे हैं और इस बीच स्वायत्त सरकार का प्रसार होने देना चाहते हैं। यदि ऐसा न भी होता तो भी भारत में इस समय हमारी स्थिति और शक्ति के साधन ऐसे नहीं रह गये कि अत्यन्त अनिवार्य कारण छोड़कर आप अपनी परिषद् के बहुमत के विरुद्ध अपने अधिकार का प्रयोग दरअसल कर सकें।" (खण्ड ८, पृष्ठ ४३४-३५)। भारत में क्रान्तिकारी परिस्थिति थी, इसका प्रमाण यह स्वीकृति है कि अंग्रेज़ों की शक्ति के साधन अब समाप्त हो गये हैं। वे अब इस स्थिति में नहीं हैं कि अन्तरिम सरकार के बहुमत के निर्णय का उल्लंघन करें। इस स्थिति से यह भी स्पष्ट है कि अंग्रेज़ मुस्लिम लीग को अन्तरिम सरकार में शामिल करने के लिए इतना ज़ोर क्यों दे रहे थे। मुस्लिम लीग के शामिल हो जाने पर ऐसा फ़ैसला करना असम्भव था जिसे दोनों दलों का संयुक्त फ़ैसला कहा जा सके। भारत के अंग्रेज़ अधिकारी विदा होने की घड़ियाँ गिन रहे थे। एक-एक दिन भारू

कन्सर्वेटिव मन्त्रिमण्डल मे भारत-सचिव रह चुके थे। इस समय वह अत्यन्त उदार हो रहे थे। उदारता का कारण यह था कि ब्रिटेन में विरोधी लेबर पार्टी की सरकार थी। एमेरी ने विरोधी दल को असमंजस में डालने के लिए लन्दन के 'टाइम्स' मे यह पत्र छपाया होगा। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट मे कन्सर्वेटिव पार्टी ने इस पत्र मे बतायी नीति को अमल मे लाने के लिए लेबर पार्टी पर जोर डाला हो, ऐसा कुछ नही हुआ किन्तु ब्रिटिश अधिकारी परेशान अवश्य हुए। नयी दिल्ली से १९ मई को भारत-सचिव को सन्देसा भेजा गया कि वह अपनी ओर से एमेरी को पत्र लिखकर समझाएँ (और पत्र डाक से नही किसी आदमी के हाथ भेजा जाय) कि इस समय वाइसराय वार्तालाप के बडे नाजुक दौर में है; अन्तरिम सरकार किस आधार पर बने, यह मुख्य समस्या है। "यदि आप मामले के इस पहलू पर टिप्पणी करने से फिलहाल बाज आयेंगे तो हमें बड़ी सहायता मिलेगी। दरपेश मसलों की गम्भीरता को देखते हुए मुझे आशा है कि इस मामले में मेरे अपील करने का आप बुरा न मानेंगे।" (उप)। *वाइसराय की तरफ से सन्देसा* भेजा गया कि भारत-सचिव, मजदूर दल के नेता, लार्ड पेथिक लारेन्स टोरी दल के नेता एमेरी से प्रार्थना करें कि ज्यादा असमजस मे न डालिए, आखिर हमारी आपकी नीति एक ही है। एमेरी ने फिर वैसी कोई टिप्पणी नही की। बालमुकुन्द गुप्त की बात सही थी : जैसे लिबरल वैसे टोरी, जैसे नाली वैसे मोरी। लिबरल की जगह लेबर पढा जाये तो भी मात्राएँ बराबर रहेंगी।

असमजस की बात दरकिनार, लेबर पार्टी की सरकार को वास्तव में चिन्ता *यह थी कि वाइसराय कही इस तरह हस्तक्षेप न करें कि अन्तरिम सरकार का खेल* ही बिगड जाये। ६ सितम्बर को, अन्तरिम सरकार बन जाने के बाद, भारत सचिव ने वाइसराय को लिखा कि कैबिनेट मिशन जब भारत में था, तब कांग्रे से जो बातचीत हुई और अन्तरिम सरकार के स्वरूप के बारे मे नेहरू ने जो वर दिये है, उनसे स्पष्ट है कि कांग्रेस आशा करती है कि मौजूदा सविधान को उदारतापूर्वक लागू किया जाये। वाइसराय ने ३० मई को जो पत्र मौ आजाद को लिखा था, उसमें व्यवहारतः बहुत बड़ी स्वच्छन्दता का वादा गया था। "इस समय हम यथासम्भव शीघ्र पूर्ण स्वाधीनता स्थापित क नीति पर चल रहे हैं और इस बीच स्वायत्त सरकार का प्रसार होने देना यदि ऐसा न भी होता तो भी भारत में इस समय हमारी स्थिति और साधन ऐसे नही रह गये कि अत्यन्त अनिवार्य कारण छोडकर आप अपनी के बहुमत के विरुद्ध अपने अधिकार का प्रयोग दरअसल कर सकें।" ( पृष्ठ ४३४-३५)। भारत मे क्रान्तिकारी परिस्थिति थी, इसका प्रमाण यह है कि अंग्रेजों की शक्ति के साधन अब समाप्त हो गये हैं। वे अब इस स्थि नहीं हैं कि अन्तरिम सरकार के बहुमत के निर्णय का उल्लघन करें। इस से यह भी स्पष्ट है कि अंग्रेज मुस्लिम लीग को अन्तरिम सरकार में शामिल के लिए इतना जोर क्यों दे रहे थे। मुस्लिम लीग के शामिल हो जाने पर फैसला करना असम्भव था जिसे दोनों दलों का संयुक्त फैसला कहा जा स भारत के अंग्रेज अधिकारी विदा होने की घड़ियाँ गिन रहे थे। एक-एक दिन भ

भारत से सम्मानपूर्वक निकल न पायेंगे।" (उप., पृष्ठ ७६६)। वेवल ने कांग्रेस को अन्तरिम सरकार बनाने का अवसर दिया। उसके बाद भयानक दंगे हुए, साम्प्रदायिक तनाव बढ़ा, क्रान्ति का उभार अपेक्षाकृत ठण्डा हुआ, फिर मुस्लिम लीग में शामिल हुई। ये सब जवाबी हमले की कार्यवाही थी। सेनापति वेवल में अपने रणकौशल का परिचय दिया। भारत में रहनेवाले अंग्रेज़ अब क्षित महसूस न करते थे। अपनी सुरक्षा के लिए भारतवासी उनका।

### ठण्डा करने का साधन

वेवल कौन-सा लक्ष्य सिद्ध करना चाहते थे, इसकी सूचना भारत-सचिव को दे दी थी। "निस्सन्देह यह सम्भव है कि कारगर ढंग से मजदूरों को काबू में रख सकती है, लेकिन कम्युनिस्टों और कांग्रेसी वामपक्ष के आन्दोलन के प्रति (उप., पृष्ठ २२८)। कम्युनिस्ट और कांग्रेस का वामपक्ष, शामिल थे, ऐसा विकल्प बन रहा था जो वाइसराय को अलग-थलग करके स्वाधीनता आन्दोलन को क्रान्ति-सकता था। किन्तु जिस तरह सेनापति वेवल ने अपनी ली थी और एक निश्चित योजना के अनुसार कार्य सुनिश्चित रणनीति और योजना कम्युनिस्टों समेत २७ जुलाई १९४६ को संयुक्त प्रान्त के गवर्नर इस नस्ट पुलिस को फोड़ रहे है। "चारों तरफ हड़तालों में यह आशा करना कि पुलिस पर इसका कोई बात है। अभी तक पुलिस का रिकार्ड फर्स्टक्लास है दरअसल हमें बहुत गम्भीरता से सोच-विचार करना। हड़तालों की सरगर्मी दूर करना अंग्रेज़ों के वश में ी से अन्तरिम सरकार द्वारा करा सकते थे। ६ अगस्त ो लिखा कि यह ऐसा देश नहीं है—यदि कोई ऐसा काफी दिन तक हिंसात्मक क्रान्ति के प्रचार की छूट हो। "यदि कांग्रेस अन्तरिम सरकार में शामिल हो क कांग्रेसी नेता समझें कि वे अब इतने शक्तिशाली नपट सकते है। दूसरी तरफ यह सम्भावना भी है कि ण अपनी नीति बदल दे, लेकिन मुझे इस बारे में यह बहुत सम्भव है कि कांग्रेस बहुत जल्दी ही का फैसला करेगी, वरना मजदूरों से सम्बन्धित (उप., पृष्ठ १९४)।

तिक परिस्थिति से परेशानी थी तो पड़ोसी मिल रही थी। २० सितम्बर के पत्र में

है। मिली-जुली सरकार और संविधान सभा को लेकर समझौता नहीं होता तो सेना के विघटन को रोका न जा सकेगा। इन सब बातों से स्पष्ट है कि यदि बादशाह सलामत की सरकार अपनी नीति नहीं बदलती, भारत पर दस-पन्द्रह साल तक शासन करते रहने का निश्चय नहीं करती, तो "राजनीतिक परिस्थिति जैसी भी हो, भारत में हमारे दिन इने-गिने रह गये हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, अधिकतम समय मेरे हिसाब से डेढ़ साल है या १९४८ के वसन्त तक है। मेरी समझ में बादशाह सलामत की सरकार अधिकार और जिम्मेदारी की छाया बनाये रखना न चाहेगी जब इन्हें लागू न किया जा सके। वैसा करने से ब्रिटेन की प्रतिष्ठा को धक्का ही लगेगा और कांग्रेस के विरुद्ध अल्पसंख्यकों की रक्षा न कर पाने पर हम उनकी सहायता न कर सकेंगे।" (उप., पृष्ठ ४५७)। इसलिए भारत से हटने के लिए अंग्रेजों को पहले से एक निश्चित योजना बना लेनी चाहिए। इसके बाद योजना की मुख्य बातें बतायी गयी हैं जो राजनीतिक परिस्थिति के मूल्यांकन के लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं और विस्तार से उनकी चर्चा यहां अनावश्यक है।

### (ग) विदाई की बेला—भगदड़ या जवाबी हमला ?

२३ अक्तूबर को फील्ड मार्शल वैवल ने भारत-सचिव लार्ड पेथिक लारेन्स को पत्र लिखा और उसमें इस स्थिति पर प्रकाश डाला कि जब किसी देश से हटना ही पड़े, तो यह काम किस तरह पूरा करना चाहिए। सेनानायक वैवल ने लिखा, "मैं फौजी कमाण्डर रह चुका हूँ। स्वभावतः पीछे हटने की क्रिया पूरी करने का कुछ ज्ञान मुझे है; दुर्भाग्य से पीछे हटने की ऐसी क्रियाएँ पूरी कराने का कुछ अनुभव भी मुझे है। मेरा निवेदन है कि भारत में हमारी स्थिति ऐसे सैनिक दल की-सी है जिसे बहुत बड़ी संख्यावाले शत्रु के सामने से पीछे हटने को बाध्य होना पड़ता है। स्वभावतः वह सैनिक दल यथासम्भव व्यवस्थित और कम से कम हानि उठाते हुए पीछे हटना चाहता है। पीछे हटने की क्रिया को पूरा करने का स्वीकृत फौजी तरीका यह है कि एक मोर्चे से दूसरे मोर्चे तक क्रमशः हटा जाये; ऐसा कालबद्ध कार्यक्रम के अनुसार आवश्यक तैयारी करने के बाद, अपना दायित्व क्रमशः घटाते हुए करना चाहिए। यदि कोई योजना न हो, एक बड़े मोर्चे पर, असम्भव स्थानों में, सैनिक दल तब तक डटा रहे जब तक उसे यथाशीघ्र निकलने को बाध्य न किया जाये, तो इस तरीके पर काम करने से विनाश अनिवार्य हो जाता है।" (खण्ड ८, पृष्ठ ७९६)। वेवल ने बहुत स्पष्ट रूप में भारत की राजनीतिक स्थिति और उसमें योजनाबद्ध तरीके से पीछे हटने की अनिवार्यता का विवरण प्रस्तुत कर दिया था। राजनीतिक रूप से अंग्रेज पीछे हटते हुए भी सम्भावित आक्रमण से अपने को बचाने के लिए उपयुक्त कदम उठाते जा रहे थे। अन्तरिम सरकार का निर्माण, पहले कांग्रेस का ही उसमें शामिल होना, फिर मुस्लिम लीग का आना, ये सब पीछे हटने की क्रिया के अभिन्न अंग थे। वैवल ने उचित गर्व से उस पत्र में लिखा था, "यदि मैं एक पार्टी की सरकार बनने न देता तो मिलीजुली सरकार कभी बनती ही नहीं। इसी तरह यदि पहलकदमी हमारे पास न होगी, दोनों पार्टियों और राजाओं को हम यह विश्वास नहीं दिला पाते कि हम जो कहते

भारत से सम्मानपूर्वक निकल न पायेंगे।" (उप., पृष्ठ ७९६)। वेवल ने कांग्रेस को अन्तरिम सरकार बनाने का अवसर दिया। उसके बाद भयानक दंगे हुए, साम्प्रदायिक तनाव बढ़ा, क्रान्ति का उभार अपेक्षाकृत ठण्डा हुआ, फिर मुस्लिम लीग सरकार में शामिल हुई। ये सब जवाबी हमले की कार्यवाही थी। सेनापति वेवल ने राजनीति में अपने रणकौशल का परिचय दिया। भारत में रहनेवाले अंग्रेज़ अब अपने को असुरक्षित महसूस न करते थे। अपनी सुरक्षा के लिए भारतवासी उनका मुँह देख रहे थे।

### (घ) क्रान्ति को ठण्डा करने का साधन

अन्तरिम सरकार से वेवल कौन-सा लक्ष्य सिद्ध करना चाहते थे, इसकी सूचना उन्होंने १३ अगस्त को भारत-सचिव को दे दी थी। "निस्सन्देह यह सम्भव है कि अन्तरिम सरकार ज़्यादा कारगर ढंग से मजदूरों को काबू में रख सकती है, लेकिन यह तभी होगा जब वह कम्युनिस्टों और कांग्रेसी वामपक्ष के आन्दोलन के प्रति दृढ़ नीति अपनाये।" (उप., पृष्ठ २२८)। कम्युनिस्ट और कांग्रेस का वामपक्ष, जिसमें कांग्रेसी सोशलिस्ट शामिल थे, ऐसा विकल्प बन रहा था जो वाइसराय से समझौता करनेवालों को अलग-थलग करके स्वाधीनता आन्दोलन को क्रान्तिकारी मार्ग पर आगे बढ़ा सकता था। किन्तु जिस तरह सेनापति वेवल ने अपनी एक रणनीति निर्धारित कर ली थी और एक निश्चित योजना के अनुसार कार्य कर रहे थे, उस तरह कोई सुनिश्चित रणनीति और योजना कम्युनिस्टों समेत वामपक्ष के पास नहीं थी। २७ जुलाई १९४६ को संयुक्त प्रान्त के गवर्नर इस बात से चिन्तित थे कि कम्युनिस्ट पुलिस को फोड़ रहे हैं। "चारों तरफ हड़तालों की सरगर्मी है। ऐसी हालत में यह आशा करना कि पुलिस पर इसका कोई प्रभाव न होगा, निराधार बात है। अभी तक पुलिस का रिकार्ड फर्स्टक्लास है किन्तु वह बिगड़ जाये तो दरअसल हमें बहुत गम्भीरता से सोच-विचार करना होगा।" (उप., पृष्ठ १९१)। हड़तालों की सरगर्मी दूर करना अंग्रेज़ों के वश में नहीं था। यह काम वे आसानी से अन्तरिम सरकार द्वारा करा सकते थे। ६ अगस्त को वेवल ने पेथिक लारेन्स को लिखा कि यह ऐसा देश नहीं है—यदि कोई ऐसा देश हो—जहाँ खुलेआम और काफी दिन तक हिंसात्मक क्रान्ति के प्रचार की छूट दी जाये और उससे हानि न हो। "यदि कांग्रेस अन्तरिम सरकार में शामिल हो जाती है तो यह सम्भव है कि कांग्रेसी नेता समझें कि वे अब इतने शक्तिशाली हैं कि जयप्रकाश नारायण से निपट सकते हैं। दूसरी तरफ यह सम्भावना भी है कि वैसा होने पर जयप्रकाश नारायण अपनी नीति बदल दें, लेकिन मुझे इस बारे में निश्चय नहीं है। मेरे विचार से यह बहुत सम्भव है कि कांग्रेस बहुत जल्दी ही कम्युनिस्टों के विरुद्ध कदम उठाने का फैसला करेगी, वरना मजदूरों से सम्बन्धित स्थिति और भी खराब हो जायेगी।" (उप., पृष्ठ १९४)।

अंग्रेज़ों को यदि भारत की राजनीतिक परिस्थिति से परेशानी थी तो पड़ोसी देशों की स्थिति से उन्हें कोई सान्त्वना न मिल रही थी। २० सितम्बर के पत्र में

है। मिली-जुली सरकार और संविधान सभा को लेकर समझौता नहीं होता तो सेना के विघटन को रोका न जा सकेगा। इन सब बातों से स्पष्ट है कि यदि बादशाह सलामत की सरकार अपनी नीति नहीं बदलती, भारत पर दस-पन्द्रह साल तक शासन करते रहने का निश्चय नहीं करती, तो "राजनीतिक परिस्थिति जैसी भी हो, भारत में हमारे दिन इने-गिने रह गये हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, अधिकतम समय मेरे हिसाब से डेढ़ साल है या १६४८ के वसन्त तक है। मेरी समझ में बादशाह सलामत की सरकार अधिकार और जिम्मेदारी की छाया बनाये रखना न चाहेगी जब इन्हें लागू न किया जा सके। वैसा करने से ब्रिटेन की प्रतिष्ठा को धक्का ही लगेगा और कांग्रेस के विरुद्ध अल्पसंख्यकों की रक्षा न कर पाने पर हम उनकी सहायता न कर सकेंगे।" (उप., पृष्ठ ४५७)। इसलिए भारत से हटने के लिए अंग्रेजों को पहले से एक निश्चित योजना बना लेनी चाहिए। इसके बाद योजना की मुख्य बातें बतायी गयी हैं जो राजनीतिक परिस्थिति के मूल्यांकन के लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं और विस्तार से उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

### (ग) विदाई की बेला—भगदड़ या जवाबी हमला ?

२३ अक्तूबर को फील्ड मार्शल वेवल ने भारत-सचिव लार्ड पेथिक लारेन्स को पत्र लिखा और उसमें इस स्थिति पर प्रकाश डाला कि जब किसी देश से हटना ही पड़े, तो यह काम किस तरह पूरा करना चाहिए। सेनानायक वेवल ने लिखा, "मैं फौजी कमाण्डर रह चुका हूँ। स्वभावतः पीछे हटने की क्रिया पूरी करने का कुछ ज्ञान मुझे है; दुर्भाग्य से पीछे हटने की ऐसी क्रियाएँ पूरी कराने का कुछ अनुभव भी मुझे है। मेरा निवेदन है कि भारत में हमारी स्थिति ऐसे सैनिक दल की-सी है जिसे बहुत बड़ी संख्यावाले शत्रु के सामने से पीछे हटने को बाध्य होना पड़ता है। स्वभावतः यह सैनिक दल यथासम्भव व्यवस्थित और कम से कम हानि उठाते हुए पीछे हटना चाहता है। पीछे हटने की क्रिया को पूरा करने का स्वीकृत फौजी तरीका यह है कि एक मोर्चे से दूसरे मोर्चे तक क्रमशः हटा जाये; ऐसा कालबद्ध कार्यक्रम के अनुसार आवश्यक तैयारी करने के बाद, अपना दायित्व क्रमशः घटाते हुए करना चाहिए। यदि कोई योजना न हो, एक बड़े मोर्चे पर, असम्भव स्थानों में, सैनिक दल तब तक डटा रहे जब तक उसे यथाशीघ्र निकलने को बाध्य न किया जाये, तो इस तरीके पर काम करने से विनाश अनिवार्य हो जाता है।" (खण्ड ८, पृष्ठ ७६६)। वेवल ने बहुत स्पष्ट रूप में भारत की राजनीतिक स्थिति और उसमें योजनाबद्ध तरीके से पीछे हटने की अनिवार्यता का विवरण प्रस्तुत कर दिया था। राजनीतिक रूप से अंग्रेज पीछे हटते हुए भी सम्भावित आक्रमण से अपने को बचाने के लिए उपयुक्त कदम उठाते जा रहे थे। अन्तरिम सरकार का निर्माण, पहले कांग्रेस का ही उसमें शामिल होना, फिर मुस्लिम लीग का आना, ये सब पीछे हटने की क्रिया के अभिन्न अंग थे। वेवल ने उचित गर्व से उस पत्र में लिखा था, "यदि मैं एक पार्टी की सरकार बनने न देता तो मिलीजुली सरकार कभी बनती ही नहीं। इसी तरह यदि पहलकदमी हमारे पास न होगी, दोनों पार्टियां और राजाओं को हम यह विश्वास नहीं दिला पाते कि हम जो कहते

भारत से सम्मानपूर्वक निकल न पायेंगे।" (उप., पृष्ठ ७९६)। वेवल ने कांग्रेस को अन्तरिम सरकार बनाने का अवसर दिया। उसके बाद भयानक दंगे हुए, साम्प्रदायिक तनाव बढ़ा, क्रान्ति का उभार अपेक्षाकृत ठण्ढा हुआ, फिर मुस्लिम लीग सरकार में शामिल हुई। ये सब जवाबी हमले की कार्यवाही थी। सेनापति वेवल ने राजनीति में अपने रणकौशल का परिचय दिया। भारत में रहनेवाले अंग्रेज़ अब अपने को असुरक्षित महसूस न करते थे। अपनी सुरक्षा के लिए भारतवासी उनका मुँह देख रहे थे।

### (घ) क्रान्ति को ठण्ढा करने का साधन

अन्तरिम सरकार से वेवल कौन-सा लक्ष्य सिद्ध करना चाहते थे, इसकी सूचना उन्होंने १३ अगस्त को भारत-सचिव को दे दी थी। "निस्सन्देह यह सम्भव है कि अन्तरिम सरकार ज्यादा कारगर ढंग से मजदूरों को काबू में रख सकती है, लेकिन यह तभी होगा जब वह कम्युनिस्टों और कांग्रेसी वामपक्ष के आन्दोलन के प्रति दृढ़ नीति अपनाये।" (उप., पृष्ठ २२८)। कम्युनिस्ट और कांग्रेस का वामपक्ष, जिसमें कांग्रेसी सोशलिस्ट शामिल थे, ऐसा विकल्प बन रहा था जो वाइसराय से समझौता करनेवालों को अलग-थलग करके स्वाधीनता आन्दोलन को क्रान्तिकारी मार्ग पर आगे बढ़ा सकता था। किन्तु जिस तरह सेनापति वेवल ने अपनी एक रणनीति निर्धारित कर ली थी और एक निश्चित योजना के अनुसार कार्य कर रहे थे, उस तरह कोई सुनिश्चित रणनीति और योजना कम्युनिस्टों समेत वामपक्ष के पास नहीं थी। २७ जुलाई १९४६ को संयुक्त प्रान्त के गवर्नर इस बात से चिन्तित थे कि कम्युनिस्ट पुलिस को फोड़ रहे हैं। "चारों तरफ हड़तालों की सरगर्मी है। ऐसी हालत में यह आशा करना कि पुलिस पर इसका कोई प्रभाव न होगा, निराधार बात है। अभी तक पुलिस का रिकार्ड फर्स्टक्लास है किन्तु वह बिगड़ जाये तो दरअसल हमें बहुत गम्भीरता से सोच-विचार करना होगा।" (उप., पृष्ठ १९१)। हड़तालों की सरगर्मी दूर करना अंग्रेज़ों के वश में नहीं था। यह काम वे आसानी से अन्तरिम सरकार द्वारा करा सकते थे। ६ अगस्त को वेवल ने पेथिक लारेन्स को लिखा कि यह ऐसा देश नहीं है—यदि कोई ऐसा देश हो—जहाँ खुलेआम और काफी दिन तक हिंसात्मक क्रान्ति के प्रचार की छूट दी जाये और उससे हानि न हो। "यदि कांग्रेस अन्तरिम सरकार में शामिल हो जाती है तो यह सम्भव है कि कांग्रेसी नेता समझें कि वे अब इतने शक्तिशाली हैं कि जयप्रकाश नारायण से निपट सकते हैं। दूसरी तरफ यह सम्भावना भी है कि वैसा होने पर जयप्रकाश नारायण अपनी नीति बदल दें, लेकिन मुझे इस बारे में निश्चय नहीं है। मेरे विचार से यह बहुत सम्भव है कि कांग्रेस बहुत जल्दी ही कम्युनिस्टों के विरुद्ध कदम उठाने का फैसला करेगी, वरना मजदूरों से सम्बन्धित स्थिति और भी खराब हो जायेगी।" (उप., पृष्ठ १९४)।

अंग्रेज़ों को यदि भारत की राजनीतिक परिस्थिति से परेशानी थी तो पड़ोसी देशों की स्थिति से उन्हें कोई सान्त्वना न मिल रही थी। २० सितम्बर के पत्र में

भारत-सचिव ने वाइसराय को बताया कि बर्मा में फासिस्टविरोधी संघ सरकार शासनतन्त्र पर अधिकार करने के उद्देश्य से आम हड़ताल की तैयारी कर रहा है। महँगाई वहाँ बहुत बढ़ गयी है। फासिस्टविरोधी संघ को सत्ता नहीं सौंपी जा सकती क्योंकि चुनाव से उसे सत्ता पाने का कोई अधिकार नहीं मिला है लेकिन गवर्नर से कहा गया है कि वह उसे सरकार में लाने की कोशिश करे। "किन्तु परिस्थिति बहुत ही नाजुक है। आम हड़ताल की धमकी हमारे सामने है और यदि यह हड़ताल हो जायेगी तो खुले विद्रोह जैसी स्थिति पैदा हो सकती है। ऐसी हालत से निपटने के लिए और कितनी फौज दरकार होगी, इस पर यहाँ सेना-नायक विचार कर रहे हैं, किन्तु जैसा आप बहुत अच्छी तरह जानते हैं, संसार के आप वाले हिस्से में जमीन पर सेनाएँ बहुत कम हैं। बर्मा में भारतीय फौजें इस्तेमाल करने के बारे में आपको तार भेज रहा हूँ। यदि नागरिक संघर्ष शुरू हो गया [अर्थात् फौजी टक्कर से भिन्न राजनीतिक संग्राम शुरू हो गया] तो बर्मा से भारत को भेजा जानेवाला चावल खतरे में पड़ जायेगा।" (उप., पृष्ठ ५५८)। भारत-सचिव के अनुसार हिन्दुस्तानी फौजों को इस्तेमाल करने की समस्या मध्य पूर्व से हिन्दुस्तानी फौजें बुलाने की समस्या से भी अधिक कठिन थी। उनकी समझ में यह दुर्भाग्य की बात थी कि अन्तरिम सरकार के बनते ही बर्मा में यह नाजुक स्थिति पैदा हो गयी।

२५ सितम्बर के दस्तावेज में वाइसराय ने भारतीय फौजों के सम्बन्ध में अपनी कैबिनेट के भीतर होनेवाली चर्चा की जानकारी भारत-सचिव को दी। सरदार बलदेवसिंह का रुख सम्भवतः नरम होगा किन्तु नेहरू ने विदेश में भारतीय फौजों के इस्तेमाल पर सख्त आपत्ति की। बर्मा के गवर्नर को वाइसराय ने सूचित कर दिया था कि हड़ताल तोड़ने के लिए भारतीय फौजों से काम न लिया जाये। (उप., पृष्ठ ५८६)।

६ अक्तूबर को जवाहरलाल नेहरू ने बर्मा के नेता औंगसान को तार दिया : हमारी सरकार बर्मा से और भारत के बाहर अन्य देशों से हिन्दुस्तानी फौजें हटाने के लिए उत्सुक है। हमारा प्रस्ताव है कि आपसे और बर्मा के सेनाध्यक्ष से बातचीत की जाये जिससे कि जो भी कदम उठाया जाये, उससे आपकी सरकार असमंजस में न पड़े। हमारी नीति क्रमशः फौजें वापस बुलाने की रही है। अगली अप्रैल तक बर्मा में अब से आधी फौज रह जायेगी। इस विषय पर आपकी सरकार की राय जानने से आभारी होंगे। अच्छा हो कि इन बातों के बारे में सलाह और फैसले के लिए आप सेनाध्यक्ष के साथ यहाँ आ जायें। आपके आने से बर्मा-भारत-सम्बन्धी दूसरे मामलों पर विचार करने में सुविधा होगी, दोनों सरकारों के बीच मैत्री और सहयोग बढ़ाने में सहायता मिलेगी जिसे हम मूल्यवान समझते हैं। तार के अन्त में नेहरूजी ने औंगसान से फिर मिलने की सम्भावना पर अपनी व्यक्तिगत प्रसन्नता व्यक्त की। (उप., पृष्ठ ६८२)। तार की प्रति वेवल ने भारत-सचिव के पास भेज दी। भारत-सचिव ने एक ओर बर्मा के गवर्नर को बताया कि नेहरू के सन्देश से कैसे निपटा जाये, दूसरी ओर वाइसराय से कहा कि जैसे ही अवसर मिले, नेहरू को समझा दें कि आपसे पूछे बिना ऐसे सन्देश भेजना अनुचित है। बादशाह

होता आया है : लड़ती है जनता, उससे लाभ उठाते हैं पूंजीपति। यही भारत हुआ।

### (ङ) पाकिस्तान में दरार पड़ने का भय

अंग्रेजों को एक परेशानी यह थी कि पाकिस्तान बनने पर उसमें सिन्ध और पश्चिमोत्तर प्रदेश शामिल न हुए तो क्या होगा। पश्चिमोत्तर प्रदेश में कांग्रेस पार्टी की सरकार थी। जिस प्रदेश में मुसलमान बहुसंख्यक थे, उसमें मुस्लिम लीग के अनुयायी अल्पसंख्यक थे। इन अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यक बनाना बहुत ज़रूरी था। यदि एक ओर पूर्वी-पंजाब और संयुक्त-प्रान्त में कांग्रेसी सरकारें हों और दूसरी ओर सीमान्त प्रदेश में भी वैसी ही सरकार हो, तो भारत छोड़ने के बाद पाकिस्तान को अपना अड्डा बनाने की जो बात अंग्रेज सोच रहे थे, वह बात कभी अमल में आ न सकती थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश के हवाई अड्डों से जो सामरिक महत्व के कार्य वे सिद्ध करना चाहते थे, उनकी सिद्धि की सम्भावना ही न रह जाती। इसीलिए पश्चिमोत्तर प्रदेश में जवाहरलाल नेहरू के एक छोटा-सा दौरा करने से ही गवर्नर और गवर्नर जनरल दोनों खफ़ा हो गये थे। नेहरूजी ने सरकारी अधिकारियों की आलोचना की तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। बंगाल और सिन्ध में ये अधिकारी इसी तरह मुस्लिम लीग की सहायता कर रहे थे। असम के गवर्नर क्लाउ ने अप्रैल १९४६ में परिस्थिति का जायज़ा लेते हुए जो दस्तावेज़ तैयार किया था, उसमें लिखा था कि जिन इलाकों में मुसलमान बहुसंख्यक हैं, उन्हें जबरदस्ती संघ में शामिल नहीं किया जा सकता। पश्चिमी-पंजाब, सिन्ध, बलूचिस्तान और पश्चिमोत्तर प्रदेश शायद संघ से अलग होना चाहेंगे। "एक कठिनाई यह है कि जो इलाके अलग-थलग बने नहीं रह सकते, जैसे कि पश्चिमोत्तर प्रदेश या सिन्ध भी, वे संघ में शामिल होने के खिलाफ़ वोट दे सकते हैं। उस हालत में परिस्थिति पर फिर से विचार करना ज़रूरी होगा।" (खण्ड ७, पृष्ठ १०७)। पश्चिमोत्तर प्रदेश में कांग्रेसी सरकार बनी हुई थी; सिन्ध में ऐसी स्थिति थी कि लीगी मन्त्रिमण्डल टूट रहा था और वहाँ कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने की सम्भावना थी। ९ सितम्बर १९४६ को भारत-सचिव पेथिक लारेन्स ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ऐटली को सिन्ध की स्थिति से अवगत कराया। सिन्ध में चुनाव होनेवाले थे। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की राय थी कि सिन्ध में इस समय चुनाव कराना पागलपन है। (खण्ड ८, पृष्ठ ४५४)। भारत-सचिव ने बताया कि सिन्ध की विधान सभा में लीग के २७ सदस्य हैं, कांग्रेस के २२ हैं, कांग्रेस-समर्थक राष्ट्रवादी मुसलमान ४ है, सय्यद गुट के स्वतन्त्र मुसलमान ४ हैं, ३ यूरोपियन है। ६० सदस्यों के सदन में मुस्लिम लीग के सदस्य केवल २७ है। सय्यद गुट ने कांग्रेस और राष्ट्रवादी मुसलमानों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाया। भारत-सचिव ने कहा, "सिन्ध में चुनाव न कराये जायें तो एक ही विकल्प रहता है, राष्ट्रवादी मुसलमानों, यूरोपियनों और सय्यद गुट के सहयोग से कांग्रेस सरकार बनाये या फिर प्रान्त पर धारा ९३ लागू करके वहाँ का शासन चलाया जाये। वास्तविक समाधान तो यह है कि वहाँ कांग्रेस-लीग सरकार

रीति का नतीजा यह होगा कि केन्द्रीय सरकार से टक्कर होगी। "मैं सम
कि गवर्नर जिम्मेदार है गवर्नर जनरल के प्रति और उनके माध्यम से अ
सरकार के प्रति। यदि ऐसा है तो उन्होंने [गवर्नर ने] दायित्वबोध का बहु
परिचय दिया है और अपने पूर्वाग्रह के कारण ऐसा लगता है कि अपने
उन्होंने दुरुपयोग किया है।" (उप., पृष्ठ ४२२)।

वास्तविक स्थिति यह थी कि अन्तरिम सरकार ज़िम्मेदार थी गवर्नर
के प्रति; अन्तरिम सरकार के प्रति गवर्नर जनरल ज़िम्मेदार नहीं थे। अ
सरकार कितनी राष्ट्रीय थी और कितनी लोकप्रिय थी, यह उस सरकार प
गवर्नर जनरल पर निर्भर था। इसलिए अन्तरिम सरकार सिन्ध के गवर्नर से
जितना नाराज होती, वह उसका कुछ भी बिगाड़ न सकती थी। ५ सितम
बाद ८ सितम्बर को नेहरूजी ने वाइसराय से फिर शिकायत की, "सि
स्थिति कुछ समय से बिगड़ती जा रही है और जहाँ तक मैं समझता हूँ, गव
इस काम में मदद की है। इससे सिन्ध सरकार की ही नहीं, गवर्नर की भी बद
होती है। इन सब घटनाओं का गहरा सम्बन्ध कैबिनेट से है और वह उनकी
देखी नहीं कर सकती।" (उप., पृष्ठ ४४६)। कैबिनेट अर्थात् गवर्नर ज
की एक्ज़िक्यूटिव कौंसिल। इस कार्यपरिषद् के किसी भी फैसले को
जनरल रद्द कर सकता था। अंग्रेज अधिकारी नेहरूजी द्वारा 'कैबिनेट' श
प्रयोग पर हँसते थे, इसके साथ ही वे स्वयं भी इस शब्द का प्रयोग करते
किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता शत्रु को परास्त करके जब अपनी अस
राष्ट्रीय सरकार बनाते हैं, तो उसकी अवज्ञा करना किसी गवर्नर जनरल के
सम्भव नहीं होता। अन्तरिम सरकार दोनों पक्षों के समझौते से बनी थी,
पक्ष एक-दूसरे पर अपने-अपने ढंग से प्रभाव डालते थे और इसके साथ सम
की राह पर भी बढ़ते थे, इसीलिए नेहरूजी बंगाल और सिन्ध के मन्त्रियों के ब
की आलोचना करते थे कि उनके बयान और भाषण मारकाट के लिए
निमन्त्रण है (उप.), पर शिकायत करने के अलावा और कुछ न कर सकते

भारत-सचिव के एक निजी सचिव थे जिनका नाम था टर्नबुल। उन्होंने (भ
और बर्मा के उपसचिव मोन्टीथ के नाम) ७ सितम्बर १९४६ के दस्तावेज में
की स्थिति का मूल्यांकन इस प्रकार किया था, "सवैधानिक रूप से सही तरीक
मालूम होगा कि कांग्रेस के नेता को बुलाया जाये और कहा जाये कि मन्त्रिम
बनाइये। *यदि यूरोपियन फैसला करें कि वे ऐसी सरकार को समर्थन देंगे और*
८ गैरलीगी मुसलमान उसका समर्थन करें तो एक सदस्य को अध्यक्ष बनाने के
उसके पास दो का बहुमत होगा। सय्यद-गुट अखिल भारतीय मामलों में मुस्लिम
के समर्थन की बात करता है; सिन्ध में मुस्लिम लीग से उसका झगड़ा स्थानीय मा
है। ऐसी सरकार को समर्थन देना वह अस्वीकार कर सकता है या समर्थन के लिए
कीमत माँग सकता है। ऐसी सरकार स्थायी न होगी पर उतनी स्थायी हो सक
जितनी मौजूदा सरकार है। इस नीति पर चलें तो आपत्ति यह है कि सिन्ध
प्रान्त है जिसमें मुसलमान बहुसंख्यक हैं। ४५ लाख की आबादी में मुसलमान
लाख हैं। कराची में गवर्नर ने मुझसे कहा था कि पुलिस तथा अन्य सेवाओं

अधिकतर मुसलमान है। यदि उनकी वफादारी खत्म हुई तो शासन पूरी तरह पंगु हो जायेगा। मौजूदा अखिल भारतीय परिस्थिति में यदि कांग्रेस की मिली-जुली सरकार सिन्ध में बनती है तो यह काफ़ी भड़कानेवाला काम होगा। सम्भव है कि इससे सहयोग की राह पर लौट आना और भी कठिन हो जाये।" (उप., पृष्ठ ४४६)।

टर्नबुल ने स्वीकार किया है कि समस्या का सीधा समाधान यह है कि कांग्रेस को सरकार बनाने के लिए बुलाया जाये। यदि कांग्रेस का बहुमत न होगा तो सरकार चलेगी ही नही। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि मुस्लिम लीग की सरकार में जितना स्थायित्व है, उतना स्थायित्व कांग्रेसी सरकार मे भी हो सकता है। किन्तु जिन्ना के भड़क जाने का बहाना करके टर्नबुल भी सीधे सर्वैधानिक समाधान को लागू करने के पक्ष में नही थे।

२५ सितम्बर को वाइसराय ने भारत-सचिव को बताया कि सिन्ध के मामले में कई बार नेहरू से झड़प हो चुकी है। "कांग्रेस को बेशक आशा है कि वह मुस्लिम लीग के मन्त्रिमण्डल के निर्माण को फिर रोक सकती है और यदि वह ऐसा कर सकी, तो इसका अर्थ होगा कि उत्तर-पश्चिमी पाकिस्तान मे दरार सी पड़ जायेगी (it means something of a breach in North-Western Pakistan.)।" (उप., पृष्ठ ५८६)।

वाइसराय के दस्तावेज मे असली कारण ज़ाहिर हो गया है। अंग्रेज़ नहीं चाहते थे कि उत्तर-पश्चिमी पाकिस्तान में दरार पड़े। इसलिए सीधा संवैधानिक हल स्वीकार करना उनके लिए सम्भव न था। वह तरह-तरह के बहाने बनाते थे जिससे कि लीग सत्ता में बनी रहे या चुनाव का नाटक कराने के बाद उसे फिर सत्ता प्राप्त हो जाये। वे जिन्ना के भड़कने की बातें करते थे पर वे जानते थे कि जिन्ना उतना ही भड़केंगे जितना अंग्रेज उन्हें भड़कने देंगे। जब कैबिनेट मिशन भारत आया था, तब क्रिप्स के निजी सहायक वायट (Wyatt) भी साथ आये थे। २४ मई १९४६ को जिन्ना से उनकी मुलाकात हुई। जिन्ना के सामने समस्या यह थी कि मुस्लिम लीग की कार्यकारिणी में किस तरह ऐसा प्रस्ताव पास कराया जाये कि उसमें कैबिनेट मिशन के बयान को स्वीकार किया गया हो। वायट ने कहा कि "क्या वह यह समझते है कि मुस्लिम लीग की कार्यकारिणी निम्न प्रकार की बातो के आधार पर प्रस्ताव पास कर सकेगी।" इसके बाद उन्होंने प्रस्ताव की मुख्य बातें बतायी जिनमें अपनी ताकत से पाकिस्तान लेने की बात शामिल थी। "किन्तु मुसलमान यह आशा कभी नही करते थे कि अंग्रेज़ उन्हें पाकिस्तान दे देंगे। कोई उन्हें पाकिस्तान दे देगा, यह आशा उन्होंने नही की। वे जानते थे कि उन्हें अपनी ही ताकत से उसे लेना है। कैबिनेट मिशन के बयान में जो योजना दिखायी गयी थी, वह अव्यावहारिक थी और अमल मे न लायी जा सकती थी। फिर भी यह दिखाने के लिए कि वे उसे आजमाने को तैयार हैं, वे बयान को स्वीकार कर लेंगे हालांकि वे जानते हैं कि यह सारा तन्त्र (मशीनरी) काम न करेगा। वे अपनी तरफ से सारी कार्यप्रणाली को ठप न करेंगे। पाकिस्तान तक पहुँचने के लिए [कैबिनेट मिशन का] बयान पहली मंजिल है, इस रूप में वह उसे

स्वीकार कर लेंगे।" कैबिनेट मिशन से सम्बद्ध एक व्यक्ति जिन्ना को सुझा रहा था कि अंग्रेजों के विरुद्ध कितनी बातें और किस ढग से कहनी चाहिए और उतनी बातें कह लेने के बाद अंग्रेजों का बयान किस रूप में स्वीकार करना चाहिए। इस समय अंग्रेज भारतीय एकता के बड़े पक्षपाती बन रहे थे, कांग्रेस और लीग को इस एकता की रक्षा के लिए मिलकर काम करना चाहिए, इस बात का जोरों से प्रचार कर रहे थे, इसके साथ ही वे जिन्ना को बता रहे थे कि पाकिस्तान तक पहुँचने के लिए कैबिनेट मिशन का बयान पहला कदम है। वायट ने जो सुझाव दिया, उस पर जिन्ना की प्रतिक्रिया वायट के अनुसार यह थी, "इस सुझाव पर वह खुश हो गये और बोले, 'बिल्कुल ठीक, आपने पते की बात कही है।' ('That's it, you've got it'.) मुझे पूरा विश्वास है कि मुस्लिम लीग यही करेगी।" (खण्ड ७, पृष्ठ ६८६-८७)। मुस्लिम लीग के नेता और अंग्रेज किस तरह मिलकर काम कर रहे थे, वायट का यह दस्तावेज उसका प्रमाण है।

अंग्रेज यह प्रयत्न कर रहे थे कि मुसलमानों मे केवल धार्मिक एकता को बढ़ावा दिया जाये। उनमे सिन्धी, बगाली, पठान या पंजाबी होने का जो जातीय भाव है, उसे नष्ट कर दिया जाये। उनके प्रयत्नों के बावजूद यह असाम्प्रदायिक जातीय चेतना मुसलमानों मे विद्यमान थी, यह उनके अनेक दस्तावेजों से प्रकट होता है। सिन्ध के गवर्नर मूडी के अनुसार सय्यद गुट ने कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव का विरोध इसलिए किया कि सिन्ध को पजाब के साथ जबरदस्ती बाँध न देना चाहिए। उसे स्वतन्त्र राज्य बनने का अधिकार होना चाहिए। "इस प्रान्त में जो पजाबी-विरोधी भावना है, सय्यद उससे लाभ उठाने की कोशिश कर रहा है।" (उप., पृष्ठ ६७८)। मिल्लत के नाम पर मुस्लिम लीग और अंग्रेजों ने सिन्धीपन, पंजाबीपन मिटाने की बड़ी कोशिश की। पूर्वी बगाल ने दिखा दिया कि कुछ समय के लिए धर्मान्धता जातीय चेतना को दबा सकती है, अन्त में जातीय चेतना ही अधिक शक्तिशाली सिद्ध होगी। पंजाब का नाम सभी पजाबियों के लिए कितना पवित्र था, यह बात पंजाब के गवर्नर को मालूम थी, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। पठानों के देश मे हिन्दू राज का भय दिखाने से काम न चलता था, यह बात पश्चिमोत्तर प्रदेश के गवर्नर को मालूम थी, इसका उल्लेख भी पहले हो चुका है। बगाल के लोगों को जब मालूम हुआ कि कैबिनेट मिशन के बयान मे उनके प्रान्त के विभाजन की योजना नही है तब वे बहुत प्रसन्न हुए, गवर्नर बरोज के अनुसार हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रसन्न हुए। "उनका [गवर्नर बरोज का] विचार था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को इस बात से राहत मिली कि बगाल का विभाजन न होगा। (Both Hindus and Muslims were, he thought, relieved that Bengal would not be partitioned.)" (उप., पृष्ठ ६७५)।

### (च) बम्बई में क्रान्तिविरोधी प्रयास

जिस दिन अन्तरिम सरकार कार्यभार संभालेगी, उस दिन फिर दगे हो सकते हैं, अंग्रेज यह जानते थे। अन्तरिम सरकार के कार्यभार संभालने से दो दिन पहले

वाइसराय ने भारत-सचिव को सूचित किया कि कलकत्ते की तरह प्रदर्शन और दगे होंगे कि नहीं, कहना कठिन है। "मेरी समझ मे कुल मिलाकर एक साथ बड़े पैमाने पर तुरत उपद्रव न होगा लेकिन मै नही समझता कि एक पार्टी की सरकार बहुत थोड़े समय के लिए भारत पर नियन्त्रण रख सकती है। फिर गम्भीर उपद्रव हुए बिना न रहेगा।" (खण्ड ८; पृष्ठ ३६७)।

२ सितम्बर को बम्बई मे दंगे हुए। इनके बारे मे वेवल ने भारत-सचिव को लिखा कि कलकत्ते के दुखद घटनाक्रम के बाद बम्बई मे हताहतो की भारी संख्या और दूसरी जगहो में बहुत से उपद्रव यह सूचित करते है कि मुख्य दलो के बीच समझौता कराने और मिली-जुली सरकार बनाने के लिए भरपूर प्रयत्न करना चाहिए। (उप., पृष्ठ ४१७)। कुछ दिन बाद वेवल ने भारत-सचिव को फिर लिखा कि अन्य किसी समय बम्बई के दगे लोगो का ध्यान ज़ोरों से अपनी ओर खीचते क्योकि २०० आदमी मारे जा चुके है और सारा शहर नौ दिन से भारी तनाव की हालत में है। स्थिति मे सुधार हुआ है लेकिन दंगा फिर भड़क सकता है। बगाल के गवर्नर बरोज ने ६ सितम्बर के पत्र मे बताया था कि बगाल के अन्य शहरो में जो दंगे हुए, उनमें ३०० से ऊपर आदमी मारे गये है। बंगाल के इन दंगो की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम गया है। वेवल ने लिखा, "मेरी समझ मे खतरे का वास्तविक क्षेत्र पूर्वी-बगाल है। यदि वहाँ मुस्लिम लीग ने सीधी कार्रवाई शुरू की तो भारी संख्या मे हिन्दू मारे जायेंगे। भारत मे हर जगह साम्प्रदायिक कटुता और तनाव बढ़ा हुआ है, लीग से समझौता न हुआ तो इसके बड़े गम्भीर परिणाम हो सकते है।" (उप., पृष्ठ ४८२)।

१३ सितम्बर को राजगोपालाचारी से वेवल की मुलाकात हुई। राजाजी ने कहा कि कलकत्ते मे जो दंगे हुए है, उन्हें देखते हुए लीग से बात करने का मतलब होगा हिंसा के सामने झुक जाना। वेवल ने कहा, "कलकत्ते में दगों के लिए कौन ज़िम्मेदार है, इसका पता न्यायिक जाँच से लगेगा। मैं यह हरगिज़ मानने को तैयार नही हूँ कि दंगे मुस्लिम लीग ने कराये थे।" (उप., पृष्ठ ४६४)। वैसे वाइसराय वेवल ने यह तय कर लिया था कि जाँच समिति किस नतीजे पर पहुँचेगी। "दोनो ओर से लोग ज़ोरदार कसमें खायेंगे लेकिन इसकी सम्भावना नही है कि दृढतापूर्वक किसी की ज़िम्मेदारी निश्चित की जायगी। वह [पटेल] मुस्कराये और सहमत प्रतीत हुए।" (उप., पृष्ठ ४१६)।

वाइसराय के सचिव वेवल से मुस्लिम लीग के नेता ख्वाजा नज़ीमुद्दीन की भेंट हुई। नज़ीमुद्दीन ने वेवल से कहा कि जो बातचीत शुरू होने वाली है, उसमें समझौता नही होता तो मुसलमान तुरत सीधी कार्रवाई करेंगे। (उप., पृष्ठ ५१६)। वाइसराय को आश्चर्य हो रहा था कि कलकत्ते और बम्बई की घटनाओं से कांग्रेसी नेताओ के होश दुरुस्त हो जाने चाहिए थे पर वैसा नही हुआ। "यदि समझौते की बातचीत टूट जाती है तो साम्प्रदायिक परिस्थिति पहले से भी ज्यादा खराब हो जायेगी। नज़ीमुद्दीन ने एबेल से कहा है कि वैसा होने पर मुस्लिम लीग तुरत सीधी कार्रवाई किये बिना न रहेगी। वरना नेता अपना नियन्त्रण खो देंगे [अर्थात् जनता पर उनका नियन्त्रण न रह जायेगा]।" (उप., पृष्ठ ५२२)।

दंगों की एक विशेषता ध्यान देने योग्य है। कुछ स्थानों में लीगी मुसलमानों ने गैर-लीगी मुसलमानों पर हमले किये। १६ अगस्त के दिन जब कलकत्ते में भारी मारकाट हुई, तब असम के सिलहट नगर में जमिअतुल-उलेमा और मुस्लिम लीग के बीच एक छोटे पैमाने पर दंगा हुआ। गवर्नर की रिपोर्ट के अनुसार "आमतौर से जिस मस्जिद पर जमीअत का दखल रहता था, उस पर कुछ पत्थरबाज़ी हुई और जमीअत का एक मुस्लिम होटल क्षतिग्रस्त हुआ।" (उप., पृष्ठ ३०५)। सर शफात अहमद खाँ अन्तरिम सरकार में शामिल होने के लिए नेहरूजी द्वारा चुने गये थे। २४ अगस्त की रात को, अन्तरिम सरकार बनने से काफी पहले, शिमला में दो आदमियों ने उनके सात बार छुरा मारा। (उप., पृष्ठ ३१५)। नेहरूजी ने प्रस्तावित सदस्य सूची २० अगस्त को वेवल के पास भेजी थी। छुरा मारने की घटना चार दिन बाद हुई। सदस्य सूची किसी न किसी तरह ऐसे लोगों तक पहुँच गयी थी जो हत्या के द्वारा मुस्लिम लीग के किसी भी मुसलमान प्रतिद्वन्दी को अपने रास्ते से हटा देने पर तुले हुए थे।

कलकत्ते में जो दंगे हुए, उनसे बम्बई के दंगे गुणात्मक रूप से भिन्न थे। कलकत्ते में अधिकारी दंगे करा रहे थे; बम्बई में अधिकारी दंगे रोक रहे थे। बम्बई के गवर्नर के अनुसार दंगों के पहले दो-तीन दिन मुसलमानों ने हमले किये; उसके बाद दो दिन मुख्यतः मुसलमानों पर हमले हुए। पुलिस के गोली चलाने से १७ आदमी मारे गये। ज्यादातर लोग छुरेबाज़ी की घटनाओं में मारे गये। इसके बाद छोटी-मोटी भीड़ों ने हमले किये, सोडावाटर की बोतलें फेंकी गयीं, कुछ दुकानें लूटने और जहाँ-तहाँ आग लगाने की कोशिश की गयी। "अभी तक [१७ सितम्बर १९४६ तक] बड़े पैमाने पर दंगा नहीं हुआ।" (उप., पृष्ठ ५३२)। नेताओं ने दबाव में आकर शान्ति कायम रखने की अपीलें जारी की है, किन्तु मिलकर नहीं, अलग-अलग। ये लोग झगड़ा करा रहे हैं, इसका प्रमाण नहीं है, किन्तु जिम्मेदार अफसरों का कहना है कि वे चाहें तो झगड़ा बन्द करा सकते हैं। कई रेलवे-स्टेशनों पर पंजाब से भेजी हुई पार्सलें पकड़ी गयी हैं जिनमें ऐसे छुरे मिले जो हत्या के काम में लाये जाते हैं।

इसके आगे गवर्नर ने लिखा, "मुसलमानों की तरफ से यह भावना साफ ज़ाहिर होती है कि वे इस फसाद से राजनीतिक लाभ उठाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि इसे कलकत्ते के जोड़ का दंगा समझा जाये [अर्थात् यह समझा जाये कि मुस्लिम लीग के मन्त्रिमण्डलवाले सूबे में बड़ा दंगा हुआ, तो कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल वाले सूबे में भी वैसा दंगा हुआ], किन्तु मुझे भय है कि उनमें से कुछ निराश हुए हैं क्योंकि उस दंगे के मुकाबले जैसी चीज यहाँ कुछ नहीं है, और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल यह दावा कर सकता है कि सारे उपद्रव से दृढ़तापूर्वक निपट लिया गया है। नेता लोग (दिल्ली वाले नेताओं समेत) अधिकारियों पर पक्षपात का दोष लगाते रहे हैं। कई मुसलमान मुझसे मिलने आये; उन्होंने भी वही बात दोहरायी। जब उनसे सबूत माँगा तो वे प्रायः कुछ भी निश्चित बात न कह सके। दो प्रमुख मुसलमान एम. एल. ए. देर तक मुझसे बातें करते रहे। मुझे यह आभास हुआ कि वे सिखायी-पढ़ायी बातें दोहरा रहे हैं। वे मेरे पास एक ही निश्चित शिकायत

छोड़ गये कि एक दूधवाले को अपनी भैंसें दुहने से रोका गया या उसे भय था कि रोका जायेगा। प्रान्तीय मुस्लिम लीग के अध्यक्ष चुन्दरीगर ने मुझे विश्वास दिलाया कि वह पुलिस पक्षपात की एक दर्जन मिसालें दे सकते हैं। मैंने कहा कि वह उन्हें मन्त्रिमण्डल के पास भेज सकते है पर उन्होंने ऐसा नही किया। जैसा कि मैंने ५ सितम्बर में अपने पत्र में लिखा था, यह असम्भव नही है कि कुछ नीचे के अधिकारियों ने किसी एक पक्ष के बुलावे पर अधिक ध्यान दिया हो। यह भी कल्पना की जा सकती है कि पिछले उपद्रवो में, जहाँ सामान्यतः शुरूआत हिन्दुओं ने की थी, मुसलमान यह महसूस करते हों कि अधिकारी वर्ग उनकी ओर [हिन्दुओं की ओर] अधिक था। किन्तु मुझे पक्षपात का कोई प्रमाण नहीं मिला। उधर पुलिस के विरुद्ध हिन्दुओं की शिकायतें भी मिली। मेरी समझ में पुलिस ने मुसीबत में फँसे सभी लोगों की भरसक मदद करने की कोशिश की है। यह बात उल्लेखनीय है कि हिन्दुओ पर हमले ज्यादा हुए है और मुसलमानों की अपेक्षा ज्यादा मारे गये है, फिर भी मुसलमानों की तुलना मे ज्यादा हिन्दू पकड़े गये है। खेर [मुख्यमन्त्री] ने कहा कि वह किस सम्प्रदाय के कितने लोग मारे गये, इसके आँकड़े छापने को तैयार है लेकिन मुस्लिम लीग के एक नेता ने उनसे कहा कि वह नही चाहते कि खेर ऐसा करें।" (उप., पृष्ठ ५३२-३३)। गवर्नर ने इस धारणा का खण्डन किया कि मन्त्रिमण्डल आरम्भ मे मारे जानेवाले हिन्दुओ का बदला लेना चाहता है। मन्त्रिमण्डल यह दिखाने को उत्सुक था कि सभी सम्प्रदाय कांग्रेसी शासन मे सुरक्षित रह सकते है।

### (छ) पूर्वी बंगाल में जनसंहार

अन्तरिम सरकार बन गयी और पहले मुस्लिम लीग उसमें शामिल न हुई। शामिल होने से पहले उसने और दगे कराये। इस बार कलकत्ते से दूर पूर्वी बगाल में बड़े पैमाने पर दगे हुए। १४ अक्तूबर १९४६ को जवाहरलाल नेहरू ने वाइसराय को लिखा कि पूर्वी बंगाल से रोज़ तार आ रहे है जिनमे वहाँ की हालत का दुखद वर्णन होता है। लोग भी आकर मुझसे मिले है और वहाँ की घटनाओं का जो हाल सुनाते हैं, वह दिल दहलानेवाला होता है। उनके बयान हिटलरी अत्याचार से पीड़ित लोगो के उन बयानों की याद दिलाते है जो वे १९३०-४० के दशक में देते थे। "इन सब रिपोर्टों से आपको परेशान करने से मैंने सोचा, कोई लाभ न होगा, क्योंकि बंगाल के बारे में पहले जो कहा, उसका कोई फल न निकला।" (खण्ड ८.; पृष्ठ ७२४-२५)। अब हत्या और लूट की घटनाएँ नोआखाली जिले मे फैल गयी है। सूचना मिली है कि कई कस्बे और गाँव उपद्रव की चपेट मे आ गये है। मध्य-वर्ग के परिवार मारे गये है, वकीलों की सभा का स्थानीय अध्यक्ष मारा गया है। "मैं नही जानता कि मैं इस मामले में क्या कर सकता हूँ। लेकिन मैं आशा करता हूँ कि आप महसूस करेंगे कि हम सबके लिए यह कितना ज्यादा दर्दनाक है।" (उप., पृष्ठ ७२५)। वाइसराय ने हमदर्दी ज़ाहिर की, कहा कि वह गवर्नर का ध्यान रिपोर्टों की ओर आकर्षित कर रहे है और अब परिस्थिति कैसी है, यह बताने को उनसे कह रहे है।

अन्तरिम सरकार भारत की प्रभुता-सम्पन्न अस्थायी सरकार नही थी। वह वाइसराय की कार्यपरिषद थी और उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी न कर सकती थी। इलाहाबाद के किसानों पर जब अत्याचार हुए और वे अपने दुख की कहानी नेहरूजी को सुनाने आये, तब भी वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये थे। अंग्रेजी राज ने क्रान्तिकारी उभार को दबाने के लिए जवाबी हमला किया था। अन्तरिम सरकार में शामिल होकर नेहरूजी ने पहलकदमी का अवसर खो दिया था। परिस्थिति से निपटने के लिए पैंतरा बदलने, दाँव लगाने का अवसर अब अंग्रेज़ों के हाथ में था। १५ अक्तूबर को नेहरूजी ने वाइसराय को लिखा, दरअसल मैं गम्भीरतापूर्वक सोचने लगा हूँ कि अन्तरिम सरकार मे मेरे रहने से कोई लाभ भी होता है जब भारत का एक महत्वपूर्ण भाग बर्बरता या उससे भी बदतर किसी चीज़ में डूब गया है। वहाँ से जो समाचार मिले हैं और थोड़ी-थोड़ी देर मे मिल रहे है, वे विश्वास करने योग्य नही है। फिर भी वे अधिकतर सही है, इसमें सन्देह नही है। बगाल के एक बड़े भाग मे कोई सरकार नही है, कोई सुरक्षा नही है, समाज के सबसे घटिया लोगो को मनमानी करने की पूरी छूट मिल गयी है। जनसंहार, आगजनी, जीवित मनुष्यों को जलाना, बलात्कार, बड़े पैमाने पर अपहरण, बल-पूर्वक धर्मपरिवर्तन और तरह-तरह के भयानक काण्ड हो रहे है।" (उप., पृष्ठ ७३२)। नेहरूजी ने ठीक सोचा था। अपने देशवासियों की रक्षा करने मे, रक्षा करना दूर, उनकी थोड़ी-सी सहायता करने मे भी, वह असमर्थ सिद्ध हो रहे थे। अन्तरिम सरकार मे उनके शामिल होने से कोई लाभ होता दिखायी न देता था। उचित यह था कि एक बार गलती करने पर वह अन्तरिम सरकार से अलग हो जाते। लेकिन अलग होकर करते क्या ? क्रान्ति का मार्ग उन्होंने अपने लिए बन्द कर दिया था। इसलिए अन्तरिम सरकार के पिंजड़े मे बन्द रहने को वह मजबूर थे।

यह सारी स्थिति दर्दनाक ही नही शर्मनाक भी थी क्योंकि कोई भयानक काण्ड होने जा रहा है, इसका आभास बहुतो को पहले से ही था। वेवल के नाम उस पत्र में नेहरूजी ने आगे लिखा था, "पिछले कम से कम दो-तीन हफ़्तों से हमे चेतावनी मिलती रही है कि पूर्वी बंगाल मे यह सब होने जा रहा है। दरअसल कुछ दिन पहले ढाका मे इसकी शुरूआत हो चुकी थी। समय पर उसे रोकने के बदले उसे बढ़ने दिया गया और अब वह दूसरे ज़िलों मे फैल रहा है। बगाल बहुत दिनों से और बहुत तरह से भारत की अगुवाई करता रहा है, अब वह तेज़ी से तबाह हो रहा है, बूचड़खाना बन रहा है। जब जनता ऐसे भयानक सर्वनाश की लपेट में आ गयी हो, तब कानूनी ज़िम्मेदारियों की चर्चा करना छोटी बात है। ज़ाहिर है कि बगाल सरकार परिस्थिति पर काबू पाने में बिल्कुल असमर्थ है। बहुत से लोग तो यह भी कहते हैं कि वह काबू पाना ही नही चाहती। आप हमे बता चुके हैं कि यह सब प्रान्तीय स्वायत्तता के क्षेत्र मे है; उसके बाद गवर्नर और वाइसराय की विशेष ज़िम्मेदारी है। सम्भव है ऐसा हो, पर मैं जानना चाहूँगा कि जब बड़े इलाकों मे और अनिश्चित काल तक ऐसी हालत बनी रहने दी गयी हो जो युद्ध की हालत से बदतर है, तब उस ज़िम्मेदारी को प्रान्तीय सरकार या

गवर्नर किस तरह निभा रहा है। ऐसा लगता है कि न केवल शासन, बल्कि सामान्य और विशेष जिम्मेदारियाँ, बंगाल के इन हिस्सों में ठप हो गयी है। वहाँ केवल गुण्डों के सरदार, दंगाई और दूसरे समाज-विरोधी तत्व ही क्रियाशील रह गये हैं।" (उप.)।

बंगाल के अकाल के बाद वहाँ हत्याकाण्ड हुआ, इस स्थिति पर दुख प्रकट करते हुए नेहरूजी ने लिखा, कानून और अन्य विशेष जिम्मेदारियाँ तब निरर्थक हो जाती है जब वे परिस्थिति पर नियन्त्रण रखने में पूरी तरह असमर्थ होती हैं। "जिन पर जिम्मेदारी है, उन पर यह जिम्मेदारी भयानक रूप से है। पर यह भयानक जिम्मेदारी हमारे लिए भी है और हमें भी भारत की जनता को उत्तर देना है। जब हजारों आदमियों की हत्या की जा रही हो और उनके साथ इससे भी बुरा व्यवहार किया जा रहा हो, और हम असहाय होकर देखते रहने के अलावा कुछ नहीं कर सकते, तब हमारा भारत की अन्तरिम सरकार बनाना कहाँ तक लाभकारी है? मैं बहुत ज्यादा क्षुब्ध हूँ। मैं समझता हूँ कि हमें किसी न किसी तरह इस समस्या का सीधे सामना करना चाहिए वरना सार्वजनिक मंच से विदा लेनी चाहिए।" (उप., पृष्ठ ७३३)। नेहरूजी का क्षोभ सही था। अन्तरिम सरकार बनाने से कोई लाभ न हो रहा था। सार्वजनिक मंच से विदा लेने का समय आ गया था पर विदा देनेवाला कोई था नहीं।

१६ अक्तूबर को वाइसराय की भेंट सरदार वल्लभभाई पटेल से हुई। उसमें वाइसराय ने नेहरू के पत्र की चर्चा की। सरदार पटेल ने पूछा कि उपद्रव ग्यारह को शुरू हुए लेकिन कलकत्ते में किसी को चौदह तक खबर न हुई; ऐसा क्यों हुआ? उन्हें सूचना मिली थी कि सभी पुल तोड़ डाले गये थे और सड़कों पर अवरोध खड़े किये गये थे जिससे कि लोग वहाँ न जा सकें जहाँ हिन्दू मारे जा रहे थे। वेवल ने कहा कि सभी पुल तोड़े न जा सकते थे क्योंकि फौज और पुलिस वहाँ पहुँच गयी थी और स्वच्छन्दता से घूम रही थी। "पटेल ने तब कहा कि उनका प्रस्ताव है कि वह स्वयं बंगाल जायें। मैंने पूरी दृढ़ता से कहा, नहीं; वह नहीं जायेंगे। यह प्रान्त का मामला है और केन्द्र द्वारा हस्तक्षेप नितान्त अनुचित होगा।" (उप., पृष्ठ ७४२)। जिसे अस्थायी राष्ट्रीय सरकार कहकर पेश किया जा रहा था, उसके गृहमन्त्री को बंगाल की स्थिति देखने जाने की भी अनुमति न थी। वहाँ जाना ही प्रान्त की स्वायत्तता में हस्तक्षेप था। अन्तरिम सरकार से इसी बात पर त्यागपत्र दिया जा सकता था। वास्तविक सत्ता वाइसराय के हाथ में थी। वह बंगाल जा सकते थे। पटेल ने कहा कि वाइसराय बम्बई जानेवाले हैं; नहीं तो वह कहते कि बंगाल जायें। "मैंने कहा कि मेरे जाने से काम बने तो मैं कहीं भी जाने को तैयार हूँ, लेकिन जब तक परिस्थिति से दरअसल ऐसा आवश्यक न हो जाये, तब तक वह गवर्नर के कार्यों में दखल देना नहीं चाहते।" (उप.)। यानी न पटेल को जाने देंगे, न खुद जायेंगे। दंगों का जो राजनीतिक उद्देश्य था, वह वाइसराय की बातचीत से प्रकट हो गया। "तब मैंने कहा कि सही भावना से केन्द्र में मिली-जुली सरकार चलाकर इस साम्प्रदायिक तनाव को खत्म करने का हमें अब सबसे अच्छा अवसर मिला है।" (उप.)। उधर गवर्नर और लीगी

मन्त्रिमण्डल हत्याकाण्ड करा रहे थे, इधर गवर्नर जनरल उनके कार्य में हस्तक्षेप न करके, उसी कार्य के द्वारा कांग्रेस पर जोर डाल रहे थे कि वह सही भावना से मिली-जुली सरकार चलायें, ऐसी सरकार चलाये जिसमें एक ओर अंग्रेज़ी राज्य के विरोधियों का गुट हो और दूसरी ओर उसके समर्थकों का।

सरदार पटेल ने कहा कि मुस्लिम लीग ने जो नाम चुने हैं, उनसे पता चलता है कि वह सहयोग की भावना से काम नहीं करना चाहती। इस पर वाइसराय ने कहा यदि वह सारे मामले को इस दृष्टिकोण से परखेंगे तो सहयोग न होगा; मिली-जुली सरकार काम करे, यह दायित्व हमारा है। दोनों दलों में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास की भावना है, नेता जब तक इस अविश्वास को भड़काते रहेंगे तब तक स्थिति में सुधार न होगा।

१६ अक्तूबर को सरदार पटेल ने स्टैफर्ड क्रिप्स को लिखा और उन्हें याद दिलाया कि जब वह भारत में थे तब उनमें बात हुई थी कि मुस्लिम लीग से समझौता न होने पर साम्प्रदायिक उपद्रव की सम्भावना होगी। "मैंने आपसे कहा था कि बंगाल और सिन्ध को छोड़कर और कहीं उपद्रव सम्भव नहीं है, और आपने कहा था, 'आपको बंगाल के बारे में डरने की जरूरत नहीं है। वहाँ ऐसा गवर्नर है जो गम्भीर उपद्रव होते ही तुरत धारा ९३ लागू कर देगा।'" (उप., पृष्ठ ७५०)। इस अपील का कोई असर न हुआ। अपनी स्थिति के बारे में सरदार पटेल ने लिखा, "उस अभागे क्षेत्र से भयभीत लोगों के बहुत से पत्र और तार मुझे मिले हैं। वैसी ही चेतावनी वाइसराय और गवर्नर को भेजी गयी है लेकिन यदि सरकार कोई काम करे, तो उसे रोकने के लिए प्रान्तीय स्वायत्तता की आड़ ली जाती है। आप महसूस करेंगे कि किसी भारतीय गृहमन्त्री के लिए दिन पर दिन अपने दफ्तर में चुपचाप बैठे रहना कितना कठिन होगा जब इन अभागे और असहाय पीड़ित जनों की रक्षा के लिए किसी भी तरह की सहायता हेतु उसे सैकड़ों करुण अपीलें और शिकायतें मिलती रहती हैं।" (उप.)। जैसे नेहरूजी असहाय थे, वैसे ही सरदार पटेल असहाय थे। इसका कारण यह था कि अन्तरिम सरकार के कठघरे में दोनों बन्द थे, क्रान्ति के मार्ग से दोनों दूर थे।

२० अक्तूबर को सरदार पटेल ने वाइसराय का ध्यान राजा गजनफर अली के व्याख्यान की ओर आकर्षित किया। जिन्ना ने अन्तरिम सरकार के लिए जिन पाँच आदमियों को नामजद किया था, उनमें यह गजनफर अली खाँ भी थे। मुस्लिम लीग किस तरह का आन्दोलन चला रही थी, उसका दूरगामी लक्ष्य क्या था और तात्कालिक लक्ष्य क्या था, यह सब इस भाषण में बहुत स्पष्ट हो गया था। लाहौर के इस्लामिया कालेज के विद्यार्थियों की सभा में राजा गजनफर अली ने कहा, "हम अन्तरिम सरकार में इसलिए शामिल हो रहे हैं कि पाकिस्तान के प्रिय उद्देश्य के लिए लड़ने को पैर जमाने की जगह मिल जाये। मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि हम पाकिस्तान लेकर रहेंगे। खालिस कांग्रेसी सरकार के केन्द्र में कायम होने के बाद देश के बहुत से हिस्सों में जो उपद्रव हुए हैं, उनसे यह तथ्य सन्देह से परे निश्चित हो गया है कि जिस सरकार में दस करोड़ हिन्दुस्तानी मुसलमानों के सच्चे प्रतिनिधि शामिल न होंगे, उसकी अधीनता वे

स्वीकार न करेंगे। कांग्रेस जितना ही जल्दी समझ ले उतना ही अच्छा है कि मुस्लिम कौम में जो आजादी के लिए उभार आया है, उसे कोई ताकत दबा नही सकती। पाकिस्तान की माँग अटल है, वही हमारा आखिरी मकसद है। मैं यकीन दिलाता हूँ कि क़ायदे आज़म जिन्ना के नेतृत्व में हम अपना मकसद हासिल करेंगे। अन्तरिम सरकार में हमारी सारी कार्रवाई कांग्रेस को यह समझा देने को होगी कि मुस्लिम लीग के सहयोग के बिना हिन्दुस्तान में कोई सरकार चल नही सकती और हिन्दुस्तानी मुसलमानों की एकमात्र संस्था लीग है। सीधी कार्रवाई आन्दोलन का एक मोर्चा अन्तरिम सरकार है। मिस्टर जिन्ना जिस मोर्चे पर भी कहेंगे, हम उनके हुक्म पर पूरी मुस्तैदी से वहाँ काम करेंगे।" (उप., पृष्ठ ७५६)। कांग्रेस अंग्रेजों के विरुद्ध जनआन्दोलन को अहिंसात्मक बनाये रखने पर बहुत जोर देती आयी थी। लीग का आन्दोलन अहिंसात्मक न था। अंग्रेज सरकार सवैधानिक तरीके से सत्ता के हस्तान्तरण पर ज़ोर देती आयी थी। लीग का आन्दोलन सवैधानिक नहीं था। अंग्रेजो की सहायता के बिना लीग कोई भी असवैधानिक आन्दोलन न चला सकती थी। संविधानवादी अंग्रेज इस असवैधानिक आन्दोलन का पूरा ज़ोर अहिंसावादी कांग्रेस पर डाल रहे थे और कांग्रेस के पास उसका जवाब न था।

गजनफ़र अली के भाषण का उल्लेख करने के बाद सरदार पटेल ने पूछा, "क्या अन्तरिम सरकार दलगत राजनीति और पैंतरेबाजी का अखाड़ा बनेगी जिसमें कि वह बँटवारे की बात फिर चलाये जिसे दूरगामी योजना ने हमेशा के लिए उठा दिया है और जिसकी जगह उन सूबाई गुटों की बात कही है जो स्वेच्छा से बनेंगे ?" (उप., पृष्ठ ७५५)।

२२ अक्तूबर को नेहरूजी से वाइसराय की भेंट फिर हुई। वाइसराय ने पूर्वी बंगाल और साम्प्रदायिक तनाव की बात कही। उन्होंने इस स्थिति से निपटने के लिए आशा का एक ही मार्ग सुझाया कि मिली-जुली सरकार केन्द्र में सफलता से चलायी जाये, नेता अपने अनुयायियों से कहें कि वे दंगे न करें। नेहरूजी ने कहा कि मिली-जुली सरकार ठीक से चले तो अच्छा है लेकिन इसके लक्षण नही दिखायी देते; उन्होंने इस सन्दर्भ में गजनफ़र अली के अलावा लियाकत अली के भाषण का भी हवाला दिया। (उप., पृष्ठ ७६४)। लियाकत अली ने २० अक्तूबर को कराची में कहा था कि कांग्रेस नहीं चाहती थी कि लीग अन्तरिम सरकार में शामिल हो, इसीलिए लीग शामिल हो गयी है। लीग का ऐसा करना सीधी कार्रवाई वाले प्रस्ताव के खिलाफ नही है। मुसलमानों का उद्देश्य पाकिस्तान है और उसके लिए आखिरी लड़ाई की तैयारी करने में मुसलमानों को थोड़ी भी गफलत न करनी चाहिए। (उप., पृष्ठ ७७९)। नेहरूजी ने २३ अक्तूबर को वाइसराय को लिखा कि मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार में शामिल होती है तो उसका अर्थ यह है कि कैबिनेट मिशन ने १६ मई के बयान में जो दूरगामी योजना बनायी थी, उसे वह मानती है। यह बात वाइसराय को और जिन्ना को लिखे हुए पत्रों में स्पष्ट कर दी गयी थी। जिन्ना और उनकी कार्यकारिणी ने वह बयान स्वीकार नहीं किया और वे कुछ और आश्वासन चाहते हैं। आश्वासन तो मुस्लिम

लीग हमें दे कि उसके आदमी अन्तरिम सरकार में सहयोग की भावना से काम करेंगे। ग़ज़नफ़र अली खाँ और लियाक़त अली खाँ के भाषण जिस कार्यक्रम की तरफ संकेत करते है, वह अन्तरिम सरकार में सहयोग और सामंजस्य से उलटी दिशा मे हैं। नेहरूजी ने दो बातों पर स्पष्टता चाही। पहली यह कि मुस्लिम लीग १६ मई के बयान मे बतायी हुई योजना मानती है या नहीं, दूसरी यह कि गज़नफ़र अली और लियाक़त अली का अन्तरिम सरकार के प्रति दृष्टिकोण लीग का दृष्टिकोण है या नहीं।

इसके बाद बंगाल का हवाला देते हुए लिखा, "आप जानते हैं, पूर्वी बंगाल की दुःखद घटनाओं से हम लोग कितना ज्यादा पीड़ित और व्यथित हुए हैं। कल यहाँ [सीमान्त क्षेत्र से] लौटने पर पूर्वी बंगाल से मिलने वाली दुःख भरी सूचनाओं से त्रस्त हो गया हूँ। सभी बयानों को तसदीक करना मुमकिन नहीं है। बहुत सम्भव है कि अतिरंजित बातें कही गयी हों। इतना मान लेने के बाद भी जो कुछ बच रहता है, वह भयानक है और उसकी भयानकता बहुत बड़े पैमाने की है। सारा भारत हिल उठा है। हमें असम से सूचनाएँ मिल रही हैं कि नोआखली जिले से हज़ारों शरणार्थी प्रतिदिन वहाँ पहुँच रहे हैं।" (उप., पृष्ठ ७७६)।

२३ अक्तूबर को नेहरूजी ने वाइसराय को फिर लिखा, "राजा ग़ज़नफ़र अली खाँ ने १६ अक्तूबर को लाहौर से एक बयान जारी किया है। इसमें उन्होंने कहा है कि पूर्वी बंगाल में जो कुछ हुआ, वह पाकिस्तान के लिए लड़ी जानेवाली अखिल भारतीय लड़ाई का हिस्सा है। पूर्वी बंगाल में जो कुछ हुआ है और हो रहा है, उसकी पूरी जानकारी मुझे नहीं है, लेकिन गवर्नर ने जो रिपोर्ट भेजी है या ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में जो बयान दिया गया है, इनका वास्तविकता से कोई विशेष सम्बन्ध है, इसमें मुझे बहुत सन्देह है। मिस्टर के.सी. नियोगी पूर्वी बंगाल के रहनेवाले हैं, घटनाओं को देखने और उनके बारे में लिखने की योग्यता उनमें है। उनकी तैयार की हुई रिपोर्ट मैंने अभी देखी है। इसमे उनका कहना है कि 'जिस अव्यवस्था को विशुद्ध गुण्डागर्दी का नाम दिया गया है, वैसी वह है नहीं। यह संगठित आक्रमण है जिसे मुस्लिम लीग ने आयोजित किया है और सरकारी हाकिमों के सक्रिय सहयोग से वह अमल मे लाया गया है।' उन्होंने आगे यह भी कहा है, हमला ऐसे लोगों ने किया है जो फौजी ढंग से दल बनाये हुए थे और बन्दूकों तथा दूसरे घातक हथियारों से लैस थे। सड़कें खोद डाली गयी हैं और आवाजाही के दूसरे मार्ग काट दिये गये हैं जिससे कि न कोई भीतर जाए न बाहर आये। नहरों पर नाकेबन्दी की गयी है, महत्व की जगहों पर हथियारबन्द बलवायी पहरा देते है। सन्द्वीप के बारे में स्टेट्समैन की रिपोर्ट में कहा गया है कि उसके (मदान्ध भीड़ के) एक हिस्से को नोआखली जिले के 'अधिकृत' इलाके की रक्षा के लिए छोड़ दिया गया है, कानूनी व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करके और भी गैरकानूनी कार्यवाही से वहाँ की 'प्रजा' को त्रस्त करने के लिए छोड़ दिया गया है।" (पृष्ठ ७८२)।

नेहरूजी ने आगे कहा कि सरकारी हाकिम खुद ही गैर-कानूनी कामों में

शामिल है, इसलिए उनकी रिपोर्ट में उपद्रव को कम करके दिखाया गया है और झूठा विवरण भेजा गया है, इसमें आश्चर्य नहीं। नेहरूजी ने राष्ट्र संघ की बैठक में भाग लेने के लिए नियोगी को प्रतिनिधि बनाया था और वह जाने को तैयार थे। बाद को उन्होंने विचार बदल दिया और कारण बताया कि पूर्वी बंगाल में हालत बिगड़ती जा रही है और निकट भविष्य में मुस्लिम लीग हमला करनेवाली है। हर आदमी इस हमले से आशंकित था; नियोगी भी अपना परिवार छोड़कर न जाना चाहते थे। "हम सभी को इस तरह की चेतावनियाँ मिली और बंगाल की सरकार यह जानती रही होगी, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उसे रोकने के लिए कुछ भी नहीं किया गया।" (उप., पृष्ठ ७८३)।

नेहरूजी केवल वाइसराय से अपील कर सकते थे कि पूर्वी बंगाल की विभीषिका को समाप्त किया जाये, वह स्वयं अपने को असहाय अनुभव करते थे। उन्होंने लिखा था, "वहाँ के लोग अन्तरिम सरकार की ओर निरुपाय होकर देख रहे हैं और हमसे आशा करते हैं कि उन्हें बचाने के लिए कुछ करें। हम क्या कर सकते हैं, मैं नहीं जानता, क्योंकि आपसे मालूम हुआ है कि यह सब आपकी विशेष जिम्मेदारी है। वहाँ फौज पहुँच गयी है और निस्सन्देह कुछ अच्छा काम करेगी। यदि स्थानीय नागरिक प्रशासन बाधा डालेगा तो यह कितना सही ढंग से काम कर सकेगी, मैं नहीं जानता। बार-बार बंगाल में अभूतपूर्व भयानक परिस्थिति आ जाती है। फिर भी वही प्रशासन की मशीन और विशेष जिम्मेदारियाँ कार्यशील बनी रहती हैं। जिस चीज ने पहले इतनी बार जनता से दगा की है और जिसमें उसका रत्ती भर विश्वास नहीं रह गया, उसका भरोसा वह कैसे कर सकती है?" (उप.; पृष्ठ ७८३)।

पूर्वी बंगाल की घटनाओं के कारण अन्तरिम सरकार में किस तरह की खींचतान चल रही थी, इसकी झलक भारत-सचिव को भेजे हुए ३० अक्तूबर के वाइसराय के विवरण में मिलती है। जिस दिन लीग के नये सदस्यों को शपथ दिलायी गयी, उसी दिन सरदार पटेल ने प्रस्ताव किया कि केन्द्र, संविधान के बावजूद, बंगाल का प्रायः सारा भार सम्हाल ले और कम-से-कम बंगाल के मंत्रिमण्डल को तो बर्खास्त कर ही दे। "ऐसे प्रस्ताव पर बहस होती तो मिली-जुली सरकार की शुरूआत को ही इससे ज्यादा तगड़ा झटका देनेवाली दूसरी बात न हो सकती थी। स्वभावतः मैंने निश्चित रूप से मना कर दिया कि कौंसिल के सामने यह मामला न रखा जायेगा। फिर भी इसमें चालीस मिनट की बहस हुई जो कभी-कभी कड़वी भी हो गयी। यह बहस नेहरू, पटेल और राजगोपालाचारी से हुई। राजगोपालाचारी ने कानूनी ढंग से यह साबित करने की कोशिश की कि कैबिनेट को इस मामले पर विचार करने का अधिकार है। यह [illegible] सिलसिला चलता रहेगा। शायद ही कोई दिन जाता हो जब सरदार पटेल का कोई न कोई अधिकार [illegible] अपने लिए हथियाने की कोशिश न करता हो। किसी न किसी दिन टक्कर होकर रहेगी।" (उप., पृष्ठ [illegible])।

यदि समस्या पर मानवतावादी दृष्टि से विचार किया जाय तो जहाँ इतना बड़ा जनसंहार रचाया गया हो, वहाँ [illegible]

अन्याय की बात न हो सकती थी। यदि कानून की बात थी तो राजगोपालाचारी ने जो कानूनी नुक्ता उठाया था, उसका जवाब देना चाहिए था। वाइसराय इस बात पर बहुत जोर देते थे कि सत्ता का हस्तान्तरण संवैधानिक तरीके से हो। लेकिन कांग्रेसी नेता जब कानूनी दाँवपेंच लगाते थे तब फील्ड मार्शल वेवल नाराज हो जाते थे। उनके विवरण से उनकी सारी कार्यनीति का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। उद्देश्य यह था कि मिलीजुली सरकार कायम रहे और कांग्रेस मुस्लिम लीग से समझौता करके उसकी माँगें स्वीकार करती जाये। इसी दस्तावेज में वेवल ने कैबिनेट के भीतर दो गुटों (ब्लॉक) का उल्लेख किया है। जहाँ दो परस्पर-विरोधी गुट हों, वहाँ कैबिनेट मिलकर कैसे काम कर सकती है, सोचने की बात है। मिलकर काम करने का अर्थ था कांग्रेस को यथासम्भव झुकाओ; जब मिलकर काम करना सम्भव न रहेगा तब शान्तिपूर्वक सत्ता पाने के उम्मीदवार विभाजन की माँग स्वीकार करेंगे ही।

पूर्वी बंगाल में जो कुछ हुआ, उसका विवरण बंगाल के गवर्नर ने भी प्रस्तुत किया था। १६ अक्तूबर के विवरण में कुछ उल्लेखनीय बातें इस प्रकार हैं। नोआखली में साम्प्रदायिक स्थिति पिछले एक पखवारे से बिगड़ रही थी। मुसलमानों की आम सभाएँ हो रही थीं जिनमें उनसे कौमी-दस्तों (नैशनल गार्ड) में भर्ती होने को कहा जाता था। कुछ भाषण बहुत ही उत्तेजक थे। हिन्दुओं के आर्थिक बहिष्कार का आन्दोलन चलाया गया। जो मुसलमान हिन्दुओं से सामान खरीदते देखे गये, उन्हें पीटा गया। दस अक्तूबर को रामगंज थाने में गड़बड़ शुरू हुई। यह स्थान नोआखली के उत्तर-पश्चिम में है। वहाँ से उपद्रव फैला और इस समय स्थिति यह है : मुसलमान गुण्डों के बड़े-बड़े दल इधर-उधर घूम रहे हैं, हिन्दुओं को आतंकित करते हैं, लूटमार, आगजनी और हत्याएँ करते हैं, अपहरण करते हैं और बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन करते हैं। गाँवों को घेर लिया गया है और डरा-धमकाकर पैसा और लूट का माल वसूल किया गया है। ये दल संगठित जान पड़ते हैं। कई जगह सड़कें काट दी गयी हैं। वर्ष में इस समय आवाजाही के साधनों में कठिनाई पैदा हो जाती है। यह कठिनाई और भी बढ़ गयी है। ज्यादातर नाव से आने-जाने का काम होता है। इस काम में बाधा पड़ने से कार्यवाही [यानी परिस्थिति पर नियन्त्रण पाने के लिए आवश्यक कार्यवाही] में अड़चन होती है। दक्षिणी भाग में भी बड़े पैमाने पर लूटपाट और आगजनी हुई है। प्रभावित क्षेत्रों से बड़ी संख्या में शरणार्थी चल पड़े हैं। (उप., पृष्ठ ७४३)।

पाठक देखें कि नेहरूजी ने और सरदार पटेल ने स्थिति का जो विवरण वाइसराय के सामने पेश किया था, उससे इस विवरण में मौलिक अन्तर नहीं है। संचार-साधन अस्त-व्यस्त हैं और बड़े पैमाने पर हत्या और लूटपाट की घटनाएँ हो रही हैं, यह मुख्य बात है। स्वभावतः मुस्लिम लीग ने इस सबके लिए जिम्मेदारी स्वीकार नहीं की। बंगाल के गवर्नर ने १७ अक्तूबर को भारत-सचिव के नाम तार भेजा कि मुस्लिम लीग यह नहीं मानती कि उसने दंगों की शुरूआत की और उन्हें जारी रखा। (उप., पृष्ठ ७४५)। किन्तु बंगाल से बाहर मुस्लिम लीग के नेता गर्व से इस नरसंहार की जिम्मेदारी स्वीकार कर रहे थे और कह रहे

थे कि कांग्रेस ने उनकी बात न मानी तो इस तरह के काण्ड और होंगे। बंगाल
मुस्लिम लीग का मन्त्रिमण्डल था। काफी दिन से तैयारी हो रही थी, यह गवर्न
के विवरण से भी स्पष्ट है। किन्तु यदि मुस्लिम लीग इस हत्याकाण्ड के लिए
जिम्मेदार नही थी तो उससे यही सिद्ध होता है कि परिस्थिति पर उसका नियन्त्रण
नही था और उसे वर्खास्त करने की मांग उचित थी। २० अक्तूबर के दस्तावेज
मे गवर्नर ने भारत-सचिव को वताया कि दक्षिण-पूर्वी वगाल मे जो कुछ हुआ है,
वह हिन्दुओ के विरुद्ध व्यापक अभियान नही है। यह काम गुण्डादलो का है जो
वर्तमान साम्प्रदायिक तनाव से लाभ उठा रहे हैं। ये जव देहात मे एक जगह से
दूसरी जगह पहुँचते है, तव स्थानीय गुण्डे उनके साथ हो जाते है। फौज की पाँच
टुकड़ियाँ और ३०० हथियारवन्द पुलिस कार्यवाही मे हिस्सा ले रहे हैं और कोशिश
की जा रही है कि उपद्रव को और अधिक फैलने से रोका जाये। आवाजाही के
साधनो मे कठिनाई होने से कार्यवाही धीमी है। दगाइयो के मुख्य दल से सम्पर्क
कायम करना मुश्किल है। (उप., पृष्ठ ७१३)। यहाँ ध्यान देने की वात यह है कि
गुण्डा-दलो को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचने मे कोई कठिनाई नही होती। जो
उनका दमन करने की वात कहते है, कठिनाई उन्ही के लिए है। नतीजा यह
निकलता है कि मुस्लिम लीग के कार्यकर्त्ताओ और अधिकारियो की साँठगाँठ के
विना इतने वडे पैमाने पर ऐसा भयानक काण्ड हो ही न सकता था। जो कुछ हुआ,
उसे दगे कहना गलत है। कलकत्ते मे दगे हुए; दोनो तरफ के लोग मारे गये।
यहाँ की स्थिति भिन्न थी, यह सगठित लूटपाट और जनसहार का अभियान था
जिसमे एक पक्ष प्रवल था और दूसरा पूरी तरह असहाय था।

### (ज) विहार और पंजाब में बंगाल की प्रतिक्रिया

यह स्वाभाविक था कि वगाल की प्रतिक्रिया भारत के अन्य प्रदेशो मे हो। सवसे
निकट विहार प्रान्त था। २० सितम्बर १९४६ को भारत-सचिव ने ब्रिटिश
प्रधान मन्त्री ऐटली को वाइसराय की उस योजना के वारे मे लिखा था जो भारत
मे शासन-कार्य ठप्प होने पर काम मे लायी जाती। शासनकार्य राजनीतिक कारणो
से ठप्प हो सकता था अथवा शासनतन्त्र का ह्रास हो जाने पर ठप्प हो सकता था।
(खण्ड ८; पृष्ठ ५५०)। वाइसराय ने प्रस्ताव किया था कि सवसे कठिन समस्या
सम्भवत: विहार और सयुक्त प्रान्त की होगी। "यही पर हमारे नियन्त्रण के खत्म
होने का सबसे ज्यादा तात्कालिक खतरा है। पहले जो योजनाएँ वनायी गयी हैं,
उनमे इसी कारण इन प्रान्तो से हट जाने की वात कही गयी है।" (उप.,
पृष्ठ ५५३)। भारत-सचिव की राय थी कि जव तक इन प्रान्तों पर नियन्त्रण
वना रहेगा, तव तक उत्तर भारत की सचार-व्यवस्था पर केन्द्रीय सरकार का
नियन्त्रण वना रहेगा। इस नियन्त्रण के अभाव में उत्तर भारत पर अंग्रेजी प्रभुता
न रह जायेगी।

यदि विहार मे साम्प्रदायिक तनाव वढ जाये तो मानी वात है, उत्तर भारत
पर आवश्यक समय तक अंग्रेजों को नियन्त्रण कायम रखने मे सुविधा होगी।
नोआखली के वाद विहार में साम्प्रदायिक तनाव वढ़ा। २६ अक्तूबर को विहार

के गवर्नर ने वाइसराय को समाचार भेजा कि मुस्लिम लीग के अन्तरिम सरकार मे शामिल होने से हिन्दू नाराज हो गये है। लोग कहते हैं कि यह सब जाल वाइसराय और ब्रिटिश अधिकारी वर्ग ने बिछाया है; कार्यपरिषद् में झगड़े पैदा किये जायें; जो अधिकार छिन गये है, वे कुछ न कुछ फिर वापस मिल जाएँगे। साम्प्रदायिक स्थिति पहले ही खराब थी। इस तरह की दुष्ट आलोचना से हालत और खराब हो गयी है और दुर्भाग्य से बगाल की घटनाओं से इसमे सहायता मिली है। "कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट तथा दूसरे अतिवादी सगठन इस सबसे लाभ उठाने को कमर कसे बैठे है। मेरे मन्त्रीगण खतरा जरूर देखते होगे लेकिन उनमे कारगर कदम उठाने का साहस नही है। जयप्रकाश नारायण फिर देहात के दौरे पर है और पुलिस को तोड़ने की कोशिश कर रहे है। कहते है कि पुलिस के जवान भले आदमी है। 'आनेवाली लड़ाई' में देश उनका भरोसा कर सकता है लेकिन इन्सपेक्टर जनरल से लेकर असिस्टेण्ट सब-इन्सपेक्टर तक सारे अफसर बेईमान है और उनका भरोसा नही किया जा सकता। रामानन्द तिवारी खुलेआम पुलिस के सिपाहियों को भड़का रहे है कि वे हड़ताल करें और अपने अफसरों का हुकुम न मानें। पुलिस का हर ऊँचा अफसर खतरे की ओर सकेत कर रहा है और आदेश की राह देख रहा है। महीने भर से मन्त्रिमण्डल को मालूम है कि उसे कार्यवाही करनी है लेकिन जब भी आदेश के लिए फाइल पहुँचती है तो उस पर केवल यह लिखा जाता है, 'इस पर हम लोग आपस मे बात कर लें', और बातचीत अगली बैठक के लिए टाल दी जाती है। मेरे मुख्यमन्त्री ने मुझे बताया है कि वह इस समस्या पर दिल्ली मे पटेल से और अन्य मुख्यमन्त्रियों से बातचीत करेंगे पर उन्होने ऐसा किया नहीं। वह शिमला मे महीने भर की छुट्टी बिताकर अभी लौटे है। मौका मिलते ही इस बारे मे उनसे फिर बात करूँगा। किन्तु मुझे भय है कि वह टालमटूल करेंगे जिससे कि कुछ समय और भी गुजर जाये और कार्यवाही की जरूरत न रहे।" (उप., पृष्ठ ८१२-१३)।

गवर्नर ने साम्प्रदायिक तनाव को साम्राज्यविरोधी लड़ाई से मिलाकर किस तरह एक कर दिया है, ऊपर के बयान मे यह देखते ही बनता है। उनके अनुसार सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट साम्प्रदायिक तनाव से लाभ उठा रहे है मानो दंगा करनेवालों का लक्ष्य अंग्रेजी राज्य को खत्म करना हो। गवर्नर की असली परेशानी का कारण यह है कि जयप्रकाश नारायण आनेवाली लड़ाई की बात कर रहे है। यह लड़ाई हिन्दुओ और मुसलमानो की नही है; यह लड़ाई अंग्रेजो से है और उसकी तैयारी करने के लिए वह पुलिस के जवानों से अपीलें कर रहे हैं। रामानन्द तिवारी पुलिसमैनो से हड़ताल करने को कह रहे है। यह हड़ताल एक सम्प्रदाय द्वारा दूसरे के खिलाफ नही है, इसी से गवर्नर को परेशानी है। बिहार मे क्रान्तिकारी उभार इतना शक्तिशाली है कि वहाँ के समझौतावादी मुख्यमन्त्री कोई कदम उठाने की हिम्मत नही करते। सरदार पटेल केन्द्र मे हैं, मुख्यमन्त्री उनसे बिहार की परिस्थिति के बारे मे बात करें तो प्रान्तीय स्वायत्तता मे बट्टा न लगेगा!

गवर्नर ने आगे बहुत स्पष्ट रूप से किसानों के जमीदार-विरोधी अभियान

अंग्रेजों को सबसे बड़ा खतरा इस तरह के अभियान से ही था। कांग्रेसी मुख्यमन्त्री भूमि-सुधार की बातें कर रहे थे और निर्धन किसान ज़मींदारों की भूमि पर कब्जा करने के लिए आगे बढ़ रहे थे। गवर्नर फौजी अफसरों से सम्पर्क बनाये हुए थे। पूर्वी बंगाल के गवर्नर को पता न था कि कब कहाँ उपद्रव होगा, कैसे फौज भेजी जाएगी, पर यहाँ, बिहार में, वर्ग-संघर्ष की बात थी; एक बार किसान लड़ाई में शामिल हो गये तो अंग्रेजों की सारी साम्प्रदायिक कूटनीति हवा हो जाएगी। अक्तूबर १९४६ में जनता का क्रान्तिकारी उभार और साम्राज्यवाद का साम्प्रदायिक क्रान्तिविरोध आमने-सामने थे। गवर्नर ने लिखा, "मन्त्री ने प्रस्ताव किया है कि ज़मींदारी खत्म की जाये। इससे किसानों और ज़मींदारों के बीच झगड़े पैदा हो रहे हैं। साम्प्रदायिक समस्या से भी अधिक ये झगड़े कई इलाकों में परेशानी का कारण बन रहे हैं। अगले कुछ महीने गम्भीर दंगों और रक्तपात के बिना बीत जायें तो हम सचमुच भाग्यशाली होंगे। मुज़फ़्फ़रपुर डिवीज़न के कमिश्नर की यही राय है और मैं सहमत हूँ। यहाँ तनाव सबसे ज़्यादा है। जनरल किन बिहार-उड़ीसा क्षेत्र के लिए ज़िम्मेदार हैं। सम्भावित घटनाओं के प्रति मैं उन्हें सूचित करता रहता हूँ। मैं नियमित रूप से हर हफ्ते उनसे मिलता हूँ; वह सूझबूझ का परिचय देते हैं और अत्यन्त सहायक सिद्ध हो रहे हैं। आशा की किरण यही है कि मेरे मालगुज़ारी के मन्त्री कृष्ण वल्लभ सहाय अब खुद यह समझने लगे हैं कि जल्दबाज़ी से और ऊलजलूल प्रचार से कैसा खतरा पैदा हो सकता है। अब वह रफ्तार थोड़ा धीमी कर रहे हैं। पता चला है कि अब इस बारे में अगले साल काफी समय बीतने पर ही कानून बनाने का प्रस्ताव लायेंगे। जो उन्होंने आग सुलगायी है, कम-से-कम अब उसे भड़का नहीं रहे हैं। उन्होंने एक गश्ती पत्र जारी किया है जिसमें उन्होंने अफ़सरों से कहा है कि वे धारा १०७ ताजीरात हिन्द के अनुसार निवारक कार्यवाही करें। वह कहते हैं कि इससे उपद्रव शुरू होने से पहले ही दबा दिया जाएगा और हिंसा को भड़कने न दिया जाएगा।" (उप., पृ. ८१४)। कांग्रेसी मन्त्री जो कानून बनाना चाहते थे, उसका सम्बन्ध ज़मींदारी हटने से था। मन्त्री ने जो ऊलजलूल प्रचार किया था, उसका सम्बन्ध किसानों से किये हुए वादों से था कि सत्ता हाथ में आते ही ज़मींदारी प्रथा खत्म कर दी जाएगी। अंग्रेजों के दबाव से कांग्रेसी मन्त्री अपनी रफ्तार धीमी करने को तैयार हो गये थे। जिस हिंसा को रोकने के लिए उन्होंने गश्ती पत्र जारी किया था, वह साम्प्रदायिक दंगोंवाली हिंसा नहीं थी, वह वर्गसंघर्ष की हिंसा थी जिसके लिए ज़मींदारों और अंग्रेज़ी राज्य की कानूनी व्यवस्था ज़िम्मेदार थी।

पूर्वी बंगाल की प्रतिक्रिया सुदूर पंजाब में हुई। उससे पहले अन्तरिम सरकार बनने पर पंजाब के गवर्नर ने वाइसराय को बताया कि मुसलमान समझते हैं कि अन्तरिम सरकार बनने से सत्ता हिन्दुओं के हाथ में आ गयी है; हिन्दू इसका उपयोग सारे भारत में मुसलमानों को दबाने के लिए करेंगे और गवर्नर जनरल उन्हें रोक न पायेगा। मुसलमानों के अखबार ज़हर उगल रहे हैं, मस्जिदों में नमाज़ के समय कटु भाषण दिये जाते हैं। "२४ अगस्त को सर शफात अहमद खाँ के ऊपर जो कातिलाना हमला हुआ, वह बेशक एक बहुत व्यापक भावना ज़ाहिर करता

है।" (उप., पृष्ठ ३७१)। गवर्नर का विचार था कि लीग और कांग्रेस दोनों ही [illegible] मिली-जुली और [illegible] प्रकाश नारायण) हिंसात्मक क्रान्ति का प्रचार करते रहे हैं। इसमें सार्वजनिक इमारतों और पुलिस थानों पर कब्जा और अफसरों की हत्या शामिल है। कांग्रेसी सोशलिस्टों का निकट सम्बन्ध कांग्रेस के हाईकमान से है। इनसे और बायें हटकर कम्युनिस्ट हैं। इस समय मजदूरों और किसानों में जो बेचैनी है, उसकी तह में कांग्रेसी सोशलिस्टों की तरह ये कम्युनिस्ट हैं और वे किसी भी उपद्रव से लाभ उठायेंगे। मन्त्रिमण्डल कम्युनिस्टों और कांग्रेसी सोशलिस्टों दोनों से डरता है और उसका सारा ध्यान उन्हें किसी तरह सन्तुष्ट किये रहने पर है। मजबूत सरकार होती तो महीनों पहले उनसे निपट सकती थी।" (उप., पृष्ठ ३७४)।

पंजाब की सरकार कांग्रेसी न थी, मुस्लिम लीगी भी न थी। वह यूनियनिस्ट पार्टी की सरकार थी। मुख्यमन्त्री खिज़र हयात खाँ थे। वह अंग्रेजों के भक्त थे क्योंकि वह युद्धकाल में मुख्यमन्त्री बने थे। अंग्रेजों के भक्त का मन्त्रिमण्डल कम्युनिस्टों और सोशलिस्टों के आन्दोलन से भयभीत था। बिहार में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल था, वह भी वामपक्षी आन्दोलन से भयभीत था। व्यवहार में वामपक्षी एकता मजबूत हो रही थी। अंग्रेजों को सबसे बड़ा भय इस एकता से था। बिहार से लेकर पंजाब तक वामपक्षी नेता क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने के लिए जनता को एकजुट कर रहे थे। स्वभावतः अंग्रेज जयप्रकाश नारायण की भूमिका से चिन्तित थे।

पहली सितम्बर को जब वाइसराय से नेहरूजी की मुलाकात हुई, तब वाइसराय ने पूछा, जयप्रकाश नारायण कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य हो गये हैं; इसका अर्थ क्या है? जयप्रकाश संविधानवादी हो गये हैं या कार्यकारिणी क्रान्तिकारी होने जा रही है? "नेहरू हँसे और बोले, 'आशा है कि दोनों'। फिर उन्होंने कहा कि जयप्रकाश नारायण बड़े भले आदमी हैं और दरअसल हिंसा के प्रति उनका रुझान बिल्कुल नहीं है। मैंने कहा कि इधर जो पंजाब में भाषण दिये हैं, उन्हें हिंसा और क्रान्ति के लिए उकसानेवाले के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता। जिन्होंने उन भाषणों को सुना, उन्होंने निस्सन्देह इसी रूप में ग्रहण किया। उन्होंने [नेहरू ने] कहा कि वह समझते हैं कि भाषणों की रिपोर्ट ठीक नहीं छपी। उन्होंने कहा कि वह चाहते हैं कि मेरी उनसे [जयप्रकाश से] भेंट हो।" (उप., पृष्ठ ३८३)।

५ सितम्बर को वाइसराय की भेंट वल्लभभाई पटेल से हुई। उस भेंट में वाइसराय ने फिर जयप्रकाश की चर्चा की और कहा कि वह कांग्रेस की कार्यकारिणी में ले लिये गये हैं। पंजाब में उनके भाषणों के लिए कहा कि वे स्पष्ट रूप से क्रान्ति और हिंसा के लिए उकसावा पैदा करते हैं। "वह [पटेल] सहमत थे। उनसे मुझे यह आभास मिला कि उन लोगों ने जयप्रकाश नारायण को कार्यकारिणी में इसलिए लिया है कि उनका मुँह बन्द रखने की कोशिश करें। उन्होंने कहा कि जब तक वे कार्यकारिणी में हैं, तब तक वे शान्त रहेंगे।" (उप., पृष्ठ

४१९)। अंग्रेज जयप्रकाश नारायण से परेशान थे। बिहार के अलावा पंजाब में उनके बढ़ते हुए प्रभाव से परेशान थे। वाइसराय कांग्रेसी नेताओं पर जोर डाल रहे थे कि वे जयप्रकाश को निष्क्रिय कर दें। कांग्रेसी नेता शान्तिपूर्ण हस्तान्तरण के पक्ष में थे। उन्हें विश्वास था कि कांग्रेस की कार्यकारिणी में शामिल होने के बाद जयप्रकाश कांग्रेसी नीति के विरोध में कोई कार्य न करेंगे। बिहार के गवर्नर भी इस बात से प्रसन्न थे कि जयप्रकाश नारायण कांग्रेस की कार्यकारिणी में फांस लिये गये है (has been roped) क्योंकि उसमें शामिल होने के बाद वह कांग्रेस पर खुला आक्रमण नहीं कर सकते, हिंसा भड़काने का काम नहीं कर सकते। किन्तु बिहार के मुख्यमन्त्री का विचार था कि वह अब भी ऐसा करते रहेंगे।

२९ अक्तूबर को लाहौर के छात्रों ने नोआखली दिवस मनाया, 'खून का बदला खून से लेंगे' आदि नारे लगाते हुए जुलूस निकाला। पंजाब के गवर्नर के अनुसार सर गोकुलचन्द नारंग जैसे लोग मुस्लिमविरोधी भावना भड़का रहे थे। (उप., पृष्ठ ८४९)। २९ अक्तूबर को बिहार के गवर्नर ने भारत-सचिव को तार दिया कि नोआखली के हताहतों से सहानुभूति दिखाने के लिए २५ अक्तूबर को छपरा में साम्प्रदायिक दंगा शुरू हो गया। छपरा में शान्ति है लेकिन आसपास के गांवों में दंगा फैल गया है। २८ अक्तूबर को भागलपुर में दंगा हुआ। मुंगेर में भी टक्कर हुई। (उप., पृष्ठ ८२१)। बिहार और पंजाब दोनों जगह क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने में अंग्रेज सफल हुए। एक जगह दंगा हुआ या अधिकारियों ने जनसंहार कराया, उसकी प्रतिक्रिया दूसरी जगह हुई, दूसरी की प्रतिक्रिया तीसरी जगह हुई, सिलसिला चालू हो गया और अंग्रेजों ने चैन की सांस ली।

## (ञ) नेहरू और सीमान्त प्रदेश

अन्तरिम सरकार में शामिल होने के बाद जवाहरलाल नेहरू सीमान्त प्रदेश और पठान कबीलों के क्षेत्र की यात्रा करना चाहते थे। वाइसराय न चाहते थे, पश्चिमोत्तर प्रान्त के गवर्नर न चाहते थे कि वह यात्रा करें। वाइसराय के अनुसार कांग्रेस हाई कमान के जो नेता ज्यादा समझदार थे, उन्होंने भी उन्हें जाने से रोका। (खण्ड ८; पृष्ठ ७६६)। पश्चिमोत्तर प्रान्त के गवर्नर के अनुसार मुस्लिम लीग के नेता पठान कबीलों में प्रचार-कार्य के लिए जाने को उत्सुक थे। सितम्बर के अन्त तक गवर्नर उन्हें रोके रहे। कबीलों से उनका कहना था कि वह न कांग्रेस के चक्कर में पड़ें न लीग के; जब दोनों पार्टियां संविधान सभा में आ जायें, तब उनसे बातें करें। जब नेहरू विदेश विभाग की देखरेख करनेवाले सदस्य बने, तब मुस्लिम लीग के नेता चौकन्ने हुए और उन्होंने अपने प्रचारक भेजने का निश्चय किया। इनमें मंकी का मुल्ला भी था। गवर्नर ने सोचा कि उसे रोकने के लिए उसे पकड़ना होगा; इससे टक्कर के लिए चुनौती दी जायेगी। जब यह निश्चित हो गया कि नेहरू वहां अब्दुल गफ्फार खां के साथ आ रहे हैं, तब मुस्लिम लीग ने अपना प्रचार अभियान तेज किया और नेहरू के आने से ठीक पहले मंकी के मुल्ला ने कबायली इलाकों का दौरा किया। "इसमें सन्देह नहीं कि इन दौरों से धर्मान्ध भावना को काफी उभारा गया। जो पोलिटिकल एजेन्टों ने ...

काम कर रहे थे और कबीलों के जो आदमी ज्यादा समझदार थे, उन्होंने मुल्ला को बहुत समझाया कि कबायली इलाकों में न जाने पर वे सफल न हुए। मेरी समझ में जैसी परिस्थिति थी, और चूँकि नेहरू का दौरा नया था और उसका उद्देश्य कांग्रेसी लक्ष्य को आगे बढ़ाना था, उसमें लीग के प्रचारकों को कबायली इलाकों में जाने से सक्रिय रूप से रोकना गलत होता और ऐसा करने से अवश्य ही उपद्रव होता।" (उप., पृष्ठ ७८७)।

गवर्नर के विवरण से स्पष्ट है कि नेहरू के आने से पहले मुस्लिम लीग ने धर्मान्ध भावनाएँ उभारीं। गवर्नर की इच्छा के विरुद्ध लीग के प्रचारक कबायली इलाकों में न जा सकते थे। गवर्नर को भय था कि लीग के प्रचारकों को रोकने में उपद्रव होगा। वाइसराय सरदार पटेल को वहाँ जाने से रोक सकता था, सीमान्त प्रदेश का गवर्नर मकी के मुल्ला को कबायली इलाके में जाने से रोकना उचित न समझता था। इससे एक ही परिणाम निकलता है कि मुस्लिम लीग के नेता और गवर्नर मिलकर कांग्रेस-विरोधी अभियान चला रहे थे। यदि पश्चिमोत्तर प्रदेश खान अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ के प्रभाव में बना रहे और पाकिस्तान में शामिल न हो, तो ब्रिटिश कूटनीति का सारा खेल बिगड़ जायगा। दो जगह गवर्नर के अनुसार पत्थर फेंके गये। दूसरी जगह नेहरू, खाँ साहब और अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ सभी के चोटें आयीं और उपद्रव में बचने के लिए गोली चलानी पड़ी। "इसमें सन्देह नहीं है कि लीग ने इन सारे प्रदर्शनों का आयोजन किया था। लोग हथियार-बन्द न थे; वे काले झण्डे लेकर आये थे। लेकिन जहाँ प्रदर्शन पहाड़ियों पर हुए, वहाँ पत्थर फेंकने का आकर्षण उन पर हावी हो गया और कानून के टूटने से वे खतरनाक हो गये।" (उप., पृष्ठ ७८६)।

अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ के आश्रम में सारे प्रदेश के लालकुर्तीवाले स्वयंसेवक एकत्र हुए थे। लीग चाहती थी कि विरोधी प्रदर्शन आयोजित करे और सम्भवतः दोनों दलों में जमकर लड़ाई होती। "सौभाग्यवश किसी अज्ञात कारण से लीग ने यह योजना आखिरी क्षणों में रद्द कर दी। या तो उन्होंने अनुभव किया कि वे सख्या में कमजोर पड़ेंगे और लालकुर्तीवाले प्रदर्शनों में वहाँ निपट न पायेंगे या शायद आपके माध्यम से जो मैंने अपीलें की थीं, उनसे दिल्ली में बैठे-बैठे जिन्ना ने प्रदर्शन की योजना रद्द कर दी थी।" (उप., पृष्ठ ७९०)।

गवर्नर से नेहरू की मुलाकात हुई। गवर्नर ने कहा कि एक पार्टी की ओर से कबीलों से बात चलाना सही न था (अर्थात् हर अंग्रेज अधिकारी की तरह यह गवर्नर भी नेहरू पर जोर डाल रहा था कि वह मुस्लिम लीग से समझौता करें।) गवर्नर की राय में नेहरू एक पार्टी के नेता अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ के साथ गये, यह कार्य घातक सिद्ध हुआ। पार्टी के नेता को ले जाना था तो दूसरी पार्टी के नेताओं को भी ले जाना चाहिए था। नेहरू ने लीग की सख्त आलोचना की और कहा कि वह अपने पुराने दोस्तों को छोड़ नहीं सकते और अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ इनमें मुख्य हैं। (पाकिस्तान बनने पर नेहरू ने अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ को छोड़ा, यह सभी लोग जानते हैं।) नेहरू ने कहा कि आई. सी. ऐस. अफ़सरों में हुक्म चलाने की आदत (अथोरीटेरियन हैबिट) है। गवर्नर ने कहा कि किसी भी

आई. सी. एस. की तुलना में हिन्दुस्तान की राजनीतिक पार्टियों में हुक्मशाही कहीं ज्यादा है। नमूना यह दिया कि वे एक पार्टी का शासन चाहते हैं और सत्ता हाथ में आने पर कानून का उल्लंघन करते हैं। (उप., पृष्ठ ३६१)। यहाँ गवर्नर का उद्देश्य फिर स्पष्ट हो जाता है। तुम कांग्रेस के लिए सत्ता चाहते हो, सत्ता अकेले कांग्रेस को न मिलेगी। उनके लिए मुस्लिम लीग से समझौता करना पड़ेगा।

जिन अधिकारियों ने मुस्लिम लीग के साथ मिलकर प्रदर्शन आयोजित कराये थे, उनका विभाग वही था जिसकी देखरेख के लिए नेहरूजी अन्तरिम सरकार में थे। अधिकारी उन्हीं के विभाग के हों और उनकी बात न मानें, यह उनके लिए काफी दुखदायक स्थिति थी। नेहरूजी ने पश्चिमोत्तर प्रदेश के गवर्नर के लिए अपनी यात्रा पर २६ अक्तूबर को एक लम्बा नोट लिखा। इसमें और बहुत-सी बातों के अलावा उन्होंने इस बात का उल्लेख किया कि ऊँचे सरकारी अफसरों में अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ के प्रति अत्यन्त कटुता और शत्रुता का भाव है। सीमान्त प्रदेश में सरकार कांग्रेस की थी, अब्दुल गफ्फार खाँ कांग्रेस के प्रतिष्ठित नेता थे। उनसे मेलजोल बढ़ाने के बदले अफसर उनसे दूर रहते थे और उनके व्यवहार से स्पष्ट हो गया था कि वह उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं हैं। वे नहीं चाहते थे कि नेहरू के साथ अब्दुल गफ्फार खाँ भी दौरे पर जायें। नेहरूजी ने यहाँ जनतान्त्रिक राजनीति की बात चलायी। लोकप्रिय सरकारों के जनवादी नेताओं को स्वीकार या अस्वीकार करना अफसरों का काम नहीं है। जनवादी सरकार में नेता चाहे सरकार में हों चाहे न हों, उनका व्यक्तित्व अपरिवर्तित रहता है। वे सरकार के नेता होते हैं, पार्टियों और जनता के नेता भी होते हैं। जो आदमी आज पद पर नहीं है, वह कल हो जायेगा, वह स्वयं पद पर नहीं है तो उसके साथी उस पर हो सकते हैं। अपने नोट की एक प्रति नेहरूजी ने वाइसराय को भी भेजी और परिणाम कुछ न निकला।

## ६. गैरमुस्लिम अल्पसंख्यक

### (क) सिक्ख

राष्ट्रीय आन्दोलन में फूट डालने के लिए मुस्लिम लीग अंग्रेजों के हाथ में एक अस्त्र थी किन्तु वह एकमात्र अस्त्र नहीं थी। अल्पसंख्यकों के रूप में सिक्ख सम्प्रदाय भी था। अंग्रेजों ने इनमें भी सामन्ती आधारवाले तत्वों को बढ़ावा दिया और पंजाब जैसे महत्वपूर्ण प्रदेश में साम्राज्यविरोधी संग्राम को कमजोर बनाने के लिए उनका उपयोग किया। सिक्खों के सम्प्रदायवादी नेताओं में अंग्रेजों ने अलगाववादी भावनाएँ उभारीं, उनके द्वारा यह प्रचार कराया कि अंग्रेजों के जाने पर सिक्खों का भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा। अलगाववाद की तर्कसंगत परिणति है अन्य सम्प्रदायों से अलग एक राज्य का निर्माण। यदि अंग्रेज सिक्खों का अलग राज्य नहीं बना सके, तो इसका कारण यह नहीं था कि वे ऐसा करना न चाहते थे सिक्ख राज्य बनाने में पाकिस्तान की अपेक्षा व्यावहारिक कठिनाइयाँ अधिक थी सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि किसी भी क्षेत्र में सिक्ख बहुसंख्यक न थे।

५ अप्रैल १९४६ को कैबिनेट मिशन से सिक्ख नेताओं की बातचीत हुई

मिशन की ओर से भारत-सचिव पेथिक लारेन्स ने पूछा कि सत्ता का हस्तान्तरण एक संस्था को किया जाये या एक से अधिक को; यदि दो को किया जाये तो सिक्ख किसमें शामिल होंगे; "और यदि व्यावहारिक हो और उसका प्रबन्ध किया जा सके तो क्या सिक्ख अपना अलग स्वायत्त राज्य बनाना पसन्द करेंगे? भारत-सचिव ने स्वयं इस बारे में कोई मत स्थिर नहीं किया है।" (खण्ड ७; पृष्ठ १३८)। मास्टर तारासिंह ने कहा कि वह संयुक्त भारत के पक्ष में हैं, सभी सम्प्रदायों की मिली-जुली सरकार बननी चाहिये, वरना परेशानी हो सकती है। भारत का बँटवारा बहुत ही खतरनाक खेल होगा। "यदि बँटवारा होता है तो उनकी समझ में सिक्ख न हिन्दुस्तान में रहेंगे न पाकिस्तान में।" (उप.)। भारत-सचिव ने कहा कि सिक्ख इन दोनों में से किसी एक के साथ सम्बद्ध होंगे, उनके मातहत न होंगे। मास्टर तारासिंह ने कहा कि भारत में जो साम्प्रदायिक स्थिति है, उसे देखते हुए यह अनिवार्य है कि यदि दो राज्य बने तो सिक्ख या तो मुसलमानों के मातहत होंगे या हिन्दुओं के। मुसलमानों और हिन्दुओं में एका नहीं है और कुछ समय तक वे परस्पर-विरोधी बने रहेंगे, उस हालत में संयुक्त भारत में सिक्खों को मोलभाव करने की सुविधा रहेगी, किन्तु यदि विभाजन हो गया, तो वे किसी एक सम्प्रदाय के बहुमत के अधीन रहेंगे। अतः उस स्थिति में वह एक अलग स्वतन्त्र राज्य चाहेंगे जिसे हिन्दुस्तान या पाकिस्तान किसी एक के साथ संघबद्ध होने का अधिकार हो।" (उप.)

भारत-सचिव ने पूछा कि सिक्ख राज्य में कौन-से ज़िले होंगे। वे किसी भी ज़िले में बहुसंख्यक नहीं हैं। मास्टर तारासिंह ने कहा कि सिक्ख बहुसंख्यक नहीं हैं पर उन्हें जीवित रहने का अधिकार है। १९३५ के कानून से जो प्रान्तीय स्वायत्तता दी गयी, उससे सिक्खों के मन में सन्देह बढ़ गया है। प्रान्तीय अधिकारियों ने उनके साथ बुरा सलूक किया है। लड़ाई छिड़ने से पहले ही परेशानी पैदा हो रही थी। लड़ाई छिड़ने के बाद सिक्खों ने पंजाब की बहुमतवाली पार्टी से मेल-मिलाप कर लिया था और तब से शान्ति बनी हुई है। मेल-मिलाप होने पर भी वर्तमान स्थिति में बने रहना सिक्खों के लिए बहुत मुश्किल है। वे हर तरह से सताये जाते हैं और उनकी रक्षा तभी हो सकती है जब किसी न किसी रूप में स्वायत्त सिक्ख राज्य बने। (उप., पृष्ठ १३९)

अन्य सिक्ख नेता सरदार हरनामसिंह ने कहा कि सिक्ख राज्य में कितना इलाका होगा, इसका फैसला सिर्फ आदमी गिनकर न किया जायेगा। मुसलमानों को पंजाब से अम्बाला और जलन्धर डिवीजन अलग करने पर आपत्ति नहीं है। लाहौर ज़िले की कुल मालगुजारी १४ लाख थी। बहुसंख्यक मुसलमान इसमें से केवल ४ लाख देते थे, सिक्ख ८ लाख देते थे। लगभग ६० फीसदी जमीन सिक्खों के अधिकार में थी। मुसलमान आबादी का साठ फीसदी थे लेकिन उनके पास ३० फीसदी जमीन ही थी। बहुत से मुसलमान वहाँ मजदूरी करने आते थे और काम करने के बाद वापस चले जाते थे। वहाँ इनका अधिकार न माना जा सकता था। अमृतसर ज़िले की कुल मालगुजारी पौने सोलह लाख थी। इसमें से सिक्ख लगभग १२ लाख और मुसलमान केवल ३ लाख देते थे। सिक्खों ने सुझाया है कि आबादी

और सम्पत्ति दोनों का स्थानान्तरण होना चाहिए। पंजाब के दूसरे ज़िलों से सिक्ख स्थानान्तरण के लिए तैयार हो जायेंगे। भारत का बँटवारा हुआ तो वह सिक्खों की इच्छा के विरुद्ध होगा। विभाजित भारत विदेशी आक्रमण का शिकार होगा। विभाजन दोनों सम्प्रदायो के समझौते से हो सकता है अथवा अंग्रेज़ सरकार उसे थोप सकती है। यदि विभाजन थोपा जाता है तो सिक्ख अंग्रेज़ सरकार से पूछते हैं कि क्या वे उन्हें विदेशी शासन मे रहने को बाध्य करेंगे ? सिक्ख राज्य से ही उनकी रक्षा हो सकती है और उस राज्य को स्वेच्छा से किसी के साथ संघबद्ध होने का अधिकार होगा। "यदि मिस्टर जिन्ना के मुसलमान बहुमत का शासन कबूलने को तैयार नही है तो सिक्ख ही उसे क्यों कबूल करें ?" (उप.)।

सरदार ज्ञानी करतारसिंह ने कहा कि चाहे संयुक्त भारत हो चाहे पाकिस्तान, सिक्ख दोनों में असुरक्षित महसूस करेंगे। दोनों ही स्थितियो मे वे चाहेगे कि एक ऐसा प्रान्त हो जिसमे उनकी प्रधानता हो या लगभग प्रधानता हो। मुसलमान पंजाब मे ५७ फीसदी है। मुस्लिम इलाको में सिंचाई के विकास के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। मुसलमानों से कहना चाहिए कि वे वहाँ जाये। पजाब का ५७ फीसदी भाग मुसलमानों को दे दिया जाये, शेप प्रदेश मे सिक्खो की प्रधानता-वाली स्थिति होनी चाहिए और सरकार को स्थानान्तरण की व्यवस्था करनी चाहिए। क्रिप्स के एक प्रश्न के उत्तर मे ज्ञानी करतारसिंह ने कहा कि सिक्ख राज्य में जलन्धर और लाहौर डिवीजन होने चाहिए, इनके साथ अम्बाला डिवीज़न के हिसार, करनाल, अम्बाला और शिमला ज़िले होने चाहिए तथा मोण्टगुमरी और लायलपुर ज़िले होने चाहियें।

वाइसराय ने पूछा, क्या उनकी समक्ष मे आबादी का स्थानान्तरण सचमुच व्यावहारिक है ? सिक्ख प्रतिनिधियो ने कहा कि सरकारी सहायता से सिक्ख आबादी दस पाँच साल मे समेटकर इन इलाको मे लायी जा सकती है। (उप., पृष्ठ १४०)।

उसी दिन कैबिनेट मिशन से सरदार बल्देवसिंह की भेंट हुई। उनका कहना था कि १९१४ के पहले सिक्खों की स्थिति ठीक थी। फौज में १९ फीसदी सिक्ख थे और नागरिक सेवाओं में परम्परा के अनुसार उन्हें ३३ फीसदी स्थान दिये जाते थे। लड़ाई के बाद फौज मे सिक्ख १४ फीसदी रह गये। दूसरे सम्प्रदायों ने गुरुद्वारा आन्दोलन को इस रूप मे पेश किया कि वह सिक्खों और अंग्रेज़ों के बीच मे संघर्प था। इसका नतीजा यह हुआ कि सिक्खों के हाथ से उनकी पुरानी स्थिति निकलने लगी। यह सिलसिला १९३७ के चुनावो तक चला। तब सिक्खो ने अनुभव किया कि उनकी उपेक्षा की जा रही है। पहले मन्त्रिमण्डल के छह सदस्यों में केवल एक सिक्ख था। फौज और सेवाओं मे सिक्खो का अनुपात गिरने लगा। १९३९ मे कोशिश की गयी कि सिक्खों को फौज से बाहर रखा जाये। १९४२ में उन्होंने प्रयत्न किया कि पंजाब सरकार और सिक्खो मे समझौता हो जाये और वह मन्त्री बने। उन्होंने सर सिकन्दर हयात खाँ से समझौता किया लेकिन समझौते की शर्तों का पालन नही किया गया। जब छोटी-छोटी बातों मे शर्तों का पालन नही किया गया तब बडी बातों में शर्तों का पालन क्या होगा ? ऐसी स्थिति में

सिक्खों को जीवित रहने के लिए विशेष संरक्षण की जरूरत है।

वाइसराय ने कहा कि पंजाब की कुल दो करोड़ अस्सी लाख आबादी में सिक्ख चालीस लाख हैं; इसलिए छह सदस्यों के मन्त्रिमण्डल में एक सिक्ख का होना सही अनुपात है। वाइसराय ने यह भी पूछा कि पंजाब के विभाजन के बारे में जिन्ना के विचार को अमल में लाया गया तो सिक्खों की क्या स्थिति होगी? सरदार बल्देवसिंह ने कहा, तब सिक्ख जीवित न रह सकेंगे। जिन्ना ने कहा था कि संख्या ही सबकुछ नहीं है। सरदार बल्देवसिंह की राय थी कि किसी सम्प्रदाय का राजनीतिक महत्व मुख्य बात है। उस दृष्टि से सिक्खों की स्थिति में गिरावट आ रही थी। क्रिप्स ने पूछा कि खालिस्तान की व्याख्या किस तरह होगी। सरदार बल्देवसिंह ने कहा कि पंजाब से मुलतान और रावलपिण्डी डिवीजन निकाल दिये जायेंगे और सरहद मोटे तौर पर चिनाब नदी के किनारे-किनारे होगी। लाहौर को सिक्ख राज्य में होना चाहिए। किन्तु सिक्ख संयुक्त भारत के पक्ष में बहुत है। विभाजन बुद्धिमानी की बात नहीं है। सरहद पर छोटे राज्य होंगे तो बड़ी शक्तियाँ उन पर हावी हो जायेंगी और भारत के लिए खतरा पैदा होगा। सबसे अच्छा समाधान संयुक्त भारत है जिसमें अल्पसंख्यकों को संरक्षण दिया जाये और विधानसभाओं में उनकी प्रतिशत आबादी से अधिक स्थान दिये जायें। वर्तमान व्यवस्था सिक्खों के अनुकूल नहीं है। प्रान्तीय सीमाएँ फिर से निर्धारित की जायें तो सिक्ख-हितों की काफी रक्षा हो सकती है। पंजाब का विभाजन होने पर पठानिस्तान और सिखिस्तान बनें तो इस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। क्रिप्स ने पूछा कि इस प्रस्ताव के बारे में मुसलमान क्या कहेंगे। "सरदार बल्देवसिंह ने कहा यदि मुस्लिम लीग पंजाब के बँटवारे के लिए राजी हुई तो मुसलमान लीग को समर्थन देना बन्द कर देंगे। वे विभाजन को स्वीकार न करेंगे और जब तक सिक्खों को पर्याप्त संरक्षण न मिले, सिक्ख भी ऐसा प्रस्ताव स्वीकार न करेंगे। उनका विचार था कि प्रान्त के विभाजन से समाधान निकले तो आबादी का स्थानान्तरण इस तरह करना चाहिए कि सिक्खों के अनुपात में वृद्धि हो और ऐसा करना सम्भव होगा।" (उप., पृष्ठ १४२)।

सरदार बल्देवसिंह ने कहा कि खालिस्तान में अम्बाला, जलन्धर और लाहौर, कम से कम ये तीन डिवीजन होंगे। छह जिलों में उपयुक्त राज्य नहीं बन सकता। आदर्श राज्य तो वह होगा जिसमें कोई सम्प्रदाय बहुसंख्यक न हो। वह इस बात से सहमत थे कि प्रस्तावित सिक्ख राज्य में सिक्ख कुल आबादी का केवल बीस फीसदी होंगे। सरदार बल्देवसिंह ने कहा, अल्पसंख्यक हितों की रक्षा के लिए पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए, इसके बारे में पार्टियों में समझौता होना चाहिए किन्तु उन्हें विश्वास था कि सत्ता के हस्तान्तरण के बाद उन्हें कुछ न मिलेगा। यदि दो या अधिक स्वतन्त्र राज्य बनें तो नये सिरे से सीमा-निर्धारण जरूरी होगा। यदि संयुक्त भारत बना रहता है, और सिक्ख इसके पक्ष में है, तो विधान सभाओं में उनके प्रतिनिधित्व में बढ़ती होनी चाहिए। "सिक्ख यह समझते हैं कि अंग्रेजों पर उनका हक है क्योंकि अंग्रेजों के आने से पहले वही पंजाब के शासक थे। मुस्लिम लीग के हाथ में सत्ता आने पर उसकी बात का भरोसा नहीं किया

जा सकता। पाकिस्तान को लेने के लिए जिन्ना कुछ भी वादा करने को तैयार है लेकिन पंजाब में पिछला अनुभव यह है कि सत्ता मिलने पर वह वादा पूरा करेंगे, इसमें सन्देह है।" (उप., पृष्ठ १४३)।

सरदार बल्देवसिंह उद्योगपति थे, उनके व्यवसाय का मुख्य क्षेत्र बिहार था। वह उन व्यवसाइयों के प्रतिनिधि थे जो साम्राज्यवाद से मिलकर धन्धा चलाते थे। उनके और अन्य सामन्ती साम्प्रदायिक सिक्ख नेताओं के दृष्टिकोण में मौलिक भेद न था। वह अंग्रेज़ों पर अपना विशेष अधिकार समझते थे, इसलिए कि अंग्रेज़ों ने पंजाब का राज्य सिक्खों से पाया था। बहुत से मुसलमान इसी तरह समझते थे कि अंग्रेज़ों पर उनका विशेष अधिकार है क्योंकि सारे उत्तर भारत का राज्य अंग्रेज़ों ने मुसलमानों से पाया था। सरदार बल्देवसिंह मानते थे कि मुसलमान पंजाब का बँटवारा नहीं चाहते। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला यह कि बँटवारा होने पर पाकिस्तान छोटा रह जायेगा, दूसरा यह कि वे मुसलमान होने के अलावा पंजाबी भी हैं और अपने प्रदेश का बँटवारा नहीं चाहते। जो भी कारण हो, अंग्रेज़ और जिन्ना दोनों ही इस बारे में बहुत सावधानी से आगे बढ़े कि पंजाब का बँटवारा होगा, तब पाकिस्तान बनेगा। नीति यह थी कि लोगों को समझाया जाये कि पाकिस्तान बन जायेगा या उसका सारतत्व मिल जायेगा और पंजाब का बँटवारा न होगा। सरदार हरनामसिंह ने मालगुजारी के बारे में जो आँकड़े दिये, वे महत्वपूर्ण हैं। सिक्खों की आबादी कम लेकिन ज़मीन उन्हीं के पास ज़्यादा। इस स्थिति में कोई भी सामन्तविरोधी आन्दोलन चलाने से सिक्ख-जमींदारों और मुसलमान किसानों में टक्कर होती। इससे मिलती-जुलती स्थिति पूर्वी बंगाल और सिन्ध में थी। कांग्रेस सामन्तविरोधी किसान-आन्दोलन से डरती थी। ऐसी हालत में सामन्ती और साम्प्रदायिक नेताओं से समझौता करने के अलावा उसके लिए अन्य मार्ग न था। जवाहरलाल नेहरू जिस अन्तरिम सरकार में शामिल हुए थे, उसके एक सदस्य सरदार बल्देवसिंह थे जो फौज में सिक्खों का अनुपात बढ़ाने के लिए विशेष प्रयत्नशील रहे थे। ऐसी सरकार कितनी क्रान्तिकारी हो सकती थी, इसकी कल्पना की जा सकती है। १९४७ में खालिस्तान नहीं बना, यह बात सही है किन्तु साम्प्रदायिकता के जिस आधार पर पाकिस्तान बना था, उसी आधार पर यदि सिक्ख नेता अपना अलग सिक्ख राज्य चाहते थे तो इसमें बेजा क्या था? १९४७ में साम्राज्यविरोधी संघर्ष के फलस्वरूप सम्प्रदायवाद को खत्म नहीं किया गया, उससे समझौता किया गया। एक समझौते से दूसरे समझौते के लिए रास्ता खुलता है। इसलिए १९८१ में खालिस्तान की माँग फिर सामने आयी, तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए। यदि सिक्ख राज्य की माँग बेजा नहीं थी तो हिन्दू राष्ट्र की माँग ही बेजा क्यों हो? पिछले तीन दशकों में हिन्दू सम्प्रदायवाद निरन्तर शक्तिशाली होता गया है, इससे भी किसी को आश्चर्य न होना चाहिए। पाकिस्तान बनने के बाद मुस्लिम सम्प्रदायवाद खत्म नहीं हो गया। पिछले दशक में उसने अपने सफर की नयी मंज़िलें तै की हैं। साम्राज्यवाद साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक दोनों तरह की अलगाववादी प्रवृत्तियों का उपयोग भारत की राष्ट्रीय और जनवादी शक्तियों के विनाश के

लिए आज भी करता है, इसमें भी आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

### (ख) अछूत

सिक्खों के अलावा अल्पसंख्यकों का एक और महत्वपूर्ण समुदाय अछूतों का था। सिक्खों के नेता कहते थे कि अंग्रेजों ने पंजाब का राज्य सिक्खों से पाया है और फौज में सिक्ख काफी संख्या में हैं। अछूत ऐसा दावा न कर सकते थे पर उनके नेता डाक्टर अम्बेदकर का कहना था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की फौज को आवश्यक आदमी सबसे पहले अनुसूचित जातियों से मिले "और उन्ही की मदद से अंग्रेजों ने भारत जीता। तब से वे अंग्रेजों के दोस्त बने रहे हैं। किन्तु अंग्रेजों ने कभी भी जानकर और सचेत रूप से उनकी सहायता नही की यद्यपि १८९२ से वे मुसलमानों की भारी सहायता करते आये है।" (खण्ड ७, पृष्ठ १४६)। ५ अप्रैल १९४६ को डाक्टर भीमराव अम्बेदकर की मुलाकात कैबिनेट मिशन और वाइसराय से हुई थी। यदि अछूतों ने अंग्रेजों की वैसी ही मदद की जैसी कि डाक्टर अम्बेदकरने बतायी थी, तो सिक्खों की अपेक्षा अंग्रेजों पर उनका हक और भी ज्यादा था। अंग्रेज यदि अछूतो से उस तरह का लाभ नही उठा पाये जिस तरह का लाभ उन्होने मुसलमानो और सिक्खों से उठाया, तो इसका कारण यह था कि अछूतों मे वैसे सामन्ती नेता थे नही जैसे सिक्खों और मुसलमानों में थे। किन्तु जिन्ना सामन्त नही थे, उन्ही की तरह ब्रिटिश व्यवस्था में शिक्षा पाये हुए डाक्टर अम्बेदकर भी सामन्त नही थे। उनका उपयोग ठीक उसी तरह अंग्रेज न कर पाये जिस तरह उन्होंने जिन्ना का उपयोग किया था; इसका मुख्य कारण यह था कि सिक्ख और मुसलमान सामन्तों द्वारा जिस तरह वे उन सम्प्रदायों के लोगों को प्रभावित कर सकते थे, उस तरह सामन्तों द्वारा अछूतो को प्रभावित करने की गुंजाइश न थी।

समस्या यह थी कि भारत से अंग्रेज चले गये तो अछूतो की रक्षा कौन करेगा। "उनका विचार था कि यदि भारत स्वाधीन हुआ तो यह एक बहुत बड़ी दुर्घटना होगी (He thought that if India became independent, it would be one of the greatest disasters that could happen.)। जाने से पहले अंग्रेजों को यह बात पक्की कर जानी चाहिए कि नये संविधान मे अनुसूचित जातियों के लिए सुख, स्वाधीनता और जीवन बिताने के सामान्य मानव अधिकारों की गारण्टी दी गयी हो, उनके अलग निर्वाचन-क्षेत्र फिर कायम किये जायें और अपने हित-रक्षण के लिए उनकी जो दूसरी माँगें हैं, उन्हें पूरा किया जाये। इस समय मोहभंग होने से उनके अनुयायी आतंकवाद और कम्युनिज्म की ओर बढ़ रहे है। संवैधानिक तरीके कारगर होते है या नही, इसकी परीक्षा उनके साथ वह भी दे रहे हैं।" (उप.)। अंग्रेजी राज बना रहे तो दरिद्र अछूतों के लिए संकट पैदा न होगा; अंग्रेजों के जाने से संकट पैदा हो जायेगा। डाक्टर अम्बेदकर ने अंग्रेजों को समझाया कि यह संकट जितना अछूतों के लिए है, उससे ज्यादा अंग्रेजों के लिए है, क्योंकि अन्य पीडित जनों के साथ अछूत भी कम्युनिज्म की ओर बढ़ रहे हैं। अंग्रेज डाक्टर अम्बेदकर का यह आशय जरूर समझ गये होंगे, तभी भारत-सचिव पेथिक लारेन्स

ने कहा कि अभी तक दो मुख्य समस्याएँ थीं—अंग्रेजी राज से स्वाधीन होने की समस्या और हिन्दू-मुस्लिम समस्या। "एक बार ये समस्याएँ रास्ते से हट गयीं तो सम्भवतः पार्टियों के बीच भेद आर्थिक समस्याओं को लेकर होगा। अवश्य ही अनुसूचित जातियों को काँग्रेस के साथ सहयोग करने से अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए ज्यादा अच्छा अवसर मिलेगा बनिस्बत इसके कि वे अंग्रेजों का भरोसा करें जो सत्ता छोड़ने जा रहे थे।' (उप., पृष्ठ १४७)। अंग्रेज डाक्टर अम्बेदकर को समझा रहे थे कि हमें कम्युनिज्म का डर दिखाना बेकार है; भारत से आगे रूस होने जा रहा है, हमें इसका अन्दाजा है; हमें तुमसे जो काम लेना था ले चुके; अब तुम जाओ और नया सत्ताधारी वर्ग जाने।

डाक्टर अम्बेदकर जानते थे कि अछूतों की मुख्य समस्या आर्थिक है। उन्होंने कैबिनेट मिशन को बताया कि भारत में लगभग छह करोड़ अछूत हैं। गाँव में उनके पास जमीन नहीं है और वे सवर्ण हिन्दुओं के दास-जैसे हैं। कुछ अछूत फौज में अच्छा काम पाकर अपने गाँव लौट गये; इन पर सवर्ण हिन्दू उन्हें पुराने काम पर जबर्दस्ती लौटा लाये। पुलिस और मालगुजारी विभागों में सवर्ण हिन्दुओं की प्रधानता है, इस कारण अछूतों के हिसाब से यह सरकार अंग्रेज नहीं, हिन्दू है। "इसका एक उदाहरण पिछले दिनों बम्बई में मिस्टर गांधी पर पत्थर फेंकने के लिए सौ अछूत लड़कों का पकड़ा जाना है। पुलिस ने इस अवसर पर शहर के अछूत इलाके में काफी नुकसान किया।" (उप., पृष्ठ १४५-४६)। निस्सन्देह अछूतों के पास जमीन नहीं थी और गाँवों में उनका स्थान दासों-जैसा था। जहाँ भी राजा और जमींदार होंगे, सामन्तवाद होगा, वहाँ भूस्वामियों की सेवा करने के लिए इस तरह के अधिकारहीन अर्द्धदास अवश्य होंगे। ऐसे दास यूरप में थे, भारत में थे और हैं। इनकी स्थिति में मौलिक परिवर्तन तभी हो सकता है जब समाज के ढाँचे को पूरी तरह बदला जाये। अंग्रेजी राज का मुख्य आधार यह सामन्ती ढाँचा ही था। इसलिए अछूतों का हित इस बात में था कि वे अन्य साम्राज्यविरोधी समुदायों के साथ मिलकर अंग्रेजी राज को खत्म करने के लिए लड़ें। डाक्टर अम्बेदकर इसी लड़ाई पर रोक लगा रहे थे। कांग्रेस सामन्तविरोधी क्रान्ति से दूर रहती थी, सामन्तविरोधी क्रान्ति के बदले वह अछूतों में थोड़े से खाते-पीते लोगों की उन्नति के लिए आरक्षण की सुविधाएँ देने को तैयार थी। इससे लाभ यह होता था कि अछूत और गैर-अछूत वर्ग-आधार पर संगठित होकर सामन्ती-पूँजीवादी व्यवस्था से लड़ने के बदले आपस में लड़ने को तैयार हो जाते थे। यदि स्वाधीन भारत में आरक्षण को लेकर द्विजों और शूद्रों में संघर्ष होता है, तो यह उसी क्रान्ति-विमुख समझौते का परिणाम है जिसे कांग्रेसी नेता १९४६-४७ में कर रहे थे। डाक्टर भीमराव अम्बेदकर १९४२ से ४६ तक गवर्नर जनरल की कार्यपरिषद के सदस्य थे। कांग्रेस के दबाव से वह हटाये गये और अन्तरिम सरकार में शामिल न किये गये किन्तु जवाहरलाल नेहरू ने भारत का संविधान बनाने के लिए प्रमुख रूप से उनका उपयोग किया। यह स्वाभाविक था। कारण यह कि कांग्रेसी नेताओं के लिए आदर्श जनतन्त्र इंग्लैण्ड का था, आदर्श लोकसभा इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट थी, आदर्श संविधान इंग्लैण्ड का था यद्यपि इंग्लैण्ड का

संविधान लिखित रूप में शून्य के बराबर है। सवैधानिक तरीकों से आज़ादी लेने-वाले कांग्रेसी नेताओं ने स्वाधीन भारत का सविधान बनाने के लिए सविधान विशेषज्ञ डाक्टर अम्बेदकर को अपनाया, यह स्वाभाविक था।

अंग्रेज़ों ने डाक्टर अम्बेदकर से पाकिस्तान के बारे में भी बातचीत की। डाक्टर अम्बेदकर ने कहा कि इस नये राज्य से मुसलमानों को लाभ होगा, इसमें सन्देह है। बहुत काफी मुसलमान हिन्दुस्तान में रह जायेंगे, बाहर जाना न चाहेंगे या जा न सकेंगे। सम्भव है, पाकिस्तान-सम्बन्धी विचार मुसलमानों के मन से निकल जाये, लेकिन तब तक राह देखना सम्भव न होगा। पाकिस्तान की माँग इतना ज़ोर पकड चुकी है कि उसे किसी न किसी तरह पूरा करना ज़रूरी हो गया है। उन्होंने इस विषय पर एक पुस्तक लिखी थी 'पाकिस्तान अथवा भारत का विभाजन' (पाकिस्तान ओर दि पार्टीशन आफ इण्डिया, १९४६)। उन्होंने उसमे लिखा था कि पाकिस्तान को दस साल के लिए स्वाधीन कर दिया जाये। इतने दिन में मालूम हो जायेगा कि वह आर्थिक रूप से चालू रहेगा या नही। उन्होने स्वीकार किया कि इतने दिन बाद हिन्दुस्तान से मोलभाव करने में पाकिस्तान को घाटा होगा। मुसलमानों का रुख इस समय जैसा है, उसे देखते कहना होगा कि यदि वे अखिल भारतीय केन्द्रीय सरकार स्वीकार भी कर लें, तो वह सरकार बहुत कमज़ोर होगी। (उप., पृष्ठ १४४)।

कैबिनेट मिशन से अलग मुलाकात होने से पहले वाइसराय की कार्यपरिषद् के सभी सदस्यों की मुलाकात मिशन से हुई। २६ मार्च १९४६ की इस मुलाकात में डाक्टर अम्बेदकर ने परिषद् के सदस्य के रूप में बातचीत की। पाकिस्तान की माँग के बारे में उन्होंने कहा, "चुनाव से यह साबित हो गया है कि मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि मुस्लिम लीग है। मुसलमान फैसला कर चुके हैं कि भारत का बँटवारा हो और सबसे पहले इस सवाल से निपटना चाहिए।" (उप., पृष्ठ ९)। आगे उन्होने कहा कि प्रान्तो की सीमाएँ बदलने से मुस्लिम लीग की माँग पूरी हो जायेगी, इससे वह सहमत नही है। "ऐसा मानना मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण को न समझना है। मुस्लिम लीग के लिए सवाल प्रान्तीय सीमाओं का नही है वरन् इसका है कि प्रान्तों पर हिन्दू-प्रधान केन्द्र का नियन्त्रण रहेगा। प्रान्तो की सीमाएँ बदलने से वह कठिनाई दूर न होगी बल्कि परिस्थिति और खराब हो जायेगी।" (उप.,पृष्ठ १०)।

अप्रैल १९४६ मे असम के गवर्नर क्लाउ ने अपने दस्तावेज में भारतीय परि-स्थिति का विवेचन करते हुए अनुसूचित जातियों के बारे मे लिखा कि उन्हें सरक्षण प्रदान करने में गम्भीर कठिनाइयाँ है, "और यदि वर्तमान परिस्थिति में उनकी समस्या उतनी महत्वपूर्ण नही बनी तो यह केवल इसलिए कि मुसलमानों की तुलना में वे इतना नीचे गिरे हुए है कि वे अभी राजनीतिक रूप से खतरनाक नही हुए। शताब्दियों के उत्पीडन ने, जिसकी मिसाल विश्वइतिहास मे नहीं है, उनमें अधिकाश की, कुछ समय पहले तक, यह शक्ति ही खतम कर दी थी कि वे अपनी उन्नति की सम्भावना पर विचार भी करें।" (उप., पृष्ठ १०५)। अछूत राजनीतिक रूप से खतरनाक नही है, इसका अर्थ यह है कि उनकी माँगों को उस

हद तक पूरा करना जरूरी नहीं है जिस हद तक मुसलमानों की मांगों को पूरा करना जरूरी है। किन्तु क्राउ का यह मत भी था कि "राजनीतिक इकाई के रूप में इनके उभरने से मुसलमानों को अधिक सुरक्षा प्राप्त होगी और यहां उनके सहायक होने की सम्भावना है।" (उप., पृष्ठ १०६)।

४ जून १९४६ को आल इण्डिया शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन की बैठक हुई। इसमें एक लम्बा प्रस्ताव पास किया गया। इसमें संघ की कार्यकारिणी ने ब्रिटिश लेबर पार्टी और बादशाह सलामत की सरकार को सूचित किया कि कैबिनेट मिशन ने उनके साथ न्याय नहीं किया। जो अन्याय हुआ है, वे उसे दूर करें; न करेंगे तो सीधी कारवाई के अलावा अछूतों के लिए और चारा न रह जायेगा। (उप., पृष्ठ ८११)। मुस्लिम लीग ने सीधी कारवाई की धमकी दी थी, वैसी धमकी अछूत संघ ने भी दी। मुस्लिम लीग की धमकी कारगर इसलिए हुई कि उसे अंग्रेजों का समर्थन प्राप्त था। ऐसा समर्थन अछूतों की धमकी को प्राप्त न था। जब बंगाल में १६ अगस्त को सीधी कारवाई शुरू हुई, तब अछूतों के नेताओं ने भी उसका समर्थन करने का वादा किया था। गवर्नर की रिपोर्ट के अनुसार कांग्रेस और लीग के साथ स्वतन्त्र अछूत नेताओं ने भी शान्ति बनाये रखने की अपील की थी; इन अछूत नेताओं ने मुस्लिम विरोध प्रदर्शन का समर्थन करने की अपनी इच्छा घोषित की थी। (खण्ड ८, पृष्ठ २९४)।

अछूतों का अधिकांश भाग स्वाधीनता-आन्दोलन में सक्रिय था, उसकी सहानुभूति कांग्रेस के साथ थी। जगजीवनराम के प्रभाव का यह एक कारण था। डाक्टर अम्बेदकर अपने संगठन के लिए दावा करते थे कि वही अछूतों का प्रतिनिधित्व करता है किन्तु यह दावा सीधी कार्रवाई के अभाव में प्रमाणित न हो रहा था।

## १०. कश्मीर

मई १९४६ में कश्मीर के अधिकारियों ने शेख अब्दुल्ला को पकड़ लिया। कश्मीर-स्थित ब्रिटिश रेजीडेण्ट ने वाइसराय को सूचित किया कि नेशनल कान्फ्रेंस के नेता पिछले दिनों लोगों को भड़काते रहे हैं कि महाराज का आधिपत्य स्वीकार न करें, लोगों से राज्य सरकार का नाश करने को कहते हैं, महाराज और उनके परिवार के लोगों को गालियां देते हैं, इसलिए अधिकारियों ने शेख अब्दुल्ला और नेशनल कान्फ्रेंस के दूसरे नेताओं को गिरफ्तार कर लिया है। श्रीनगर और आसपास के क्षेत्र में फौज और पुलिस का तगड़ा बन्दोबस्त है। फौज के गश्ती दस्ते पर २२ मई के सबेरे भीड़ ने पथराव किया और कई लोगों के चोटें आयीं। सैनिकों ने गोली चलायी और एक आदमी के मरने का समाचार मिला है। शहर में कई जगह भीड़ ने सड़कें खोद डालीं, अवरोध खड़े किये और कई पुलों को नुकसान पहुँचाया। श्रीनगर में करफ्यू लागू कर दिया गया है। जुलूसों आदि पर पाबन्दी लगा दी गयी है। परिस्थिति नियन्त्रण में है। (खण्ड ७, पृष्ठ ६७३-७४)। यहां जनवादी आन्दोलन के दमन की बात थी। दंगों के मामले में अंग्रेज जैसी ढिलाई दिखाते थे, वैसी यहां नहीं थी। वे पूरी तरह चौकन्ने थे।

२५ मई १९४६ को जवाहरलाल नेहरू ने वाइसराय को लिखा कि कश्मीर की घाटी में सब जगह फौजी कानून (मार्शल-ला) लागू कर दिया गया है। वह कश्मीरी हैं और अखिल भारतीय प्रजा-मण्डल (आल इण्डिया स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेंस) के सभापति भी हैं। इस नाते कश्मीर की घटनाओं से वे बहुत चिन्तित है। उनके बहुत से साथी पकड़ लिये गये हैं और घाटी के लोग सहमे हुए हैं। उनके मन में आया कि तुरत वहाँ जायें पर उन्होंने अपने को रोका क्योंकि उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह उनकी सहायता किस रूप में कर सकते हैं। वहाँ जाने मे उद्देश्य यही होगा कि लोगों का भय दूर हो और सामान्य स्थिति कायम हो। "जहाँ तक मुझे जानकारी मिल सकी है, राज्य के अधिकारी तुले हुए हैं कि जनता के मनोबल को चकनाचूर कर दिया जाये। वे फौज को इस तरह काम में ला रहे है मानो अभी हाल की जीती हुई शत्रु की भूमि पर अधिकार कर रहे हों। दर-असल कुछ और समाचार ऐसे मिले हैं जिनसे लगता है कि स्थिति इससे भी ज्यादा खराब है।" (उप., पृष्ठ ६९५)। नेहरूजी ने वाइसराय को अपना कार्यक्रम बताया। यदि वे गए तो जेल में अपने साथियों से मिलेंगे। शेख अब्दुल्ला अखिल भारतीय प्रजामण्डल के उपसभापति हैं। पता नही राज्य के अधिकारी नेहरूजी की गतिविधि के प्रति किस तरह का रवैया अपनाएँगे। यदि उन्होंने कोई गलत पाबन्दी लगायी, तो हो सकता है कि वह उसका उल्लघन करें।

नेहरूजी ने विश्वास दिलाया कि परिस्थिति खराब है और वह उसे बिगाड़ना नही चाहते। वह वाइसराय से जानना चाहते है कि सारे मामले में भारत सरकार के राजनीतिक विभाग का कितना हाथ है और परिस्थिति से निपटने के लिए वह क्या करना चाहता है। "ज़ाहिर है कि कश्मीर में जो रेजीडेण्ट है, वह तटस्थ दर्शक बना नही रह सकता।" (उप.)। नेहरूजी को समाचार मिला था कि सड़कों पर चलनेवाले लोगों से पगड़ी उतरवाकर सड़क साफ करने को कहा गया था। कुछ स्थानों में लोगों को पेट के बल रेंगने को कहा गया था। संगीन की नोंक पर लोगों से राजभक्ति के नारे लगवाये जाते हैं। फौज ने मस्जिदों में अड्डा जमाया है। फौजी लारियों को ले जाने के लिए जुम्मा मस्जिद की दीवारें तोड़ डाली गयी है। लाशें, आमतौर से मुसलमानों की, दफनाने के लिए नही दी जाती बल्कि पेट्रोल छिड़ककर फूँक दी जाती हैं। मानवीय और धार्मिक भावनाओं को ये ठेस पहुँचाने वाली बातें है। इनसे कटुता बढेगी और साम्प्रदायिक विद्वेष भी बढेगा। "फिल-हाल मैंने कश्मीर जाना मुल्तवी कर दिया है जिससे कि आप यदि कोई सुझाव दें तो उससे मुझे मदद मिले कि मैं आगे क्या करूँ। मै अपने साथियों और अपने पुराने प्रदेश के लिए कुछ करने को उत्सुक और आतुर हूँ। यदि रफ़्तार यही रही तो यहाँ मेरे और जो भी काम हो, मै वहाँ जाने से अपने को रोक न सकूँगा।" (उप., पृष्ठ ६९६)। भारत की तमाम देशी रियासतों के जन-आन्दोलन के नेता, अखिल भारतीय प्रजामण्डल के अध्यक्ष वाइसराय के सुझाव की राह देख रहे थे कि शायद उससे उन्हे अपना मार्ग निर्धारित करने में सहायता मिले। सामन्त-विरोधी आन्दोलन चलाने का यह कोई तरीका न था। क्रान्तिकारी तरीका हरगिज न था, सुधारवादी तरीका भले हो। कश्मीर का रेजीडेण्ट तटस्थ नही था, भारत

का राजनीतिक विभाग तटस्थ हो न सकता था। देशी राज्य अंग्रेजी राज के स्तम्भ थे। ये स्तम्भ डगमगाने लगे थे। उन्हें ध्वस्त करना आवश्यक था। स्वाधीनता के लिए जो सुलह-समझौते की बातचीत चल रही थी, उसी के अनुरूप कश्मीर सम्बन्धी नेहरूजी का यह पत्र था।

२७ मई को कश्मीर स्थित ब्रिटिश रेजीडेण्ट लेफ्टीनेण्ट कर्नल वेब ने राजनीतिक विभाग को सूचना दी : कश्मीर के मुख्यमन्त्री ने कहा है कि जवाहरलाल या अन्य बड़े कांग्रेसी नेता कश्मीर में पैठने की कोशिश करेंगे तो उन्हें रोका जा सकता है। कश्मीर सरकार समझती है कि उनकी मौजूदगी से उस आन्दोलन को बल मिलेगा जो खुला विद्रोह है और जिसका उद्देश्य महाराज को हटाना और अमृतसर की सन्धि को रद्द करना है। (प्रथम सिक्ख युद्ध के समाप्त होने पर १६ मार्च १८४६ को जो सन्धि हुई थी, उसके अनुसार अंग्रेज सरकार ने गुलाबसिंह और उनके उत्तराधिकारियों को जम्मू तथा कश्मीर का महाराज स्वीकार किया था। १८५७ की लड़ाई में नेपाल और हैदराबाद के राजाओं के साथ जम्मू-कश्मीर का यह गुलाबसिंह भी अंग्रेजों का प्रमुख सहायक बना था। ब्रिटिश रेजीडेण्ट एक शताब्दी पहले की सन्धि की दुहाई दे रहा था। सन्धि के रद्द होने का मतलब केवल महाराज को गद्दी से उतारना नहीं था, उसका अर्थ उस छत्र को भी गिराना था जो अंग्रेज कश्मीर नरेश के ऊपर लगाये हुए थे। देशी रियासतों के लिए ब्रिटिश सरकार सर्वोपरि सत्ता थी। अंग्रेज अपनी इस सर्वोपरि स्थिति को बचाने के लिए आवश्यक कदम उठा रहे थे। कश्मीर-स्थित रेजीडेण्ट राजनीतिक विभाग को सूचनाएँ दे रहा था। रेजीडेण्ट और यह विभाग, दोनों में कोई तटस्थ न था।)

रेजीडेण्ट ने सूचित किया : कश्मीर सरकार ने बड़ी सहनशीलता दिखाई है, अल्पतम बल-प्रयोग करके वह बड़ी योग्यता से आन्दोलन से निपट सकी है। मुख्यमन्त्री काक ने साफ बता दिया है कि वह कांग्रेस या मुस्लिम लीग के [illegible] से अपनी नीति बदलनेवाले नहीं हैं। जब तक महाराज गद्दी पर हैं, [illegible] शासन की तरह चलाया जायेगा। "मैंने काक को सुझाया कि जवाहरलाल या दूसरे नेताओं को श्रीनगर आने दिया जा सकता है किन्तु [illegible] नेहरू के जाने-माने दृष्टिकोण को और परिस्थिति पर उनके [illegible] को ध्यान में रखते हुए मैं काक से सहमत हूँ कि उनका आना उपयुक्त न होगा। कांग्रेस या लीग के किसी नेता को राज्य में आने से रोकने [illegible] पैदा हो सकता है, उसे मैं भलीभाँति समझता हूँ। लेकिन उनके आने से आन्दोलन फिर भड़क उठेगा जबकि इस समय [illegible] रहा है। मैं परिस्थिति से निकट सम्पर्क बनाये हूँ। ऐसी समझ से कश्मीर सरकार का रवैया वाजिब है। हिन्दुस्तान की सरकार यदि कोई ऐसी कार्रवाई कर [illegible] प्रभाव इस समय यहाँ न पड़े, तो मैं [illegible]।" ([illegible])

ब्रिटिश रेजीडेण्ट, वाइसराय और कश्मीर सरकार, तीनों [illegible] थे, और उनका उद्देश्य यह था कि कश्मीर के [illegible] स्वाधीनता-आन्दोलन से [illegible] किया जाय। [illegible] आत्मनिर्णय के अधिकार [illegible]; कश्मीर [illegible]

[illegible]

से अलग रखकर उसका उपयोग साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए किया जाये। ३० मई को वाइसराय ने भारत की राजनीतिक परिस्थिति का मूल्याकन करते हुए अपने दस्तावेज में लिखा था, "कश्मीर, बलूचिस्तान और पजाब की रियासतें उत्तर-पश्चिम मे ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र में रहेंगी; यदि उत्तर-पूर्व में हमारा नियन्त्रण बना रहा तो उधर सिक्किम, भूटान, कूचबिहार, मणिपुर आदि रियासतें ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र मे रहेगी।" (उप. पृष्ठ ७३५) अंग्रेजों के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार का मतलब होता है कश्मीर जैसे प्रदेश को ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र मे बनाये रहना।

१७ जून को कैबिनेट मिशन के सदस्यों और वाइसराय में आपसी बातचीत हुई। वाइसराय ने इंग्लैण्ड की सरकार के सदस्यों को बताया कि कश्मीर के रेजीडेण्ट का तार आया है। लिखा है कि नेहरू ने कश्मीर सरकार को सूचित किया था कि वह अब्दुल्ला की पैरवी के लिए वकीलों के साथ वहाँ पहुँचेंगे और उन्होंने आशा प्रकट की थी कि मुकदमा उठा लिया जायगा। कश्मीर सरकार ने जवाब दिया कि मामला अदालत के विचाराधीन है और बाहर के वकीलों को अदालती कार्रवाई मे हिस्सा लेने के लिए मुख्य न्यायाधीश की अनुमति लेनी होगी। कश्मीर सरकार ने यह भी बता दिया है कि वह नेहरू को कश्मीर में घुसने से रोकना चाहती है। "वाइसराय ने कहा कि मौलाना [आज़ाद] से जो मुलाकात होने वाली है, उसमें नेहरू के इरादे का जिक्र कर दिया जाये, इस आशा से कि वह उन्हें न जाने के लिए राज़ी कर लें।" (उप., पृष्ठ ६५८)।

१६ जून को कैबिनेट मिशन और वाइसराय की आपसी बातचीत में वाइसराय ने फिर कहा कि नेहरू कश्मीर जा रहे हैं। उन्होंने भरसक नेहरू को समझाया कि न जायें "और उनका विचार था कि आज़ाद उनसे सहमत थे। सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा कि उनकी जानकारी के अनुसार सारी कार्यकारिणी [अर्थात् कांग्रेस हाई कमान] ने नेहरू को इस बिना पर न जाने के लिए राज़ी करने की कोशिश की थी कि मुख्य समस्या हल करना जरूरी है। वाइसराय ने कहा कि उन्हें कश्मीर से सूचना मिली है कि वहाँ की सरकार नेहरू को आज्ञा पत्र देने वाली है कि वह कश्मीर मे प्रवेश न करे और जब तक सर्वोपरि सत्ता [दिल्ली की ब्रिटिश सरकार] उसे सीधा हुक्म न दे, तब तक वह अपना रवैया न बदलेगी। उस हालत मे [यानी यदि अंग्रेजों ने कहा कि नेहरू को कश्मीर में प्रवेश करने दो] मुख्यमन्त्री त्यागपत्र देने की बात कहते है और महाराज ने कहा है कि वह भी सिंहासन त्याग देंगे। वाइसराय के विचार से यह असमंजस मे डालनेवाली अनचाही परिस्थिति थी किन्तु इस समय कुछ न किया जा सकता था। घटनाएँ जो रूप लें, उन्हे लेने दिया जाये।" (उप., पृष्ठ ६७३)। मानना होगा कि कश्मीर के अधिकारी भी अंग्रेजी राज पर अहिंसात्मक तरीके से दबाव डाल रहे थे। अंग्रेज सरकार ने कश्मीर सरकार से कहा कि नेहरू को आने दो तो मुख्यमन्त्री इस्तीफा दे देंगे, महाराज सिंहासन त्याग देंगे। उधर कश्मीर के हिन्दू राजा को मुसीबत में देखकर भोपाल के मुसलमान नवाब को परेशानी हुई। रियासती कठपुतलियों की यह हिन्दू-मुस्लिम एकता भी देखने लायक है। १६ जून को भोपाल

के नवाब ने वाइसराय को तार दिया : कश्मीर सरकार की राय मे जवाहरलाल नेहरू का कश्मीर जाना इस समय गैरवाजिब है, फिर भी वह जा रहे है, यह सुनकर भारी चिन्ता हुई। देशी रियासते आजादी का मकसद हासिल करने के लिए हिन्दुस्तान की जो मदद कर रही है, उसे आप जानते है। रियासतो को हर तरफ से आश्वासन मिला है कि उनकी प्रभुसत्ता और आजादी बरकरार रहेगी। पण्डित जवाहरलाल का काम ऐसे आश्वासनो के खिलाफ है और भविष्य के लिए अच्छा नही है। "स्वाभाविक ही मुझे बहुत परेशानी है। यदि योर एक्सेलेन्सी मुझे सलाह देंगे, जरूरत हो तो कैबिनेट मिशन से मशविरा करके सलाह देंगे, तो अहसान मानूंगा। इस बात पर भी ज़ोर देता हूँ कि इस नाजुक घड़ी मे ब्रिटिश इण्डियन लोग जो असवैधानिक और अनुचित आक्रामक कार्रवाई कर रहे है, उसे रोक कर आप रियासतो की प्रभुसत्ता और अखण्डता की रक्षा के लिए कार्य करें। मैं आपसे यह अपील इसलिए कर रहा हूँ कि क्राउन [ब्रिटिश बादशाह] हिन्दुस्तान में अब भी सर्वोपरि है और रियासतें अपनी सन्धियों के अनुसार पूरी तरह स्वाधीन नही है।" (उप., पृष्ठ ६८२)। रियासतें पूरी तरह स्वाधीन नही थी, यह बात सही थी। देशी राज्यों की प्रजा पर दोहरा बोझ था, सबसे ऊपर अंग्रेज और उनके नीचे राजा। अंग्रेजों को अपने सिर पर बैठाये हुए ये राजा और नवाब यह दावा भी कर रहे थे कि देश को आज़ाद कराने मे उनका योगदान है। वे अंग्रेजों से तो आज़ाद न हो सकते थे पर उनकी यह कोशिश जरूर थी कि स्वाधीन भारत से अलग रहकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रहे।

नेहरूजी कश्मीर गये। राज्य सरकार ने पाबन्दी का आज्ञा पत्र दिया। वाइसराय ने कहा, "स्पष्ट ही हम लोग राज्य के फैसले मे दखल नही दे सकते। आगे की घटनाओं का इन्तजार करेंगे। लेकिन सामान्य परिस्थिति पर इसका उलटा असर पड़ सकता है।" (उप., पृष्ठ ६६१)। नेहरूजी को राज्य सरकार ने गिरफ्तार किया क्योंकि उन्होने आज्ञा-पत्र पाने के बाद उसे मानने से इन्कार किया। कश्मीर सरकार ने कहा कि वह जब भी वापस जाना चाहें, उनके लिए कार की व्यवस्था कर दी जायेगी। नेहरू की गिरफ्तारी को लेकर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में सवाल किया गया। उस सिलसिले मे वाइसराय ने हेण्डरसन को उक्त सूचना २३ जून को भेजते हुए यह भी बताया, "अब वह ब्रिटिश इण्डिया में लौट आये है। इसलिए उन्हे छुड़ाने के लिए कार्रवाई करने का सवाल नही उठता।" (उप., पृष्ठ १०२२)।

नेहरूजी की कश्मीर यात्रा के बारे में फील्ड मार्शल वेवल ने सरदार वल्लभभाई पटेल को बुलाकर २७ जून को उनसे बातचीत की। वाइसराय ने सुना था कि नेहरू फिर कश्मीर जाने की सोच रहे हैं। राजाओ ने सुलह-समझौते की बातचीत करने के लिए एक कमेटी बनायी है। इक्का-दुक्का रियासतों पर दबाव डाला जाये या ऐसा कोई काम किया जाये जिससे बातचीत मे रुकावट आये, इससे ज्यादा अच्छा है कि कमेटी के माध्यम से सभी राजाओ से एक साथ बातचीत की जाये। वह खुद भी नेहरू से मिलनेवाले है लेकिन, "मैने सोचा कि उन पर पटेल अपने प्रभाव का उपयोग शायद कर सकें। पटेल सहमत थे। उन्होंने पिछली

यात्रा के इतिहास की चर्चा की। उन्होंने मुझे बताया कि आजाद ने और उन्होंने भरसक कोशिश की थी कि नेहरू को न जाने के लिए राजी कर लें। मैंने कहा कि मैंने भी नेहरू को समझाने की कोशिश की थी। उन्होंने कहा कि उनकी समझ में नेहरू से अपनी बात मैंने काफी ज़ोरदार ढंग से न कही होगी! मैंने कहा कि मैंने अपनी समझ में अपनी राय बहुत साफ शब्दों में बता दी थी लेकिन उन्हें रोकने की शक्ति मेरे पास नहीं थी और मैं समझता हूँ कि मैं तानाशाही रुख अपनाता तो नेहरू में शायद विरोधभाव जाग उठता। इस पर पटेल ने मुझसे कहा कि नेहरू फिर कश्मीर जाना चाहते हैं लेकिन कांग्रेस कार्यकारिणी में बातचीत के बाद आजाद ने और उन्होंने नेहरू को न जाने के लिए राजी कर लिया है। कम-से-कम बम्बई की [ए. आई. सी. सी. की] बैठक तक वे न जायेंगे। पटेल ने कहा कि उन्होंने भी काक को सन्देसा भेजा है और सुझाया है कि वह यहाँ आकर मामला तय कर लें पर उन्हें नहीं मालूम कि इसका कोई नतीजा निकलेगा या नहीं।" (उप., पृष्ठ १०६८)। जिस तरह ब्रिटिश भारत के लिए अंग्रेज कांग्रेसी नेताओं से सौदेबाजी कर रहे थे, वैसे ही वे देशी रियासतों को लेकर सौदेबाजी कर रहे थे। कश्मीर के आन्दोलन से खतरा यह था कि सुलह-समझौते का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा। सुलह-समझौता कराने में देशी रियासतों की भूमिका मुख्य नहीं थी, मुख्य भूमिका वाइसराय की थी और कांग्रेस की ओर से सरदार पटेल की थी। पटेल से २७ जून की भेंट का जो विवरण वाइसराय ने लिखा था, उससे यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि अंग्रेज और कांग्रेसी नेता जानते थे कि देशी राज्यों की समस्या किस तरह हल की जायेगी। पटेल ने कहा कि वह थोड़े ही समय बाद भोपाल जायेंगे और वहाँ देशी नरेशों के बाबत कुछ मसलों पर बातें करेंगे। वाइसराय के अनुसार "उसके बाद रियासतों की समस्या के बारे में हमने कुछ देर बातचीत की। पटेल ने कहा कि सबसे ज्यादा कठिनाई छोटी और पिछड़ी हुई, खासतौर से काठियावाड़ की, रियासतों की ओर से पैदा होगी। उनका विचार था कि बड़ी रियासतों के राजा वक्त के साथ आगे बढ़ने की जरूरत महसूस करने लगे हैं।" (उप., पृष्ठ १०६८)।

इस सन्दर्भ में वाइसराय के नाम २६ जून को लिखे हुए पंजाब के गवर्नर के पत्र में कुछ दिलचस्प बातें हैं। कश्मीर में जो कुछ हो रहा था, उसकी प्रतिक्रिया पंजाब में भी हो रही थी। इसी कारण पंजाब के गवर्नर ने वैसा पत्र लिखा था। गवर्नर ने नेहरूजी के कश्मीर जाने को कश्मीर पर उनका आक्रमण (Nehru's raid on Kashmir) कहा था। पंजाब के बारे में बताया कि यहाँ कश्मीर के मामले को लेकर साम्प्रदायिक भेद के अनुसार प्रतिक्रिया होती है। मुसलमानों को महाराज और उनकी सरकार पसन्द नहीं है। उनकी सहानुभूति राज्य में चलनेवाले लोकप्रिय या राष्ट्रवादी आन्दोलनों के प्रति है। हिन्दुओं की सहानुभूति महाराज के प्रति है और जिन कामों को वे ब्रिटिश भारत या मुस्लिम रियासत में नापसन्द करेंगे, कश्मीर में वे महाराज के वैसे ही कामों का अनुमोदन करते हैं। नेहरू के पकड़े जाने की खबर आने पर कांग्रेसीजन और कांग्रेसी सोशलिस्ट बहुत उत्तेजित दिखायी दिये और उन्होंने कश्मीर पर चढ़ाई के कार्यक्रम को आगे

बढ़ाने का प्रयत्न किया। किन्तु उन्हें कांग्रेस हाईकमान ने, और मुझे विश्वास है स्वयं नेहरू ने, रोका। अमृतसर जैसी कुछ जगहों में कट्टरपन्थी हिन्दू दृष्टिकोण तगड़ा था। वहाँ स्थानीय कांग्रेस हड़तालें और विरोध प्रदर्शन कराने में बहुत सफल नहीं हुई। "मुसलमान भी असमंजस में पड़ गये थे। उनकी समझ में नेहरू का काम मूर्खतापूर्ण और अनुत्तरदायी था पर वे महाराज का समर्थन भी न कर सकते थे।"

भीमसेन सच्चर और लहरीसिंह आम उत्तेजना से मुक्त नहीं थे। भीमसेन नेहरू को छुड़ाने के लिए जत्था ले जाने को तैयार थे लेकिन आज़ाद ने उन्हें रोक दिया। "रेजीडेण्ट के माध्यम से कश्मीर सरकार ने हमसे कहा कि मरी श्रीनगर सड़क पर यातायात-व्यवस्था रोक दें। जब तक परिस्थिति स्पष्ट न हो जाये, तब तक के लिए ऐसा करना बुद्धिमानी की बात थी। इसलिए प्रान्तीय यातायात निदेशक (Transport Controller) ने आदेश जारी कर दिये और मुझे तथा सम्बद्ध मन्त्रियों को तुरत इस काम की सूचना दे दी।" (उप., पृष्ठ १०८३)। भीमसेन ने शिकायत की कि पंजाब सरकार एक पक्ष का समर्थन कर रही है। गवर्नर ने कहा कि जो सड़क दूसरी सरकार के क्षेत्र में पहुँचती है और जिस पर वह सरकार आवाजाही रोकने के लिए सेना का उपयोग कर रही है, वहाँ कोई भी जिम्मेदार सरकार यातायात चालू रखने की अनुमति न दे सकती थी। सही तरीका यह था कि लोग [अर्थात् पंजाब के लोग] कश्मीर के मामले से पूरी तरह दूर रहें। नेहरू वापस आ गये, २४ घण्टे के भीतर ही यातायातवाली पाबन्दी उठा ली गयी। समस्या फिलहाल सुलझ गयी है। "यदि कांग्रेस कश्मीर में दखल देना जारी रखती है तो मेरा विचार है कि मुस्लिम लीग की तरफ से भी हम कुछ सुनेंगे।" (उप.)।

गवर्नर का कहना था कि पंजाब में जनता के बीच साम्प्रदायिक भेद के अनुसार कश्मीर को लेकर प्रतिक्रिया हुई थी। यह बात उन्हीं के दिये हुए तथ्यों से कट जाती है। कांग्रेसीजन और कांग्रेसी सोशलिस्ट बहुत उत्तेजित थे और कश्मीर पर चढ़ाई करने की सोच रहे थे। *उनकी उत्तेजना और चढ़ाई की योजना* हिन्दू राजा के समर्थन में नहीं थी, वह मुस्लिम प्रजा के समर्थन में थी। मुसलमान कश्मीर नरेश का समर्थन न कर रहे थे। यहाँ सामन्त-विरोधी हिन्दू-मुस्लिम एकता का आधार मौजूद था। यदि इस समय कांग्रेसी नेता स्वयं जनता की उत्तेजना को रोकते नहीं, तो समझौते के मार्ग से हटकर कश्मीर-सम्बन्धी आन्दोलन क्रान्तिकारी रूप ले लेता। वह आन्दोलन कश्मीर के अलावा पंजाब को भी अपने भीतर समेट लेता। मानी बात है कि इसके बाद वह देश के दूसरे प्रदेशों में भी फैलता। क्रान्ति से भय खाकर समझौते की राह पर चलने की कांग्रेसी नीति देश के लिए कितनी घातक थी, इसका स्पष्ट और शिक्षाप्रद प्रमाण यहाँ मिल जाता है। यह भी देखने योग्य है कि कश्मीर सरकार, वहाँ का रेजीडेण्ट और पंजाब सरकार, तीनों मिलकर आन्दोलन को रोकने की कार्रवाई में लगे थे। कश्मीर कहने को स्वाधीन था, अंग्रेज सरकार सर्वोपरि सत्ता थी, इस मामले से पंजाब सरकार का कोई सम्बन्ध हो न सकता था, पर यह सब कागज

पर। हकीकत यह थी कि देशी सामन्त और विदेशी साम्राज्यवादी, दोनों मिलकर जनआन्दोलन को दबाने के लिए काम कर रहे थे। गवर्नर कह रहा था कि कांग्रेस कश्मीर मे दखल देती रही तो मुस्लिम लीग भी कार्रवाई करेगी। आगे कश्मीर समस्या किस तरह साम्राज्यवादियों के हाथ में भारत पर दबाव डालने के लिए काम मे लायी जायेगी, इसकी सूचना यहाँ पहले से दे दी गयी है।

कश्मीर मे हिन्दू राजा था, बहुसख्यक प्रजा मुसलमान थी; हैदराबाद में मुसलमान राजा था, बहुसख्यक प्रजा हिन्दू थी। इन राज्यों में सामन्तविरोधी आन्दोलन सफल होता तो पाकिस्तान की समस्या अपने-आप हल हो जाती। अंग्रेजो के क्रान्तिविरोधी अभियान को, भारत-विभाजन की ब्रिटिश कूटनीति को विफल करने के लिए रियासतों का सामन्तविरोधी आन्दोलन कारगर अस्त्र बन सकता था। हैदराबाद और कश्मीर मे सामन्ती-व्यवस्था बदलने के लिए आन्दोलन चलाये जा रहे थे। कांग्रेस आधे मन से इन आन्दोलनों का साथ दे रही थी, फिर भी वे काफी जोर पकड़ते गये। अंग्रेजो का प्रयत्न था कि इन रियासतों के आन्दोलन को सारे देश के स्वाधीनता आन्दोलन मे घुलने-मिलने न दिया जाये। जवाहरलाल नेहरू पठानों के क्षेत्र में गये और अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ को साथ ले गये। इससे अंग्रेज नाराज़ हुए। जुलाई १९४६ मे वह कश्मीर जाते समय अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ को साथ ले जाना चाहते थे। पश्चिमोत्तर प्रदेश के गवर्नर ने ६ जुलाई के पत्र में मुख्यमन्त्री डाक्टर खान साहब से अपनी बातचीत का हवाला देते हुए लिखा कि खान साहब ने बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि वह एक जिम्मेदारी की जगह पर है और वहाँ से वह कश्मीर पर धावा करने नही जा रहे। "ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने भाई से सावधानी बरतने को कहा है। निजी तौर पर उन्होंने बताया है कि अब्दुल गफ्फार खाँ कश्मीर में सिर्फ आराम करने के लिए जाना चाहते हैं, वहाँ राजनीतिक प्रचार न करेंगे, हालांकि जिन लोगों से उन्हें लगाव है, उनसे जरूर मुलाकात करेंगे। मतलब शेख अब्दुल्ला से है।" (खण्ड ८, पृष्ठ २३)। यदि पश्चिमोत्तर प्रदेश के साथ कश्मीर भी स्वाधीनता-आन्दोलन की लहर मे आगे बढ़ चलता, अब्दुल गफ्फार खाँ और नेहरू के नेतृत्व में वहाँ का जन-आन्दोलन सामन्तविरोधी रूप लेता, तो पाकिस्तान की सारी योजना हवा हो जाती। अंग्रेज जानते थे कि कांग्रेस सामन्तविरोधी क्रान्ति नही कर रही पर कश्मीर जैसे प्रदेश में थोड़ा-सा आन्दोलन भी उसे बहुत खतरनाक जान पड़ता था। १० जुलाई की प्रेस कान्फ्रेंस मे नेहरूजी ने घोषित किया कि उन्होने अभी कोई दिन निश्चित नही किया पर वह कश्मीर जाना चाहते है। मौलाना आज़ाद ने तार भेजकर कश्मीर से उन्हें वापस बुलाया था। नेहरूजी के अनुसार इससे साबित हुआ कि वहाँ का मामला कांग्रेस कार्यकारिणी ने अपने हाथ मे ले लिया है। कश्मीर की समस्या देश की प्रमुख समस्या बन गयी है। सभी देशी रियासतों के भविष्य पर उसका प्रभाव पड़ता है। एक ओर कांग्रेस और प्रजामण्डल है, दूसरी ओर भारत सरकार का राजनीतिक विभाग तथा कश्मीर सरकार हैं। शेख अब्दुल्ला को पकड लिया गया था। नेहरू वहाँ उस समय पहुँचना चाहते थे जब मुकदमे की सुनवाई हो। कश्मीर के मुख्यमन्त्री मौलाना आज़ाद, सरदार पटेल और गांधीजी से मिल चुके थे। अब वह कश्मीर जाकर महाराज से बातचीत

करेंगे। इस कान्फ्रेंस मे पण्डित नेहरू से एक मनोरञ्जक प्रश्न किया गया। क्या वह समझते है कि कश्मीर के आन्दोलन मे रूस का हाथ है। नेहरू ने कहा कि यह बे सिर-पैर की बात है। सीमान्त पर तिब्बत, चीन और मध्य एशिया की अनेक जातियाँ हैं, वहाँ एक नया वातावरण है। वहाँ विदेशी शक्तियों के कुछ गुप्तचर होगे। भारतीय सीमा के उस पार ब्रिटिश गुप्तचर भी हो सकते हैं। "किसी बुद्धिमान आदमी के लिए कश्मीर मे रूस का हौवा खड़ा करना, अभी या निकट भविष्य मे वहाँ रूसियो के प्रवेश की सम्भावना की चर्चा करना बेहूदा बात है। १५-२० साल बाद ऐसा हो सकता है।" (उप., पृष्ठ २९)।

नेहरूजी कश्मीर से लौट आये। ३० जुलाई को वाइसराय से मिले। वाइसराय ने कश्मीर यात्रा के बारे मे पूछा। नेहरूजी ने कहा कि यात्रा शान्तिपूर्ण रही लेकिन वहाँ की स्थिति मे कोई विशेष सुधार नही हुआ। उन्होने आशा प्रकट की कि अक्तूबर मे जो चुनाव होंगे, उनका अच्छा असर होगा और चुनाव लोगो को शान्त रखेंगे। उन्होंने महाराज से मिलने की इच्छा की थी किन्तु महाराज ने अस्वस्थ होने का बहाना करके भेंट नही की। इस प्रकार कश्मीर के मुक्ति-आन्दोलन मे कांग्रेस के अहिंसात्मक योगदान का शान्तिपूर्ण अवसान हुआ। यह बात नही थी कि कांग्रेसी नेता, विशेषकर नेहरूजी, आवश्यक हिंसा के प्रयोग के विरोधी हो। १० जुलाई १९४६ को एक प्रेस कान्फ्रेंस में नेहरूजी ने हैदराबाद की रियासती सेना की चर्चा करते हुए कहा था कि इस सेना का इतिहास अथवा हैदराबाद का सैनिक इतिहास कुछ विशेष प्रेरणादायक नही है। "यदि मुझे कभी टक्कर की बात सोचनी पड़ी तो हैदराबाद की रियासती फौज के कारण मेरी नीद हराम न होगी, न उससे मुझे जरा भी परेशानी होगी। बुनियादी तौर से समस्या है इन रियासतों का समर्थन करनेवाली ब्रिटिश शक्ति का। एक बार उसके हट जाने पर स्थिति पूरी तरह बदल जायेगी। कोई भी स्थानीय रियासती फौज स्वतन्त्र रूप से शेष भारत के सामने डटी नही रह सकती क्योकि ऐसा करना भौतिक रूप से असम्भव है।" (उप., पृष्ठ ३०)।

नेहरूजी ने ठीक कहा था कि असली समस्या थी रियासतों का समर्थन करनेवाली ब्रिटिश सत्ता की। कश्मीर मे यही सत्ता महाराज को गद्दी पर बिठाये हुए थी। यही सत्ता योजना बना रही थी कि यदि स्वाधीनता-आन्दोलन का प्रसार कश्मीर तक होता है, तो इस पर मुस्लिम लीग क्या करेगी। मुस्लिम लीग कुछ करे, उससे पहले यही सत्ता कांग्रेसी नेताओ पर पूरा दबाव डाल रही थी कि वे आन्दोलन को उग्र होने से रोके। भारत से हट जाने पर भी इस सारे क्षेत्र से यह सत्ता अपना प्रभाव हटाने को तैयार नही थी। अभी कश्मीर मे भारत से नेहरू ही गये थे, आगे पाकिस्तान की ओर से पूरा हमला होगा। इस हमले का जवाब देने के लिए भारतीय फौज कश्मीर में पहुँचेगी। यह फौज कहाँ तक जाये और कहाँ तक न जाये, यह सब वही ब्रिटिश सत्ता तय करनेवाली थी। भारत का विभाजन हो और कश्मीर अविभाजित रह जाये, यह कैसे हो सकता था? पाकिस्तान मे जनवादी आन्दोलन को दबाने के लिए, साम्प्रदायिक भावना को निरन्तर उभारने लिए वही ब्रिटिश सत्ता कश्मीर समस्या का उपयोग करनेवाली थी।

## ११. स्वाधीनताप्राप्ति की पूर्ववेला और उत्तरवेला

### (क) सम्प्रदायवादी फासिस्ट और साम्राज्यवाद

सन् ४७ के बाद भारत और पाकिस्तान में जो कुछ होता रहा है और पूर्वी बंगाल समेत इन दो राज्यों की जो स्थिति है, उसका गहरा सम्बन्ध सन् ४७ से पहले के भारत की स्थिति से, राजनीतिक दलों की भूमिका और ब्रिटिश सरकार की भूमिका से है। अंग्रेज़ी राज का सामन्ती आधार बना हुआ था पर वह इतना कमज़ोर हो गया था कि अपनी नीति को अमल में लाने के लिये अंग्रेज उससे थोड़ी-बहुत सहायता ले सकते थे, उसका भरोसा न कर सकते थे। अब साम्राज्यवाद अपने हितों की रक्षा के लिए फासिस्ट संगठनों का ही भरोसा कर सकता था। इन संगठनों को बढ़ावा देने में उसने बड़ी कूटनीतिक सूझ-बूझ से काम लिया। ऊपर से देखने में हर काम सवैधानिक तरीके से, कानून के मुताबिक, हो रहा था, वास्तव में कानून तोड़ा जा रहा था, संवैधानिकता को खुली चुनौती दी जा रही थी और इस सबकी जिम्मेदारी अंग्रेज़ों ने भारतवासियों पर डाली। ब्रिटिश संवैधानिकता की विशेषता यह थी कि उसके साथ असवैधानिकता जुड़ी हुई थी और कांग्रेसी नीति की विशेषता यह थी कि वह इस असंवैधानिकता का विरोध करने में असमर्थ थी। फासिस्ट असंवैधानिकता को क्रान्तिकारी असंवैधानिकता ही खत्म कर सकती है। जिन्हें इस क्रान्तिकारी असंवैधानिकता का हुनर मालूम था, वे बिखरे हुए, बेबस, बहुत कुछ अपाहिज बने हुए थे। अंग्रेज़ों को अब भी क्रान्ति से भय था। वे स्वेच्छा से भारत न छोड़ रहे थे। बाहर दिखाने को अपनी न्यायप्रियता का डंका पीटते थे, भीतर आपस में मंजूर करते थे कि शासन चलाने के उपकरण टूट चुके है, समय रहते इज्ज़त के साथ विदा हो जाना चाहिए। अंग्रेज़ों पर क्रान्तिकारी परिस्थिति का दबाव बराबर बना हुआ था और इस दबाव से भारतीय पूँजीपति वर्ग ने पूरा लाभ उठाया, अंग्रेज जो देना न चाहते थे, वह उनसे लिया, जो करना न चाहते थे, वह उनसे कराया। क्रान्तिकारी परिस्थिति को अंग्रेज़ी राज पर जबर्दस्त दबाव बना देने में कम्युनिस्ट पार्टी और अन्य वामपक्षी दलों, गुटों और व्यक्तियों की भूमिका महत्वपूर्ण थी। किन्तु ये सब मिलकर संगठित शक्ति न बने थे, वे फासिस्ट दलों के आगे बेबस हो जानेवाले सुधारवादी कांग्रेसी नेतृत्व से बँधे रहे, इसलिए खुद बेबस हो गये। जब उस नेतृत्व के पिछलगुएपन से मुक्त हुए, तब आवश्यक तैयारी के अभाव में क्रान्तिविरोध को ध्वस्त न कर पाये। फासिस्ट दलों में मुस्लिम लीग का स्थान सबसे ऊपर था, ब्रिटिश नीति को लागू करने का वह मुख्य उपकरण थी। जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम लीग के फासिस्ट रूप की स्पष्ट व्याख्या की थी। जो लोग नेहरू का फासिस्ट-विरोधी दृष्टिकोण सराहते थे, वे मुस्लिम लीग के प्रति उनके दृष्टिकोण के बारे में चुप रहते थे। भारत और पाकिस्तान में आज फासिस्टवाद की जो रूपरेखा उभर रही है, वह १९४७ में बन चुकी थी। और वामपक्ष उसके सामने आज भी उतना ही बेबस है जितना वह १९४७ में था। बेबसी का मतलब यह है कि वामपक्ष बल-प्रयोग द्वारा उसकी हिंसक कार्यवाही को समाप्त नहीं कर पाया।

भारत में फासिस्ट विचारधारा का आधार राष्ट्रवाद नहीं है, उसका आधार है साम्प्रदायिकता। हिन्दू सम्प्रदायवादी चाहे जितना राष्ट्रवाद की बात करें, लोग जानते हैं, राष्ट्र की बात साम्प्रदायिकता को छिपाने के लिये है। सम्प्रदायवादी मुसलमान चाहे जितना दुनिया भर के मुसलमानों की एकता की बात करें, उनकी वास्तविक एकता साम्राज्यवाद के समर्थकों से है। जो मुसलमान साम्राज्यवाद से लड़ता है, वह उनका सबसे बड़ा शत्रु है।

वाइसराय के सचिव एवेल ने साम्प्रदायिकता का अच्छा विश्लेषण किया था। इन्हीं ने वेवल को, और वेवल के माध्यम से ब्रिटेन की सरकार को, सुझाया था कि भारत का विभाजन ही होना है तो मुस्लिम लीग को वही इलाके मिलने चाहिए जिनमें मुसलमान बहुसंख्यक हैं। अन्तरिम सरकार के लीगी सदस्य लिआकत अली खाँ से अन्तरंग वार्ता के पश्चात् उन्होंने १८ नवम्बर १९४६ को वेवल के पास अपनी टिप्पणी भेजी। इसमें उन्होंने लिखा था : "लिआकत ने जो कुछ कहा, उसमें मेरे मन पर यह स्पष्ट छाप पड़ी कि लीग के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह देश में साम्प्रदायिक भावना को खत्म हो जाने दे। (The League could not afford to let the communal feeling in the country die down.) ये लोग समझते है कि पाकिस्तान का दावा सिद्ध करने के लिए यह साम्प्रदायिक भावना एक सबूत है। वे चाहेंगे कि उस सबूत में और बढ़ती हो और यद्यपि वे शायद यह न चाहें कि बहुत बड़े पैमाने पर रक्तपात हो, फिर भी वे चाहते हैं कि ऐसा वातावरण हो जिसमें हिंसा किसी भी समय भड़के उठे।" (ट्रांसफर आफ पावर, खण्ड ९, पृ. ९६)।

साम्प्रदायिक भावना न हो तो मुस्लिम लीग का अस्तित्व न हो। सम्प्रदायवादी चाहते है कि ऐसा वातावरण हो जिसमें हिंसा किसी भी समय भड़क उठे। स्वाधीन भारत में दंगों के अनुभव ने बार-बार यह सिद्ध कर दिया है कि फासिस्ट पहले हिंसा का वातावरण बनाते है, बाद में हिंसा भड़काते है, हिंसक कार्यवाही संगठित करते हैं। यदि साम्प्रदायिकता के विरोधी उनके इस वातावरण बनाने के काम को असफल नहीं कर देते तो आगे चलकर हिंसा भड़केगी ही। उसके लिए पुलिस और अधिकारियों को दोषी बताकर क्रान्तिकारी बन्धु अपने दायित्व से बच नहीं सकते।

२४ जनवरी १९४७ को एवेल ने भारत-सचिव पेथिक लारेन्स के सचिव रोनैल्ड हैरिस के पास एक दस्तावेज भेजा जिसे गुप्तचर विभाग के निदेशक सर नौर्मन स्मिथ ने तैयार किया था। 'ट्रान्सफर आफ पावर' ग्रन्थ के दस्तावेजों में इसका विशेष महत्व है। इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो गुप्त हो और जिसे गुप्तचर विभाग ही जानता हो, फिर भी 'आदिहु तें सब आपनि करनी, कुटिल कठोर मुदित मन बरनी' की बात ही और है। गुप्तचर विभाग के निदेशक अच्छी तरह जानते थे कि भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति लीग और कांग्रेस को अन्तरिम सरकार में फाँसकर हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने की है या दंगे कराने की है। यहाँ कूटनीति की चादर हटाकर यथार्थ का सही रूप दिखाते हुए स्मिथ ने लिखा : "अभी तक खेल ठीक खेला गया है (The game so far has

been well played); (क) कांग्रेस और लीग दोनों को केन्द्रीय सरकार मे ले आया गया है, (ख) इस प्रकार भारतीय समस्या सम्प्रदायवाद के अपने उपयुक्त धरातल पर पहुँचा दी गयी है (The Indian problem has been thereby thrust into its appropriate plane of communalism), (ग) व्यवस्थित ढग से हट जाने के लिए अब किसी प्रकार का एक अवसर मिल रहा है क्योंकि केन्द्र में एक सरकार है जिसे सत्ता हस्तान्तरित की जा सकती है।" (उप. ५४२)। खिलाड़ी थे अंग्रेज, उनके मुहरे थे दो संगठन—कांग्रेस और मुस्लिम लीग। खिलाडी जीत रहे थे क्योंकि अन्तरिम सरकार में दोनों को ले आने की चाल कामयाब हुई थी। कांग्रेस और लीग मुहरे मात्र थे, इनके ज़रिये जिस प्रतिद्वन्द्वी पर विजय पानी थी, वह थी भारतीय क्रान्ति।

शासको को सावधान करते हुए गुप्तचर विभाग के निदेशक ने कहा: "मुझे भय है कि अब एक यह रुझान पैदा हुआ है कि इस समय हम—विशुद्ध ब्रिटिश दृष्टिकोण से—कुछ समय के लिए अपेक्षाकृत शान्त परिस्थिति मे है, इसलिए हम भूल जाते है कि आगे-पीछे फिर तूफान आयेगा ही, और अपना दायित्व उतार फेंकने मे बहुत ही धीमे चल रहे है। मुझे भय है कि इस समय अस्थायी तौर पर अपेक्षाकृत शान्त परिस्थिति मे होने के कारण ऐसा रुझान पैदा हुआ है। ज़रा दम लेने का मौका मिला है, उससे पूरा लाभ उठाना चाहिए। मेरे विचार से नागरिक अधिकारियो पर भारत-सचिव का नियन्त्रण जल्दी-से-जल्दी समाप्त कर देना चाहिए। अधिकारियो के प्रति यह उचित ही होगा और इससे राजनीतिक लाभ यह होगा कि ऐसी निर्णायक भावभंगिमा से समस्या अपने सही साम्प्रदायिक धरातल पर बनी रहेगी।" (उप., पृ. ५४२-५४३)।

१९४६ का तूफानी साल बीत गया है। परिस्थिति कुछ समय के लिए शान्त है। यह शान्ति अस्थायी है। इस बार मौका चूके तो कही के न रहेगे। बोरिया-बँधना सँभालकर वक्त रहते इज्ज़त के साथ विदा हो जाओ। विदाई से पहले ऐसी भंगिमा दिखाओ कि लोगो को विश्वास हो जाय, तुम अपनी ओर से विदा होने-वाले हो। कहो कि नागरिक अधिकारी अब लन्दन की सरकार के मातहत नही हैं। इस अदा का असर यह होगा कि हिन्दू और मुसलमान आपस में लड़ना शुरू कर देगे और समस्या साम्प्रदायिक धरातल पर बनी रहेगी। भारत की राजनीतिक समस्या का सही धरातल, ब्रिटिश कूटनीति के लिए, साम्प्रदायिक ही है।

भारत छोड़ने के बारे मे अंग्रेज अधिकारियों के रवैये का विश्लेपण करते हुए ...मथ ने लिखा कि लगभग सभी ब्रिटिश अफसर भारत छोड़ने की नीति स्वीकार ...र चुके हैं। कांग्रेसी प्रान्तो मे इस स्वीकृति के साथ उसकी पूर्ण अनिवार्यता का भी ...सास है और ब्रिटिश सरकार ने अब तक जो नीति अपनायी है, उसका समर्थन ...करते हैं। गैर-कांग्रेसी प्रान्तों मे, खासतौर से पंजाब मे, नागरिक अधिकारी ...र बादशाह सलामत की नीति की, और हुज़ूर वाइसराय जो चालें चलते हैं, ...की कटु आलोचना कर जाते हैं। यह दृष्टिभेद राजनीतिक परिस्थितियो के भेद ...त्पन्न होता है। पंजाब [अर्थात् पंजाब का अधिकारी वर्ग] समझता है कि ...भारत के अधिकारी पराजयवादी बन गये हैं और शेष भारत [अर्थात् शेष

भारत का अधिकारी वर्ग] अधिकांशतः समझता है कि पंजाब उस अतीत मे जी रहा है जो मर चुका है या मरनेवाला है।" (उप., पृ. ५४३)। कांग्रेसी प्रान्त वे थे जहाँ राजनीतिक आन्दोलन शक्तिशाली था; वहाँ काम करनेवाले अधिकारी अच्छी तरह जानते थे कि अंग्रेजी राज के दिन बीत चुके है। उनकी समझ में अंग्रेजी राज का खात्मा पूरी तरह अनिवार्य था। स्वाधीनता-आन्दोलन का विकास विषम रूप मे हुआ था; कही वह ताकतवर था और कही कमजोर था। भारत-विभाजन की ब्रिटिश नीति कहाँ तक सफल होती है, यह इस पर निर्भर था कि पंजाब संयुक्त रहता है या विभाजित होता है। अन्य प्रान्तो की अपेक्षा पजाब मे साम्प्रदायिक भेद अधिक था; यहाँ हिन्दुओ और मुसलमानो के अतिरिक्त सिख भी थे। इसलिए पंजाब का अधिकारी वर्ग कांग्रेसी प्रान्तो के सहयोगियो को पस्त और निकम्मा समझता रहा हो तो आश्चर्य नही।

स्मिथ ने चेतावनी दी कि खैरियत तब तक है जब तक साम्प्रदायिक उपद्रव होते रहते है, इनकी जगह ब्रिटिशविरोधी उपद्रव शुरू हो गये तो जान की खैर नही। उन्होंने लिखा : "गम्भीर साम्प्रदायिक उपद्रवो मे विचलित होकर हमे ऐसी कार्रवाई मे न लग जाना चाहिए जिससे ब्रिटिशविरोधी आन्दोलन फिर शुरू हो जाय। इस तरह के आन्दोलन मे बेहद खतरनाक परिस्थिति पैदा हो सकती है, ऐसी कि हम कही के न रहे। पहली [साम्प्रदायिक उपद्रवोवाली] प्रक्रिया सहज है, यद्यपि जघन्य है, जो अपने ही ढग से भारतीय समस्या का समाधान पेश कर सकेगी।" (उप.)। अंग्रेजो के लिए जो प्रक्रिया रक्तरंजित और जघन्य (ghastly) थी, वह नैसर्गिक, सहज (natural) थी। इस प्रक्रिया से वे जिस समाधान की ओर भारत को ठेल रहे थे, वह ऐसा समाधान था कि रक्तरंजित प्रक्रिया कभी समाप्त ही न हो। भारतीय जनता अंग्रेजों के अत्याचार भूल जाय, स्वाधीन होने पर अंग्रेजो से प्रीति दृढाये और उनके हितो की रखवाली करे, यह तभी सम्भव था जब साम्राज्यविरोधी राष्ट्रीयता का स्थान राष्ट्रविरोधी साम्प्रदायिकता ले ले।

आगे क्या होगा, स्मिथ के लिए कहना मुश्किल था। अतीत की ओर निगाह दौड़ाते हुए उन्होंने कहा : "कुछ वर्ष पहले कैसी भी स्थिति रही हो, साम्प्रदायिक विद्वेष अब इतना कटु हो गया है कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर भविष्य-निर्माण करेंगे, यह सोच पाना कठिन है। यह विद्वेष कम हो सकता है पर बीच की खाई इतनी चौड़ी है और संस्कृति का भेद इतना स्पष्ट है कि स्वस्थ सहयोग की सम्भावना कम है।" (उप.)। साम्राज्यवादी ही नही, भारत के सम्प्रदायवादी ही नही, यहाँ जितने क्रान्तिविमुख दक्षिण-वाम अवसरवादी है, वे भी इसी तरह सोचते है। पाकिस्तान अलग, हिन्दुस्तान अलग; मुस्लिम संस्कृति अलग, हिन्दू संस्कृति अलग; उर्दू अलग, हिन्दी अलग; हिन्दू और मुसलमान मिलकर भविष्य-निर्माण कैसे कर सकते है?

स्मिथ ने लिखा : फूट डालनेवाली प्रवृत्तियों के रहते भारत का अस्तित्व मजबूत केन्द्र पर निर्भर है पर स्पष्ट है कि मुसलमान ऐसा केन्द्र स्वीकार न करेंगे और उसका बनना असम्भव-सा है। लन्दन सरकार कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव के

माध्यम से जो एकताबद्ध भारत का सब्जबाग दिखा रही थी, उसके बारे में स्मिथ का विचार था : "वर्तमान लक्ष्य है एक कमज़ोर केन्द्र। उसमें विघटन के बीज पहले से विद्यमान है। विदेशी मामलों में सामान्य नीति हो, और इसके परिणाम-स्वरूप सुरक्षा और वित्त सम्बन्धी मामलों में सामान्य नीति हो, यह सम्भव नहीं जान पड़ता।" (उप.)। यहाँ निर्णायक भूमिका है विदेशी मामलों की। यदि विदेशी मामलों में पाकिस्तान का झुकाव साम्राज्यवाद की ओर रहता है और भारत का साम्राज्यविरोध की ओर तो दोनों की वित्तीय और सुरक्षा-सम्बन्धी नीति भी जुदा-जुदा होगी। भविष्य-निर्माण के नक्शे दोनों राज्यों के अलग-अलग होंगे। साम्राज्यवाद भारत पर केवल दबाव डाल सकता है; भरोसा वह तभी करेगा जब पाकिस्तान की तरह यहाँ भी राज्यसत्ता का आधार सम्प्रदायवाद हो। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक साम्राज्यवाद पाकिस्तान का ही भरोसा कर सकता है।

भारत को एकताबद्ध बनाये रखने के लिए जो परिसंवाद हो रहे थे, उनके असफल होने की भविष्यवाणी करते हुए स्मिथ ने बताया कि कांग्रेस क्यों पाकिस्तान स्वीकार करेगी। "जैसा कि कुछ महीनों से मैं कहता आ रहा हूँ, कांग्रेसिस्तान से (कांग्रेस के पदग्रहण से) पाकिस्तान के जन्म लेने की सम्भावना है।" (उप.)। स्मिथ के अनुसार कांग्रेसी नेता सत्तारूढ़ होने को विकल हैं। पाकिस्तान को स्वीकार किये बिना अंग्रेज उन्हें सत्तारूढ़ होने न देंगे। क्रान्ति करके साम्राज्यवाद और उसके लगुओ-भगुओं को वे एक साथ खदेड़ दें, इतना साहस उनमें है नहीं। इसलिए पाकिस्तान का जन्म होगा कांग्रेसिस्तान से !

पाकिस्तान बनने से लाभ अंग्रेज़ों को होगा या मुसलमानों को ? स्मिथ ने लिखा : "मैं नहीं समझता कि पाकिस्तान बनने से भारत के मुसलमानों को लाभ होगा। उनके पूरब और पच्छिम में ज्यादा मज़बूत ताकतें हैं। वे उन्हें बीच में दबोच लेंगी और वे परेशानी में पड़ जाएँगे। पर यदि वे पाकिस्तान लेने पर तुले हुए हैं तो वह उन्हें मिल जायगा।" (उप.)। पूरब में चीन, पश्चिम में रूस, ये ताकतें पाकिस्तान को दबोच सकती थीं। इसलिए साम्राज्यवादी नीति यह हुई कि कम-से-कम एक तरफ से पाकिस्तान को सुरक्षित रखा जाय। यदि पाकिस्तान और चीन में उतनी ही गहरी दोस्ती है जितनी पाकिस्तान और अमरीका में, तो यह साम्राज्यवादी कूटनीति की बहुत बड़ी सफलता है।

पाकिस्तान बन जाने के बाद यदि भारत में वामपन्थी आन्दोलन शक्तिशाली हो जाता है तो यह साम्राज्यवाद के लिए बहुत बड़ा खतरा होगा। कांग्रेसी नेता साम्राज्यविरोधी हैं पर असंगत रूप से; वे साम्राज्यवाद से सम्पर्क बनाये रखते हैं। इनकी जगह यदि सुसंगत साम्राज्यविरोधी आ गये तो यह सम्पर्क समाप्त हो जायगा। जनवरी १९४७ में अंग्रेज़ों पर क्रान्तिकारी परिस्थिति का कितना दबाव अभी बना हुआ था, इसका अनुमान स्मिथ के इन वाक्यों से होगा : "एक मज़बूत हिन्दू [अर्थात् कांग्रेसी] केन्द्र कायम भी हो जाय, तो भी वह वामपंथी हमले के सामने बहुत दिन तक जमा रह सकेगा, इसमें सन्देह है। मज़दूरों में, किसानों में, प्रान्तीय और भाषाई बढ़ाचढ़ी आदि में उपद्रव के लिए भरपूर सामग्री है। जयप्रकाश

नारायण और उनकी बेढंगी भीड़ से भविष्य को खतरा है। हो सकता है कि इनसे और कम्युनिस्टों से कांग्रेस काफी दृढ़ता से निपटे पर उसके पास समय बहुत कम है। नेहरू कैबिनेट मे है, इसलिए कांग्रेस में उनसे निपटने की सामर्थ्य अथवा इच्छा भी होगी, इसमे सन्देह है।" (उप., पृ. ५४४)।

जयप्रकाश नारायण, कम्युनिस्ट और नेहरू, ये तीनो मिलकर काम करें तो स्मिथ के लिए परिस्थिति भयानक हो सकती थी। नेहरू क्रान्तिकारी आन्दोलन मे शामिल भले न हों, वह कैबिनेट मे रहते हुए केन्द्रीय सरकार को दमननीति पर चलने से रोके रह सकते थे। जयप्रकाश नारायण के अनुयायी भले ही सन् ४२ मे कम्युनिस्टों की भूमिका से असन्तुष्ट हो पर इस समय यदि वे कम्युनिस्टों से मिल गये तो अंग्रेजों को लेने के देने पड़ जायेंगे। उधर पूरनचन्द जोशी पटेल के विरुद्ध नेहरू के हाथ मजबूत करने मे लगे थे। जोशी के नेतृत्व से हटते ही नेहरू ने दिखा दिया कि उनके हाथ कितने मजबूत है। बाकी रहे सोशलिस्ट, वे राजनीति से संन्यास लेकर सर्वोदयवादी हो गये, जो राजनीति मे बने रहे, वे मार्क्सवाद को तिलाञ्जलि देकर गांधीवादी हो गये। यह सारा राजनीतिक खेल ठीक उसी तरह खेला गया जिस तरह बड़े-से-बडा आशावादी अंग्रेज उसके खेले जाने की कामना कर सकता था।

अंग्रेजी राज का अन्त भारत के विघटन से हो, स्मिथ के लिए यह बात निराशाजनक थी। आशाजनक बात यह थी कि "चरम वामपन्थी खतरा हिन्दू और मुसलमान [अर्थात् कांग्रेसी और लीगी] नेताओं को एक-दूसरे के निकट ला सकता है, पर यह सब भविष्य के गर्भ में है।" (उप.)। भारत के विघटन की निराशा-जनक परिस्थिति को दार्शनिक भाव से ग्रहण करना चाहिए; "यदि हम प्राकृतिक शक्तियों को नियन्त्रित नही कर सकते तो हमे चाहिए कि उन्हें स्वीकार करें और वाजिब ब्रिटिश हितों पर अपनी निगाह बराबर जमाये रहें। (keeping our eyes steadily on reasonable British interests.)" (उप.)। यदि पूरा भारत ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा-व्यवस्था मे शामिल रहता तो अति उत्तम होता। ऐसा नही हुआ, यह बात निराशाजनक थी। तब दार्शनिक भाव से वाजिब ब्रिटिश हितों पर बराबर निगाह जमाये हुए प्रयत्न यह करना चाहिए कि नेहरू-पटेल वामपन्थ का दमन करें, पाकिस्तान ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षाव्यवस्था की धुरी बने और शेष भारत की राजनीतिक समस्या को ठेलकर साम्प्रदायिकता के स्तर पर कायम रखा जाय।

### (ख) अन्तरिम सरकार और संविधान सभा

देश में दंगे हो रहे थे। नेहरू इन दंगों को रोकने मे असमर्थ थे। दंगे कराने मे प्रमुख भूमिका मुस्लिम लीग की थी। लीग के नेता अन्तरिम सरकार में शामिल थे। कांग्रेस के भीतर नेहरू की आलोचना होने लगी थी कि दंगे नही रोक पाते तो लीग के साथ सरकार मे शामिल क्यों हो ? या तो सरकार से लीगियों को निकालो या खुद बाहर आकर अंग्रेजों को निकालने के लिए आन्दोलन चलाओ। किन्तु नेहरू न लीगियों को निकाल पाये, न खुद बाहर निकले। लीगी नेता अन्तरिम सरकार

मे रहते हुए खुलेआम क्रान्तिविरोधी आन्दोलन को बढ़ावा दे रहे थे किन्तु नेहरू-पटेल अपना अहिंसक सत्याग्रह, विनयपूर्वक अवज्ञा करने का आन्दोलन भी रोके हुए थे। अंग्रेज जानते थे कि पद-लोलुप कांग्रेसी नेता सरकार छोड़कर बाहर आनेवाले नहीं हैं। नवम्बर १९४६ के पहले पखवारे में वेवल ने परिस्थिति का जायजा इस प्रकार लिया था : "पूर्वी बंगाल के दंगों को लेकर नेहरू और कांग्रेस को पहली बार अपने अनुयाइयों की ओर से सख्त आलोचना का सामना करना पड़ा है। अब तक जो कुछ करते आये थे, उस पर वे जय-जयकार सुनने के आदी हो गये थे। यह आलोचना सुनकर वे चकित और स्तम्भित से रह गये हैं। उनके विरुद्ध आलोचना का सूत्र यह है कि यदि अन्तरिम सरकार कलकत्ता और पूर्वी बंगाल की घटनाएँ रोक नहीं सकती और मुस्लिम लीग का दमन नहीं कर सकती, तो अच्छा होगा कि पद त्याग दे और पुराने क्रान्तिकारी तरीके अपनायें। ऐसे सुझावों से खतरा जरूर पैदा हो सकता है, खासतौर से नेहरू जैसे व्यक्ति जल्दी ही भावविह्वल हो उठते हैं। लेकिन मैं नहीं समझता कि बहुमत [कांग्रेसी बहुमत] पद त्यागना चाहेगा।" (१३ नवम्बर १९४६, भारत-सचिव के नाम वाइसराय; उप., पृ. ५७)। वेवल ने कांग्रेसी नेताओं की पदलोलुपता को सही पहचाना था, इसलिए उसे ब्रिटिश कूटनीति की सफलता पर विश्वास था।

संविधान सभा बुलायी जाने को थी। वह भारत का संविधान बनाती। अंग्रेज कुछ दिन तक टालते रहे, फिर ९ दिसम्बर १९४६ को विधान सभा बुला ली गयी किन्तु मुस्लिम लीग उसमें शामिल न हुई। उसे भारत के संविधान से क्या लेना-देना था ? कांग्रेसी नेताओं ने जोर लगाया कि या तो लीग संविधान सभा में शामिल हो या अन्तरिम सरकार से बाहर निकले। लीग ने दोनों में से एक बात भी न की; न वह संविधान सभा के भीतर गयी, न अन्तरिम सरकार के बाहर आयी। कांग्रेसी नेताओं की स्थिति परम हास्यास्पद हो गयी।

संविधान सभा जुड़ने से पहले जिन्ना ने वेवल से कहा, हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच समझौता होना नितान्त असम्भव है। अंग्रेजों को जाना हो तो जल्दी जायँ, रुकना हो और समस्या सही ढंग से हल करनी हो तो उन्हें खुद संविधान बनाकर अपनी ओर से पंच फैसला करना चाहिए (make an award)। बिहार के दंगों के लिए कांग्रेस को दोषी बताते हुए जिन्ना ने इस बात पर जोर दिया कि "कांग्रेस का सारा उद्देश्य मौजूदा संविधान पर अमल करना नहीं है वरन् वर्तमान शासन पद्धति की गरिमा और शक्ति को समाप्त करना है। उन्होंने [जिन्ना ने] कहा, 'वे दुनिया को बेवकूफ बना रहे हैं।' (इस बारे में जिन्ना ने जो कुछ कहा, उसके अधिकांश से मैं [वेवल] तहेदिल से सहमत हूँ यद्यपि मैं ऐसा कह न सकता था।)" (उप., पृ. १०९)।

जिन्ना जानते थे कि पूरा बंगाल, पूरा असम, पूरा पंजाब पाकिस्तान में शामिल न किये जायेंगे। पूरे-पूरे सूबे लेने के फेर में रहे तो कांग्रेस को अन्तरिम सरकार से निकलकर आन्दोलन की राह पकड़नी होगी, वर्ना कांग्रेस समाप्त हो जायेगी। अंग्रेज उनकी इस माँग को कांग्रेसियों से मनवा न सकेंगे। इसलिए जिन्ना ने वेवल को समझा दिया : हमें अपना इलाका दे दीजिए, वह चाहे जितना छोटा हो पर वह

हमारा हो, वहाँ एक वक्त रोटी खाकर जिन्दगी बसर कर लेंगे। (उप.)। वाइसराय के सचिव एवेल ने नोट किया कि जब लीग अन्तरिम सरकार में शामिल हुई थी तब उसने निश्चित आश्वासन दिया था कि वह १६ मई वाला कैबिनेट मिशन का बयान स्वीकार करेगी। (उप., पृ. १६१)। कैबिनेट मिशन की वह योजना पुरानी पड़ चुकी थी। वेवल ने दिसम्बर १९४६ के आरम्भ में नोट किया कि मिशन के आशय के अनुसार उसका बयान कांग्रेस और लीग को मंजूर न होगा तो "बादशाह सलामत की सरकार को यह हकीकत स्वीकार करनी चाहिए कि मिशन की योजना मुर्दा है।" (उप., पृ. २४२)। या तो ब्रिटिश सरकार भारत पर अपना अधिकार फिर कायम करे या नये समझौते का प्रयास करे। "यह किसी न किसी प्रकार का विभाजन होगा और इसमें तुरत कांग्रेस से हमारी टक्कर होगी। इसका अर्थ होगा विभाजन-क्रिया पूरी करने के लिए हम यहाँ बने रहें और शायद कुछ वर्षों तक बने रहें। मैं नहीं समझता ऐसी नीति व्यावहारिक होगी।" (उप., पृ. २४३)। वेवल के लिए जो नीति अव्यावहारिक थी, उसे माउण्टबाटेन ने व्यावहारिक सिद्ध कर दिया। अब वेवल के वाइसराय भवन छोड़ने के दिन आ गये थे।

जिन्ना का तर्क था कि मिशन का बयान सही अर्थ में लीग ने स्वीकार किया है, कांग्रेस ने उसे स्वीकार ही नहीं किया है। ब्रिटिश सरकार ने कहा, हम बयान का ऐसा भाष्य करेंगे जैसा मुस्लिम लीग चाहती है; तब वह उसे मानेगी (यानी संविधान सभा में शामिल होगी)? लन्दन में भारतीय नेता ब्रिटिश मन्त्रियों से मिले। "भारत-सचिव ने बताया कि संविधान सभा के विभागों की कार्यपद्धति के बारे में यदि बयान का भाष्य वैसा ही किया जाय जैसा मुस्लिम लीग चाहती है, तब भी जिन्ना इस बात के लिए राजी न हुए कि वह लीग की कार्यसमिति से सिफारिश करेंगे कि वह कैबिनेट मिशन के बयान को फिर स्वीकार करे।" (उप., पृ. २७४)। यह जानते हुए भी कि जिन्ना संविधान सभा में भाग न लेंगे, ब्रिटिश सरकार ने ६ दिसम्बर १९४६ को बयान दिया। इसमें कैबिनेट मिशन के बयान की व्याख्या फिर की गयी और यह आशा प्रकट की गयी कि "कांग्रेस कैबिनेट मिशन का दृष्टिकोण स्वीकार कर ले जिससे मुस्लिम लीग के लिए अपने रवैये पर फिर से विचार करने का रास्ता साफ हो जाय।" (उप., पृ. २९९)।

ब्रिटेन की सरकार कितनी उदार है, कितनी शान्तिप्रेमी है, जनतन्त्र में उसकी कैसी दृढ़ आस्था है, भारत का शोषण कभी उसका लक्ष्य नहीं रहा, साम्राज्यवाद से सम्बन्ध किसी और सरकार का होगा, ब्रिटिश सरकार से नहीं, इन ऐतिहासिक तथ्यों की घोषणा और पुष्टि करते हुए नेहरू, जिन्ना, लिआकत और बल्देवसिंह की उपस्थिति में वेवल, क्रिप्स, पेथिक लारेन्स और अलेक्झान्डर से परिवेष्टित प्रधान मन्त्री ऐटली ने कहा: वर्तमान ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की थी कि भारत को अपने संविधान के बारे में स्वयं निर्णय करना है। यह घोषणा एक बड़ा कदम है और इतिहास में उसकी मिसाल नहीं है, इस रूप में संसार के सभी भागों में उसका स्वागत किया गया। पार्लियामेण्ट में आमतौर से उसे समर्थन मिला। स्थिति की विडम्बना यह है कि आगे की प्रगति इससे एक बहुत छोटे सवाल पर

(on the much smaller question) रुक गयी है, वह है कार्यपद्धति को लेकर भारतवासियों मे सहमति का सवाल। विश्व जनमत के लिए यह स्थिति अद्‌भुत है। इस मामले में जो कुछ सम्भव था, ब्रिटिश सरकार कर चुकी है। तीन मन्त्रियों ने भारत मे साढ़े तीन महीने बिताये और सहमति के लिए उन्होने जी-जान से परिश्रम किया। अन्त में अधिकतम सहमति के लिए जो आधार उनकी समझ में हो सकता था, उसे उन्हें स्वयं १६ मई के बयान में प्रस्तुत करना पड़ा। सारी दुनिया के जानकार लोगों की निगाह में यह सूझबूझ का बयान था। अधिकाश लोगों के विचार से उसकी व्याख्या को लेकर जो मतभेद था, वह बहुत बड़ा नही था। यदि भारत में शान्तिपूर्वक सत्ता का हस्तान्तरण होना है तो यह भारतीय दलों के बीच सहमति, सद्‌भावना और आपस की लेनी-देनी से ही होगा। (उप. २६७)।

विश्व जनमत ब्रिटिश सरकार के साथ है, जो भारतीय नेता कार्यपद्धति के छोटे से सवाल पर सहमत नही हो पाते, विश्व जनमत उनका साथ कभी न देगा। दूसरे महायुद्ध के बाद विश्वव्यापी जनआन्दोलनों ने साम्राज्यवाद को कठघरे मे ला खड़ा किया था; यहाँ साम्राज्यवादी ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ने अपनी जगह भारत के नेताओं को खडा कर दिया। यह स्थिति जिन्ना और लिआकत की कारगुज़ारी पर चार चाँद लगानेवाली थी; वे तो साम्राज्यवादी षड्यन्त्र का अग थे ही, यह स्थिति उनकी सफलता का प्रमाण थी। पर युवकों के हृदयसम्राट् के लिए यह स्थिति लज्जाजनक होनी चाहिए थी। विश्व इतिहास मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कारनामे लासानी थे। ऐटली कह रहे थे, हमने जो कदम उठाया है, इतिहास में उसकी मिसाल नही है। अंग्रेज़ बेचारे पूरा ज़ोर लगा रहे थे कि भारतीय दलों में समझौता हो जाय, उनके तीन तीन मन्त्री महीनों भारत मे पडे रहे, ऐसी कड़ी मेहनत की कि कई बीमार पड़-पड़ गये। समझौता न हुआ, तब उन्होने अपनी तरफ़ से समझौते का आधार प्रस्तुत करनेवाला बयान दिया। पर अब उसकी व्याख्या को लेकर मतभेद है! मुख्य बात यह है कि शान्तिपूर्वक सत्ता लेनी है तो आपस में समझौता करना पड़ेगा अर्थात् साम्राज्यविरोधी नेहरू, क्रान्ति के बिना, भारत को स्वाधीन करना चाहें तो उन्हें साम्राज्यहितैषी जिन्ना के साथ समझौता करना होगा।

ऐटली ने आगे अपने प्रवचन में कहा : यहाँ जितने लोग उपस्थित हैं, वे सब दायित्व के पदों पर है। संसार के मामलों मे वे जीवन की जनतान्त्रिक पद्धति के समर्थक है। एशिया मे जनतान्त्रिक तरीकों का प्रमुख उद्‌घोषक भारत है। नये सविधान का शिलान्यास जनवादी प्रक्रिया से होता है तो इसका प्रभाव दुनिया के, यूरुप में ही नही वरन् एशिया मे, सारे भविष्य पर पड़ेगा। (उप.)।

ऐटली के लिए जनतन्त्र क्या है? साम्राज्यवाद से क्रान्ति-विमुख समझौता। जनतन्त्र का प्रमुख उद्‌घोषक भारत क्यों है? इसलिए कि ब्रिटिश साम्राज्य मे सबसे महत्वपूर्ण देश पराधीन भारत था। जनतान्त्रिक पद्धति से भारत का नया सविधान बने, क्या इसका यह अर्थ है कि भारतीय जनता का बहुमत ऐसा सविधान बनाये? नही, इसका अर्थ है अल्पमत अपने आगे बहुमत की एक न चलने दे।

ऐसे अजूबा जनतन्त्र के सहारे भारत अपना संविधान बनायेगा तो उसका प्रभाव सारी दुनिया के भविष्य पर, यूरुप में ही नहीं, एशिया में भी, क्यों पड़ेगा ? इसलिए कि सोवियत संघ के साथ पूर्वी यूरुप में अनेक समाजवादी राज्य कायम हो चुके थे और एशिया में चीनी क्रान्ति अभी सफल न हुई थी पर होनेवाली थी। इस समाजवादी यूरुप-एशिया में ब्रिटिशमार्का जनतन्त्र का इकलौता समर्थक होगा भारत !

ऐटली ने सिद्धि निकट देखकर परम आत्मसन्तोष से कहा : ब्रिटिश सरकार अपना काम कर चुकी। प्रमुख भारतीय जिस नीति को लागू करने के लिए बरसों से कह रहे थे, सरकार ने इस देश में उसकी स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। अब उसे भारतीय सहयोग की मांग करने का हक है। वर्तमान मुलाकातों में वह (सरकार) एक पक्ष की बात के लिए दूसरे पक्ष की सहमति प्राप्त नहीं कर सकी। इसलिए उसका विचार है कि आज रात वह नया बयान जारी करे। (उप.)।

इसके बाद ऐटली ने जो बयान पढ़ा, उसका अन्तिम अंश इस प्रकार था : "परस्पर सहमतिवाली कार्यपद्धति के बिना संविधान सभा के सफल होने की कभी कोई सम्भावना नहीं रही। यदि भारतीय जनता का एक बड़ा भाग संविधान सभा में अपने प्रतिनिधि न भेजे और यह सभा संविधान बना डाले, तो अवश्य ही बादशाह सलामत की सरकार देश के उन भागों पर उसे थोपना न चाहेगी जो उसे स्वीकार न करते थे, जैसा कि कांग्रेस ने भी कहा है कि ऐसे भागों पर वह उसे न थोपेगी।" (उप., पृ.२९६)।

संविधान सभा बुलाने के लिए कांग्रेस ने वेवल पर बड़ा जोर डाला था। यह उसका जवाब था। बुला लो संविधान सभा, बना लो अकेले संविधान, वह भारत पर लागू होता है या नहीं, यह ब्रिटिश सरकार की इच्छा पर निर्भर है। ब्रिटिशमार्का जनतन्त्र में फैसला बहुमत से नहीं होता, अल्पमत से होता है। यह नियम केवल भारत के लिए है, ब्रिटेन के लिए नहीं !

संविधान सभा का अधिवेशन ९ दिसम्बर को शुरू हुआ। उसके निधन का शोक-समाचार ६ दिसम्बर के बयान में पहले ही प्रकाशित कर दिया गया था। नेहरू ने उक्त बयान सुनकर ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों से कहा : बयान पर सोच-विचार के लिए कांग्रेस को समय चाहिए पर कुछ बातें अभी कही जा सकती हैं। इस बयान से १६ मई वाले बयान में संशोधन किया गया है; उसमें नयी बातें हैं। कांग्रेस १६ मई के बयान के आधार पर अब तक बातचीत करती आयी है। बाद में कांग्रेस से कहा गया था कि उसमें कोई संशोधन-परिवर्तन न होगा। अब इस व्याख्या से उसका रूप बदल गया है। यदि यह (६ दिसम्बर वाला) बयान पहले दिया गया होता तो यह कहना कठिन है कि कांग्रेस का रवैया क्या होता। (उप., पृ. २९८)। "और उन्होंने जिन्ना और लिआकत अली खाँ को विश्वास दिलाया कि कांग्रेस में सभी लोग ऐसा रास्ता ढूँढ़ निकालने को उत्सुक हैं जो दोनों दलों के लिए सम्मानजनक हो क्योंकि वे [कांग्रेसी नेता] अपनी बाकी जिन्दगी लड़ाई-झगड़े में बरबाद करना नहीं चाहते। वे किसी भी ऐसे संविधान की कल्पना नहीं कर सकते जिसे देश का एक भाग दूसरे भाग पर लाद दे।" (उप., पृ. २९९)। जवाहरलाल नेहरू उसी सुधारवादी नीति के प्रतिनिधि थे जिसके प्रमुख भाष्य-

कार सरदार पटेल और मौलाना आजाद थे। इस नीति का सुधारवादी सारतत्व था साम्राज्यविरोध और साम्राज्यसमर्थन में समझौता कराना, इस समझौते के लिए साम्राज्यवाद का अनुमोदन प्राप्त करना। ऐटली ने अल्पमत को बहुमत के ऊपर स्थान देकर जनतन्त्र की जो व्याख्या की थी, वह नेहरू को मान्य थी।

जिन्ना ने क्रिप्स के सहायक वायट से कहा कि वह हमेशा ईमानदारी की बात करते आये हैं और खुशी की बात है कि ब्रिटिश सरकार ने कैबिनेट मिशन की व्याख्या ईमानदारी से की है। उन्होंने वायट को समझाया कि कांग्रेस न तो मुस्लिम लीग से समझौता करना चाहती है, न ब्रिटिश सरकार से। कांग्रेस ब्रिटिश अफसरों को निकाल रही है, सरकारी पदों पर मुसलमानों को निकालकर अपने आदमी रख रही है। जरूरत हो तो बल-प्रयोग द्वारा भी सत्ता हथियाने के लिए कांग्रेस बड़े पैमाने पर भरपूर तैयारी कर रही है। कांग्रेस ने आजाद हिन्द फौज के २५,००० आदमी तनखाह देकर काम में लगा रखे हैं, उनके दफ्तर सारे देश में कांग्रेस के दफ्तरों के पड़ोस में हैं। मुस्लिम लीग ने इसी पैमाने पर संगठन न खड़ा किया, इसके लिए उन्होंने अपनी मूर्खता को दोषी ठहराया। "अन्त में उन्होंने यह विचार प्रकट किया कि वह संविधान सभा को एक बार परखने के लिए तैयार हो सकते हैं पर यह सभा सही ढंग से काम न करेगी और हमेशा की तरह एक ही समाधान था पाकिस्तान।" (उप., पृ. ३१२-१३)।

संविधान सभा का अधिवेशन आरम्भ हुआ, लीग उसमें शामिल न हुई। सरदार पटेल ने वाइसराय से कहा : बादशाह सलामत की सरकार प्रान्तों के गुट बनाने के मसले पर जो चाहे सो कह सकती है पर यदि वह समझती है कि उसकी व्याख्या मूल योजना का अभिन्न अंग है तो उसे यह बात पहले ही बता देनी चाहिए थी। प्रधान मन्त्री ऐटली ने अप्रैल १९४६ में कहा था कि अल्पमत हमेशा के लिए बहुमत के रास्ते में अड़ंगा नहीं लगा सकता; इस बयान का अन्तिम अंश इसे नकारता है। कांग्रेस में बहुत लोग इसे विश्वासघात मानते हैं। "उनके लिए यह बात गम्भीर थी और उन्होंने जता दिया कि यदि इसका अर्थ यह लगाया गया कि लीग की ओर से विरोध प्रदर्शन करने पर गाड़ी रुक जायगी तो हो सकता है कि इस बात पर समझौते की वार्ता टूट जाय।" (१० दिसम्बर १९४६ को स्थानापन्न वाइसराय कोलविल से पटेल की भेंट; उप. ३२२-२३)।

किन्तु वार्ता टूटी नहीं। कांग्रेस कार्यसमिति ने सारा मामला ए. आई. सी. सी. के सामने रखा और ए. आई. सी. सी. ने ६ जनवरी १९४७ के प्रस्ताव में कहा कि वह चाहती है कि संविधान सभा सभी सम्बद्ध दलों की सद्भावना से स्वाधीन भारत का संविधान बनाये; अनेक व्याख्याओं के कारण जो कठिनाइयाँ पैदा हो गयी हैं, उन्हें देखते हुए वह परामर्श देती है कि (प्रान्तों से सम्बन्धित) "गुटों (sections) की कार्यपद्धति की जो व्याख्या ब्रिटिश सरकार ने की है, उसके अनुसार [कांग्रेसी नेतृत्व] काम करे।" (उप., पृ. ४६३)। किसी प्रान्त पर दबाव न डाला जायगा; "ऐसा दबाव डाला गया तो प्रान्त या प्रान्त के भाग को अधिकार होगा कि सम्बद्ध जनता की भावना को अमल में लाने के लिए यथावश्यक कदम उठाये।" (उप.)।

कांग्रेसी नेतृत्व ने ब्रिटिश व्याख्या स्वीकार की। प्रान्त के साथ प्रान्त के भाग की बात कहकर उसने संकेत किया कि लीग को बहुसंख्यक मुस्लिम इलाके ही मिल सकते हैं, अल्पसंख्यक मुस्लिम इलाके नहीं। सारी बातचीत दो सम्प्रदायों को वादी-प्रतिवादी मानकर हो रही थी, इसलिए प्रत्येक सम्प्रदाय अपना बहुसंख्यक इलाका ले ले, यह बात बहुत तर्कसंगत जान पड़ती थी। वास्तव में यह साम्प्रदायिकता के आधार पर राष्ट्र तथा बंगाल, पंजाब जैसे जातीय प्रदेशों के विभाजन की स्वीकृति थी। यदि पंजाब और बंगाल की जातीय एकता कायम रहती तो राष्ट्र की एकता भी कायम रह सकती थी पर कांग्रेस, लीग और अंग्रेजों के बीच बातचीत हमेशा साम्प्रदायिक भेदभाव की स्वीकृति के आधार पर हुई। यह स्वीकृति जातीय और राष्ट्रीय एकता की अस्वीकृति थी। ए. आई. सी. सी. में उक्त प्रस्ताव पास कराना आसान नहीं था। जैसा कि वेवल ने पेथिक लारेन्स को सूचित किया, पुराने नेतृत्व ने इसे अपने प्रति विश्वास का प्रस्ताव बना लिया था। (८ जनवरी १९४६; पृ. ४८६)। ३१ जनवरी को मुस्लिम लीग की कार्य-समिति ने प्रस्ताव पास किया कि संविधान सभा शुरू से ही गैरकानूनी थी, इसलिए उसे तुरत भंग कर देना चाहिए; ६ दिसम्बर के बयान से बादशाह सलामत की सरकार ने साबित कर दिया है कि कैबिनेट मिशन के १६ मई वाले बयान की जो व्याख्या मुस्लिम लीग करती आयी थी, वह सही है; कांग्रेस ने १६ मई का बयान कभी स्वीकार ही न किया था। (उप, पृ. ५९२)।

इस पर वेवल की प्रतिक्रिया यह थी : "मुझे लगता है कि लीग ने जो फैसला किया है, वह दूरन्देशी और बुद्धिमानी का नहीं है। यदि कांग्रेस ज़ोर दे कि लीग को कैबिनेट से हट जाना चाहिए तो मैं नहीं जानता इसका विरोध मैं कैसे करूँगा हालाँकि मैं नेहरू को बताऊँगा कि मिली-जुली सरकार भंग करना कांग्रेसी दृष्टिकोण से अत्यन्त हानिकारक होगा।" (१ फरवरी १९४६, पेथिक लारेन्स के नाम तार; पृ. ५९३)। नीति-निर्धारण का काम ब्रिटिश सरकार का था। वेवल उस नीति को लागू करनेवाले उपकरण मात्र थे। सूत्रधार ऐटली और उपकरण वेवल में तालमेल न था। पेथिक लारेन्स ने वेवल को तार से जवाब दिया : अपनी तरफ से नेहरू को बुलाकर लीगी सदस्यों को निकालने के बारे में कुछ न कहना। "यदि वह औपचारिक रूप से मांग करें कि लीग को सरकार से निकाला जाय तो तुम कह सकते हो कि यह मामला बादशाह सलामत के पास भेजा जायगा।" (उप., पृ. ५९४)। इससे पहले १८ दिसम्बर १९४६ को माउण्टबाटन से भारत का वाइसराय बनने का प्रस्ताव ऐटली कर चुके थे और २ दिसम्बर को माउण्टबाटन ने कुछ शर्तों के साथ वह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। वेवल के कानों में इसकी भनक भी न पड़ी। वह ४ फरवरी को ऐटली के सहयोगी पेथिक लारेन्स को सुझा रहे थे कि बादशाह सलामत की सरकार मुस्लिम लीग के ३१ जनवरी १९४७ वाले प्रस्ताव पर अपने बयान में कहे : "बादशाह सलामत की सरकार की निगाह में ६ जनवरी १९४७ के बयान के द्वारा कांग्रेस ने कैबिनेट मिशन की योजना स्वीकार कर ली है। बादशाह सलामत की सरकार यह नहीं समझती कि सारी भारतीय समस्या के प्रति नया रवैया अपनाना चाहिए और उसकी राय में संविधान सभा

का काम जारी रहना चाहिए। किन्तु वह सच्चे दिल से आशा करती है कि मुस्लिम लीग अपने रवैये पर फिर से विचार करेगी और कैबिनेट मिशन की योजना के आधार पर, तथा १६ मई, २५ मई और ६ दिसम्बर के बयानों के आधार पर, विधान सभा में भाग लेना मंजूर करेगी।" (उप., पृ. ६१३)।

ब्रिटेन की सरकार का कपट, उसकी कुटिलता यहाँ पूरी तरह उजागर है। वह अभी तक जिस संवैधानिकता का नाटक करती आयी थी, उसका तर्कसंगत अन्तिम लक्ष्य वही था जिसकी ओर वेवल ने संकेत किया था। किन्तु ब्रिटिश सरकार अपने बयानों की नयी-नयी व्याख्या करके, कांग्रेस को साम्राज्यविरोधी आन्दोलन से दूर खींचते हुए, उसे निरन्तर भारत-विभाजन की ओर ठेल रही थी। भारत का विभाजन साम्राज्यविरोधी आन्दोलन का विघटन था, इसीलिए वह इसके लिए इतना प्रयत्नशील थी। ब्रिटिश सरकार वैसा कोई बयान देनेवाली न थी जैसा वेवल ने सुझाया था। लीग संविधान सभा में शामिल न होगी और अन्तरिम सरकार से हटेगी भी नहीं। कांग्रेसी नेता लीगी सदस्यों को अन्तरिम सरकार से निकालने की माँग कर रहे थे। पेथिक लारेन्स ने वेवल को सचेत किया: "यदि कांग्रेस अन्तरिम सरकार से मुस्लिम लीग को निकालने की माँग करे हो तो हम चाहेंगे कि तुम टालने की कोशिश करो (play for time) और मामला हमारे पास भेज दो।" (६ फरवरी १९४७; पृ. ६२२)।

कुछ समय तक लीगी सदस्यों को निकालने की बात टाली जाय, पेथिक लारेन्स को इससे क्या लाभ होनेवाला था? लाभ यह होनेवाला था कि अन्तरिम सरकार में रहते हुए लीगी नेता विभाजन के लिए आवश्यक तैयारी कर सकते थे यानी बड़े पैमाने पर हत्याकाण्ड संगठित करके यह दिखा सकते थे कि विभाजन अनिवार्य है। तब कांग्रेस स्वयं कहेगी कि केन्द्र में मिली-जुली सरकार चल नहीं सकती; लीगी सदस्यों को निकालने की समस्या अपने-आप हल हो जायगी। जब एक केन्द्रीय सरकार न होगी तब कौन किसे निकालेगा? दो अलग-अलग राज्य, दो अलग-अलग सरकारें! किन्तु इससे पहले हत्याकाण्डों का संगठन जरूरी था। भारत के विभाजन के लिए अंग्रेज जिम्मेदार नहीं है, स्वयं भारतवासी जिम्मेदार हैं, यह बात अच्छी तरह दुनिया को समझा देना था।

## (ग) सत्ता के हस्तान्तरण की तैयारी

लेबर पार्टी के एक नेता अर्नेस्ट बेविन थे। उनका विचार था कि वेवल पराजयवादी हो गये हैं और भारत छोड़ने के लिए वह जैसा परामर्श दे रहे हैं, वह परिस्थितियों के अनुरूप नहीं है। ऐटली ने जवाब दिया कि वेवल पराजयवादी जरूर हैं किन्तु भारत के अधिकांश अफसर उनसे सहमत हैं। ऐटली स्वयं पराजयवादी नहीं है, यथार्थवादी हैं। भारतीय सेना ब्रिटिश राज के प्रति वफादार है। इस राज के न रहने पर वह साम्प्रदायिक आधार पर विघटित होगी। "लाखों भारतवासी ऐसे हैं जो दरअसल नहीं चाहते कि सरकार बदले पर वे निष्क्रिय हैं।" (२ जनवरी १९४७; उप. पृष्ठ ४४६)। [यदि ये 'लाखों आदमी' सक्रिय होते तो ब्रिटेन की सरकार कभी भी भारत पर अपना अधिकार छोड़ने को तैयार न होती।]

"आबादी में जो लोग सक्रिय हैं, वे न्यूनाधिक मात्रा में राष्ट्रवाद से प्रभावित हो गये है और इनमें प्रायः सभी शिक्षित वर्ग शामिल है। यह स्थिति साइमन कमीशन के समय ही थी। तब से अब चाल और तेज हो गयी है।" [दूसरे महायुद्ध के बाद राष्ट्रवाद के प्रसार की चाल और तेज हुई थी। शिक्षित जन सब राष्ट्रवाद से प्रभावित हैं। इन परिस्थिति में अंग्रेज यह चमत्कार करेंगे कि राष्ट्र साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित हो।] "हमने हमेशा भारतवासियों के माध्यम से भारत पर शासन किया है।" दस-बीस लाख की आबादीवाले जिले में सिर्फ एक-दो गोरे अफसरों का होना सामान्य बात है। कई साल से सवैधानिक सरकारें काम कर रही है। भारतीय अफसर अब ब्रिटिश राज के बदले इन सरकारो के प्रति वफादार होते जा रहे है। ब्रिटिश अफसरों को आवश्यक आदमी मिल भी जायें, तो भी "आबादी में जिन लोगोंको राजनीति से दिलचस्पी है, उन सबके सक्रिय विरोध का सामना करते हुए शासन चलाना असम्भव होगा।" (उप.)। अंग्रेजी राज का सामाजिक आधार चूर हो गया था। मैकाले की क्लर्क गढनेवाली शिक्षा-पद्धति बेकार हो गयी थी। पढ़े-बेपढे, राजनीति से दिलचस्पी सभी को थी। यदि भारत में 'लाखों आदमी' अब भी ऐसे थे जो चाहते थे कि अंग्रेजी राज बना रहे तो वे अदृश्य थे। अंग्रेजों को अपनी नीति इन निष्क्रिय लोगो को देखकर नही, सक्रिय लोगों को देखकर निर्धारित करनी थी।

फौज से शासन चलाने के लिए आदमी लिये जायें? ऐटली ने कहा, मतलब ब्रिटिश टुकड़ियों से होगा। [क्योंकि भारतीय सैनिको का भरोसा न किया जा सकता था।] फौज के ब्रिटिश अफसर यहां की भाषा थोडी-सी ही जानते है और शासन का काम बिलकुल नहीं जानते। यदि इनको सहायता के लिए हिन्दुस्तानी [illegible] है [illegible] के [illegible] समय भी भारतीय वित्तव्यवस्था का मेरुदंड यहां की भूमिकर-व्यवस्था थी अर्थात् उद्योगप्रधान ब्रिटेन भारत को अब भी कृषिप्रधान देश बनाये हुए था, यह बात नोट कीजिए।

"आप कहते हैं कि हम पहले ही बार में ची बोल गये किन्तु यह पिछले पच्चीस वर्षों के इतिहास की पूरी अनदेखी करना है। मै आपसे पूछता हूं, आप यदि भारत में शहजोरी से काम लेना चाहते है तो यह घोषित करेंगे कि हम वहाँ जमे रहना चाहते है और अपनी हुकूमत चलाने के लिए आवश्यक फौजें भेजेंगे?" (उप.)। ऐटली ने कहा कि ब्रिटेन की हर सरकार ने भारत को स्वायत्तशासी बनाने का वादा किया है। वह वादा तोडा नही जा सकता। हम भगदड़ के शिकार न होंगे। हम भारतवासियों के सामने स्पष्ट कह रहे हैं कि हम सुव्यवस्थित शासन-तन्त्र छोड़कर हटेंगे "और हम उत्तरदायित्व उनके कन्धों पर रख रहे हैं" (and we are placing responsibility on their shoulders)।" (उप.)। [हमारा शासनतन्त्र सुव्यवस्थित है। अब स्वाधीन शासनतन्त्र का भार तुम उठाओ। देश का विभाजन करो, हत्याकाण्ड रचाओ, जिम्मेदारी तुम्हारी है!]

पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश में मुस्लिम लीग के मन्त्रिमण्डल नही थे। यहाँ

लीग की सरकारें प्रतिष्ठित किये बिना पाकिस्तान की सारी योजना खटाई में पड़ सकती थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश में मुसलमान बहुसंख्यक थे किन्तु वे लीग के साथ न थे। ५ दिसम्बर १९४६ को ऐटली-क्रिप्स-पेथिक लारेन्स आदि के साथ वेवल की भेंटवार्ता में यह बताया गया कि "जिन्ना ने हमेशा इस बात पर ज़ोर दिया है कि पाकिस्तान कामनवेल्थ में रहेगा और अनुमान है कि सीमान्त समस्या से निपटने के लिए वह [जिन्ना] ब्रिटिश सहायता पाने की आशा करते हैं।" (उप.; पृ. २७७)। पठान समस्या पाकिस्तानी शासकों के लिए हमेशा सिरदर्द रही है। ब्रिटिश सहायता के बल पर ही वे उससे निपट सकते थे। पठानों के जातीय प्रदेश का एक भाग पाकिस्तान में है, शेष और अधिकांश भूमि अफ़गानिस्तान में है। दोनों ओर के पठानों में एक साथ मिलकर रहने की सहज जातीय आकांक्षा है। अफ़गानिस्तान में दखलन्दाजी के लिए यदि आज पाकिस्तान साम्राज्यवादियों का मुख्य अड्डा है तो यह स्थिति पठान-समस्या हल करने के पुराने अंग्रेज़ी तरीके के अनुरूप ही है।

पठानों के आत्मनिर्णय की समस्या किस तरह हल की जा रही थी, इसका उदाहरण एक घटना है जिसका विवरण सीमान्त गवर्नर ने २२ फ़रवरी १९४७ को वाइसराय के पास भेजा था। हजारा के एक मुसलमान से एक सिक्ख लड़की का तब ब्याह हुआ जब हजारा के उपद्रव में उसके सिक्ख पति की हत्या कर दी गई थी। वह पेशावर लायी गयी और डा. खान साहब ने उसे अपने यहाँ ठहराया। "वह वहाँ कई दिन रही और इसके बाद उसने अपने मुसलमान पति तथा सिक्ख सम्बन्धियों के सामने निहायत साफ़ बयान दिया कि वह सिक्ख मत फिर से अपनाना चाहती है।" (उप.; पृ. ७८८)। इसके बाद उसे हज़ारा वापस भेज दिया गया। वहाँ उसकी जान बचाने के लिए उसे जेल में रखा गया। लीग ने पेशावर में विरोधसभा आयोजित की। सभा ने जलूस का रूप लेकर पुलिस-घेरा तोड़ते हुए मुख्यमन्त्री का मकान घेर लिया। पुलिस को गोली चलाने का हुक्म दिया गया पर उसने गोली चलाने से इन्कार किया। अश्रुगैस के गोले छोड़ने का कोई फल न हुआ। भीड़ ने खान साहब के घर की खिड़कियाँ तोड़ दीं और पत्थर फेंके पर भीतर न घुस सकी। "बूढ़े खान साहब शेर की तरह बहादुर थे। वह छज्जे पर आ गये और भीड़ को बता दिया कि वह उसके बारे में क्या सोचते थे। उन्होंने भीड़ की एक भी माँग न मानी। अन्त में डिप्टी कमिश्नर भीड़ को जेल की तरफ़ हटा ले गये। ऐसी हालत में डा. खान साहब भाग्यशाली थे जो उनकी जान बच गयी।" (उप.)।

डा. खान साहब लीगी उपद्रवकारियों से अच्छी तरह निपट सकते थे पर सीमान्त गवर्नर उन पर बराबर ज़ोर डाल रहा था कि वे मुस्लिम लीग से समझौता करें। यहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता के नाम पर मुस्लिम लीग से समझौता करने का सवाल न था। इसलिए गवर्नर पठान एकता के नाम पर सम्प्रदायवादी उपद्रवकारियों से समझौता करने पर ज़ोर दे रहा था। "उन्होंने [कांग्रेसी नेताओं ने] किसी भी तरह की बातचीत करने से एकदम इन्कार कर दिया और मैं अधिक से अधिक उन्हें जिस बात पर राजी कर सका वह यह थी कि अभी जो कर

व्यवस्था का है, दूसरा पहलू राजनीति का है। लोगों को जेल भेजना आसान है किन्तु उन्हें जेल से यों निकालना कि वे सहयोग के लिए इच्छुक हों, कठिन है।" (उप. ५५६)। साम्प्रदायिक फासिस्टों से सहयोग करो, यह बात सीमान्त प्रदेश के गवर्नर ने कही, यही बात पंजाब के गवर्नर ने कही। दोनों एक ही ब्रिटिश कूटनीति के अनुसार काम कर रहे थे। २७ जनवरी को जेन्किन्स ने पेथिक लारेन्स को सूचना दी : मुख्यमन्त्री ने तै किया है कि मुस्लिम लीग नैशनल गार्ड्स तथा सघ पर से पाबन्दी हटा ली जायेगी ! (उप.; पृ. ५६६)। दंगे हुए। खिज़र ने इस्तीफा दिया। मुस्लिम लीग ने अल्पमत मे होते हुए भी मन्त्रिमण्डल बनाने का दावा किया। जेन्किन्स ने वेवल को लिखा कि जोड़-तोड़ से लीगी अपना बहुमत दिखा भी दें, तो भी ऐसे मन्त्रिमण्डल का बनना बहुत खतरनाक होगा। बहुमत के अभाव मे तो मन्त्रिमण्डल का बनना संविधान के साथ धोखाधड़ी होगा ही। (वेवल के नाम जेन्किन्स, ५ मार्च १९४७; उप.; पृ. ८६९)।

रावलपिण्डी क्षेत्र के सेनानायक ने पंजाब के गवर्नर जेन्किन्स से कहा: मुसलमानो के एक दल ने कारो या लारियो में आकर मरी पर संगठित रूप से हमला किया। उन्होने मुख्य रूप से व्यवसायी कृपाराम की सम्पत्ति पर धावा किया। कई बडी इमारतें, जिनमें कम से कम तीन होटल थे, जला दी गयी। "मरी मे या उसके पास फौज की पाँच कम्पनियाँ थी किन्तु धावा होशियारी से किया गया था और मालूम होता है कि हमलावारो से भली प्रकार [फौज का] सम्पर्क नही हो पाया। लगभग इसी समय टैक्सिला [तक्षशिला] के पास फ्रन्टियर मेल पर हमला हुआ।" (वेवल के नाम जेन्किन्स, ९ मार्च १९४७; उप.; पृ. ९०३-०४)। देहात मे जहाँ-तहाँ फौजी टुकड़ियाँ गश्त लगा रही थी। "उपद्रवी क्षेत्र में गाँववालों की भीड़ें है। वे लाठी, वल्लम, कुल्हाड़ी, खेती के औजार और जहाँ-तहाँ बारूदवाले हथियार लिये है। एकाध पतरोल पर गोली दागी गयी है किन्तु कुल मिलाकर वे [गाँववाले] अधिकारियो के प्रति शत्रुभाव न दिखा रहे थे।" (उप.; पृ. ९०४)। सेना गश्त लगा रही थी, दंगाई अपना काम कर रहे थे, दोनों मे भलीभाँति सम्पर्क न हो पाता था, जैसे कि पूर्वी बंगाल मे न हो पाया था।

ब्रिटिश जनरल मेसरवी का मत था कि रावलपिण्डी क्षेत्र मे जगह-जगह उपद्रव एक साथ हुए। मरी पर धावा सुसंगठित ढग से पूर्वयोजना के अनुसार किया गया था। (वेवल के नाम जेन्किन्स, १७ मार्च १९४७; उप.; पृ. ९९७)। जनरल मेसरवी ने जेन्किन्स से कहा कि अस्पताल में उन्होने एक बच्चा देखा जिसके हाथ काट डाले गये थे। दो अधिकृत सूचनाएँ उन गैरमुस्लिमों के बारे मे है जो फुसलाकर शान्ति कमेटी मे लाये गये, फिर उनकी हत्या कर दी गयी। एक गाँव मे प्राणदान के आश्वासन पर कुछ सिखों ने आत्मसमर्पण किया, फिर उन्हे मार डाला गया। (उप.; पृ. ९९६)। यही फासिस्टवाद का वास्तविक रूप है।

२० मार्च को लीगी नेता राजा गज़नफ़र अली गवर्नर जेन्किन्स से मिलने आये। उन्होने दंगों की चर्चा ऐसे की मानो कोई खास बात न हुई हो; दगों से लीग के सम्बन्ध को अस्वीकार किया। फिर उन्होंने सुझाव रखा कि अब मुस्लिम लीग का मन्त्रिमण्डल बनने देना चाहिए। उन्होंने कहा कि आम चुनाव होने

चाहिए; इससे लोगों को यह बताने का मौका मिलेगा कि वे पंजाब का विभाजन चाहते है या नही। गवर्नर ने कहा : आप यह महसूस नही कर रहे है कि रावलपिण्डी, अटक और चकवाल क्षेत्र में जो कुछ हुआ है, वह निहायत वहशियाना आम हत्याकाण्ड (a general massacre of a most beastly kind) है। वह [राजा गज़नफ़र] समझते है कि गैरमुस्लिमो ने उकसावा पैदा किया पर यह उकसावा ऐसा नही था जिससे ऐसी क्रूरता, ऐसे जनसहार को न्यायपूर्ण ठहराया जा सके। "जहाँ तक मुस्लिम लीग की सरकार का सवाल है, मैंने कहा कि इस घड़ी उसे बनता देखने की अपेक्षा मैं पहले इस्तीफा दे दूंगा और मेरी समझ में पंजाब का प्राय: हर ब्रिटिश अफसर यही करेगा। यह नरसहार मुस्लिम लीग के नाम पर किया गया था और उच्च सैनिक अधिकारियों का विचार था कि उसे सावधानी से आयोजित और संगठित किया गया था।" (उप.; पृ. ६६६-६७)। लीगी फासिस्टों के कृत्यो का विवरण सुनकर--अपने ही फौजी अफसरों से सुनकर—ब्रिटिश गवर्नर का भी दिल दहल गया था। यह राजनीति कितने घटिया स्तर की थी, जो करोड़ों आदमियो को अन्धकारमय भविष्य की ओर ठेल रही थी, इसकी जानकारी गवर्नर जेन्किन्स की इस टिप्पणी से होती है।

लीगी नेतृत्व के बारे मे गवर्नर ने कहा : लीग का व्यवहार ऐसा है मानो पंजाब में मुसलमान हुकूमत करनेवाली नस्ल हो और जब उनकी हुकूमत कायम हो जायगी, तब वे अपने साथी पजाबियो से, जैसे कि सिक्खो से, उदार व्यवहार करने की कृपा करेंगे। 'पाकिस्तान' से उनका मतलब क्या है, इसकी कैफियत वे दे नही सकते; जब तक वे दूसरे पजाबियों से बराबरी का व्यवहार न करेंगे, तब तक वे ज़रा भी प्रगति न कर सकेंगे। यह स्थिति हास्यास्पद है कि ये तथाकथित लीगी नेता बम्बई से एक ऐसे आदमी से आदेश प्राप्त करते है जो पजाब की परिस्थितियाँ कतई नही जानता। राजा गजनफर अली का तर्क था कि पहले केन्द्र की तस्वीर साफ होनी चाहिए, उसके बाद पजाब की तस्वीर साफ होगी। गवर्नर का तर्क था, भारत के भविष्य की तुम्हारी धारणा उलझी हुई है। "जो पंजाब दो या तीन राज्यों में बँटा हुआ हो या अराजकता और गृहयुद्ध की हालत मे हो, उसका किसी भी सम्भाव्य अखिल भारतीय चित्र मे फिट होना मुमकिन न होगा। ज़ाहिर है कि सही रास्ता यह है कि इकाइयां [प्रान्तों, जातीय प्रदेशों] का भविष्य इस तरह निर्धारित किया जाय कि वह उसके निवासियों को स्वीकार हो और उसके बाद अखिल भारतीय चित्र की रेखाएँ बनाई जायें। (उप.; पृष्ठ ६६७)।

पंजाब के पुराने, और नये, हिन्दू-सिख-मुस्लिम सम्प्रदायवादियो की तुलना मे यह ब्रिटिश गवर्नर पंजाबीपन का मतलब ज्यादा अच्छी तरह समझता था। ऐटली और पेथिक लारेन्स की गूढ़ कूटनीति का लक्ष्य वह भी न समझ पाया था। जिन घटनाओं से वह चौंक पड़ा था, उनका मूल कारण वह कूटनीति ही है, और वह स्वयं उसी के अनुसार काम करता रहा है, यह बात उसे साफ न दिखाई देती थी। राजा ग़ज़नफर अली ने कहा कि लीग का आन्दोलन साम्प्रदायिक नही है। [कोई भी साम्प्रदायिक नेता अपने को साम्प्रदायिक नही मानता, न कोई पूंजीवादी नेता अपने को पूंजीवादी मानता है!] गवर्नर ने कहा, "वह [लीगी आन्दोलन]

शुरू से ही स्पष्ट रूप में साम्प्रदायिक था, इसके अलावा वह और कुछ हो भी न सकता था।" (उप.; पृष्ठ ६६८)। इसी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देनेवाली ब्रिटिश कूटनीति को गवर्नर जेन्किन्स अमल मे लाते रहे थे।

१४ जनवरी १६४७ को जवाहरलाल नेहरू पजाब के गवर्नर से मिले। उन्होने कहा कि किसी न किसी प्रकार का विभाजन अनिवार्य है लेकिन वह मौजूदा सविधान के चौखटे मे होना चाहिए और उन तरीकों से होना चाहिए जो अमल में लाने से कायम हो जायें न कि कानून से। उनका विचार था कि एक मुस्लिम इलाका हो, एक केन्द्रीय क्षेत्र हो और एक गैरमुस्लिम इलाका हो। मन्त्री इस तरह नियुक्त किये जायें कि हर इलाका कुछ बातो में स्वायत्त हो। अन्य बातों के लिए यानी सामान्य हितोवाली बातो के लिए तीनों क्षेत्रों के मन्त्रियों को एक साथ बैठना चाहिए। गवर्नर ने कहा कि यही बात उनके दिमाग मे भी आई थी यानी यह कि भौतिक रूप से बँटवारा न करे वरन् ऐसी तरकीबो से काम करें कि सभी सम्प्रदायों मे विश्वास पैदा हो। इस सिलसिले मे गवर्नर ने स्काटलैण्ड का हवाला दिया। स्काटलैण्ड से सम्बन्धित बिल ब्रिटिश पार्लियामेण्ट पास करती थी पर इससे पहले वे एक महासमिति को भेजे जाते थे जिसमे केवल स्काटलैण्ड के सदस्य होते थे। उसकी राय मान लेने की परम्परा थी।

उदारपन्थी पूँजीवाद का दिवालियापन यहाँ स्पष्ट हो जाता है। साम्प्रदायिक उपद्रवों से निपटने के लिए वे पूरे बँटवारे की जगह आधे बँटवारे की बात सोच रहे थे। स्काटलैण्ड और इंग्लैण्ड का भेद दो जातियों का भेद था, दो सम्प्रदायो का भेद नही था। वह उदाहरण यहाँ के लिए अप्रासगिक था। अधिक प्रासगिक आयर्लैण्ड का उदाहरण था जहाँ ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक आधार पर एक राष्ट्र का विभाजन किया था।

नेहरू तुष्टीकरण की नीति पर चल रहे थे, देखना चाहिए कि हिन्दू राष्ट्रवादी भारत की एकता बनाये रखने के लिए क्या कर रहे थे। ६ नवम्बर १६४६ को बिहार के गवर्नर ने वाइसराय को सूचना दी : बिहार मे हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायो के बीच, जुलाई के अन्त मे मुस्लिम लीग द्वारा सीधी कार्रवाई का प्रस्ताव पास करने के बाद, तनातनी गम्भीर रूप से बढ़ने लगी। कलकत्ते के दगों और उनके बाद होनेवाले पूर्वी बगाल के साम्प्रदायिक दगों के पश्चात् यह तनातनी और भी बढ़ गई। इस सूबे मे पहला गम्भीर दंगा २७ सितम्बर को हुआ; बेनियाबाद, जिला मुज़फ़्फ़रपुर में १४ मुसलमान मारे गये और मुसलमानों के बहुत से घर
[illegible] ट
[illegible] गी
[illegible] य
अधिकारी चाहते थे कि पटनावाली सभा न होने दी जाय पर मन्त्रिमण्डल ने अनुमति देने पर जोर दिया। यहाँ जो हिंसात्मक भाषण हुए, वे असुरक्षित मुस्लिम गाँवों पर गम्भीर और हिंसक आक्रमणों का तात्कालिक कारण थे। प्रान्त के भीतर और बाहर दोनों सम्प्रदायों के अखबार लगातार साम्प्रदायिक उत्तेजना फैलाते रहे हैं। बहुत दिन से मेरे निरन्तर कहने पर भी मन्त्रिमण्डल ने स्थानीय प्रेस को

नियन्त्रित करने में कोताही की। [एक तो भाषण और विचार-प्रकाशन की स्वाधीनता का प्रश्न, दूसरे स्वयं भारतवासियो द्वारा अपने भविष्य-निर्माण का प्रश्न ! प्रेस को नियन्त्रित कैसे किया जाता ?]

गवर्नर ने आगे बताया : दंगा छपरा शहर मे मुसलमानों की हत्या और घर जलाने से शुरू हुआ, फिर देहात में फैल गया जहाँ मुस्लिम ग्रामीणों पर हिन्दू भीड ने ऐसा ही आततायीपन किया। सारन की परिस्थिति कुछ दिनों मे नियन्त्रित कर ली गई लेकिन इस बीच दगे गंगा के दक्षिण मे फैल गये। पटना, दक्खिनी मुंगेर और भागलपुर मे दगों ने गम्भीर रूप धारण किया और वे उत्तरी गया में फैलते दिखाई देते है। एक खराब दंगा संथाल परगना मे हुआ।

बिहार मे मुसलमानों की स्थिति के बारे में गवर्नर का कहना था : देहात में मुसलमानो की आबादी अपेक्षाकृत कम है और अलग-थलग पड़े हुए गुटों पर बहुत जमकर हमला किया गया है। हिन्दू भीड इस फिराक मे घूमती रही कि जहाँ भी मुस्लिम आबादी मिले, उसका सफाया कर दिया जाय। हताहतो मे प्रायः सभी मुसलमान है और अनुमान किया जाता है कि इनमे ७५ फीसदी स्त्रियाँ और बच्चे थे। हिन्दू पड़ोसियों ने इनके प्रति निर्दय उपेक्षाभाव दिखाया; केवल कुछ घटनाएँ ऐसी हुईं जिनमे आक्रान्त मुसलमानो की सहायता हिन्दुओं ने की। (उप.; पृ. ३८-३९)।

बिहार के दंगो से मुस्लिम लीग ने राजनीतिक लाभ उठाया। १७ नवम्बर १९४६ को जिन्ना ने वेवल को लिखा : "कांग्रेस ने अब तक असम्भव रुख अपनाया है और अभी भी अपनाये है पर अब हमारे सामने यह बिहार के कई हिस्सो मे सामूहिक, संगठित और आयोजित मुसलमानों का निर्दय सहार है। कांग्रेसी सरकार की नाक के नीचे जो वीभत्स और भयानक तरीके अपनाये गये है, वे और बिहार की पुलिस, वहाँ का शासनतन्त्र यह दिखलाते है कि कांग्रेस निर्दोष आदमियो की जान और उनके माल की हिफाज़त करने में कतई नाकाम रही है; देश के दूसरे भागों में जहाँ मुसलमान अल्पसख्यक है जो छोटे पैमाने पर हत्याकाण्ड होते रहे है और सम्पत्ति का नाश होता रहा है, उसकी बात करना बेकार है। इस निहायत उत्तेजक और विस्फोटक वातावरण मे, जब हमारे सामने दो विरोधी दल है, जिसके फलस्वरूप हत्या, मारकाट और सम्पत्ति का विनाश निरन्तर हो रहा है, प्रस्तावित सविधान सभा के बारे मे सोचना या उसकी बात करना न तो उचित है, न सम्भव है। उससे वर्तमान परिस्थिति और बिगड जायगी।" (उप.; पृ. ९३-९४)। जिन्ना ने पाकिस्तान की अनिवार्यता सिद्ध करने के लिए बिहार के दंगों का उपयोग किया।

बिहार के साम्प्रदायिक दंगो का एक पक्ष और था। गवर्नर के अनुसार ४ करोड़ आबादीवाले इस सूबे में भारत का आधा औद्योगिक विकास केन्द्रित था। (उप.; पृ. ३२८)। आधा विकास केन्द्रित हो या आधे से कुछ कम-ज्यादा केन्द्रित हो, बिहार भारत का महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र था और है। इसलिए मजदूरों के संगठन को छिन्न-भिन्न करने के लिए कानपुर की तरह बिहार मे भी दगे बड़ा कारगर साधन थे और अब भी हैं।

जहाँ तक तुष्टीकरण के विरोध में हिन्दू राष्ट्रवादियों द्वारा राष्ट्रीय एकता की रक्षा के लिए संघर्ष का प्रश्न है, १६ मार्च १६४७ को बंगाल के गवर्नर बरोज़ ने वाइसराय को जो सूचना भेजी, वह खूब मनन करने योग्य है। उन्होंने लिखा था : "बंगाल के विभाजन के लिए आन्दोलन ज़ोर पकड़ता जा रहा है। शरत् बोस और गान्धी एक बार एक ही स्वर से बोले हैं, दोनों ने इस आन्दोलन की निन्दा की है। उसके मुख्य समर्थक श्यामाप्रसाद मुकर्जी और हिन्दू महासभा हैं।" (The movement for the partition of Bengal is gathering momentum. Hindu opinion is at present very divided. For once Sarat Bose and Gandhi see eye to eye, and both condemn the movement, of which Syamaprasad Mookerjee and the Hindu Mahasabha are the chief protagonists.) (उप.; पृ. ६८५-८६)।

बंगाल के विभाजन की माँग कौन कर रहा था ? श्यामाप्रसाद मुकर्जी और हिन्दू महासभा। क्या हिन्दू राष्ट्र का निर्माण बंगाल के विभाजन के बिना सम्भव था ? बिल्कुल सम्भव नहीं था; न हिन्दू राष्ट्र का निर्माण सम्भव था, न मुस्लिम राष्ट्र का। जिन्ना हिन्दुओं और मुसलमानों को दो अलग कौमें मानते थे; हिन्दू राष्ट्रवादी क्या मानते थे ? वे भी यही मानते थे, हिन्दुओं की जाति अलग, मुसलमानों की जाति अलग। बंगाल के विभाजन की हिन्दू माँग से पाकिस्तान की मुस्लिम माँग का समर्थन होता था या नहीं ? अवश्य होता था, फ़र्क इतना था कि जिन्ना पूरा बंगाल चाहते थे, श्यामाप्रसाद मुकर्जी आधा बंगाल देने को राजी थे। जिन्ना अपनी माँग कम करके छोटा पाकिस्तान लेने को तैयार थे या नहीं ? तैयार थे और वेवल को यह बात जता चुके थे। वस्तुगत रूप से हिन्दू सम्प्रदायवाद मुस्लिम सम्प्रदायवाद की मदद कर रहा था या नहीं ? बेशक कर रहा था क्योंकि दोनों का सिद्धान्त एक था : पहले बँगलाभाषी जाति को हिन्दू-मुस्लिम हिस्सों में बाँटना, फिर सारे राष्ट्र को वैसे ही दो हिस्सों में बाँटना। यदि मुस्लिम सम्प्रदायवाद अंग्रेज़ों का राष्ट्रविरोधी अस्त्र था तो हिन्दू सम्प्रदायवाद क्या था ? वह भी अंग्रेज़ों का राष्ट्रविरोधी अस्त्र था।

ब्रिटिश कूटनीति का जवाब हिन्दू राष्ट्रवाद नहीं है। उसका जवाब है क्रान्तिकारी आन्दोलन। वही जातीय और राष्ट्रीय एकता बहाल करके साम्राज्यवाद के मंसूबे चूर कर सकता है।

### (घ) क्रान्तिकारी परिस्थिति और वामपक्ष

वामपक्ष कमजोर था पर वह निर्जीव नहीं था। उसकी कारंवाई से अंग्रेज़ों की नींद हराम थी। इस बात पर बहुतों को विश्वास न होगा किन्तु अंग्रेज़ों को नींद आती थी या नहीं, इसकी जानकारी बाहरवालों की अपेक्षा उन्हीं को ज्यादा हो सकती थी। इस बारे में उनके बयानों को प्रमाण मान लेना चाहिए।

अक्तूबर १६४६ के दूसरे पखवारे की स्थिति के बारे में संयुक्त प्रान्त की सी. आई. डी. रिपोर्ट में कहा गया था : "इस प्रान्त में साम्प्रदायिक स्थिति की

जो विशेषता सबसे ज्यादा ध्यान खींचती है, वह एक समर्थ शक्ति के रूप में कट्टर हिन्दूवाद का उत्थान है। हिन्दू महासभा के बहुत कम अनुयायी थे, उसका राजनीतिक प्रभाव बहुत कम था। आर्य समाज विशुद्ध धार्मिक संस्था बना हुआ कहीं पीछे रहता आया था। ये अब मैदान में है और हर जगह इस्लाम से लड़ने के लिए हिन्दुओं को बटोर रहे हैं।" दूसरी ओर "जयप्रकाश नारायण संयुक्त प्रान्त का दौरा जारी किये हैं। अपने हर भाषण में वह क्रान्ति और हिंसा का उपदेश देते हैं। उनकी सभाओं में दस हजार और इससे ऊपर बड़ी और उत्साही श्रोताओं की भीड़ होती है। कांग्रेस कार्यसमिति में उनके अधिक जिम्मेदार साथी देश की सेवा सवैधानिक तरीके से करना चाहते हैं पर ये लोग अराजकता फैलाने पर तुले हुए हैं और इसके लिए उनके कार्यक्रम में पुलिस चौकियों और सरकारी इमारतों पर

मजदूरों का राज कायम करना शामिल है।" (उप.; पृष्ठ १४४)। एकदम सही कार्यक्रम था। जनता इसे अमल में लाने को तैयार थी, यह जयप्रकाश नारायण की सभाओं में उत्साही श्रोताओं की सख्या से स्पष्ट था। क्रान्तिकारी परिस्थिति मौजूद थी, क्रान्ति का सही कार्यक्रम सामने था, क्रान्ति का लक्ष्य स्पष्ट था, फिर भी क्रान्ति न हुई। इसलिए कि जनता के पास क्रान्तिकारी संगठन न था। किसान सेना का निर्माण केवल भाषणों में न हो सकता था।

६ दिसम्बर १९४६ को ब्रिटिश भारत-स्थित हाई कमिश्नर ने नोट किया कि जयप्रकाश नारायण कहते हैं कि अंग्रेज अब इतने कमजोर हो गये हैं कि उन्हें भारत से निकाल बाहर करने के लिए सिर्फ एक धक्के की जरूरत है; उन्हें छह महीने का अल्टीमेटम दे देना चाहिए कि इतने समय में चले जायँ, और उनसे किसी तरह का समझौता करना या समझौते की बात भी करना अब अनावश्यक है। (उप.; पृ. ३१४)। कांग्रेस की कार्यसमिति में जयप्रकाश नारायण के साथी समझौते की राह पर चल रहे थे। इस राह को छोड़ने में खतरा था, भारत में कहीं किसान मजदूर राज कायम न हो जाय! समझौते की इस राह को बन्द करने के लिए किसान सेना संगठित करना जरूरी था।

२९ दिसम्बर १९४६ के 'स्टेट्समैन' ने नयी दिल्ली में जयप्रकाश नारायण की प्रेस कान्फ्रेंस का विवरण प्रकाशित किया। उसके अनुसार उन्होंने कहा कि छह महीने में अन्तरिम सरकार के विघटित हो जाने की सम्भावना है। उन्हें यह आशा भी है कि संविधान सभा सीधे स्वाधीनता संग्राम की ओर ले जा सकती है और इस कारण भारत को सक्रिय संघर्ष की तैयारी करनी चाहिए। वह समझते हैं कि मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और अन्य सभी साम्प्रदायिक संस्थाएँ राजाओं और 'बड़े व्यवसाइयों' के साथ, अपने उद्देश्य से, अंग्रेजों को भारत छोड़ने से रोकने पर तुली हैं बावजूद अंग्रेजों की घोषित इच्छा के कि वे ऐसा करना चाहते हैं। इस प्रकार वे अंग्रेजों का खेल खेल रही हैं क्योंकि अपने वक्तव्यों के बावजूद अंग्रेज किसी भी प्रतिक्रियावादी तत्व को इस्तेमाल करने को तैयार हैं जो उन्हें भारत

छोड़ने से रोके।

जयप्रकाश नारायण के अनुसार 'बड़े व्यवसायी' अवश्य इस पक्ष में हैं कि भारत स्वायत्त शासन की ओर कुछ प्रगति करे जिससे कि देश के आर्थिक विकास में भाग लेने के लिए उन्हें ज्यादा आजादी हो, "किन्तु वे राष्ट्रीय क्रान्ति के मार्ग में अवश्य बाधक होंगे। वे भरपूर कोशिश करेंगे कि क्रान्तिकारी विस्फोट न होने पाये, भले ही इससे राष्ट्रीय स्वाधीनता के मामले में एक हद तक समझौता होता हो।" (उप.; पृ. ४३६)। १९३६ में लिखी हुई पुस्तिका 'समाजवाद ही क्यों?' का मार्क्सवाद अभी बहुत कुछ जयप्रकाश नारायण के साथ था। उन्होंने बड़े व्यवसाइयों की वर्गभूमिका का सही मूल्य आंका था। मार्क्सवादियों में दक्षिणपन्थी अवसरवादी वे हैं जो कहते हैं कि भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद से समझौता किया ही नहीं; वामपन्थी अवसरवादी वे हैं जो कहते हैं कि उसने समझौते के अलावा और कुछ नहीं किया, उसने अंग्रेजों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया और भारत पर साम्राज्यवादी प्रभुत्व अब भी पहले की तरह कायम है। दोनों ही तरह के अवसरवादी एक चीज की अनदेखी करते हैं, वह है १९४५-४७ की क्रान्तिकारी परिस्थिति, इस परिस्थिति में अंग्रेजों पर गैर-कांग्रेसी आन्दोलन का दबाव।

जयप्रकाश नारायण ने उस प्रेस कान्फेंस में कहा कि कांग्रेसी नेताओं के अनुसार आजादी बस अब मिलने ही वाली है। यह जनता को गुमराह करनेवाली बात है। बेशक वह मिलनेवाली है पर उसके मिलने से पहले राष्ट्रीय संघर्ष रचाना होगा। संविधान-सभा आनन-फानन आजादी देनेवाली नहीं है। आजादी के लिए संघर्ष करना जरूरी है। सिद्धान्तों के मामले में समझौता नहीं करना तो हमें क्रान्तिकारी संघर्ष चलाना होगा। (यह सब जयप्रकाश नारायण ने १९४६ में कहा था।)

जयप्रकाश ने यह भी बता दिया कि वह जो कुछ कह रहे हैं, वह कट्टर कांग्रेसी दृष्टिकोण के अनुरूप नहीं है। (इसीलिए उनके आन्दोलन को गैर-कांग्रेसी आन्दोलन कहना उचित है।) उन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष को लिख दिया है कि वह कांग्रेस की कार्यसमिति से इस्तीफा देना चाहते हैं। उनका दावा था कि ५० फीसदी कांग्रेसजन सोशलिस्ट हैं किन्तु कांग्रेस की पार्टी-मशीन उन्हें अपना पूरा प्रभाव डालने से रोकती है। संविधान सभा में मुस्लिम लीग को लाने का प्रयास व्यर्थ है। मुस्लिम लीग और अंग्रेजों में कोई फर्क न था; "दरअसल उनके अनुसार, लीग अंग्रेजों का ही एक मोर्चा (फ्रण्ट) थी। यदि लीग संविधान-सभा में आ गयी तो उसका [संविधान सभा का] हश्र वही होगा जो अन्तरिम सरकार का हुआ है। आजादी के लिए काम करने की उसकी सारी क्षमता समाप्त हो जायगी। जिन्ना को पूर्ण प्रभुसत्ता से भय है। वह ब्रिटिश सरकार और वाइसराय की छत्रछाया में काम करना पसन्द करेंगे।" (उप.; पृ. ४३६)। उन्होंने कहा कि मुस्लिम लीग से अलग हटकर मुसलमानों से सम्पर्क कायम किया जाय तो बहुत विरोध न होगा यद्यपि धार्मिक-साम्प्रदायिक प्रचार डटकर किया गया था और इस कारण प्रगति धीमी हो सकती थी। भारत के मुसलमानों की मूल समस्या आर्थिक थी जैसे कि वह हिन्दुओं की थी, खासतौर से जहाँ तक कृषि-व्यवस्था का प्रश्न था। "उनका विचार था कि यदि 'जमीन के मालिक किसान हैं' (the land belongs to the

peasants) यह नारा दिया जाय तो उन सबकी [हिन्दू किसानों और मुस्लिम किसानों की] प्रतिक्रिया उसके पक्ष में होगी। यदि उनके [नेहरू के] सिद्धान्त अभी वही है जो १९४२ के पहले थे, तो नेहरू भी इस सिद्धान्त का समर्थन करेंगे। भारत में संघर्ष राष्ट्रवादी और सम्प्रदायवादी शक्तियों के बीच होगा। यदि सम्प्रदायवादी जीते तो यह अंग्रेजों की जीत होगी, यदि राष्ट्रवादी जीते तो अंग्रेजों को जाना पड़ेगा, शायद बलपूर्वक उन्हें रवाना करना पड़े, और तब उनके समर्थक, सम्प्रदायवादी, भी लाजमी तौर से समाप्त हो जायेंगे।" (उप.; पृ. ४३७)। यह बात १९४७ में सही थी और १९७७ में भी सही थी।

वेवल को जयप्रकाश नारायण के बयानों पर भारी आपत्ति थी। १ जनवरी १९४७ को उन्होंने पेथिक लारेन्स के पास 'स्टेट्समैन' की कतरन भेजते हुए लिखा : इस समय कांग्रेस के भीतर संघर्ष चल रहा है। एक ओर केन्द्रीय गुट है जो चाहता है कि बादशाह सलामत का ६ दिसम्बरवाला बयान किसी शर्त के बिना स्वीकार कर लिया जाय। दूसरी ओर वामपन्थी और अति दक्षिणपन्थी गुट हैं और ये दोनों चाहते हैं कि उसे अस्वीकारा जाय। मैं नहीं समझता कि स्वीकारने के पक्ष में स्पष्ट निर्णय की कोई सम्भावना है। [कार्यसमिति ने ए आई. सी. सी. से स्वीकारने के पक्ष में ही फैसला कराया।] जयप्रकाश नारायण इधर अत्यन्त आपत्तिजनक भाषण करते रहे हैं। "मैं इस मामले पर नेहरू और पटेल से बातें करने की सोच रहा हूँ। सरकार में कांग्रेस प्रमुख दल है। उसकी कार्यसमिति का एक सदस्य इस तरह बातें करे, यह असम्भव स्थिति है। या तो उसे निकाल देना चाहिए या उसके लगाम लगानी चाहिए।" (उप.; पृ. ४३४)। अन्तरिम सरकार में कांग्रेस के कुछ नेताओं को बाँध लेने के बाद वेवल समझने लगे थे कि कांग्रेस संगठन भी उनके दबाव में है और नेहरू-पटेल के माध्यम से वह कांग्रेस के वामपक्ष को चुप कर देंगे।

कांग्रेस के वामपक्ष के बारे में वेवल की राय यह थी : कांग्रेस में एक शक्तिशाली वामपक्ष है जिसके नेता जयप्रकाश नारायण और श्रीमती आसफ अली जैसे लोग हैं। इनका कोई रचनात्मक कार्यक्रम नहीं है किन्तु ये देश के सबसे खराब तत्वों में हलचल पैदा कर सकते हैं, इनमें तोड़फोड़ और शरारत करने की भारी क्षमता है। अभी भी वे प्रचार कर रहे हैं कि अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह करना आवश्यक होगा। दक्षिणपन्थियों ने पुरानी सरकार को बदनाम करने और उसके खिलाफ असन्तोष फैलाने के लिए वामपक्ष को इस्तेमाल किया और वे अब उसे काबू में नहीं रख पा रहे। दक्षिण और वाम के बीच की अस्थिर कड़ी है नेहरू। (२ दिसम्बर १९४६ की टिप्पणी; उप.; पृ. २४०)।

अंग्रेज इस देश में अपनी नीति तभी तक लागू कर सकते थे जब तक उन्हें विश्वास था कि कांग्रेसी नेता कुछ दिन तक आन्दोलन चलाने के बाद फिर सुलह-समझौते की राह पर लौट आयेंगे। यदि जहाज का पंछी एक बार उड़ने के बाद फिर जहाज पर न आया तो क्या होगा? सुलह-समझौतेवाली राह बन्द हो जायेगी, ब्रिटिश कूटनीति का जहाज हिन्द महासागर में डूब जायगा। १९४६ के अन्त में वेवल को इस बात से काफी परेशानी थी कि दक्षिणपन्थी नेता कांग्रेसी वामपक्ष

पर काबू पाने में असमर्थ हो रहे है।

जवाहरलाल नेहरू दक्षिण और वाम के बीच की अस्थिर कड़ी नही, स्थिर और मजबूत कड़ी थे। वह इस वामपक्ष तथा समूची क्रान्तिकारी परिस्थिति का उपयोग अंग्रेजो पर दवाव डालने के लिए करते थे। ४ दिसम्बर १९४६ को जब वह लन्दन मे ब्रिटिश मन्त्रियों से मिले तब उन्होने कहा : भारत की आम जनता के अन्दर प्रगति के लिए भारी आकांक्षा है। कांग्रेसी नेताओं ने प्रयत्न किया था कि इस आकाक्षा को नियन्त्रित किये रहें, और उसे सरकार के पीछे बनाये रहें, और इसमे उन्हे कुछ सफलता भी मिली है, पर यदि उनका यह प्रयत्न सफल न हुआ तो वह नही जानते कि आगे क्या होगा। कांग्रेस के वर्तमान नेता उसे नियन्त्रित न रख सकेंगे। "समूचे भारत की विशाल जनशक्ति को देखते मुस्लिम लीग सिर्फ एक मक्खी जैसी है।" (उप.; पृ. २५६)। नेहरू समेत कांग्रेस के सुधारवादी नेता इस विशाल जनशक्ति की आकाक्षा से लाभ उठा रहे थे, अंग्रेजों पर उसका दवाव डाल रहे थे, साथ ही उन्हे आश्वासन भी देते जाते थे कि हम इसे नियन्त्रित किये है। यदि यह नियन्त्रण न होता, यदि कांग्रेस के भीतर का वामपक्ष कांग्रेस से वाहर के वामपक्ष से मिलकर काम करता, तो क्रान्ति का वेग अप्रतिहत होता, तब भारत के साथ एशिया का नक्शा ही कुछ दूसरा होता। समूचे भारत की विशाल जन-शक्ति के सामने मुस्लिम लीग मक्खी जैसी ही थी। उसे सुधारवादी नेताओं की मदद से ही अंग्रेजो ने नरभक्षी दानव बना दिया था।

बिहार मे साम्प्रदायिक और क्रान्तिकारी शक्तियां आमने-सामने थी। अंग्रेजो को परेशानी क्रान्तिकारी शक्ति से थी, साम्प्रदायिक शक्ति से नही। २४ दिसम्बर १९४६ को बिहार के गवर्नर ने इसका मूल्य इस तरह आंका था : कांग्रेस सोशलिस्ट तथा अन्य वामपन्थी संगठन शान्ति समितियों के सदस्य बनकर ऊपर से साम्प्रदायिक सद्भावना का अनुमोदन करते हुए भी ऐसे भाषण करते है जिनकी हिंसात्मकता इस प्रान्त का अब भी एक अति दुष्ट लक्षण बनी हुई है। यहां के मन्त्रि-मण्डल का सम्मान न उसके दोस्तों की निगाह में है न उसके दुश्मनो की निगाह मे। उसके लिद्धड़पन का उन्हे [वामपन्थियो को] भरोसा है। जयप्रकाश नारायण बिहार को क्रान्ति का बीज बोने और फसल काटने का अपना क्षेत्र समझते आये हैं। ६ तारीख को वह सारन जिले के सदर मुकाम छपरा मे थे जहां अक्तूबर के अन्त मे बडे पैमाने पर मुसलमानो का पहला सहार हुआ था। जनता से साम्प्रदायिक सद्भावना बनाये रखने की अपील करने के साथ उन्होने हाल के दंगों के लिए ब्रिटिश सरकार को दोष दिया, आनेवाले संघर्ष की तैयारी करने की सलाह दी और सभी नौजवानों का आह्वान किया कि वे अपने हथियार मांजें और उन्हें पैनाये रहें। (उप.; पृ. ४१७)। अंग्रेजों को यह बिलकुल नापसन्द था कि साम्प्रदायिक दंगो के लिए कोई उन्हें दोष दे। किन्तु १९४६-४७ मे किसी भी जागरूक व्यक्ति से यह छिपा न था कि दगे, अर्थात् सुनियोजित हिन्दू-मुस्लिम जन-संहार, ब्रिटिश कूटनीति का ही परिणाम थे। जो हथियार एक-दूसरे का गला काटने के काम आ रहे थे, वे अंग्रेजों के विरुद्ध इस्तेमाल किये जाने के लिए मांजे और पैनाये जायें, यह स्थिति असह्य थी।

अंग्रेज़ों और कांग्रेसी दक्षिणपन्थियों के लिए सोशलिस्टों के अलावा और भी सिरदर्द थे। १० दिसम्बर १९४६ को सरदार पटेल ने स्थानापन्न वाइसराय कोलविल से कम्युनिस्टों और वामपक्ष की क्रान्तिकारी शक्तियों की चर्चा की। उन्होंने कहा कि इन्हें नियन्त्रित रखना कांग्रेस के लिए कोई आसान काम नहीं है। "उन्होंने नाविक-विद्रोह के समय कोलविल [बम्बई के गवर्नर] से अपने सम्पर्क की याद दिलायी। उनके विचार से नाविक-विद्रोह मुख्यतः कम्युनिस्टों का काम था। (and reminded me of his approaches to me at the time of the R. I. N. mutiny which he regarded as mainly the work of the Communists)" (उप.; पृ. ३२३)।

यह तो सरदार पटेल की परेशानी हुई।

वाइसराय और भारत-सचिव को बहुत बड़ी परेशानी इस बात से थी कि कम्युनिस्टों ने सेना से, सुरक्षाविभाग से गुप्त सम्पर्क बना रखा था और वे अपने मुखपत्र में सैनिक महत्व के गुप्त दस्तावेज खुलेआम छाप रहे थे। उनकी इस कार्रवाई को रोकने के लिए प्रान्तीय सरकारों ने बहुत जगह तलाशियाँ ली। यह काम प्रान्तीय सरकारों की परिधि में था किन्तु पेथिक लारेन्स ने यह मत प्रकट किया कि विभिन्न प्रान्तों में कार्रवाई का संयोजन भारत सरकार के गृह विभाग ने किया होगा। वेवल ने पेथिक लारेन्स को सूचित किया कि बम्बई का कम्युनिस्ट साप्ताहिक 'पीपुल्स एज' मुख्यतः सैनिक स्रोत के गोपनीय (कौन्फिडेन्शल), गुप्त और अति गुप्त (टौप सीक्रेट) सरकारी दस्तावेजों से समय-समय पर उद्धरण और उन पर टिप्पणियाँ छापता रहा है, विशेष रूप से उसने एक अति गुप्त सैनिक योजना से विस्तृत अंश टिप्पणियों सहित छापे हैं। बड़े पैमाने पर नागरिक उपद्रव हों तो उनसे निपटने के लिए यह योजना बनायी गयी थी। अक्तूबर में भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारों से इन प्रकाशनों के विरुद्ध उचित कार्रवाई करने को कहा। इस बीच रक्षा-विभाग को इस बात से भारी चिन्ता हुई कि उसके अत्यन्त महत्वपूर्ण कागज-पत्रों की सामग्री के अंश बड़े पैमाने पर बाहर पहुँच रहे हैं और इससे पता चलता है कि सैनिक तथा नागरिक दोनों तरह के सरकारी दफ्तरों में घुसपैठ गम्भीर है। उसने गृहविभाग तथा गुप्तचर संगठन के घनिष्ठ सहयोग से सितम्बर में एक विशेष पुलिस दल निर्मित किया जिसका काम सैनिक महत्व वाली सामग्री के अंशों के बाहर पहुँचने के बारे में जाँच-पड़ताल करना था। 'पीपुल्स एज' पर मुकदमा चलाने की बात पर विचार करते समय यह तय किया कि इससे लाभ उठाकर उस जाँच-पड़ताल को और आगे बढ़ाया जाये जो सैनिक महत्व वाले कागजों के प्रकट होने से सम्बन्धित थी। गुप्तचर संगठन ने रक्षा-विभाग के विशेष पुलिस दल के घनिष्ठ सहयोग से एक ही योजना के अनुसार विभिन्न स्थानों पर एक साथ तलाशियाँ ली। तलाशियों के परिणाम अभी अधूरे हैं पर उनसे पता चलता है कि किस हद तक फौजी और नागरिक दफ्तरों में कम्युनिस्ट तत्व घुस आये हैं। भारत सरकार ने इस सबसे अलग कम्युनिस्टों के विरुद्ध कार्रवाई की है, ऐसा प्रतीत होता है। पार्टी के प्रमुख सदस्यों पर वह षड्यन्त्र करने का मुकदमा चलाने की सोच रही है। बम्बई सरकार ने भी केन्द्रीय कार्रवाई की अपना पार्टी के विरुद्ध

केन्द्रीय आदेश की जोरदार माँग की है। इनके अभाव में वह कम्युनिस्ट प्रचारकों की नजरबन्दी के लिए कड़ी कारंवाई करने की बात कह रही है। उस प्रान्त में सार्वजनिक शान्ति के लिए इन लोगों से बहुत बड़ा खतरा है। (उप.; पृ. ५२४-२५)। इस तरह केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के कांग्रेसी नेता अंग्रेजों के इशारे पर अखिल भारतीय पैमाने पर कम्युनिस्टों के विरुद्ध कार्रवाई कर रहे थे। दोनों को भय था कि कम्युनिस्ट नेतृत्व में चलाया जानेवाला आन्दोलन सुलह-समझौते का नाटक समाप्त कर देगा। जिस समय देश की एकता दाँव पर थी, समूचे भारत के जन-आन्दोलन का भविष्य दाँव पर था, जिस समय अंग्रेजों को भारतीय सेना का भरोसा न रह गया था और उनके गुप्त और महागुप्त सैनिक कागज-पत्र कम्युनिस्टों के पास पहुँच जाते थे, उस समय पटेल के विरुद्ध नेहरू के हाथ मजबूत करने के नाम पर क्रान्तिकारी आन्दोलन को रोकने, कम्युनिस्ट पार्टी को कांग्रेसी समझौते का समर्थक बनाने का काम पूरनचन्द जोशी ने किया। जो काम नेहरू के बूते का नहीं था, उसे जोशी ने पूरा किया।

वेवल ने पेथिक लारेन्स के नाम तार में कहा कि मेरी सरकार बहुत चाहती है कि इस बारे में कोई बात पार्लियामेण्ट में या अन्यत्र प्रकट न की जाय। "गृह-सदस्य [सरदार पटेल] ने मुझसे परामर्श नहीं किया। वह नेहरू द्वारा केन्द्रीय जिम्मेदारी नकारने से असमंजस में पड़ गये हैं क्योंकि उन्हें मालूम था कि कौन-सी कार्रवाई की जानेवाली है। गृह-सदस्य ने इस बात पर तीखी प्रतिक्रिया जाहिर की कि कम्युनिस्टों के विरुद्ध कार्रवाई पार्लियामेण्ट में बहस का विषय बने। मैं भी इसे नापसन्द करता हूँ क्योंकि देश के क्रान्तिकारी तत्व से निपटने के लिए कांग्रेस के प्रयत्न में इससे बाधा ही पड़ सकती है।" (उप.; पृ. ५२५; पेथिक लारेन्स के तार का उल्लेख इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी में है।)

कम्युनिस्टों के विरुद्ध कार्रवाई से वाइसराय वेवल और गृह सदस्य पटेल दोनों को दिलचस्पी थी पर दोनों चाहते थे कि बाहरवालों को इसका पता न चले। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में इस विषय पर बहस हो, इससे लेबर सरकार की उदारता और कांग्रेस की सत्य-अहिंसा, दोनों का पर्दाफाश हो सकता था।

१५ जनवरी १९४७ को गृह-विभाग ने विज्ञप्ति निकाली कि तलाशियाँ उसके आदेश से न हुई थीं वरन् बम्बई पुलिस की माँग पर पुलिस ने करायी थीं। (उप.; पृ. ५३९, पादटिप्पणी ५)। मानो भारत की पुलिस भारत सरकार के गृह-विभाग के अनुशासन से मुक्त हो जब कि गृह-विभाग परम अनुशासनप्रेमी सरदार वल्लभभाई पटेल के पास था। ("नाविक-विद्रोह मुख्यतः कम्युनिस्टों का काम था। उन्होंने कहा कि वह [पटेल] अनुशासनप्रेमी (डिसिप्लिनेरियन) हैं।" उप.; पृ. ३२३)।

पेथिक लारेन्स ने वेवल को बताया कि नेहरू के नकारने और पटेल के सफाई देने से काम नहीं बनता किन्तु पार्लियामेण्ट में इस विषय से कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी दी। केवल ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से लिखे हुए हैरी पौलिट के पत्र का उत्तर देना था। पौलिट ने लिखा था कि अन्तरिम सरकार ने जिम्मेदारी नहीं ली, इसलिए पुलिस कार्रवाई की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार की है, खासतौर से

तब तक जब तक भारत में निर्णायक शक्ति ब्रिटिश हाथों में है। पेथिक लारेन्स ने वेवल को सूचित किया, मैं गृह-विभाग की विज्ञप्ति के आधार पर जवाब दूंगा कि इस मामले से मेरा कोई सरोकार नही है। (उप.; पृ. ५३६)।

३ फरवरी १९४७ को वेवल ने पेथिक लारेन्स के पास सयुक्त आयोजन समिति (ज्वाइंट प्लानिंग कमेटी) का एक गुप्त दस्तावेज भेजा जिसमे १९४८ के अन्त तक ब्रिटिश सेना को हटाने और अन्तरिम सरकार पर अच्छा प्रभाव डालने के लिए उसे [अन्तरिम सरकार को] काफी पहले से यह सब जता देने की बात थी। आधारभूत सिद्धान्त यह कि जिम्मेदारी का अधिकाधिक बोझ भारतीय दलों पर डाला जाय। "आगे हम जो भी करें, इस बात का बहुत बड़ा खतरा है कि क्रान्ति के कारण अथवा धीरे-धीरे शासनतन्त्र को लकवा मार जाने के कारण देश मे अराजकता फैल जाय।" (उप. ६०१)। अराजकता फैली ब्रिटिश नीति को लागू करने से। जितने मारे गये और उनसे ज्यादा जो शरणार्थी बने, वे इस अराजकता का प्रमाण थे। इस अराजकता को क्रान्ति रोक सकती थी, इसी कारण अंग्रेज़ो को उससे इतना भय था।

१२ फरवरी १९४७ को वेवल ने पेथिक लारेन्स को निजी और गुप्त दस्तावेज में यह सूचना भेजी : अलग-अलग प्रान्तों में हमें समय-समय पर काफी श्रमिक अशान्ति का सामना करना पड़ा है। अक्सर इसे फैलानेवाले कम्युनिस्ट होते हैं। इस समय बिहार की कोयला खानों मे स्थिति बड़ी तनावपूर्ण है। भारत सरकार ने समझौता समिति बनायी पर एक मजदूर यूनियन समझौते की बात करने को तैयार ही नही है। किन्तु कलकत्ते में आम हड़ताल कराने का प्रयत्न विफल हुआ। (उप.; पृ. ६८४-८५)।

इस तरह की परिस्थिति में यदि भारत के क्रान्तिकारी संगठित होकर प्रयत्न करते तो वे बलपूर्वक अंग्रेज़ों से सत्ता छीन सकते थे और क्रान्तिविरोधी अराजक शक्तियों को ध्वस्त कर सकते थे। अंग्रेज़ यह बात अच्छी तरह जानते थे। ब्रिटिश पालियामेण्ट मे भारत की समस्या पर प्रश्न किये जाने को थे। इनमे एक प्रश्न यह था : क्या सत्ता-हस्तान्तरण के लिए जून १९४८ का निश्चित समय निर्धारित करना आवश्यक था? ब्रिटिश कैबिनेट की भारत-बर्मा समिति ने जवाब देने के लिए टिप्पणी तैयार की : जवाब मे यह कहना चाहिए कि पिछले बीस वर्षों में बादशाह सलामत की सरकार ने जिस नीति का पालन किया है और भारत मे घटनाक्रम का जो विकास हुआ है, उसकी पृष्ठभूमि मे यह निश्चित समय निर्धारित किया गया है। "ऐसी कोई बात न कहनी चाहिए जिससे यह संकेत मिले कि भारतीय पार्टियाँ स्वयं सत्ता हथियाएँ तो हम उन्हे रोकने की स्थिति मे नही है। इसके साथ ही यह बताना चाहिए कि भारतीय हाथो मे सत्ता सौंपने की बात पर भरपूर विचार-विमर्श हो चुका है और इस अवधि मे उसे अमल मे लाने में प्रगति हुई है। ऐसा विचार-विमर्श और सत्ता का क्रमशः हस्तान्तरण अनिश्चित काल तक फैलाया नही जा सकता। कोई निश्चित समय (date) होना चाहिए जिसके आगे ब्रिटिश शासन जारी नही रह सकता। भारत के जिम्मेदार अधिकारियों (authorities) ने यह सलाह दी है कि वर्तमान आधार पर

१९४८ के बाद ब्रिटिश शासन पर्याप्त कुशलता के साथ नहीं चलाया जा सकता।" (उप.; पृ. ७६६)।

अंग्रेजों को इतनी जल्दी क्यों थी कि उन्होंने जून १९४८ का समय निश्चित किया और अगस्त १९४७ में ही विदा हो गये? जल्दी इसलिए थी कि क्रान्ति तथा क्रान्तिविरोध के शक्ति-सन्तुलन में अभी क्रान्तिविरोध का पलड़ा भारी था। बंगाल, बिहार, पंजाब के हत्याकाण्डों से राजनीतिक लाभ उठाने का समय यही था। जितना ही विलम्ब होता था उतना ही साम्प्रदायिकता की आग के ठण्ढा होने और क्रान्ति की आग के धधकने की आशंका थी। अंग्रेज जानते थे कि भारतीय पार्टियाँ उनसे बलपूर्वक सत्ता छीन सकती हैं। कल्पना कीजिए कि जून १९४८ तक भारत में अंग्रेज बने हुए हैं, कम्युनिस्ट पार्टी की नीति में परिवर्तन हुआ है, तेलंगाना के किसान-आन्दोलन ने जोर पकड़ लिया है, हैदराबाद के मुसलमान राजा की हिन्दू प्रजा और कश्मीर के हिन्दू राजा की मुसलमान प्रजा बगावत पर आमादा है, केरल की देशी रियासतों में किसान-आन्दोलन तेजी पर है, बिहार की कोयला खानों में हड़ताल हुई है, कलकत्ते में आम हड़ताल सफल हुई है, सैनिक महत्व के गुप्त कागज-पत्र कम्युनिस्टों के पास पहुँच रहे हैं और अंग्रेज अपनी भारतीय सेना द्वारा क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने में असफल हैं। उस समय सत्ता का अपहरण होता, हस्तान्तरण नहीं; भारत की विशाल जनशक्ति के सामने विभाजक दल मक्खी जैसे साबित होते और माउण्टबाटन को बड़ी बेइज्जती से पुत्री-पत्नी सहित भारत से विदा होना पड़ता। अंग्रेज भविष्य का यह चित्र बहुत स्पष्ट देख रहे थे, इसीलिए उन्हें भारत छोड़ने की जल्दी थी।

जिन लोगों को वे सत्ता सौंप रहे थे, उनके बारे में उनकी राय यह थी: "कांग्रेस। नेहरू और पटेल। आप नेहरू को जानते हैं–शेखचिल्ली (Quixotic), भावुक (Emotional), समाजवादी (Socialistic)। पटेल एकदम भिन्न हैं, कठोर, दृढ पार्टी का सूत्रधार (Party boss), अपने ढंग से आकर्षक किन्तु निर्मम और सम्प्रदायवादी। उन पर पूंजीपतियों का गहरा असर है और वह उनमें से एक की जेब में—बिड़ला की जेब में—रहते हैं।" (वेवल की टिप्पणी, उप.; पृ. १०१०)।

कांग्रेस के गढ़, भारत के सबसे बड़ी जनसंख्यावाले प्रान्त संयुक्त प्रान्त के मुख्यमन्त्री गोविन्दवल्लभ पन्त से गवर्नर वाइली की भेंट हुई। वेवल के पास भेजने के लिए गवर्नर का लिखा विवरण इस प्रकार है: "मैंने उन्हें कुछ दिन पहले मिलने को कहा, उन्हें उम्दा चाय पिलायी, उनसे कहा कि आपके बिना सूबे का काम नहीं चल सकता, और ईश्वर क्षमा करे, मैंने कहा कि उनकी व्यक्तिगत ख्याति हम सभी का सम्बल है। इसके बाद मैंने लगाना शुरू किया। कुछ भी अनकहा न रह गया, कानपुर एलेक्ट्रिक सप्लाई कार्पोरेशन वाला गोलमाल, सड़क-रेल सामंजस्य में असह्य विलम्ब, जिलों में उनके बौने अनुयाइयों का भ्रष्टाचार, पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरियों की हेकड़ी और अनुशासनहीनता, सेक्रेटेरियट की बढ़ती हुई अयोग्यता, हमारे मामलों को निपटाने में नियम की पूरी अवहेलना, पब्लिक सर्विस कमीशन को बगली दे जाने का लगातार प्रयत्न [जिसे चाहा उसे नियुक्त

किया, लोक-सेवा आयोग से सरोकार नहीं], पार्टी प्रचार के लिए सरकारी धन का दुरुपयोग तथा और भी बहुत कुछ। पन्त अपनी प्रशंसा से इतने प्रसन्न थे कि अपमान की बातें मजे से पी गये।" (उप.; पृ. ६४१)।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात। संयुक्त प्रान्त के होनहार बिरवा—कांग्रेसी सरकार—के पत्तों की चिकनाई इस प्रकार थी :

**प्रान्त में कांग्रेसी सरकार बनने के बाद अपराधों में वृद्धि**

| | | |
|---|---|---|
| डकैती | ६० | फीसदी |
| लूट | ५६ | " |
| हत्या | ४७ | " |
| दंगे | ८० | " |
| चोरी | ३० | " |

(पेथिक लारेन्स के नाम वेवल, १२ फरवरी १९४७; उप.; पृ. ६८२)।

इसमें यदि बलात्कार के आंकड़े और जोड़ दिये जायें तो स्वाधीनताप्राप्ति की उत्तरवेला के एक पक्ष का चित्र पूरा हो जायेगा।

५।२।२।७८

## (राधामोहन गोकुलजी का निबन्ध-संग्रह विप्लव)

राधामोहन गोकुलजी का निबन्ध-संग्रह विप्लव १९३२ के बाद किसी समय प्रकाशित हुआ था। मुझे जो प्रति देखने को मिली, उसमें ऊपर का पन्ना नहीं था। राधामोहन गोकुलजी का परिचय देते हुए आगरे के महादेवप्रसाद अग्रवाल ने कानपुर मे उनके १९३० में दो साल की सजा पाने की बात लिखी है। इसकी भूमिका में राव कृष्णपालसिंह ने लिखा है : "मुझे हिन्दू सभा और दूसरी समाज-सम्बन्धिनी सभाओं में इनकी वक्तृता सुनने और इनके कई लेखों के पढ़ने का अवसर हुआ है।" इस तरह की सभाओं मे वह क्या कहते थे, इसका अनुमान उस भूमिका में राव कृष्णपालसिंह के इन वाक्यों से होता है : "इनकी हार्दिक इच्छा यह है कि हिन्दू एक जाति हो, धर्म का बन्धन मनुष्य के ऊपर से हट जाये, स्त्रियां पुरुषों की भांति स्वतन्त्र हों, छूत-अछूत का भेद मिटे और देश मे कोई अन्न-वस्त्र के अभाव मे कष्ट न पावे। आप ईश्वर और धर्म के अस्तित्व को मिटाने की चेष्टा करते रहते है।"

स्वभावत: राव कृष्णपालसिंह जैसे व्यक्ति इनके विचारों से सहमत न हो सकते थे। इसलिए उन्होने भूमिका में अत्यन्त शालीनतापूर्वक अपना मतभेद प्रकट करते हुए लिखा है : "मैं पण्डितजी के विचारों से किसी-किसी अंश में सहमत नहीं हूँ, फिर भी मेरी दृढ़ धारणा है कि इनके लेख पढ़ने और सुनने योग्य है।"

वास्तव मे राधामोहन गोकुलजी हिन्दू समाज के कट्टर वर्ग मे परित्यक्त और बहिष्कृत थे। वह वर्णव्यवस्था न मानते थे, द्विज-शूद्र का भेद न मानते थे, ईश्वर और धर्म को अस्वीकार करते थे, स्त्रियों को पुरुषो के बराबर समझते थे। वह प्रेमचन्द और निराला की परम्परा के निर्माता, उसके अभिन्न अंग थे। पहली पत्नी का देहान्त होने पर इन्होंने प्रतिज्ञा की कि विवाह करूँगा तो विधवा के साथ। घरवाले सहमत न थे, इसलिए यह घर से भाग गये। सन् १९०१ मे इनके इकलौते बेटे का १६ वर्ष की आयु मे देहान्त हो गया। यह माता-पिता को लेकर

आगरे मे रहने लगे। वहाँ उनके भाई पहले से रहते थे। 'विप्लव' लेख-संग्रह मे महादेव प्रसाद अग्रवाल ने उनकी संक्षिप्त जीवनी लिखी है। उसमे उक्त तथ्य देते हुए उन्होने आगे बताया है : "कई वर्षों से यह सबसे [अर्थात् भाइयो के परिवार से] पृथक् अपना जीवन अपने विचारो के अनुसार व्यतीत करते है। क्योंकि इनके विचार में मनुष्य मात्र एक जाति है, इनका परस्पर खान-पान विवाह सम्बन्ध होना चाहिए, धर्म और ईश्वर झूठा ढकोसला है। इस प्रकार के विचार वाले का जाति-बन्धनग्रस्त कुटुम्ब मे निर्वाह न हो सकना साधारण बात है।"

इसीलिए राधामोहन गोकुलजी जैसे व्यक्ति का अपने परिवार से, हिन्दू-समाज के कट्टर वर्ग से बहिष्कृत होना अनिवार्य था। उनकी क्रान्ति मजदूरो की बस्ती मे जाकर न शुरू होती थी, वह उनके घर से शुरू होती थी। इस कारण अंग्रेज सरकार उन्हे जेल भेजती थी तो हिन्दू समाज के कर्णधार उन्हें समाज से बाहर खदेड़ते थे।

प्रेमचन्द के समान राधामोहन गोकुलजी हिन्दू और मुसलमान दोनो समाजो के रूढ़िवाद की आलोचना करते थे। कम्यूनिज्म क्या है? मे इस तरह की आलोचना का एक उदाहरण पुस्तक के ग्यारहवें अध्याय मे इस प्रकार है :

"आजकल भारत मे अधिक दुराचार और कुकर्म ब्राह्मणों मे ही देखा जाता है, या उन लोगों में जो इन ब्राह्मणो और धर्मयाजको के गहरे भक्त है, इसका कारण धर्म ही है। पापमूलक धर्म न होता तो हमे तारकेश्वर, गया, प्रयाग, प्रभृति में सहस्रों बदमाशो के अड्डो को महन्त की गद्दी के नाम से देखने का दुर्भाग्य न प्राप्त होता, न मुसलमान मौलवी, मुल्ले, मुजावर सज्जाद नशी, पीर और ख्वाजा मुसलमान जगत को मनुष्य जाति का शत्रु बनाकर उन्हे कठपुतली की तरह मन-माना नाच नचाते।"

निबन्ध-संग्रह मे कुछ लेख १९२५ के या उससे पहले के है, कुछ १९२५ के बाद के। यहाँ उनके कुछ महत्वपूर्ण विचार उद्धृत है।

"ससार मे जितनी वस्तुएँ है, वे चाहे कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हों, सबका प्रादुर्भाव प्रकृति से होता है, और प्रकृतिजन्य सारे पदार्थ किसी न किसी दशा मे इन्द्रियग्राह्य होते है।" (पृ.२)

"यदि हम इसे [ईश्वर को] बल, शक्ति किंवा गति मानें तो भी हम द्रव्य के सिवा अन्यत्र इसे कही भी नही देखते। इसी तरह गुलाबी रंग भी कभी किसी ने वस्तु से भिन्न, स्वतन्त्र कही न देखा होगा।" (पृ. ३)

"वेदान्त भी, जहां तक ईश्वर की मिथ्या कल्पना का सम्बन्ध है, एक प्रकार नास्तिकवाद है, जो संसार को बहुत ठीक मालूम होता जा रहा है।" (पृ. ४)

"एशिया की बरबादी के कारण धर्म्म और खुदा ही हैं।" (पृ. ८)

"मनुष्य जाति का सारा इतिहास—चाहे किसी भी विषय का क्यों न हो—द्रव्य से ही सम्बन्ध रखनेवाला मिलता है; सबका प्रकृति से ही सम्बन्ध है।" (पृ. १०)

"वस्तु के विकास मे, प्राणियों की उन्नति मे, हम देखते है कि पिछला रूप मिट जाता है और अभिनव विकसित उन्नत रूप उसका स्थानापन्न हो जाता है।

मनुष्यता मे (सज्ञान पशुता में) केवल पशुता के बल का दिन-दिन ह्रास होता जाता है और ज्ञान का विकास, यह क्रिया नैसर्गिक है। इसी ज्ञान-वृद्धि के कारण प्रकृति के गुप्त रहस्य मनुष्य को मालूम होते जाते हैं।" (पृ. १०)

"हम देखते हैं, ससार का विकास क्रमशः नीचे से ऊपर को हुआ है। मानव-जगत दिन पर दिन ज्ञान की वृद्धि करता जा रहा है। जो विज्ञान—जो कला-कौशल—१५वी शताब्दि तक न थे, आज क्रमशः उन्नत होकर बीसवी शताब्दि मे हमारी आंखो के सामने हाजिर हैं।" (पृ. १२)

"सिखानेवाले धनिक, पुरोहित और राज-कर्मचारियों में से कोई भी ईश्वर को नही मानता, पर हरेक ईश्वर के मानने का ढोंग रचता है। मैं पूछता हूँ कौन पण्डित, मौलवी, पादरी, राजा-रईस और सेठ-साहूकार ऐसा है जो झूठ नही बोलता, फ़रेब नही करता और तमाम दुनियाँ की बदमाशियों से पाक है, इस हालत में कोई चतुर मनुष्य यह कैसे मान सकता है कि [ये]लोग ईश्वर की हस्ती के कायल हैं, परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करते है।" (पृ. १५)

"'बहुतेरे लोग कहते है प्रकृति और पुरुष भिन्न नही, एक ही हैं। जैसे द्रव्य में शक्ति, मेहदी के पत्ते मे सुर्खी। इसलिए ईश्वर है और सर्वव्यापी है।' हज़रात, बिना गुलाब के गुलाबी रंगत कहां? जो यह कहे कि गुलाब भी है और गुलाबीपन भी, इसी तरह ईश्वर भी है और प्रकृति भी; प्रकृति में जो शक्ति है वही ईश्वर है तो मैं कहूँगा कि ईश्वर द्रव्यगत शक्ति का नाम है, वह कोई पृथक पूज्य पदार्थ नही, न वह न्यायशील और ज्ञान का इतना न्यारा गहरा गढा है, जिसे हम नाप न सकें।" (पृ. १८)

"विज्ञान पढ़ो, द्रव्यगत ईश्वर की उपासना से नये-नये आविष्कारो मे लग जाओ। बड़े-बड़े आविष्कर्ताओं को ही अवतार, नबी और वली समझो, उन्ही की खोज की पुस्तकों को धर्म्म पुस्तक मानो, संसार को अकारण धोका देने से क्या लाभ?" (पृ. १६)

"मनुष्य जो धार्मिक विश्वास और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किये बैठा है, उसका कारण बेसमझी और अविचार इतना नही है, जितना दुख और हार्दिक असन्तोष। गरीब, फिर बेपढ़े लोगों का जीवन इतना बुरा है, उनको खाने-पहिनने की इतनी तकलीफ है कि जब वे कुड़कुडाते और जलते है, तो सारा दोष किसी ऐसी शक्ति के मत्थे मढ देते है, जो उनसे भिन्न है। यदि वे ईश्वर के बदले अपने कष्टो का दायित्व जबरदस्त सतानेवाले और अधिकारप्राप्त लोगो पर डालें, तथा सामाजिक अतिक्रान्ति के लिए तैयार हो, तो ज्यादा अच्छा हो; इनका दुख दूर हो जाय।" (पृ. २१-२२)

"ईश्वर को स्वामी और मनुष्य को दास मानने से ही संसार मे गुलाम और स्वामी की सृष्टि हुई।" (पृ. २३)

"आज हमारे देश के बड़े-बड़े विद्वान यदि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को निकाल देने के पहले ईश्वर को निकाल देते, धर्म की फाँसी अपने गले से निकाल फेंकते, तो उनमे कभी का इतना बल आ जाता कि अपने देश का शासन आप करते।" (पृ. २५)

"संसार में जितने धर्म-ग्रन्थ हैं, सबमें श्रेष्ठ और सुपाठ्य प्रकृति है। इस ग्रन्थ के किसी-किसी सूत्र के व्याख्याकार भी हुए हैं। उन्हें भी हम चाहें तो सहायता लेने के विचार से पढ़ें। कितने ही गणितज्ञ, भूगोल-खगोल-वेत्ता, नयी-नयी खोज और आविष्कारों के कर्त्ता पण्डित हुए हैं। इन्हीं के निश्चित सार्वभौम निर्दोष प्राकृतिक नियमों के मानने से हमारी स्वाधीनता, स्वतन्त्रता तथा मनुष्यता स्थिर रह सकती है।" (पृ. ३१)

"सत्य जगत् का ज्ञान धन है, उसे डूबने से बचानेवाली नाव है, उसे अन्धकार से निकालनेवाला प्रकाश है। सत्य की खोज में व्यस्त होने के बराबर दूसरा कोई व्यापार या व्यवसाय हो नहीं सकता।

"सत्य उन्नति की जड़, काण्ड, शाखा और पत्ती सबकुछ है। आनन्द की जननी और जनक सचाई ही है। सत्य मन को शुद्ध करता है, विचार को पवित्र करता है, आकांक्षाओं और आदर्शों को उच्च बनाता है। सत्य का नाम सभ्यता, मनुष्यभक्ति और दयालुता है।" (पृ. ८०)

"जो एक सत्य बात खोज निकालता है [,] वह ऋषि है, उसका यह खोज-वृत्तान्त वेद है, उसके जलाये हुए प्रदीप के प्रकाश से संसार को उजाला मिलता है। लेकिन सत्य मिलता कैसे है ? खोज, अनुभव और शुद्ध तर्क से, निष्पक्ष अन्वेषण, स्वतन्त्र विचारवाले दिमाग की लगन से। प्रत्येक नर-नारी को स्वतन्त्र खोज का पूरा अधिकार है। चाहे जितनी खोज करे,बने जितनी खोज करे,उसके इस नैसर्गिक अधिकार में जो बाधा डालता है [,] वही पापी है, दुष्ट है, अत्याचारी है, मानव-संसार का चिर शत्रु है। संसार के साहित्य पर मुहर लगाकर रखना नीचता है। भूमण्डल का साहित्य-द्वार हरएक के लिए खुला होना चाहिए, छिपाना, बन्द करना, लट्ठ के बल से रोकना अच्छा नहीं। मनुष्य के ही लिये सारे पवित्र विचार हैं। किसी विषय को छिपाकर रखना उस विषय की पवित्रता और महिमा को बढ़ाता नहीं वरन् नष्ट कर डालता है। हममें से प्रत्येक अपने शुद्ध सच्चे भावों को कह सके, अपने तर्क से काम ले सके, यही ठीक मनुष्योचित बात और व्यापार है।" (पृ. ८१)

"बिना विचार-स्वातन्त्र्य खोज असम्भव है। राजा और धर्म का भय बाधक है। खोज बुद्धि और तर्क के आधार पर होती है, अन्ध परम्परा के भरोसे सत्य की खोज होना सर्वथा असम्भव है।"(पृ. ८२)

"कोई विचार कैसा भी पवित्र, शुद्ध और निर्दोष क्यों न हो [,] दूसरों को अधिकार है कि उसकी जाँच करें—उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना करें। कौन जानता है कि कौन-सा विचार पवित्र है। कोई भी विचार मेरे लिए पवित्र नहीं है जिसकी बाबत मैं यह न जान लूँ कि यह सच्चा है।" (पृ. ८५-६)

"प्रकृति से बड़ा कोई नहीं है। मनुष्य ही अपना भाग्यविधाता, दूसरे मनुष्य का भी विधाता है। मनुष्य-समाज एक बनकर, मिलकर प्रकृति का स्वामी बन सकता है।" (पृ. ८९)

"आजकल मनुष्य जाति में केवल दो ही प्रतिद्वन्द्वी दल हैं—एक सबल, अधिकारप्राप्त, जबर्दस्त लोगों का, और दूसरा निर्बल, जीवन-अधिकाररहित,

सीधे-सादे लोगों का। कानून, सरकार, धर्मशास्त्र और पुरोहित केवल जबर्दस्तों के पृष्ठपोषक होते हैं [,] दीनों और दुखियों के नही—यह हमारा नित्यप्रति का अनुभव है।" (पृ. २१५)

"किसान भूखा मरता है, पर अपनी आय का तीन-चौथाई से अधिक राजा, जमीदार और साहूकार को चुपचाप सौंप देता है, क्योकि यह कानून की आज्ञा है। बेचारा न दे तो जिन्दा नही रह सकता। एक तरफ कैद, कुर्की, नीलाम का डर है और दूसरी तरफ बदनामी और नरक आदि का भय मारे डालता है। इन चक्की के दो पाटों के बीच मे धन को, असल में, कमानेवाली प्रजा रात-दिन पिसी चली जाती है, पर उफ नही कर सकती। इन्ही कानूनों की प्रतिष्ठा करना रात-दिन हमे सिखलाया जाता है। कानून, शान्ति और नियम के नाम पर, जनता की रक्षा के बहाने से मानव जाति का रात-दिन रक्त-शोषण करता है।" (पृ. २२०)

"अपने हाथ से श्रम करके माल पैदा करनेवालो और चीजों के बनानेवालो के स्वत्वों की रक्षा के लिए कोई भी कानून नजर नही आता।" (पृ. २२३)

"समस्त सम्पत्ति-सम्बन्धी कानूनों के बड़े-बड़े मोटे पोथे जिनसे जजों की मेज शोभा पाती है, जिन्हें डाक्टर आफ ला, कौसिल, बैरिस्टर, वकील लोग लिए फिरते है, कुछ अर्थ नही रखते, सिवा इसके कि मानवजाति के श्रम के फल को छीनकर थोड़े से ठेकेदारों के हाथ मे सौंप दें।" (पृ. २२४)

"जब कभी स्त्रियो को अवसर मिला है, उन्होंने दिखला दिया है कि वे पुरुष की शिक्षिका और गुरु बन सकती है। संसार के किसी भी काम मे स्त्रियाँ अपनी नैसर्गिक निर्बलता के कारण पीछे नही रह सकती, अगर पुरुषों का अत्याचार इन पर न हो।" (पृ. १७१)

"जिन स्त्रियों को बाहर खेतों आदि मे काम करने का अवसर मिलता रहता है, वे शारीरिक बल में कम नही होती। हम उन्हे घरो मे बन्द करके अबला बनाते हैं। जिन्हे शिक्षा के मैदान मे दौड़ने का मौका मिलता है, वे हमें फिसड्डी बना छोड़ती है। इसी तरह और बातों मे भी अवसर मिलने पर वे पुरुषों से आगे बढ़ सकती है।" (पृ. १७२)